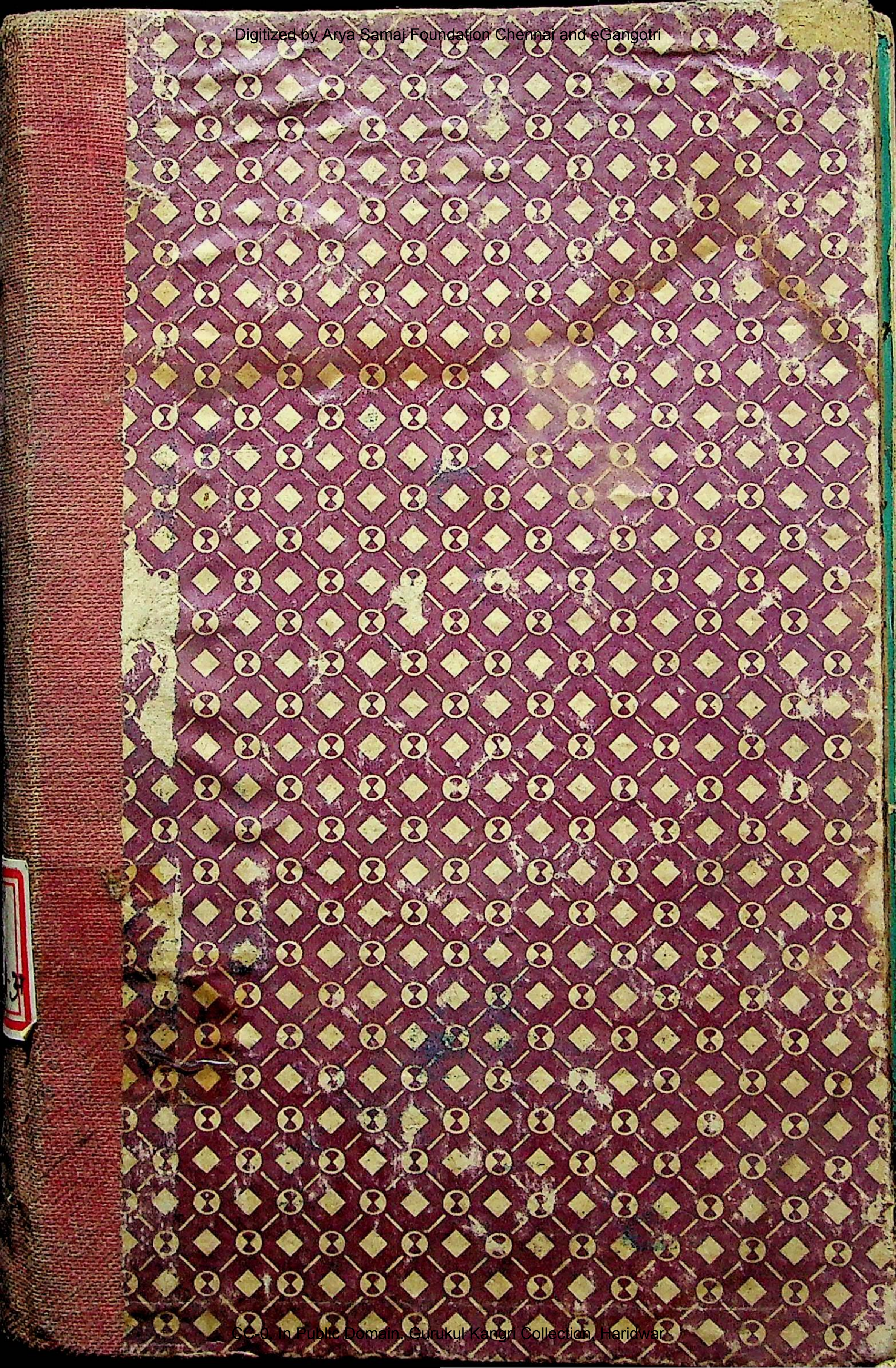
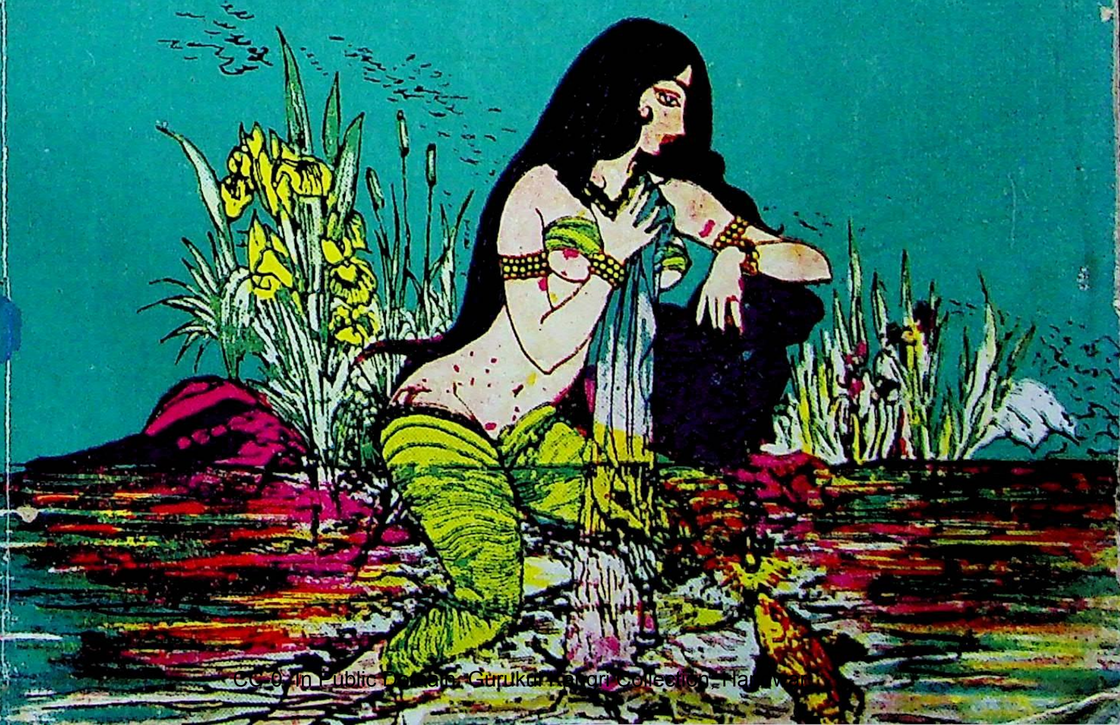


महाकवि कालिदास
प्रणीत

अभिज्ञान शाकुन्तलम्

डॉ. बाबूराम त्रिपाठी



महाकवि कालीदास प्रणीत

अभिज्ञान शाकुन्तलम्

[निर्णयसागर प्रेस के मूलपाठानुसार]

विशद् व्याख्यात्मक भाषानुवाद

डा० बाबूराम त्रिपाठी
एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत), शास्त्री, साहित्यरत्न
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
सेण्ट जॉन्स कॉलेज, आगरा

सप्तम् संस्करण
1982

रतन प्रकाशन मन्दिर
पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता
प्रधान कार्यालय : अस्पताल मार्ग, आगरा-२

सप्तम् संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण : 1981-82

मूल्य : 16 00 रु० मात्र

प्रकाशक : **रतन प्रकाशन मन्दिर**

प्रधान कार्यालय : अस्पताल मार्ग, आगरा-3

शाखाएँ : 21, दयानन्द मार्ग, दरियागंज, दिल्ली-2
मैस्टन रोड, कानपुर
गोराकुण्ड, इन्दौर

प्रेमचन्द जैन द्वारा
प्रेम इलैक्ट्रिक प्रेस, १/११, साहित्य कुंज, महात्मा गांधी मार्ग,
आगरा-2 में मुद्रित

प्राक्कथन

यह तो सभी विद्वज्जनों को भलीभाँति विदित ही है कि कविकुलगुरु कालिदास का सर्वस्व 'अभिज्ञान शाकुन्तलम' नाटक ही है, अथवा समस्त संस्कृत साहित्य का ही यह सर्व-श्रेष्ठ ग्रन्थ रत्न है और यह कालिदास की नाट्य-कला-कुशलता का चूड़ान्त निदर्शन है। यही कारण है कि यह ग्रन्थ रत्न वर्षों से विश्वविद्यालयों से पाठ्यक्रम में निर्धारित है।

अभिज्ञान शाकुन्तल के मूल पाठ के विषय में यहाँ इतना कहना अप्रासंगिक न होगा कि निर्णय सागर प्रेस, बम्बई की पुस्तक का मूल पाठ ही सबसे अधिक प्रामाणिक एवं परिशुद्ध है, अतएव विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में भी निर्णय सागर का ही मूल पाठ स्वीकृत है। प्रस्तुत पुस्तक में भी मूल पाठ निर्णय सागर का ही अपनाया गया है, क्योंकि यही पाठ सर्वाधिक प्रामाणिक है। आज अभिज्ञान शाकुन्तल की कई प्रकार की प्रतियाँ उपलब्ध हैं; परन्तु वे सब मूल पाठ की दृष्टि से एक-दूसरे से यत्र-तत्र भिन्न हैं। इतना ही नहीं कि उनमें पाठान्तर मात्र ही हो, किन्हीं-किन्हीं पुस्तकों में तो श्लोकों की संख्या में भी अन्तर हैं; पता नहीं ये श्लोक कब और कैसे शाकुन्तल में जोड़े गये हैं, जब तक कि उन्हें प्रामाणिक सिद्ध न कर दिया जाये तब तक उन्हें अभिज्ञान शाकुन्तल के श्लोक ही न समझना चाहिये, इन्हीं सब कारणों से मैंने प्रस्तुत पुस्तक में निर्णय सागर प्रेस के ही मूल पाठ का अनुसरण किया है। मूल पाठ की प्रामाणिकता एवं शुद्धता के अतिरिक्त इस पर जो आचार्य राघव भट्ट की टीका है, वह भी बहुत महत्त्वपूर्ण है, इस दृष्टि से भी यह प्रति सर्वाधिक विशिष्ट है।

यद्यपि आज इस ग्रन्थ पर अनेक संस्कृत टीकायें उपलब्ध हैं, अंग्रेजी और हिन्दी अनुवादों की भी कमी नहीं है, इन सबके होते हुए भी छात्रों की आवश्यकता की पूर्ति नहीं हो पाती। संस्कृत की विशिष्ट टीकायें तो उनकी समझ में आती नहीं, अंग्रेजी अनुवाद भी सबके लिए सुलभ नहीं। हिन्दी टीकायें या अनुवाद कहीं-कहीं तो इतने सूक्ष्म हैं कि उनसे श्लोक का भावार्थ भले ही कुछ पता लग जाए पर श्लोक का शब्दार्थ या अनुवाद, जो कि परीक्षा की दृष्टि में अति आवश्यक है, स्पष्ट नहीं हो पाता और कुछ हिन्दी टीकायें इतनी विस्तृत हैं कि वे अपने मूल से सर्वथा दूर जा पड़ी हैं। अपने अध्यापन काल में मैंने छात्रों की इस कठिनाई का अनुभव किया और प्रस्तुत पुस्तक को लिखने का प्रयास किया। प्रस्तुत पुस्तक के अब तक कई संस्करण निकल चुके हैं, इस बीच विद्वानों ने मेरे पास कुछ सुझाव भेजे थे, उनके इस सुझावों के अनुसार ही इस संस्करण में कई बातें और नई जोड़ दी गई हैं, उदाहरणार्थ प्रत्येक श्लोक का अनुवाद भावार्थ से पृथक् रूप में लिखा गया है, हिन्दी व्याख्या को जहाँ कहीं अति विस्तृत अथवा कठिन एवं छात्रों के लिए अनुपयोगी समझा गया है वहाँ उसे कम कर दिया गया है। साथ ही एक और नई बात यह हुई है कि इस संस्करण में एक विस्तृत भूमिका और बढ़ा दी गई है जिसमें कि महाकवि कालिदास का स्थिति-काल, जीवन-चरित्र निवास स्थान एवं तद्विषयक किम्वदन्तियों पर विस्तारपूर्वक विचार कियां गया है। कथानक का स्रोत, शैली, रस व्यंजना आदि पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। आरम्भ में संस्कृत बाङ्मय में कालिदास का स्थान, संस्कृत नाटकों का महत्त्व, संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति एवं विकास, कालिदास के पूर्ववर्ती

नाटककार आदि सभी आवश्यक विषयों पर विचार किया गया है। इतना ही नहीं पुस्तक के अन्त में एक परिशिष्ट और भी जोड़ा गया है जिसके अन्तर्गत इस पुस्तक में आये आवश्यक प्रश्नों पर विस्तारपूर्वक विवेचना की गई है, चरित्र-चित्रण, सौन्दर्य एवं प्रेम-चित्रण, प्रकृति-चित्रण, अलंकार-योजना, नाटकीय विशेषतायें, कवि का नाट्य कौशल, कवि की जीवन-दृष्टि आदि विषयों पर विस्तारपूर्वक लिखा गया है। अपनी दृष्टि से पुस्तक को सर्वथा उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया गया है।

विद्वज्जनों से ज़ो-जो सुझाव समय-समय पर प्राप्त होते रहे हैं, उन सबकी यथा-शक्ति तथा यथासमय पूर्ति करते हुए भी कुछ बातें रह ही गई हैं, जैसे समस्त श्लोकों की वर्णानुक्रम सूची आदि। आगे के संस्करण में इन्हें भी पूर्ण किया जा सकेगा, ऐसी आशा है।

इस स्थान पर मैं उन विद्वानों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करना भी अपना पुनीत कर्तव्य समझता हूँ, जिन विद्वानों की पुस्तकों का मैंने अध्ययन किया है तथा उनका अनुसरण किया है। टीका भाग में मैंने आचार्य राघव का तथा भूमिका भाग में मैंने विद्वद्वर मिराशी महोदय का अनुसरण किया है। कालिदास के स्थितिकाल एवं जीवन चरित्र के विषय में अब भी मतभेद देखा जाता है, पर इस सम्बन्ध में मिराशी महोदय के तर्क मुझे अधिक प्रामाणिक एवं रुचिकर प्रतीत हुए, अतः इस सम्बन्ध में मैंने उन्हीं की मान्यताओं का अनुगमन किया है। अतः इन विद्वानों के प्रति मैं अपना हार्दिक आभार प्रकट करता हूं और उन विद्वानों से क्षमा चाहता हूँ जिनके सुझावों का इसमें पूर्णतया पालन नहीं हो सका है, आगे के संस्करण में यह अवश्य पूरा हो सकेगा।

गद्य व पद्य भाग की अनुवाद एवं विस्तृत व्याख्यात्मक टीका के साथ-साथ नाटकीय सन्धियों, सन्ध्यांगों, नाट्यभूषण आदि का भी यथास्थान निर्देश किया गया है। प्रत्येक श्लोक की हिन्दी व संस्कृत व्याख्या के साथ-साथ ध्वनि रस, अलंकार गुण, दोष, छन्द आदि सभी आवश्यक बातों का लक्षणोदाहरण पूर्वक समन्वय किया गया है। वस्तुतः स्थानाभाव और समयाभाव के कारण प्रस्तुत संस्करण में भी उन सभी बातों को स्थान नहीं दिया जा सका है, जिनको मनोनीत कर यह संस्करण आरम्भ किया गया था। पर मेरी दृष्टि से छात्रों के लिए इतना पर्याप्त होगा, शेष आगे संस्करण में देखा जायगा।

प्रस्तुत संस्करण में यद्यपि पाठ शुद्धि पर विशेष ध्यान दिया गया है, पर फिर भी कुछ प्रिंटिंग की भूलें रह गई हैं। आशा है, विद्वज्जन उन्हें सुधार लेंगे और अपने नये सुझावों द्वारा अनुग्रहीत करेंगे।

विनीत

बाबूराम त्रिपाठी

निगम शर्मा
अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग
गुरुकुल कांगड़ी

विषय-सूची

भूमिका

संस्कृत लौकिक साहित्य, भारतीय सांस्कृतिक, सामाजिक एवं धार्मिक भावनाओं का प्रतीक है और राष्ट्रीय गौरव का चित्र है। वैदिक साहित्य जहाँ जन-भाषा का साहित्य है, देवी-देवताओं का साहित्य है और ग्राम-संस्कृति का प्रतीक है वहाँ क्लैसिकल (साहित्यिक) संस्कृत साहित्य उच्च वर्ग की साहित्यिक भाषा का साहित्य है, मानवीय जीवन का साहित्य है और नागरिक संस्कृति का निदर्शन है। इसका समाज वर्णाश्रम धर्मानुयायी पौराणिक ब्राह्मण समाज है। यद्यपि महर्षि वाल्मीकि तथा भगवान् वेद व्यास की अमर रचनायें —रामायण तथा महाभारत—जो कि उत्तरकालीन संस्कृत साहित्य का मुख्य स्रोत हैं, अपनी रचना पद्धति के दृष्टिकोण से नागरिक सभ्यता की वृत्तियाँ कही जा सकती हैं तथापि वे आर्षकृतियाँ ही मान्य हैं और समस्त उत्तरकालीन वाङ्मय को अनुप्राणित करने वाली हैं।

लौकिक और वैदिक संस्कृत साहित्य के बीच की कड़ी को जोड़ने वाले रामायण और महाभारत के कवि, कवि होते हुए भी ऋषि हैं अतएव उनके इन अमर काव्यों में जहाँ एक ओर नागरिक सभ्यता और सामन्तवादी समाज का कुछ अस्पष्ट सा चित्र है, वहाँ दूसरी ओर उनमें उपनिषदों तथा सूत्र साहित्य की गम्भीर चिन्तन परम्परा एवं स्मृतिकारों का सामाजिक दृष्टिकोण भी देखा जा सकता है। संस्कृत का समस्त वाङ्मय इन्हीं दो मुख्य प्रवृत्तियों को लेकर आगे बढ़ा है। महाकवि कालिदास ने अपने पूर्वजों की इस विरासत का बड़ी कुशलता से उपयोग किया है और वे अपने इस कृतित्व को अपने उत्तराधिकारियों के लिए छोड़ गये हैं।

कालिदास का गौरव

महाकवि कालिदास साहित्यिक संस्कृत के मूर्धाभिषिक्त कलाकार हैं। 'ध्वन्यालोक' जैसे सर्वमान्य साहित्य ग्रन्थ के रचयिता श्री आनन्दवर्धन ने लिखा है, 'अस्मिन्नति विचित्र कविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदास प्रभृतयो द्वित्राः पंचषा वा महाकवय इति गण्यन्ते' अर्थात् यद्यपि इस संसार में अनेक कवि हुए हैं तथापि कालिदास के समान दो या तीन अथवा अधिक से अधिक पांच या छः ही महाकवि कहे जा सकते हैं। कवि जयदेव ने तो उनको कविकुलगुरु की उपाधि से विभूषित किया है अन्य सुभाषितकारों ने भी उनकी प्रशंसा में अनेकों प्रशस्तियाँ लिखी हैं। वास्तव में संस्कृत साहित्य में कालिदास का अनन्य-सामान्य स्थान है। न केवल भारतीय अपितु पाश्चात्य एवं पौरस्त्य विद्वानों ने भी कालिदास की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। उदाहरणार्थ जर्मन महाकवि गेटे की "अभिज्ञान शाकुन्तलम्" के विषय में यह उक्ति दर्शनीय है :

"Wouldst thou the young··········once is said"

वासन्तं कुसुमं फलं च युगपद् ग्रीष्मस्य सर्वं च यत्
यच्चान्यन्मनसो रसायन मतः सन्तर्पणं मोहनम्
एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोकभूलोकयो
रैश्वर्यं यदि वाञ्छसि प्रिय सखे ! शाकुन्तलं सेव्यताम्

(महाकवि गेटे की कविता का यह संस्कृत रूपान्तर महामहोपाध्याय श्री वासुदेव विष्णु मिराशी द्वारा किया गया है।)

अर्थात् यौवन रूप वासन्तिक कुसुम सौरभ और प्रौढ़त्व रूप ग्रीष्म के मधुर फलों को अथवा अमृतवत् मानस को सन्तृप्त एवं विमुग्ध करने वाली किसी अन्य वस्तु को यदि देखना चाहते हो अथवा पार्थिव ऐश्वर्य एवं स्वर्गीय सुषमा का अपूर्व सम्मिलन यदि एक स्थान पर देखना है तो अभिज्ञान शाकुन्तलम का अवलोकन कीजिए।

वास्तव में महाकवि गेटे की यह उक्ति उसके आनन्द विभोर हृदय की कल्पना प्रसूत अत्युक्ति नहीं अपितु वह क्षण भर में सम्पूर्ण शाकुन्तल को उद्भासित कर देने वाली दीपशिखा ही है।

यद्यपि किसी कवि के विषय में विभिन्न आलोचकों का मापदण्ड भिन्न-भिन्न देखा जाता है पर कालिदास के भारत के सर्वश्रेष्ठ कवि होने के विषय में प्राचीन भारतीय परम्परा के विद्वान, आधुनिक युग के पौरस्त्य एवं पाश्चात्य सभी आलोचक एकमत हैं। प्रतिभाशाली कवि देश और काल की सीमा से परे होते हैं यह बात कालिदास के विषय में अक्षरश: सत्य है। कालिदास की कला का चमत्कार भारतवर्ष तक ही सीमित नहीं उनके अभिज्ञान शाकुन्तल ने पाश्चात्य एवं पौरस्त्य सभी देशों में गौरव प्राप्त किया है, सभी प्रसिद्ध देशों की भाषा में उसका अनुवाद किया गया है। आज से लगभग १५०० वर्ष पूर्व कालिदास की रचनाओं ने जिस प्रकार मानव हृदयों को उल्लसित किया था उसी प्रकार वे आज भी काव्य रसिकों को आह्लादित कर रही हैं और करती रहेंगी। 'क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयताया:' वाली उक्ति कालिदास की कृतियों पर अक्षरश: घटित होती है।

कला सौन्दर्य का अनुशीलन ही मानव की आध्यात्मिक परितृप्ति है। भारतीय कलाकारों की कृतियाँ आज भी संसार को चकित कर रही हैं। गुप्तकालीन एवं मौर्यकालीन वास्तु-कला अजन्ता की चित्रकला आज भी संसार में अपना अद्वितीय स्थान रखती हैं। इसी प्रकार काव्य व नाट्यकला के क्षेत्र में कालिदास की कृतियों ने संसार में अनन्य सामान्य स्थान प्राप्त किया है। भारतीय जनता के लिए ही नहीं अपितु समस्त मानव जाति के लिये कालिदास की यह आध्यात्मिक देन सदा सर्वत्र सरस हृदयों को आह्लादित करती रहेगी।

संस्कृत नाटक

काव्य के मुख्यतया दो भेद हैं श्रव्य एवं दृश्य। श्रव्य काव्य के अन्तर्गत महाकाव्य, प्रबन्ध काव्य, खण्ड काव्य, मुक्तक काव्य, गीति काव्य आदि आते हैं और गद्य की दृष्टि से गद्य काव्य तथा मिश्रित रूप में चम्पू काव्य भी होता है पर इन सबसे दृश्य काव्य (नाटक) में एक तात्विक अन्तर होता है। इसीलिए नाटकों की आलोचना में हम उसी दृष्टिकोण से काम नहीं ले सकते और न उन सिद्धान्तों को ही अपना सकते हैं जो कि उपर्युक्त श्रव्य (पाठ्य) काव्यों के लिए अपेक्षित हैं।

महाकाव्यों में तो पठन अथवा श्रवण के द्वारा रसचर्वणा होती है पर दृश्य काव्यों में अभिनय के द्वारा ही सामाजिक रसानुभूति प्राप्त करते हैं। महाकाव्य का रंगमंच अपने आप में होता है और उसकी सफलता एवं असफलता का परिचायक कवि का वर्णन-वैशिष्ट्य होता है पर दृश्य काव्यों का रंगमंच बाहर होता है और उसकी सफलता व असफलता का परिचायक रंगमंच होता है। यद्यपि नाट्य कला की सफलता की कसौटी आज यही मानी जाती है पर संस्कृत के अधिकांश नाटक इस कसौटी पर खरे नहीं उतरते। वास्तव में नाटक यदि वह पूर्णतया नाट्य शास्त्रीय नियमों में आबद्ध है, उसमें सभी सन्धियों, सन्ध्यङ्गों, वृत्तियों, अर्थ प्रकृतियों, अवस्थाओं आदि का संविधान किया गया है तो वह प्राय: रंगमंच के अनुकूल न होगा पर एतावता हम उसे असफल नाटक नहीं कह सकते। संस्कृत के अधिकांश नाटक,

जिनमें नाट्य शास्त्रीय नियमों का अक्षरशः पालन किया गया है, रंगमंच पर अभिनय की दृष्टि से लिखे ही नहीं गये थे, इसलिए सभी नाटकों की सफलता की कसौटी रगमंच नहीं हो सकता। वास्तव में ऐसे नाटकों का एक अलग ही भेद है जो उन्हें रंगमंचीय भेद से पृथक रखता है। ऐसे नाटक पाठ्य नाटक ही कहे जाने चाहिये और उनकी आलोचना भी नाट्य शास्त्रीय सिद्धान्तों के अनुसार होनी चाहिए, रंगमंच की दृष्टि से उन्हीं नाटकों को देखना चाहिये और उनका मूल्यांकन करना चाहिये जो रंगमंच के लिये लिखे गये हों। संस्कृत के ह्रासोन्मुख काल (६५०-१२५०) में मृच्छकटिक आदि एक दो नाटकों को ही रंगमंच की दृष्टि से सफल नाटक कहा जा सकता है शेष इस दृष्टि से सफल नहीं हो सकते पर नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से वे पूर्ण सफल नाटक हैं इसमें सन्देह नहीं।

संस्कृत नाट्योत्पत्ति

संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति कब और कैसे हुई ? यह एक विवादास्पद प्रश्न है। प्राचीन परम्परा तो इसे एक वेद ही मानती है और इस नाट्य वेद की उत्पत्ति भी वह चारों वेदों के कुछ मिश्रित तत्वों मे मानती है, नाट्यशास्त्र के अनुसार सामवेद से संगीत, यजुर्वेद से अभिनय, ऋग्वेद से सम्वाद तथा अथर्ववेद से रस को ग्रहण कर ब्रह्मा ने ही सर्वसाधारण के मनोरंजनार्थ इसकी सृष्टि की थी और भरतमुनि के द्वारा पृथ्वी पर इसका प्रचार किया गया था। "जग्राह पाठ्य मृग्वेदात् सामभ्यो गीत मेव।" यजुर्वेदादभिनयान् रसानथर्वणादपि। नाट्य शास्त्र १-१७। भरत मुनि ने लिखा है कि त्रेता युग में इन्द्रादि देवताओं की प्रार्थना पर ब्रह्मदेव ने सर्वजनोपभोग्य पंचम नाट्य वेद का सृजन किया था, इससे यह भी स्पष्ट है कि उस समय वेद वाह्य वर्णों को धार्मिक शिक्षा देना ही नाट्य कला का मुख्य उद्देश्य था। पर आधुनिक अनुसन्धानों के अनुसार इसकी उत्पत्ति कुछ भिन्न प्रकार से बताई जाती है। वैदिक साहित्य-समीक्षकों ने निश्चय किया है कि वेदों में नाटक के सभी प्रधान अंग—सम्वाद, संगीत, नृत्य एवं अभिनय के बीज किसी न किसी रूप में विद्यमान थे। ऋग्वेद में यमयमी सम्वाद, उर्वशी पुरुरवा सम्वाद, तथा सरमा आदि के सम्वाद तत्तत् सूक्तों में पाये जाते हैं, सामवेद में संगीत का तत्व है ही, वैदिक क्रिया-कलापों में अभिनय का कुछ पुट पाया ही जाता है। यही सब सम्वादादि धीरे-धीरे कालान्तर में परिष्कृत एवं परिमार्जित होकर स्वतन्त्र नाटकों के रूप में परिवर्तित कर दिये गये होंगे। वैदिक कर्म काण्डों के अवसर पर कुछ मूक आंगिक अभिनय एवं नृत्यादि भी सम्भवतः किये ही जाते होंगे जिन्होंने आगे चलकर नाटकों को अभिनय के योग्य बनाया है। अतः यह कहा जा सकता है कि वैदिक साहित्य में नाटक के मूल तत्व विद्यमान थे और उन्हीं से संस्कृत नाटकों का विकास हुआ है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में पुरुषमेध के प्रसंग में दी जाने वाली सूची में 'नट' का भी ग्रहण है। पर वेदों में यज्ञानुष्ठानादि विषयक नाटक थे ऐसा मानना अप्रामाणिक प्रतीत होता है, हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि जैसे अन्य शास्त्रों व कलाओं की उत्पत्ति एवं संवृद्धि प्राचीन काल में यज्ञीय संविधानों के सम्बन्ध से हुई उसी प्रकार नाटकों का भी सम्बन्ध वैदिक अनुष्ठानों से रहा होगा।

रामायण तथा महाभारत काल में (६०० ई० पू०) नाटकों का विकास अवश्य होने लगा था। रामायण में नट, नाटक, नर्तक, रङ्ग (रंगमंच) एवं कुशीलव आदि का प्रयोग पाया जाता है, महाभारत में भी नट, रङ्गशाला आदि का प्रयोग मिलता है। 'हरिवंश' में रामकथा-पर आधृत एक नाटक के अभिनीत होने का उल्लेख है। धार्मिक उत्सवों एवं यात्रादि के अवसरों पर राम-कृष्णादि लीलाओं का उल्लेख अन्यत्र भी मिलता है। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में 'अमृत मन्थन' त्रिपुरदाह और प्रलम्बवध आदि चार नाटकों का स्पष्ट उल्लेख है। यद्यपि बौद्ध प्रथमतः नाट्यकला के विरोधी जान पड़ते हैं पर आगे चलकर उन्होंने भी नाटकों को अपने धर्म प्रचार का साधन समझ कर अपना लिया था और स्वयं

भी उन्होंने दो-चार नाटक लिखे थे ऐसा जान पड़ता है, क्योंकि सन् १९१० में मध्य एशिया में कुछ ताड़पत्रों के छोटे-छोटे टुकड़े मिले हैं उनमें एक का नाम 'शारिपुत्र प्रकरण' है। विद्वानों का अनुमान है कि यह नाटक अश्वघोष का लिखा हुआ था क्योंकि उसके अन्तिम पत्र पर उसका नाम देखा गया है। दूसरे उपलब्ध नाटक का नाम 'प्रबोध-चन्द्रोदय' है अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि बौद्धकाल में भी नाटकों का विकास रुका नहीं था।

पाणिनि में (५०० ई० पूर्व) नटसूत्र अर्थात् नाट्यशास्त्र के उल्लेख से स्पष्ट है कि पाणिनि के समय से पूर्व ही नाटकों का विकास हो गया था। उन्होंने शिलालि और कृशाश्व इन दो नटसूत्र प्रणेताओं का नामोल्लेख किया है। एक नहीं कई नाटक लिखे गये होंगे क्योंकि नटसूत्रों का निर्माण लक्ष्य ग्रन्थों के उपरान्त ही होना सम्भव था इसके बाद नाटकों की परिष्कृत रूप में रचना होने लगी थी इसमें सन्देह नहीं, यदि हम प्राचीन परम्परा के अनुसार भास कवि को ई० पू० चतुर्थ या पंचम शतक का मान लें तब तो इस सम्बन्ध में उनके उपलब्ध नाटक ही इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि उनके समय तक नाटकों का स्वरूप पूर्णयता स्थिर हो चुका था और उनमें उत्तरोत्तर विकास होता जा रहा था। पतञ्जलि (१५० ई० पू०) ने स्वयं कंसवध और बलिबन्ध इन दो नाटकों का उल्लेख किया है। नागपुर की पहाड़ियों में ई० पू० द्वितीय शतक की प्राप्त नाट्यशाला जो कि नाट्यशास्त्रीय प्रेक्षागृह से पर्याप्त साम्य रखती है, इस बात का प्रमाण है कि ई० पू० द्वितीय शतक में नाटक रंग-मंच पर अभिनीत होने लगे थे पर १०० ई० से ६५० ई० तक के समय में तो कई सफल नाटकों का प्रणयन हुआ है। कालिदास के नाटक इसी समय के हैं। कालिदास ने भास सौमिल्ल आदि का जो नामोल्लेख नाटककार के रूप में किया है इससे सिद्ध है कि नाटक परम्परा प्राचीनकाल से चली आ रही थी।

कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने नाटकों की उत्पत्ति कठपुतलियों के खेलों से बतलाई है जो कि सर्वथा अप्रामाणिक है। संस्कृत नाटकों में व्यवहृत यवनिका तथा यवनी आदि शब्दों को देखकर कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने यह अनुमान किया था कि संस्कृत नाटक ग्रीक नाटकों की देन हैं पर यह भी भ्रान्ति है। यवनिका शब्द का प्रयोग परदों के लिये हुआ है जो कि यवन देश से प्राप्त वस्त्रों से बनते थे। यवनी शब्द का प्रयोग राजाओं की उन सेविका स्त्रियों के लिये हुआ है जो कि गृह-कक्षों, वनों, उपवनों आदि में राजा के साथ रहती थीं। इन्हें संचारिका या यवनी कहते थे जैसा कि मातृगुप्ताचार्य ने लिखा है—"गृहकक्षा विचारिण्यः तथोपवनसंचराः। संचारिकास्तु ताः ज्ञेया यवन्योऽपि मता क्वचित्।" अतः संस्कृत नाटकों को अन्य देशों की देन या उनसे प्रभावित मानना सर्वथा निराधार है, उनकी उत्पत्ति एवं विकास भारत में ही स्वतन्त्र रूप से हुआ है।

कालिदास के पूर्व नाटककार

कालिदास के पूर्व नाटककारों में भास ही प्रसिद्ध नाटककार हैं। कालिदास ने अपने 'मालविकाग्निमित्रम्' में रामिल सौमिल्ल और भास इन तीन का नामोल्लेख पूर्वक स्मरण किया है, इनमें भास के अतिरिक्त अन्य दो के विषय में कोई प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता और न इनकी रचनाओं के विषय में ही ज्ञात होता है अतः कालिदास के पूर्व भास उल्लेखनीय नाटककार माने जाते हैं पर कुछ विद्वान् राजा शूद्रक की कृति मृच्छकटिक नामक नाटक की रचना को भी कालिदास के पूर्व मानते हैं। उनके कथनानुसार उक्त नाटक में राष्ट्रिय शब्द का प्रयोग पुलिस के अधिकारी के अर्थ में हुआ है जबकि कालिदास ने इनका प्रयोग राजा के साले के अर्थ में किया है इसके अतिरिक्त मृच्छकटिक में आठ प्रकार की प्राकृतों का प्रयोग हुआ है। प्राकृत वैयाकरणों द्वारा निर्धारित नियम मृच्छकटिक में नहीं पाये जाते। इन प्रमाणों से सिद्ध है कि मृच्छकटिक की रचना कालिदास के पूर्व ही हुई

होगी। वास्तव में यह केवल कल्पना-मात्र है। मृच्छकटिक की भाषा शैली, सामाजिक एवं राजनैतिक व्यवस्था उसे निश्चय कालिदास का परवर्ती सिद्ध करती हैं इसीलिये अन्य पूर्व-वर्ती नाटककारों के साथ शूद्रक का नामोल्लेख नहीं किया गया है। इस सम्बन्ध में यह कहना कि मृच्छकटिक के कवि 'चारुदत्त' नामक भास के नाटक को परिवर्धित किया यह उसकी कोई नवीनकृति नहीं थी अतएव कालिदास ने इसका नामोल्लेख नहीं किया है अथवा यह हो सकता है कि रामिल्ल सौमिल्ल में से ही कोई इसके रचयिता हों, उचित नहीं जँचता, क्योंकि उसकी कुछ प्राकृतें कालिदास से पूर्व की नहीं हो सकती जिसे ढक्की प्राकृत कहा गया है वह वास्तव में अपभ्रंश भाषा है प्राकृत भाषा नहीं और उसके रचयिता भी रामिल सौमिल्ल नहीं क्योंकि ऐसा मानने में कोई प्रमाण नहीं। इसीलिये कालिदास ने मुख्यतया केवल भास का ही नाम सादर स्मरण किया है, वास्तव में कालिदास भास से प्रभावित हैं, प्रतिमा नाटक के कई स्थल शाकुन्तल से साम्य भी रखते हैं। प्रतिमा नाटक के प्रथमाङ्क में वल्कल धारिणी सीता को देखकर उसकी सखी कहती है "सव्वं सोहणीअं सरुवं णाम" शाकुन्तल में "किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्" कालिदास का आश्रम पादप सिञ्चन तथा शकुन्तला का सौकुमार्य वर्णन भी प्रतिमा-नाटक के पञ्चमाङ्क से प्रभावित है इसी प्रकार शकुन्तला की विदाई का प्रसंग भी प्रतिमा नाटक के पञ्चमाङ्क से प्रभावित है जहाँ राम सीता से हरिणों, पादपों और लताओं से विदा लेने को कहते हैं। शकुन्तला का पुत्रकृतक मृग भी प्रतिमा नाटक से ही प्राप्त ज्ञात होता है नाम भी वैसा ही है और प्रसंग भी वैसा ही। शकुन्तला का "भवतीनां सूनृतयैव गिरा कृतमातिथ्यम्" वाक्य भी स्वप्न वासवदत्तम् के तापसी द्वारा कृत आतिथ्य से प्रभावित जान पड़ता है। अतः स्पष्ट है कि कालिदास भास के ऋणी हैं, यह दूसरी बात है कि उन्होंने भास की वस्तु संघटना को लेकर उसको नवीन रूप एवं नवस्फूर्ति दे दी है और उसमें अधिक कलात्मकता संक्रान्त कर दी है। इतना ही नहीं कालिदास की नाटकीय योजना भी भास की अपेक्षा नवीन है। भास के नाटकों में नान्दी-श्लोक नहीं है। उनके सभी नाटक "नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः" से प्रारम्भ होते हैं जबकि कालिदास के नाटकों में नान्दी श्लोक अवश्य मिलता है। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि भास ने कालिदास के नाटकों के लिये पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी।

इस प्रकार कालिदास के पूर्व कालीन नाटककारों में भास ही प्रमुख हैं यद्यपि अश्वघोष के नाटक आज उपलब्ध न होने से उनके विषय में आलोचनात्मक दृष्टि से कुछ नहीं कहा जा सकता है तथापि उनके कालिदास पूर्व नाटक लेखक होने में कोई सन्देह नहीं। भास के अभी १३ नाटक उपलब्ध हुये हैं। भास और कालिदास के नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत के रूप का विचार कर विद्वानों ने उन्हें कालिदास का पूर्ववर्ती बतलाया है। इतना ही नहीं कालिदास के समय तक भास प्रसिद्ध हो चुके थे उनके नाटक विद्वत्समाज में आदर की दृष्टि से देखे जाने लगे थे। स्वयं कालिदास ने भी अपने 'मालविकाग्निमित्रम्' की प्रस्तावना में उन्हें प्राचीन नाटककार के रूप में स्मरण किया है। अतएव विद्वानों का अनुमान है कि भास का स्थिति काल ईसवीय तृतीय शताब्दी है।

कालिदास और अश्वघोष में कौन पूर्ववर्ती हैं इस विषय में विद्वानों का कुछ मतभेद है इस मतमतान्तर के विषय में मैंने अन्यत्र लिखा है जिसका निष्कर्ष यही है कि अश्वघोष कालिदास से पूर्व हो चुके थे अतः कालिदास के पूर्व भास के अतिरिक्त अश्वघोष भी एक नाटककार थे। इसमें सन्देह नहीं कि कालिदास ने उनके नाटकों का अध्ययन किया था।

कालिदास ने अश्वघोष ही की तरह भास के नाटकों का मार्मिकता के साथ अध्ययन किया था ऐसा ज्ञात होता है क्योंकि स्वर्गीय शि० म० पणजये महोदय ने भास और कालिदास के नाटकों के लगभग २१ स्थलों पर दोनों का कल्पना सादृश्य दिखलाया है इसके अतिरिक्त मिराशी महोदय ने अग्रलिखित अन्य भी दो तीन प्रसंग उद्धृत किये हैं:

भास—प्रतिमा०—अथवा सर्वमलङ्कारो भवति सुरूपाणाम्
कालि०—शाकु०—किमिव हि मधुराणा मण्डनं नाकृतीनाम्
भास—प्रतिमा०—वाचानुवृत्तिः खलु अतिथिसत्कारः
कालि०—शाकु०—भवतीनां सूनृतयैव गिरा कृतमातिथ्यम्
भास—प्रतिमा०—अल्पं तुल्यशीलानि द्वन्द्वानि सृज्यन्ते
कालि०—शाकु०—समानयंस्तुल्यगुणं वधूवरम्

इतना होते हुये भी यदि हम नाट्यशास्त्रीय सभी नियमों के अनुसार रचना की दृष्टि से तथा परिमार्जित, शुद्ध, एवं परिष्कृत भाषा, शैली, औचित्य एवं रस परिपाक की दृष्टि से देखें तो यही कहना पड़ेगा कि इस शैली के नाटकों की रचना करने वाले कालिदास ही सर्व-प्रथम नाटककार थे। भास के नाटक कलात्मक रमणीयता से, भाषा सौन्दर्य से, पात्रों के मनोवैज्ञानिक चित्रण से, विविधतामयी उद्भावनाओं से, नाटकीय प्रौढ़ वस्तु संविधान से रहित हैं पर कालिदास इन सभी दृष्टियों से सफल नाटककार हैं।

कालिदास ने "मालविकाग्निमित्रम्" विक्रमोर्वशीयम्, तथा अभिज्ञान शाकुन्तलम् इन तीन नाटकों की इसी क्रम से रचना की है उनके 'कुन्तलेश्वर दौत्य' का विषय अभी विवादग्रस्त ही है। उनके प्रथम नाटक में उनकी नाट्य कला अंकुरित हुई है द्वितीय में वह पुष्पित तथा तृतीय में समस्त संस्कृत नाट्य कला के मधुरतम फल के रूप में सर्व सुलभ हो सकी है।

अभिज्ञान शाकुन्तल संस्कृत साहित्य का सर्वोत्कृष्ट नाटक है। इसके सात अंकों में दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रणय, वियोग तथा पुर्नमिलन की कथा वर्णित है। यह कथानक महाभारत के आदि पर्व के शकुन्तलोपाख्यान से लिया गया है पर कवि ने अपनी अद्भुत कल्पना शक्ति से इसे जो अनुपम नाटकीय रूप दिया है वह विश्व साहित्य में सदा अमर रहेगा।

स्थिति-काल

यद्यपि हमारा संस्कृत साहित्य अत्यन्त सम्पन्न एवं अगाध है, इसमें विविध विषयों के अनेकों ग्रन्थ अब तक प्रकाशित हो चुके हैं, और उत्तरोत्तर होते जा रहे हैं पर इस विशाल संस्कृत भण्डार में कल्हण कवि की 'राजतरंगिणी', वाणकवि का 'हर्षचरित' पद्मगुप्त का 'नवसाहसाङ्कचरित' और विल्हण कवि का 'विक्रमाङ्क देव चरित' आदि कुछ ही ऐसे ग्रन्थ हैं जिन्हें ऐतिहासिक ग्रन्थ कहा जा सकता है परन्तु इन ग्रन्थों में भी घटना वैचित्र्य एवं अतिशयोक्तियों की इतनी भरमार है कि इनसे किसी ऐतिहासिक तथ्य पर पहुंचना असम्भव सा ही प्रतीत होता है। जबकि आज समुचित ऐतिहासिक सामग्री के अभाव में हम सम्राट् अशोक, समुद्रगुप्त चन्द्रगुप्त, भोज, उदयन, विक्रमादित्य आदि राजाओं के विषय में ही, उनके जीवन की कुछ दन्तकथाओं पर आधारित या अर्ध ऐतिहासिक घटनाओं के अतिरिक्त, प्रामाणिक रूप से कुछ नहीं जान सकते तब उनके आश्रित कालिदास आदि महाकवियों के विषय में सब कुछ जानना तो और भी कठिन है। संस्कृत के वाण, भवभूति, राजशेखर, विल्हण आदि ही कुछ ऐसे कवि हैं जिन्होंने अपनी रचनाओं में अपना कुछ परिचय अवश्य दिया है पर शेष के विषय में हमारी जानकारी बहुत ही सीमित है और तो क्या, जिस महाकवि की, समस्त प्राचीन और अर्वाचीन, देशी व विदेशी विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है और जिसे 'कवि-कुलगुरु' की उपाधि से विभूषित किया है उन महाकवि कालिदास के स्थिति-काल, वंश, स्व-भाव, चरित्र एवं जन्म स्थान आदि के विषय में भी हमें आज विश्वसनीय सामग्री उपलब्ध नहीं है, निःस्पृह कवि ने स्वरचनाओं में कहीं भी अपना परिचय नहीं दिया है, अपना तो क्या, अपने आश्रयदाता के लिये भी केवल एक दो स्थलों पर संकेत मात्र ही किया है।

ऐसी स्थिति में, परम्परागत विश्वसनीय सामग्री के अभाव में उक्त महाकवि के स्थिति-काल के विषय में विभिन्न विद्वानों के अनेकों मतमतान्तर चल पड़े हैं जिनमें किसी एक पर पूर्णतया विश्वास कर किसी निश्चय पर नहीं पहुँचा जा सकता है। इन मतमतान्तरों में किम्वदन्तियों का भी बड़ा हाथ है पर ये सब ऐतिहासिक तथ्य की कसौटी पर खरी नहीं उतरतीं। प्रामाणिक सामग्री के अभाव में कुछ विद्वानों ने तो महाकवि के स्थिति काल के विषय में अपनी कल्पना व रुचि के अनुसार और भी उलझन उत्पन्न कर दी है। उदाहरणार्थ १६वीं शताब्दी के रचित, बल्लाल कवि के 'भोज प्रबन्ध' का एक स्थल, जिसमें उक्त कवि ने विभिन्न कालों में होने वाले कवियों को, जिनमें कि महाकवि कालिदास भी एक हैं, धारा-धीश्वर महाराज भोज (११वीं शताब्दी) के दरबार में एकत्रित कर दिया है, देखा जा सकता है। इस प्रकार के उल्लेखों से किसी तथ्य पर पहुँचना तो दूर रहा एक नई उलझन और सामने आ जाती है। अस्तु फिर भी इन मतमतान्तरों पर विचार कर किसी न किसी तथ्य पर पहुँचना ही होगा।

अन्य बातों के विवादग्रस्त होते हुये भी महाकवि कालिदास के स्थिति-काल की पूर्वोत्तर सीमाओं के विषय में तो सभी एक मत हैं। इसकी पूर्व सीमा ईशा से लगभग १५० वर्ष पूर्व निर्धारित की गई है, क्योंकि यही समय, कालिदास के 'मालविकाग्निमित्रम्' नामक नाटक के नायक, मौर्यवंशोच्छेदक शुंगवंशीय पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र के राजत्वकाल का ऐतिहासिकों ने माना है अतः कालिदास का समय अग्निमित्र (१५० ई० पू०) से पहिले का नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त दक्षिण भारत के 'ऐहोल' नामक ग्राम में प्राप्त शिला पर (ई० स० ३६४) में खुदी एक प्रशस्ति में जहाँ कालिदास व भारवि का नामतः उल्लेख है तथा कन्नौज सम्राट हर्ष (६०६-६४७ ई०) के आश्रित कवि बाणभट्ट के हर्षचरित के प्रस्तावना में सर्वप्रथम कालिदास का स्पष्ट नामोल्लेख पाया गया है। अतः ७वीं शताब्दी के बाद कालिदास का समय निर्धारित नहीं किया जा सकता। इस प्रकार कालिदास का स्थिति-काल १५० ई० पू० से लेकर ६४७ ई० तक के बीच माना गया है।

इतने लम्बे समय के बीच कालिदास किस शताब्दी में हुयें इस सम्बन्ध में भारतीय व पाश्चात्य विद्वानों के विभिन्न मत हैं। इनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है:

ईशा पूर्व द्वितीय शताब्दी

महाकवि कालिदास विरचित 'मालविकाग्निमित्रम्' नाटक के भरतवाक्य के "सम्पत्स्यते न खुल गोप्तरि नाग्नि मित्रे" श्लोकांश में दृष्ट, अग्निमित्र पद से शुंगवंशीय अग्निमित्र राजा का अनुमान कर डा० कुण्टन राजा ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि कालिदास अग्निमित्र (१५० ई० पू०) के आश्रित कवि थे। यह अग्निमित्र विदिशा (दशार्ण देश की प्रसिद्ध राजधानी) के राजा थे जिसका भव्य वर्णन कालिदास ने अपने 'मेघदूत' में "तेषां दिक्षु प्रथितविदिशालक्षणां राजधानीम्' कह कर किया है। इतनी रुचि एवं सुन्दरता के साथ कवि द्वारा किया गया वह वर्णन अग्निमित्रकालीन विदिशा पर ही ठीक घटता है, अतः कालिदास का स्थिति-काल १५० ई० पू० ही मानना उचित है।

(१) पर यह मत विश्वसनीय नहीं प्रतीत होता क्योंकि कालिदास का यह नाटक प्रथम नाटक है। इसके भरतवाक्य की पद्धति उसके उत्तरकालीन अन्य दो नाटकों के भरतवाक्य से भिन्न है। अतः अनुमान किया जा सकता है कि कालिदास ने अपने पूर्व के किसी नाटक की पद्धति पर अग्निमित्र का नामोल्लेख मात्र किया है। इससे अग्निमित्र और कालिदास का समसामयिक होना सिद्ध नहीं होता।

(२) आख्यायिकाओं के आधार पर कालिदास किसी विक्रमादित्य नामधारी राजा के आश्रित कवि थे पर अग्निमित्र को विक्रमादित्य किसी ऐतिहासिक व्यक्ति ने नहीं माना है।

(३) मेघदूत का विदिशा नगरी का वर्णन अग्निमित्रकालीन विदिशा की अपेक्षा गुप्तकालीन विदिशा पर ही अधिक घटित होता है।

ईशा पूर्व प्रथम शताब्दी

प्राचीन पण्डित परम्परा तथान्य कुछ आधुनिक विद्वानों की भी यह मान्यता है कि कालिदास ईशा से पूर्व प्रथम शताब्दी के राजा विक्रमादित्य के आश्रित कवि थे क्योंकि :

(१) जन श्रुतियों की ऐसी मान्यता है।

(२) धन्वन्तरिक्षपणकेत्यादि[1] श्लोक भी इसी ओर संकेत करता है।

(३) कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय नाटक का नामकरण तथा उनके ग्रन्थों में यत्र तत्र विक्रम[2] शब्द का सहेतुक प्रयोग भी यह ध्वनित करता है कि वे विक्रमादित्य के आश्रित कवि थे।

(४) आज प्रचलित विक्रम सम्वत् जो कि ई० पू० ५७ से आरम्भ होता है इसी प्रथम शताब्दी के विक्रमादित्य द्वारा अपने नाम से चलाया गया है।

(५) गाथा सप्तशती, कथासरित् सागर आदि आख्यायिकाओं एवं कुछ जैन कथाओं में विक्रमादित्य की वीरता, उदारता एवं दानशीलता का वर्णन है। इन कथाओं के रचना काल की दृष्टि से विक्रमादित्य की स्थिति प्रथम शताब्दी ही सिद्ध होती है।

(६) रघुवंश के इन्दुमती स्वयंवर-वर्णन के अवसर पर कवि ने अवन्तिनाथ[3] पाण्डय[4] आदि राजाओं का विशेष रुचि के साथ वर्णन किया है, यह पाण्डय राजा प्रथम शताब्दी में ही हुआ है, इसकी राजधानी उरगपुर[5] (प्राकृत रूपान्तर उय्यूर) थी जो कि दक्षिण का एक प्रदेश था। दक्षिण में उरगपुर में पाण्डय वंश का राज्य प्रथम शताब्दी में ही रहा है, अतएव कवि ने अपने समकालीन इस राजा का विशेष रूप से वर्णन किया है और सुनन्दा (इन्दुमती की सखी) के मुख से कहलाया है "दिशः सपत्नी भव दक्षिणस्याः" इत्यादि।

(७) ईशा की प्रथम शताब्दी में अश्वघोष उत्पन्न हुये थे उनके काव्यों पर कालिदास की स्पष्ट छाप है। अश्वघोष ने अपने बुद्ध चरित तथा सौन्दरानन्द नामक काव्यों में कालिदास के 'रघुवंश' एवं कुमारसम्भव से कई प्रसंगों, कल्पनाओं एवं शब्दोक्तियों का अपहरण किया है अतः कालिदास अश्वघोष के पूर्ववर्ती होने के कारण प्रथम शताब्दी में रहे होंगे।

(८) भीटां के मृण्मय पदक पर अंकित अभिज्ञान शाकुन्तलम् के प्रथमाङ्क का दृश्य भी इसी बात का प्रमाण है कि प्रथम् शती में शाकुन्तल की रचना हो चुकी थी क्योंकि विशेषज्ञों ने इस पदक को शुंगकालीन माना है।

(९) कथा सरित् सागर के अनुसार विक्रमादित्य परमार वंशीय उज्जयिनी-नरेश महेन्द्रादित्य के पुत्र थे जिन्होंने शकादिम्लेच्छों का उन्मूलन कर नास्तिक सम्प्रदायों का उच्छेद एवं वैदिक धर्म का पुनरुत्थान किया था। ये परमशैव तथा उज्जैन महाकाल मन्दिर के निर्माता थे। ये बड़े काव्य मर्मज्ञ तथा कवियों के आश्रयदाता थे। इन्हीं के आश्रय में कालिदास

१—धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशंकु वेताल भट्ट घट खर्पर कालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां, रत्नानि वै वररुचिनर्वविक्रमस्य ॥

२—विक्रम महिम्ना वर्धते भवान्।
अनुत्सेकः खलु विक्रमालंकार ॥

३—अवन्ति नाथोऽय मुदग्रबाहुः। ४—पाण्ड्योऽयमशार्पित लम्बहारः।

५—अथोरगाख्यस्य पुरस्य नाथम्—रघु० ३-५६।

का होना जनश्रुतियों से भी पुष्ट होता है। इसके अतिरिक्त इसकी पुष्टि कालिदास के ग्रन्थों के अन्तरंग प्रमाणों से भी होती है। इन्द्र शब्द के पर्यायवाची शब्दों में से कवि बार-बार महेन्द्र शब्द का ही प्रयोग करता है और इस प्रकार वह अपने आश्रयदाता विक्रमादित्य के पिता महेन्द्रादित्य पर अपनी विशेष श्रद्धा प्रकट करता है। उज्जयिनी की जनता को उनके सामने अभिनीत 'मालविकाग्निमित्रम्' की इन उक्तियों[1] का संकेत एवं सन्दर्भ समझने में कोई कठिनाई नहीं हुई होगी। अत: कालिदास प्रथम शती में ही रहे होंगे।

(१०) कालिदास ने अपने ग्रन्थों में स्पष्टत: शिव के प्रति अधिक आस्था प्रकट की है अतएव वे गुप्तवंशीय वैष्णव राजाओं की अपेक्षा मालवा के शैव राजाओं के ही आश्रित अधिक प्रतीत होते हैं।

(११) गुप्त नरेश पाटलिपुत्र के अधीश्वर थे किन्तु कालिदास के आश्रयदाता उज्जयिनी के सम्राट थे अत: कालिदास प्रथम शती में उत्पन्न हुये होंगे।

(१२) महेन्द्रादित्य और विक्रमादित्य सूर्यवंशी राजा कालिदास के आश्रयदाता थे इसलिए कवि ने रघुवंश में सूर्यवंशी राजाओं को ही अपना चरित नायक बनाया है।

(१३) रघुवंश के दिलीप और रघु के वर्णन में तथा कथासरितसागर के महेन्द्रादित्य व विक्रमादित्य के वर्णन में पर्याप्त साम्य है तथा मेघदूत के ३०वें पद्य में उदयन विषयक लोकश्रुति की ओर जो संकेत किया है वह भी कवि को प्रथम शती में ही सूचित करता है।

उपर्युक्त मान्यताओं में कुछ तो इसलिए अविश्वसनीय हैं क्योंकि वे इतिहास विरुद्ध हैं और कुछ स्वत: अप्रामाणिक हैं क्योंकि—

(१) कोई भी जनश्रुति तभी तक मान्य हो सकती है जब तक कि वह इतिहास विरुद्ध न हो। ऐतिहासिक प्रमाण के समक्ष कोई भी विरुद्ध जनश्रुति कुछ महत्व नहीं रखती। आज प्राचीन भारत की उत्तरोत्तर विकासशील खोजों ने ऐसी ही कितनी जनश्रुतियों को अनर्गल सिद्ध कर दिया है। कालिदास के विषय में प्रचलित सभी जनश्रुतियाँ कहाँ तक प्रामाणिक हैं? विज्ञजन इसे जानते हैं। ये जनश्रुतियाँ एक-दूसरे से भिन्न प्रकार की भी हैं। एक किम्वदन्ती जो कि अत्यधिक प्रचलित है कालिदास को अपनी प्रथमावस्था में अत्यन्त मूर्ख बतलाती है; इस मूर्ख का एक विदुषी राजकुमारी से परिस्थितिवश विवाह करा दिया जाता है, वास्तविकता का पता लगने पर राजकुमारी उसे निकाल देती है तब वह काली देवी की उपासना कर, विद्वत्ता प्राप्त कर अपने घर जाता है, राजकुमारी उसकी परीक्षा लेने के लिए उससे पूछती है 'अस्ति कश्चिद्वाग्विशेष:' कालिदास प्रश्न वाक्य के तीन शब्दों को क्रमश: प्रारम्भ में रख कर तीन काव्यों—कुमारसम्भव, मेघदूत, रघुवंश—की रचना करते हैं।

एक किम्वदन्ती कालिदास और भवभूति को समसामयिक बतलाती है, जबकि भवभूति प्रमाणत: कालिदास के परवर्ती हैं।

एक जनश्रुति कालिदास को लंका के राजा धातुसेन या कुमारदास का मित्र बतलाती है।

एक जनश्रुति लंका में एक वेश्या द्वारा उनका वध किया जाना सिद्ध करती है।

'भोज प्रबन्ध' कालिदास को ११वीं शताब्दी के राजा भोज का दरबारी कवि सिद्ध करता है। इन दोनों के साहचर्य को लेकर अकबर बीरबल की भाँति लोगों ने न जाने कितनी कहानियाँ गढ़ डाली हैं।

१—दिष्टया महेन्द्रोपकार पर्याप्तेन, इदानी महेन्द्र संकीर्तनेन स्मारित: समय:, रम्भे उपनीयताम् स्वयं महेन्द्रेण सम्मृत: कुमारस्यापुष्यो यौवराज्याभिषेक:।

एक जनश्रुति कालिदास को 'सेतुबन्ध' काव्य के रचयिता प्रवरसेन का मित्र बतलाती है।

इस प्रकार कालिदास के विषय में अनेकों किम्वदन्तियाँ प्रचलित हैं पर इन पर तब तक विश्वास नहीं किया जा सकता जब तक कि ये इतिहास द्वारा पुष्ट न हों।

(२) धन्वन्तरिक्षपणकेत्यादि श्लोक जो कि कालिदास को मालवराज विक्रमादित्य के नवरत्नों में से एक मानता है, सर्वथा अप्रामाणिक है क्योंकि उसमें परिगणित कवियों के स्थितिकाल में एक दूसरे से शताब्दियों का अन्तर है और उनमें से कुछ अनैतिहासिक भी हैं।

(३) विक्रमोर्वशीय नाटक के नामकरण से तथा अन्यत्र विक्रम शब्द के प्रयोग से यदि यह मान भी लिया जाय कि कवि का अपने आश्रयदाता विक्रमादित्य की ओर संकेत है तो भी इससे यह तो कदापि सिद्ध नहीं होता कि यह विक्रमादित्य प्रथम शती में हुये थे और कवि के समकालीन थे क्योंकि ईशा पूर्व प्रथम शतक में विक्रमादित्य नामक राजा का होना इतिहास द्वारा अब तक प्रमाणित नहीं हो सका है। जब तक प्रथम शती का कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता तब तक यही मानना उचित है कि यह संकेत (यदि यह शब्द अपने साधारण अर्थ (पराक्रम) में प्रयुक्त न होकर विक्रमादित्य के लिये ही प्रयुक्त हुआ है) विक्रमादित्य उपाधिधारी चन्द्रगुप्त द्वितीय के लिये ही प्रयुक्त हुआ है वैसे तो विक्रम शब्द का पराक्रम के अर्थ में प्रयोग 'हर्ष रचित' आदि ग्रन्थों में भी देखा जाता है।

इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह भी है कि यदि प्रथम शती में विक्रमादित्य नामक कोई तेजस्वी प्रसिद्ध राजा होता तो क्या अब तक उसके सम्बन्ध में कोई शिलालेख, पदक आदि परिचायक चिह्न न मिलता? जबकि उससे वहुत पूर्व होने वाले अशोक आदि के परिचायक अनेकों स्तूप, शिलालेख, पदक आदि आज उपलब्ध हैं।

(४) प्रचलित विक्रम संवत् प्रथम शताब्दी के तथाकथित विक्रमादित्य द्वारा चलाया हुआ कदापि नहीं हो सकता क्योंकि यदि यह संवत्, जैसा कि आज इसके नाम से भ्रमवश ज्ञात होता है, किसी विक्रमादित्य द्वारा प्रथम शताब्दी से चलाया गया होता तो उसी समय से उसका 'विक्रम' यह नाम उसके साथ जोड़ दिया गया होता जैसा कि अन्य शक, मालव, गुप्त आदि संवतों के साथ उसी समय से उसका नाम चल रहा है पर ईसवीय नवम् शतक तक विक्रम संवत् का 'विक्रम' इस नाम से कहीं उल्लेख नहीं मिलता। छठी या सप्तम शताब्दी तक के शिलालेखों में जिस संवत् का उल्लेख मिलता है वह संवत् मालव संवत् है, विक्रम संवत् नहीं, उन शिलालेखों पर मालवगण स्थित्या श्री मालव गणाम्नाते अथवा मालवगण स्थिति वशात् आदि का उल्लेख है। राजस्थान में प्राप्त सिक्कों पर उल्लिखित "मालवानां जयः, मालवगणस्य जयः" आदि प्रमाणों से विशेषज्ञों ने अनुमान किया है कि मालवों का एक आयुधजीवी संघ था जो कि आजीविका के लिये युद्ध किया करता था जैसा कि पाणिनि-सूत्र ५–३–११४ से भी विदित होता है। इन्ही मालवों ने शकों पर विजय प्राप्त कर उसकी स्मृति में मालव संवत् चलाया था जो कि आगे छठी शताब्दी तक चलता रहा था, इस काल तक आते-आते मालवों की विजय आदि की विस्मृतिवश तथा विक्रम उपाधिकारी चन्द्रगुप्त की वीरता, उदारता की सर्वत्र प्रसिद्धि प्रसारवश लोगों ने मालव के स्थान पर विक्रम का प्रयोग कर विक्रम संवत् कहना आरम्भ कर दिया; तभी से इसका नाम विक्रम संवत् पड़ गया है। मालवों द्वारा प्रवर्तित होने के कारण ही यह इतना प्राचीन है। मालवगण एक अति प्राचीन संघ था जिसका मुकाबिला सिकन्दर से भी हुआ था यह इतिहास प्रसिद्ध है और इस गण को पाणिनि भी जानते थे।

नवम शतक में आस-पास जो 'विक्रम काल' शब्द का प्रयोग मिलता है उससे विक्रम संवत् अर्थ नहीं लिया जा सकता क्योंकि वहाँ विक्रम का अर्थ 'पराक्रम' है और काल का अर्थ

समय है अर्थात् वह समय जबकि राजाओं को अपने शत्रुओं पर प्रथम बार चढ़ाई करने का अवसर मिलता था। अत: प्रो० कीलहार्न के अनुसार विक्रम काल का अर्थ शरद ऋतु या कार्तिक मास है क्योंकि विजयदशमी के उपरान्त नृपति जन युद्धारम्भ करते थे।

विक्रम शब्द का विक्रमादित्य राजा के अर्थ में प्रयोग पहिले-पहल अमितगति के 'सुभाषित रत्न सन्दोह' में मिलता है पर इसकी रचना १०५० ई० मानी जाती है। अत: प्रथमशती में न तो कोई इस नाम का राजा ही था और न उसने इस संवत् को ही विक्रम नाम से प्रवर्तित किया है।

(५) 'गाथा सप्तशती' की रचना हाल नामक राजा ने ईशा की प्रथम शताब्दी में की थी। इसमें विक्रमादित्य की दानशीलता की एक गाथा है अत: यही विक्रमादित्य विक्रम संवत् संस्थापक होना चाहिये ऐसा शेववरोकर महोदय का अनुमान था पर आज उपलब्ध 'गाथा सप्तशती' किसी एक निश्चित काल या कवि की रचना नहीं कही जा सकती क्योंकि उसमें चौथी पाँचवी शताब्दी के प्रवरसेन तथा सर्वसेन आदि वाकाटक नृपतियों का तथा अष्टमशतक के वाक्पतिराज आदि कवियों का भी उल्लेख पाया जाता है। विक्रमादित्य की दानशीलता का वर्णन चन्द्रगुप्त द्वितीय पर ही ठीक घटता है क्योंकि उसने कोट्यवधि मुद्रायें दान दी थीं जैसा कि अमोघ वर्ष के संजान ताम्रपत्र की "लक्ष कोटि मलेरवयत् किल कलौ दाता स गुप्तान्वय: इस पंक्ति से प्रमाणित है।

'कथा सरितसागर' वृहत् कथा का, जो कि ईशा की प्रथम शताब्दी में पैशाची भाषा में लिखी गई थी, संस्कृत रूपान्तर है, इसमें वर्णित विक्रमादित्य जिसने बेतालों पर विजय प्राप्त की थी, विक्रम संवत का प्रवर्तक था। यह मालवे की उज्जयिनी का राजा था अत: विक्रम संवत को मालव संवत कहा जाने लगा था, मालवगणस्थित्या आदि प्रयोगों में गण का अर्थ गणना है संघ नहीं, इन प्रमाणों के आधार पर उक्त महोदय का यह अनुमान, कि विक्रमादित्य प्रथम शतक का राजा था, निराधार है क्योंकि कथा सरितसागर की रचना ११वीं शती में हुई थी। उसका मूल रूप वृहत्कथा अब उपलब्ध नहीं अत: एक हजार वर्ष के लम्बे समय में इसमें कितना परिवर्तन और परिवर्धन हुआ है यह प्रामाणिक रूप से नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त वृहत्कथा के दो रूपान्तर "वृहत्कथा मञ्जरी" और "वृहत्कथा श्लोक संग्रह" और भी उपलब्ध हैं। इन तीनों की कथाओं में परस्पर बड़ा अन्तर भी है, किसे प्रामाणिक समझा जाय, इसके अतिरिक्त इन कथाओं में विक्रमादित्य सम्बन्धी विजय वर्णन भारतीय इतिहास उत्कीर्णलेखादि के विरुद्ध है। इसमें उदयन पुत्र नरवाहनदत्त (ई० पू० पंचम शतक) की कथा इसके काल विपर्यास को सूचित करती है।

मालवगण स्थित्या का अर्थ यदि मालव गणना पद्धति है तो **मालवगणस्य जय:** का क्या अर्थ होगा ? अत: यह सब कल्पना निराधार है, प्रथमशती में विक्रमादित्य नाम का कोई राजा नहीं था जो विक्रम संवत् का प्रवर्तक होता। जैन कथाओं की भी यही दशा है।

(६) इस प्रथम शताब्दी के मत की पुष्टि में कुछ अन्य विद्वानों ने जो श्री चिन्तामणि वैद्य, प्रो० आप्टे, प्रो० राय, प्रो० चट्टोपाध्याय आदि, अन्य प्रमाण दिये हैं इनमें 'रघुवंश' के इन्दुमती स्वयंवर वर्णन के समय राजाओं का उल्लेख प्रधान प्रमाण है पर क्या एक कवि अपने काव्य में जिन राजाओं का जिस रूप में वर्णन करता है, वे सब वैसे ही उसके समकालीन होते हैं ? यदि ऐसा होता तब तो नैषधचरित्र के सभी राजा श्री हर्ष के ही समय के होने चाहिये। पर वस्तुगत्या ऐसा नहीं है और न होता ही है, कवि दृष्ट अदृष्ट सभी का प्राय: काल्पनिक एवं अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन भी करता है और वह ऐतिहासिक बन्धन से कुछ दूर भी रहता है।

उरगपुर का प्राकृत व्याकरण के अनुसार उरय्यूर बन तो सकता है पर उरय्यूर किसी भी समय पाण्ड्यों की राजधानी थी, ऐसा किसी इतिहास, उत्कीर्णलेखादि तथा दन्तकथा से

भी प्रमाणित नहीं होता अपितु इसके विपरीत इतिहास से यह सिद्ध है कि तृतीय शतक में पाण्ड्यों की राजधानी मदुरा थी। तामिल भाषा में मदुरा का अर्थ अलवाय और अलवाय का अर्थ नाग होता भी है, यदि इसी नागपुर (उरगपुर का टीकाकारों के अनुसार नागपुर अर्थ है जिसका प्राकृत रूप उरय्यूर है) की ओर कवि का संकेत था तब तो वह चतुर्थशतक का ही विशेष समर्थक जान पड़ता है न कि प्रथम का, क्योंकि तृतीय शतक के आस-पास मदुरा पाण्ड्यों की राजधानी थी।

(७) अश्वघोष और कालिदास में कौन परवर्ती था इसके निर्णय के लिये दोनों के, काव्यों के प्रसंगों का साम्य. कल्पनाओं एवं कुछ शब्दोक्तियों का सादृश्य भले ही एक दूसरे को पूर्ववर्ती या परवर्ती तथा एक दूसरे की नकल करने वाला सिद्ध करने के लिये पुष्ट प्रमाण न हों पर कालिदास ने जो अपने प्रथम काव्य ऋतु संहार में 'प्रागेव' शब्द का किमुत् इस अर्थ में प्रयोग किया है वह कालिदास को अश्वघोष के काव्यों का अध्येता सिद्ध करने के लिये अकाट्य प्रमाण है। अश्वघोष ने अपने काव्यों में इसका प्रयोग किमुत के अर्थ में किया है, कालिदास ने वहीं से इस शब्द को लिया है और केवल ऋतु संहार में इसका प्रयोग किया है पर इसके बाद जब कवि को यह ध्यान आया कि प्रागेव शब्द किसी भी कोष में इस अर्थ का द्योतक नहीं है तब उन्होंने इसका प्रयोग फिर अन्य ग्रन्थों में कहीं नहीं किया।

प्रसंग साम्य एवं कल्पना तथा शब्दोक्ति साम्य के उदाहरणों में, जिनका कि सविस्तार उल्लेख श्री मिराशी महोदय ने अपने 'कालिदास' नामक ग्रन्थ में किया है, एक बात अवश्य दृष्टव्य है कि अश्वघोष की शब्दावली की अपेक्षा कालिदास की शब्दावली में अधिक लालित्य एवं माधुर्य है। दोनों के प्रसंग एवं कल्पना में विशेष रमणीयता एवं विशदता है, कई स्थल तो ऐसे जान पड़ते हैं कि मानो कालिदास ने यह कल्पना बीज अश्वघोष से लेकर उसे ही पल्लवित एवं पुष्पित किया है, कालिदास जैसे रससिद्ध कवि के लिये ऐसा स्वाभाविक ही है, अश्वघोष तो पहिले दार्शनिक था तब कवि जैसा कि वह स्वयं स्वीकार करता है। अतः निर्विवाद रूप से कालिदास परवर्ती थे।

(८) प्रयाग के पास भीटा नामक ग्राम में प्राप्त मृण्मय पदक पर बने शाकुन्तल के प्रथमाङ्क के दृश्य के चित्र से जिसे कि विशेषज्ञों ने अनुमानतः शुंगकालीन माना है, कालिदास की स्थिति ई० पू० प्रथम शतक मानना भी भ्रामक ही है जब तक कि उक्त पदक का शुंगकालीन होना प्रामाणिक न हो जाय तथा उस पर बने चित्र का प्रथमाङ्क का ही होना निश्चित न हो जाय। अभी तक ये दोनों ही बातें संशयात्मक हैं क्योंकि चित्र स्वयं इतना अस्पष्ट है कि जिससे किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता। हो सकता है कि यह चित्र तरुण सिद्धार्थ का हो जबकि वे रथारूढ़ हो वनविहार को जा रहे हों। नाटकों के इस प्रकार के दृश्य चित्रों की उस समय प्रथा भी न थी अन्यथा अन्य कोई दृश्य चित्र भी मिलते जबकि साँची आदि के अनेकों स्तूपों पर बौद्धों के अनेकों चित्र पाये जाते हैं।

अतः कालिदास का प्रथम शताब्दी पूर्व होना किसी भी प्रकार प्रमाणित नहीं होता।

(९) कथा सरित्सागर का उल्लेख तत्सामयिक अन्य दो आख्यायिकाओं के विरुद्ध होने से, इतिहास कालक्रम विरुद्ध होने से, अतिशयोक्ति पूर्ण एवं अतिरंजित होने से, पूर्वापर विरुद्ध होने से अप्रामाणिक है जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है।

कालिदास के ग्रन्थों के अन्तरंग प्रमाणों से इसकी कुछ पुष्टि नहीं होती। महेन्द्र शब्द का मालविकाग्निमित्रम् में दो चार बार प्रयोग करना कवि की इस शब्द के प्रति विशेष रुचि का ही द्योतक है। उसने इस शब्द का प्रयोग अपने अन्य ग्रन्थों में भी किया है। इसमें खींचतान कर श्लेष जन्य संकेत खोजने का प्रयत्न अनावश्यक है, कवि की श्लेष में स्वाभाविक

रुचि नहीं जान पड़ती। इसमें कोई ऐतिहासिक या उत्कीर्ण लेख का प्रमाण नहीं कि मालविकाग्निमित्रम् का उज्जयिनी में प्रथम शती में अभिनय हुआ था।

(१०) इसमें सन्देह नहीं कि कालिदास शैव थे उनकी शिव पर अधिक आस्था थी और गुप्त नरेश प्राय: वैष्णव थे पर हिन्दू धर्म की उस उत्क्रमणावस्था के समय में किसी को भी किसी समय किसी भी सम्प्रदाय को ग्रहण कर लेने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी और न इसके लिए कोई विरोध ही था। शिव और विष्णु दोनों पर लोगों की एक सी श्रद्धा थी। शैव और वैष्णवों में इतना मतभेद उस समय नहीं था जितना कि आगे चल कर देखा जाता है, कालिदास के माता-पिता अवश्य शाक्त होंगे इसीलिये उनका नाम कालिदास पड़ा होगा। पर कालिदास शैव थे। चन्द्रगुप्त वैष्णव था और उसकी पुत्री तथा जामाता भी विष्णु भक्त, पर प्रभावती का पुत्र प्रवरसेन शैव था। इससे स्पष्ट है कि उस समय इन दोनों मतों में इतना विरोध नहीं था, दोनों हिन्दू धर्म के अंग थे अत: कालिदास वैष्णव नृपतियों के आश्रय में भी हो सकते हैं, कालिदास की श्रद्धा उतनी ही राम पर भी है जितनी कि शिव पर, उसके तीनों ही काव्य इसके प्रमाण हैं। वैष्णव नृपतियों (गुप्त नरेशों) के समय में ही विशेषकर चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में, जो कि शैव कालिदास का आश्रयदाता था, अभी हाल ही में मथुरा के एक शिलालेख में चन्द्रगुप्त के आश्रित एक शैवाचार्य द्वारा शिवलिंग की प्रतिष्ठा का उल्लेख मिला है। चन्द्रगुप्त के अधीन एक राजा ने उदयगिरि में विष्णु और चण्डी की मूर्ति बनवाई थी जो अब तक उपलब्ध है। चन्द्रगुप्त के वीरसेन नामक मन्त्री ने शिव की पूजा के लिये एक गुफा तैयार कराई थी जिसका उल्लेख एक शिलालेख से प्राप्त होता है। चन्द्रगुप्त की धार्मिक नीति बड़ी ही उदार थी। उसके राज्य में हिन्दू, बौद्ध, जैन सभी को आश्रय प्राप्त था। वह किसी अन्य सम्प्रदाय का विरोधी नहीं था। ऐसे वैष्णव भी नृपति के आश्रय में शैव मतावलम्बी कालिदास का रहना क्यों असम्भव है?

(११) गुप्त नरेश विक्रमादित्य उपाधिधारी चन्द्रगुप्त द्वितीय ने ३६५ ई० के लगभग शकों को समूलोच्छेद कर उनके प्रदेश को अपने राज्य में मिलाकर उज्जयिनी को अपनी राजधानी बनाया था यह बात उस समय के प्राप्त शिलालेखों तथा सिक्कों से प्रमाणित हो चुकी है। उज्जयिनी की विद्वत्परिषत् में इसने भी कालिदास, मेण्ठ आदि कवियों की भाँति परीक्षा दी थी जैसाकि काव्य मीमांसा के इस कालिदासमेण्ठावत्रामरेत्यादि कथन से प्रमाणित है।

(१२) कवि की सूर्यवंशी या चन्द्रवंशी सभी राजाओं पर एक सी ही आस्था थी। रघुवंश में वर्णित सभी राजाओं पर उसकी एक सी रुचि दीखती है। यह दूसरी बात है कि कवि होने के कारण कहीं अधिक कल्पना चातुर्य्य, मधुर पदावली का प्रयोग किया हो। कवि अपनी रुचि के अनुसार ही कथानक चुनता है वह इस सम्बन्ध में किसी सम्प्रदाय विशेष से आबद्ध नहीं होता, इसीलिये तो शैव होते हुए भी कालिदास ने रघुवंश काव्य की रचना की है, रघु, दिलीप सूर्यवंशी राजा थे इसलिए नहीं। और दूसरी बात यह है कि अभी तक तो महेन्द्रादित्य और प्रथम शती के विक्रमादित्य अनैतिहासिक पुरुष ही हैं उनके वंश का विवेचन और कालिदास का पक्षपात तो आगे की बात है।

(१३) वर्णन साम्य होना कवि के लिये स्वाभाविक है, इसके आधार पर कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। उदयन की कथा पुराणों के रहते हुए कालिदास के लिये अज्ञात न थी।

अत: सिद्ध है कि वे प्रथम शती के कदापि नहीं हो सकते।

तृतीय शताब्दी

श्री द० वें कैतकर महोदय ने जोकि बीजापुर के लब्ध प्रतिष्ठ ज्योतिष् शास्त्रज्ञ हैं, कालिदास के रघुवंश के "अगस्त्यचिह्नादयनात्समीपम्" इत्यादि श्लोक के अगस्त्य और

अयन शब्दों को लेकर ज्योतिर्गणना के अनुसार यह सिद्ध किया है कि कालिदास का समय २८० ई० के आस-पास होना चाहिए पर श्री केतकर महोदय ने जिस कठिन कल्पना से यह अर्थ ध्वनित किया है सम्भवत: कालिदास वहाँ तक नहीं पहुँच सके होंगे। इसमें सन्देह नहीं कि कालिदास को ज्योतिष् का ज्ञान था जैसा कि उनके ग्रन्थों में यत्र तत्र आभास मिलता है, पर वे सर्वत्र ऐसे ही काल निर्देशक ध्वन्यात्मक शब्दों का प्रयोग करते हों ऐसा नहीं माना जा सकता। अगस्त्य दक्षिणवासी मुनि थे। अगस्त्य चिह्नात् से कवि का सीधा तात्पर्य दक्षिण दिशा से है अयन का तात्पर्य स्पष्ट है अत: अगस्त्य चिह्नादयनात् का अर्थ "दक्षिणायन से" है। अत: यह मत भी विशेष मान्यता प्राप्त नहीं कर सका है।

पाँचवीं शताब्दी

रघुवंश के चतुर्थ सर्ग में रघुदिग्विजय वर्णन के अवसर पर कवि ने "तत: प्रतस्थे कौवेरीम्..........तत्र हूणावरोधानाम्.......वभूव रघुचेष्टितम्" आदि श्लोक लिखकर यह बतलाया है कि रघु ने उत्तर दिशा में वंक्षु नदी (प्राचीन वैक्ट्रिया आधुनिक वल्व देश की ऑक्सस नदी) के किनारे हूणों को पराजित किया। इससे प्रो० पाठक ने यह निष्कर्ष निकाला था कि ४५० ई० के लगभग हूणों ने ऑक्सस के किनारे राज्य स्थापित किया था इससे पूर्व भारतीयों को हूणों का परिचय न था। कुमारगुप्त के पुत्र स्कन्धगुप्त ने इन्हें परास्त किया था जैसा कि गिरनार के शिलालेख से सिद्ध हो चुका है, यह स्थिति कालिदास के समय की ही होगी क्योंकि वह विक्रमादित्य का आश्रित कवि माना गया है, स्कन्धगुप्त की उपाधि भी विक्रमादित्य थी अत: कालिदास का समय पंचम शतक मानना चाहिए। पर ४५० ई० के पूर्व भी महाभारत अवेस्ता आदि में हूणों का उल्लेख है तथा तृतीय शताब्दी के ललित विस्तार में भी। ईसा पू० १४० के लगभग हूणों से युएची (जिनका आगे चलकर कुशान नाम पड़ा) लोगों को ऑक्सस के दक्षिण किनारे पर हराया था। इनका पता भी कालिदास को होगा ही। अत: पंचम शताब्दी का मत भी विशेष महत्व का नहीं ठहरता।

छठी शताब्दी

फर्गुसन महोदय के कथनानुसार ५४४ ई० में हर्ष विक्रमादित्य ने शकों को परास्त कर ६०० वर्ष पूर्व से विक्रम संवत् चलाया है इसी विक्रमादित्य के दरबार में ९ कवियों में से एक कालिदास भी थे। मैक्समूलर महोदय ने उक्त कथन की पुष्टि में इतना और कहा कि छठी शताब्दी ही संस्कृत के पुनरुज्जीवन का समय है, ऐसे काल में ही कालिदास जैसे कवि का होना सम्भव है अत: कालिदास का समय छठी शताब्दी है पर अब यह धारणा सर्वथा निराधार प्रमाणित हो चुकी है क्योंकि :

(१) फ्लीट की भारतीय शिलालेखों की खोज ने यह प्रमाणित कर दिया है कि आधुनिक विक्रम संवत् उस समय मालव संवत् के नाम से चल रहा था, विक्रम यह नाम तो इसे ईसा की नवम शताब्दी के बाद दिया गया है।

(२) भारतीय जनश्रुति के अनुसार कालिदास शकारि विक्रमादित्य के आश्रित कवि थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने ही शकों को परास्त कर यह उपाधि धारण की थी। छठी शताब्दी में विक्रमादित्य नाम का अन्य कोई राजा नहीं हुआ है।

(३) रघुवंश के रघुदिग्विजय वर्णन में जिन यवन, शक, हूणों आदि का वर्णन है वे आक्रमणकारी नहीं थे अपितु रघु ने उन्हें भारत की सीमा के बाहर ही परास्त किया था।

(४) छठी शताब्दी में यशोवर्धन द्वारा, न कि किसी अन्य विक्रमादित्य नामक राजा के द्वारा, हूणों को न कि शकों को, परास्त किया गया था, शकों को तो चन्द्रगुप्त द्वितीय ने ही नष्ट कर उनके प्रदेश को अपने राज्य में मिला लिया था।

(५) ईशा की प्रथम पाँच शताब्दियों से प्राप्त शिलालेखों से प्रमाणित हो चुका है कि संस्कृत साहित्य की काव्य परम्परा प्रथम शताब्दी से ही विकसित रूप में चलती आ रही है।

(६) प्रथम शताब्दी के अश्वघोष द्वारा रचित 'बुद्ध चरित' तथा सौन्दरानन्द काव्य तथा उत्तरकालीन भास के नाटकों से भी यह प्रमाणित हो चुका है कि छठी शताब्दी संस्कृत के पुनरुज्जीवन की शताब्दी नहीं थी।

(७) मध्य भारत के मन्दसोर नामक स्थान में ४७३ ई० का एक शिलालेख प्राप्त हुआ है जिस पर वत्सभट्टि नामक कवि द्वारा लिखित प्रशस्ति में कालिदास के ऋतुसंहार और मेघदूत के कितने ही पद्यों की स्पष्ट झलक है।[१]

इस प्रकार यह सिद्ध है कि कालिदास का समय ४७३ ई० के पूर्व का ही होगा। कालिदास ने वात्स्यायन के कामसूत्रों का विशेष रूप से अध्ययन किया था इसमें सन्देह नहीं, क्योंकि अभिज्ञान शाकुन्तल का "शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्ति सपत्नीजने" इत्यादि श्लोक जो कि शाकुन्तल के सर्वोत्कृष्ट चार श्लोकों में से एक है, वात्स्यायन के कामसूत्रों पर पूर्णतया आधारित है। आधे से अधिक शब्द भी वही हैं जिनका प्रयोग उन सूत्रों में वात्स्यायन ने किया है। काम शास्त्र में उल्लिखित राजकीय परिस्थिति के अनुसार वात्स्यायन का काल विद्वानों ने ईशा की तीसरी शताब्दी का मध्य भाग माना है। अतः इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि कालिदास ई० २५० से लेकर ४७३ के बीच ही रहे होंगे।

भारतीय जनश्रुति के अनुसार "ख्याति कामपि कालिदासकवयो नीता शकारातिना" तथा कालिदास के ग्रन्थों में आये हुए 'विक्रम पद के श्लेष के आधार पर यह अनुमान न्यायसंगत है कि कालिदास किसी शकारि विक्रमादित्य नाम के राजा के आश्रित थे जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी।

२५०-४५० ई० के बीच चन्द्रगुप्त द्वितीय तथा उसके पौत्र स्कन्दगुप्त दोनों ने विक्रमादित्य की पदवी धारण की थी, यह बात इस काल के प्राप्त सिक्कों से प्रमाणित हो चुकी है। इनमें से द्वितीय चन्द्रगुप्त को ही शकारि कहा जा सकता है क्योंकि इसी ने ३६५ ई० के लगभग काठियावाड़ के आस-पास के शकों का मूलोच्छेद कर उनका प्रदेश अपने राज्य में मिला लिया था, यह बात मुद्राओं व प्राप्त शिलालेखों से प्रमाणित है। इस शकारि विक्रमादित्य की राजधानी उज्जयिनी थी। यह दानवीर तथा विद्वानों का आश्रयदाता था, यह स्वय भी विद्वान कवि था। काव्य मीमांसा के "इह कालिदास मेण्ठावत्रामरेत्यादि" आदि श्लोक से प्रमाणित है कि कालिदास मेण्ठ आदि कवियों की भाँति ही इस चन्द्रगुप्त ने भी उज्जयिनी की विद्वत्परिषद् के समक्ष परीक्षा दी थी। अतः ऐसे राजा के आश्रय में कालिदास जैसे कवि का होना सर्वथा संगत है और ऐसा मानने पर भारतीय जनश्रुतियों की भी संगति ठीक बैठ जाती है। कालीदास को चन्द्रगुप्त द्वितीय (३८०-४१३) के समय में मानने के लिए निम्नलिखित अन्य प्रमाण भी हैं :

(१) "कुन्तलेश्वर दौत्य' में वर्णित कालिदास चरित सम्बन्धी प्रसंग इस बात के प्रमाण हैं कि कालिदास चन्द्रगुप्त द्वितीय के समकालीन[२] थे।

(२) भारतीय इतिहास के इसी स्वर्णयुग में 'कालीदास जैसे कवि का होना न्यायसंगत है।

१—विशेष विवरण के लिए देखिये "श्री वासुदेव विष्णु मिराशी कृत कालिदास"।
२—देखिये श्री वासुदेव विष्णु मिराशी लिखित "कालिदासचे कुन्तलेश्वरदौत्य"।

(३) कालिदास ने अपने "कुमारसम्भव" महाकाव्य की रचना चन्द्रगुप्त के पुत्र कुमारगुप्त के जन्म को लक्ष्य में रखकर की है।

(४) चौथी शताब्दी की हरिषेण रचित प्रयागवाली प्रशस्ति में किये गये समुद्रगुप्त (३३६-३७५) के विजय वर्णन में और रघुवंश के रघुदिग्विजय वर्णन में बहुत कुछ साम्य है सम्भवतः कवि ने इसी विजय वर्णन को ध्यान में रखकर रघु की दिग्विजय का वर्णन किया है।

(५) कालिदास के ग्रन्थों में वर्णित सुख, समृद्धि तथा शान्ति का समय गुप्त-काल के स्वर्णयुग का ही सूचक है।

(६) रघुवंश के **"ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः इन्दुं नवोत्थान मिवेन्दुमत्यै"** आदि वाक्यों में प्रयुक्त इन्दु एवं चन्द्रमस् शब्द चन्द्रगुप्त के ही द्योतक हैं।

(७) कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' नाटक का नामकरण इसी विक्रमादित्य का संकेत करता है।

(८) कालिदास के 'मालविकाग्निमित्रम्' में वर्णित अश्वमेघ यज्ञ समुद्रगुप्त के अश्वमेघ यज्ञ का व्यञ्जक है।

(९) कालिदास अश्वघोष तथा भास के परवर्ती हैं जैसा कि ऊपर सिद्ध किया जा चुका है।

(१०) वत्सभट्टि कालिदास का अनुकरणकर्ता है और कालिदास वात्स्यायन की शब्दावली का प्रयोग करते हैं।

(११) ऐहोल के ६३४ के शिलालेख में कालिदास का नामतः उल्लेख है।

(१२) कालिदास का 'मालविकाग्निमित्रम्' नाटक सम्भवतः वाकाटक राजा रुद्रसेन द्वितीय और चन्द्रगुप्त पुत्री प्रभावती गुप्ता के विवाह महोत्सव पर लिखा गया होगा।

(१३) कालिदास द्वारा कई बार गुप् धातु का प्रयोग करना भी इस ओर (गुप्त काल) संकेत करता है।

इस उपर्युक्त मत के विरुद्ध भी कुछ आपत्तियाँ उठाई गई हैं पर वे विशेष महत्व नहीं रखतीं। इनमें एक आपत्ति तो यह है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने विक्रम संवत् नहीं चलाया था क्योंकि उस समय उसके पितामह चन्द्रगुप्त प्रथम द्वारा संचालित गुप्त संवत् चल रहा था जिसका उल्लेख गिरिनार वाले शिलालेख में है। विक्रम संवत् का उल्लेख नवीं शताब्दी से पूर्व कहीं नहीं पाया जाता। और यह भी सम्भव नहीं जान पड़ता कि चन्द्रगुप्त जैसा प्रतापी नरेश अपने नाम का संवत् न चला कर मालवा संवत् को अपने नाम से संचालित करता इत्यादि।

इस आपत्ति के अन्तर्गत कही गई सभी बातें सत्य हैं, चन्द्रगुप्त ने विक्रम संवत् नहीं चलाया, उस समय गुप्त संवत् चल रहा था, विक्रम संवत् का उल्लेख नवीं शताब्दी तक नहीं मिलता, मालव संवत् का प्रयोग छठी शताब्दी के बाद तक होता रहा है ये सभी बातें सत्य हैं और इतिहास से प्रमाणित हैं पर कहना तो यह है कि यद्यपि विक्रम संवत् चन्द्रगुप्त ने नहीं चलाया था पर नवीं शताब्दी के आस-पास लोगों ने इसको विक्रम उपाधि के साथ जोड़ दिया था, क्योंकि तब तक मालवों की प्रसिद्धि का कोई विशेष महत्व नहीं रह गया था। गुप्त संवत् का प्रयोग गुप्त काल तक ही विशेषतया सीमित रहा है बाद में गुप्त और मालव इन दोनों के स्थान पर विक्रम संवत् ही अधिक प्रयोग में आने लगा था क्योंकि विक्रम इस नाम की जितनी अधिक प्रसिद्धि थी उतनी मालव व गुप्त की नहीं, जनता अधिक प्रसिद्ध वस्तु से ही व्यवहार करती है।

उक्त चन्द्र, इन्दु, विक्रम, कुमार आदि शब्दों की श्लिष्टता एवं संकेतात्मकता को कुछ लोग स्वीकार न कर उन्हें साधारण अर्थों में प्रयुक्त मानने के पक्ष में हैं पर इसी में क्या प्रमाण है कि वे व्यञ्जक न होकर वाचक ही हैं। यदि उक्त शब्दों को व्यञ्जक मान कर ऐतिहासिक बातों के साथ संगति बैठ जाती है तो इसमें कोई आपत्ति न होनी चाहिए। कालिदास गुप्त काल में हुए थे इस बात के लिए न केवल ये शब्द ही अपितु अनेकों शिला-लेख एवं मुद्रा इसके साक्षी हैं।

"मालविकाग्निमित्रम् के अश्वमेघ का सम्बन्ध शुंग वंश प्रवर्त्तक पुष्यमित्र से है न कि समुद्रगुप्त के अश्वमेघ यज्ञ से" इस आपत्ति के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि तब रघु के ऐतिहासिक दिग्विजय वर्णन का सम्बन्ध किससे होगा ? अगर यह संकेत समुद्र-गुप्त के लिए है तो अश्वमेघ का भी उसके ही साथ सम्बन्ध न मानकर शुंग काल तक जाने की क्या आवश्यकता ? अपने समय के आस-पास की उसी घटना को छोड़कर उतनी दूर की घटना का वर्णन करने की कवि को क्या आवश्यकता पड़ी थी ?

'विक्रमादित्य' इस उपाधि को लेकर जो आपत्ति उठाई गई है वह भी कुछ विशेष महत्व की बात प्रतीत नहीं होती, सर्वदा यह आवश्यक नहीं होता कि प्रत्येक उपाधि पूर्व प्रचलित उपाधि ही हो, इस उपाधि का धारण-कर्ता या उस नाम वाला कोई व्यक्ति अवश्य ही रहा हो अन्यथा उपाधि नहीं बन सकती। गुण तथा कार्य के अनुसार प्रायः उपाधियाँ दी जाती हैं, चन्द्रगुप्त अपने समय का सबसे अधिक पराक्रमी राजा था अतः उसे वीरता सूचक विक्रमादित्य की उपाधि दी गई होगी। कालिदास को कवि कुलगुरु की उपाधि दी गई है पर इस नाम का पहिले कोई व्यक्ति तो नहीं हुआ है ?

इसी प्रकार की और एक दो आपत्तियाँ हैं जो कि कुछ मूल्य नहीं रखतीं। कालिदास का समय चौथी शताब्दी के अन्त में 'या पाँचवीं शताब्दी के आरम्भ में ही माना गया है। आज प्रायः सभी पाश्चात्य विद्वान् जैसे डा० बूलर, कीलहार्न, कील, मैकडानेल आदि तथा अधिकांश भारतीय विद्वान् कालिदास का स्थिति काल गुप्त काल से मानते हैं और यही तर्क संगत एवं इतिहास संगत-प्रतीत होता है।

इसी प्रकार महामहोपाध्याय श्री हरप्रसाद शास्त्री, श्री का० कृ० लेले तथा श्री शी० का० ओक महोदयों ने छठी शताब्दी के मत की पुष्टि में कुछ नये प्रमाण दिये हैं, इनके मत से कल्हण द्वारा उल्लिखित उज्जयिनी के अधिपति विक्रमादित्य, जिन्होंने अपने एक विद्वान् कवि मातृगुप्त को काश्मीर के सिंहासन पर बिठाया था पर जिसने विक्रमादित्य की मृत्यु के बाद ही वह गद्दी उसके सच्चे अधिकारी प्रवरसेन को दे दी थी जिस प्रवरसेन ने प्रवरपुर बसाया था और सेतुबन्ध प्राकृत काव्य की रचना की थी, तथा हुएनसांग द्वारा उल्लिखित मालव देश (Molapo) का अधिपति शीलादित्य दोनों एक ही व्यक्ति थे क्योंकि दोनों की स्थिति छठी शताब्दी में उक्त लेखों से प्रमाणित होती है, प्रवरपुर भी हुएनसांग के अनुसार छठी शताब्दी का ठहरता है। राजतरंगिणी में जिस विक्रमादित्य द्वारा शकों के पराभव का वर्णन है वह यही छठी शताब्दी का विक्रमादित्य था इसके अतिरिक्त मन्दसौर की प्रशस्ति में जिस मालवाधिपति यशोधर्म देव द्वारा हूण राज मिहर कुल के पराभव का वर्णन है जिसने कि परमेश्वर एवं राजाधिराज की उपाधियाँ धारण की थीं, वह भी यही विक्रमादित्य था अर्थात् इन विद्वानों के मत से कल्हण का विक्रमादित्य, मन्दसौर प्रशस्ति का यशो धर्म देव एवं हुएनसांग का शीलादित्य तीनों एक ही व्यक्ति थे, छठी शताब्दी में भिन्न-भिन्न लेखकों द्वारा इनको भिन्न-भिन्न नामों से स्मरण किया गया है। कल्हण और अल्वेरुनी ने सम्भवतः इन्हीं पराजित हूणों को शक नाम दिया होगा तथा मातृगुप्त ही कालिदास होगा जिसने विक्रमादित्य की आज्ञा से प्रवरसेन के लिए सेतुबन्ध की रचना कर अपना मित्र बनाया

होगा। इस प्रकार **'शकारि विक्रमादित्य'** के आश्रित कवि कालिदास ने अपने मित्र प्रवरसेन के लिये सेतुबन्ध नामक काव्य की रचना की थी यह जनश्रुति भी ठीक बैठ जाती है। अत: कालिदास को छठी शताब्दी का ही मानना चाहिए ऐसा इन विद्वानों का मत हैं। पर यह विश्वसनीय नहीं क्योंकि :

(१) विसेण्ट स्मिथ महोदय ने सिद्ध कर दिया है कि हुएनसांग का Molapo मालवा नहीं है और न उसकी राजधानी उज्जयिनी ही थी क्योंकि हुएनसांग ने स्वयं उज्जयिनी का पृथक वर्णन किया है।

(२) सिल्वन लेवी के अनुसार हुएनसांग का शीलादित्य वलभी का राजा था यशोधर्मदेव नहीं और न कल्हण का विक्रमादित्य ही।

(३) यशोधर्मदेव ने जबकि परमेश्वर यह उपाधि भी धारण करली थी तो विक्रमादित्य इस उपाधि को भी तो वह धारण कर सकता था पर ऐसा कहीं उल्लेख नहीं मिलता।

(४) यशोधर्मदेव शकारि भी नहीं हो सकता क्योंकि छठी शताब्दी तक शकों का नाम मिट चुका था।

(५) मातृगुप्त ही यदि कालिदास होता तो कल्हण उसका कालिदास से पृथक वर्णन न करते और करते भी तो किसी न किसी स्थान पर उसे कालिदास नाम से भी स्मरण करते ही।

(६) कल्हण के अनुसार विक्रमादित्य प्रवरसेन का शत्रु था तो फिर यह कैसे सम्भव था कि विक्रमादित्य का आश्रित कवि कालिदास उसकी आज्ञा से प्रवरसेन के लिए सेतुबन्ध की रचना कर उसे अपना मित्र बनाता।

(७) कल्हण के अनुसार ही मातृगुप्त ने गद्दी छोड़ने के बाद ही तुरन्त काशी में जाकर सन्यास ले लिया था।

इन सब प्रमाणों से निश्चित है कि कालिदास का स्थिति-काल छठी शताब्दी नहीं था।

इसी प्रकार कुछ विद्वानों ने कालिदास को वराहमिहर का समकालीन माना है। वराहमिहर छठी शताब्दी का एक धुरन्धर ज्योतिष् शास्त्र का आचार्य था जिसने सर्वप्रथम **अयनविन्दु** का निश्चय कर वर्षाऋतु का आरम्भ आषाढ़ मास से सिद्ध किया है इसके पहिले दक्षिणायन या वर्षाऋतु का आरम्भ श्रावण मास से माना जाता था। कालिदास ने उक्त आचार्य के सर्वमान्य सिद्धान्त के अनुसार ही मेघदूत में "आषाढस्य प्रथमदिवसे" लिखा है, इसके अतिरिक्त कालिदास ने अन्य भी कई कल्पनायें ज्योतिष के सम्बन्ध में वराहमिहिर से ली हैं।[1] इससे यह परम्परागत जनश्रुति भी ठीक बैठ जाती है कि कालिदास और वराहमिहिर दोनों ही विक्रमादित्य के नवरत्नों में से थे।[2]

पर यह कल्पना भी कोई विशेष महत्व नहीं रखती क्योंकि मेघदूत के उक्त श्लोक में आषाढस्य प्रथमदिवसे ऐसा भी पाठ है जिसका अर्थ स्पष्टतया आषाढ़ का अन्त या श्रावण का आरम्भ होता है। इसके अतिरिक्त कालिदास ने रघुवंश १२-२९ तथा १८-६ में भी वर्षाऋतु के आरम्भ का समय श्रावण मास ही बतलाया है अत: इन प्रमाणों से कालिदास को वराहमिहिर का समकालीन नहीं माना जा सकता।

इसी प्रकार कुछ विद्वानों ने कालिदास के मेघदूत की

"स्थानादस्मात्सरसनिचुलादुत्पतोदङ्मुख:खम् ।
दिङ्नागानां पथि परिहरन् स्थूलहस्तावलेपान् ॥

१—देखिये श्री मिराशी रचित 'कालिदास' पृष्ठ २७-२८।
२—देखिये धन्वन्तरिक्षपणकेत्यादि श्लोक।

इन पंक्तियों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि रामगिरि के समीप रहने वाला सहाध्यायी निचुल नामक कवि कालिदास का मित्र तथा प्रशंसक, एवं कालिदास पर किये गये आक्षपों का निराकरण करने वाला था तथा दूसरी ओर कालिदास का प्रतिस्पर्धी दिङनागाचार्य अपने मोटे-मोटे हाथ उठा-उठा कर कालिदास पर आरोप किया करता था कि कालिदास ने अपनी कल्पनायें दूसरी कृतियों से चुराई हैं। यह दिङनाग छठी शताब्दी का एक बौद्ध दार्शनिक था अतः कालिदास ने मेघ से यक्ष द्वारा यह कहलवाया है कि दिङनाग को बचाकर जाना अतः सिद्ध है कि कालिदास छठी शताब्दी में उत्पन्न हुए थे।

पर यह प्रमाण भी निर्बल है क्योंकि—

(१) श्लेष का यत्र-तत्र प्रयोग करने वाले भी कालिदास, सुबन्धु, वाण या श्री हर्ष की भाँति कभी भी इसका प्रचुर मात्रा में प्रयोग नहीं करते थे अतएव किसी अन्य प्रमाण के अभाव में उक्त पंक्तियों में श्लेष द्वारा व्यक्ति विशेष का संकेत निकालना न्यायसंगत नहीं जान पड़ता।

(२) कालिदास अपने प्रतिद्वन्द्वी दिङ्नाग (यदि श्लेष मान भी लिया जाय) के लिये कभी **'दिङनागानां'** इस बहुवचन का जो कि आदर का सूचक है, प्रयोग न करते।

(३) दिङनाग एक तार्किक था न कि कवि अतः वह कालिदास का प्रतिद्वन्द्वी नहीं हो सकता।

(४) डा० कीथ और मैक्डानेल के अनुसार दिङ्नागाचार्य का समय ४०० ई० है। क्योंकि दिङ्नाग का गुरु सुबन्धु महाराज चन्द्रगुप्त के पुत्र समुद्रगुप्त का मन्त्री था जैसा कि काव्यालंकार सूत्रवृत्तिकार वामन ने माना है जिसका समय ३१९-३३० निश्चित है।

इसी प्रकार 'ज्योतिर्विदाभरण' नामक ग्रन्थ का रचयिता कालिदास को मानना भी भ्रामक है क्योंकि इस ग्रन्थ की रचना का काल उसी ग्रन्थ के एक ज्योतिष् विषयक उल्लेख के कारण १३वीं शती है छठी शती नहीं।

इसी ग्रन्थ के **'धन्वन्तरिक्षपणकेत्यादि'** २२-१० के श्लोक के अनुसार कालिदास का विक्रमादित्य के नवरत्नों में एक होना भी अप्रामाणिक सिद्ध किया जा चुका है।

कुमारसम्भव और ज्योतिर्विदाभरण में जो यत्र-तत्र कल्पना साम्य देखा जाता है इसके आधार पर ज्योतिर्विदाभरण का रचयिता भी कालिदास को नहीं माना जा सकता क्योंकि दो कवियों में कल्पना साम्य होना स्वाभाविक है।

यदि कालिदास ही को ज्योतिर्विदाभरण का रचयिता मान भी लिया जाय तो यह कोई कालिदास नामधारी या उपाधिधारी दूसरा विद्वान कवि होगा क्योंकि स्वयं राजशेखर ने कालिदास नामक तीन कवियों का होना ईसवीय दशमशतक में प्रकट किया है।[1]

इसी प्रकार छठी शताब्दी के मत की पुष्टि में गणित विशेषज्ञ श्री प्रदोधचन्द्र सेनगुप्त ने जो कालिदास के ग्रन्थों के ज्योतिष विषयक कुछ स्थलों के उल्लेखों का गणित कर उन्हें छठी शताब्दी में खींचने का प्रयत्न किया है वह भी एक बड़ी दूरान्वित खींचतान की कल्पना-मात्र है क्योंकि कालिदास द्वारा सौरमासों का उल्लेख किसी भी उत्कीर्ण शिलालेख या इतिहास से अब तक प्रमाणित नहीं हो सका है।

शा.कुन्तल की **"उपरागान्ते शशिनः समुपगता रोहिणीयोगम्"** इस पंक्ति के आधार पर यह कल्पना करना कि कालिदास ने यह युति स्वयं देखी थी जो कि उज्जैन में ८ नवम्बर,

---

१—एकोऽपि जीयते हन्त कालिदासो न केनचित्।
शृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदास त्रयी किमु॥

सन् ५४२ में घटित हुई थी अतः कालिदास छठी शती में उत्पन्न हुए थे, भ्रान्ति ही है क्योंकि दुष्यन्त और शकुन्तला के पुनर्मिलन के लिए ही कालिदास ने यह उपमा दी है। कालिदास की सभी ही उपमायें उनके द्वारा दृष्ट ही नहीं मानी जा सकतीं। वास्तव में कालिदास को यह उपमा अति प्रिय थी इसीलिए उन्होंने इसका प्रयोग 'मालविकाग्निमित्रम्' की इस पंक्ति "एष रोहिणी संयोगेन अधिकं शोभते भगवान् मृगलाञ्छनः" में भी किया है। क्या उस समय भी यह चन्द्ररोहिणीयुति कालिदास ने देखी थी।

अतः इन आधारों पर कालिदास को छठी शताब्दी का नहीं माना जा सकता।

जन्म-स्थान

महाकवि कालिदास के स्थिति-काल की भाँति ही उनके जन्म-स्थान की समस्या भी जटिल है, इस सम्बन्ध में विद्वानों की विभिन्न मान्यतायें है कोई तो कालिदास को बंगाली, कोई कश्मीरी; कोई विदर्भनिवासी तथा कोई उज्जैन का रहने वाला बतलाता है पर इतना तो निश्चित ही है जैसा कि उनके काल निर्णय के समय लिखा जा चुका है कि वे उज्जयिनी के द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के राज्य काल में थे अतः निर्विवाद रूप से उनका उत्तर काल उज्जयिनी में ही बीता होगा। पर जन्म-स्थान कहाँ था ? यह विचारणीय है। प्रत्येक कवि अपनी जन्मभूमि के वातावरण तथा वहाँ की प्रकृति, रहन-सहन, आचार व्यवहार आदि से अवश्य प्रभावित होता है और अपने काव्यों में कहीं न कहीं अवश्य संकेत करता है। कालिदास ने अपने ग्रन्थों में अपनी जन्मभूमि का नामोल्लेख नहीं किया है अतः ऐसी स्थिति में अब अन्तरंग और वाह्य साक्ष्य के आधार पर ही उसका पता लगाना होगा।

भावुक बङ्गाली विद्वानों ने कालिदास को बङ्गाली मानकर उनका जन्म-स्थान मुर्शिदाबाद का **'गड्डासिंगरू'** नामक ग्राम बतलाया है। इन लोगों ने उक्त स्थान पर एक ताल खुदवाकर उसका नाम कालिदास सागर रखा है और उनके नाम पर एक पाठशाला भी स्थापित की है। कलकत्ते की 'कालिदास संशोधन समिति' की ओर से उक्त स्थान पर प्रतिवर्ष आषाढ़ प्रतिपद को उत्सव मनाया जाता है। इन्हीं भावुक बङ्गाली समाज में एक जनश्रुति भी है कि कालिदास की तीन पत्नियाँ थीं, एक विद्युन्माला नाम की थी उन्होंने अपने एक पुत्र का विवाह भी किया था। नहीं कहा जा सकता कि यह जनश्रुति कहाँ तक विश्वसनीय है।

इनका कथन है कि कालिदास वङ्गाली थे क्योंकि—

(१) उनके कालिदास इस नाम से प्रमाणित हैं कि वे कालीदेवी के उपासक थे जैसे कि प्रायः सभी वङ्गाली काली के सदा से उपासक रहे हैं और आज भी हैं और कई लोग नाम भी कालिदास या कालीप्रसाद रखते हैं।

(२) बङ्गाल में सौरमास की गणना प्रचलित है अतएव कालिदास ने चान्द्र मास के निदर्शन पक्ष और तिथि का प्रयोग न कर "आषाढ़स्य प्रथमदिवसे" में दिन का प्रयोग किया है, सौरमास गणना में अंग्रेजी महीनों की भाँति दिनों की ही गणना होती है अतः वे बङ्गाली थे।

उपर्युक्त दोनों बातें भ्रामक हैं क्योंकि—

(१) कालिदास के ग्रन्थों के प्रारम्भ में कालीदेवी की स्तुति नहीं पाई जाती, उनके सातो ही ग्रन्थों में केवल कुमारसम्भव के एक श्लोक में (सर्ग ७-३९) शिव विवाह के समय केवल एक बार कालीदेवी का, वह भी उनके अनुचरपरिवार में, नामोल्लेख हुआ है।

उज्जयिनी में कालीदेवी का अब भी मन्दिर है, मध्यभारत में काली चामुण्डा आदि का पूजन ८वीं शती तक चलता रहा है, भवभूति का 'मालती माधव' इसका प्रमाण है

अतः स्पष्ट है कि कालिदास के माता-पिता कालीदेवी के भक्त थे उन्होंने ही कालिदास को यह नाम दिया था, कालिदास शैव थे जैसा कि उनके ग्रन्थों से प्रमाणित है।

(२) 'आषाढ़स्य प्रथम दिवसे' से 'आषाढ़ मास का प्रारम्भ' केवल इतना ही अर्थ कवि को अभिप्रेत था उसमें सौर चान्द्र मास गणना की खींचातानी व्यर्थ है। काल गणना की विभिन्न पद्धतियाँ जैसी कि आज हैं कालिदास के समय में भी थीं। चान्द्र मास गणना कठियावाड़ और मालवा में शकक्षत्रपों में सर्वप्रथम आरम्भ हुई थी, धीरे-धीरे उत्तर भारत में भी तथान्य प्रान्तों में भी उसका प्रचार हुआ। ईसवीय चतुर्थ व पंचम शतक में मालवा व विदर्भ में पक्ष व तिथि का सर्वसाधारण रीति से प्रयोग नहीं होता था। चन्द्रगुप्त द्वितीय के सेनापति आम्रकार्द्दव के सांची में खुदे एक लेख के अन्त में सं० ९३ भाद्रपद दि ४ तथा कुमारगुप्त के राज्य काल में एक मूर्ति पर सं० १२९ ज्येष्ठ मासादि १८ इस प्रकार काल निर्देश किया गया है। किसी-किसी लेख में पक्ष तिथि आदि का भी उल्लेख है अतः इस कालगणना के अनुसार कालिदास को बंगदेशीय नहीं कहा जा सकता। उनके ग्रन्थों में कहीं भी इस प्रकार का संकेत भी नहीं मिलता।

प्रो० लक्ष्मीधर कल्ला ने अपनी पुस्तक The birth place of Kalidas में कालिदास का जन्म-स्थान काश्मीर माना है क्योंकि—

(१) कालिदास के सभी ग्रन्थों में हिमालय का सविस्तार एवं भव्य वर्णन है। कुमार सम्भव का आरम्भ ही हिमालय वर्णन से होता है, मेघदूत के यक्ष की निवासभूमि अलका-नगरी हिमालय पर ही थी, 'विक्रमोर्वशीय' के पुरुरवा तथा उर्वशी का प्रथम मिलन काश्मीर के पास गन्ध मादन पर्वत पर हुआ था, रघुवंश के वसिष्ठ का आश्रम हिमालय पर ही था शाकुन्तल के कण्व तथा मारीच का आश्रम भी हिमालय पर ही था इसी प्रकार गंगाप्रपात, भूतेश्वर, तीर्थ सिन्धु, तथा मालिनी नदियाँ, शचीतीर्थ, सोमतीर्थ, ब्रह्मसर, शक्रघाट आदि स्थान भी काश्मीर में ही हैं। यद्यपि कालिदास ने कथासूत्र की सुविधा के लिये भी शचीतीर्थ शक्रघाट आदि स्थानों को हस्तिनापुर के पास दिखलाया है। रघुवंश के निकुम्भ का मित्र सिंह बतलाया गया है इस निकुम्भ की कथा भी काश्मीर के 'नीलमतपुराण' में वर्णित है।

(२) काश्मीर के रीति-रिवाजों की भी झलक कालिदास के रघुवंश के इन्दुमती स्वयंवर में देखी जाती है जहाँ काश्मीर की प्रथानुसार इन्दुमती नहीं अपितु उसकी उपमाता सुनन्दा ही उनके गले में माला डालती है।

(३) धीवर निन्द्य जाति मानी जाती थी जैसा कि ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में उल्लेख है इसीलिये शाकुन्तल के धीवर के कुल-कर्म को नीच बतालाया गया है।

(४) कालिदास काश्मीर के प्रत्यभिज्ञादर्शन मत के शैव थे इसका प्रमाण हमें उनके नाटकों में मिलता है। शाकुन्तल के भरत वाक्य में शिव के लिये परिगत शक्ति विशेषण दिया गया है। मेघदूत में अलका-कुवेर नगरी का बड़ी रुचि के साथ सविस्तार वर्णन किया गया है। यह अलकापुरी कवि के अनुसार कैलाश पर्वत पर है। यह कैलाश काश्मीर का 'हरमुकुट' पर्वत है जिस पर पर यक्ष मेघ को भेजना चाहता था।

(५) अलका निवासी यक्ष के घर का जो वर्णन मिलता है वह हरमुकुट पर्वत की उपत्यका में बसे हुये प्राचीन मय ग्राम और आधुनिक मणि ग्राम पर अक्षरशः घटता है। वहाँ एक सुन्दर सरोवर भी है जो स्यात् यक्ष के घर के पास की बावड़ी रही हो इसी गाँव के पास एक शिलाओं का ढेर है जो स्यात् कुवेर प्रासाद रहा हो। वहाँ से कुछ दूर नीचे की ओर वासिष्ठाश्रम तथा भूतेश्वर का देवालय है। मय ग्राम नाम से सूचित होता है कि वहाँ पहिले यक्ष रहा करते थे। विविध पुष्पलता नृत्यगीतों और सुरापान आदि का जो उल्लेख मेघदूत में आया है वह सब काश्मीर पर ही घटता है। काश्मीर का ऐसा ही वर्णन राजतरंगिणी तथा

विक्रमाङ्कदेवचरित में भी पाया जाता है इसलिए कालिदास ने अपनी जन्म भूमि होने के कारण इसका इतना सुन्दर वर्णन किया है जैसा कि कोई भी कवि बिना देखे नहीं लिख सकता है। अतः कालिदास काश्मीरी थे।

(६) ईसा की छठी शताब्दी में हूणों ने काश्मीर पर चढ़ाई की थी उस समय कालिदास को जन्म भूमि छोड़कर राजाश्रय के लिये भटकना पड़ा था। इसी समय कालिदास ने जब कि वे विन्ध्याचल के समीपवर्ती प्रदेशों की गर्मी से व्याकुल हो रहे थे, यक्ष की विरह दशा का वर्णन करने के बहाने अपने ही विरह दुःख का वर्णन कर डाला है। यक्ष का निवास स्थान मय ग्राम कवि की जन्म भूमि है। इसलिए वे काश्मीरी थे।

पर इन प्रमाणों से कालिदास को काश्मीरी नहीं कहा जा सकता क्योंकि—

(१) प्रो० कल्ला द्वारा निर्दिष्ट ये सभी स्थान काश्मीर में नहीं हैं और कालिदास ने इनका वर्णन यथोचित स्थान पर ही किया है उनका भौगोलिक ज्ञान पर्याप्त था अतः उन्होंने भूल से किसी स्थान का उसके उचित स्थान से अन्यत्र वर्णन नहीं किया है। फिर इन स्थानों के वर्णन अन्य कवियों ने भी किये हैं जो कि काश्मीरी नहीं थे। ये सभी वर्णन पौराणिक वर्णनों के आधार पर हैं, कण्व के आश्रम का वर्णन तथा मालिनी आदि नदियों और हिमालय का वर्णन महाभारत में भी आया है 'नीलमत पुराण' प्राचीन नहीं हो सकता है कि पद्मपुराण की तरह इसके नाम तथा स्थानों के वर्णन कालिदास से ही लिये गये हों। पुराणों में समय-समय पर परिवर्धन होता रहा है।

(२) काश्मीर के रीति-रिवाज भी इस बात के निर्णायक नहीं हो सकते इनका वर्णन दृष्ट एवं अनुकूल हो सकता है तथा श्रुत एवं काल्पनिक भी।

(३) धीवर के प्रकरणों में केवल उसके जीव हिंसा कर्म को ही नगर-रक्षक बुरा कहता है जाति को नहीं, बौद्धों के प्रभाव से जीव हिंसा के प्रति इस समय सभी लोगों को घृणा थी, केवल कवि को इतना ही अभिप्रेत है।

(४) काश्मीर का प्रत्यभिज्ञादर्शन शंकराचार्य के 'केवलाद्वैत' से बहुत कुछ मिलता है अतः इनके बाद ही इसका प्रसार काश्मीर में हुआ होगा उनकी रचनाओं में इस दर्शन का कभी स्पष्ट उल्लेख नहीं। उनके नाटकों में शाप वश कुछ काल के लिये प्रेमी-युगल का वियोग तथा फिर सम्मिलन कल्पना प्रसूत है 'अन्यतादर्शन पर आधारित नहीं क्योंकि इस दर्शन में कहीं भी ऐसा उल्लेख नहीं कि जीवों की विस्मृति शाप मूलक ही होती है। परगति शक्ति का साधारण अर्थ 'पार्वती सहित' है कैलाश पर्वत ही हरमुकुट पर्वत है इसमें कोई प्रमाण नहीं। अलकापुरी का वर्णन काल्पनिक है उसमें वास्तविकता खोजना निराधार है।

(५) कवि सर्वत्र स्वदृष्ट या स्वोपभुक्त वस्तु का ही वर्णन नहीं करता है, कवि कल्पना के पंखों पर चढ़कर कहीं भी जा सकता है अलकापुरी का भव्य वर्णन तथा वहाँ के सुखोपभोग् ऐश्वर्य प्राकृतिक छटा आदि के वर्णन कवि कल्पना कौशल के प्रतीक हैं इनमें वास्तविकता उतनी नहीं है जितनी कि प्रो० कल्ला ने समझी है और कालिदास को काश्मीरी घोषित किया हैं। जिन अन्य ग्रन्थों में कालिदास जैसा ही इन स्थानों का वर्णन मिलता है वे कालिदास से प्रभावित रहे होंगे ऐसा भी कहा जा सकता है।

(६) काश्मीर का मयग्राम कालिदास का जन्म स्थान था ऐसा उक्त प्रमाणों से सिद्ध नहीं होता और न कहीं अब तक इस प्रकार का ऐतिहासिक प्रमाण ही मिला है। अतः कालिदास का काश्मीरी होना निराधार ही है। वे प्रकृति-कवि थे अतएव उनमें प्रकृति का भव्य वर्णन मिलता है।

वास्तव में कालिदास ने भारतवर्ष के अनेक प्रान्तों का यथावत चित्रोपम वर्णन किया है। इस कारण हर एक प्रान्त उनको भ्रमवश अपना ही समझने लगता है। 'मालविकाग्नि-

मित्रम्' में विदर्भ राजकन्या की प्रेम-कथा का संविधान देखकर तथान्य ग्रन्थों में विदर्भ वर्णन पढ़कर लोग उन्हें विदर्भ का भी मानने लगे हैं। इसी प्रकार "रामगिरि" (वर्तमान नागपुर समीपवर्ती रामटेक) विदर्भ राजकन्या इन्दुमती, श्रद्धां विदर्भाधिप राजधानीम् (रघु० ५-४०) **सौराज्यरम्यानपरो विदर्भान्** (रघु० ५-६०) आदि के रम्य वर्णनों से तथा कवि द्वारा वैदर्भी रीति के प्रयोग को देखकर कुछ विद्वान् उनका विदर्भ ही जन्म स्थान समझने लगे हैं पर कवि ने विदर्भ के किसी भाग का विशेष वर्णन नहीं किया है अतः उनको विदर्भ का नहीं माना जा सकता।

कालिदास ने मेघदूत में विदिशा का सुन्दर वर्णन किया है और उसके आस-पास नीचैः गिरि का तथा वन नदी निर्विन्ध्या, सिन्धु, गन्धवती और गम्भीरा नदियों का वर्णन किया है अतः प्रो० पराञ्जपे ने उनको विदिशा निवासी तथा म० म० हरप्रसाद शास्त्री ने उन्हें मन्दसौर के यशोधर्मदेव का आश्रित कवि माना है, पर यह अधिक युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता यद्यपि उन्होंने उज्जयिनी तथा विदिशा के बीच की छोटी-छोटी नदियों का वर्णन किया है तथापि विदिशा का वर्णन दो तीन श्लोकों में ही समाप्त कर दिया है कालिदास के समय में कोई प्रतापी राजा विदिशा में नहीं था। यशोधर्मदेव उनसे सौ सवासौ वर्ष बाद हुए थे। इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने अन्य स्थलों की अपेक्षा विदिशा का वर्णन अधिक किया है पर उसमें मातृभूमि प्रेम की उत्कटता नहीं देखी जाती।

कालिदास उज्जयिनी के वर्णन में नख शिख तक तल्लीन जान पड़ते हैं, उनका मेघ से अनुरोध है कि विदिशा और मन्दसौर तो तुम्हें रास्ते में मिलेंगे पर उज्जयिनी पश्चिम की ओर छूट जायेगी पर उत्तर दिशा की ओर तुम्हें यदि टेढ़े रास्ते भी जाना पड़े, तब भी उज्जयिनी के प्रासादों पर क्षण भर अवश्य ठहर कर जाना। कालिदास ने ११ श्लोकों में उज्जयिनी के ऐश्वर्य का क्षिप्रा नदी के शीतल, मन्द, सुगन्धित वायु का, यहाँ तक कि वहाँ के स्थानों में प्रसिद्ध प्राचीन कथाओं का, महाकाल के मन्दिर तथा नृत्य, आरती आदि का एवं अभिसारिकाओं तक का हृदयहारी वर्णन किया है। अलका को छोड़कर इतना भव्य एवं विस्तृत वर्णन अन्य किसी स्थान का नहीं किया है पर अलकापुरी तो दिव्य नगरी थी, भूलोक की किसी नगरी से कवि का इतना उत्कट प्रेम न था जितना उज्जयिनी से। अतः यह निर्विवाद है कि कालिदास की जन्मभूमि उज्जयिनी थी। भारतीय जनश्रुतियाँ भी ऐसा ही मानती हैं कि वे उज्जयिनी के विक्रमादित्य के आश्रित कवि थे।[1]

जीवन-चरित्र—

कालिदास के स्थितिकाल एवं जन्मस्थान की ही भाँति इनके जीवन-चरित्र के विषय में अनेकों दन्तकथायें प्रचलित हैं। उदाहरणार्थ, सबसे अधिक प्रचलित दन्तकथा यह है कि यद्यपि कालिदास ब्राह्मण वंश में उत्पन्न हुए थे पर मातापिता के स्वर्गवासी होने पर इनका पालन-पोषण एक ग्वाले द्वारा हुआ था अतएव लगभग १८ साल तक यह निरक्षर ही रहे, शरीर इनका गोरा हृष्ट-पुष्ट एवं सुगठित सुन्दर था। इसी नगर के एक राजा के मन्त्री द्वारा इनका विवाह राजकुमारी के साथ करा दिया गया। राजकुमारी परम विदुषी एवं रूपवती थी जब उसे इनकी निरक्षरता एवं मन्त्री की दुर्भावना का पता चला तो उसे बड़ा खेद हुआ अतः उसने कालीदास से कालीदेवी की उपासना के लिए कहा। उन्होंने ऐसा ही किया फलतः वे विद्वान और प्रतिभासम्पन्न कवि हो गये और राजकुमारी के '**अस्ति कश्चिद्वाग्विशेषः**' इस प्रश्न-वाक्य के तीन पदों को आरम्भ में रख कर तीन काव्यों की रचना की पर इस घटनावश कालिदास उस राजकुमारी को माता समान और गुरु मानकर उसकी पूजा करने लगे। राजकुमारी ने चिढ़ कर इन्हें शाप दिया कि तुम्हारी मृत्यु स्त्री के

1. देखिये—श्री वासुदेव विष्णु मिराशी 'कालिदास'

हाथ से होगी। इस घटना से कालिदास का जीवन प्रवाह परिवर्तित हो गया और वे वेश्याओं की संगति में रहने लगे और जब वे एक बार अपने मित्र कुमारदास से मिलने सिंघल द्वीप गए तो वहाँ एक वेश्या से एक समस्या 'कमले कमलोत्पत्तिः श्रूयते न तु दृश्यते' सुनकर कालिदास ने तुरन्त इसकी पूर्ति करदी 'वाले तव मुखाम्भोजे कथ मिन्दीवरद्वयम्' इस कारण राजा से मिलने वाले पुरस्कार के लालच में वेश्या ने उनका बध कर डाला। जब कुमार दास को यह पता लगा तो वे भी दुखी होकर कालिदास की चिन्ता में ही जल गये। स्वर्गीय म० म० डा० सतीशचन्द विद्याभूषण के अनुसार सिंघल द्वीप में अब भी किरिन्दी नदी के मुहाने के पास यह स्थान है जहाँ कालिदास की चिता बनी थी।

इसी प्रकार की बहुत सी बे-सिर-पैर की दन्त कथायें बल्लाल कवि कृत भोज प्रबन्ध में देखी जा सकती हैं। जैन ग्रन्थकार मेरुतुङ्ग के 'प्रबन्धचिन्तामणि' ग्रन्थ में भी ऐसी अविश्वसनीय कहानियाँ पाई जाती हैं जो किसी भी प्रकार प्रामाणिक नहीं कही जा सकतीं क्योंकि कालिदास के परवर्ती वाण भट्ट अभिनन्द सोड्ढल आदि अनेक विद्वानों ने कालिदास के चरित्र एवं विद्वत्ता के सम्बन्ध में प्रशंसात्मक वाक्य कहे हैं उनमें इन दन्त कथाओं का कोई भी संकेत नहीं मिलता। कुमारदास की मित्रता का उल्लेख केवल एक सीलोनी ग्रन्थ में पाया जाता है। प्रो० कीथ महोदय ने लिखा है कि कुमारदास का समय ७००-७५० ई० है अतः वह कालिदास का समकालीन नहीं हो सकता। अतः विश्वसनीय जनश्रुतियों के अभाव में उनके ग्रन्थों द्वारा ही उनके चरित्र का पता लगाया जा सकता है।

कालिदास जाति से ब्राह्मण थे इसमें सन्देह नहीं, यद्यपि गुप्त काल में क्षत्रिय वैश्यादि भी संस्कृत विद्या में कुशल एवं कवि थे जैसा कि समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त, हरिषेण आदि के उत्कीण लेखों से ज्ञात होता है पर कालिदास के ग्रन्थों में ऋषियों, तपस्वियों, विद्वानों, यज्ञकर्ताओं, यज्ञों, देवमन्दिरों, आदि के चित्र जितनी तन्मयता से अंकित हुये हैं उतने अन्यत्र नहीं। शाकुन्तला में तो एक वदिक मन्त्र का संस्कृत रूपान्तर किया गया है "अभी वेदिपरितः क्लृप्तधिष्ण्याः"।

वाण के 'हर्षचरित" से स्पष्ट है कि प्राचीन काल में विविध विद्याओं के अध्ययन के लिये अनेकों—तक्षशिला, नालन्दा, बलभी, उज्जैन, आदि विद्यापीठ थे। निश्चय ही कालिदास ने इन्हीं में से किसी विद्यापीठ से नियमतः अध्ययन किया होगा, ब्राह्मण होने के कारण उनका ऋषियों तथा उनके आश्रमों एवं वर्णाश्रम मर्यादा पर अटूट प्रेम था। वसिष्ठ, वरतन्तु, च्यवन, कण्व, मारीच, आदि महर्षियों की दिनचर्या, अध्ययनाध्यापन यज्ञानुष्ठानादि के तथा आश्रमों के वर्णन इसके निदर्शन हैं।

कालिदास ने विविध विद्याओं का अध्ययन जो कि 'काव्य मीमांसा' अ० ८ के अनुसार प्रत्येक सफल कवि के लिये आवश्यक था, किया था यद्यपि उन्होंने इन सभी विषयों पर ग्रन्थ नहीं लिखे, फिर भी प्रसंगानुसार, अलंकारों के प्रयोग एवं वार्तालापों में उन्होंने अपने इस विविध विद्याज्ञानगाम्भीर्य का परिचय अवश्य दिया है।

कुमार सम्भव सर्ग २-१२, रघुवंश १५-७६, १०-६५, १-३१ आदि इस बात के सूचक हैं कि कवि ने ऋक् यजुः वेदों, शतपथादि ब्राह्मण ग्रन्थों का अध्ययन किया था अन्यथा इस प्रकार की उपमायें सहसा ध्यान में न आतीं पर इतना निश्चय है कि उनका झुकाव कर्मकाण्ड की अपेक्षा अध्यात्मविद्या की ओर अधिक था। मालविकाग्निमित्रम् में उन्होंने स्वयं इस बात को स्वीकार किया है कि त्रयी की शोभा अध्यात्मविद्या से है। ब्रह्मा शिव विष्णु आदि की स्तुति उनके द्वारा मान्य 'एकेश्वरमत' की ओर संकेत करती है 'द्रवः संघात कठिनः स्थूलः सूक्ष्मो लघुर्गुरुः' इत्यादि उक्तियाँ उपनिषद् विद्या पर उनकी आस्था की परिचायक हैं। इस सम्बन्ध के विशेष परिचय के लिये 'कुमार सम्भव ३-५०, ६-७७, ३-४८ आदि

श्लोक द्रष्टव्य हैं। इसके अतिरिक्त वेदान्त एवं सांख्य दर्शन की मान्यतायें भी यत्र-तत्र उनके ग्रन्थों में बिखरी पड़ी हैं। अक्षर क्षेत्र क्षेत्रज्ञ आदि शब्दों का प्रयोग पर्यङ्कबन्ध, वीरासन, ध्यान, समाधि आदि वर्णन उनका योगशास्त्र का ज्ञान प्रकट करता है। विवाहादि प्रकरणों में उन्होंने जिन विधियों की ओर संकेत किया है वे उनके सूत्र साहित्य एवं मन्वादि स्मृतियों के ज्ञान एवं उन पर उनकी आस्था के प्रतीक हैं।

इन सबके अतिरिक्त उन्हें व्याकरण राजनीति, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र आदि का भी अच्छा अभ्यास था देखिये कुमार सम्भव २-१७ ३-६ तथा रघु अज चन्द्र उमा आदि पदों की उनकी दी हुई व्युत्पत्ति। अर्थशास्त्र के परिभाषिक—सप्तांग, यातव्य, प्रकृति, मूल, प्रत्यन्त पार्ष्णि प्रकृत्य चित्र वैतसीवृत्ति आदि—शब्दों का प्रयोग उनके काव्यों में मिलता है। उनके नाटकों के नायक अमात्य परिषद् की सलाह से कार्य करते हैं इत्यादि।

कामशास्त्र पर तो कालिदास का पूर्ण अधिकार जान पड़ता है। 'शाकुन्तल' में इसके अनेकों उदाहरण हैं, कवि ने कण्व के मुख से जो शकुन्तला को उपदेश दिलवाया है "शुश्रूषस्व गुरुनित्यादि" वह सबका सब कामसूत्रों के अनुकूल ही नहीं अपितु उसकी अधिकांश शब्दावली भी कवि ने प्रयुक्त की है। शाकुन्तल के प्रथमाङ्क में दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रथम दर्शन के अवसर पर कवि ने सखियों द्वारा जो बातें करायीं हैं और लज्जा तथा प्रेम के बीच दोलायमान शकुन्तला का चित्र खींचा है यह सब कुछ उन्होंने कामशास्त्र को सामने रखकर लिखा है ऐसा प्रतीत होता है, उदाहरणार्थं देखिये कामसूत्र और शाकुन्तल के निम्नलिखित स्थल :

शाकुन्तल प्रथमाङ्क—'**चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि**......**हतास्र खलु कृती**। '**शकुन्तला साध्वसादवचना तिष्ठति**' "**शकुन्तला शृङ्गार लज्जां नाटयति**" शकुन्तला :—**युवामपेतम् न युवयोर्वचनं श्रोष्यामि। शकुन्तलाऽधोमुखी तिष्ठति। शकुन्तलां विलोक्य नायिकाभिमुखी भूत्वा**.......। शकुन्तला:—**सरोषमिव अनुसूये गमिष्याम्यहम्। इमामसम्बद्धप्रलापिनीम्**........**निवेदयिष्यामि**। शकुन्तला :—**सभ्रू भङ्गम् किं निमित्तम्। यद्यात्मनः प्रभविष्यामि का त्वं विसर्जितव्यस्य रोद्धव्यस्य वा "वाचं न मिश्रयति यद्यपि मद्वचोभिः**........**न तु दृष्टि रस्याः**) इत्यादि। इसी प्रकार द्वितीयाङ्क ११-१२ तृ० ५-७ आदि।

इन तथा इसी प्रकार के अन्य स्थलों के वर्णनों से स्पष्ट है कि कालिदास ने कामशास्त्र का गम्भीर अध्ययन किया था।

इसी प्रकार उनकी रचनाओं में ज्योतिष्, आयुर्वेद, धनुर्वेद, नाट्यशास्त्र आदि का तथा संगीत, चित्र, वाद्य, आदि कलाओं का पूर्ण परिचय मिलता है। कवि ने इन सब विषयों का अच्छा अध्ययन किया था ऐसा प्रतीत होता है। शाकुन्तल में नटी ग्रीष्म-ऋतु को लेकर इस मधुरता से गाती है कि प्रेक्षक चित्र की भाँति लिखे हुये से रह जाते हैं। हंस पादिका अपने मधुर गीत से राजा को उपालम्भ दे रही है। शाकुन्तल का दुष्यन्त इतना सफल चित्रकार है कि उसके द्वारा लिखित शकुन्तला की प्रतिकृति देखकर स्वयं सानुमती भी विस्मित हो जाती है, शकुन्तला की सखियाँ भी चित्रकलानुरागिणी हैं। कालिदास के नाटकों में अनेक घटनायें चित्र दर्शन या चित्रलेखन पर आरम्भ हुई हैं, वन वासिनी मुनिकन्यायें भी चित्रकला प्रवीण हैं। राजा दुष्यन्त ने शकुन्तला के प्रथम दर्शन के अवसर पर जो उसका चित्र अंकित किया था वह अभी कुछ अधूरा था। शकुन्तला के परित्याग कर देने के बाद उस चित्र को पूरा कर वह अपने पश्चाताप विदग्ध हृदय को शान्त करना चाहता है जैसा कि शाकुन्तल के इन श्लोकों "**कार्यासैकतलीनहंस मिथुना**" तथा **कृतं न कर्णार्पितबन्धनं सखे**..........**मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे** द्वारा विदित होता है। उक्त श्लोकों द्वारा प्रकट है कि कवि को चित्रकला सम्बन्धी सूक्ष्म बातों का परिज्ञान है। चित्र की पार्श्वभूमि, मनोगत

भावों की आविष्कृति, समुचित अलंकार एवं रंगों आदि की सूक्ष्म जानकारी का कवि को ज्ञान था। चित्रगत सौन्दर्य और उसकी स्थान-कालानुरुपिणी यथार्थता ने न केवल चित्रकार राजा को ही अपितु विदूषक एवं सानुमती को भी चकित कर दिया है। विदूषक उस पर मँडराते भ्रमर को वास्तविक भ्रमर समझ लेता है। और सानुमती को ऐसा ज्ञान होने लगता है कि मानो शकुन्तला सामने खड़ी हो। "जाने सख्यग्रतो में वर्तते।" कुमारसम्भव में राजा कहता है "तूलिका से जैसे चित्र खिल उठता है" वास्तव में बाह्यरेखायें खींचने के बाद जब उसमें रंग भरा जाता है तभी चित्र खिलता है, ऐसी उपमा एक चित्रकार के मन में उत्पन्न हो सकती थी। कालिदास की यक्ष पत्नी भी इसी चित्रकला प्रवीणता के सहारे अपने विरह के दिन काटती है। राजा अग्निमित्र भी मालविका का प्रथम दर्शन एक चित्र द्वारा ही करता है और उस पर आकृष्ट हो जाता है। वास्तव में इस नाटक का संविधान कवि की चित्रकला चातुरी से आरम्भ होता है इत्यादि बातों से यह स्पष्ट है कि वह ललित कलाओं का प्रेमी ही नहीं उनका कुशल कलाकार भी था।

यद्यपि कवि होने के कारण कालिदास ने कुछ ऐतिहासिक तथ्यों, पौराणिक मान्यताओं एवं भौगोलिक प्राचीन स्थितियों में अपनी कल्पना से प्रसंगानुसार हेर-फेर किया है जैसा कि एक कवि के लिये स्वाभाविक ही है तथापि कवि को स्वदेश के इतिहास, प्राचीन पौराणिक आख्यानों एवं भौगोलिक स्थितियों का सूक्ष्मतर ज्ञान था इसमें सन्देह नहीं। मालविकाग्निमित्रम् की कथा उसके समय से लगभग ५०० वर्ष पूर्व की है तथापि उसके वर्णनों से स्पष्ट है कि उसे तत्कालीन परिस्थिति का पूर्ण ज्ञान था जैसा कि आज उपलब्ध शिलालेखों से प्रमाणित हुआ है।

उसके भौगोलिक ज्ञान गाम्भीर्य के लिये मेघदूत और रघु दिग्विजय प्रमाण हैं। कवि को स्वदेश की स्थिति का ही नहीं अपितु बाहरी सीमा प्रान्तों की स्थिति का भी पता था किस स्थान पर कौन-कौन से प्राकृतिक दृश्य हैं वृक्ष तथा लता आदि की क्या स्थिति है और किस स्थल पर कौन से फूल-फल होते हैं इन सब बातों के लिये कवि का ज्ञान अगाध है अतः स्पष्ट है कि कवि ने स्वयं भिन्न-भिन्न प्रान्तों में पर्यटन कर प्रकृति निरीक्षण के साथ-साथ वहाँ की स्थिति एवं नैतिक तथा सामाजिक अवस्थाओं का पता लगाया होगा। चन्द्रगुप्त के समय में नावों द्वारा विदेशों से व्यापार होता था। सभी वर्ण अपने-अपने धर्म कर्म में निरत थे। कोई भी स्वनियमित परिधि से बाहर नहीं जाता था। वर्णाश्रम व्यवस्था सुचारु रूप से चलती थी इत्यादि बातों के लिये शाकुन्तल की सामाजिक व्यवस्था द्रष्टव्य है।

इन उपर्युक्त बातों से कालिदास की नियमित शिक्षा और सफल विद्वत्ता जो कि महाकवि कालिदास जैसे कवि के लिये अपेक्षित है, के विषय में तो कोई सन्देह रह नहीं जाता है तथापि उनके चरित्र के विषय में जो बहुत-सी मनगढ़न्त बातें चल रही हैं उनकी यथार्थता जानने के लिये फिर भी उनकी रचनाओं की खोज करनी पड़ेगी क्योंकि यह एक सामान्य नियम है कि जैसा कवि का स्वभाव होता है, जैसा उसका आत्म-चरित्र होता है वैसा ही उसका काव्य बनता है। कवि के स्वभाव और उसके चरित्र की छाप उसकी रचनाओं पर अवश्य पड़ती है जैसा चित्रकार होगा उसका चित्र भी वैसा ही होगा। अस्तु

कालिदास की रचनाओं से स्पष्ट है कि वे विलासी एवं विनोदी स्वभाव के थे। उनके सभी ग्रन्थों में श्रृङ्गार रस की प्रधानता है उनको सुभाषितकारों ने कविता-कामिनी का विलास कहा है। उनके विदूषक तथान्य कुछ स्थल उनके विनोदी स्वभाव के परिचायक हैं, गम्भीर से गम्भीर स्थलों में भी कुछ-कुछ मनोरंजन के छींटे मिल ही जाते हैं। पुरुषों का स्त्रियों के प्रति प्रेमभाव भले ही चंचल हो पर उनका मित्र प्रेम चिरस्थायी है और वह साथ ही सप्त पदीन अथवा आभाषण मात्र जन्य है देखिये—रघु० २-५८, कुमा० ४-२४, ५-३९।

कवि का हृदय सर्वत्र कोमल और विनम्र है। उसमें साधारण से साधारण मनुष्य ही नहीं पशु-पक्षियों पर भी अटूट सहानुभूति है। जब सूर्य प्रभा से निष्प्रभ चन्द्रकला को देखकर भी, पशु-पक्षियों के करुणक्रन्दन को सुनकर भी कवि द्रवित हो उठा है तो मानव के लिये और विशेषकर विज्ञ मानव के लिये तो उसके हृदय में कितना स्थान था इसका परिचय हमें शाकुन्तल का चतुर्थ अंक दे रहा है, धीवर जैसे निष्कृष्ट श्रेणी के जन भी उसके प्रेम-पात्र हैं। सभी उससे सहानुभूति पाते हैं।

कवि के लिये सरस, सचेतन एवं विनोदी होना गुण है अवगुण नहीं, अब रही उनकी विलासिता की बात ? इस सम्बन्ध में मैं ऊपर लिख चुका हूँ कि हमारे दुर्भाग्य से कालिदास विषयक अब सत्य घटनायें तो अतीत के गर्त में गत हो चुकी हैं अतः अब उनके विषय में ऊटपटांग बातें गढ़ लेने का सुन्दर अवसर है। इसी से तो आज यह प्रवाद है कि कालिदास का कौटुम्बिक जीवन निर्दोष न था वे वेश्या प्रेमी थे और उन्हें वेश्या के हाथ ही मरना पड़ा था। वे निःसन्तान थे, पत्नी का सुख उन्हें प्राप्त न हो सका इसीलिये तो कालिदास ने दुष्यन्त के मुख से स्वसन्तानाभाव जन्य सन्ताप प्रकट कराया है। गृहस्थाश्रम के सुख का उनकी दृष्टि में कोई महत्व नहीं। उनके प्रायः सभी नायक परस्त्री के फेर में पड़े दिखाई देते हैं और कालिदास भी बहु-विवाह का डंके की चोट पर समर्थन करते हैं चाहे वह ऋषि कन्या हो चाहे दास, कालिदास ने सबको उपभोग्या सिद्ध करने का प्रयत्न किया है इत्यादि अनेकों प्रवाद आज कालिदास के विषय में चल रहे हैं जो कि उन्हें गृहस्थाश्रम से दूर घोर विलासी प्रमाणित करते हैं।

पर इतना निश्चय है कि इन प्रवादकों ने कालिदास के ग्रन्थों का गम्भीरता पूर्वक अध्ययन नहीं किया है अन्यथा उनको ऐसी भ्रान्ति न होती। कालिदास ने गृहस्थाश्रम की तुलना मुनि-आश्रम से की है, और उसे सर्वोपकारक्षम बतलाया है देखिये "अध्याक्रान्ता वसतिरमुना प्याश्रमे सर्वभोग्ये" उनकी दृष्टि में पति-पत्नी प्रेम-सत्य, सनातन एवं मानव-जीवन का एक विशेष अंग है योगीश्वर शिव भी इस ओर आकृष्ट हुये हैं। (देखिये कुमार-सम्भव शिव-विवाह) कवि ने पत्नी के प्रति विशेष आदर-भाव प्रकट किया है, पत्नी बिना धार्मिक कृत्य असम्भव है (कुमार० ६-१३) पत्नी गृहस्थ के लिये उसका दाहिना हाथ है। गार्हस्थ्य जीवन की सफलता पत्नी पर ही है अतएव उन्होंने अपनी रचनाओं में कोई भी एक ऐसा स्त्री पात्र नहीं रखा है जोकि आदर्श पत्नी की परिधि से बाहर हो, देखिये उनकी आदर्श पत्नी का स्वरूप **"गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रिय शिष्या ललिते कलाविधौ"** पत्नी गृहस्वामिनी, उपयुक्त सलाह देने वाला मन्त्री, एवं एकान्त प्रिय सखी भी है। सुभाषितकारों की यह उक्ति "कार्येषु मंत्री करणेषु दासी भोज्येषु माता शयनेषु रंभा धर्मानुकूला क्षमया धरित्री" इत्यादि पूर्णतया घटती है। रघुवंश के अज विलाप में ऐसे अनेकों उदाहरण मिलेंगे। कालिदास के सभी स्त्री पात्र पतिव्रत धर्म के अनुयायी तथा प्रेमी एवं ललितकला प्रेमी हैं। उनका आदर्श है "प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता, स्त्रीणां प्रिया लोक फलो हि वेषः" इसके अतिरिक्त मेघदूत की यक्षिणी द्वारा प्रस्तुत आदर्श रमणी चरित्र भी दृष्टव्य है। इन्दुमती शकुन्तला सीता जैसी स्वाभिमानिनी पति परायण प्रेम मूर्ति पतिव्रताओं के सुन्दर शब्द चित्र प्रस्तुत करने वाला कवि कैसा होगा यह अनुमान किया जा सकता है। क्या रात दिन वेश्या विहार करने वाला घोर विलासी व्यक्ति भी ऐसे चित्र खींच सकता था, ये सुने सुनाये नहीं स्वानुभूति जन्य-कल्पना के दैदीप्यमान चित्र हैं। कवि के हृदय के सच्चे उदगार हैं जिनका उसने स्वयं अनुभव किया था। जिसने गृहस्थ जीवन के सुख का स्वयं अनुभव ही न किया हो वह ऐसे शब्द चित्र नहीं बना सकता। इसे अनुभवी विज्ञजन ही जान सकते हैं।

अब देखिये उनके सन्तान सम्बन्धी विचार। उनकी रचनाओं में जहाँ कभी कोई **ऐसा प्रसंग आया है जहाँ** सन्तति-प्रेम और बालक्रीड़ा का चित्र लाया जा सके कवि ने उसे

हाथ से जाने नहीं दिया है यहाँ तक कि वह अपत्य प्रेम को पति-पत्नी प्रेम को विवर्ध भानता है, देखिये रघु० १-६६ "**विभक्त मप्येक सुतेन तत्तयोः परस्परस्योपरिपर्यचीयत**" वास्तव में दम्पत्ति का परस्पर प्रेम सन्तति के कारण घटता नहीं अपितु बढ़ता ही है। य है कालिदास का अपत्य स्नेह ? क्या सन्तति विहीन गृहस्थाश्रम से दूर वेश्यावशवर्ती कभी ऐसा सोच सकता है ? उनकी दृष्टि में तो शुद्ध वंश की सन्तान जीवन पर्यन्त काम दे वाली होती है जबकि तप व दान केवल परलोक में काम आता है। जहाँ कहीं भी कवि को छोटे-छोटे बालकों को देखने का अवसर मिला है वह वहीं रम गया सा प्रतीत होता है उनकी बालोचित क्रीड़ायें देख कर मुग्ध हो उठता है देखिये रघु० ३-२५ धाय की अंगुली पकड़े लड़खड़ाता चलता बालक रघु तथा सिंहशावक के दाँत गिनता बालक सर्वदमन कवि अन्तस्थल को कहाँ तक छू सके हैं ? यह बताने की आवश्यकता नहीं और देखिये शाकुन्तल की एक सुन्दर स्वभावोक्तिमय कवि मानसोल्लासिनी अभिव्यक्ति "**आलक्ष्यदन्तमुकुलानि निमित्तहासैः**" इत्यादि दुष्यन्त पुरुष आदि यद्यपि प्रथमवार में अपनी सन्तान को नहीं पहचान फिर भी उनकी दृष्टि बच्चों पर पड़ते ही उनका सन्तान स्नेह उमड़ पड़ता है और सहस कवि के हृदयोद्गार फूट पड़ते हैं। "**कां निर्वृत्तिं चेतसि तस्य कुर्याद्यस्यायमङ्गात्कृतिनः प्ररूढ़ः**"।

कवि को निःसन्तान सिद्ध करने के लिये लोगों ने अभिज्ञान शाकुन्तल के षष्ठं ए सप्तम अंकों से कुछ प्रमाण उपस्थित किये हैं। उनका कथन है कि इन अंकों में कवि ने दुष्यन्त के मुख से अपनी ही अनपत्यता पर अत्यन्त मर्मस्पर्शी विलाप कराया है। षष्ठांक में ज समुद्र-व्यापारी धनमित्र की मृत्यु के कारण उसकी सम्पत्ति के राजगामी होने का प्रश्न राज के सामने आता है तब उसका ध्यान झट से अपनी सन्तानहीनता की ओर जात है और अनायास ही उसके मुख से निकल पड़ता है "**कष्टं खल्वनपत्यता**" फिर वह लम्बी और गर्म श्वास लेकर कहता है "**ममाप्यन्ते पुरु वंशश्रीरकाल इवो प्तबीजा भूरेवं वृत्ता" धिङ् मामुपस्थित श्रेयोऽवमानिनम्**"। राजा शोकाकुल होकर परलोक का ध्यान कर सोचत है "**अस्मात्परं बत यथा श्रुतिसम्भृतानि को नः कुले निवपनानि नियच्छतीति**" चतुरिका इस दशा को देखकर और यह सोचकर कि सार्थवाह के वृत्तान्त से ही राजा की यह विषम दशा हो रही है, अतः वह विदूषक को लाने के लिये दौड़ती है जिससे कि वह राजा को कुछ सान्त्वना दे सके इस प्रकार शोकावेग में राजा मूर्छित भी हो जाता है। यहाँ का वर्णन बड़ा मार्मिक है जो निश्चित ही कवि द्वारा अनुभूत होगा।

सप्तमांक में जब राजा की दृष्टि अचानक सर्वदमन पर पड़ती है तो उसके हृदय तुरन्त उसके लिये पुत्रवत् स्नेह उत्पन्न हो जाता है और वह इस सहसा उत्पन्न स्नेह का कारण स्वयं बतलाता है "**नूनमन पत्यता मां वत्सलयति**" वह मन ही मन सोचने लगता है कि मनुष्य धन्य हैं जो कि तोतली बोली में बोलते हुये धूलि से भरे हुये बच्चों को अपनी गोद में बिठाने का सौभाग्य प्राप्त करते हैं और फिर उसके स्पर्श सुख का अनुभव कर कह उठ हैं "**कां निर्वृतिं चेतसि तस्य कुर्याद् यस्यायमङ्कात् कृतिनः प्ररूढ़ः**" इत्यादि।

इन्हीं उक्त दो प्रसंगों के आधार पर कवि को सन्तान हीन सिद्ध करने का कुछ लोगों ने असफल प्रयत्न किया है। यद्यपि कुछ विद्वानों की यह मान्यता है कि "कला, कलाकार की कुण्ठित मनोवृत्तियों की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है अतएव कालिदास ने अपनी अतृप्त भावनाओं को दुष्यन्त द्वारा प्रकट कराया है जैसा कि प्रायः कवि अपने पात्रों द्वारा अपनी अपूर्ण पर उत्कट एवं अतृप्त अभिलाषाओं को प्रकट कराते हैं पर वास्तव में कला यह लक्ष्य नहीं है। कवि ने केवल दृष्ट श्रुत वस्तुओं एवं लोकानुभव की बातों का उल्लेख करता है अपितु वह कार्य जगत् से परे भाव जगत् में विचरण करता हुआ जिन बातों की अनुभूति प्राप्त करता है उनका वह चित्रोपम वर्णन करता है। कवि जन साधारण

अपेक्षा अधिक भावुक होता है उसकी सच्ची सफलता भी इसी में है कि वह कार्य-जगत की भिन्न परिस्थितियों का वर्णन करना चाहता है पहिले भाव जगत् में वह अपने को उन परिस्थितियों में डाले और उनकी सच्ची अनुभूति प्राप्त करे उसी समय उसके शब्द चित्र मर्मस्पर्शी हो सकेंगे केवल दृष्ट श्रुतया अधिक से अधिक कार्य जगत् में उनकी स्थितियों का अनुभव मात्र कर कोई कवि सफल कलाकार नहीं हो सकता। यह तो सर्वमान्य सिद्धान्त है कि कालिदास उच्चकोटि के भावुक कवि थे। यदि उन्होंने कार्य-जगत् में सन्तान हीनता का अनुभव नहीं किया था तो क्या वे भाव जगत् में भी सन्तान हीन लोगों को भावनाओं का साक्षात्कार नहीं कर सकते थे ? क्या कालिदास ने सब कुछ वही लिखा है जिसका उन्होंने अपने आप इस लोक में ज्ञान प्राप्त किया था ? यदि ऐसा है तब तो कवि की सीमा बहुत ही संकुचित हो जायेगी। कवि लोक से परे भाव जगत् का प्राणी है। कालिदास ने सन्तान-हीन लोगों को देखा होगा उनकी भावनाओं व परिस्थितियों का अनुभव किया होगा और फिर अपने को उन परिस्थितियों में डाल कर उनके साथ सच्ची अनुभूति प्राप्त की होगी अतएव वे दुष्यन्त के मुख से इस प्रकार के अन्तस्तलस्पर्शी वाक्य कहला सके हैं। उक्त प्रकार की कला का केवल एकाङ्गी दृष्टिकोण लेकर कालिदास को निःसन्तान सिद्ध नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह भी है कि समस्त शाकुन्तल में आदर्श प्रेम की अभिव्यक्ति है, न केवल शाकुन्तल में उनकी अन्य रचनाओं में भी ऐसे ही आदर्श प्रेम की अभिव्यंजना मिलेगी, इस प्रेम की सार्थकता विवाह है और विवाह की सार्थकता सन्तान है। कालिदास का प्रेम ऐन्द्रिय प्रेम नहीं उन्हें शकुन्तला दुष्यन्त के आदर्श प्रेम की सार्थकता के लिये दोनों में गान्धर्व विवाह कराना जितना आवश्यक था उससे कहीं अधिक सन्तान के लिये अभिलाषा दिखलाना भी आवश्यक था। यदि कवि दोनों का प्रेम वर्णन कर उसके आदान-प्रदान के चक्कर में पड़ा रहता तो उसका यह प्रेम चित्रण निम्नकोटि का होकर रह जाता पर कालिदास जैसा महान कवि यह कैसे भूल सकता था। उसने आदर्श प्रेम का उत्तरोत्तर विकास और उसकी सार्थकता दिखलाने के लिये ही दुष्यन्त के मुख से सन्तान के लिये इतनी व्याकुलता प्रकट कराई है न कि अपनी सन्तानहीनता की अभिव्यक्ति के लिये। कवि के एक नहीं ऐसे अनेकों मर्मस्पर्शी वर्णन उसकी रचनाओं में मिलेंगे पर वे सब उसके जीवन को प्रतिबिम्बित करने के ही लिये नहीं हैं और न कभी किसी भावुक कवि के विषय में ऐसी कल्पना की जा सकती है।

इसके अतिरिक्त शाकुन्तल के चतुर्थ अंक में शकुन्तला के विदा होते समय महर्षि कण्व ने जो अन्तस्तलस्पर्शी वचन कहे हैं उनको पढ़कर क्या कोई यह कह सकता है कि कवि को पितृ-हृदय की पहचान नहीं थी ? वनवासी, तपः स्वाध्याय निरत, माया मोह से परे महर्षि कण्व के मुँह से जब कवि उसकी पालिता पुत्री से ऐसे कारुणिक वचन कहला सकता है तो दुष्यन्त के मुख से सन्तान की अभिलाषा प्रकट कराना क्या अनोखी बात थी जो कि कालिदास को निःसन्तान प्रमाणित करती ? मेरी दृष्टि से तो जितना कारुणिक एवं मर्मस्पर्शी चित्र **"यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयम्"** इस श्लोक में है उतना शाकुन्तल में अन्यत्र कहीं नहीं। तो क्या इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि कवि ने भी अपनी पुत्री विदा करते समय ऐसा ही अनुभव किया होगा। अतः वह निःसन्तान नहीं था। पर इन प्रसंगों से कवि को सन्तानवान् अथवा सन्तान रहित सिद्ध नहीं किया जा सकता। ये सब उसके भाव जगत् के मार्मिक चित्र हैं।

कवि सन्तान के महत्व को उसकी इहामुत्र उपयोगिता को भली-भांति जानता था, सच्चे पितृ-हृदय की उसे परख थी जैसा कि मैंने उसकी अन्य रचनाओं के विषय में ऊपर लिखा है।

राजकवि

कालिदास के स्थिति काल पर विचार करते समय यह लिख चुके हैं कि उनके जीवन का उत्तरार्ध चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के दरबार में उज्जयिनी में व्यतीत हुआ था अतः उनके लिये राज दरबारों के आचार-विचार, चाल-ढाल, वेष-भूषा, रहन-सहन की पूरी जानकारी होना स्वाभाविक बात थी और उनकी रचनाओं में उसका आभास मिलना आवश्यक था दरबारी शिष्टता एवं व्यवहार के अनेकों उदाहरण शाकुन्तल में तथा उनकी अन्य रचनाओं में मिलेंगे। शाकुन्तल के प्रथमाङ्क में अनुसूया कहती है **"आर्यस्य मधुरालापजनितो विश्रम्भो मां मन्त्रयते—कतम आर्येण राजर्षे वंशोऽलं-क्रियते, कतमो वा विरहपर्युत्सुकजनः कृतो देशः किं निमित्तं वा सुकुमारतरोऽपि तपोवनगमन-परिश्रमस्यात्मा पदमुपनीतः।"**

राजा—**वयमपि तावद् भवत्योः सखीगतं पृच्छामः।**

सख्यौ—**आर्य अनुग्रह एवेयमभ्यर्थना।**

इच्छा न रखते हुये भी राज सेवक राजा के मन के अनुसार ही काम करते हैं। सेनापति कहता है "स्थिरप्रतिबन्धो भव"।. अहं तावत् स्वामिनश्चित्तवृत्ति मनुवर्तिष्ये। इसी प्रकार पंचमाङ्क में "राजाः—**अवहितोऽस्मि-ऋषयः-हस्तानुद्यम्य, विजयस्व राजन्।** राजाः—**सर्वानभिवादये।** ऋषयः :—**इष्टेन युज्यस्व** इत्यादि अनेक ऐसे स्थल हैं जो कालिदास की तत्कालीन राजदरबारी परम्परा की जानकारी सूचित करते हैं।

पर दरबारी कवि होते हुये भी वे अन्य चापलूस दरबारी कवियों की भाँति स्वाभिमान शून्य नहीं थे। उनकी शकुन्तला वनवासिनी ऋषि कन्या होते हुए भी जब यह देखती है कि राजा मुझ पर स्वच्छन्दचारिणी होने का आरोप लगा रहा है तब उसका स्त्रियोचित स्वाभिमान जाग उठता है और सहसा उस चक्रवर्ती सम्राट् के सामने वह कह डालती है:—शकुन्तलाः—**"(सरोषम्) अनार्य! आत्मनो हृदयानुमानेन पश्यसि। क इदानीमन्यो धर्मकञ्चुकप्रवेशिनस्तृणच्छन्नकूपोपमस्य तवानुकृतिं प्रतिपत्स्यते" "यदहमस्य पुरुवंशप्रत्ययेन मुखमधो हृदयस्थित विषस्य हस्ताभ्यास मुपगता, कथमनेन कितवेन विप्रलब्धास्मि"।** इसके अतिरिक्त शार्ङ्गरव की उक्तियाँ इस बात का प्रमाण हैं कि कवि ने दरबार में रहते हुये भी अपने स्वाभिमान को नहीं छोड़ा था। अन्यथा वह सीता शकुन्तला जैसी स्वाभिमानिनी देवियों के शब्द चित्र इतनी सफलता से अंकित न कर सकता।

यद्यपि आज कालिदास की दिनचर्या एवं रहन-सहन की जानकारी के लिये हमारे पास कोई साधन नहीं हैं तथापि कालिदास जैसे सफल भावुक कलाकार की दिनचर्या क्या होनी चाहिये इसके लिये राजशेखर की काव्य मीमांसा का दशम अध्याय द्रष्टव्य है, कालिदास की दिनचर्या का इससे बहुत कुछ अनुमान लगाया जा सकता है।

इस उपर्युक्त विवेचन से कालिदास के जीवन चरित्र के विषय में जो कुछ भी जानकारी प्राप्त हो सकती है वह कम से कम इस बात का प्रमाण तो अवश्य है कि कालिदास के कौटुम्बिक जीवन के सम्बन्ध में तथा उनकी विलासिता के सम्बन्ध में प्रचलित दन्तकथायें सर्वथा निराधार हैं फिर भी यदि दन्तकथाओं के आधार पर कालिदास जैसे नव रत्न को विपरीत रूप दिया जाता है और उसे घोर विलासी यहाँ तक कि वेश्यानुरागी कहा जाता है तो इसे दैव दुश्चेष्टित के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है।

जीवन-दर्शन

गत प्रकरण में यह बताया जा चुका है कि कालिदास ने धर्म, दर्शन, समाज, नीति, शिक्षा आदि सभी विषयों का नियमित रूप से अध्ययन एवं मनन कर उनका अपनी रचनाओं में उपयोग किया है अतएव उनके ग्रन्थों में गम्भीर से गम्भीर अध्यात्म विषयक विचार यत्र-

तत्र प्रसंगानुसार पाये जाते हैं। वास्तव में परम्परागत इन सर्वथा दुर्बोध शास्त्रीय विषयों को कवि ने अपने मधुर एवं सरस काव्यों द्वारा अति रोचक बना दिया है जिससे कि वह सबके लिये सरस बन गया है। यद्यपि उन्होंने अध्यात्म विषय पर कोई ग्रन्थ नहीं लिखा है तथापि उनकी विभिन्न रचनाओं के पढ़ने से कोई भी उनके धार्मिक एवं तत्वज्ञान सम्बन्धी विचारों को समझ सकता है।

कालिदास के समय में धर्म की ये व्याख्यायें—**धारणाद्धर्मः, यतोऽभ्युदयनिः श्रेयस-सिद्धिः स धर्मः**—प्रचलित थीं, कालिदास भली भाँति जानते थे कि समाज के अभ्युदय के लिये तथा उसकी रक्षा तथा कल्याण के लिये धर्म की आवश्यकता है। व्यावहारिक जीवन को संयमित रखने के लिये धार्मिक दृष्टिकोण होना ही चाहिये पर साथ ही धर्म में तत्वज्ञान का आधार भी आवश्यक है अन्यथा धर्म केवल अन्ध श्रद्धा का विषय बनकर हानिप्रद भी हो सकेगा इसी कारण, न केवल हिन्दू धर्म के साथ, बौद्ध तथा जैन आदि धर्मों के साथ भी तत्वज्ञान का सम्बन्ध पाया जाता है।

यह बतलाया जा चुका है कि कालिदास का समय हिन्दू धर्म का सन्धिकाल था। अद्यावधि जैन तथा विशेषकर बौद्ध धर्म के प्रबल आघातों से जर्जरित हिन्दू धर्म अब अपने दर्शन एवं सूत्र ग्रन्थों तथा स्मृतिशास्त्रों के द्वारा एक ओर वैदिक यज्ञानुष्ठानों को एवं शिथिलित वर्णाश्रम व्यवस्था को पुनरुज्जीवित कर रहा था तथा दूसरी ओर बौद्धों के तत्वज्ञान विषयक विचारों का खण्डन कर इस ओर जनता की अभिरुचि उत्पन्न कर रहा था। गुप्त-वंश के उदय के साथ-साथ हिन्दू धर्म को राजाश्रय प्राप्त हुआ, प्राचीन हिन्दू संस्कृति के उदात्त आदर्शों एवं आध्यात्मिक तत्वों को जनसाधारण तक पहुँचाने के लिए **'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे'** के अनुसार काव्य तथा नाटकों की रचना हुई। यद्यपि अश्वघोष की भाँति कालिदास ने यह कहीं नहीं लिखा कि मैं हिन्दू धर्म के प्रसारार्थ काव्य नाटक लिख रहा हूँ फिर भी उनकी रचनाओं में वर्णित उदात्त भावनाओं एवं आदर्शों से परिपूर्ण पात्रों के चरित्र इस बात के द्योतक हैं कि उनका उद्देश्य हिन्दू आदर्शों का प्रसार था।

आजकल की भाँति सम्भवतः कालिदास के समय हिन्दू धर्म के विविध अंगों—शैव, शाक्त, वैष्णव आदि—में पारस्परिक विरोध न था। इन्द्र कुबेरादि देवताओं का स्थान अब ब्रह्मा, विष्णु और शिव ने ले लिया था। इन्हीं की उपासना पद्धति का प्रसार हो रहा था। इनमें से किसी भी एक मार्ग का अनुयायी दूसरे का विरोधी न था। इसका कारण था दार्शनिक तत्व, जो कि इन उपासनाओं के साथ लगा हुआ था। एक ही कुटुम्ब में विविध देवताओं की उपासना चल रही थी कोई किसी का विरोधी न था। कालिदास के माता-पिता शाक्त प्रतीत होते हैं पर कालिदास शैव थे। उनके नाटकों के नान्दी श्लोकों में सर्वत्र शिव की स्तुति है। शिवोपासक होने के कारण ही शाकुन्तल के नान्दी श्लोक में **"प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः"** तथा भरत वाक्य में **"ममापि स क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः"** शिव की स्तुति की गई है और उनसे पुनर्भव से मुक्ति की प्रार्थना की गई है। कुमारसम्भव तथा रघुवंश में ऋषिजन एवं राजा दिलीप के द्वारा शिव की सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतु के रूप में स्तुति कराई गई है और उनको सर्वान्तिर्यामी बतलाया गया है। पर कालिदास किस शिव सम्प्रदाय के अनुगामी थे ऐसा उनकी रचनाओं में कोई संकेत नहीं मिलता, वास्तव में उपनिषदों एवं गीता के मनन से उनका धार्मिक दृष्टिकोण बड़ा ही उदार था। वे सम्प्रदायों की संकुचित सीमा से परे थे, शैव होते हुए भी उन्होंने कुमारसम्भव २-६ तथा रघुवंश १०-१६ में क्रमशः ब्रह्मा एवं विष्णु को जगत् के सर्गस्थितिलय का कारण माना है। उनकी दृष्टि में एक ही परम तत्व के कार्यनिमित्त से भिन्न-भिन्न अवभासमान ये तीनों रूप हैं। इनमें बड़ा-छोटा; मान्य-अमान्य का भेद नहीं है। गीता का भी यही उपदेश है। इन देवताओं के वर्णन में कवि ने उपनिषदों के तत्व ज्ञान को

सामने रखा है, कई एक स्थान ऐसे हैं जहाँ इन देवताओं की स्तुतियाँ उपनिषदों की पदावली का अनुसरण करती प्रतीत होती हैं देखिये रघु० १०-२५, १०-१६, कुमार २-११, १-१३, २-१०, २-१५, ३-१५ इत्यादि। फिर भी यह जान कर कि निर्गुण ब्रह्म को जानना कठिन है उन्होंने इनकी सगुण मूर्तियों का मनोहर वर्णन किया है "अनवाप्त मवाप्तव्यं न ते किंचन विद्यते, लोकानुग्रह एवंको हेतुस्ते जन्मकर्मणोः"। इसमें उन्होंने पूर्ण आप्तकाम भी ईश्वर को लोक संग्रहार्थ जन्म लेने वाला एवं कर्म करने वाला बतलाया है जैसा कि गीता में कहा गया है। कुमार सम्भव में शिव विवाह के समय स्मार्त विधियों का वर्णन कर कवि ने अग्निहोम, प्रदक्षिणा, लाजाहोम ध्रुवदर्शन आदि स्मृति विहित कर्मों के अनुष्ठान का महत्व बतलाया है। मोक्ष साधन के लिये योग सिद्धान्त कालिदास को मान्य था जैसा कि उन्होंने रघुवंश की **"तमसः परमापदव्ययं पुरुष योगसमाधिना रघुः"** इस पंक्ति द्वारा अभिव्यक्त किया है, गीता में भी इस योगविधि का वर्णन है।

यद्यपि रघुवंश में अनेक राजाओं की मरणानन्तर गति का वर्णन कर कवि ने स्वर्ग की प्राप्ति एवं तत्रत्य सुखों की उपलब्धि का वर्णन किया है पर कालिदास इसे अत्युच्च ध्येय नहीं मानते थे, उपनिषद् और गीता के अनुसार उनकी मान्यता थी कि पुण्यक्षीण होने पर सबको इस लोक में आना पड़ता है। मेघदूत में उन्होंने उत्प्रेक्षा की है कि स्वर्गीय जनों ने पुण्यक्षीण होने पर मानो पृथ्वी पर आकर उज्जयिनी नगरी के रूप में स्वर्ग का एक भाग बसाया है। इसी प्रकार शाकुन्तल में 'स्वर्ग सुख' के क्षयी होने से मारीच-आश्रम के ऋषि उच्चतर पद प्राप्ति के लिये तप करते हैं, उनका विश्वास था कि स्वर्ग प्राप्ति होने पर भी मनुष्य जन्म-जरा-मरण से नहीं छूट सकता अतएव उन्होंने शाकुन्तल के भरत वाक्य द्वारा अपने उपास्यदेव शिव से मोक्ष प्राप्ति माँगी है स्वर्ग नहीं, यज्ञानुष्ठानादि स्वर्ग साधक भले ही हों पर वे मुक्ति साधक नहीं है, मुक्ति साधना का एक मात्र उपाय कवि की दृष्टि में योगविधि है, रघु के उत्तरकाल का वर्णन यही संकेत करता है **'स ब्रह्मभूय गति मा जगाम'** परब्रह्मरूप होना ही उनकी दृष्टि में परम ध्येय था। कालिदास का कर्मवाद और पुनर्जन्म पर विश्वास था, कृतकर्मों का फल सबको भोगना ही पड़ता है, केवल ज्ञानाग्नि ही कर्मों का नाश कर सकती है जैसा कि उन्होंने **"इतरो दहने स्वकर्मणां ववृते ज्ञानमयेन वह्निना"** इस पंक्ति द्वारा दिखलाया है। इसी प्रकार उन्होंने शाकुन्तल के **"रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्"** इत्यादि श्लोक द्वारा यह दिखलाया है कि पूर्व जन्म की बातों को याद कर मनुष्य को दुःख होता है।

इस प्रकार इस विवेचन से यह सिद्ध है कि धार्मिक एवं तत्वज्ञान सम्बन्धी उनके वही विचार थे जो कि उपनिषद्, स्मृति, गीता आदि में पाये जाते हैं, यद्यपि वे शैव थे तथापि उनमें किसी अन्यदेव के लिये विरोध न था प्रत्युत विष्णु, ब्रह्मा भी उनके लिये उतने ही पूज्य थे जितने की शिवजी।

सामाजिक स्थिति

कालिदास से पूर्व बौद्ध धर्म के प्रसार के कारण हिन्दू जाति प्रथा पर लोगों का विश्वास नहीं रह गया था। बौद्ध संसार को असत्य बताकर सभी आबाल वृद्ध को सन्यास मार्ग श्रेयस्कर बतलाते थे, पर यह उपदेश मानव-नैसर्गिक प्रवृत्ति के विरुद्ध अतएव ज्योंही इस समय हिन्दू धर्म को राज्याश्रय प्राप्त हुआ त्योंही समाज स्मृतिकारों द्वारा निर्धारित वर्णाश्रम व्यवस्था की ओर प्रेरित हुआ और संस्कृत के कवियों द्वारा भी इसी ओर समाज का ध्यान आकृष्ट किया गया। महाकवि कालिदास ने भी अपनी रचनाओं में वर्णाश्रम मर्यादा का सर्वत्र महत्व प्रकट किया है।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् में प्रसंगतः सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, धार्मिक एवं पारिवारिक चित्रण भी बड़ी कुशलता के साथ किया गया है जिससे तत्कालीन समाज व्यवस्था

का बहुत कुछ परिचय मिल जाता है। शाकुन्तल के अध्ययन से स्पष्ट है कि उस समय प्रत्येक वर्ण अपने वर्णगत नियमों एवं कर्तव्यों का दृढ़ता के साथ पालन करता था। जिस वर्ण के लिये जो व्यवस्था और जीविका साधन निर्धारित थे उन पर वह नियमानुसार चलता था। ब्राह्मण, ऋषि, मुनि आदि का वर्ग अध्ययन अध्यापन यज्ञानुष्ठानादि धार्मिक कृत्यों में रत था। कण्व, मारीच आदि के आश्रमों के वर्णन और वहाँ की यज्ञादि विधियाँ इसके निदर्शन हैं। कुछ ब्राह्मण पौरोहित्य कर्म भी करते थे, वेद पाठी श्रोत्रिय ब्राह्मण यज्ञकर्म में पशुबलि भी देते थे **"पशुमारणकर्मदारुणोऽनुकम्पामृदुरव श्रोत्रियः"** (शा० षष्ठाङ्क) ऋषियों के आश्रमों में नित्य यज्ञानुष्ठान अध्ययनाध्यापनादि कर्म होते थे। राजन्य वर्ग देश रक्षा तथा स्वप्रजापालन के अतिरिक्त आश्रमों की रक्षा पर भी ध्यान रखता था, इनके यहाँ भी यज्ञ-शालायें थीं जहाँ पर अग्निहोत्रादि कर्म एवं अतिथि सत्कार का समुचित प्रबन्ध था। यद्यपि देश में उस समय राजतन्त्र प्रणाली शासन में प्रचलित थी तथापि राजा निरंकुश न थे। ऋषियों और विद्वान् ब्राह्मणों का उन पर बहुत बड़ा अंकुश था किसी भी धार्मिक कृत्य में इनकी व्यवस्था मान्य थी। राजा जहाँ अपनी प्रजा का पालन करता था वहाँ वह कुपथगामियों को दण्ड भी देता था **"प्रशमयसि विवादं कल्पसे रक्षणाय"**। अतएव कोई वर्ण कभी उच्छृङ्खल नहीं हो सकता था जैसा कि दुष्यन्त के राज्य में **"न कश्चिद्वर्णानामपथमपकृष्टोऽपि भजते"** कोई भी वर्ण कुपथगामी न था। राजा को अपनी प्रजा एवं आश्रमों की मर्यादा का सदा ध्यान रहता था वह उनका पुत्रवत् पालनकर्ता और रक्षक था। **"प्रजाः प्रजाः स्वा इव तन्त्रयित्वा स्वसुख-निरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः"**, आदि इसके उदाहरण हैं। दुष्यन्त आश्रम में प्रवेश करते समय सारथि से कहता है **"विनीतवेषेण प्रवेष्टव्यानि तपोवनानि नाम"**। राजा का सबसे बड़ा कर्तव्य धार्मिक क्रियाओं की रक्षा और प्रजापालन था इसीलिये कवि ने भरत वाक्य द्वारा इसी तथ्य की ओर संकेत किया है **"प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः"**। राजा षष्ठांशवृत्ति होता था, उपज के षष्ठांश के अतिरिक्त प्रजा से किसी प्रकार का कर नहीं लिया जाता था। वैश्य वर्ग व्यापार द्वारा धन-धान्यादि की वृद्धि करता था। उस समय प्रायः नावों द्वारा ही व्यापार होता था, दूर समुद्रों के पार जाकर विदेशों से व्यापार होता था। शूद्र वर्ग भी अपनी सेवाओं द्वारा राज्य की उन्नति में सहयोग देता था। सभी जन सुख सम्पन्न एवं समृद्धिशाली थे एवं अपने वर्णगत नियमों का पालन करना परम कर्तव्य मानते थे। वर्णगत भेद-भाव जनित विरोध न था। वर्णक्रमागत कुलकर्म निन्दित होते हुये भी त्याज्य न था, लोग अपने-अपने वर्णगत कर्म करने में ही अपना गौरव समझते थे अतः शाकुन्तल का धीवर अपने कुल-कर्म को हेय नहीं मानता उसी को अपना श्रेष्ठ कर्म बतलाता है।

आश्रमों की व्यवस्था एवं रक्षा का पूर्ण उत्तरदायित्व राजा पर होता था, **"राज-रक्षितव्यानि तपोवनानि नाम"** **'सोऽहमविघ्नक्रियोपलम्भाय धर्मारण्यमिदं मायातः'**। यदि आश्रमों की धर्म क्रियाओं में किसी प्रकार का विघ्न, अनाचरण, यहाँ तक कि पुष्प फलादि के विकास में भी कोई त्रुटि होती थी तो इसके लिये राजा ही दोषी माना जाता था जैसा कि दुष्यन्त स्वयं कहता है **"किंतावद्व्रतिना मुपोढतपसां विघ्नैः स्तपो दूषितम्……आहोस्वित् प्रसवो ममापचरितैः वीरुधाम्……'** न केवल ब्राह्मण ही क्षत्रिय वैश्यादि भी इन आश्रमों में ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुये विद्याध्ययन करते थे राजकुमारों का बाल्यकाल इन्हीं आश्रमों में व्यतीत होता था यहाँ सभी प्रकार की शिक्षाओं का प्रबन्ध था। यह आश्रम व्यवस्था सभी को मान्य थी। ब्रह्मचर्याश्रम के उपरान्त ही लोग गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते थे और वह भी केवल सन्तान के लिये **"प्रजायै गृहमेधिनाम्"** और कुछ समय तक अपने-अपने वर्णगत नियमों का यथा विधि पालन कर, अपने पुत्र को समर्थ देखकर उसे कार्य भार सौंप कर वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करते थे यहाँ वे तपस्या करते थे और अन्त में सन्यास लेकर योग के द्वारा शरीर त्याग करते थे कालिदास की इस आश्रम व्यवस्था पर अटूट श्रद्धा थी। अंतएव उन्होंने अपनी रचनाओं में इसका सर्वत्र समर्थन किया है **"शैशवेऽभ्यस्त विद्यानां,**

यौवने विषयैषिणाम्, वार्धके मुनिवृत्तीनां, योगेनान्ते तनुत्यजाम्" (रघुवंश) महर्षि कण्व, शकुन्तला के यह पूछने पर **'कदा नु भूयस्तपोवनं प्रेक्षिष्ये'** कहते हैं :—

"भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी, दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य, भर्त्रा तदर्पित कुटुम्ब भरेण सार्धं शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन्" और भी **"नियतैकपतिव्रतानि पश्चात्तरुमूलानि गृही भवन्ति तेषाम् ।"**

इन आश्रमों में वेद वेदाङ्गादि विद्या के साथ-साथ प्राय: जीवनोपयोगी साहित्य कला, परिचर्या, शिल्प आदि की भी शिक्षा दी जाती थी, बागवानी, औषधोपचार, अतिथि सत्कार, चित्रकला, काव्यकला आदि विविध विषयों की शिक्षा का प्रबन्ध था। बालकों के साथ ही बालिकाओं के अध्ययन की भी व्यवस्था थी। इन दोनों प्रकार के विद्यार्थियों में से कुछ तो नैष्ठिक ब्रह्मचारी होते थे और आजीवन आश्रमों में निवास कर अध्ययनाध्यापनादि कार्यों में जीवन व्यतीत करते थे जैसे कि महर्षि कण्व थे और कुछ उपकुर्वाण ब्रह्मचारी होते थे जो अध्ययनोत्तर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते थे। आश्रम में बालिकायें भी चित्रकला, प्रबन्धेतिहास, एवं काव्यकला में निपुण होती थीं, अतिथिसत्कार, पशुपालन, उद्यान परिरक्षणादि सभी गृहस्थोपयोगी कार्यों में वे कुशल होती थीं। शकुन्तला ने अपने प्रेम पत्र में जिस मार्मिक ढंग से अपना प्रणय परिचय दिया है वह उसकी साहित्यिक मर्मज्ञता का परिचायक है। इसी प्रकार शकुन्तला के तथा उसकी सखियों के कार्यों से स्पष्ट है कि वे प्राथमिक चिकित्सा संगीतादि सभी स्त्रीजनोचित विषयों में पूर्णतया निपुण थीं, यह सब आश्रम की जीवनोपयोगी शिक्षा का ही फल था।

आश्रमों का वातावरण बड़ा ही पवित्र एवं शान्तिप्रद रहता था, आश्रमवासी वल्कल धारण करते, नीवारधान्य खाते, और इङ्गुदी तैल का उपयोग करते थे। मारीच के ऐसे शान्तिप्रद आश्रम में पहुँच कर राजा स्वयं कहता है **"स्वर्गादधिकतरं निर्वृतिस्थानम्"** आश्रमों में जीव हिंसा वर्जित थी। **"आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्य:"**। शाकुन्तल का समय प्राय: सभी ललित कलाओं की उन्नति का समय था, दुष्यन्त भी चित्रकला प्रवीण एवं संगीत मर्मज्ञ था। उसकी चित्रकला की निपुणता के लिये स्वयं सानुमती कहती है **"अहो एषा राजर्षे निपुणता, जाने सख्यग्रतो मे वर्तते"**। हंसपदिका के गीत पर मुग्ध होकर राजा स्वयं कहता है **"अहो रागपरिवाहिनी गीतिः"**। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय आश्रमों के अतिरिक्त नगरों में भी इन ललित कलाओं की शिक्षा का प्रबन्ध था, वहाँ रंगशालायें होती थीं जहाँ इन विषयों के उपशिक्षण का प्रबन्ध था।

कालिदास ने यत्र तत्र प्रसंगानुसार कौटुम्बिक जीवन के सुख के लिये अपेक्षित मर्यादा की ओर भी संकेत किया है, उनका निर्देश है कि सभी को गुरु, माता, पिता, बन्धु, पत्नी, दास, दासी, सन्तान एवं समाज से प्रेम तथा सहानुभूति रखना आवश्यक है। कवि ने रघुवंश तथा शाकुन्तल में प्रसंगानुसार इन सभी बातों की ओर संकेत किया है। 'रघुवंश' में कैकेयी के प्रति राम द्वारा दिखलाया गया आदर इसका उदाहरण है। आदर्श कौटुम्बिक जीवन के लिये गुरुजनों तथा अतिथियों का आदर करना आवश्यक है। उनकी रचनाओं में जो सर्वत्र सामाजिक एवं कौटुम्बिक शान्ति दिखाई पड़ती है इसका कारण है कि सभी वर्ण व आश्रम तथा सभी समाज अपने-अपने धर्म का यथोचित रीति से पालन करते थे। पारिवारिक एवं सामाजिक सुख के लिये उनकी मान्यता है **"प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः" "आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया" "शकुन्तले ! उचितं नः पर्युपासनं अतिथीनाम् !"**

कालिदास की रचनाओं से ऐसा प्रतीत होता है कि वे प्रौढ़ विवाह के पक्षपाती थे। उनकी प्रायः सभी मुख्य नायिकायें अपनी प्रौढ़ावस्था में ही विवाह करती हैं जब कि वे

विविध कला प्रवीण एवं स्वेच्छानुसार पतिवरण के लिये समर्थ हो जाती हैं—मालविका, शकुन्तला, इन्दुमती सभी अपनी प्रौढ़ावस्था में स्वेच्छानुसार पतिवरण करती हैं पर उनकी यह स्वेच्छा आधुनिक "प्रीतिविवाह" की द्योतक नहीं और न कालिदास प्रीति विवाह के समर्थक ही जान पड़ते हैं, यदि ऐसा होता तो वे शकुन्तला के गान्धर्व विवाह का दुष्परिणाम न दिखलाते। शकुन्तला ने महर्षि कण्व की अनुपस्थिति में स्वेच्छानुसार पतिवरण किया था इसीलिये कवि ने दुष्यन्त द्वारा उसका परित्याग दिखलाया है और शार्ङ्गरव द्वारा उसे करारी फटकार भी दिलवाई है **"किं पुरो भागे ! स्वातन्त्र्य मवलम्बसे" अतः परीक्ष्य कर्त्तव्यं विशेषात् संगतं रहः, अज्ञात हृदयेष्वेवं वैरी भवति सौहृदम्"**। गौतमी का भी इसी ओर संकेत है **"नापेक्षितो गुरुजनोऽनया न खलु पृष्टश्च बन्धुजनः परस्परस्मिन्नेव चरिते भणामि किमेकैकम्"**।

बन्धुजनों व गुरुजनों की सम्मति के बिना केवल पारस्परिक प्रममात्र से विवाह करना वास्तव में कालिदास की दृष्टि में एक अपराध था इसीलिये शार्ङ्गरव राजा से कहता है **"मुष्टं प्रतिग्राहयता स्वमर्थं पात्रीकृतो दस्युरिवासि येन"**। इसके अतिरिक्त कालिदास ने सर्वत्र ही स्वयंवर या गन्धर्व विवाहों का ही वर्णन नहीं किया है उन्हें वास्तव में स्मृति प्रतिपादित ब्राह्म विवाह ही मान्य था रघुवंश में अज के अतिरिक्त अन्य राजाओं के विवाह ब्राह्म-विधि से ही हुये हैं और उनका परिणाम सुखकर हुआ है क्योंकि इन राजाओं ने अपने शौर्य एवं दयादाक्षिण्यादि गुणों के कारण ही सत्पत्नियाँ प्राप्त की थीं न कि बाहरी सौन्दर्य पर मुग्ध होकर। यद्यपि कालिदास ने प्रीति-विवाह की ओर अपनी उदासीनता नहीं दिखलाई है तथापि उनकी यह निश्चित धारणा प्रतीत होती है कि कौटुम्बिक सुख का साधन ब्राह्म-विवाह ही है। उनकी दृष्टि में केवल बाह्य-सौन्दर्य पर टिका हुआ प्रेम चिरस्थायी नहीं होता इसीलिये प्रेमी जनों को विवाह के पूर्व माता-पिता एवं अन्य गुरुजनों की सम्मति लेना अत्यावश्यक है **"श्रीः साभिलाषापि गुरोरनुज्ञां धीरेव कन्या पितुराचकांक्ष"**। (रघुवंश) कुमारसम्भव में पार्वती शिव को प्रसन्न करने के बाद भी तुरन्त उनसे विवाह नहीं करतीं, पिता की सम्मति लेना आवश्यक बतलाती हैं। 'शाकुन्तल' के भी ये वाक्य **"धर्मचरणेऽपि परवशोऽयं जनः"** परवती खलु तत्र भवती **"न च संनिहितो गुरुजनः"** इसी मान्यता की ओर संकेत करते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि कालिदास के समय में धनिक वर्ग में तथा राजाओं में बहु-विवाह की प्रथा थी। समुद्र व्यापारी धनमित्र के कई पत्नियाँ थीं **"बहुधनत्वाद् बहुपत्नीकत्वेन तत्रभवता भवितव्यम्"**। नृपति वर्ग में तो बहु-विवाह प्रथा सर्वत्र ही दिखलाई देती है जैसा कि राजा दुष्यन्त स्वयं स्वीकार करता है **"परिग्रहबहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य नः"**। अनुसूया कहती है **"वयस्य ! बहुवल्लभा राजानः श्रूयन्ते"**।

पुत्र का न होना बड़ा ही दुर्भाग्य समझा जाता था **'कष्टं खल्वनपत्यता'**। शाकुन्तल के षष्ठाङ्क में दुष्यन्त द्वारा कवि ने अनपत्यता जनित दुःख को प्रकट कराया है। पुरुषों का स्त्रियों के प्रति शिष्ट एवं सभ्य व्यवहार था। ऐसा ज्ञात होता है कि विशेष अवसरों पर परदा प्रथा का भी प्रचलन था शकुन्तला राज दरबार में अवगुण्ठनवती होकर गई थी **'केयमवगुण्ठनवती'**। पति के साथ गुरुजनों के समीप जाती हुई स्त्रियाँ लज्जा एवं संकोच का अनुभव करती थीं **'जिह्रेमि आर्यपुत्रेण सह गुरुसमीपं गन्तुम्'**। पति का पत्नी पर पूर्ण अधिकार समझा जाता था। **"उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी"**। समाज में स्त्री जाति का सम्मान था पर उन पर विश्वास कम था। चरित्र की दृष्टि से सर्वथा सब ही स्त्रियाँ विश्वसनीय नहीं थीं। दुष्यन्त का शकुन्तला के प्रति पंचमाङ्क का कथन इसका प्रमाण है। पर समाज में पतिव्रत धर्म पालन का भी बड़ा महत्व था। विवाह वयस्का कन्याओं का ही होता था शकुन्तला और उसकी सखियाँ वयस्का ही थीं। बाल विवाह नहीं होते थे।

समाज में धार्मिक एवं आध्यात्मिक आदर्शों का बड़ा महत्त्व था। त्याग, दान यज्ञ पूजा, श्राद्ध, तर्पण आदि कर्मों का सर्वत्र प्रचलन था श्राद्ध तर्पण के लिये भी सन्तान का होना आवश्यक था, पुत्राभाव के कारण श्राद्धविधि न चल सकने से दु:खी दुष्यन्त का कहना है **"को मे कुले निवपनानि नियच्छतीति" "नूनं प्रसूति-विकलेन मया प्रसिक्तं धौताश्रुशेषमुदकं पितरः पिबन्ति"**।

न्याय यद्यपि निष्पक्ष था तथापि वह कठोर न था। धनमित्र की सम्पत्ति यद्यपि उसके नि:सन्तान होने से राजगामिनी थी **'राजगामी तस्यार्थ संचयः'** तथापि राजा ने वह धनमित्र की पत्नी के गर्भस्थ बालक को दिलवा दी थी **"ननु गर्भः पित्र्यं रिक्थमर्हति"**।

शासन में चोरी आदि अपराध अक्षम्य थे, इनके लिये अपराधी को शूली तक दी जा सकती थी। धीवर को शूली पर चढ़ाने का ही प्रयत्न था। उच्च अधिकारी भी पुलिस के साथ मिलकर घूँस लेते थे। शकार और सिपाहियों ने धीवर के इनाम में से भी भाग लेना चाहा था। इस वर्ग के लोग प्रायः मद्यप होते थे, **"कादम्बरी सखित्वमस्माकं प्रथमशोऽभिमत मिष्यते"**। राज्ञ श्यालक ही प्रायः नगर रक्षक नियुक्त होता था। पुलिस अपराधी को कठोर दण्ड देती थी और अकोर भी लेती थी। **'इतोऽर्धं युष्माकं सुमनो मूल्यं भवतु"**।

समाज में शकुन एवं अपशकुन पर बड़ा विश्वास था, कण्व के आश्रम में प्रवेश कर अपने दक्षिण बाहु के फड़कने से राजा उसे वरस्त्रीलाभदायक शुभ शकुन मानता है **"स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य"**। इसी प्रकार सप्तमाङ्क में **"मनोरथाय नाशंसे किं बाहो! स्पन्दसे वृथा"**। चतुर्थ अङ्क में अनुसूया पुष्प भाजन के हाथ से सहसा गिर जाने से अपशकुन मानती है जिसका उसे सद्यः फल भी मिलता है। उसकी प्रिय सखी को दुर्वासा ऋषि शाप देते हैं। दुष्ट ग्रहों की शान्ति के लिये तीर्थ वास किया जाता था। महर्षि कण्व शकुन्तला के दुष्ट ग्रहों की शान्ति के लिये ही सोम तीर्थ गये थे। दैव या भाग्य पर लोगों का दृढ़ विश्वास था। जो कुछ भी होता था भाग्यवश ही दुःख या सुख का कारण संचित कर्म ही माना जाता था। अतएव सभी लोग सत्कर्म में प्रवृत्त होकर पुण्य संचय का प्रयत्न करते थे। शकुन्तला सबसे अधिक भाग्यवादिनी प्रतीत होती है, अपने विरहताप का कारण वह दुर्भाग्य ही मानती है **'न मे आशासीदात्मनो भागधेयेषु" अनुकम्पितास्मि दैवेन, 'वत्स ते भागधेयानि पृच्छ" नूनं मे सुचरितप्रतिबन्धकं पुराकृतं तेषु दिवसेषु परिणाममुख मासीत्, येन सानुक्रोशोऽप्यार्य पुत्रो मे विरसः सम्वृत्तः" क्लिष्टं न तावत् फलमेव पुण्यम्" तव सुचरित मङ्गुलीय नूनं प्रतनु ममेव विभाव्यते फलेन"** इत्यादि। इसी प्रकार शाप और आशीर्वादों पर भी जनता का दृढ़ विश्वास था। ऋषि जनों के आशीर्वाद तथा शाप फलदायक होते हैं—ऐसी सर्वत्र मान्यता थी। मारीच ऋषि ने पति-पत्नी तथा पुत्र को आशीर्वाद दिये थे। ऋषियों ने भी सिद्धादेश के अनुसार ही राजा को चक्रवर्ती पुत्र की प्राप्ति का आशीर्वाद दिया था। महर्षि कण्व ने शकुन्तला को अपने आशीर्वादों से अनुग्रहीत किया था। अन्य तापसियों एवं गौतमी के आशीर्वादों के फलस्वरूप शकुन्तला को अन्त में महारानी बनने और चक्रवर्ती पुत्र की प्राप्ति का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। ऋषिजन निग्रहानुग्रह में पूर्ण समर्थ थे।

कालिदास ने तपस्या के महत्व की सर्वत्र प्रतिष्ठा की है। उनका अन्तिम श्लोक सामाजिक एवं आध्यात्मिक आदर्शों का अटूट सम्बन्ध दिखलाते हुए आध्यात्मिकता को ही उच्च स्थान देता है:—

प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः, सरस्वती श्रुतिमहतो न हीयताम्।
ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः॥

यह नाटक का महत्वपूर्ण श्लोक है जहाँ इसमें एक ओर राज कर्तव्य दिखलाकर

सामाजिक संगठन एवं सामाजिक उन्नति की ओर संकेत है वहाँ दूसरी ओर आध्यात्मिकता का महत्व है। विना सरस्वती की उपासना आध्यात्ममार्ग में गति नहीं हो सकती। पुनर्भवनाश की प्रार्थना द्वारा कवि ने मोक्ष को पुरुषार्थ चतुष्टय में सर्वश्रेष्ठ स्थान देकर तत्कालीन लोक-प्रवृत्ति की ओर संकेत किया है। उस समय का समाज पूर्ण रूप से धर्मप्राण दिखलाई पड़ता है सब ओर ब्राह्मण धर्म की पूर्ण प्रतिष्ठा दृष्टिगत होती है। लोक जीवन सुखी एवं शान्त प्रतीत होता है। सभी धर्म कर्म निरत विद्वान् कलाविद् एवं त्यागी तथा वीर प्रतीत होते हैं।

कालिदास की रचनाओं से स्पष्ट है कि उन्हें सामान्यतः प्रजाहित तत्पर एक तन्त्र राजपद्धति ही अधिक रुचिकर थी अतएव यद्यपि उनके समय में गणराज्य थे तथापि उन्होंने उनका वर्णन नहीं किया है, यद्यपि मन्त्रि-परिषद् का वर्णन है तथापि राजा को मन्त्रि-परिषद् का निर्णय अवश्य मान्य था, ऐसा कहीं उल्लेख नहीं है सम्भवतः ये मन्त्री प्रजा द्वारा नहीं अपितु राजा द्वारा ही यथा समय सलाह देने के लिये जाते थे जो कि प्रायः राजा की ही चित्त वृत्ति का अनुवर्तन किया करते थे। कालिदास ने प्रायः सर्वत्र अमात्य मन्त्री सचिव आदि का समानार्थक रूप में प्रयोग किया है अतः स्पष्ट है कि गणतन्त्र प्रणाली कालिदास को मान्य न थी। इतना होते हुये भी राजा को प्रधानामात्य पर अटूट विश्वास था वह जब कभी बाहर जाता था मन्त्री के ऊपर ही सब राजभार छोड़ देता था, देवासुरसंग्राम में जाता हुआ दुष्यन्त कहता है **"त्वन्मतिः केवला तावत्परिपालयतु प्रजाः। अधिज्यमिदमन्यस्मिन् कर्मणि व्यापृतं धनुः"** एवं वसिष्ठाश्रम को प्रस्थान करते हुए दिलीप आदि भी। मन्त्री भी राजभक्त एवं राज्य के परम्परागत नियमों का पालन करते थे, राजा के वानप्रस्थाश्रमी होने पर या उसकी अकाल मृत्यु होने पर राजपुत्र ही मन्त्री की सहायता से शासन करता था, प्रजापालन का बहुत कुछ उत्तरदायित्व मन्त्री पर रहता था। कालिदास की राजतन्त्र के विषय में ऐसी ही धारणा प्रतीत होती है।

उनकी रचनाओं में अनेक स्थलों पर राजगुणों एवं राज्य-व्यवस्था की ओर संकेत है, इसके लिये सबसे अच्छे उदाहरण रघुवंश के प्रथम सर्ग में देखे जा सकते हैं। वहाँ राजगुणों का प्रजा की स्वामिभक्ति का राजा की प्रजा-पालन तत्परता का सुन्दर उल्लेख है। उनके नाटक भी इसी ओर संकेत करते हैं। मृगया राजाओं का एक व्यसन था।

ऐसा प्रतीत होता है कि कालिदास के समय में स्मृति प्रतिपादित समाज व्यवस्था पर लोगों की अटूट धारणा थी। राजा को भी स्मृतियों की व्यवस्था के आगे सिर झुकाना ही पड़ता था। धर्म संकट उपस्थित होने पर उसे विद्वान ब्राह्मणों, पुरोहितों के परामर्श से काम करना पड़ता था शकुन्तला के परित्याग के समय वह पुरोहित से ही धर्माधर्म की व्यवस्था के लिये पूछता है और उसका ही अन्तिम निर्णय उसे मान्य होता है **"भवन्तमेवात्र गुरुलाघवं पृच्छामि, अनुशास्तु मां भवान्"** स्मृतियों में भी कालिदास को मनु पर ही विशेष आस्था जान पड़ती है सर्वत्र उसे ही वे प्रमाणित घोषित करते हैं **"नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत्स एवं धर्मो मनुना प्रणीतः" "रेखामात्रमपि क्षुण्णादामनोर्वर्त्मनः परम्"** कौटिल्य नीति में जिन राजधर्मों, नियमों व गुणों की व्यवस्था की गई है राजा को सभी मान्य होने चाहिए कालिदास का ऐसा मत प्रकट होता है, राज्याधिकारी वही हो सकता है जिसमें स्मृतियों द्वारा प्रतिपादित गुण पाये जाते हों। सिंहासनारूढ़ होने के पूर्व राजा को पूर्ण शिक्षित विद्वान धार्मिक प्रजानुरञ्जक होना चाहिये तभी वह सफल राजा हो सकता है कालिदास की ऐसी ही मान्यता थी। उनके नायक राजा दिग्विजयी प्रजापालक यज्ञों के करने वाले, धर्म भीरु एवं पूर्ण विद्वान थे। वे रात-दिन प्रजाहित चिन्तन एवं उनके कार्यावेक्षण में ही बिताते थे। यदि किसी भी प्रकार की दुर्व्यवस्था उत्पन्न होती थी तो वे स्वय अपने को उसका दोषी मानते थे। कण्व शिष्यों के आगमन पर यद्यपि राजा उसी समय

धर्मासन से उठा ही था तथापि यज्ञशाला में उनका स्वागत करने के लिये फिर बैठ जाता है, वह कितना विनयी एवं श्रद्धालु है वह उसके पञ्चाङ्क के वार्तालाप से स्पष्ट है।

कर के रूप में राजा उपज का केवल षष्ठांश ही ग्रहण करता था और यह भी वानप्रस्थियों से साग्रह नहीं क्योंकि वे उसको अपनी तपस्या का षष्ठांश देते हैं। रघुवंश के एक प्रसंग में आया है कि ऋषि जन नीवारधान्यों के षष्ठांश को राजा के लिये नदी-तट पर रख दिया करते थे **"तान्युञ्छषष्ठांकितसैंकतानि"** दुष्यन्त स्वयं कहता है **"तपः षड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः"** राजा लोभवश कर ग्रहण नहीं करता था अपितु प्रजा की रक्षा के लिये ही **"प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत"** दिलीप पुत्र रघु ने दिग्विजय में प्राप्त सभी सम्पत्ति को दान कर दिया था **"निश्शेषविश्राणितकोषजातम्"** दुष्यन्त न्यायतः प्राप्त भी धनमित्र की सम्पत्ति को उसके गर्भस्थ बालक के लिये छोड़ देता है। इस प्रकार कालिदास ने राजाओं के निर्लोभ का वर्णन किया है।

राज कर्तव्य की ओर भी कालिदास ने रघुवंशियों का वर्णन करते हुये संकेत किया है। कर ग्रहण के बाद राजा का, प्रजा को शिक्षित करना, उनकी जीविका के साधन बनाना, उनकी रक्षा करना आदि परम कर्तव्य हो जाता था **'प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि'** राज्य के व्यापारादि की रक्षा की ही भाँति राजा को आश्रमों की भी रक्षा करनी पड़ती थी, महर्षि कण्व के यज्ञ की रक्षा के लिये राजा स्वयं वहाँ जाता है और राक्षसों का वध करता है इसीलिये जब ऋषिकुमार दुष्यन्त के दरबार में पहुँचते हैं तो राजा के मन में ऐसे संकल्प विकल्प होने लगते हैं :—

> **"किं तावद्व्रतिनामुपोढतपसां विघ्नैस्तपो दूषितम्।**
> **धर्मारण्यचरेषु केनचिदुत प्राणिस्वसच्चेष्टितम् ॥** इत्यादि

प्रजा को शिक्षित करना राजा का कर्तव्य था अतएव वह नदियों, जलाशयों आदि के किनारे आश्रमों की स्थापना कर उनकी रक्षा करता था। उनका तप अध्ययन आदि अच्छी तरह चलता है या नहीं यह देखने के लिये एक अधिकारी भी रहता था, दुष्यन्त भी प्रथम बार अपने को धर्माधिकारी ही बतलाता है **"यः पौरवेण राज्ञा धर्माधिकारे नियुक्तः, सोऽहमहमविघ्नक्रियोपलम्भाय धर्मारण्यमिदमायातः। रम्यांस्तपोधनानां प्रतिहतविघ्नाः क्रियाः समवलोक्य, ज्ञास्यसि कियद्भुजो मे रक्षति मौर्वीकिणाङ्क इति।** शिक्षा समाप्त करने पर विद्यार्थी राजा के पास ही गुरु-दक्षिणा के लिये धन मांगने आते थे।

राजा सर्वदा प्रजा के ही हितचिन्तन में रत रहता था सम्पत्ति के समय भले ही मनुष्य के भाई बन्धु हो जाँय पर धनाभाव में राजा ही प्रजाजनों का बन्धु होता था जैसा कि 'शाकुन्तल' के इस श्लोक से "अतनुषु विभवेषु ज्ञातयः सन्तु नाम त्वयि तु परिसमाप्तं बन्धुकृत्यं प्रजानाम्" ज्ञात होता है। राजा के इन्हीं सब उपर्युक्त गुणों के कारण उसे राजर्षि की उपाधि से भूषित किया जाता था। राजा के कर्तव्य पालन एवं परोपकार तथा दया उदारता आदि गुण, एक ऋषि से कम तो नहीं पर अधिक भले ही होते थे जैसा कि "अध्याक्रान्ता वसति रमुनाप्याश्रमे सर्वभोग्ये, रक्षायोगादयमपि तपः प्रत्यहं संचिनोति" इस श्लोक से विदित होता है।

आश्रमों एवं तत्रत्य शिक्षा पर कालिदास की बड़ी आस्था दिखलाई पड़ती है। ये आश्रम नदियों के किनारे नगरों से बहुत दूर हुआ करते थे महर्षि कण्व का आश्रम हिमालय की उपत्यका में मालिनी नदी के किनारे था जो कि दुष्यन्त की राजधानी से कई दिन की दूरी पर था। इन आश्रमों के अधिपति प्रायः कुलपति होते थे जिनके पास सहस्रों छात्र पढ़ते थे। इनमें बालकों की भाँति बालिकायें भी शिक्षा पाती थीं, और ये ब्रह्मचारी शिक्षा समाप्त कर या तो आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए वहाँ आश्रमों में तप और

अध्ययन में जीवन बिताते थे और या गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते थे। गृहस्थाश्रम के बाद ये फिर पत्नीसहित और सम्भवत: बालक सहित भी वानप्रस्थाश्रम में प्रविष्ट हो आश्रम में आकर तप करते थे जैसा कि शाकुन्तल के सप्तम अंक में सर्वदमन को देख कर राजा यह सन्देह करता है कि कदाचित यह किसी पौरव वानप्रस्थी राजा का कुमार हो। शकुन्तला, प्रियम्बदा और अनुसूया सभी आश्रम में शिक्षित हुई थीं और वयस्क होने तक वहीं रही थीं। शकुन्तला के विवाह के बाद तुरन्त ही महर्षि कण्व ने इनके विवाह का भी निश्चय कर लिया था "इमेऽपि प्रदेये" कुछ कन्यायें सद्योवधू (विवाह योग्य) तथा कुछ ब्रह्मवादिनी वर्ग की होती थीं जैसा कि शाकुन्तल के प्रथमांक में राजा के प्रश्न द्वारा प्रतीत होता है "वैखानसं किमनया व्रत मा प्रदानात्"।

आश्रमों का जीवन बड़ा पवित्र था। कन्दमूल फल नीवारधान्य भोजन था, रहने के लिये पर्णशालायें, पहनने के लिये वल्कल वस्त्र, शय्या के लिये कुश और मृगचर्म काम में आते थे। इंगुदी तेल जलाने तथा व्रणों को भरने के काम आता था **'यस्य त्वया व्रणाविरोपणमिङ्गुदीनां, तैलं निषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे"** स्नान अग्निहोत्र यज्ञादि नित्य कर्म थे। पशुओं एवं पक्षियों के साथ-साथ आश्रमों में पौधों, लताओं आदि की परिचर्या होती थीं। यहाँ जीवहिंसा सर्वथा वर्जित थी इसलिये ऋषियों ने "आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यः" राजा से कहा था। नगरों से दूर रहने पर भी आश्रमों में कन्याओं को सभी प्रकार की गृहस्थ जीवन के लिये उपयोगी शिक्षा दी जाती थी। जैसा लिखना, पढ़ना, चित्रकला, संगीत, गृहकृत्य, उद्यान परिचर्या आदि वृक्षों एवं पशु-पक्षियों का पालन करना ही कन्याओं के हृदय में अप्रकटरूप से धीरे-धीरे अपत्य वात्सल्य का अंकुर उत्पन्न कर देता था। शाकुन्तल में लता वृक्षों के सिंचन के साथ शकुन्तला का कृतक पुत्र मृगशावक भी था जो कि उसके विदा होते समय उसके निवसन को खींचने लगा था। शकुन्तला अपनी लता भगिनी वनज्योत्स्ना को अपनी सखियों को सौंप आई थी यहाँ तक की उसने चलते समय अपनी सहगर्भिणी मृगी के प्रसवकाल की सूचना देने के लिये कण्व से प्रार्थना की थी। पर ब्रह्मवादिनी कन्यायें ब्राह्मण कुमारों की भाँति सभी विद्याओं का अभ्यास करती थीं और आजीवन तपोनिरता रहती थीं।

शिक्षा के सम्बन्ध में कालिदास का यह आदर्श था। शिक्षक के लिये निष्ठावान्, त्यागी तथा उदार होना आवश्यक है, जो पेट भरने के लिये विद्या का उपयोग करता है कालिदास की दृष्टि में वह हेय है **"यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति"** कालिदास ने मालविकाग्निमित्रम् के १-१६ में शिक्षकों के योग्यतानुसार भेद भी बतला दिये हैं। विद्यार्थी को बुद्धि लगन और पात्रता देखकर ही उसके अनुकूल चुना जाता था और उसी के अनुकूल विद्यार्थी प्राप्त शिक्षा का उपयोग करता था। छात्र कुछ मन्दबुद्धि एवं कुछ कुशाग्र बुद्धि भी होते थे। सुशिष्य वही कहलाते थे जो गुरु द्वारा दत्त ज्ञान को हृदयङ्गम कर सकते थे ऐसी विद्या को अशोचनीय कहा गया है **"सुशिष्यपरिदत्तेव विद्या त्वं मे अशोचनीयता संवृत्ता"** वास्तव में सत्पात्रोपहिता विद्या ही फलीभूत होती है कालिदास का ऐसा विचार था।

कथानक का मूल स्रोत

सौभाग्य से यह बात निर्विवाद है कि कालिदास ने शाकुन्तल का प्रस्तुत कथानक महाभारत के आदिपर्व में लगभग ३०० श्लोकों में वर्णित शकुन्तलोपाख्यान से लिया है पर उन्होंने उक्त कथा में अपनी कल्पनाशक्ति से पर्याप्त परिवर्तन कर दिया है और नवीन प्रसंगों की आवश्यकतानुसार उद्भावना भी की है। महाभारत की एक साधारण सी वैचित्र्य रहित कहानी से संसार के एक उत्तम नाटक की सृष्टि हो सकती है यह बात सामान्य लोगों की समझ में भले ही न आ सके पर कालिदास जैसे प्रतिभाशाली कलाकार की दिव्यदृष्टि के

लिये यह कोई असाधारण बात नहीं थी। उन्होंने नाटकीय तत्वों के आधार पर जहाँ जैसा उचित समझा है और नाटक के लिये उपयोगी सौन्दर्य-वर्धक जान पड़ा है वहाँ वैसा परिवर्तन या परिवर्धन कर दिया है।

महाभारत के कथानक की घटना बहुत प्राचीन काल में हुई थी, समाज की उस अवस्था में 'शकुन्तलोपाख्यान' में वर्णित कुछ प्रसंग एवं विचार भले ही उस समय असम्भाव्य एवं अनुचित न रहे हों पर कालिदास कालीन सुसंस्कृत समय में सर्वत: विकसित समाज में वही विचार सबको मान्य नहीं रह गये थे अतएव समाज के विचारों एवं परिस्थितियों के अनुसार कालिदास ने इसमें परिवर्तन किया है। उदाहरणार्थ महाभारत का दुष्यन्त स्वार्थ से प्रेरित, विषयासक्त तथा भीरु जान पड़ता है और इसी प्रकार शकुन्तला भी स्वार्थवश उसकी ओर आकृष्ट होती है। दुष्यन्त अकेला ही जब कण्व की पर्णकुटी की ओर जाता है तो उस समय वह वहाँ महर्षि कण्व को अनुपस्थित पाता है, वे उस समय फल-फूल लाने के लिये बाहर गये हुये थे। शकुन्तला उनका स्वागत करती है। राजा उसे देखते ही उस पर मुग्ध हो जाता है और उससे उसका जन्म-वृत्तान्त पूछता है और शकुन्तला उसे सब वृत्तान्त सुनाती है। वह उस समय उससे, वस्त्रालंकारों का लालच देकर अपनी पत्नी बनने का आग्रह करता है पर शकुन्तला के यह कहने पर भी कि मेरे पिता अभी एक आध घड़ी में आते ही हैं वे मुझे तुमको अर्पण कर देंगे, वह उसे गान्धर्व विवाह के लिये प्रोत्साहित करता है और शकुन्तला उससे यह शर्त करने के बाद कि तुम्हारे बाद मेरा ही पुत्र राजसिंहासन का अधिकारी होगा, उसके साथ विवाह कर लेती है। राजा अपनी कामवासना तृप्त करने के बाद उसे राजधानी में ले जाने के लिये सेना भेजने का वचन देकर ऋषि के शाप के भय से वहाँ से तुरन्त चल देता है।

पर शाकुन्तल का दुष्यन्त महापराक्रमी, त्यागी, प्रेमी, उदार, पापभीरू एवं कर्तव्य-परायण है इसी प्रकार महाभारत की शकुन्तला प्रगल्भा कामुका स्पष्ट वादिनी एवं निर्भीक तरुणी है पर शाकुन्तल की शकुन्तला लज्जाशीला, प्रेमपरायणा मधुर-भाषिणी एव मुग्धा बालिका है। महाभारत में शकुन्तला अपना जन्मवृत्तान्त स्वयं विस्तारपूर्वक सुनाती है पर यहाँ कालिदास ने शिष्टाचारानुरोध से उसका जन्मवृत्तान्त उसकी सखियों के मुख से कहलवाया है और इस प्रकार उन्होंने शकुन्तला के शील एवं मुग्धत्व की रक्षा की है। महाभारत में शकुन्तला स्वयं यह शर्त रखती है **"मयि जायेत यः पुत्रःस भवेत्त्वदनन्तररम् युवराजो महाराज ! सत्यमेतद् ब्रवीमि ते।** पर यहाँ वह अपनी सखियों के साग्रह पूछने पर केवल इतना ही कहती है **"तद् यदि वा मनुमतम्, तथा वर्तेथाः यथा तस्य राजर्षेरनु कम्पनीया भवामि"**। महाभारत में कण्व केवल थोड़े ही समय के लिये फल-फूल लाने बाहर जाते हैं पर लम्पट कामी दुष्यन्त उतनी भी देर तक उनकी प्रतीक्षा नहीं करता और परोक्ष में वह उसकी कन्या का उपभोग करता है पर कामावेग शान्त होते ही वह ऋषि के शाप के डर से वहाँ से भाग जाता है, पर शाकुन्तल में कवि ने कण्व को शकुन्तला के अनिष्ट निवारणार्थ सोमतीर्थ भेज दिया है और इस प्रकार कण्व को दीर्घ समय तक आश्रम से अनुपस्थित रखकर उसनेवयअनेक आवश्यक नाटकीय घटनाओं की स्वाभाविक पृष्ठभूमि प्रस्तुत कर दी है जैसे, त पसियिकों द्वारा दुष्यन्त से आश्रमरक्षार्थ वहीं ठहरने की प्रार्थना करना, जिससे कि नायक नायिका में प्रेमोद्गति प्रेमविकास एवं उसकी परिणति भी सम्भव हो सके साथ ही मुद्रिका और दुर्वासा के शाप का प्रसंग भी लाने का अवसर मिल सके। यदि कवि कण्व को एक लम्बे समय तक आश्रम से दूर न रखता तो ये घटनायें न घटित हो सकती थीं और यदि होतीं भी, तो वे स्वाभाविक रूप में विकसित न होतीं। इसके अतिरिक्त दुर्वासा के शाप के शमन के लिए भी कण्व को सोमतीर्थ भेजना आवश्यक ही था। इसी प्रकार मुद्रिका और शाप प्रसंगों पर ही अन्य घटनायें भी आधृत हैं। अतः इन प्रसंगों की उद्भावना कवि के लिए आवश्यक थी।

महाभारत में शकुन्तला के गर्भ से आश्रम में ही पुत्र का जन्म होता है और आश्रम में ही सिंह व्याघ्रादि के साथ खेलने के कारण उसे सर्वदमन नाम मिलता है। जब वह युवराज योग्य बली एवं पराक्रमी हो जाता है तब महर्षि शकुन्तला को उसके पुत्र के सहित ऋषियों के साथ हस्तिनापुर दुष्यन्त की राजधानी में भेजने पर राजदरबार में शकुन्तला द्वारा पिछले प्रसंग की याद दिलाने पर भी वह उसे स्वीकार नहीं करता। उस समय शकुन्तला निर्भीक होकर उसे फटकारती है पर राजा फिर भी उसे स्वीकार नहीं करता। अन्त में निराश हो जब वह अपने पुत्र को लेकर चलने लगती है तभी आकाशवाणी कहती है कि "यह तेरा पुत्र है इसे स्वीकार कर" तब दुष्यन्त उसे स्वीकार कर लेता है और मन्त्रियों से यह कहता है कि यदि मैं इसे पहले स्वीकार कर लेता तो आप लोगों को इसके वंश आदि के विषय में सन्देह बना रहता और शकुन्तला से भी कहता है कि यदि आकाशवाणी के पूर्व ऐसा करता तो लोग मुझे कामुक समझते इत्यादि।

पर कालिदास ने प्रसव के पूर्व ही शकुन्तला को पतिगृह भेजकर भारतीय मर्यादा का पालन किया है, विवाहिता स्त्री को पति के पास ही रहना चाहिए अन्यथा लोकापवाद होता है। कालिदास की तत्कालीन लोकाचार की दृष्टि से ऐसी धारणा थी अतएव उन्होंने लिखा है **"सतीमपि ज्ञातिकुलैकसंश्रयां, जनोऽन्यथा भर्तृमतीं विशंकते, अतः समीपे परिणेतु रिष्यते, प्रियाप्रिया वा प्रमदा स्वबन्धुभिः। न खलु माता पितरौ भर्तृवियोग दुखितां दुहितरं द्रष्टुं पारयतः"**। महाभारत का दुष्यन्त शकुन्तला के साथ अपने गान्धर्व विवाह की स्मृति रखता हुआ भी लोकापवाद के भय से उसे स्वीकार नहीं करता और आकाशवाणी होने पर ही उसे अपनाता है तथा लोकापवाद भीरुता की बात को स्वयं अमात्य और शकुन्तला के सामने वह स्वीकार करता है, पर कालिदास ने दुर्वासा के शाप की कल्पना कर उसके चरित्र की रक्षा की है, वह शापवश उसे भूल जाता है पर अँगूठी के मिल जाने पर पुनः शकुन्तला की उसे स्मृति हो आती है और वह उसके वियोग में दुखी होता तथा अपने कृत्य पर पश्चात्ताप करता है। कालिदास ने देवासुर संग्राम की घटना की उद्‌भावना कर उसे मारीच के आश्रम में भेजा है और वहाँ पुत्र एवं पत्नी से उसका मिलन कराया है जो कि स्वाभाविक एवं मर्यादानुकूल है इससे नायक नायिका का उदात्त चरित्र एवं दुष्यन्त की वीरता व्यक्त होती है।

वास्तव में **दुर्वासा का शाप** और उसकी निवृत्ति के लिये **मुद्रिका** का प्रसंग ये दो अत्यन्त महत्वपूर्ण घटनायें कवि की अद्‌भुत कल्पना से प्रसूत हो सम्पूर्ण नाटक को प्रभावित कर रही हैं। कवि यदि शाप की कल्पना न करता तो वह दुष्यन्त को परस्त्री स्पर्श दोष से न बचा सकता और यदि मुद्रिका की कल्पना न करता तो उसे दारत्यागी दोष से न बचा सकता। पर कवि ने इन दोनों प्रसंगों के द्वारा दुष्यन्त को सभी प्रकार के लोकापवाद से सुरक्षित रखकर उसे एक पूर्ण परिष्कृत वर्णाश्रम मर्यादा रक्षक धीरोदात्त नायक के रूप में प्रस्तुत किया है।

इन्हीं प्रसंगों की उद्भावना से ही पञ्चमाङ्क में दो सत्पक्षों के वाद-विवाद का मनोहारी दृश्य सम्भव हो सका है। षष्ठ में दुष्यन्त का पश्चात्ताप वियोग विदग्ध हृदय का प्रलाप, तथा उसकी कला प्रवीणता का प्रसंग भी शाप वश ही लाया जा सका है। इसी प्रकार सप्तमाङ्क की घटनायें—शकुन्तला का कारुण्योत्पादक दृश्य, पुत्र के प्रति पितृ हृदय का स्वाभाविक स्नेह, ऋषि मुनियों एवं देव जनों की उदारता तथा तपश्चर्या, दुष्यन्त का शौर्य और उसका प्रभाव आदि—भी इन्हीं दो प्रसंगों पर अवलम्बित हैं।

यद्यपि शाप प्रसंग ने निरपराध नायक नायिका को कुछ समय के लिए कष्ट दिया गया है तथापि यही वह प्रसग है जिसके द्वारा उनका उदात्त चरित्र अभिव्यक्त होता है इसके अतिरिक्त इस शाप प्रसंग का दूसरा उद्देश्य यह भी है कि कालिदास ने इसकी उद्भावना कर **अपने प्रेम विषयक आदर्श** की ओर संकेत किया है। कालिदास की सौन्दर्य एवं प्रेम विषयक

क्या मान्यता थी यह बात उनके चरित्र लिखते समय स्पष्ट की जा चुकी है। कालिदास का प्रेम वाह्य टीम-टाम पर अवलम्बित अतएव क्षणिक ऐन्द्रियक एवं वैषयिक नहीं है उनकी मान्यता है कि विविध मानसिक एवं कायिक क्लेशों की संतप्त भट्टी में तप कर ही प्रेम स्वर्ण निखरता है। विरहाग्नि एवं तपस्याग्नि में जब प्रेम को दूषित करने वाले कपट, छल-छिद्र स्वार्थ, मोह आदि विकार जल जाते हैं तभी वह निरपेक्ष उदात्त एवं आदर्श स्थायी प्रेम बनता है ऐसा ही आदर्श प्रेम समाज के धारण और अभ्युदय के लिये श्रेयस्कर हो सकता है। कालिदास की प्रेम विषयक ऐसी ही धारणा है। इसी आदर्श प्रेम का वर्णन कालिदास की सभी रचनाओं में पाया जाता है।- वास्तव में 'शाकुन्तल' में दुर्वासा का शाप शकुन्तला के आदर्श प्रेम की अग्नि परीक्षा का काम करता है जिसमें वह पूर्णतया उत्तीर्ण होती है। इसीलिये तो महर्षि मारीच उसे साक्षात् शची ही कहते हैं और स्वयं असुरविजयी सम्राट दुष्यन्त उसके चरणों पर नतमस्तक हो क्षमा माँगता है।

शाप के बाद उसकी विमुक्ति भी होनी ही चाहिए थी अतएव कवि ने मुद्रिका की उद्भावना की है। प्रेमी युगल की पहचान के लिए मुद्रिका से सुन्दर एवं स्वाभाविक और साधन हो ही क्या सकता था, इसका तो पहचान के लिए वहुत प्राचीन काल से उपयोग हो रहा है, हनुमान जी द्वारा प्रदत्त मुद्रिका से ही तो सीता ने परिचय प्राप्त किया था। बौद्धों के 'कट्ठहरि' जातक की कथावस्तु शाकुन्तल से कुछ मिलती जुलती है, वहाँ भी मुद्रिका का उपयोग किया गया है पर इससे यह न समझना चाहिए कि कालिदास को 'कट्ठहरि' जातक देखकर मुद्रिका की कल्पना सूझी होगी, वस्तुतस्तु बौद्धों ने हिन्दू ग्रन्थों से ही इस कथा का कुछ अंश लेकर उसे बुद्ध के पूर्व जन्म की कथा से जोड़ दिया है। कालिदास ने इस मुद्रिका का उपयोग 'मालविकाग्निमित्रम्' में भी किया है।

मुद्रिका का खो जाना और फिर मिल जाना इन दो कथा प्रसंगों के जोड़ने के लिये ही कवि ने धीवर, श्यालक, सिपाही आदि पात्रों का उपयोग किया है जिससे कथा के प्रवाह में स्वाभाविकता बनी रहे। यह उनकी कल्पना कौशल का सुन्दर उदाहरण है।

ई० पू० ५ शतक के 'हिरोडोटस' नामक ग्रीक इतिहासकर के ग्रन्थ में 'शाकुन्तल' सम्बिधानक जैसा एक प्रसंग देख कर कुछ लोगों को यह भ्रान्ति भी हुई कि कालिदास को शाकुन्तल का सम्बिधानक ग्रीक कहानियों से सूझा होगा। क्योंकि प्रथम शताब्दी में मालवा व काठियावाड़ का पश्चिमीय देशों से व्यापार चलता था इस व्यापार में ग्रीक सुन्दरियाँ लाई जाती थीं इन्हीं किसी से कालिदास ने यह कहानी सुनी होगी इसी आधार पर उन्होंने शाकुन्तल का सम्बिधानक बनाया और उसमें यवनी शब्द का प्रयोग भी किया। पर यह सब निराधार कल्पना है। हीरोडोटस और कालिदास के समय में लगभग १० शताब्दियों का अन्तर है, शाकुन्तल में यवनी शब्द का प्रयोग संज्ञा के लिए है यवन जाति के लिए नहीं, जैसा कि ऊपर वताया जा चुका है, अतः यह कालिदास की अपनी कल्पना है।

महाभारत के 'शाकुन्तलोपाख्यान' का प्रसंग कुछ अस्वाभाविक सा ज्ञात पड़ता है जहाँ कि दुष्यन्त के आश्रम प्रवेश के समय महर्षि कण्व फल फूल लेने वन में चले जाते हैं, और इतने ही घण्टे दो घण्टे के समय में दुष्यन्त सब कुछ कर चला जाता है, क्या यह सब घटना एक दो घण्टे में सम्भव हो सकती थी। नहीं, प्रत्युत इससे नायिका नायक दोनों ही निन्दास्पद स्वार्थी ही जान पड़ेंगे। कलाविकास एवं औचित्य की दृष्टि से यहाँ परिवर्तन करना आवश्यक ही था, अतएव कवि यहाँ महाभारत की कथा को छोड़कर कण्व को दूर सोमतीर्थ भेज देता है जिससे कि राजा को वहाँ रहने का अधिक अवसर मिल सके। दो चार मास के लम्बे समय में ही दोनों का प्रेम होना, मदन सन्ताप का उत्तरोत्तर बढ़ना, असह्य हो जाने पर गान्धर्व विवाह एवं गर्भ आदि का होना सम्भव था। ऋषियों ने यज्ञरक्षार्थ राजा से आश्रम में रहने की प्रार्थना की थी और यज्ञ समाप्त होने पर ही उसे

आश्रम से विदा किया था। यह सब कार्य एक दो घण्टे की अवधि में, जैसा कि महाभारत में कहा गया है, सम्भव नहीं हो सकता। कवि ने इसीलिये कण्व को सोमतीर्थ भेजा जहाँ से लौटने में उसे दो चार माह अवश्य लगे होंगे।

महाभारत की कथा के अनुसार सर्वदमन की उत्पत्ति कण्व आश्रम में ही होती है और जब वह बड़ा हो जाता है तब शकुन्तला उसे लेकर हस्तिनापुर पहुँचती है। कालिदास कालीन समाज की दशा इससे भिन्न थी। महर्षि कण्व शकुन्तला को गर्भवती जानकर तुरन्त ही उसे उसके पास भेज देते हैं, सर्वदमन का जन्म मारीच-आश्रम में होता है। इस घटना से कवि ने तत्कालीन स्त्री विषयक आचार-विचार और शालीनता एवं शिष्टता की ओर संकेत किया है। गर्भवती कन्या को पतिगृह में ही रहना उचित होता है यदि कोई ऐसी विपत्ति न हो। इसी शालीनता की दृष्टि से ही कवि ने शकुन्तला की जन्म कथा भी उसकी सखी के मुख से कहलवाई है स्वयं शकुन्तला से नहीं जैसा कि महाभारत में है। शकुन्तला सकृद दर्शन से प्रेम परवश हो जाती है और बिना किसी शर्त के आत्म-समर्पण कर देती है पर महाभारत की शकुन्तला पुत्र के लिये राजगद्दी के बदले अपने को बेचती है यद्यपि इस कार्य में व्यावहारिकता हो तथापि इसे निरपेक्ष प्रेम नहीं कह सकते। शकुन्तला की सखियाँ वास्तव में चतुर थीं वे भी केवल इस सम्बन्ध में इतना ही कहती हैं **"वयस्य ! बहुबल्लभा राजानः श्रूयन्ते। यथा नो प्रियसखी बन्धुजनशोचनीया न भवति तथा निर्वर्तय"** कवि ने स्त्रीजनोचित तत्कालीन शालीनता एवं शिष्टता की रक्षा के लिये ही प्रियम्वदा और अनुसूया का निर्माण किया है, जोकि शकुन्तला के विषय में सब कुछ बातचीत करती हैं और कार्य-साधनार्थ उसकी सहायता करती हैं जब कि महाभारत की शकुन्तला प्रौढ़ नायिका की भाँति सब कुछ अपने आप कर लेती है, शर्त करने पर आत्म-समर्पण कर देती है। इस प्रकार यद्यपि कालिदास ने यह कथा महाभारत से ली है पर अपनी कवि प्रतिभा एवं कल्पना कौशल से इसमें पर्याप्त परिवर्तन कर इसे नया रूप दिया है।

पद्मपुराण की कथा और 'शाकुन्तल' की कथा में साम्य देखकर विण्टरनित्स महोदय का यह कथन कि कालिदास ने यह कथानक पद्मपुराण से लिया है, उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि कुछ शब्द साम्य, वर्णन शैली तथा प्रसग एवं पात्र निर्माण आदि के साम्य होते हुए भी कई स्थानों पर महत्वपूर्ण भेद भी है। पद्मपुराण में कण्व फल फूल लेने के लिये उसी वन में गये हुए हैं इसी बीच में दुष्यन्त वहाँ पहुँचता है एक दो घण्टे में ही सब कार्य समाप्त कर लौट जाता है। शार्ङ्गरव शारद्वत तथा गौतमी के साथ प्रियम्वदा भी शकुन्तला को पहुँचाने हस्तिनापुर तक जाती है जबकि 'शाकुन्तल' में महर्षि यह कर **"इमे अपि प्रदेये। न युक्त-मनयोस्तत्र गन्तुम्"** उन्हें नहीं भेजते हैं। शची तीर्थ में स्नान समय शकुन्तला ने अँगूठी प्रियम्वदा को दी पर वस्त्र में बाँधते समय वह उसके हाथ से जल में गिर गई थी पर उस समय प्रियम्वदा ने उसको यह वृतान्त नहीं बतलाया और शकुन्तला को भी उसकी याद न रही थी। पर राजा के सामने आवश्यकता पड़ने पर उसने प्रियम्वदा से उसे माँगा था इत्यादि। पद्मपुराण के कई स्थल शाकुन्तल के समान ही महाभारत से भी मिलते हैं। लगभग सौ श्लोक भी इन दोनों पुराणों से एक से ही हैं। इसके अतिरिक्त 'हरिवंश' एवं 'भागवत' में जो शकुन्तला की कथा मिलती है वह भी महाभारत से अधिक साम्य रखती है पद्मपुराण से नहीं। यदि पद्मपुराण कालिदास से प्राचीन होता तो अवश्य हरिवंश तथा भागवत में उसी के अनुसार कथा आती, पर ऐसा नहीं है। अतः सिद्ध है कि पद्मपुराण का यह अंश शाकुन्तल के बाद का रचा हुआ है जिसमें शकुन्तला के सभी पात्रों का संक्षिप्त वर्णन है, महाभारत के मुनिशिष्य एवं गौतमी नाममात्र के पात्र हैं उनका कोई स्वतन्त्र विकास नहीं है पर पद्मपुराण में शाकुन्तल जैसी ही उन पात्रों की उपयोगिता दीख पड़ती है। अतः स्पष्ट है कि पद्मपुराणकार ने 'शाकुन्तल' के कथानक को संक्षिप्त रूप में पद्मपुराण में जोड़

दिया है। मत्स्य पुराण में भी 'विक्रमोर्वशीय' के कुछ प्रसंगों का उल्लेख है। अतः 'शाकुन्तल' का कथानक महाभारत से लिया गया है न कि किसी पद्मपुराण आदि से।

वस्तु-योजना

यह लिखा जा चुका है कि 'शाकुन्तल' का कथानक पौराणिक आधार को लेकर चलता है जैसा कि कवि के 'विक्रमोर्वशीय' नाटक का। कवि के तीनों ही नाटक सुखान्त हैं तथा सभी का प्रतिपाद्य विषय श्रृंगार है कवि का नाट्यकौशल कथावस्तु के सजाने में है प्राय कवि ने अपने तीनों ही नाटकों में नायिकाओं को पहिले दयनीय अवस्था में उपस्थित किया है, नायक की दृष्टि जब उन पर पड़ती है तो वह सर्वप्रथम एक सहायक एवं रक्षकरूप में उपस्थित होता है, नायिकायें अपने इस उपकारी पर स्वभावतः आकृष्ट होती हैं, पहिले उसकी रक्षाविधि से प्रभावित हो तदन्तर प्रेम से आकृष्ट हो, शाकुन्तल को छोड़कर उनके अन्य दो नाटकों में नायिकायें आकृष्ट होती हैं तदन्तर नायक। पर 'शाकुन्तल' में कुछ भिन्नता है।

नाटक का प्रथमाङ्क मृगया दृश्य से आरम्भ होता है, इसमें नाटकीयत्व की अपेक्षा वर्णन कुशलता और कवित्व अधिक है। मृग का अनुसरण करता हुआ राजा ऋषियों द्वारा निर्दिष्ट महर्षि कण्व के शान्त एवं कमनीय आश्रम में प्रवेश कर, तीन युवतियाँ को देखता है। एक ओर वह उनके अनुपम सौन्दर्य, आमोद-प्रमोद, सरल स्वभाव, एवं सौकुमार्य को देख चकित होता है तो दूसरी ओर उनके खेद-जनक आश्रम जनोचित वृक्षसिञ्चन व्यापार को देखकर मन ही मन भाग्य की विचित्रता पर आश्चर्य प्रकट करता है और उस तपस्वी पर खिन्न होता है जिसने उस सुकुमार मूर्ति को तपः क्लम-साधनार्थ नियुक्त किया था, उसे उस पर करुणा उत्पन्न होती है और फिर वह भ्रमर बाधा से पीड़ित शकुन्तला की रक्षा के लिये वहाँ स्वयं उपस्थित हो जाता है, इस प्रकार राजा सर्वप्रथम उसे उपकृत करता है, इसके बदले यद्यपि नायिका नहीं तथापि उसकी प्रिय सखी यह कहकर **"सोचितास्यनुकम्पिनार्य्येण"** शकुन्तला के कृतज्ञता प्रकाशन को व्यञ्जित कर देती है। इतना होते हुए भी 'शाकुन्तल' में सर्वप्रथम नायक में ही पूर्वराग दिखलाया गया है और फिर उसके बाद नायिका में रागजनित विकार का चित्रण किया गया है जबकि वह कहती है **"किन्नु खलु इमं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्य गमनीयास्मि संवृत्ता"** यद्यपि प्रथमाङ्क का यह प्रसंग शकुन्तला के भोलेपन तथा राजा के कामुकत्व को द्योतित करता है पर कवि ने बड़े कौशल से उसके धीरोदात्त नायकोचित चरित्र की रक्षा के लिये पहिले तो स्वयं उसके मुँह से **"सतां हि सन्देहपदेषु प्रमाणमन्तःकरणस्य वृत्तयः"** कहलाया है तदनन्तर दुर्वासा के शाप की कल्पना की है, फिर भी यदि उसे कामुकता के दोष से बचा भी लिया है तो भी रसिकता तो रह ही गई है नहीं तो वह क्यों अपने को दुष्यन्त का राजपुरुष कह कर उन्हें धोखा देने का प्रयत्न करता पर कालिदास के नायक के लिये ऐसी रसिकता कोई अपराध नहीं है, रसिकों में ही तो श्रृंगार फलता फूलता है।

इसी अंक में विदाई का प्रसंग तो और भी अधिक सुन्दर बन पड़ा है। कवि की इस स्थल पर नायिका के औत्सुक्य की सरस एवं स्वाभाविक व्यञ्जना दर्शनीय है। यद्यपि प्रथमाङ्क में नायिका के भाव प्रदर्शन का कोई स्पष्ट संकेत उस समय नहीं मिलता पर द्वितीयाङ्क में दुष्यन्त के द्वारा स्मरण रूप में शकुन्तला विषयक अनुराग की मधुर व्यञ्जना कराई गई है **"दर्भाङ्कुरेण चरणःक्षत इत्यकाण्डे, तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा, आसी द्विवृत्तवदना च विमोचयन्ती, शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम्"** उसके इसी भाव प्रदर्शन से ही तो राजा नगर गमन के प्रति भी हतोत्साह हो जाता है वह शकुन्तला व्यापार से अपने को रोक नहीं सकता अतएव कर्तव्य पालनार्थ जाता हुआ भी वह यह अनुभव करता है "कि उसका शरीर ही आगे को बढ़ता है पर मन तो, हवा के सम्मुख ले जाते हुए केतु के चीनांशुक की भाँति पीछे को ही लौटता है।"

द्वितीयाङ्क विदूषक के प्रवेश से आरम्भ होता है तथा प्रणयदग्ध राजा उससे शकुन्तला की शारीरिक एवं मानसिक दशा एवं चेष्टाओं का वर्णन करता हुआ उस पर अपना अनुराग प्रकट करता है और फिर वह अन्त में बड़ी कुशलता से इस प्रणयाभिव्यक्ति को निरस्त भी कर देता है। वास्तव में द्वितीयाङ्क में क्रियाशीलता कम है अतः इस अंक को प्रथम व तृतीय अंक के बीच एक विस्तृत विष्कम्भक ही समझना चाहिए।

तृतीयाङ्क में नायक एवं नायिका प्रथम तो काम संतप्त दिखलाये गये हैं पर अंक की समाप्ति पर दोनों इससे मुक्त भी कर दिये गये हैं। प्रणयदग्धा नायिका के तीव्र मनस्ताप के शमनार्थ सखियाँ उससे प्रणय-पत्र लिखवाती हैं पर नायक स्वयं उपस्थित हो जाता है और शकुन्तला सखियों की अनुमति के अनुसार उसे आत्मसमर्पण कर देती है, कुछ समय के लिये तपोवन प्रमदवन बन जाता है। पर दोनों में औत्सुक्य बनाये रखने के लिये तथा औचित्य की रक्षा के लिये कवि बड़े कौशल के साथ गौतमी के आगमन की सूचना देकर दोनों प्रेमियों को अलग कर देता है। इस अवसर पर उसकी वह लज्जा शीला मुग्धा नायिका जो अपना जीवन वृत्तान्त भी राजा के सामने सुनाने में लज्जित होती थी और बात-बात पर प्रियम्वदा की शिकायत करने गौतमी के पास दौड़ती थी, अब इस घटना के बाद ही इतनी मुखर हो गौतमी के आगमन का संकेत पाकर राजा से पेड़ की ओट में छिप जाने को कहती है तथा लताकुञ्ज को पुनः विहार के लिए आमन्त्रित कर उससे विदा लेती है। इस प्रकार तृतीयाङ्क की परिसमाप्ति तक प्रणय का विकास उत्तरोत्तर होता रहता है।

अन्तर्द्वन्द्व

अन्तर्द्वन्द्व भी नाटक का एक आवश्यक तत्व है, यह द्वन्द्व कहीं प्रणय द्वन्द्व के रूप में व्यक्त किया जाता है जैसा कि "विक्रमोर्वशीय" में और कहीं मानसिक द्वन्द्व के रूप में, जैसा कि शाकुन्तल में तृतीयाङ्क तक दिखाया गया है। प्रथमाङ्क में पहिले तो राजा के हृदय में यह द्वन्द्व उठता है कि यह मुनि कन्या मेरे द्वारा उपभोग्या है या नहीं। पर यह आन्तरिक द्वन्द्व अपने पूर्ण विकसित रूप में शकुन्तला के हृदय में उस समय उठता है जबकि यह एक ओर तो अपने तपस्विजनोचित संस्कार, मुग्ध स्वभाव एवं कन्याजनोचित लज्जा के आधिक्य के, तथा दूसरी ओर हृदय में उठने वाले प्रणयवेग के बीच दोलायमान होने लगती है और प्रणयावेग को दबाने का असफल प्रयास करने लगती है।

वास्तव में कालिदास का इस नाटक का प्रतिपाद्य श्रृंगार तो यहीं समाप्त हो जाता है और यहीं नाटक की साधारण रीति से समाप्ति भी हो जाती है, पर जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है कि कालिदास का प्रेम आदर्श प्रेम है, उसकी चरमावधि ऐन्द्रिय तृप्ति मात्र नहीं, विवाह का उद्देश्य दो सरस अनुरागी हृदयों का आजन्म प्रेम-बन्धन है जिसकी चरमसीमा पुत्रोत्पत्ति है जहाँ पहुँच कर वह क्षीण नहीं अपितु और अधिक गम्भीर बन जाता है। कवि ने इसका संकेत स्पष्ट शब्दों में रघुवंश में किया है "**विभक्तमप्येक सुतेन तत्तयोः परस्परस्योपरि पर्यचीयत**" अपने इसी आदर्श प्रेम की व्याख्या के लिये समाप्त प्राय भी कथा सूत्र को कवि ने बड़े कौशल के साथ आगे बढ़ाया है और उसने अग्रिम कथा को दुर्वासा के शाप के प्रसंग द्वारा जोड़ दिया है। चतुर्थ और पंचम अंक का विष्कम्भक बड़ा ही महत्वपूर्ण है और कवि के वस्तु-योजना कौशल का ज्वलन्त उदाहरण है। यह विष्कम्भक कथानक में आमूलतः परिवर्तन कर देता है और साथ ही भावी विपत्ति की सूचना भी दे देता है, प्रातःकालीन सूर्य चन्द्रोदयास्त मानव के परिवर्तनशील भाग्य की ओर संकेत करता है और बतलाता है कि जीवन या प्रणय निरा आनन्दमय ही नहीं है, जीवन एव प्रणय की सफलता के लिये त्याग और तप की आवश्यकता है। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिये कवि ने शाप एवं मुद्रिका की योजना की है। वास्तव में विष्कम्भक द्वारा दुर्वासा के शाप की योजना कवि की नाट्य-कुशलता का सफल निर्देशन है। '**अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती मे** इत्यादि से शकुन्तला के

भावी वियोग की सूचना देकर कवि तुरन्त उसके प्रणय को प्रस्तुत कर देता है। इस प्रसं में कवि की भावुकता एवं प्रतिभा दर्शनीय है, कन्या की विदाई के समय पितृ हृदय के भावनाओं के चित्रण में, अकृत्रिम स्नेह की व्यंजना में, तत्कालीन सामाजिक एवं नैतिक आदर्शों के निरूपण में एवं अन्तः तथा बाह्य प्रकृति के चित्रण में यह अंक सर्वोत्तम है वनवासी तपस्वी की एक पालिता कन्या के लिये इतनी व्यग्रता, प्रिय सखियों की आनन सम्बन्धित चिन्ता, पशु-पक्षियों की मूक वेदना के चित्र किस सचेतन प्राणी को करुणाप्लावित न कर देंगे। कवि ने इन सभी बातों का जिस मार्मिकता एवं सुकुमारता से चित्रण किया है वह विश्व-साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है। कण्व द्वारा दुष्यन्त को दिया गया सन्देश तथा भावी गृहलक्ष्मी को दिया गया उपदेश अनुपम है। श्री पाण्डेयजी के शब्दों में यह सत्य है कि यह अंक मानो शब्द-निर्मित मानव-हृदय ही है। श्रृंगारानुभूति को अक्षुण्ण बनाये रखते हुए भी कवि ने इस अंक में करुण रस की अधिक व्यञ्जना की है पर यहाँ पर भी चक्रवादी आदि को लक्ष्य कर शकुन्तला एवं उसकी प्रिय सखियों की उक्तियाँ श्रृंगार की पोषक हैं।

पञ्चमाङ्क में यह करुणरस हंस पदिका के गीत द्वारा जो कि शकुन्तला के भावी निराकरण का सूचक है और भी तीव्र हो जाता है, यहीं शकुन्तला के प्रत्याख्यान से कथानक चरमसीमा पर पहुँच जाता है। चतुर्थाङ्क यदि कवित्वमय एवं कारुणिक अधिक है तो पञ्चमाङ्क नाटकीय एवं ओज पूर्ण अधिक है। दुर्वासा के शाप वश प्रेमी पति अपरिचित बन जाता है और गर्भवती पत्नी की शरण याचना पर भी ध्यान न देकर, गौतमी के कथन को अशिक्षित पटुत्व बताकर उसका प्रत्याख्यान कर देता है, उसकी अँगूठी की आशा तो टूट ही जाती है, स्त्रियोचित-स्वाभिमान-जागृति भी राजोचित व्यवहार के आगे निष्फल हो जाती है। शार्ङ्गरव की उत्तेजना भी पापभीरु राजा को उसे स्वीकार नहीं करा सकती। शकुन्तला की की ओर से कहे गये उसके उत्तेजनापूर्ण शब्द नायिका की निःसहाय स्थिति के परिचायक बन कर रह जाते हैं, दुष्यन्त पर उनका भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता, फलतः नायिका को एक दिव्य ज्योति उठा ले जाती है और उसे, सकृद् दर्शन जन्य रहःसंगति के प्रायश्चित के लिये एवं विरहाग्नि से तप-तप कर निखरे हुए प्रेम के स्थायित्व के लिए मारीच के पावन आश्रम में रख देती है यहीं उससे सर्वदमन की उत्पत्ति होती है।

षष्ठाङ्क प्रत्यभिज्ञान-अंगूठी की उपलब्धि से प्रारम्भ होता है पर यहाँ मुख्य कथा के साथ-साथ कवि ने 'प्रवेशक' में धीवर एवं राजकर्मचारियों के वार्तालाप द्वारा लोक जीवन का वास्तविक एवं स्वाभाविक चित्र भी उपस्थित किया है। शकुन्तला के प्रत्याख्यान से दुष्यन्त मानसिक वेदना का अनुभव करता है, आश्रम में बनाये गये शकुन्तला के चित्र को वह मँगवाता है जिससे कि वह कुछ समय के लिए मनःशान्ति प्राप्त कर सके।

कवि ने अपने पूर्वलिखित दोनों ही नाटकों में प्रणय द्वन्द्व का भी दृश्य रखा है। यह द्वन्द्व नायक की प्रथम पत्नी द्वारा प्रेमी युगल के बीच में पड़कर उपस्थित कराया गया है पर शाकुन्तल में कवि ने इस योजना को हटाकर एक नया रूप दिया है। दुष्यन्त की रानी वासुमती रंगमञ्च पर नहीं आती, उसके आगमन की केवल इस अंक में सूचना मात्र मिलती है; सम्भवतः कवि शकुन्तला के 'शुद्धान्त दुर्लभ' सौन्दर्य के समक्ष किसी अन्य सुन्दरी को उपस्थित नहीं करना चाहता था, इसके अतिरिक्त इससे यह भी प्रतीत होता है कि वह अपने दो नाटकों के प्रणय द्वन्द्व की पुनरावृत्ति यहाँ नहीं करना चाहता था, 'शाकुन्तल' का द्वन्द्व तो वास्तव में नियति-द्वन्द्व ही है, इसीलिए कवि ने दोनों प्रेमियों के मार्ग में कोई भौतिक मूर्त विघ्न नहीं डलवाया है, अपितु उसने शाप रूप में अमूर्त नियति द्वन्द्व ही दिखाने का प्रयास किया है शाप जनित यह नियतिद्वन्द्व नायक के अन्तर्द्वन्द्व को उभरने नहीं देता है, तथा कथा में अमानवीय शक्तियों के हाथ बँटाने की ओर संकेत करता है। इसी अंक में धनमित्र की मृत्यु के सम्वाद से राजा का शकुन्तला के प्रति प्रेमाग्रह हटकर पुत्र की ओर

मुड़ जाता है। निःसन्तान राजा पुत्र के लिये दुःखी होने लगता है इसी समय कवि मातलि का प्रवेश करा कर करुणा एवं चिन्ता के इस दृश्य को आमूलतः परिवर्तित कर अलौकिक सुख एवं शान्ति के लोक में पहुंचा देता है।

सप्तमाङ्क की घटना भूलोक को छोड़कर मारीच के आश्रम की पवित्रता और सुन्दरता के बीच घटित होती है जहाँ राजा पत्नी और पुत्र से मिलकर महर्षि का आशीर्वाद प्राप्त कर पूर्ण सफलता प्राप्त करता है इस प्रकार कवि ने जैसे सुन्दर एवं पावन वातावरण में नाटक का आरम्भ किया था वैसे ही पवित्रतम एवं सुखद वातावरण में उसकी समाप्ति भी दिखलाई है।

इस प्रकार 'शाकुन्तल' का सम्बिधानक कवि के अन्य दो नाटकों की अपेक्षा कहीं अधिक सुलझा हुआ, रुचिकर एवं अन्तः सूत्र से अनुस्यूत है। विविध प्रसंगों का मेल इतने कौशल से मिलाया गया है कि प्रेक्षकों का औत्सुक्य उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है, कोई घटना एक दूसरे से पृथक प्रतीत नहीं होती। इन घटनाओं के संश्लेष में पूर्ण स्वाभाविकता है। कोई छोटा-सा भी प्रसंग ऐसा नहीं जो कि मुख्य साध्य से दूर जा पड़ा हो, सभी मूलकथा से न्यूनाधिक रूप में आवद्ध हैं और उसके विकास में सहायक हैं। प्रत्येक प्रवेश सहेतुक है, भले ही वह अत्यन्त स्वल्प ही, उदाहरणार्थ, प्रथमाङ्क में वैखानसों का प्रवेश, स्वल्प होते हुए भी "पुत्रमेवंगुणोपेतं चक्रवर्तिनमवाप्नुहि" इस कथन के द्वारा साध्य की चरम सीमा की ओर संकेत कर प्रेक्षकों में औत्सुक्य जागृत करता है, द्वितीयाङ्क में सेनापति का प्रवेश इस बात का सूचक है कि मृगया न केवल राजाओं का दुर्व्यसनमात्र है अपितु वह उनके शारीरिक एवं मानसिक विकास का साधक है, धानुष्कों के उत्कर्ष का प्रमाण है। इसी प्रकार 'करभक' का प्रवेश राजा की शालीनता एवं मातृभक्ति के द्योतक होने के साथ-साथ विदूषक को राजा के पास हटा देने का एक प्रयत्न है जिससे कि वह शकुन्तला के प्रत्याख्यान के समय साक्षी न हो सके और शाप का प्रसंग सफल हो सके। पञ्चमाङ्क में "हंस-पदिका" का गीत प्रसंग अति स्वल्प होते हुए भी महत्वपूर्ण है। वह प्रेक्षकों को शकुन्तला के भावी प्रत्याख्यान की सूचना देता है, इसी गीत से राजा को पिछली घटना की कुछ अस्पष्ट सी स्मृति उदित होने लगती है और गीत सुनने पर ही वह हंसपदिका को अपना सन्देश सुनाने के लिये विदूषक को भेज देता है। कवि ने कितने कौशल से विदूषक को राजा के पास से हटा दिया है जिससे कि शकुन्तला के प्रत्याख्यान के समय उसके वृत्तान्त को कोई साक्षी न मिल सके, इस नाट्य कौशल की विशेषता के कारण शकुन्तला का प्रत्याख्यान अस्वाभाविक नहीं जान पड़ता प्रत्युत वह दुष्यन्त जैसे मर्यादापालक धार्मिक राजा के गुणों का ही द्योतक बन जाता है। धनमित्र का प्रसंग सर्वदमन की प्राप्ति एवं कथानक के चरम साध्य की पृष्ठभूमि है। कवि ने जिस सर्वदमन का बीजारोपण प्रथमाङ्क में ही कर दिया था उसी को वह धीरे-धीरे परन्तु क्रमशः बलवत्तर कारणों से पुष्पित एवं फलित हुआ दिखलाना चाहता था, अन्त में मातलि के प्रसंग से वह इसे पूरा करता है।

यद्यपि एक-दो स्थलों पर आकाशवाणी जैसी अद्भुत बातों का प्रसंग लाकर कवि ने कथानक की प्रगति की है तथापि शाकुन्तल के संविधानिक की दृष्टि से तथा तत्कालीन लोगों की विचार पद्धति की दृष्टि से वे असम्भवनीय नहीं जान पड़ते। अतः शकुन्तला की वस्तु-योजना कौशल उत्तरोत्तर रुचिवर्धक एवं स्वाभाविक है।

भाषा

'शाकुन्तल' की भाषा प्राञ्जल, परिमार्जित एवं सर्वथा परिष्कृत है वह सर्वत्र प्रसाद पूर्ण तथा क्लिष्टता एवं समासबहुलता या दूरान्वय दोष से दूर है। साथ ही बीच-बीच में ऐसे चुस्त एवं मुहाविरेदार वाक्यों का प्रयोग किया गया है जो कि शिक्षाप्रद एवं मार्मिक होने के साथ-साथ भाषा में सजीवता भर देते हैं। दुर्वासा के शाप की बात शकुन्तला से छिपाने के लिये प्रियम्वदा कितने सशक्त परिमित वाक्य में कहती है "को नामोष्णोदकेन

नवमालिकां सिञ्चति" इसी प्रकार वह अवधीरणभीरु शकुन्तला के हृदय की सान्त्वना के लिये कहती है **"अयि आत्मगुणावमानिनि ! क इदानीं शरीरनिर्वापयित्री शारदीं ज्योत्स्नां पटान्तेन वारयति"** मुनि-कन्याओं के पारस्परिक अनुराग एवं सहानुभूति पूर्ण व्यवहार को लक्ष्य कर दुष्यन्त कहता है " **"किमत्र चित्रं यदि विशाखे शशाङ्कलेखामनुवर्तेते"** अपने वियोग की असह्य दशा को लक्ष्य कर जब शकुन्तला कहती है **"हला, पश्य नलिनीपत्रान्तरितमपि सहचरमपश्यन्त्यातुरा चक्रवाक्यारौति दुष्कर महं करोमीति"** उसकी सखी कितने सशक्त सुन्दर एवं सान्त्वनापूर्ण छोटे से वाक्य द्वारा उसकी इस दुष्करता को शान्त कर देती है **"गुर्वपि विरह दुःख माशावन्धः साहयति"** ।

कालिदास की भाषा सम्बन्धी दूसरी विशेषता यह है कि उन्होंने सर्वत्र पात्रानुकूल भाषा का ही प्रयोग किया है। यज्ञयागादि तथा अध्यापन कार्य संलग्न महर्षि कण्व के मुख से ऐसे वाक्य निकलते हैं जो कि प्रसंगानुकूल होते हुये भी उनके पद के सर्वथा अनुकूल हों। शकुन्तला के विवाह का अनुमोदन करते हुये वे कहते हैं **"दिष्ट्या, धूमाकुलितदृष्टेरपि यजमानस्य पावकमुख एवाहुतिः पतिता"** वत्से ! **सुशिष्यपरिदत्ता विद्येवाशोचनीया संवृत्ता गतवती वां सहधर्मचारिणी।** विदूषक की उक्तियों में सर्वत्र उसके पेटूपन की झलक है। शकुन्तला के प्रति दुष्यन्त के अनुराग को बढ़ता हुआ देखकर वह उससे कहता है :—**"यथा कस्यापि पिण्डखर्जूरैरुद्वेजितस्य तिन्तिण्यामभिलाषो भवेत्"** **तेन हि गृहीतपाथेयो भव" नीवारषष्ठभागमस्माक मुपहरन्तु"** इत्यादि।

भाषा की प्रासादिकता के साथ-साथ कवि की अलंकार योजना ने उसको और अधिक रमणीय एवं आकर्षक बना दिया है, उपमा तो कालिदास की अपनी विशेषता है ही। प्रत्येक पात्र को अपने वातावरण एवं स्वभाव के अनुकूल जब जैसे जहाँ वाक्य सूझने चाहिये कवि ने वैसे ही वाक्यों का उनके मुख से प्रयोग करा कर भाषा को जो स्वाभाविकता दी है वह अन्यत्र दुर्लभ है। वनवासिनी मुनि-कन्यायें अपने स्वभाव एवं वातावरण के अनुकूल ही वाक्यों का प्रयोग करती हैं अतएव उनके साधारण से साधारण वार्तालाप में एवं विनोद में लता वृक्ष पशु पक्षियों आदि का ही प्रयोग है जिन्हें पढ़कर पाठक अपने को आश्रम के वातावरण से घिरा पाता है और उसको पवित्रता का अनुभव करता है। शकुन्तला, अनुसूया से कहती है **'सखि अनुसूये ! अतिपिनद्धेन वल्कलेन प्रियम्वदया नियन्त्रितास्मि शिथिलय तावदेतत्"** इसी प्रकार के अन्य वाक्य :—**नवमालिकाकुसुमपेलवा त्वमप्येतेषा मावालपूरणे नियुक्ता, एष वातेरितपल्लवाङ्गुलीभिरत्वरयतीव मां केशरवृक्षकः, यावत्वयोपगतया लतासनाथ इवायं केसर वृक्षकः प्रतिभाति इयं स्वयम्बरवधू सहकारस्य त्वया कृतनाभधेया वन ज्योत्स्नेति नवमालिका, रमणीये खलु काले एतस्य लता पादपमिथुनस्य व्यतिकरः संवृत्तः नवकुसुमयौवना वनज्योत्स्ना, स्निग्धपल्लवतयोपभोगक्षमः सहकारः, सागर मुज्झित्वा कुत्र वा महानद्यवतरति, क इदानीं सहकार मन्तरेणतिमुक्तलतां पल्लवितां सहते, कथ मिदानीं तातस्याङ्कात् परिभ्रष्टा मलयतरुन्मूलिता चन्दनलतेव देशान्तरे जीवितं धारयिष्ये"** इत्यादि। इसी प्रकार अन्य जनों की उक्तियाँ भी उनके वातावरण के अनुकूल हैं।

शिष्ट पुरुष पात्रों की भाषा संस्कृत तथान्य पात्रों की भाषा प्राकृत है। शाकुन्तल के षष्ठाङ्क के 'प्रवेशक' को छोड़कर, जहाँ धीवर मागधी प्राकृत का प्रयोग करता है; शेष सभी स्थानों पर शौरसेनी प्राकृत का ही प्रयोग किया गया है, पर प्राकृत की सभी कथायें महाराष्ट्री प्राकृत में हैं। कवि का संस्कृत एवं विभिन्न प्राकृतों पर समान अधिकार है। नाटक के कथोपकथन छोटे-छोटे, चुस्त एवं चटकीले हैं। प्रत्येक वाक्य ही नहीं अपितु प्रत्येक शब्द सहेतुक है, इस प्रकार के शब्द के प्रयोग से कवि का एक विशेष तात्पर्य सर्वत्र प्रतीत होता है।

शैली

कालिदास की शैली अत्यन्त सशक्त विकसित एवं परिष्कृत है। शब्दों का रसानुकूल

मधुर प्रयोग है। वाक्य छोटे-छोटे होते हुये भी अपने में पूर्ण हैं, छन्दों का स्वर माधुर्य एवं भाषा की समाहार शक्ति तथा व्यंजन-वृत्ति ने 'शाकुन्तल' की शैली को अपूर्व रमणीयता प्रदान की है। जिस स्थान पर जैसा भाव या प्रसंग है उसी के अनुकूल सुकुमार कोमलकान्त पदावली का प्रयोग है, सौन्दर्य-वर्णन के अवसर पर कवि ने शकुन्तला की सुकुमारता के अनुकूल ही मसृण पदावली का प्रयोग किया है,

"सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं, मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिक मनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी, किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥

शकुन्तला के अप्रतिम सौन्दर्य को देखकर दुष्यन्त कितने मधुर उममानों को प्रस्तुत करता है,

"अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै,
रनाविद्धं रत्नं मधु नव मना स्वादितरसम्,
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूप मनघं,
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्याति विधिः।

जटाधारी तापस शिष्यों के बीच लावण्यवती शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त कहता है **"मध्ये तपोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम्"** इन तपस्वियों के बीच यह रमणी वैसी ही ज्ञात होती है जैसे कि पीले सूखे पत्तों के बीच कोई नूतन सुकुमार किसलय हो। इसी प्रकार आपन्नासत्त्वा शकुन्तला के अनुपम रूप को देखकर द्विविधा में पड़ा दुष्यन्त कहता है कि इस समय मेरी वही दशा है जैसी कि उस भ्रमर की होती है जो कि प्रातःकाल तुषार-गर्भित कुन्द कालिका का न तो पराग पान ही कर सकता है और न उसे छोड़कर अन्यत्र जा ही सकता है। **"भ्रमर इव विभाते कुन्दमन्तस्तुषारं, न च खलु परिभोक्तुं नैव शक्नोमि हातुम्।"** इसी प्रकार स्वभावोक्ति का प्रयोग भी शाकुन्तल की एक निजी विशेषता है। भागते हुए हरिण का, तथा दौड़ते हुए अश्वों का एवं तपोवन का वर्णन स्वभावोक्ति के सुन्दर उदाहरण हैं, **"ग्रीवाभङ्गाभिरामं, मुक्तेषु रश्मिषु, नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टाः, यदा लोके सूक्ष्म"** इत्यादि। इसी प्रकार उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, अप्रस्तुत प्रशंसा आदि के स्थान पर स्वाभाविक एवं समुचित प्रयोगों ने उसकी शैली को बड़ा मधुर एवं रुचिकर बना दिया है।

उनकी शैली की दूसरी विशेषता है **समाहारशक्ति**, वे किसी भाव का अवसर रहते हुये भी लम्बा चौड़ा वर्णन नहीं करते अपितु अत्यन्त संक्षिप्त शब्दों में उस भाव की मार्मिक व्यंजना कर देते हैं। शकुन्तला को खोजता हुआ दुष्यन्त जब उसे लतागृह में सहसा देख लेता है उस समय वह अपने हृदय के भावों का विशद वर्णन न करके केवल एक छोटे से वाक्य द्वारा अपना आनन्दातिरेक व्यक्त कर देता है **'अये लब्धं नेत्रनिर्वाणम्'** सकृद दर्शन के उपरान्त जब दुष्यन्त व शकुन्तला एक दूसरे पर आसक्त हो जाते हैं उस समय भी उनका प्रेमलाप बहुत ही संक्षिप्त दिखलाया गया है बहुत कुछ तो वह इंगितों द्वारा ही अभिव्यक्त किया गया है, इसी प्रकार विरहिणी शकुन्तला की मानसिक दशाओं के वर्णन में भी कवि ने इसी समाहारशक्ति से काम लिया है, दुःसह विरह ताप से संतप्त भी वह कहीं विलाप नहीं करती, उद्दीपक वस्तुओं की निन्दा नहीं करती, मन ही मन उस कामवेग को दबाने का प्रयत्न करती है और सखियों के अत्यधिक आग्रह पर ही वह इस रहस्य को भी बतलाती है केवल शाप प्रसंग से ही उसकी अवस्था का आभास मिल सकता है इसी प्रकार के **"भवतीनां सूनृतयैव गिरा कृतमातिथ्यम्' स्वागतमविलम्बिनो मनोरथस्य, श्रुतं श्रोतव्यम्, संशयोच्छेदि वचनम्"** अन्य वाक्य हैं। शकुन्तला को पति गृह भेजते समय कण्ठ तथा उसकी प्रिय सखियों का अकृत्रिम स्नेह कैसे कारुणिक पर संयत एवं परिमित शब्दों में अभिव्यक्त हुआ है। प्रत्याख्यान के समय अनुनय, भय, लज्जा, भत्सर्ना अभियान, क्रोध, विलाप, आदि अनेक भावों का प्रसंग है पर ये सभी भाव कितने नपे तुले शब्दों में व्यक्त किये गये हैं, यह देखने योग्य है। प्रात्याख्यान के बाद सर्वत्र नीरवता का साम्राज्य दीख पड़ने लगता है, इस समय

सभी आश्रमवासी भी नीरव हो तपोलीन हो जाते हैं और शकुन्तला भी नीरव शान्त मरीच आश्रम में विरह के दिन काटने लगती है, दुष्यन्त भी नीरव होने लगता है, पर मन ही मन वह विक्षुब्ध हो उठता है, मुद्रिका मिलने के बाद तो उसकी नीरवता और भी अधिक बढ़ जाती है। वह चुपचाप एकान्त में पड़ा रहता है, वसन्तोत्सव भी बन्द करा देता है। उसकी इस नीरवता को देखकर वृक्ष लताएँ भी नीरवता धारण कर लेती हैं। वास्तव में कवि ने शकुन्तला की हृदय-वृत्ति को कहीं भी उभरने नहीं दिया है। विरहदग्ध होकर भी वह सर्वत्र प्रशान्त गम्भीर एवं संयत है।

कालिदास की शैली की सबसे बड़ी विशेषता है **'ध्वन्यात्मकता'** जिसके द्वारा कवि ने विभिन्न स्थलों पर भविष्य में घटित होने वाली घटनाओं की ओर सूक्ष्म संकेत किया है। किसी भी भावी घटना को प्रस्तुत करने के पूर्व कवि ने उसके लिए प्रथम संकेत अवश्य कर दिया है। संस्कृत के प्रायः सभी नाटक 'सुखान्त' होते हैं और 'शाकुन्तल' भी सुखान्त नाटक है। इसकी सूचना कवि ने प्रथम ही ग्रीष्म-ऋतु वर्णन द्वारा **"दिवसाः परिणामरमणीयाः"** कहकर दे दी है। ग्रीष्म के दिन जैसे अन्त में सुखकर होते हैं वैसे ही नाटक के अन्त में शकुन्तला के अन्तिम दिवस पति-पुत्र की प्राप्ति के बाद सुखकारी हुए हैं। ग्रीष्म के दिवस शकुन्तला के प्रथम मिलन की भाँति प्रातःकाल में यद्यपि रमणीय होते हैं पर थोड़ी ही देर के लिए, जैसे शकुन्तला का प्रथम मिलन सुखकर होते हुए भी क्षणिक था। इसी प्रकार नटी का गीत **"ईषदीषच्चुम्बितानि"** भी भावी घटना का सूचक है। भ्रमर द्वारा शिरीष कुसुम का ईषद् परिचुम्बन बतला कर कवि ने दुष्यन्त-शकुन्तला के अल्पस्थायी प्रथम मिलन की ओर संकेत किया है। भ्रमर दुष्यन्त शिरीष कुसुम पेलवा शकुन्तला के अल्पस्थायी प्रेम प्रदर्शित कर उड़ जाता है और फिर अन्य वस्तु व्यासंग वश उसे भूल जाता है, पर ऐसा संकेत समझ कर सरस प्रेक्षकों का कहीं औत्सुक्य कम न हो जाय अतएव वह तुरन्त सूत्रधार से कहला देता है **"आर्ये सम्यगनुबोधितोऽस्मि'** जिससे दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला को भूल जाने की, पर अंगुलीयक देखने पर उसे स्मरण करने की भी सूचना दी गई है। इसी प्रकार **"आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यः "क्व वत् हरिणकानां जीवनं चातिलोलम्"** भो भोस्तपस्विनः। **"सन्निहिता स्तपोवन सत्व रक्षायै भवत। प्रत्यासन्नः किल मृगया विहारी पार्थिवो दुष्यन्तः"** आदि उक्तियाँ भी भावी घटनाओं की सूचक हैं। मृगाक्षी शकुन्तला मृगों के साथ परिवर्धित हुई है वह भी मृगों की भाँति ही तपोवन सत्त्व है, मृगों की भाँति ही उसका जीवन भी अतिलोल है अतः तपस्वियों का कर्तव्य है कि वे राजा दुष्यन्त के प्रणयवाण प्रहार से उसकी रक्षा करें क्योंकि मृगयाव्याज से विहारी दुष्यन्त पास में ही आगया है, मृग व शकुन्तला दोनों ही जैसा कि दुष्यन्त कहता है, आरण्यक हैं **"द्वावपि युवामारण्यकौ"**। भ्रमर का प्रसंग तो दुष्यन्त का लक्ष्य करता ही है, यही भ्रमर हंसपदिका के उपालम्भ का भी विषय है और इसी प्रकार अन्यत्र भी, पर ऋषीजन रक्षा का प्रयत्न भले ही कर लें दुष्यन्त जैसे राजा से रक्षा तो क्या हो सकती थी फलतः वे आश्रम मृगी को न बचा सके। इसी प्रकार प्रथम अंक के अनेकों संकेत अन्य अंकों में प्रति फलित होते हैं। पंचम अंक में हंस पदिका का गीत तो न केवल इसीलिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है कि उससे कवि ने शकुन्तला के भावी प्रत्याख्यान की सूचना दी है अपितु उसमें पिछले अंकों की कथावस्तु का सूक्ष्म सिंहावलोकन भी है और राजा की भ्रमर वृत्ति का निदर्शन भी। इतना ही नहीं कवि ने इस गीत के द्वारा यह भी सूचित किया है कि राजा की ऐसी अनेक क्षणिकलब्धसंगमा प्रेमिकायें हैं जो कि क्षणिक सौभाग्य की स्मृति लेकर ही प्रत्याख्यान के अन्धकार में विलीन हो एकान्त में पड़ी जीवन काट रही हैं और राजा अपने राजोचित कार्यों में व्यस्त होकर उन्हें भूल गया है। राजा के इस स्वभावसिद्ध चपल प्रणय की ओर सूक्ष्म संकेत कर कवि ने अपने निपुण नाट्य कौशल द्वारा दुर्वासा के शाप की स्वाभाविकता एवं महत्ता प्रकट की है और दिखलाया है कि शाप प्रसंग का बीज वस्तुतः राजा के स्वभाव से ही विद्यमान था। इस प्रकार सहृदय प्रेक्षक हंस-

पदिका के सरल एवं कारुणिक गीत से ही शकुन्तला के क्रूर प्रत्याख्यान का प्रथम ही आभास पा जाता है। इसी प्रकार इन्द्र के सत्कार का स्मरण कर राजा का चकित होना और हर्ष प्रकट करना उसके भावी पत्नी-पुत्र समागम जन्य आश्चर्य एवं हर्ष का द्योतक है। शाकुन्तल में ऐसे ही अनेक स्थल हैं जहाँ कवि ने किसी घटना विशेष के लिए अपनी अद्भुत ध्वन्यात्मक शली द्वारा उपयुक्त वातावरण पहिले से ही प्रस्तुत कर दिया है। इन सब प्रेम प्रसंगों द्वारा ही नहीं अपितु कण्वशिष्य के दार्शनिक कथन एव प्रभात वर्णन द्वारा भी शकुन्तला के भावी प्रत्याख्यान एवं उसकी असह्य विरह वेदना की भी सूचना दी है **"यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीनाम् अर्न्ताहिते शशिनि सैव कुमुद्वती मे"** यह द्वितीय श्लोक सम्राट चन्द्रगुप्त की ओर भी संकेत कर रहा है। इतना सुन्दर ध्वन्यात्मक कौशल कालिदास जैसे रस सिद्ध महाकवि में ही देखने को मिल सकता है, 'शाकुन्तल' का प्रत्येक शब्द अभिधेयार्थ के अतिरिक्त एक दूसरा प्रतीयमानार्थ भी रखता है, इसमें सन्देह नहीं।

रसव्यञ्जना

कालिदास मूलतः श्रृङ्गार के कवि हैं इसमें सन्देह नहीं, पर श्रृङ्गार के विषय में कालिदास का दृष्टिकोण भिन्न है। उनके तीनों ही नाटक इसी प्रकार के भिन्न दृष्टिकोण के श्रृङ्गार को लेकर चलते हैं। पिछले दो नाटकों में आयुष् तथा भरत की पात्र योजना कर एवं शाकुन्तल में सर्वदमन की उत्पत्ति दिखला कर कवि ने पुत्रोत्पत्ति को ही सफल श्रृङ्गार माना है, कवि की दृष्टि में पुत्रोत्पत्ति रहित श्रृङ्गार केवल वासना है, उनका लक्ष्य है **"प्रजायै गृहमेधिनाम्"** कालिदास के प्रणय की सार्थकता विवाह में और विवाह की सार्थकता सन्तानोत्पत्ति में है। वे सफल एवं ऐन्द्रिय श्रृंगार को वासना कहते और हेय मानते हैं, इसी आदर्श श्रृंगार का वर्णन शाकुन्तल में है, यद्यपि इसमें प्रधान रस श्रृंगार है तथा अन्य वीर, वात्सल्य, करुण, अदभुत, शान्त आदि रसों का भी यथा स्थान वर्णन मिलता है पर वे सब श्रृंगार के अंग के रूप में संयोजित किये गये हैं। श्रृंगार के संयोग और विप्रलम्भ दोनों पक्षों का वर्णन है। श्रृंगार के बाद करुण तथा शान्त रसों का भी सुन्दर चित्रण है। यद्यपि 'शाकुन्तल' के प्रथम तीन अंकों में श्रृंगार का ही साम्राज्य है तथापि प्रसंगतः अन्य रस भी देखे जा सकते हैं। प्रथमांक में राजा के शरनिपात के भय से भागते हुए मृग के दृश्य में तथा गज द्वारा किये गये विध्वंस के वर्णन में 'भयानक रस' "चलापाङ्गां दृष्टि मित्यादि में 'श्रृंगार रस' द्वितीयांक में विदूषक की उक्तियों में हास्य, तृतीय में श्रृंगार के दोनों पक्षों का तथा राक्षसों के द्वारा उपस्थापित विघ्न वर्णन में भयानक रस का सुन्दर चित्रण है। चतुर्थाङ्क में आकाशवाणी एवं वनदेवताओं द्वारा प्रदत्त वस्त्रा भूषण वर्णन में यद्यपि अद्भुत रस है पर इस अंक में प्रधानता करुणरस की ही है। "उद्गलित दर्भकवला, यास्यत्यद्य शकुन्तलेति" आदि इसके उदाहरण हैं। सम्पूर्ण अंक करुण रस से आप्लावित है। पंचम में हंस पदिका के गीत में करुण श्रृंगार तथा शकुन्तला के दुष्यन्त के साथ वाक्कलह में रौद्र, शकुन्तला की असहाय दशा के चित्रण में करुणा तथा अप्सरा द्वारा उसके ले जाने के वर्णन में अद्भुत रस है। इस प्रकार इस अंक में कई रसों का पुट देखा जाता है, यद्यपि ये सब प्रधान रस के अंग हैं। षष्ठ में करुण एवं श्रृंगार का पूर्ण परिपाक देखा जाता है। अन्त में अद्भुत, करुण, एवं वात्सल्य रस हैं पर नाटक की समाप्ति प्रशान्त रस में देखी जाती है। इस प्रकार श्रृंगार के प्रधान होते हुये भी शाकुन्तल में प्रायः सभी मुख्य रसों का समावेश देखा जाता है।

ये सब कवि की अनुभूति पक्ष एवं कला पत्र की विशेषतायें हैं। किसी भी दृष्टि से देखें, कालिदास की यह कृति अद्वितीय है।

कालिदास की नाट्यकलानिपुणता के सम्बन्ध में अन्य विशेषतायें भी हैं जिन को यहाँ स्थानाभाव के कारण न लिखकर परिशिष्ट में इन पर विचार किया गया है, पाठक वहीं देखें।

: श्री :

महाकविकालिदासविरचितम्

अभिज्ञानशाकुन्तलम्

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
यामाहुः सर्ववीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः ॥ १ ॥

या सृष्टि रीति—महाकविकुल-शिरोमणि कालिदास, प्रस्तुत श्लोक द्वारा, निर्मिमित्सित अभिज्ञान शाकुन्तलाख्य नाटक की निर्विघ्न परिसमाप्ति की अभिलाषा से, "रङ्गविघ्नोपशान्त्यर्थ नान्दीमादौ प्रयोजयेत्" इस कथन के अनुसार, **परमेश्वर नाम सङ्कीर्तन रूप, आशीवर्चन संयुक्त अष्टपदात्मिका नान्दी** (मङ्गलाचरण) प्रस्तुत करते हैं :—

व्याख्या—भगवान शिवजी की 'जलमयी मूर्ति' जो कि ब्रह्मा की सर्वप्रथम सृष्टि है। "अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमवासृजत्" मनु० ३-८ के अनुसार ब्रह्मा ने सृष्टि आरम्भ करते समय सर्व प्रथम जल को बनाया)। या च विधिहुतं हविः वहति अर्थात् शिव की वह अग्निमयी मूर्ति जो कि वैदिक विधानानुसार हवन की हुई सामग्रियों को (जो जिन जिन देवताओं के लिये हवन की जाती है उन्हें) उन देवताओं के पास पहुँचाती है। शिव जी की जो मूर्ति स्वयं होत्री अर्थात् यजमान स्वरूपा है। शिवजी की वे सूर्य चन्द्र रूपिणी दो मूर्तियाँ जो दिन रात्त करती रहती हैं (जिनसे मास, ऋतु, वर्ष आदि काल का विधान होता है)। शिवजी की वह श्रवणेन्द्रिय विषयीभूत (ग्राह्य) शब्द रूप गुण का आश्रयभूता आकाशमयी मूर्ति जो कि सारे विश्व में व्याप्त होकर विद्यमान रहती है। शिवजी की वह क्षितिमयी मूर्ति जो सब प्रकार के अन्नादि बीजों की उद्भवस्थान कही गई हैं तथा वह वायुमयी मूर्ति जिससे सब प्राणी (शरीरी चेतन जगत्) जीवन धारण कर सामर्थ्यवान् रहते हैं। इन उपर्युक्त प्रत्यक्ष दृश्यमान अष्टमूर्तियों से युक्त ईश (भगवान् शिव) आप लोगों (सभ्य सामाजिकों) की रक्षा करें। अर्थात् जलरूप, अग्निरूप, यजमानरूप, सूर्यरूप, चन्द्ररूप, आकाशरूप, पृथ्वीरूप एवं वायुरूप अष्टमूर्तियों से विशिष्ट अष्टमूर्ति शिव सभासदों एवं नटादिकों की रक्षा करें अर्थात् सब का कल्याण करें।

विशेष

प्रत्यक्षाभि—इस पद से केवल चाक्षुष प्रत्यक्ष का ही ग्रहण नहीं किया गया है क्योंकि जल, अग्नि, यजमान, सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी रूप मूर्तियों का चाक्षुष प्रत्यक्ष होने पर भी वायु एवं आकाश रूप मूर्तियों का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, अतः वायु का त्वगिन्द्रिय जन्य स्पार्शन प्रत्यक्ष एवं श्रोत्रेन्द्रिय-ग्राह्य शब्द गुण के आश्रयभूत आकाश का औपचारिक प्रत्यक्ष ग्रहण किया जायेगा।

तनुभि—इस पद में तनु शब्द से यदि अणु और उससे अणिमा शक्ति का ग्रहण किया जाय तथा तनुभिः इस बहुवचन निर्देश से यदि अणिमा आदि अथ लिया जाय तो उक्त श्लोक का अर्थ निम्नलिखित प्रकार से भी किया जा सकता है :

"जल आदि उन प्रसिद्ध मूर्तियों से और (एकश्चकारः सर्वसमुच्चये) इस न्याय से अणिमा आदि अष्टमूर्तियों से प्रपन्नः=सेवित ईश आप लोगों की रक्षा करें। **अणिमा आदि अष्टमूर्तियाँ "अणिमा महिमा चैव लघिमा गरिमा तथा, ईशित्वं च वशित्वं च प्राकाम्यं प्राप्ति रेव च"**

नान्दी—**नन्दन्ति काव्यानी कवीन्द्रवर्गाः, कुशीलवाः पारिदाषश्च सन्तः यस्मादलं सज्जनसिन्धुहंसीं तस्मादियं सा कथितेह नान्दी। अथ च "आशीर्नमस्क्रियारूपः श्लोकः काव्यार्थसूचकः, नान्दीति कथ्यते"** नान्दी के इस लक्षण एवं पदव्युत्पति के अनुसार नान्दी श्लोक में न केवल आशीर्नमस्क्रिमात्मक मङ्गल ही होनी चाहिए वरन् उसमें काव्यार्थ (अभिधेय, कथावस्तु) की सूचना भी होनी चाहिए, जैसा कि साहित्य दर्पण में कहा गया है, **"रंग प्रसाद्य मधुरैः श्लोकैः काव्यार्थसूचकैः** अर्थात् नान्दी श्लोक द्वारा कथावस्तु की सूचना भी दी जानी चाहिए, अथवा **'या सृष्टि'** इस उक्ति क्रम से ही अष्ट संख्या की प्राप्ति हो जाती है तो फिर अष्टिाभिः यह संख्या कथन व्यर्थ है। इस प्रकार वह **सूच्यार्थ** (**अर्थात्** अभिधेय वस्तु) की सूचना देने के लिए कल्पित किया जाता है (अतएव **अष्टाभि : यह** पद अर्थ पुनरुक्ति परक नहीं है। कवि ने सूच्यार्थ के लिए ही इसे प्रयुक्त किया है) **इस दृष्टि** से **उक्त** श्लोक का अर्थ इस प्रकार होगा :

'या सृष्टिः स्रष्टुराद्या अर्थात् ब्रह्मा की सर्वप्रथम सृष्टि **शकुन्तला, क्योंकि अब तक** इतनी सुन्दर सृष्टि नहीं हुई थी अतः शकुन्तला रूप सृष्टि ही ब्रह्मा की आद्या सृष्टि हैं क्योंकि वह सौन्दर्यातिशयशालिनी है, **या विधिहुतं हविः** अर्थात् जो (शकुन्तला) विधि (सुरतविधि) से हुत (निषिक्त) हविः (वीर्य) वहति (धारणा करती है) अर्थात् शकुन्तला का गर्भ, **या च होत्री** अर्थात् हवन कर्त्ता कण्व मुनि **अथवा** 'या सृष्टि' इस पद से सर्वपात्रशिरोमणि होने के कारण कण्व का ग्रहण है, द्वितीय पद "या विधिहुतं" के दुष्यन्त वितरित वीर्य धारणकर्त्री शकुन्तला तथा तृतीय पद **"या च होत्री" से** यज्ञानुष्ठानादिकर्ता दुष्यन्त का ग्रहण **"ये द्वे कालं विधत्तः"** इस पद से काल अर्थात् शापान्त समय बतलाने वाली अथवा दुष्यन्त के वीर्य-निक्षेप समय का सम्पादन करने वाली **प्रियम्वदा** तथा **अनुसूया** का नाम की दो सखिलों का ग्रहण है **"श्रुतिविषयगुणा या"** इत्यादि पद से शकुन्तला का तिरोधान सूचित होता है "श्रुतिविषयगुणाया" यह एक पद है अर्थात् श्रुति (वार्ता) विषय (देश) गुण **अर्थात्** गुणत्रय रूप शार्ङ्गरव शारद्वत एवं गौतमी इनसे विशिष्ट शकुन्तला का दुष्यन्त द्वारा देश गमन भी सूचित होता है जो कि शकुन्तला पातिव्रत्यादि तथा सौन्दर्यादि गुणों से विश्व को व्याप्त करके स्थित है अथवा विश्वं व्याप्य स्थिता से गगन सम्पर्किणी **सानुमती की सूचना** है। अथवा **विश्वं व्याप्य** अर्थात् **सकलं विलङ्घ्य स्थिता** से कश्यपाश्रमनिवास की सूचना है। **"यामाहुः"** इस पद से सर्व जीवों के उत्पत्ति स्थान अदिति कश्यप की **सूचना है** अथवा 'नामैकदेशे नामग्रहणात **सर्वदमन** नामक (शकुन्तला पुत्र भरत) बीज का उत्पत्ति कारण **अर्थात्** शकुन्तला से भरत की उत्पत्ति या स्वयं **सर्वदमन** भरत की सूचना है। **"यया प्राणिनः"** इस पद से दुष्यन्त के साथ शकुन्तला एवं भरत का पुनः अपने राज्य में लौटना सूचित होता है। क्योंकि उनके लौटकर आने पर सभी प्रजा-जन प्रसन्न हुए थे। **अथवा इस** पद से सब ही पूर्वापर निर्दिष्ट **सूत विदूषकादि** पात्रों की सूचना है क्योंकि सभी प्राणियों को वायु से प्राणत्व लाभ होता है। इस प्रकार कवि ने लगभग सभी मुख्य पात्रों व कथावस्तु की, प्रस्तुत श्लोक द्वारा, सूचना दी है।

साहित्य दर्पण में नान्दी के लक्षण द्वारा यह बतलाया गया है कि नान्दी द्वारा न केवल देवस्तुति की जाती है वरन् नृप गुरु आदि की भी स्तुति की जाती है और उसमें शङ्ख चन्द्र आदि माङ्गलिक वस्तुओं का परिगणन होना चाहिए यथा—

आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुति 'यस्मात् प्रयुज्यते (इष्टार्थस्य आशंसनम् आशी:) **देवद्विज नृपादीनां तस्मानान्वीति सञ्ज्ञिता ।**

माङ्गल्यशङ्खचन्द्राब्जकोककैरवशंसिनी,
पदैर्युक्ता द्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैरुत । इति ।

इस लक्षण के अनुसार नान्दी में नटों द्वारा देव, द्विज, नृप, गुरु आदि की स्तुति भी की जाती है। स्तुति का अर्थ है गुण प्रशंसिनी वाणी क्योंकि नट इसी गुण प्रशंसिनी वाणी से आनन्द उत्पन्न करते हैं। अतः इसे नान्दी कहते हैं (नन्दयति स्तुत्या देवादीन् इति, नन्दयतीति नन्दा, इनन्त नन्द धातोः पचादित्वात् अच् ततः प्रज्ञादिभ्यश्चेति स्वार्थे अण् ततः ई प्रत्ययः नान्दी) इस दृष्टि से श्लोक का अर्थ इस प्रकार होगा :

ताभिः प्रत्यक्षाभिः तनुभिः प्रपन्नः ईशः वः अवतु इस पाद से प्रजारक्षक गोद्विजादि हित परायण दुष्यन्त की सूचना और उनकी स्तुति भी है क्योंकि दुष्यन्त शरीरधारी हैं। उनके शरीर का निर्माण अन्य शरीरों की भाँति ही जल, अग्नि, पृथ्वी, आकाश, वायु इन पंचतत्वों से ही हुआ है अतः इस प्रकार वे इन पंचमूर्तियों से विशिष्ट हैं, दुष्यन्त यज्ञानुष्ठान करने वाले भी हैं अतः वे यमजान रूप भी हैं, एवं विशिष्ट तेजस्वी होने के कारण सूर्य तथा प्रजा-जन रंजक होने के कारण चन्द्र रूप भी हैं अतः इन अष्टमूर्तियों से सेवित ईशः=अर्थात् प्रभु दुष्यन्त तुम्हारी रक्षा करें। अथवा राजा अष्टलोकपालों **"अग्नि वायु यम सूर्य इन्द्र वरुण चन्द्र कुबेर"** के अंश से उत्पन्न होता है अतएव अष्टमूर्ति दुष्यन्त यह अर्थ भी ग्रहण किया जा सकता है।

नान्दी के लक्षण में चन्द्राब्जादि का परिगणन करना आवश्यक बतलाया गया है अतः श्लोक में 'चन्द्र' का परिगणन भी है। जैसा कि कहा भी गया है **"चन्द्रायाङ्किता कार्या सा रसानां यतो निधि :"**

नाट्यशास्त्र के प्रथमाध्याय में भरत मुनि ने लिखा है :

"पूर्वं कृता मया नान्दी आशीर्वचनसंयुता,
अष्टाङ्गपदसंयुक्ता प्रशस्ता वेदसमता
सूत्रधा : पठेन्नान्दीं मध्यस्वरमाश्रितः
नान्दीं पदैर्दशभिरष्टाभिर्वाप्यलंकृताम्

अर्थात् नान्दी या तो **अष्टपदात्मिका** होनी चाहिये अथवा **द्वादश पदात्मिका** । परन्तु **'पद'** से क्या अर्थ लिया जाय इस विषय में भिन्न-भिन्न मत हैं—

"श्लोकपादः पदं केचित्सुप्तिङन्त मथा परे
परेऽवान्तरवाक्यैकस्वरूपं पदमूचिरे"

अर्थात् श्लोक का एक एक पाद भी पद है, सुवन्त और तिङन्त पद (रामः, गच्छति, आदि) भी पद हैं और श्लोकान्तर्गत एक एक वाक्य भी एक एक पद है। इस प्रकार प्रस्तुत श्लोक में अवान्तरवाक्यैक स्वरूप ही पद का ग्रहण किया गया है अर्थात् प्रस्तुत श्लोकान्तर्गत "या सृष्टि :, १ या·······बहति २, या च होत्री ३ ये द्वे·······विधत्तः ४ श्रुति·······विश्वम् ५ याम्·······आहुः, ६ यया·······प्राणवन्तः ७ प्रत्यक्षाभिः·······ईश. ८" इन वाक्यों को ही "पद" से ग्रहण किया गया है अतएव यह **नान्दी अष्टपदात्मिका नान्दी** है।

यह नान्दी पत्रावली संज्ञक नान्दी है जैसा कि **नाट्यदर्पण** में कहा गया **है :**

यस्यां बीजस्य विन्यासो ह्यभिधेयस्य वस्तुतः
श्लेषेण वा समासोक्त्या नान्दी पत्रावली तु सा ।

अर्थात् जिस नान्दी में अभिधेय कथा वस्तु के, श्लेष अथवा समासोक्ति के द्वारा बीज का विन्यास किया जाता है उसे पत्रावली नामक नान्दी कहा जाता है । प्रस्तुत नान्दी श्लोक में उपर्युक्त निर्देशानुसार कथा बीज की सूचना मिल ही जाती है ।

व्याकरण—सृष्टि=सृज् विसर्गे क्तिन्, व्रश्चेति जकारस्य षत्वे ष्टुत्वेन तस्य टकारे, सृष्टुः=सृज्+तृच् षष्ठ्येकवचने, आदौ भवः आद्यः स्त्रीलिङ्गविवक्षायां टाप् प्रत्ययः आद्या, विधिना हुतम् विधिहुतम् । विधि शब्दे उपसर्गे धोः कि इत्यनेन वि+धा से कि प्रत्ययः, हुतम् इत्यत्र हु धातोः क्त प्रत्ययः, हविष् शब्द से द्वितीया एक वचन में हविः, जुहोतीति होत्री, हु+तृच् स्त्रीलिङ्गे ङीप्, विधत्तः—वि+धा धातु, श्रुतेः श्रवणस्य विषयः (श्रुतिग्राह्यः) शब्दः स एव गुणो यस्याः सा श्रुतिविषयगुणा अथवा श्रुतेः श्रवणेन्द्रियस्य विषयः गोचरः गुणः शब्दाख्यः यस्याः सा, सूच्यार्थ पक्षे श्रुतिविषयगुणाया इत्येक पदम् आश्रित्य विषये (देशे, गुणैः अयते इति श्रुतिविषयगुणाया, स्थिता—व्याप्त—स्था+क्त, वि+आप्+त्वा—ल्यप, सर्वेषां बीजानां प्रकृतिः-उत्पत्तिस्थानम् सर्वबीजप्रकृतिः याम् आहुः, "इति" इस निपात से कर्म के उक्त हो जाने से "प्रकृतिः" यहाँ पर प्रथमा विभक्ति हुई है क्योंकि "उक्ते कर्मणि प्रथमा" होती है, प्राणिनः प्राणवन्तः "प्राणी तु चेतनो जन्मी" इत्यमरः अतः प्राणिनः= शरीरिणः इत्यर्थः रुढ़ि द्वारा सामान्य का उद्देश्य करके प्राणवन्तः इस विशिष्ट का विधान किया गया है अन्यथा प्राणिनः प्राणवन्त इस कथन में पुनरुक्ति दोष हो जाता । प्राणवन्तः यहाँ पर मतुप प्रत्यय है अतः प्राणवन्तः=जीववन्तः बलवन्तश्च, प्र+पद्+क्त, तकारस्य नत्वादेशः=प्रपन्नः, वः=युष्मान् ।

संस्कृत व्याख्या—प्रस्तुतश्लोके तत्र भवान् कालिदासः निर्मिमित्सिताभिनवाभिज्ञान-शाकुन्तलाख्यनाटकस्य निर्विघ्नपरिसमाप्ति मभिलषन् "रङ्ग-विघ्नोपशान्त्यर्थं नान्दी मादौ प्रयोजयेत्" इति वचनात् शिवनामसंकीर्तनरूपां पूर्वरङ्गाङ्गभूतां आशीर्वादात्मिकां देवद्विज-नृपादिस्तुतिसम्वलितां वस्तुनिर्देशपरामष्टपदात्मिकां नान्दीं निर्दिशति ।

या तनुः—मूर्तिः, स्रष्टुः—बेधसः 'स्रष्टा प्रजापति र्वेधाः इत्यमरः' जगन्निर्माणकर्तुः परमेश्वरस्य ब्रह्मणः, आद्या—प्रथमा, सृष्टिः—सर्गः—रचना—ब्रह्मणा सर्वप्रथमं रचिता जलमयी मूर्तिरित्यर्थः, यथाह मनुः—

'सोऽभिव्याप्य शरीरात्स्वात् सिसृक्षु विविधाः प्रजाः
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ।

या मूर्तिः विधिना—कल्पसूत्रगृह्यसूत्रावबोधितविधानेन—श्रुति स्मृतिविहितविधानेन वा हुतं—दत्तं—तत्तद्देवतोद्देशेनानले प्रक्षिप्तं हवि—हवनीयद्रव्यजातम् आज्यादिकं वहति—आदत्ते—यजमानस्य स्वर्गादिफलप्राप्त्यर्थ देवान् प्रापयति वा वह्निमयी मूर्ति रित्यर्थः तथा च श्रुतिः 'इहैवायमितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्यं बहतु प्रजानन्' अग्निमुखा हि देवा इति च, अतएव देवाः बह्निमुखा उच्यन्ते, वह्निः अग्निः तथा चान्यत्रापि—

अग्नौ प्रास्ताऽऽहुतीः सर्वा आदित्य मुपतिष्ठते,
आदित्याज्ज्यायते वृष्टिःवृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ।

वह्नि रित्यत्र औणादिकः नि प्रत्ययः, वहति शब्देन आदानं लक्ष्यते आधाराधेयसम्बन्धा-श्रयणात् तेन फलपर्यन्तताप्रापणञ्च व्यज्यते । हुतं हविः अत्र नार्थपौनरुत्यं शक्यम् विधिहुत-मित्युक्तत्वात् ।

(नान्द्यन्ते)

सूत्रधार :—(नेपथ्याभिमुखमवलोक्य ।) आर्ये ! यदि नेपथ्य विधानमवसितम्, इतस्तावदा गम्यताम् ।

या च तनुः जुहोतीति होत्री—हवन कर्त्री यजमान रूपा इत्यर्थः। ये द्वे काल अहोरात्रप्रवर्टनात् मासतु वर्षादिकं समय विधत्तः कुरुतः, चन्द्राकौ इत्यर्थ :—

या मूर्तिः—श्रुतेः—श्रवणेन्द्रियस्य विषयः शब्दाख्यः स एव गुणो यस्याः सा तथोक्ता (श्रुतिविषयगुणा) श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यशब्दाख्यविशेषगुणशालिनीति यावत् आकाशमयीति यावत् तथा चाह :—

"आकाशस्य तु विज्ञेयः शब्दो वैशेषिको गुणः" विश्वं जगद् व्याप्य अवष्टभ्यसम्बद्ध्य वा स्थिता— विद्यमानास्ति आकाशरूपेत्यर्थः

यां मूर्तिम्—सर्वबीजप्रकृतिः इति विद्वाँस आहुः

अर्थात् या तनुः सर्वविधशस्याद्यङ्कुरयोनिरस्ति, पृथ्वीरूपेति भावः, इतिना कर्मणः उक्तत्वात् प्रकृतिरिति प्रथमा । पृथिवी सर्वधान्यादिशस्याद्यङ्कुराद्युत्पादने कारणमिति सर्वविदितम् ।

यया मूर्त्या प्राणिनः—शरीरिणः प्राणवन्तः जीवनवन्तः प्राणादिवायुपञ्चकेन चैतन्यभाजः भवन्तीत्यर्थ. वायुरूपेत्यर्थः, 'प्राणी तु चेतनो जन्मी जन्तु जन्यु शरीरिणः इत्यमरः। रूढ्या सामान्य मुद्दिश्य प्राणवन्तः इति विशिष्टस्य विधानम् अन्यथा पर्यायोच्चारणे एकस्य पौनरुक्त्यं स्यात् । प्राशस्त्ये चात्र मतुप्, प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च वायव, इत्यमरः । ताभिः प्रत्यक्षाभिः अष्टाभिः तनुभिः—मूर्तिभिः प्रपन्नः ईशः वः—युष्मान् अवतु—रक्षतु, शुभोदयेन योजयतु, भद्रं वितरतु च सर्वेभ्यः । विष्णु-पुराणे ईशस्याष्टमूर्तयः "सूर्यो जलं मही वह्नि र्वायुरा काशमेव च । दीक्षितो ब्राह्मणः सोमः इत्येतास्तनवः स्मृताः ।

अलंकार—प्राणिनः प्राणवन्तः में यद्यपि आपाततः पुनरुक्तता प्रतिभासित होती है तथापि "प्राणी तु चेतनो जन्मी" इस कोशवचन से प्राणिसद से शरीरी अर्थ ग्रहण करने से, तथा भिन्नाकर शब्दगत होने से एवं उद्देश्य विधेय होने से दोनों में भेद है । अतः पुनरुक्ति न होकर **पुनरुक्तवदाभास** अलंकार है ।

यथाह दर्पणकृत् "आपाततो यदर्थस्य पौनरुक्त्यावभासनम् ।
पुनरुक्तवदाभासः स भिन्नाकारशब्दजः ॥

यद्यपि श्रुतिविषयगुणा इस पद से आकाश रूप अर्थ की प्रतीति में कालक्षेप होने से **क्लिष्टत्व दोष** है तथापि 'वितथरगुणा' इत्यादि पाठ स्वीकार से दोष का परिहार किया जा सकता है ।

स्रष्टुः सृष्टिः, वहति हुतम् प्राणि प्राप्नोति भिरभिरित इत्यादि में **छेकानुप्रास** है, तथा सब वाक्यों में **वृत्यनुप्रास** है और इन दो अलङ्कारों में एक वाचकानुप्रवेशलक्षण **संकर** है। **वृत्यनुप्रास** भी है, धराम्भोग्नि मरुदित्यादि न कहकर जो या स्रष्टुः इत्यादि रूप से कहा गया है अतः इससे अतिशयित्व ध्वनित होता है अतएव **परिकरालंकार भी व्यंजित** होता है।

या इत्यादि सर्वत्र स्त्रीलिंग निर्देश करने से तथा तनुभिः पद से कृशाभिः अर्थ ग्रहण करने से **समासोक्ति अलंकार** द्वारा अष्टनायिका युक्त नायक व्यवहार समारोपण **शृंगार रस भी व्यंजित** होता है ।

छन्द—स्रग्धरा "म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्" इस लक्षण से **अर्थात्** जिस छन्द में क्रमशः मगण रगण भगण नगण और तीन यगण इस क्रम से २१ वर्ण हों और सात-सात वर्णों पर विराम हों वह स्रग्धरा छन्द कहलाता है । अतः इस लक्षण

के अनुसार उपर्युक्त श्लोक में "या सृष्टिः । सृष्टुरा । द्या व ह । ति वि धि । हु तं या । ह वि र्या । च हो त्री । ७ गण हैं ।

इन सप्तगणों से ही कवि ने नाटक के **सप्त अंकों की सूचना दी है ।** इस श्लोक के नान्दी होने के कारण ही पहले इसमें **मगण का प्रयोग है क्योंकि** "क्षेमं सर्वगुरुर्दत्ते मगणो भूमि दैवतः" ऐसा कहा गया है ।

कवि ने यहाँ सब रीतियों में मुख्य **वैदर्भी रीति** का आश्रयण किया है जैसा कि वामन ने कहा है :

अस्पृष्टा दोषमात्राभिः समग्रगुणगुम्फिता
विपञ्चीस्वरसौभाग्या वैदर्भी रीति रिष्यते ।

नान्दी का लक्षण पहिले लिखा जा चुका है, यह नान्दी नाटक के आदि में प्रयुक्त होती है और वह पूर्व रंग का ही एक अंग मानी जाती है । अतः यह जानना आवश्यक है कि नाटक क्या है और **पूर्वरंग, रंग, रंगद्वार,** आदि पारिभाषिक शब्दों का क्या अर्थ है ।

'दशरूपक' के अनुसार **"अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्"** अर्थात् अवस्था के अनुकरण को ही नाट्य कहते हैं । तात्पर्य यह है कि जहाँ काव्य में निबद्ध या गणित धीरोदात्त आदि (धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित, धीरप्रशान्त) नायकों (तथा तत्तत् प्रकृति गत नायिकाओं तथा अन्य पात्रों) का कायिक वाचक आहार्य एवं सात्विक इन चार ढंग के अभिनयों के द्वारा अवस्थानुकरण किया जाता है वह नाट्य है । अवस्थानुकरण से तात्पर्य है कि जहाँ **शारीरिक** अभिनयों से (हस्त पाद नेत्रादि संचालन), **वाचिक** अभिनयों (आलाप गीत वार्ता आदि) **आहार्य अभिनयों** (वेष भूषा आदि) एवं **सात्विक भावों** (हर्ष लज्जा चिन्ता शोकादि) के अभिनयों द्वारा पात्रों की प्रत्येक अवस्था का इस खूबी के साथ अनुकरण किया जाय कि अनुकर्ता नटों में और पात्रों में कोई अन्तर प्रतीत न हो अर्थात् दोनों में (अनुकार्य व अनुकर्ता से) **तादात्म्य** की प्रतीति होने लगे । नट दुष्यन्त आदि की प्रत्येक अवस्था का ऐसा अनुकरण करे कि सामाजिक नट को नट न समझ कर दुष्यन्त आदि समझने लगें ।

रूपं दृश्यतयोच्यते—अर्थात् दृश्य होने के कारण वही नाट्य रूप कहा जाता है, नाट्य रंगमंच पर अभिनीत भी होता है (केवल पढ़ा या सुना ही नहीं जाता) अतः वह देखे जाने के कारण रूप भी कहलाता है जिस प्रकार नील पीत आदि रंग चक्षुरिन्द्रिय का विषय होने से "रूप" कहे जाते हैं उसी प्रकार चक्षुरिन्द्रिय का विषय होने से नाटक भी "रूप" है ।

रूपकं तत्समारोपात्—अर्थात् नाट्य रूप को रूपक भी कहते हैं क्योंकि इसमें आरोप पाया जाता है जैसे रूपकालंकार में मुख पर चन्द्र का आरोप किया जाता है और मुखचन्द्र कहा जाता है उसी प्रकार नाट्य में नट दुष्यन्तादि पात्रों का आरोप किया जाता है अतएव इसे रूपक भी कहते हैं अतः नाट्य, रूप, रूपक ये तीनों पर्याय हैं ।

रसों पर आश्रित ये रूपक या नाट्य दस प्रकार के होते हैं :

नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः,
व्यायोगसमदकारौ वीथ्यङ्केहामृगाः ईति ।

इन दस भेदों में नाटक प्रथम भेद है । नाटक का लक्षण :

प्रख्यातवस्तुविषमं धीरोदात्तादिनायकम् ।
राजर्षिवंशचरितं तथा दिव्याश्रयान्वितम् ॥
युक्तं वृद्धिविलासाद्यैगु र्णैर्नानाविभूतिभिः ।
शृङ्गारवीरान्यतर प्रधानरससंश्रयम् ॥
प्रकृत्यवस्थासन्ध्यङ्गसन्ध्यन्तरविभूषणैः ।

पताकास्थानकैर्वृत्तं पतङ्गैश्च प्रवृत्तिभिः ॥
नाट्यालंकरणैर्नानाभाषायुक् पात्रसंचयैः ।
अङ्कप्रवेशकैराढयं रसभाव समुज्ज्वलम् ॥
सुखदुःखोत्पत्तिकृतं चरितं यच्च भूभृताम् ।
इतिवृत्तं कथोदभूतं किञ्चिदुत्पाद्य वस्तु च ॥
नाटकं नामः तज्जेयं रूपकं नाट्यवेदिभिः ॥ मातृगुप्ताचार्याः ॥

इस नाटक के पूर्व में पूर्व रंग का विधान है जैसा कि नाट्यशास्त्र के पञ्चमाध्याय में कहा गया है "यस्माद्रङ्ग प्रयोगोऽयं पूर्वमेव प्रयुज्जते, तस्मादयं पूर्वरंग : अर्थात् क्योंकि इसका विधान नाटक के आरम्भ के पूर्व ही किया जाता है अतएव वह पूर्व रंग कहा जाता है। विश्वनाथ ने भी कहा है—

"यन्नाट्यवस्तुनः पूर्वं रंगविघ्नोपशान्तये,
कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरंगः स उच्यते।
प्रत्याहारादिकान्यङ्गन्यस्य भूयांसि यद्यपि ॥
तथाप्यवश्यं कर्तव्या नान्दी विघ्नोपशान्तये ।

अर्थात् नाटकीय कथावस्तु के आरम्भ के पूर्व रंगशाला के विघ्नों की शान्ति के लिए नटादि जो करते हैं वह पूर्व रंग कहा जाता है, यद्यपि प्रत्याहारादि इस पूर्व रंग के अन्य २२ अंग होते हैं तो भी विघ्नों के शमनार्थ सर्वप्रथम नान्दी करना चाहिये शेष अंग कवि अपनी इच्छानुसार करे या न करे। अतः सिद्ध है कि नान्दी पूर्व रंग का अंग है और वह सर्वप्रथम अवश्य की जानी चाहिए।

"दश रूपक" की 'पूर्वरंग' कारिका की व्याख्या में पूर्वरंग की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है 'पूर्वं रज्यते अस्मिन्निति पूर्वरंगः नाट्यशाला' अर्थात् जिसमें सामाजिकों को पहिले आनन्द मिले इस प्रकार पूर्वरंग से तात्पर्य नाट्यशाला से है, नाट्यशाला में नाटकादि रूपक के आरम्भ में जो औपचारिक क्रिया मंगलाचरण देवतास्तवनादि की जाती है उसे पूर्वरंगता (पूर्व रंग का काम) कहते हैं। इस पूर्व रंग के २२ अंग होते हैं इसमें नान्दी पर्यन्त उत्थापनादि १२ अंग होते हैं अतएव नान्दी भी पूर्वरंग का ही अंग है। वस्तुतः पूर्वरंग आमुख पर्यन्त चलता रहता है। इसके बीच में होने वाले सभी कार्य पूर्वरंग कहे जा सकते हैं क्योंकि नान्दी के बाद पूर्व रंग के ही प्ररोचनादि दश अंगों का वर्णन है।

अतः संक्षेपतः पूर्वरंग का अर्थ है 'नाटकीय कथा वस्तु के आरम्भ होने से पूर्व तक अर्थात् प्रस्तावना या आमुख पर्यन्त जो कुछ कार्य नटों द्वारा किया जाता है वह सब पूर्वरंग के ही अन्तर्गत आता है।' अतः नान्दी प्ररोचना आदि सब इसी पूर्वरंग के अन्तर्गत आ जाते हैं।

'रङ्ग' नाट्यशाला को कहते हैं 'रंगं विधाय मधुरैः श्लोकैः' में 'रंगम्' से तात्पर्य नाट्यशाला से है। "भावप्रकाशिका" में—

"सभापतिः सभासभ्या वादका अपि,
नटीनटश्च मोदन्ते यत्रान्योन्यानुरंजनात्,
अतो रङ्ग इति ज्ञेयः, पूर्वं यत्स प्रकल्प्यते,
त्र्यस्रं पूर्वरंगः इति विद्वद्भिरुच्यते"।

इस प्रकार रंग और पूर्वरंग का भेद स्पष्ट किया गया है।

त्र्यस्रं वा चतुरस्रं वा चित्रं शुक्लमथापि वा
प्रयुज्य रंगान्निष्क्रमेत सूत्रधारः सदानुगः।

इस श्लोक द्वारा भी रंग शब्द से तात्पर्य रंगशाला, नाट्यशाला या रङ्गभूमि ही लिया गया है।

नान्दी के सम्बन्ध में श्री विश्वनाथ का मत है कि नान्दी वास्तव में पूर्व रंग का रंगद्वार का नाम का एक अंग है इसको नान्दी न कहकर रंगद्वार कहना चाहिये, जैसा कि उन्होंने कहा है—

"यस्मादभिनयो ह्यत्र प्राथम्या दवतार्य्यते
रंगद्वार मतो ज्ञेयं वागंगाभिनयात्मकम्।

अर्थात् रंगशाला में सर्वप्रथम प्रविष्ट नटों द्वारा जो आंगिक एवं वाचिक अभिनय ('नटादि' जो देवादिकों के लिये, स्तुति रूप वाक्यों द्वारा तथा अपने सिर के साथ हाथ जोड़ कर अंग भंग मुद्राओं को प्रकट करते हुए अभिनय करते हैं,) किया जाता है उसे ही रंगद्वार कहते हैं और यही अभिनय सर्वप्रथम किया जाता है इसीलिये इसे रंगद्वार कहा गया है। नाट्याचार्य भरत मुनि ने भी यही स्वीकार किया है।

आशीर्वचन संयुक्ता आदि लक्षणात्मक नान्दी तो इस रंगद्वार के पूर्व ही नटों द्वारा कर ली जाती है अतएव भरत मुनि ने इसका निर्देश नहीं किया है कर्थात् कवि को नान्दी श्लोक लिखना आवश्यक नहीं। उसे तो नाटक को रंगद्वार से आरम्भ करना चाहिये, अतएव विश्वनाथ ने नान्दी का लक्षण निर्देश नहीं किया है। नाटकों के सर्वप्रथम श्लोक रंगद्वार श्लोक हैं, नान्दी नहीं, भले ही उनमें नान्दी के भी लक्षण मिल जाते हों जैसा कि 'या सृष्टि:' इत्यादि श्लोक में नान्दी तथा विश्वनाथ कथित अथ च भरत मुनि सम्मत रंगद्वार दोनों के ही लक्षण मिल जाने से यह श्लोक नान्दी श्लोक तथा रंगद्वार भी कहा जा सकता है। परन्तु कालिदास रचित विक्रमोर्वशीय नाटक का प्रथम श्लोक 'वेदान्तेषु' इत्यादि नान्दी श्लोक नहीं क्योंकि उसमें नान्दी के लक्षण नहीं घटते अत: वह केवल रंगद्वार ही है। अत: संक्षेप में रंगद्वार से तात्पर्य है उस कवि द्वारा लिखित सर्वप्रथम मंगल श्लोक से, जिसके द्वारा सर्वप्रथम नट देव नृपादि की वाचिक एवं आङ्गिक अभिनय के द्वारा स्तुति करते हैं। क्योंकि नान्दी और रंगद्वार कई बातों में समानता रखते हैं अतएव कभी-कभी दोनों पर्याय के रूप में भी प्रयुक्त होते हैं, वस्तुत: दोनों भिन्न हैं। रंगद्वार के भी पूर्व नान्दी होती है इस नान्दी का पाठ प्रधान नट-सूत्रधार करता है। इस प्रधान सूत्रधार के नान्दी पाठ कर के रंगशाला से चले जाने पर दूसरा सूत्रधार जोकि उसी जैसा, वेषभूषा की दृष्टि से होता है, रंगशाला में प्रवेश करता है।

अत: **नान्द्यन्ते सूत्रधार** : का अर्थ विश्वनाथ आदि आचार्यों के मत, जो कि 'या सृष्टि:' इत्यादि श्लोक को, "यस्मादभिनयो ह्यत्रे'ति" भरत मुनि वचनानुसार नान्दी न मानकर रङ्गद्वार मानते हैं (क्योंकि नाट्यशास्त्र में "**नान्दी, शुष्कावकृष्ठा च, रङ्गद्वार तथैव च, चारी चैव ततः कार्या महाचारी तथैव च'** इत्यादि श्लोक में नान्दी की रङ्गदार से प्रथम ही गणना की गई है अत: नान्दी तो रङ्गदार के पूर्व ही कर ली जाती है) **नान्द्यन्ते** का अर्थ है नटकृत नान्दी पाठ की समाप्ति के उपरान्त, **सूत्रधार: अर्थात्** नटमण्डलाधिपति प्रधान नट ने "या सृष्टि:" इस मङ्गलश्लोक को जो कि पूर्वरंग के अङ्गभूत **रंगद्वार नाम से कथित** होता है, पढ़ा। इस प्रकार नाटक का प्रथम श्लोक किन्हीं के मत में नान्दी श्लोक है और किन्हीं के मत में रंगद्वार है वस्तुत: इसमें दोनों लक्षण मिलते हैं। जो इसे नान्दी मानते हैं उनके मत में नान्द्यन्ते सूत्रधार: का अर्थ है नान्दी पठनानन्तर सूत्रधार नटमण्डलाधिपति रङ्गभूमि से निकल जाता है और तब उसी प्रकार का दूसरा नट जो कि नटोपाध्यक्ष या स्थापक कहलाता है प्रवेश करता है। इसी बात को 'पूर्वरङ्ग विधायादौ सूत्रधारो निवर्तत्ते' से स्पष्ट किया गया है।

अतः नान्द्यन्ते सूत्रधारः इसका स्पष्ट अर्थ है कि नान्दी पाठ के बाद सूत्रधार के समान नटोपाध्यक्ष स्थापक नामक नट ने यह कहा जैसा कि सा० द० में कहा गया है "प्रविश्य स्थापक स्तद्वत् काव्यमास्थापयेत्ततः" इति। अतः सूत्रधार से तात्पर्य उपाध्यक्ष स्थापक नामक द्वितीय नट से है, प्रधान नट जो कि नान्दी पाठ करता है उससे नहीं।

इस सूत्रधार की वेष-भूषा प्रधान नट-सूत्रधार के समान ही होती है अतएव 'तद्वत्' शब्द से उसे बतलाया गया है।

सूत्रधार का अर्थ है 'सूत्र'=प्रयोगानुष्ठानं धारयतीति सूत्रधारः स्थापकनामा नटः। अथवा "**नाट्योपकरणादीनि सूत्र मित्यभिधीयते, सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारः मतो बुधैः** अर्थात् नाट्य सामग्री आदि को सूत्र कहते हैं। इसका धारण निरीक्षण प्रबन्ध आदि को करने वाला सूत्रधार कहा जाता है। यह सर्वप्रथम रंगभूमि में आकर कथावस्तु का बीजारोपण करता है "**नाटकीयकथासूत्रं प्रथमं येन सच्यते। वर्तनीयता प्रथमंसूत्रं येन सूच्यते। रंगभूमि समाक्रम्य सूत्रधारः स उच्यते**। जैसा कि दशरूपक में भी कहा गया है :

पूर्वरंगं विधायादौ सूत्रधारे विनिर्गते
तद्वन्नरः प्रविश्यान्यः सूत्रधारगुणकृतिः
सूत्रयेद्वस्तु बीजम् इति

यह **स्थापक** नामक नट भी सूत्रधार (प्रधान नट नान्दी पाठक) के (गुणों एवं वेश-भूषा में) समान ही होता है। सूत्रधार **का लक्षण**—

चतुरातोद्यनिष्णातोऽनेकभूषासमावृतः
नानाभाषणतत्वज्ञो नीतिशास्त्रार्थतत्त्ववित्
वेदोपचारचतुरः पौरुषेणविचक्षणः
नानागतिविचारज्ञो रसाभावविशारदः
नाट्यप्रयोगनिपुणो नानाशिल्पकलान्वितः
छन्दोविधानतत्त्वज्ञः सर्वशास्त्रविचक्षणः
तत्तद्गीतानुगलयकलातालावधारणः
अवधाय प्रयोक्ता च योक्तृणामुपदेशकः
एवं गुणगणोपेतः सूत्रधारोऽभिधीयते ॥ मातृगुप्ताचार्याः ॥

नेपथ्याभिमुखमवलोक्य=जवनिका (परदा) की ओर को देखकर "**नेपथ्यं स्याज्जवनिका रंगभूमिप्रसाधनम्**" इस लक्षण के अनुसार नेपथ्य का अर्थ है जवनिका।

आर्ये—सूत्रधार अपनी पत्नी नटी के लिये 'आर्ये' सम्बोधन करता है जैसा कि भरत मुनि का वचन है "पत्नी चार्येति सम्भाष्या"

सूत्रधार—आर्ये **नेपथ्य रचना** (नाटकीय पात्रों का वेष-भूषा आदि से सुसज्जित होना आदि काम, अथवा पात्रों के आहार्य अभिनय के लिये उपयोगी शृंगार रचना) यदि समाप्त हो चुकी हो तो इधर आ जाइये। (अवसितं=समाप्त)।

नेपथ्य का अर्थ परदा—**जवनिका** होता है तथा इस शब्द का प्रयोग पात्रों की वेष-भूषा के लिये भी होता है जिसे **मखीवेष** भी कहते हैं। यह आहार्य अभिनय के लिये किया जाता है, और यह भी रस में उपयोगी होता है जैसा कि भरत वचन है :—

"**रामादिव्यञ्जको वेषो नटे नेपथ्य** मिष्यते"

मातृगुप्ताचार्य ने तीन प्रकार का रस नाटक में माना है :

वाचिक रस, नेपथ्य रस स्वाभाविक रस :

"**रसास्तु** त्रिविधा वाचिकनेपथ्यस्वभावाजाः—

नटी—अज्जउत्त ! [इयं म्हि । आर्य [आर्यपुत्र ! इयमस्मि ।]

सूत्रधार—आर्ये ! अभिरूपभूयिष्ठा परिषदियम् । अद्य खलु कालिदास-ग्रंथितवस्तुना शाकुन्तलनामधेयेन नवेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः । तत्प्रतिपात्र-माधीयतां यत्नः ।

रसानुरूपै रालापैः श्लोकैं वाक्यैः पदैस्तथा
नानालंकारसंयुक्तै र्वाचिको रस उच्यते
कर्मरूपवयोजातिदेशकालानुवर्तिभिः
माल्यभूषणवस्त्राद्यै र्नेपथ्य रस उच्यते
रूपयौवनलावण्यस्थैर्यधैर्यादिभिर्गुणैः
रसः स्वाभाविको ज्ञेयः स च नाट्ये प्रशस्यते ॥

राजा आदि भिन्न-भिन्न पात्रों के लिये **मषीवेष** भी भिन्न-भिन्न ही होना चाहिए :—

राजानश्चाज्यगर्भाभा गौराः श्यामास्तथैव च
ये चापि सुखिनो मर्त्या गौराः कार्यास्तु ते बुधैः
शुद्धो विचित्रो मलिनश्च त्रिविधो वेष उच्यते
देवाभिगमने चैव मंगले नियमस्थिते
वेषस्तत्र भवेच्छुद्धो ये चान्ये प्रयता नराः
देवदानवयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम्
नृपाणां कामुकानाञ्च चित्रो वेषो विधीयते
उन्मत्ताना प्रमत्तानां मध्वगानां तथैव च
व्यसनोपहतानाञ्च मलिनो वेष इष्यते ।
अमात्यकञ्चुकिश्रेष्ठिविदूषकपुरोधसाम्
वष्टनाबद्धपट्टानि प्रतिशीर्षाणि कारयेत् ॥

इस प्रकार विभिन्न पात्रों के लिए अलग-अलग प्रकार की वेषभूषा बतलाई गई है ।

नटी—आर्य पुत्र ! मैं यह हूँ । (क्या आज्ञा है कहिए) ।

भरत वचन के अनुसार सभी स्त्री पात्रों को अपने पति के लिये **'आर्यपुत्र'** सम्बोधन करना चाहिए :—

"सर्वस्त्रीभिः पतिर्वाच्य आर्यपुत्रेति यौवने"

विशेष—इस नाटक में कवि ने **संस्कृत के अतिरिक्त प्रायः शौरसेनी** प्राकृत का ही प्रयोग किया है ।

आर्यावर्तप्रसूतासु सर्वास्वेव जातिषु
शौरसेनीं समाश्रित्य भाषां काव्ये प्रयोजयेत् (मातृगुप्ताचार्य)

सूत्रधार—आर्ये ! विशेष रूप से बड़े-बड़े विद्वानों की यह सभा है । अतः हमें आज कालिदास का रचा हुआ नवीन अभिज्ञान शाकुंन्तल नामक नाटक ही दिखाना चाहिए । इसलिए प्रत्येक पात्र की भलीभाँति देखभाल कर लो (कहीं कोई कमी न रह जाय) (अभिरूपभूयिष्ठा = जिसमें कि बड़े-बड़े विशिष्ट विद्वान् उपस्थित हों) !

विशेष :—'सूत्रधारः—आर्ये' यहाँ से लेकर ६४ वें पृष्ठ पर 'रमणीयाः' तक भारती वृत्ति का एक भेद 'प्ररोचना' है ।

"रङ्गं प्रसाद्य मधुरैः श्लोकैः काव्यार्थसूचकैः
ऋतुं कंचिदुपादाय भारतीं वृत्तिमाश्रयेत्
भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रयः

नटी—सुविहिदप्पओदाए अज्जस्स ण किं वि परिहाइस्सादि। [सुविहित-प्रयोगतयार्यस्य न किमपि परिहास्यते।]

सूत्रधार :—आर्य ? कथयामि ते भूतार्थम्—

भेदैः प्ररोचनायुक्तै र्वीथीप्रहसनामुखैः
उन्मुखीकरणं तत्र प्रशंसातः प्ररोचना (दशरूपकम्)

अर्थात् सर्व प्रथम स्थापक नट काव्यार्थ सूचक मधुर श्लोकों के द्वारा सामाजिकों को प्रसन्न कर किसी ऋतु का वर्णन करता हुआ भारती वृत्ति का प्रयोग करे।

नट द्वारा प्रयुक्त संस्कृत भाषा वाला वाग्व्यापार **भारती वृत्ति** कहलाता है जिसके प्ररोचना **वीथी प्रहसन आमुख** ये चार भेद होते हैं।

काव्यार्थ आदि की प्रशंसा द्वारा सामाजिकों को उसकी ओर उन्मुख करना अर्थात् उन्हें आकृष्ट करना **प्ररोचना** कहलाता है।

यह प्ररोचना भी **दो प्रकार** की होती है :

(१) **चेतनाश्रया** जैसे नायक कवि सभ्य नट आदि।
(२) **अचेतनाश्रया** जैसे देश काल ऋतु आदि।

प्रस्तुत नाटक में "या सृष्टिः" इत्यादि काव्यार्थ सूचक मधुर श्लोक के द्वारा सामाजिकों की प्रशस्ति करने के बाद सूत्रधार संस्कृत भाषा का ही आश्रयण कर नटी से वार्तालाप करता है और ग्रीष्म ऋतु का वर्णन करता हुआ नाटक की कथावस्तु को सूचित कर सामाजिकों को अपनी ओर आकृष्ट करने का प्रयत्न करता है अतः यह **प्ररोचना** है।

नटी—आप तो नाट्यकला में पूर्ण निपुण हैं, सब प्रबन्ध भी ठीक है अतः किसी को भी उँगली उठाने का अवसर न होगा। सुविहित-प्रयोगतया=नाट्यकला के विषय में पूर्ण शिक्षित तथा अभिनय के प्रयोग में सर्वथा कुशल होने के कारण। परिहास्यते=उपहास योग्य होगा।

नटी के कथन के पूर्व गद्यांश में सूत्रधार ने प्ररोचना के लक्षणानुसार सामाजिकों को आकृष्ट करने के लिए नाटक की तथा सामाजिकों की प्रशंसा की है यथा:—कालिदास इस नामोच्चारण से कवि की प्रशंसा की है क्योंकि कालिदास यह नाम जगत्प्रसिद्ध ही नहीं जगद्विलक्षण भी है। कालिदास साक्षात् सरस्वती के ही अवतार थे अतः उनके नाम के साथ अन्य विशेषणों की आवश्यकता नहीं थी, नाम संकीर्तन ही कवि की स्तुति है। इसी प्रकार "अभिज्ञान शाकुन्तलम्" इस कथन से इतिवृत्त तथा "शाकुन्तल" इससे उसका अत्यन्त रमणीय होना सूचित किया गया है, "नवेन" इस पद से नाटक की प्रशंसा की गयी है तथा "अभिरूपभूयिष्ठा" से सामाजिकों की प्रशंसा स्पष्ट ही है। नटी के द्वारा "सुविहित-प्रयोगतया" कह कर नट की भी स्तुति कर दी गयी है।

सूत्रधार—आर्ये ! मैं तुमसे सत्य कहता हूँ। अर्थात् यह तुम्हारा कथन, कि मैं नाट्य कला में बड़ा निपुण हूँ, इसलिए सब कुछ अच्छा ही अच्छा होगा, कोई हँसी न करेगा, मुझे ठीक नहीं जँचता, सच यह है कि :

आ परितोषाद्विदुषां न साधु मान्ये प्रयोगविज्ञानम्
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः ॥ २ ॥

नटी—अज्ज ! एवं णेदं । अणंतरकरणिज्जं अज्जो आणवेदु । [आर्य ! एवमेवैतत् । अनन्तरकरणीयमार्य आज्ञापयतु ।]

श्लोक २—अन्वयः—विदुषाम् आपरितोषात् (अहं) प्रयोगविज्ञानं साधु न मन्ये (कुतः इति चेत्तत्राह) शिक्षितानां बलवत् अपि चेतः आत्मनि अप्रत्ययं (भवति) ।

शब्दार्थ—आपरितोषात्=सन्तोषप्राप्ति पर्यन्त अर्थात् जब तक विद्वज्जन सन्तुष्ट न हो जायँ तब तक, प्रयोगविज्ञानम्=प्रयोग=आङ्गिक वाचिक आहार्य सात्त्विक रूप चतुर्विध अभिन्य व्यापार के, विज्ञानम्=विशेष प्रकार की शिक्षा को, साधु=सम्यक् प्रकार से अथवा उत्कृष्ट रूप से, शिक्षितानम्=नाटकीय कला में विशेष योग्यता प्राप्त विद्वानों का, बलवत् अपि=पूर्ण रूप से सुदृढ़ भी, चेतः=मन, आत्मनि=अपने विषय में, अप्रत्ययम्=प्रत्यय=विश्वास—अप्रत्ययं=अविश्वसनीय (होता है) ।

अनुवाद :—विद्वानों की सन्तुष्टि तक अर्थात् जब तक विद्वज्जन सन्तुष्ट न हों तब तक, मैं (अपने) नाटकाभिनय के विशिष्ट ज्ञान को अच्छा नहीं मानता, क्योंकि नाट्यकला में निपुणजनों का सुदृढ़ मन भी अपने विषय में विश्वसनीय नहीं होता ।

व्याख्या—नटी के यह कहने पर कि हमारे सब पात्र काम करने में निपुण हैं अतः आपका कुछ भी परिहास न होगा, सूत्रधार कहता है कि मैं तुमसे सत्य कहता हूँ कि :—जब तक विद्वान् सामाजिक मेरे चतुर्विध नाटकीय अभिनय व्यापार से सर्वतोभावेन सन्तुष्ट न हो जायँ तब तक मैं अपने नाट्यकला शिक्षा के विज्ञान (विशिष्ट ज्ञान) को अच्छा नहीं मान सकता । अथात् जब तक विद्वज्जनों की सन्तुष्टि न हो तब तक मेरा प्रयोगविज्ञान का कौशल कुछ नहीं । तुम्हारे कहने मात्र से मैं अपने नाट्य कौशल को पर्याप्त एवं सन्तोषप्रद नहीं मान सकता । मेरी कला तो विद्वज्जनों द्वारा ही परीक्षणीय है । क्योंकि जो लोग नाट्यकला में विशेष रूप से निपुण हैं, सुशिक्षित हैं उनका (मुझ जैसे अशिक्षित या अर्ध-शिक्षित व्यक्ति के विषय में तो कहना ही क्या) सुदृढ़ मन भी, अर्थात् "मैं यह कार्य पूरा कर ही लूँगा" ऐसी बलवती धारणा होने पर भी (विद्वज्जनों के सामने अभिनय करते समय) अपना मन स्वयं अपने विषय में विश्वसनोय नहीं होता । तात्पर्य यह है कि पूर्ण सुशिक्षित लोगों की भी विद्वत्समाज के सामने अपनी कला का प्रदर्शन करते समय, यह सन्देह बना ही रहता है कि न जाने ये लोग मेरी कला से सन्तुष्ट होंगे या नहीं ।

विशेष—इस श्लोक के पूर्वार्ध में "विद्वज्जन ही मेरे अभिनय कौशल की परीक्षा करते हैं" यह अन्तर्हित अभिप्राय है अतः यहाँ "**पर्यायोक्ति** अलङ्कार है पर्यायोक्तिः यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते" और उत्तरार्ध में सामान्यार्थ से पूर्वोक्त विशेपार्थ का समर्थन किया गया है अतः **अर्थान्तरन्यास** अलङ्कार है क्योंकि :

सामान्यं वा विशेषेण विशेषस्तेन वा यदि, कार्यं च कारणेनेदं कार्येण च समर्थ्यते, साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा मतः" यह उसका लक्षण है । तथा उक्त दोनों अलङ्कारों का अङ्गाङ्गी भाव रूप साकर्य्य है । **श्रुत्यनुप्रास अलंकार** भी है ।

छन्द—आर्या गीतिः है । अर्थात् जिसके प्र० तृ० पाद में १२, द्वि० में १८, च० में १५ मात्रायें हो वह आर्या छन्द कहलाता है ।

"यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि ।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश सार्या ॥ इति ॥
वृत्तमक्षरसंख्यातं जाति मात्राकृता भवेद ॥

अतः मात्रिक होने से यह आर्या जातिः है ।

सूत्रधारः—किमन्यदस्याः परिषदः श्रुतिप्रसादनतः ? तदिममेव तावदचिरप्रवृत्तमुपभोगक्षमं ग्रीष्मसमयनधिकृत्य गीयताम् । संप्रति हि,—

सुभगसलिलावगाहाः पाटलसंसर्गिसुरभिवनवाताः ।
प्रच्छायसुलभनिद्रा दिवसाः परिणामरमणीयाः ॥ ३ ॥

नटी—तह । [तथा ।] (इति गायति ।)

संस्कृत व्याख्या—विदुषां पण्डितानाम् आपरितोषात् सन्तोषप्राप्तिपर्यन्तम् अर्थात् यावत् विद्वांसो न सन्तोषमेष्यन्ति तावत्कालमित्यर्थः प्रयोगस्य आङ्गिकादिरूपाभिनयचतुष्टयस्य विज्ञानं विशिष्टज्ञानम् प्रयोगविज्ञानम् (अहं) साधु सम्यक् न मन्ये स्वीकरोमि (यतः) सुशिक्षितानां अभिज्ञानम् (मादृशानामशिक्षितानान्तु की कथा) बलवत् स्थिरं सुदृढ़ अपि चेतः मनः आत्मनि स्वविषये (विद्वत्समाजे कलाप्रदर्शनकाले) अप्रत्ययं प्रत्ययरहितं अविश्वसनीयम् भवति। अर्थात् विद्वज्जन निरीक्षणायैव मम कला अतः त्वयोक्तविश्वासो न मयि समुचितः अस्ति ।

विशेष—आपरितोषादित्यत्र 'आङ्मर्यादावचने' इत्यनेन कर्मप्रवचनीयत्वे पञ्चम्यपाङ्परिभिः, इत्यनेन पंचमी विभक्तिः ।

नटी—आर्य ! बात तो ऐसी ही है । अच्छा, अब और आगे जो कुछ करना है; आज्ञा दीजिये ।

सूत्रधार—इस सभा के सामाजिकों के कानों को आनन्द देने वाली (मीठी तान सुनने के) अतिरिक्त और कौन सी बात तुम्हारे करने के लिए बताई जा सकती है । इसलिए तो, अभी हाल में ही आरम्भ हुए, सब प्रकार से उपभोग के लिए रमणीक इसी ग्रीष्म समय को लेकर गाइये ।

अचिरप्रवृत्तम्—से नवोद्गत पुष्पादिकों का अत्यन्त सुगन्धशाली होना सूचित किया गया है ।

उपभोगक्षमम् अर्थात् स्नान चन्दनादि उपभोग के लिए उपयुक्त । इससे सूत्रधार का आशय है कि ऐसे समय में अपने श्रम को दूर करने के लिए बहुत से साधन भी उपलब्ध हो सकेंगे । अतः इसी ग्रीष्म ऋतु को लेकर कोई मधुर गीत आरम्भ कीजिये ।

क्योंकि इस समय :

श्लोक ३ अन्वय—सुभगसलिलावगाहाः, पाटलसंसर्गिसुरभिवनवाताः, प्रच्छायसुलभनिद्राः परिणामरमणीयाः दिवसा "वर्तन्ते" इति शेषः ।

शब्दार्थः—सुभगेत्यादिः—जल में खूब स्नान करना अच्छा लगने वाला हो, पाटलसंसर्गिसुरभिवनवाताः=पाटल (पुष्प-विशेष गुलाब) से सम्पर्क प्राप्त अतएव वन की वायु सुगन्ध हो जाती है प्रच्छायसुलभनिद्रा=घनी छाया में (जिन दिनों) अच्छी नींद आती हो, परिणामरमणीया=जिन दिनों सूर्यास्त सुन्दर मनोहर मालूम पड़ता है ।

अनुवाद—(जिन दिनों) जल में अधिक स्नान करना अच्छा लगता है, गुलाबों से सम्पर्क प्राप्त करने वाली वन की वायु सुगन्धित हो जाती है, सघन छाया में अच्छी नींद आती है, तथा दिन का अन्त अर्थात् सूर्यास्त समय मनोहार हो जाता है (ऐसे ये) दिन हैं ।

व्याख्या—नटी के यह कहने पर कि तो फिर किस ऋतु का गाना गाया जायं सूत्रधार कहता है कि इसी ग्रीष्म ऋतु का गाना गाओ । (ऋतुं कञ्चिदुपादायेति कथनानुसार सूत्रधार ग्रीष्म ऋतु का वर्णन कर रहा है) क्योंकि इस समय—

ये दिन ऐसे हैं जिसमें खूब अच्छी तरह से स्नान करना बहुत अच्छा लगता है और जिन दिनों पाटल (गुलाब) से मिली हुई अतएव सुगन्धित वनवायु बहती है । जिन दिनों घनी

ईसीसिचुंबिआइं भमरेहिं सुउमारकेसरसिहाइं ।
ओदंसअंति दअमाणा पमदाओ सिरीसकुसुमाइं ॥४॥

छाया में (अर्थात् ऐसे स्थानों पर जहाँ कि घनी छाया हो बहुत अच्छी नींद आती है तथा जिन दिनों में सूर्यास्त का समय बड़ा ही सुहावना एवं मनोहर प्रतीत होता है। तात्पर्य यह है कि ऐसे सर्वगुणसम्पन्न काल (ग्रीष्मऋतु) का ही गाना गाना चाहिए।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में प्राय: सभी विशेषण साभिप्राय हैं। इन विशेषताओं से प्रकृत में अपने श्रम का दूरीकरण ध्वनित होता है अतएव (१) **परिकरालंकार** है "**उक्ति विशेषणैः साभिप्रायैः परिकरो मतः**" इस लक्षण के अनुसार।

सुभगेत्यादि पद से ग्रीष्म के दिनों का जलक्रीड़ा-योग्यत्व, तथा पाटलेत्यादि पद से वायु का शीतलत्व, सान्ध्यत्व, मनोज्ञत्व एवं सुखस्पर्शत्व ध्वनित होता है और प्रच्छायेत्यादि पद से रतिश्रम हरत्व तथा अन्तिम विशेषण से ग्रीष्म दिनों का अतिशयशोभाशालित्व द्योतित होता है।

ग्रीष्म समय का स्वाभाविक वर्णन होने से (२) **स्वभावोक्ति अलंकार** है, (३) **वृत्त्यनुप्रास** (३) **वृत्त्यनुप्रास शब्दालंकार** हैं।

छन्द—**आर्या जातिः**। यह **अचेतनाश्रया प्ररोचना** के रूप में ग्रीष्म स्तुति है।

संस्कृत व्याख्या—सु अतिशयेन भगो यत्नो येषु ते सुभगाः, सलिलावगाहाः येषु ते तथोक्ताः अथवा सुभगोऽतिमनोहरः सलिलेषु जलेषु अवगाहः मज्जनं येषु ते तथोक्ताः पाटलानां पुष्पविशेषाणां (गुलाब इति लोके) संसर्गः सम्बन्धः येषु ते पाटलसंसर्गिणः (अतएव) सुरभयः मनोज्ञाः वनवाताः येषु ते तथोक्ताः, प्रकृष्टा छाया येषु (प्रदेशेषु) ते प्रच्छायास्तेषु सुलभा निद्रा येषु ते तथोक्ताः, परिणामे सायंकाले रमणीया मनोहराः परिणामरमणीयाः सायंकाले सुखविहारक्षमाः दिवसाः वर्तन्ते इति शेषः।

(यहाँ तक भारती वृत्ति का प्ररोचना अङ्क समाप्त हुआ)

नटी—अच्छा (गाती है) अब यहाँ से भारती वृत्ति का आमुख नामक अंक आरम्भ होता है, इसे प्रस्तावना भी कहते हैं।

श्लोक ४ अन्वय—प्रमदाः (तथापि) दयमानाः (सत्यः) सुकुमारकेसर शिखानि भ्रमरैः ईषत् ईषत् चुम्बितानि शिरीषकुसुमानि अवतंसयन्ति। इति त्वं पश्य" इति शेषः।

शब्दार्थ प्रमदाः=प्रकृष्ट मद-रूप सौभाग्यजनित विकार विशेष को धारण करने वाली अर्थात् मदविह्वल तरुणी स्त्रियाँ (मदातिरेक से आभूषण बनाने के लिए तरुणी स्त्रियाँ कुसुमावचयन करती हैं ऐसा प्रसिद्ध है) तथापि दयमानाः=दयालु होकर (मदातिरेक से उपेक्षा पूर्वक नहीं अपितु दयार्द्र भाव पूर्वक) सुकुमारकेशर शिखानि=अत्यन्त कोमल किञ्जल्कों के अग्रभाग वाले अर्थात् जिन कुसुमों के किञ्जल्क—गुच्छ अत्यन्त कोमल हैं, ईषत् ईषत्=धीरे-धीरे, थोड़ा-थोड़ा, स्वाद पूर्वक, चुम्बित=स्पृष्ट अर्थात् जिनका पान किया गया है। अवतंसयन्ति=कर्णालंकार बना रही हैं।

अनुवादः—मद विह्वला तरुणी स्त्रियाँ, दयावती होकर, अत्यन्त कोमल किञ्जल्कों के अग्र भाग वाले, भ्रमरों के द्वारा (जिनका) धीरे-धीरे पान किया गया है, ऐसे शिरीष के पुष्पों को कर्णाभरण बना रही हैं।

व्याख्या—वे तरुणी स्त्रियाँ, जिनमें रूप एवं सौन्दर्य सौभाग्य जन्य एक प्रकार का मनोविकार उद्दीप्त हो रहा है अर्थात् जो मदातिरेक के कारण अत्यधिक चञ्चल हो रही हैं;

[ईषदीषच्चुम्बितानि भ्रमरैः सुकुमारकेसरशिखानि।
अवतंसयन्ति दयमानाः प्रमदाः शिरीषकुसुमानि ॥]

सूत्रधार—आर्ये ! साधु गीतम्। अहो रागबद्धचित्तवृत्तिरालिखित इव सर्वो रंगः। तदिदानीं कतमत्प्रकरणमाश्रित्यैनमाराधयामः ?

फिर भी दयार्द्र होकर सुकुमार किञ्जल्क शिखाओं वाले एवं भ्रमरों द्वारा धीरे-धीरे जिनका रस पान किया गया है ऐसे शिरीष के पुष्पों का चयन कर अपने कर्णाभरण बना रही है। तात्पर्य यह है कि इस ग्रीष्म ऋतु में, मदातिरेक से मतवाली स्त्रियाँ भी कृपावती होकर उन विकसित शिरीष के फूलों का चयन कर अपने कर्णभूषण बना रही हैं जिनके किञ्जल्क के अग्रभाग अत्यन्त कोमल हैं और जिनका भ्रमरों ने धीरे-धीरे रस पान किया है (यौवन मदान्ध स्त्रियों का कर्णभूषण के लिए कुसुम चयन करना स्वाभाविक कार्य कहा जाता है।)

शिरीष कुसुम ग्रीष्मऋतु में ही विकसित होते हैं अतः सूत्रधार के कथनानुसार नटी ग्रीष्म ऋतु का ही आश्रयण कर यह गीत गाती है।

विशेष—कुसुमों के अग्रभागों पर ही भ्रमर रसपान करते हैं अतएव कवि ने "सुकुमारकेसरशिखानि" कहा है। केसर-शिखायें कोमल हैं अतएव भ्रमरों द्वारा धीरे-धीरे उनका रस पान किया गया है तथा उनकी कोमलतावश ही मतवाली स्त्रियाँ भी दयापूर्वक उनका चयन करती हैं।

शिरीष कुसुम, सुकुमार किञ्जलक शिखाओं वाले हैं अतएव दयावती होकर स्त्रियाँ उनको अवतंसीकृत करती हैं अतः प्रस्तुत श्लोक में पदार्थ हेतुक **काव्यलिंग** अलङ्कार "हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्ग निगद्यते" इस लक्षणानुसार। वृत्यनुप्रासालङ्कार, **उद्गाथा** नामक जातिः। जिस जाति में पूर्वार्ध और उत्तरार्ध में ३० मात्रायें होती हैं उसे उद्गाथा जाति नामक छन्द कहा जाता है।

"पूर्वार्धे उत्तरार्धे मात्रास्त्रिंशदिति सुभग संभणिताः।
सा उद्गाथा उक्ता"

प्रस्तुत श्लोक में 'प्रमदा' पद से शकुन्तला की ओर कवि का संकेत है (बहुवचन का प्रयोग आदर सूचनार्थ) वह शिरीष पुष्पों को कर्णाभरण के रूप में धारण करती है जैसा कि कवि ने आगे स्वयं कहा है 'स्रस्तं कर्णशिरीषरोधि "इत्यादि तथा स्वयं राजा दुष्यन्त कहता है" कृतं न कर्णार्पितबन्धनं सखे, शिरीष मागण्डविलम्बि केसरम्" इत्यादि।

संस्कृत व्याख्या—प्रकृष्टो मदो रूपसौभाग्यजन्यो शिकारविशेषो यासां ताः, मदविह्वलाः तरुण्य इत्यर्थः तथापि दयमानाः कृपावत्यः सत्यः सुकुमाराः कोमलाः केसराणां किञ्जल्कानां शिखा अग्रभागाः येषां तानि तथोक्तानि, भ्रमरैः मधुकरैः ईषदीषद् मन्दं मन्दं अतिशयं यथा स्यात् तथा चुम्बितानि स्पृष्टानि एतादृशानि शिरीषकुसुमानि (शिरीष नामक पुष्पविशेष) शिरीष पुष्पाणि अवतंसयन्ति कर्णालंकारी कुर्वन्ति इति त्वं पश्य।

शिरीषकुसुमानि ग्रीष्मकाल एवं विकासमायान्तीति ग्रीष्सकालीनैवेयं गीतिः। इति

सूत्रधार—आर्ये ! बहुत अच्छा गाया। ओह ! तुम्हारे गीत के राग से नाट्यशाला के सामाजिकों की चित्तवृत्ति स्तब्ध सी हो गई है अतएव सारी रंगशाला चित्रलिखी सी जान पड़ती है। तो अब कौन सा नाटक दिखाकर मनोविनोद किया जाय।

(रङ्गः—इसका अर्थ है—नाट्यशाला या रंगशाला और लक्षणा के द्वारा यहाँ पर इसका अर्थ है रंगशाला में बैठे हुए सामाजिक सभ्य जन।)

नटी—णं अज्जमिस्सेहि पढमं एव्वं, आणत्तं अहिण्णाणसाउंबलं णाम अपुव्वं णाडअं पओए अधिकरीअदुत्ति। [नन्वार्यमिश्रैः प्रथममेवाज्ञप्तमभिज्ञानशाकुन्तलम् नामापूर्वं नाटकं प्रयोगेऽधिक्रियतामिति।]

सूत्रधार—आर्ये! सम्यगनुबोधितोऽस्मि। अस्मिन्क्षणे विस्मृतं खलु मया। कुतः।

तवास्मि गीतरागेण, हारिणा प्रसभं हृतः।
एष राजेव दुष्यन्तः, सारंगेणातिरंहसा ॥५॥

(इति निष्क्रान्तौ)

प्रस्तावना

प्रकरणवश इसका दूसरा अर्थ है राजा क्योंकि रज्यते इति रंगः। अर्थात् जिससे अनुरञ्जन हो, राग से अनुरंजन होता है; रागः विद्यते अस्मिन् इस विग्रह के अनुसार रङ्ग का अर्थ है राजा।

रागः=अनुराग। अर्थात् राजा दुष्यन्त जिसकी चित्रवृत्ति शकुन्तला के अनुराग में आबद्ध हो गई है अतएव वह चित्रलिखित-सा होकर उसी को देख रहा है।

इस द्वितीयार्थ द्वारा कवि ने यहाँ पर **वीथी** के अङ्गों में से द्वितीय अङ्ग **'अवगलित'** का निर्देश किया है। **वीथी** भारतीवृत्ति का एक भेद है जैसा कि ऊपर लिख चुके हैं "भेदैः प्ररोचनायुक्तै र्वीथीप्रहसनामुखैः" इसी वीथी के १३ भेद होते हैं जिसमें यहाँ पर द्वितीय भेद **अवगलित** है :—

"यत्रैकत्र समावेशात् कार्यमन्यत्प्रसाध्यते"
प्रस्तुतेऽन्यत्र वाऽन्यत्स्यात्तच्चावलगितं द्विधा।

अर्थात जहाँ एक ही क्रिया के द्वारा एक कार्य के समावेश से किसी दूसरे कार्य की भी सिद्ध हो जाय, इत्यादि।

नटी—क्यों? आपने तो पहिले ही कहा था न, कि अभिज्ञान शाकुन्तल नामक अपूर्व नाटक का अभिनय किया जाय।

सूत्रधार—आर्ये! तुमने खूब याद दिलाई इस समय मैं यह बात भूल ही गया था। क्योंकि :—

श्लोक ५ अन्वय—अतिरंहसा (अतएव) हारिणा सारंगेण एष राजा दुष्यन्त इव हारिणा तव गीतरागेण प्रसभं हृतः अस्मि।

शब्दार्थ—अतिरंहसा=अत्यन्त वेगशाली अतएव हारिणा=१ दूर तक ले जाने वाले अर्थात् मृगयानुसरण तत्पर राजा को अपनी तेज चाल से जंगल में दूर तक ले जाने वाला, २ मनोहर, चित्ताकर्षक, सारंगेण=हिरण के द्वारा, गीतरागेण=गीत के स्वर से, प्रसभं=बलात्कार पूर्वक, हृतः=आसक्तचित्त मुग्ध, राजा के पक्ष में हृतः का अर्थ है दूर तक ले जाया गया।

अनुवाद—अति वेगशाली (अतएव) दूर तक ले जाने वाले मृग के द्वारा बल पूर्वक (दूर तक) ले जाये गये इस राजा दुष्यन्त के समान, मैं तुम्हारे चित्ताकर्षक गीत के स्वर से बलात् आसक्तिचित्त अर्थात् मुग्ध हो गया हूँ।

व्याख्या—जब सूत्रधार ने पूछा कि इस समय किस नाटक का अभिनय किया जाए नटी कहती है कि आप तो पहिले ही कह चुके हैं कि अभिज्ञान शाकुन्तल नामक नाटक का अभिनय किया जाय। यह सुन कर सूत्रधार कहता है कि तुमने अच्छी याद दिलाई मैं तो इस बात को भूल ही गया था, इसी भूल जाने के कारण को स्पष्ट करता हुआ सूत्रधार कहता है :

अत्यन्त वेग से दौड़ते हुए पीछे-पीछे भाग कर इतनी दूर जंगल में पहुँचाए गए इस मृगानुसारी राजा दुष्यन्त की तरह ही मैं भी तुम्हारे इस मनोहर गीत स्वर से बलात् मुग्ध कर लिया गया हूँ अर्थात् गीत स्वर की रमणीयता के कारण मेरा मन बलात् इतना मुग्ध हो गया था कि मैं कह कर भी भूल गया था कि मुझे किस नाटक का अभिनय करना है। जैसा कि यह राजा, देखो कि इस मृग का पीछा करते-करते इसके सौन्दर्य पर मुग्ध हो भूल कर हठात् यहाँ तक चला आया है।

विशेष—हारिणा तथा हृतः शब्द श्लिष्ट हैं, हारिणा का अर्थ राजा के पक्ष में दूर तक हरण करने वाला अर्थात् दूर तक भगा कर ले आने वाला तथा गीत के पक्ष में मनोहर श्रुति सुखद, चित्ताकर्षक है,. हृतः का अर्थ राजा के पक्ष में अपनी सेना से दूर तक आहरण किया गया, खींच कर ले आया गया तथा गीत के पक्ष में विमुग्ध किया गया है। अस्मि अहम् (मैं) अर्थ बोधक अव्यय है।

श्रोती उपमा अलंकार "श्रौती यथेव शब्दाविवार्थो वा वतिर्यदि" इस लक्षणानुसार इसमें इनका प्रयोग है "राजेव"। गीतरागेण हारिणा आदि पदों के कारण रूप से उपन्यस्त होने से पदार्थ हेतुक रसना **काव्यलिङ्ग** अलंकार भी है।

श्रुति वृत्ति शब्दालंकार है। **पथ्यावक्त्रं** नामक वृत्त है। युजोश्चतुर्थतो जेन पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम्। अर्थात् जिसके सम पादों में चतुर्थ वर्ण के वाद जगण हो। शेष वर्ण अनुष्टुप् के समान हों अर्थात् जिसमें सर्वत्र पंचम वर्ण लघु, षष्ठ गुरु, विषम पादों में चतुर्थ वर्ण के बाद भगण हो। सम पादों में सप्तम वर्ण लघु हो।

यहाँ "एषोऽहमित्युपक्षेपात् सूत्रधारप्रयोगतः, पात्रप्रवेशो यत्रैष **प्रयोगातिशयो मतः**" दशरूपककार के इस लक्षण के अनुसार **प्रयोगातिशय नामक आमुख** का तृतीय भेद है, अर्थात् **आमुख** या **प्रस्तावना के तीन** भेद होते हैं। **कथोद्घात, प्रवृत्तक** तथा **प्रयोगातिशय**। जहाँ "वह आ रहा है" इस प्रकार के वचन प्रयोग द्वारा **सूत्रधार** किसी पात्र का प्रवेश सूचित करता है वहाँ प्रयोगातिशय नामक आमुख होता है। प्रकृत में एष राचेव दुष्यन्त वह सूत्रधार का कथन है।

संस्कृत व्याख्या—अतिरंहसा अतिवेगवता अतएव हारिणा हर्तुं शीलमस्येति तेन मृगपक्षे दूरं अपकर्षता सारंगेण मृगेण एष राजा दुष्यन्त इव हारिणा चित्ताकर्षकेण तव गीतरागेण गानस्वरेण प्रसभं वलात् हृतः विमुग्धः अस्मि राजपक्षे स्वसेनया दूरं प्रच्यावितः अस्मि।

(दोनों जाते हैं)

प्रस्तावना

यह पहिले बता चुके हैं कि भारतीवृत्ति के चार भेद हैं प्ररोचना, वीथी, प्रहसन और आमुख। तृतीय श्लोक की समाप्ति पर्यन्त प्ररोचना और उसके बाद आमुख नामक भारतीवृत्ति। (नट प्रयुक्त संस्कृत प्राय वाग्व्यापार) का अन्य भेद आरम्भ होता है और वह पृष्ठ ६७ पर 'प्रस्तावना' तक चलता है।

आमुख का लक्षण है—

सूत्रधारो नटीं ब्रूते मार्षं वाथ विदूषकम्
स्वकार्यं प्रस्तुताक्षेपि चित्रोक्त्या यत्तदामुखम्
प्रस्तावना वा तत्र स्युः कथोद्घातः प्रवृत्तकम्
प्रयोगातिशयश्चाथ वीथ्यङ्गानि त्रयोदश

अर्थात् जहाँ सूत्रधार, नटी, मार्ष (पारिपार्श्विक) या विदूषक के साथ बात करता हुआ विचित्र उक्तियों के द्वारा प्रस्तुत का आक्षेप कर (कथावस्तु का संकेत कर) अपने कार्य का वर्णन करे उसे आमुख कहते हैं। इसी आमुख का दूसरा नाम प्रस्तावना है। इस आमुख या प्रस्तावना के कथोद्घात, प्रवृत्तक तथा **प्रयोगातिशय ये तीन अङ्ग** होते हैं। इनमें प्रयोगातिशय का वर्णन ऊपर किया जा चुका है।

प्रस्तावना का अर्थ है 'विषेर्यथैव संकल्पो मुखतां प्रतिपद्यते, प्रधानस्य प्रबन्धस्य तथा प्रस्तावना मता।

अर्थात् प्रधानकथावस्तु का आरम्भ जहाँ से किया जाता है, इसका प्रयोग नाटक के आरम्भ में होता है।

इस प्रकार "इति निष्क्रान्तौ" तक प्रस्तावना चलती है, इसे ही आमुख कहते हैं।

(इसके बाद रथ पर आरूढ़, धनुषवाण को हाथ में लिये राजा दुष्यन्त और सूत मृग का पीछा करते हुए प्रवेश करते हैं)

सूतः—(राजा और मृग को देखकर) चिरञ्जीविन्।

राजा धीरोदात्त नायक है, अतः नियमानुसार सूत व राजा दोनों का **वार्तालाप संस्कृत में** ही दिया गया है। जैसा कि भरत वचन है—

"धीरोद्धते धीरललिते धीरोदात्ते तथैव च
धीरप्रशान्ते च तथा पाठ्यं योज्यञ्च **संस्कृतम्**। इति·
सामन्तानां देवतानां राजन्यामात्यसैनिके,
वणिङ्मागध सूतानाँ पाठ्यं च **संस्कृतम्**। मातृगुप्ताचार्याः।

धीरोदात्त का लक्षण :—

महा सत्त्वोऽति गम्भीरः क्षमावानविकत्थनः।
स्थिरो निगूढाहंकारो धीरोदात्तो दृढव्रतः॥

राजा के सभी गुणों का यथास्थान वर्णन किया गया है। सूत रथी को सदा **"आयुष्मन्"** सम्बोधन करके बोलता है : "आयुष्मन्निति वाच्यस्तु रथी सूतेन सर्वदा"

सूत का लक्षण :—

निमित्त शकुनज्ञानो, हयशिक्षाविशारदः
स्वामिभक्तो महोत्साहः सर्वेषाञ्च प्रियम्वदः
शूरश्च कृतविद्यश्च सारथिः परिकीर्तितः।

यहाँ से मुख्य कथावस्तु आरम्भ होती है :—**इतिवृत्त, आधिकारिक,** (मुख्य कथा वस्तु) **पताका, प्रकरी** (प्रासङ्गिक कथावस्तु के दो भेद) भेद से तीन प्रकार का होता है यदि दो प्रकार **पताका स्थानक** भी इसी में जोड़ लिया जाय तो यह पाँच प्रकार का होता है। (इन सब का यथा स्थान वर्णन किया जायगा) विश्वनाथ एवं भरत मुनि ने पताकास्थानक चार तरह का माना है, पर धनञ्जय केवल दो ही प्रकार का मानते हैं। (१) **अन्योक्ति या अप्रस्तुत प्रशंसा के द्वारा (२) समासोक्ति के द्वारा।**

यह इतिवृत्त फिर तीन प्रकार का होता है प्रख्यात, उत्पाद्य तथा मिश्र। (१) **प्रख्यात**=इतिहास पुराणादि से गृहीत (२) **उत्पाद्य**=कविकल्पित, (३) **मिश्र**=दोनों से मिला हुआ।

प्रस्तुत नाटक की कथावस्तु महाभारत व पद्म पुराण से गृहीत है अतः प्रख्यात है।

नाटकीय **कथावस्तु** पांच भागों में विभक्त की जाती है जिन्हें **अर्थप्रकृति** कहते हैं, ये नाटक के नायक की प्रयोजन सिद्धि की हेतु होती है, इनके नाम हैं :—**बीज, विन्दु, पताका, प्रकरी, कार्य।**

इसी प्रकार फलेच्छुक नायक के द्वारा प्रारब्ध कार्य की पाँच **अवस्थाएँ** होती हैं **आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति, फलागम।**

पाँचों अर्थप्रकृतियों में से एक-एक, इन उपर्युक्त अवस्थाओं के एक एक भेद से मिलाकर ५ सन्धियाँ बनती हैं जिनके नाम हैं मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श, उप संहार। इस प्रकार इन सबको निम्नलिखित ढङ्ग से प्रकट किया जा सकता है :

अर्थप्रकृति	**अवस्था**	**सन्धि**
बीज	आरम्भ	मुख.
बिन्दु	यत्न	प्रतिमुख
पताका	प्राप्त्याशा	गर्भ
प्रकरी	नियताप्ति	सावमर्श
कार्य	फलागम	उपसंहार

इस प्रकार ये सब नाटकों में पाई जाती हैं, आचार्यों ने इन सबको इसी प्रकार मिलाया भी है, पर इससे कुछ स्पष्ट नहीं होता कि आखिरकार ये सब हैं, क्या, इसके लिये डाक्टर भोलाशंकर व्यास ने एक नवीन दृष्टिकोण उपस्थित किया है उससे वास्तव में यह बात कुछ अंश तक स्पष्ट हो जाती है।

अर्थप्रकृतियाँ तो कथावस्तु का ढाँचा खड़ा करती हैं और इस प्रकार वस्तु का उपदान कारण कहलाती हैं। अवस्थाओं का सम्बन्ध नायक की मनोदशाओं से है। अतः अर्थप्रकृतियाँ तो कथावस्तु का भौतिक दृष्टि से विभाजन करती हैं, उसे पाँच भागों में बाँटती हैं और अवस्थायें उस कथावस्तु का मनोवैज्ञानिक विभाजन करती हैं क्योंकि अवस्थाओं का सीधा सम्बन्ध नायक की मनोदशा से रहता है जैसा कि यथास्थान वर्णन किया जायेगा।

सन्धि का अर्थ है सम्बन्ध अर्थात् किसी एक प्रयोजन से परस्पर सम्बद्ध कथांशों को जब किसी दूसरे एक प्रयोजन से अन्वित किया जाय तो वह सम्बन्ध सन्धि कहलाता है।

इनमें **प्रथम मुख नामक** सन्धि है। इस सन्धि में नाना प्रकार के रस को उत्पन्न करने वाली बीजोत्पत्ति पाई जाती है अर्थात् इसी सन्धि में **कथा का बीज** रहता और **कार्य का आरम्भ** होता है। इस सन्धि के १२ अङ्ग होते हैं। इसी प्रकार अन्य सन्धियों के कई-कई भेद होते हैं जिनका यथास्थान निर्देश किया जायेगा। कुल मिलाकर सन्धियों के ६४ **भेद** होते हैं।

यत्र बीजसमुत्पत्ति र्नानार्थरससम्भवः
प्रारम्भेण समायुक्ता तन्मुखं परिकीर्तितम्।

प्रस्तुत नाटक में **"ततः प्रविशति"** से लेकर द्वितीय अङ्क में **"इत्युभौ परिक्रम्योपविष्टौ"** तक मुख सन्धि चलती है। बीच-बीच में आने वाले इस सन्धि के १२ अङ्गों का यथास्थान **वर्णन किया जायेगा।**

(ततः प्रविशति मृगानुसारी सशरचापहस्तों राजा रथेन सूतश्च ।)

सूतः—राजानं मृगं चावलोक्य ।) आयुष्मन् !

कृष्णसारे ददच्चक्षुस्त्वयि चाधिज्यकार्मुके ।
मृगानुसारिणं साक्षात्पश्यामीव पिनाकिनम् ॥ ६ ॥

पाँच अवस्थाओं में यहाँ पर इस अङ्क में प्रथम **आरम्भ नामक अवस्था** है :—**औत्सुक्यमात्रबन्धस्तु, यो बीजस्य निबध्यते, महतः फलयोगस्य स खल्वारम्भ इष्यते"** । अर्थात् जहाँ पर फल-प्राप्ति हेतु कार्य का आरम्भ किया जाय वहाँ आरम्भ नामक अवस्था होती है। प्रथम अङ्क में **"राजा—भवतु तां-एव द्रक्ष्यामि"** अर्थात् राजा कहता है अच्छा चलो उसी को (शकुन्तला को) ही देखेंगे। यह फलप्राप्ति के हेतु नायक के कार्य के आरम्भ की प्रथम मनोदशा है।

पाँच अर्थ प्रकृतियों में यहाँ बीज नामक प्रथम अर्थ प्रकृति है **"अल्प मात्रं समुद्दिष्टं बहुधा यत्प्रसर्पति, फलावसानं यच्चैव बीजं तदभिधीयते"** । अर्थात् जो पहिले अल्प-मात्र हो और फिर फल-प्राप्ति पर्यन्त उत्तरोत्तर फैलता जाय उसे बीज कहते हैं जैसा कि एक छोटा बीज ही बढ़ते-बढ़ते एक वृक्ष बन जाता है। **वैखानस राजा से कहता है "पुत्रमेवं गुणोपेतं चक्रवर्तिनमाप्नुहि"** अर्थात् तुम अपने ही समान गुणशाली चक्रवर्ती पुत्र प्राप्त करो। वैखानस का यह कथन ही कथावस्तु का बीज है जो धीरे-धीरे फैलता हुआ फल-प्राप्ति तक चलता है।

इसी प्रकार की शेष अर्थ प्रकृतियों एवं अवस्थाओं तथा सन्धियों एवं सन्धि अङ्गों का यथास्थान वर्णन किया जायेगा। इसके बाद धनुष-बाण हाथ में लिये मृग का पीछा करता हुआ राजा तथा सूत रथ के साथ प्रवेश करता है।

सूतः—(राजा और मृग को देखकर) आयुष्मन् ।

श्लोक ६ अन्वय—कृष्णसारे अधिज्यकार्मुके त्वयि च चक्षुः ददत् (अहं) मृगानुसारिणं साक्षात् पिनाकिनं पश्यामि इव ।

शब्दार्थ—कृष्णसारे=एक विशेष प्रकार का मृग जो कि काला और चितकबरा होता है। अधिज्यकार्मुके=धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ाये हुये, चक्षुः ददत्—दृष्टि डालते हुये, मृगानुसारिणम्=मृग का रूप धारण करने वाले यज्ञ का पीछा करते हुये, पिनाकिनम्=शिव जी को।

अनुवाद :—कृष्णसार मृग पर और धनुष पर प्रत्यञ्चा खींचे हुये आप पर (एक साथ ही दृष्टि डालता हुआ **मैं** मृगरूप धारी यज्ञ का पीछा करते हुये साक्षात् शिव के समान मानो (आपको) देखता हूँ।

व्याख्या—मृग का पीछा करते हुये राजा को देखकर सूत राजा से कहता है :—

आयुष्मन् ! कृष्णसार मृग पर और धनुष पर प्रत्यञ्चा खींचे हुये अर्थात् धनुष् चढ़ाये हुए आप पर (एक साथ ही) दृष्टि डालता हुआ मैं मृग रूपधारी यज्ञ का पीछा करते साक्षात् शिव जी के समान देखता हूँ। पौराणिक कथा है कि दक्ष प्रजापति के यज्ञ में अपने पति शिव जी की निन्दा को न सहन करती हुई भवानी ने जब यज्ञाग्नि में अपना शरीर त्याग कर दिया तब शिवजी क्रोधित हो यज्ञ के विध्वंस के लिये उद्यत हुये। इस प्रकार कुपित शिवजी को अपने वध के लिये आता हुआ देखकर यज्ञ, मृग का रूप धारण कर भागा। धनुष चढ़ाये हुये शिवजी ने उस मृग रूपधारी दक्ष-यज्ञ का पीछा किया और उसका सिर काट लिया। प्रस्तुत श्लोक में सूत मृग रूपधारी यज्ञ का पीछा करते हुये धनुर्धर शिव की तुलना राजा दुष्यन्त से करता है जो कि धनुष चढ़ाये हुये मृग का पीछा कर रहे थे।

राजा—सूत ! दूरममुना सारङ्गेण वयमाकृष्टाः। अयंपुनरिदानीमपि—

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद्भूयसा पूर्वकायम् ।
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ।। ७ ।।

विशेष—उक्त श्लोक में 'च' तुल्य कालताद्योतनार्थ प्रयुक्त हुआ है अर्थात् सूत मृग तथा राजा को एक साथ ही देख रहा था। और इस प्रकार एक चक्षु के, एक ही साथ, भिन्न-भिन्न स्थान में संलग्न होने से **विशेषालंकार** है क्योंकि एक नेत्र का एक काल में एक स्थान पर ही वर्तमान होना प्रतीत होता है अनेक स्थान में नहीं।

यद्यपि इव शब्द प्रयोग से यहाँ उपमालंकार की प्रतीति होती है परन्तु उपमा सम्भव नहीं है क्योंकि यहाँ प्रकृत (दुष्यन्त) अप्रकृत (पिनाकी) का तादात्म्य सम्बन्ध मात्र सम्भावित है अतः **उत्प्रेक्षालंकार है उपमा नहीं,** अन्यथा साक्षात् शब्द का प्रयोग ही व्यर्थ हो जायेगा, और उत्प्रेक्षा सूचनार्थ ही क्रिया पद के बाद 'पश्यामीव' इव शब्द का प्रयोग किया है। यदि उपमालंकार माना जायेगा तो "पिनाकिनं इव साक्षात् पश्यामि" इस प्रकार योजना करनी पड़ेगी जो उचित नहीं जान पड़ती और इस प्रकार की योजना से "ददत् चक्षुः" यह पुनरुक्त हो जायेगा अतः यहाँ उत्प्रेक्षालंकार ही मानना समीचीन है।

ष्ण ञ्च रत्व ज्य नु-सा श्या यह **श्रुत्यनुप्रास** तथा द द सा सा **वृत्यनुप्रास** भी है। **अनुष्टुप् छन्द**। इसके प्रत्येक चरण में ८ वर्ण होते हैं।

संस्कृत व्याख्या—कृष्णश्च असौ सारः—शवलःतस्मिन् कृष्णसारे (वर्णौ वर्णेन समासः) मृग विशेषे (पुरो धावमाने हरिणविशेषे) तथा ज्यां अधिकृत्य वर्तते इति अधिज्यं ज्यामधिगतम् अधिज्यं कार्मुकम् धनुः यस्य तस्मिन् अधिज्यकार्मुके त्वयि दुष्यन्ते च चक्षुः नेत्रं ददत् निक्षिपन् (अहं सूतः) मृग मनु सरतीति तम् मृगानुसारिणं मृगरुपधरयज्ञानुसारिणम् साक्षात् प्रत्यक्षरूपेण पिनाकिनम् पिनाकिधनुर्धारिणम् शिवं पश्यामि इव। इति।

उक्ता अलङ्कारादयः, अनुष्टुप् छन्दः।

पञ्चमं लघु सर्वत्र सप्तमं द्विचतुर्थयोः ।
षष्ठं गुरु विजानीयाच्छेषेषु नियमो नहि ॥

अर्थात् इस छन्द के सभी पादों में पञ्चम वर्ण लघु तथा षष्ठ गुरु होता है सम पादों में सप्तम लघु होता है। शेष के लिए कोई नियम नहीं है।

राजा—सूत ! यह हरिण तो हमे बहुत दूर ले आया है। और अब भी यह—

श्लोक ७ अन्वय—अनुपतति स्यन्दने ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुः बद्धदृष्टिः, शरपतनभयात् भूयसा पश्चार्धेन पूर्वकायं प्रविष्टः, अर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः दर्भैः कीर्णवर्त्मा, उदग्रप्लुतत्वात् वियति बहुतरं उर्व्यां स्तोकं प्रयाति इति पश्य।

शब्दार्थ—अनु=पश्चात् पीछे, पतति=आते हुए दौड़ते हुए, अर्थात् अपने पीछे दौड़कर आते हुए, स्यन्दने=रथ पर, ग्रीवा=गरदन, भङ्ग=मोड़ना, अभिराम=सुन्दर—ग्रीवाभङ्गाभिरामं=गरदन के मोड़ने से मनोहरतापूर्वक, मुहुः=बार-बार, बद्धदृष्टिः=जिसने एकटक (एकाग्र) दृष्टि को लगाया है अर्थात् एकटक दृष्टि से देखने वाला, शरपतनभयात्=वाण के लगने के डर के कारण, भूयसा=बहुत अधिक, पश्चार्धेन=शरीर के पिछले आधे भाग से, पूर्वकायम्=शरीर के पूर्वार्ध में, अर्धावलीढैः=आधे चबाये हुए, श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः=थकावट के कारण मुख से गिरने वाले, दर्भैः=कुशों से, कीर्णवर्त्मा=जिसका मार्ग भर

तदेष कथमनुपतत एव मे प्रयत्नप्रेक्षणीयः संवृत्तः ?

गया है। उदग्रप्लुप्तत्वात्=ऊँची-ऊँची चौकड़ी भरने से, अधिक-अधिक ऊँचा उछलने से, धियति=आकाश में, बहुतरं=अधिक, उर्व्यां=पृथ्वी पर, स्तोकम्=थोड़ा सा, प्रयाति =चलता है, दौड़ता है।

अनुवाद—पीछे दौड़ते हुए रथ पर गरदन मोड़ने से मनोहरता पूर्वक बार-बार एकटक दृष्टि से देखने वाला, वाण लगने के भय से (शरीर के) पिछले आधे भाग से शरीर के पूर्वार्ध भाग में बहुत अधिक प्रविष्ट हुआ सा, तथा (दौड़ने में) थकावट से खुले हुए मुख से गिरने वाले, अर्ध चर्वित कुशों से (जिसका) मार्ग व्याप्त हो गया है, (ऐसा यह मृग) ऊँची-ऊँची चौकड़ी भरने के कारण आकाश में अधिक और भूमि पर कम चलता है, यह देखो।

व्याख्या—राजा सूत से कहता है कि इस मृग का पीछा करते-करते हम लोग बहुत दूर तक चले आये हैं और देखो यह अब भी—(अपने) पीछे दौड़ते हुए (मेरे) रथ पर (अपनी) गरदन मोड़ने से मनोहरता पूर्वक बार-बार एकटक दृष्टि से देखने वाला, बाण लगने के भय से (अपने) अधिक पिछले आधे शरीर के पूर्वार्ध में प्रविष्ट हुआ सा, (पशुओं के शरीर का पूँछ से लेकर पीठ तक का भाग पश्चार्ध तथा मुख से गरदन तक का भाग पूर्वार्ध कहलाता है। इस प्रकार वह मृग भय से अपने पश्चार्ध को सिकोड़ कर मानो पूर्वार्ध शरीर में प्रविष्ट हो गया था, पश्चार्ध को पूर्वार्ध शरीर से सिकोड़ कर मिलाता हुआ मानो वह गोलाकार बन-रहा था) तथा आधे चबाये हुए, (परन्तु दौड़ने में प्रश्वास के बढ़ने के कारण) थकावट से खुले हुए (उसके) मुख से गिरने वाले कुशों से (जिसका) मार्ग व्याप्त हो गया था, भर गया था अर्थात् तेज दौड़ने से थकावट के कारण उसका मुख खुल जाता था और जिससे आधे चबाये हुए कुश गिर पड़ते थे जिससे कि वह मार्ग व्याप्त हो रहा था, ऐसा यह मृग देखो, ऊँची-ऊँची चौकड़ी भरने के कारण आकाश में ही अधिक पर पृथ्वी पर कम दौड़ रहा है अर्थात् तेज चौकड़ी भरने के कारण ऐसा ज्ञात होता था कि मानो मृग निराधार आकाश में ही अधिक देर तक दौड़ता है पृथ्वी पर तो बहुत ही कम पैर पड़ते हैं।

भावार्थ—राजा का रथ मृग के पीछे दौड़ रहा है अतः मृग बार-बार भय के कारण अपनी गरदन मोड़कर रथ पर एकटक दृष्टि से देखने लगता है, गरदन मोड़कर इस प्रकार उसका बार-बार रथ पर देखना बड़ा सुन्दर प्रतीत होता है। उसे यह डर है कि कहीं राजा द्वारा छोड़ा गया तीर उस पर लग न जाय अतः वह अपने पिछले शरीर को सिकोड़ कर अगले भाग में मिला देना चाहता है, गोलाकार बन जाना चाहता है। वह कुशों को पूर्णतया खा भी नहीं पाया था कि राजा ने अपना रथ उसके पीछे डाल दिया। वह बचने के लिये तेज भागता है, थकावट से हाँफने के कारण उसका मुँह खुल जाता है और उससे आधे चबाये हुए कुश गिर पड़ते हैं जो मार्ग में फैले पड़े हैं। डर के कारण इतने वेग से भागता है कि ऐसा ज्ञात होता है कि उसके पैर भूमि पर बहुत ही कम पड़ते हैं।

विशेष—प्रविष्टः इव यहाँ पर **गम्योत्प्रेक्षा** है क्योंकि श्लोक में इव पद का प्रयोग नहीं है परन्तु अर्थ है प्रविष्ट हुआ सा, क्योंकि वास्तव में प्रविष्ठ तो हो ही नहीं सकता। श्रमेणेत्यादि पद में रसना है **काव्यलिङ्ग अलङ्कार** "प्रत्युत्तरोत्तरार्थं यत्पूर्वपूर्वार्थहेतुता, रसनाकाव्यलिङ्गम् तत्। अर्थात् जहाँ उत्तरोत्तर अर्थ के प्रति पूर्व पूर्वार्थ को हेतुता रहती है वहाँ रसना काव्यलिङ्ग होता है। ऐसे स्थल पर कारण माला अथवा काव्यलिङ्ग अलङ्कारों की आशंका न करनी चाहिये। इनके लक्षणों में पर्याप्त अर्थ भेद है। प्रधानतया तो यहाँ **स्वभावोक्ति अलङ्कार है** क्योंकि मृग की स्वभावगत चेष्टाओं का वर्णन

सूतः—आयुष्मन् ! उद्घातिनी भूमिरिति मया रश्मिसंयमनाद्रथस्य मन्दीकृतो वेगः, तेन मृग एष विप्रकृष्टान्तरः, संप्रति समदेशवर्तिनस्ते न दुरासदो भविष्यति।

राजा—तेन हि मुच्यन्तामभीषवः।

है। काव्यलिङ्ग व स्वभावोक्ति में अङ्गाङ्गिभाव संकर है। इनके अतिरिक्त **छेका वृत्ति श्रुति** शब्दालङ्कार है। इसमें **भयानक रस** व्यङ्ग्य है—मृगगत भय स्थायी भाव है, धनुर्धर दुष्यन्त से अधिरूढ़ रथ का देखना आलम्बन विभाव, रथ का अनुपतन शरपतन आदि उद्दीपन विभाव, ग्रीवा भङ्ग करना, अर्धचर्वित कुशों का स्खलन, .शरीर संकोच, चञ्चलता, विवृत मुख आदि अनुभाव, त्रास, शंका, आवेग आदि व्यभिचारी भाव हैं। कम्पादि सात्त्विक भाव हैं।

स्रग्धरा छन्द है। (इसका लक्षण पीछे लिखा जा चुका है)

संस्कृत व्याख्या—अनुपतति पश्चाद्धावति स्यन्दने रथे, अस्मद्रथ-मुद्दिश्येत्यर्थः ग्रीवायाः कन्धरायाः भङ्गं न परावर्तनेन अभिरामं मनोहरं यथा स्यात्तथा ग्रीवाभङ्गा। भिराम मुहुः पुनः पुनः बद्धा दृष्टि र्येन स बद्धदृष्टिः आसक्तलोचनः शरस्य पतनं तस्मात् भय तस्मात् शरपतनभयात् (स्वगात्रे) वाणसंपातत्रासेन भूयसा अधिकेन . पश्चार्धेन "अर्ध विनापि पूर्वपदेन पश्च भावो वक्तव्यः इति वार्तिकेन पश्चार्धेति सिद्ध्यति" स्वशरीरस्य पश्चार्धभागेन पूर्वं कायस्य पूर्वकायस्तं पूर्वकायं शरीरस्य पूर्वभागम् प्रविष्टः इव मण्डलीभूत इवेति गम्योत्प्रेक्षा/अर्ध अवलीढास्तैरर्धावलीढैः अर्धचर्वितैः श्रमेण भयाद्द्रुततरगमनजन्यायासेन विवृतं व्यात्तं यन्मुखं तस्मात् भ्रंशिभिः अधः पतद्भिः दर्भैः कुशैः कीर्णं वर्त्म यस्य व्याप्तगमनमार्गः (एवम्भूतः अयं मृगः) उदग्रं उच्चंप्लुतं प्लवनं यस्य तस्य भावस्तस्मात् उदग्रप्लुतत्वात् उत्कटोत्प्लवनात् वियति आकाशे बहुतरं अधिकं उर्व्यां भूमौ स्तोकं अल्पं प्रयाति प्रकृष्टं गच्छतीति पश्य इति। मृगोऽयं कूर्दनवशात् गगन एव बहुकालं धावन् दृश्यते भूमौ तु अल्पमेव-प्रयातीत्यर्थः। उक्ता लङ्कारादयः स्रग्धरा वृत्तम्।

अरे ! यद्यपि मैं इसके पीछे-पीछे ही दौड़ रहा हूँ फिर भी यह इतनी दूर निकल गया है कि कठिनता से ही दिखलाई पड़ता है।

सूत—आयुष्मन् ! इस भूमि के ऊँची-नीची होने के कारण मैंने घोड़ों की रास खींचकर रथ का वेग कम कर दिया था। (उद्घातिनी=ऊँची-नीची। रश्मि-संयमनात् =घोड़ों की रस्सियों के कड़ी कर लेने से—खींच लेने से) इस कारण वह मृग दूर निकल गया था, पर अब समतल भूमिवर्ती आपके लिये इसका मिलना कठिन न होगा। (विप्रकृष्टान्तर=विप्रकृष्ट=दूर, अन्तर=अवकाश, दुरासदः=दुष्प्राप्य)

राजा—तो बागडोर ढीली कर दो (अभीषवः=घोड़ों के जोतने की रस्सियाँ)।

सूत—जैसी आयुष्मान् की आज्ञा। (रथ का वेग दिखलाकर) देखिये, देखिये, आयुष्मन् :

श्लोक ८ अन्वय—रश्मिषु मुक्तेषु निरायतपूर्वकाया निष्कम्पचामरशिखा निभृतोर्ध्वकर्णाः आत्मोद्धतैः अपि रजोभिः अलंघनीया अमी रथ्या मृगजवाक्षमया इव धावन्ति।

शब्दार्थ—रश्मिषु—प्रग्रह=घोड़ों के लगामों के या रस्सियों के, मुक्तेषु—छोड़ देने पर अर्थात् ढीली कर देने पर, निरायत—नितरां बहुत अधिक लम्बे, पूर्वकाय—शरीर का अगला भाग अर्थात् जिनके शरीर का पूर्व भाग बहुत अधिक लम्बा-चौड़ा हो गया है, निष्कम्पचामरशिखा—(शोभा के लिये मस्तक पर बाँधी गई) कलंगी या चौरी के अग्रभाग (जिन घोड़ों के) निश्चल हैं अर्थात् सीधे खड़े हुये हैं, हिलते डुलते नहीं, घोड़े जब बड़े वेग से

सूतः—यदाज्ञापयत्यायुष्मान् (रथवेगं निरूप्य ।) आयुष्मन् ! पश्य पश्य,

मुक्तेषु रश्मिषु निरायतपूर्वकाया
निष्कम्पचामरशिखा निभृतोर्ध्वकर्णाः ।
आत्मोद्धतैरपि रजोभिरलंघनीया
धावन्त्यमी मृगजवाक्षमयेव रथ्याः ॥ ८ ॥

राजा:—सत्यम्ःअतीत्य हरितो हरीश्च वर्तन्ते वाजिनः । तथा हि,

दौड़ते हैं तो शोभार्थ उनके मस्तक पर बँधी कलंगि, हिलती नहीं सीधी खड़ी रहती है अथवा चामर का अर्थ एक टीकाकार ने पुच्छ भी लिया है अतः इसका अर्थ होगा कि जिनके पुच्छ के अग्रभाग निश्चल हैं, अथवा चामर का अर्थ—स्कन्ध प्रदेशस्थ घोड़े के केसरों (बाल अयाल) के अग्रभाग निश्चल हैं। दौड़ते समय घोड़ों की पूँछ एवं गरदन के ऊपर बाल भी स्थिर निष्कम्प ही रहते हैं। निभृतोर्ध्वकर्णाः=जिनके दोनों कान खड़े तथा निश्चल हैं, आत्मोद्धतैः=अपने द्वारा अर्थात् अपने खुरों से उठाई गई, रजोभिः=धूलियों से, अलङ्घनीया=जो उल्लङ्घनीय न हों अर्थात् उनके ही खुरों से उठी हुई धूलि भी जिनका स्पर्श नहीं कर पाती थी। धूलि जब तक उठकर उनके ऊपर पड़े इसके पहिले ही वे उससे आगे निकल जाते थे। अमी=ये, रथ्याः=रथ के घोड़े, मृगजवाक्षमया=मृग के धावन वेग को न सहन करते हुए मानो वे दौड़ रहे हैं।

अनुवाद—रस्सियों के ढीली कर देने पर ये घोड़े, जिनके शरीर का पूर्वभाग अधिक विस्तृत हो गया है, (जिनके मस्तक पर बँधी) चोटियों के अग्रभाग सीधे खड़े हुये हैं, जिनके कान सीधे खड़े हुये तथा निश्चल हैं और जो अपने द्वारा उठाई गई धूलियों से भी स्पृष्ट नहीं हो रहे हैं, मृग के वेग को न सहन करने के कारण मानों दौड़ रहे हैं।

व्याख्या—राजा के यह कहने पर कि अब भूमि भाग समतल है अतः प्रग्रह ढीली कर दो, सूत रस्सियों को शिथिल करके रथ वेग को दिखला कर कहता है देखिये—

रस्सियों के ढीली कर देने पर ये घोड़े, जिनका कि शरीर का पूर्व भाग (वेग पूर्वक दौड़ने के कारण) विस्तृत लम्बा चौड़ा हो गया है, (तेजी से दौड़ने के कारण घोड़ों का अगला भाग स्कन्ध मुख अग्रपादादि अधिक विस्तृत फैले हुये जान पड़ने लगते हैं) जिनके मस्तक पर शोभावर्धनार्थ बँधी चोटियों के अग्रभाग (वेग से दौड़ने के कारण) सीधे खड़े हुये हैं, जिनके कान सीधे खड़े हुए तथा निश्चल हैं और जो कि अपने ही खुरों से उठी धूलि से भी स्पृष्ट नहीं होते हैं अर्थात् जो धूलि से भी तेज दौड़ रहे हैं, मृग के वेग को न सहन करने के कारण मानो (इतने वेग से) दौड़ते हैं।

विशेष—श्लोकगत चारों ही विशेषणों से अश्वों का वेगातिशय ध्वनित होता है।

अक्षमया इव यहाँ पर **हेतूत्प्रेक्षालंकार है**, अश्व-स्वभाववर्णन है अतः **स्वाभावोक्ति** अलङ्कार है, **वृत्यनुप्रास। बसन्त-तिलका वृत्तम्** "**उक्ता बसन्ततिलका तमजा जगौ गा**" अर्थात् वसन्त तिलका छन्द में क्रमशः तगण भगण जगण जगण दो गुरु इस क्रम से १४ वर्ण होते हैं।

S S । । । । । S । । S । S S

यथा :—मु क्ते षु र श्मि षु नि रा य, त पू र्व, का या :।

संस्कृत व्याख्या—मुक्तेषु संयमनात् शिथिलीकृतेषु रश्मिषु प्रग्रहेषु, निरायतः नितरां दीर्घःपूर्वकायः पूर्वशरीरं येषां ते निरायतपूर्वकायाः निष्कम्पाः निश्चलाः चामराणां (शोभार्थं बद्धानां) शिखाः अग्रभागाः येषां ते निष्कम्पचामरशिखाः, निभृतौ निश्चलौ ऊर्ध्वौ कर्णौ येषां ते निभृतोर्ध्व-कर्णाः, आत्मना उद्धताः तैः आत्मोद्धतैः स्वखुरोत्थापितैः अपि रजोभिःधूलिभिः

यदालोके सूक्ष्मं व्रजति सहसा तद्विपुलतां
यदर्धे विच्छिन्नं भवति कृतसंधानामिव तत् ।
प्रकृत्या यद्वक्रं तदपि समरेखं नयनयो—
र्न मे दूरे किंचित्क्षणमपि न पार्श्वे रथजवात् ॥९॥
सूत ! पश्यैनं व्यापाद्यमानम् । (इति शरसंधानं नाटयति ।)

अलंघनीया अनतिक्रमणीया अमी पुरोदृश्यमाना रथं वहन्ति रथ्याः रथवाहिनः अश्वा मृगस्य जवस्य वेगस्य अक्षमा तया मृगजवाक्षमया मृगवेगाक्षमया इव धावन्ति । इति । स्वखुरोद्धतधूलिसमूहै रपि अश्वाः अनुल्लंघनीयाः किमुतान्यैः इति वेगातिशयो निरुपितः । उक्ता अलङ्कारदयः, वसन्ततिलका वृत्तम् ।

राजा—सचमुच इन घोड़ों ने तो सूर्य के घोड़ों को भी पछाड़ दिया है (हरितः=हरे या नीले वर्ण वाले, हरीन्=घोड़ों को—सूर्य के घोड़ों का रंग नीला या हरा माना जाता है अतएव हरितः हरीन् का अर्थ सूर्य के घोड़ों को)

श्लोक—९ अन्वय—रथजवात् यत् (वस्तु) आलोके सूक्ष्मं तत् सहसा विपुलतां व्रजति, यत् अर्धे विच्छिन्नं तत् कृतसन्धानम् इव भवति यत् प्रकृत्या वक्रं तद् अपि समरेखं, तथा किञ्चित् मे नयनयोः क्षणम् अपि न दूरे न पार्श्वे (तिष्ठति) ।

शब्दार्थ—रथजवात्=रथ के वेग के कारण, आलोके=दूर से देखने में । सूक्ष्मं=दूर से देखने के कारण अत्यन्त छोटी दिखलाई पड़ने वाली, विपुलतां व्रजति=विशालता को प्राप्त हो जाती है अर्थात् बड़ी प्रतीत होने लगती है । सहसा=हठात् अकस्मात् ही, अर्धे विच्छिन्नम्=बीच से कटी हुई, कृतसंधानमिव=मानो (किसी ने) जोड़ दिया हो, प्रकृत्या=स्वभावतः, समरेखं=सीधी ।

अनुवाद—रथ के वेग के कारण जो वस्तु (दूर से देखने पर) सूक्ष्म पतली या छोटी (दिखलाई पड़ती है) वह अकस्मात् मोटी हो जाती है । जो वस्तु बीच में कटी हुई सी (जान पड़ती) है वह जोड़ी हुई सी हो जाती है । और जो वस्तु स्वभावतः टेढ़ी है वह भी नेत्रों को सीधी जान पड़ने लगती है । रथ वेग के कारण न तो कोई वस्तु मेरे नेत्रों के पास क्षण भर रह पाती है और न दूर ही रह पाती है ।

व्याख्या—रथ के वेग को देखकर राजा सूत से कहता है—रथ के वेग के कारण जो वस्तु पहले दूर से देखने में सूक्ष्म, पतली या छोटी दिखाई देती है वही अकस्मात् तुरन्त ही मोटी हो जाती है (रथ के दूर होने पर दूरस्थ वस्तु पतली या छोटी दिखलाई पड़ती हैं और वेगवश जब रथ तुरन्त पास में आ जाता है तो वही मोटी दिखलाई पड़ने लगती है ऐसा होना स्वाभाविक ही है) जो वस्तु बीच से कटी हुई सी जान पड़ती है वह तुरन्त ऐसी जान पड़ने लगती है मानो उसे किसी ने जोड़ दिया हो, और जो वस्तु स्वभावतः टेढ़ी है वह नेत्रों को सीधी सी दिखाई पड़ने लगती है । तात्पर्य यह है कि रथ इतने वेग से दौड़ रहा है कि कोई वस्तु न तो मेरे नेत्रों के पास ही क्षण भर रह पाती है और न दूर ही रह पाती है । सारांश यह है कि रथ के वेग के कारण किसी भी वस्तु का अत्यन्त समीप होना या दूर होना नहीं कहा जा सकता है ।

विशेष—स्वाभावोक्ति अलंकार, विरोधाभास, यथासंख्यालंकार रथ के वेग से वस्तुओं का छोटा-बड़ा, टेढ़ा व सीधा दिखलाई पड़ना स्वभाव कथन है । सूक्ष्म का विपुल होना, वक्र का सीधा होना आदि में विरोध का आभास है, सूक्ष्म का विपुल होना विपुल का सूक्ष्म होना यथासंख्यवर्णन है अतः यथा संख्यालंकार है । कृतसंधानम् इव में **उत्प्रेक्षालंकार** है, समरेखम् इव भवति यहाँ इव के अभाव में ही इव का तात्पर्य है अतः **गम्योत्प्रेक्षा** है । रथजवात् में **हेतु अलंकार** है । यद यदेति वतवतेति नयनयोः इत्यादि में **छेकानुप्रास** तथा **वृत्यनुप्रास** की,

(नेपथ्ये)

भो भो राजन् ! आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः।

सूत :—(आकर्ण्यावलोक्य च। आयुष्मन् ! अस्य खलु ते वाणपातवर्तिनः कृष्णसारस्यान्तरे तपस्विन उपस्थिताः।

(ससंभ्रमम्) राजा—तेन हि प्रगृह्यन्तां वाजिनः।

सूत :—तथा (इति रथं स्थापयति।

(ततः प्रविशत्यात्मना तृतीयो वैखानसः।)

वैखानसः—(हस्तमुद्यम्य) राजन् ! आश्रममृगोऽयं न हन्तुव्यो न हन्तब्य :।

संसृष्टि, दकारादि अक्षरों में श्रुत्यनुप्रास भी है। शिखरिणी छन्द है 'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागाः शिखरिणी' इस लक्षणानुसार यगण, म न स भ लघु तथा गुरु वर्णों के क्रम से १७ वर्णों का यह छन्द होता है जिसमें ६ या ११ पर यति होती है।

| s s s s | | | | | s | s | | s
य दा लो, के सूक्ष्मं व्र ज ति, स ह सा, त द्वि पु, ल ताम्

संस्कृत व्याख्या—रथस्य जवः वेगः तस्मात् रथजवात् यत् (वस्तु) वृक्षादि रूपं, आलोके दूरात् दर्शनः इत्यर्थः सूक्ष्मं तनुतरं दृश्यत इति शेषः अथवा आलोके इति लोकृ घातोर्लट्रूपम् यत्सूक्ष्मं आलोके पश्यामि इत्यर्थः तद् वस्तु सहसा अकस्मादेव द्रागेव वा तस्मिन्न्वक्षणे इत्यर्थः विपुलतां विस्तीर्णतां व्रजति भजति धत्ते इत्यर्थः' यद्वस्तु अर्धे विच्छिन्नं त्रुटितं (वृक्षपक्ति भूतलादिकं) तत् कृतसंधानं इव कृतसन्धि-वद्भवति अपृयग्भूतं इव दृश्यते मिलितम् इव अवलोक्यते इत्यर्थः प्रकृत्या स्वभावेन यद्वस्तु वक्रं कुटिलं (आसीत्) तद् अपि नयनयोः नेत्रयोः समा रेखा यस्त तत् समरेखम् सरलं ऋजु वा (भवति) तथा किञ्चिदपि वस्तु मे नयनयोः क्षणम् अपि स्वल्पकाल मपि न दूरे न वा पार्श्वे असन्निधाने वा तिष्ठति इति। उक्ता अलंकारदयः, शिखरिणी वृत्तम्।

"कृष्णसारे ददच्चक्षुः" से लेकर यहाँ तक ३६ नाट्यभूषणों में से प्रथम विभूषण नामक नाट्यभूषण का निर्देश किया गया है। भूषण लक्षण है—"गुणालङ्कार बहुलं भाषणं भूषणं मतम्" इति। अर्थात् गुण तथा अलङ्कारों के आधिक्य से विभूषित भाषण नाट्य भूषण कहलाता है, ये ३६ होते हैं इनका यथास्थान निर्देश किया जायगा।

सूत ! अब इसे मारा जाता हुआ देखो। (वाण चढ़ाने का अभिनय करता है)।

(नेपथ्य में)

"अप्रविष्ट एव यज्जवनिकाण्तरे वदति तन्नेपथ्य इत्युच्यते अर्थात् परदे के अन्दर बिना प्रवेश किये हुए जो कुछ कहा जाता है वह नेपथ्य कहलाता है। और इस प्रकार यह अन्तर सन्धि का उदाहरण है क्योंकि "स्वप्नो दूतश्च लेखश्च नेपथ्योक्तिस्तथैव च, आकाश-वचनञ्चेति ज्ञेया ह्यन्तरसन्धयः" इस वचन के अनुसार नेपथ्य उक्ति अन्तर सन्धि कहलाती है।

राजन् यह आश्रम का मृग है, इसे नहीं मारना चाहिए।

सूत—(सुनकर और देखकर) आयुष्मन् ! तुम्हारे वाण के निपात के समीपवर्ती कृष्णसार मृग के बीच में तपस्वी आ खड़े हुए हैं अर्थात् जिस मृग पर अभी आप वाण चला रहे हैं उसके बीच में (मृग और वाण के बीच में) तो ये तपस्वी खड़े हो गये हैं।

राजा—(घबड़ा कर शीघ्रता पूर्वक) अच्छा तो घोड़ों को रोक लो।

सूत—अच्छा ! (रथ खड़ा कर लेता है)।

(दो शिष्यों के साथ वैखानस (तपस्वी का प्रवेश)

तत्साधुकृतसंधानं प्रतिसंहर सायकम् ।
आर्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि ॥१०॥

राजा—एष प्रतिसंहृतः । (इति यथोक्तं करोति ।)

वैखानसः—सदृशमेतत्पुरुवंशप्रदीपस्य भवतः ।

वैखानस—(हाथ उठाकर) राजन् ! यह आश्रम का मृग है, इसे न मारना चाहिए न मारना चाहिए ।

(तापसजन भी संस्कृत बोलते हैं—जैसा कि भरत वाक्य है—"**परिसेव्राज्यशाक्येषु तापसश्रोत्रियेषु च, द्विजा ये चैव लिंगस्थाः संस्कृतं तेषु योजयेत् ।**")

श्लोक—१० अन्वयः—तत् साधुकृतसन्धानं सायकं प्रतिसंहर, वः शस्त्रं आर्तत्राणाय (अस्ति) अनागसि प्रहर्तुं न (अस्ति)

शब्दार्थ—तत्=अतः इस कारण से । साधुकृतसन्धानं=अच्छी तरह से धनुष पर आरोपित किये गये । प्रतिसंहर, उतार लो वः=आप लोगों का, आप जैसे वीर धर्मात्मा क्षत्रियों का, आर्तत्राणाय=पीड़ितों की रक्षा के लिए, प्रहुर्तुं=प्रहर्तुं करने के लिए अनागसि=निरपराधी पर ।

अनुवाद :—तो इस कारण, अच्छी तरह से धनुष पर आरोपित किये गये वाण को उतार लीजिये । क्योंकि आप लोगों का शस्त्र तो पीड़ित जनों की रक्षा के लिये है निरपराध पर प्रहार के लिए नहीं है ।'

व्याख्या—धनुष पर वाण चढ़ाये हुए आश्रम मृग को मारने के लिए उद्यत राजा को देखकर वैखानस कहता है—

(यह आश्रम का मृग है अतः अबध्य है, आप वज्रवत्, कठोर वाण इस पर न **चलाइये**) अतः (मृग पर छोड़ने के लिए) खूब खींच कर तान कर (धनुष) पर चढ़ाये **गए वाण** को (आप) उतार लीजिए क्योंकि आप जैसे वीर क्षत्रियों का शस्त्र तो पीड़ितों की रक्षा करने के लिए होता है न कि निरपराधी पर (मृग जैसे) प्रहार करने के लिए अर्थात् मृग जैसे निरपराध पशु पर प्रहार न कीजिये ।

विशेष—यहाँ पूर्वार्ध वाक्य के प्रति परभागस्थ दो वाक्य क्रमशः अन्वय व्यतिरेक रूप कारण हैं अतः वाक्यार्थ हेतुक **काव्य लिंग अलंकार** है, कोई विद्वान् यहाँ पूर्ववाक्य का उत्तर वाक्य द्वारा समर्थन बतला कर **अर्थान्तरन्यासालंकार** मानते हैं । साधु संधेति तुं तुं त्रास्त्रे में **छेका तथा श्रुत्यनुप्रास हैं अनुष्टुप् छन्द ।**

संस्कृत व्याख्या—तत्तस्मात् कारणात् (आश्रम मृगत्वात् शरस्य च वज्रवत् कठोरत्वात् वध्यमानत्वाभावात् इत्यर्थः) साधु सम्यक् प्रकारेण यथा स्यात् तथा कृतं संधानं यस्य तत् कृतसन्धानं मृगोपरि निक्षेपणाय धनुष्यारोपित मित्यर्थः सायकं बाणं प्रतिसंहर प्रत्यावृत्य स्वस्थानं प्रापयेत्यर्थः । अत्र अन्वय व्यतिरेकि हेतुमुपदिशति:—वः युष्माकं क्षत्रियाणाम् शस्त्रं वाणादिकम् आर्तानां पीड़ितानां विपन्नानां त्राणाय रक्षणाय (अस्ति) अनागसि अपराधरहिते प्राणिनि प्रहर्तुम् निक्षेप्तुम् न, अनुचितम् इत्यर्थः । उक्ता अलङ्कारादयः । अनुष्टुप् वृत्तम् ।

राजा—लो, यह उतार लिया (अर्थात तुम्हारे कथन के अनुसार मैंने धनुष से वाण हटा लिया) जैसा कहा था वैसा ही करता है अर्थात् वाण उतारता है ।

वैखानस—आप जैसे पुरुवंश के दीपक के लिए ऐसा करना ही शोभा देता है ।

जन्मयस्य पुरोर्वंशे युक्तरूपमिदं तव ।
पुत्रमेवंगुणोपेतं चक्रवर्तिनमाप्नुहि ॥११॥

इतरौ—(बाहू उद्यम्य ।) सर्वथा चक्रवर्तिनं पत्रमाप्नुहि ।

राजा—(सप्रणामम् ।) प्रतिगृहीतम् ।

श्लोक ११—अन्वय—पुरोः वंशे यस्य (ते) जन्म तव इदं युक्तरूपम्, एवं गुणोपेतं चक्रवर्तिनं पुत्रम् आप्नुहि ।

शब्दार्थ—पुरोः=पूरु नामक चक्रवर्ती, ययाति राजा के पुत्र के, युक्तरूपम्=अत्यन्त उचित, आप्नुहि=प्राप्त करो ।

अनुवाद :—पुरु राजा के वंश में जिस आपका जन्म (हुआ है ऐसे) आपके लिये यह बड़ा ही उचित है । आप इस प्रकार के गुणों से युक्त चक्रवर्ती पुत्र को प्राप्त करें ।

व्याख्या—राजा द्वारा वैखानस की प्रार्थनानुसार धनुष से वाण उतार लेने पर प्रसन्न होकर वैखानस राजा की प्रशंसा करता हुआ उन्हें आर्शीवाद देता है ।

ययाति पुत्र पुरु के वंश में जिस आप का जन्म हुआ है उस आप के लिए यह हमारे कहने के अनुसार वाण का प्रति-संहार रूप कार्य बड़ा ही उचित है अर्थात् पुरुवंशज को ऐसा करना ही शोभा देता है (यह राजा की प्रशंसा थी इसके बाद वैखानस उसे आशीर्वाद देता है) आप इस प्रकार अपने सदृश ही दया दाक्षिण्यादि गुणों से युक्त चक्रवर्ती पुत्र प्राप्त करो ।

विशेष—युक्त रूप पदार्थ के प्रति पुरुवंश जन्म रूप कारण है अतः **काव्यलिङ्ग अलंकार । अनुष्टुप् छन्द ।**

संस्कृत व्याख्या—वाणप्रतिसंहरणेन प्रसन्नो वैखानसः राज्ञे दुष्यन्ताय प्रशंसापूर्वक आशीरर्पयतिः—पुरोः ययातिपुत्रस्य पुरुनामकस्य राज्ञः वंशे यस्य तव जन्म तस्य तव इदं मदुक्तकरणरूपं कार्यम् अतिशयेन युक्तं युक्तरूपम् अस्तीति शेषः अतः एवं दयादाक्षिण्यादिगुणैः उपेतं युक्तम् चक्रवर्तिनं पुत्रम् आप्नुहि लभस्व इति ।

इतरौ (दूसरे दो वैखानस)— (हाथ उठा कर) निश्चय रूप से आपको चक्रवर्ती पुत्र प्राप्त हों ।

राजा— (प्रणाम करके) (आप लोगों का वचन) मुझे स्वीकृत है ।

वैखानस—राजन् ! हम लोग समिधा (हवन की लकड़ियाँ) लेने जा रहे हैं । मालिनी नदी के किनारे यह कुलपति कण्व का आश्रम दिखलाई पड़ रहा है, अगर किसी काम में विलम्ब न हो रहा हो तो चल कर अतिथि सत्कार ग्रहण कीजिये ।

और भी :—

"मुनीना दशसाहस्रं योऽन्नदानादिपोषणात्
अध्यापयति विप्रर्षि रसौ कुलपतिः स्मृतः"

अर्थात् जो विप्रर्षि दश हजार छात्रों को पढ़ाता है तथा अन्नादि देकर रक्षा भी करता है वह कुलपति कहा जाता है ।

"राजन् ! समिधाहरणाय प्रस्थिता वयम् ।"

यहाँ से लेकर 'सत्कारः' यहाँ तक उल्लेख नाम का नाट्यालंकार प्रयुक्त हुआ है । उल्लेख का अर्थ है कार्य का निर्देश करने वाला **"उल्लेखः कार्यदर्शकः"** ।

३६ भूषण के समान ही ३३ नाट्यालंकार भी होते हैं । शेष नाट्यालंकारों का यथास्थान निर्देश किया जायेगा ।

वैखानसः—राजन् ? समिदाहरणाय प्रतिस्थता वयम्। एष खलु कण्वस्य कुलपतेरनुमालिनीतीरमाश्रमो दृश्यते। न चेदन्यकार्यातिपातः, प्रविश्य प्रतिगृह्यतामातिथेयः सत्कारः। अपि च,

रम्यास्तपोधनानां प्रतिहतविघ्नाः क्रियाः समवलोक्य।
ज्ञास्यसि कियद्भुजो मे रक्षति मौर्वीकिणाङ्क इति ॥१२॥

राजा—अपि संनिहितोऽत्र कुलपतिः।

वैखानसः—इदानीमेव दुहितरं शकुन्तलामतिथिसत्काराय नियुज्य दैवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः।

श्लोक १२ अन्वय—रम्याः प्रतिहतविघ्नाः तपोधनानां क्रियाः समवलोक्य (त्वं) ज्ञास्यसि, मौर्वीकिणाङ्कः मे भुजः कियत् रक्षति।

शब्दार्थ—प्रतिहतविघ्नाः=जिनके विघ्न नष्ट कर दिये गये हैं, मौर्वीकिणाङ्कः=प्रत्यञ्चा खींचने की रगड़ से जिसमें गड्ढे पड़ गये हैं, कियत्=कितना।

अनुवाद—रमणीक (एवं) जिनके विघ्नादि दूर कर दिये गये हैं (ऐसी) तपस्वियों की यज्ञानुष्ठानादि क्रियाओं को भली भाँति देखकर (आप) जान लेंगे कि आपकी भुजा (जोकि) प्रत्यञ्चा के खींचने की रगड़ से चिह्नित है, कितनी रक्षा करती है।

व्याख्या—वैखानस कहता है कि आप आश्रम चल कर अतिथि सत्कार ग्रहण करें इतना ही नहीं अतिथि सत्कार ग्रहण करने के अतिरिक्त आप वहाँ यह भी देखेंगे—

रमणीक वेदबोधित विधियों से की जाने के कारण सुन्दर और जिनके विघ्नादि दूर कर दिये गये हैं ऐसी तपस्वियों की यज्ञानुष्ठनादि क्रियाओं को भली-भाँति देख कर आप यह जान लेंगे कि आपकी भुजा जो कि प्रत्यञ्चा के खींचने की रगड़ से चिह्नित है कितनी और किस तरह इन तपस्वियों की रक्षा करती है तात्पर्य है कि आश्रम में अतिथि सत्कार ग्रहण करने के अतिरिक्त आप वहाँ पर तपस्वियों के निर्विघ्न यज्ञानुष्ठानों को देखकर यह भी समझ लेंगे कि मेरी भुजाओं द्वारा रक्षित ये ऋषि किस प्रकार अपनी धार्मिक क्रियायें सफलतापूर्वक कर रहे हैं।

विशेष—भुजः यह एक वचन निर्देश है इससे ध्वनित होता है कि राजा अकेला ही बिना किसी की सहायता के ही इनकी रक्षा करता है। "**स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः**" **प्रतिहतविघ्नाः** से राजा का प्रतापातिशय द्योतित होता है। **क्रियाः** इस बहुवचन निर्देश से यज्ञ अनुष्ठान, अध्यापन, शास्त्र चिन्तन, देवपूजन, अतिथिसत्कारादि धार्मिक कृत्यों का ग्रहण है। **तपोधनानाम्** पद से तत्रत्य तपस्वियों का अन्य विषय निरपेक्षत्व द्योतित होता है। क्रियाएँ नव प्रकार की कही गई हैं :—

आरम्भो निष्कृतः शिक्षापूजनं संप्रधारणम्"
उपायः कर्म चेष्टा च चिकित्सा च नव क्रियाः। **समवलोक्य ज्ञास्यसि से** तात्पर्य है कि सुनकर ही नहीं स्वयं अच्छी तरह से देखकर जिसमें कि आपको पूर्ण विश्वास हो सके आप जानेंगे, न तो जानते थे और न जानते हैं प्रत्युत स्वयं देखने के बाद आप वस्तुस्थिति समझ सकेंगे।

मौर्वीकिणाङ्क : से उसका सर्वदा जन त्राणपरायण होना द्योतित होता है।

यहाँ साभिप्राय विशेषणों के प्रकृतोपयोगी होने से **परिकर अलंकार है। काव्यलिंग।** **किणाङ्क** : यहाँ पर **पुनरुक्तवदाभास** क्योंकि किण व अङ्क दोनों का एक सा ही अर्थ प्रतीत

राजा—भवतु ! तामेव द्रक्ष्यामि । सा खलु विदितभक्तिं मां महर्षेः कथयिष्यति ।

वैखानसः—साधयामस्तावत् । (इति सशिष्यो निष्क्रान्तः)

राजा—सूत ! चोदयाश्वान् । पुण्याश्रमदर्शनेन तावदात्मानं पुनीमहे

सूतः—यदाज्ञापयत्यायुष्मान् । (इति भूयो रथवेगं निरूपयति ।)

राजा—(समन्तादवलोक्य ।) सूत ! अकथितोऽपि ज्ञायत एव यथायमाश्रमाभोगस्तपोवनस्येति ।

सूतः—कथमिव ?

होता है । मौर्वी=प्रत्यञ्चा, किण=चिह्न, अङ्क=चिह्न, पर यहाँ उसका अर्थ भूषण है "अङ्को भूषण लक्ष्मसु" कोशः । श्रुति तथा वृति अनुप्रास । आर्या जातिः

संस्कृत व्याख्या—रम्याः वेदविहिताचरणेन रमणीयाः प्रतिहताः विघ्नाः यासां ताः प्रतिहतविघ्नाः दूरीकृतानन्तरायाः, तप एवं धनं येषां तपोधनानां क्रियाः यज्ञादिकर्मारम्भाः समवलोक्य यथावत् निरीक्ष्य ज्ञास्यसि मौर्व्याः ज्यायाः किणश्चिह्नं तदेव अंको भूषा यस्मिन् स मौर्वीकिणाङ्कः ज्याघातप्राप्तव्रणभूषितः मे मम भुजः बाहुः कियत् कीदृग किं परिमाणकं रक्षति पालयतीत्यर्थः ।

राजा—तो क्या कुलपति यहाँ (आश्रम में) हैं ? अपि-प्रश्न सूचक अव्यय, सन्निहित=विद्यमान हैं, उपस्थित हैं ।

वैखानस—अभी ही अपनी पुत्री शकुन्तला को अतिथि सत्कार के लिए नियुक्त कर उसके प्रतिकूल भाग्य (खोटे ग्रहों) की शान्ति के लिए सोमतीर्थ चले गये हैं ।

'दुहितरं शकुन्तलां नियुज्य' से तात्पर्य यह है कि शकुन्तला मुनि कण्व की जीवित सर्वस्व सर्वाधिक प्रिय पुत्री थी अतएव सत्कार का काम अन्य पुरुष शिष्यों को न देकर (जो कि वास्तव में पुरुषों द्वारा ही करने योग्य था) शकुन्तला को दिया गया था, और उसके ही प्रतिकूल दैव के लिये वे सोमतीर्थ गये थे । कवि ने महर्षि कण्व को आश्रम से अलग कर गान्धर्व विवाह के अनायास सम्पादन का अच्छा अवसर उपस्थित कर दिया है ।

"अस्याः प्रतिकूलं दैवं शमयितुम्" यह वास्तव में बीज वाक्य है; क्योंकि यहीं से मुख्य कथानक की फलप्राप्ति का बीजारोपण होता है । प्रतिकूलं दैवं का यहाँ अर्थ है शाप उपशम=शान्ति अर्थात् दुर्वासा के शाप की शान्ति-अवसान और उस शापावसान के फलस्वरूप दुष्यन्त द्वारा पुत्रवती शकुन्तला का राजधानी में लाना सूचित किया गया है ।

'जन्म यस्य' यहाँ से लेकर 'तां द्रक्ष्यामि' तक मुख सन्धि का प्रथम अङ्ग (उपक्षेप नामक) प्रयुक्त हुआ है । "काव्यस्यार्थसमुत्पत्तिरुपक्षेप इति स्मृतः" जहाँ काव्यार्थ की उत्पत्ति हो वह उपक्षेप कहलाता है ।

राजा—अच्छी बात है, मैं उससे ही मिलूँगा । वह निश्चय ही (कण्व के प्रति) मेरी भक्ति जान कर महर्षि को बता देगी ।

वैखानस—तो हम लोग चलते हैं (यह कह कर शिष्य के साथ चला जाता है ।)

राजा—सूत ! घोड़ों को हाँकिये । पवित्र आश्रम के देखने से अपने को पवित्र करें ।

सूत—जैसी आयुष्मान् की आज्ञा (फिर रथ को वेग से हाँकता है)

राजा—(चारों ओर देखकर) सूत ! बिना कहे हुए ज्ञात होता है, कि यह तपोवन के आश्रम की सीमा है । (आभोगः=सीमा)

सूत—कैसे ?

राजा—किं न पश्यति भवान् ? इह हि,—

नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः
प्रस्निग्धाः क्वचिदिङ्गुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः ।
विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगा—
स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्दरेखाङ्किता ।।१३।।

राजा—क्या आप देख नहीं रहे हैं ? क्योंकि यहाँ पर—

श्लोक १३ अन्वय—तरुणाम् अधः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टाः नीवाराः सन्तीति शेषः, **क्वचित्** इङ्गुदीफलभिदः प्रस्निग्धाः उपलाः सूच्यन्ते एव, विश्वासोपगमात् अभिन्नगतयः मृगाः शब्दं सहन्ते, तोयाधारपथाः च वल्कलशिखानिष्यन्दरेखाङ्किताः सन्ति इति शेषः ।

शब्दार्थ—अधः=नीचे, शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टाः=जिनमें अर्थात् जिनके भीतर तोते रहते हैं ऐसे कोटरों (वृक्षों के खोखरों या विवरों) के मुख (अग्र भाग) से गिरे हुए, नीवाराः=तृणधान्य, क्वचित=किसी भाग में, इङ्गुदी=तापसतरु के फलों, के भिदः=तोड़ने वाले अर्थात् तेल निकालने के लिये इंगुदी के फल जिनसे तोड़े जाते थे। अतएव प्रस्निग्धाः=चिकने, उपलाः=पत्थर, सूच्यन्ते=दिखलाई पड़ते हैं। विश्वासोपगमात्=मुनियों के वात्सल्य के कारण जिन्हें यह विश्वास था कि हमें कोई यहाँ हानि नहीं पहुँचा सकता है अतएव, अभिन्नगतयः=अपनी गति=स्थिति को न बदलने वाले अर्थात् वे जिस स्थिति में थे वैसे ही बने रहने वाले, तोयाधारपथाः=मुनियों की झोपड़ियों से लेकर जलाशयों तक के मार्ग, वल्कलशिखानिष्यन्दरेखांङ्किताः=मुनियों के वल्कलों के अग्र भाग से गिरने वाले पानी की बूँदों से चिह्नित=शिखा=अग्रभाग कोना या किनारा, निष्यन्द=चूने वाला पानी, रेखा=चिह्न ।

अनुवाद—(क्योंकि यहाँ) वृक्षों के नीचे, तोतों के निवास स्थान कोटरों के अग्रभाग से गिरे हुये तृड़धान्य (पड़े हैं) कहीं इंगुदी के फलों के तोड़ने वाले (अतएव) अधिक चिकने पत्थर दिखाई दे ही रहे हैं। विश्वासोपलब्धि के कारण अपनी चाल को न बदलने वाले मृग शब्द अर्थात् रथध्वनि को सह लेते हैं अर्थात् घबरा कर भागते नहीं, और जलाशयों के मार्ग (मुनियों के) वल्कलों के छोरों से गिरने वाले जल की रेखाओं से चिह्नित हो रहे हैं।

व्याख्या—राजा सूत से कह रहा है कि यह आश्रम है क्योंकि—यहाँ वृक्षों के नीचे तोतों के निवास-स्थान कोटरों के अग्रभाग से गिरे हुए तृण धान्य पड़े हैं ("कहीं शुककोटराभर्कमुखभ्रष्टाः" भी पाठ है अतः उसका अर्थ है, कोटरस्थ तोतों के बच्चों के मुख से गिरे हुए) और कहीं इंगुदी फल तोड़ने वाले अतएव विशेष रूप से चिकने पत्थर दिखाई दे रहे हैं। यहाँ के रहने वाले मृगों को मुनियों के वात्सल्य से यह विश्वास हो गया है कि हमें कोई हानि न पहुँचायेगा, अतएव वे अपनी-अपनी साधारण चाल से चलते हुए ही मेरे रथ का शब्द (ध्वनि) सहते हैं (शब्द सुन कर डर कर भागते नहीं) और झोंपड़ियों से जलाशयों को जाने वाले मार्ग (मुनियों) के वल्कलों के छोर से गिरने वाले पानी चिह्नित हो रहे हैं। अतः अनुमान किया जा सकता है कि यह तपोवन है।

विशेष—नीवाराः पद के बाद "दृश्यन्ते या सन्ति" क्रिया के अध्याहार कर लेने से न्यून पदत्व दोष का परिहार किया जा सकता है। शुकगर्भेत्यादि पद से, शुकों की निर्भय स्थिति द्योतित होती है और उससे दुर्जनों का प्रवेशाभाव भी सूचित होता है, इन दोनों बातों से आश्रम की मनोज्ञता से रति भी ध्वनित होती है। नीवाराः इस पद से अन्य स्थानों की अपेक्षा यहाँ पर तृणधान्यों का बाहुल्य सूचित होता है अतएव यह तपोवन भाग है ऐसी प्रतीति होती है।

सूतः—सर्वमुपपन्नम् ।

राजा—(स्तोकमन्तरं गत्वा ।) तपोवननिवासिनामुपरोधो मा भूत् । एतावत्येव रथं स्थापय यावदवतरामि ।

सूतः—धृताः प्रग्रहाः, अवतरत्वायुष्मान् ।

इङ्गुदीफलेत्यादि—इंगुदी नामक एक वृक्ष विशेष होता था जिसके फलों से तेल निकाल कर मुनि जन शरीराभ्यङ्ग तथा प्रदीपादि जलाने का काम लेते थे, ये फल पत्थरों से तोड़े जाते थे अतएव वे भी चिकने हो जाते थे । ऐसे पत्थरों का यहाँ आधिक्य था अतएव वह आश्रम प्रतीत हो रहा था । इससे आश्रम का सौन्दर्यातिशय तथा राजा की अभिरति भी ध्वनित होती है ।

अभिन्नगतयः—तात्पर्य है कि हिरण स्वभावतः रथादि के आने की ध्वनि सुन कर भाग जाते हैं परन्तु यहाँ वे रथ की ध्वनि सुनकर भी अपनी उसी चाल से चल रहे थे, भागते नहीं थे। अतः अनुमान किया जा सकता था कि यह आश्रम है। और इस प्रकार मृगों के अपनी-अपनी स्वाभाविक गति के अनुसार स्थित रहने से आश्रम के शान्तिपूर्ण होने की व्यंजना से राजा का प्रीत्युत्कर्ष व्यंजित होता है ।

वल्कलेत्यादि—पद से तात्पर्य है कि ऋषि जन स्नान करके लौटते हैं ता उनके वल्कल वस्त्रों के छोरों से पानी टपकता जाता है जिससे मार्ग गीले हो रहे हैं, यह भी द्योतित करता है कि यह आश्रम है। और इस पद में यद्यपि बहुब्रीहि समास से ही अंकित पद का अर्थ निकल सकता है फिर भी इस पद का प्रयोग आश्रम का अभिनव सौन्दर्य एवं राजा का प्रीत्यतिशय द्योतनार्थ किया गया है ।

शब्दम्—से तात्पर्य है रथ चलने से होने वाली आवाज। स्वभावतः मृग किसी आवाज या आहट पाकर भाग जाते हैं पर आश्रम में विश्वस्त होने के कारण वे भागते नहीं प्रत्युत उसी प्रकार चरते हैं, इन सब बातों से स्पष्ट है कि यह आश्रम है ।

क्वचित् पद का अन्वय चारों ही वाक्यों में है ।

अन्तिम पद का 'च' पूर्व वाक्यत्रय का समुच्चय करने के लिए है। अलंकार **स्वभावोक्ति, समुच्चय, काव्यालिङ्ग है** "विश्वसोपगमात् अभिन्न गतयः । इङ्गुदी फलभिदः अतएव प्रस्निग्धाः" **वृत्यनुप्रास श्रुत्यनुप्रास, शार्दूल विक्रीड़ित छन्द ।**

सूर्याश्वैर्मसजास्ततः स गुरवः शार्दूल विक्रीड़ितम् अर्थात् जिसमें मगण स, ज, स, त त और गुरु वर्णों के क्रम से १२ एवं ७ पर यति होती है ।

ऽ ऽ ऽ । । ऽ । ऽ । । । ऽ ऽ ऽ । । ऽ । ऽ

नी वा राः, शु क ग, र्भ को ट, र, मु ख, भ्रष्टाः त, रु णा म, धः । १९ वर्णों का यह छन्द है ।

संस्कृत व्याख्या—क्वचित् कुत्रापि एकस्मिन् भागे तरूणां वृक्षाणाम् अधः तलेषु । शुका गर्भे मध्ये येषां तानि च कोटराणि तरुविवराणि तेषां मुखानि तेभ्यः भ्रष्टाः अधः पतिताः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टाः (मुख शब्देन नीवाराणां बाहुल्यं द्योत्यते । नीवाराः तृणधान्यानि सन्तीति क्रिया सामान्ययोगात् न्यूनपददोषाभावः । सम्पूर्णविशेषणेन पुष्टपक्षित्वेनाश्रम-मनोज्ञतया रतिर्ध्वन्यते । नीवाराणामन्यस्थानापेक्षयात्र बाहुल्येनोपलब्धेरयं खलु तपोवनस्याभोग इति द्योत्यते । क्वचित् इङ्गुदीतापसतरुः तस्य फलानि भिन्दन्तीति पिंसन्तीति इङ्गुदीफलभिदः तापसतरुफलभेदकाः अतएव प्रकर्षेण स्निग्धाः चिक्कणाः तैलाक्ताः (काव्यलिङ्गालंकारः) उपलाः पाषाणाः सूच्यन्ते एव दृश्यन्ते एव, एवेत्यनेन सूतशंकापनोद द्योत्यते

राजा—(अवतीर्य ।) सूत ! विनीतवेषेण प्रवेष्टव्यानि तपोवनानि नाम। इदं तावद्गृह्यताम् (इति सूतस्याभरणाणि धनुश्चोपनीयार्पयति) सूत ! यावदाश्रमवासिनः प्रत्यवेक्ष्याहमुपावर्ते तावदार्द्रपृष्ठाः क्रियन्तां वाजिनः ।

सूतः—तथा । (इति निष्क्रान्तः ।)

राजा—(परिक्रम्यावलोक्य च) इदमाश्रमद्वारम् यावत्प्रविशामि । (प्रविश्य, निमित्तं सूचयन् ।)

कर्मकर्तरि प्रत्ययः । प्रस्निग्धा इत्यत्र प्रशब्दः प्रकर्षं द्योतयन् इङ्गुदीफलानां सरसत्वम् आचक्षाणः आश्रमस्य मनोहारित्वं दर्शयन् राज्ञस्तत्राभिरतिं ध्वनयति । मुनयस्तु इंगुदीफलविनिःसृततैलेन शरीराभ्यङ्गप्रदीपज्वालनादिकार्यं कुर्वन्ति अत्र तेषां बाहुल्यदर्शनात्तपोवनमिदमित्यनुमीयते। विश्वासस्योपगमः, प्राप्तिस्तस्मात् विश्वासोपगमात् मुनीनां वात्सल्यात् अत्रास्मान् न कोऽपि द्विष्यात् इति हेतोरितिभावः समुत्पन्नविश्वासकारणादित्यर्थः अतएव न भिन्ना अभिन्ना यथा पूर्वमवस्थिता गतिः पादसंचारः येषां ते अभिन्नगतयः सन्तः अपरित्यक्तस्वस्वाभाविकस्थितय इत्यर्थः मृगाः शब्दं रथोत्पन्नध्वनिं सहन्ते "ता गति मार्गे दशायाञ्चेतिविश्वः" मृगाः सधैर्यं रथगतिध्वनिं शृण्वन्ति न पलायन्ते इत्यर्थः अतएव निश्चीयते आश्रम एवायमिति । अनेन पदेन स्वस्वचेष्टानुकूल मृगस्थित्याश्रमस्य मञ्जुलतया राज्ञः प्रीत्युत्कर्षो ध्वन्यते । तोयानां जलानां आधाराः तेषां पन्थानः तोयाधारपथाः जलाशयमार्गाः (ऋक्पूरब्धूः इति समासान्तः अ प्रत्ययः) मुनीनामुटजस्थानाज्जलशयगमनमार्गाः इत्यर्थः । च (सर्वपूर्ववाक्यसमुच्चये अव्ययम्) वल्कलानां मुनिपरिस्रिततरुत्वचां शिखा अग्रभागाः ताभ्यः निष्यन्देन जलस्रवणेन जलविन्दुनिपातेनेत्यर्थः तेन या रेखास्ताभिरङ्किताश्चिह्निताः वल्कलाग्रपरिस्रुतजलधारारेखाभूषिताः, अचिरस्नातमुनिजनवल्कलाग्रभागपरिस्रुतवारिकणभूषितजलाशयगमनमार्गा इत्यर्थः अत्रापि 'क्वचित् दृश्यन्ते इति योजनीयम् । तेन चार्य तपोवनभाग इत्यनुमीयते ।

श्रुत्यनुप्रासौ—क्रियासमुच्चयस्वभावोक्तिकाव्यलिङ्गालंकाराः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्

सूत—हाँ यह सब ठीक है ।

राजा—(कुछ आगे बढ़कर) कहीं तपोवन वासियों को (हमारे इस प्रकार पहुँच जाने से) पीड़ा न हो अतः बस यहीं पर (इतनी ही दूरी पर) रथ रोक लो, मैं उतर जाऊँ। (उपरोधः=कष्ट-पीड़ा बाधा ।)

सूत—घोड़ों की बागडोर खींच ली है, आप उतरें ।

राजा—(उतर कर) सूत ! तपोवनों में नम्र वेष से प्रवेश करना चाहिये अतः तब तक आप यह सब ले लें । (अपने आभूषण और धनुष को उतार सूत को दे देता है) सारथी ! देखो, जब तक मैं आश्रमवासियों से मिलकर लौटूँ तब तक तुम घोड़ों को ठंडा कर लो ।) आर्द्रपृष्ठा वाजिनः=आर्द्र=गीली-सिक्त, पृष्ठ—पीठ अर्थात् गीली पीठ वाले कर लो, तात्पर्य यह कि पीठ प्रक्षालन करने से (स्नान कराने या गीले कपड़े से पोंछने से) घोड़ों की थकावट दूर हो जाती है "पृष्ठ प्रक्षालनं हि वाजिनां विशेषतः श्रमहरं भवति" ।

यहाँ विनीतवेषेण इत्यादि से 'नीति' नामक नाट्यालंकार प्रयुक्त किया गया है "नीतिः शास्त्रेण वर्तनम्" अर्थात् शास्त्रानुसार बर्ताव करना नीति कहलाता है ।

सूत—बहुत अच्छा (चला जाता है)

राजा—(घूम कर और देख कर) यह आश्रम का द्वार है, तो अन्दर चलूँ । (प्रविष्ट होकर और शुभ शकुन को सूचित करता हुआ)

शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य ।
अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र ॥ १४ ॥

श्लोक १४ अन्वय—इदं शान्तम् आश्रमपदम्, बाहुः च मे स्फुरति, इह अस्य कुतः फलम् अथवा भवितव्यानां द्वाराणि सर्वत्र भवन्ति ।

शब्दार्थ=आश्रमपदम्=आश्रम स्थान, स्फुरति=फड़कता है, इह=इस आश्रम में, अस्य=बाहु स्फुरण का, भवितव्यानां=अवश्यम्भावी कार्यों=प्रयोजनों के, द्वाराणि=उपाय ।

अनुवाद—यह आश्रम स्थान शान्त (है) और भुजा फड़कती है, यहाँ इसका फूल कहाँ अर्थात् कहाँ से मिल सकता है । अथवा अवश्यम्भावी कार्यों के उपाय सर्वत्र होते हैं ।

व्याख्या—आश्रम के पास पहुँचकर और अपनी दक्षिण भुजा का स्फुरण देखकर राजा मन में कहता है—

यह (आगे दिखलाई पड़ने वाला) आश्रम स्थान शान्त है अर्थात् यहाँ शमप्रधान शान्त रस निमग्न मुनिजन निवास करते हैं । यहाँ शृंगारियों का क्या काम, शृंगार की मुनियों के आश्रम में सम्भावना भी नहीं हो सकती है परन्तु फिर भी हमारी दक्षिण भुजा फड़कती है जो कि महनीय वस्तु प्राप्ति की द्योतक हैं (दक्षिण बाहु का फड़कना सुन्दर स्त्री आदि की प्राप्ति का सूचक होता है, दक्षिण बाहु स्फुरण सुन्दरी नायिका के आलिङ्गन का शुभ शकुन माना गया है । अतः राजा सोचता है कि यह दोनों विपरीत बातें कैसे घटित हो रही हैं । कहाँ तो यह शम प्रधान शृंङ्गार रस शून्य यह मुनिजनाश्रम और कहाँ यह स्त्रीलाभ सूचक दक्षिणबाहु स्फुरण अतः वह कहता है) इस आश्रम में इस दक्षिण भुजा के स्फुरण का नायिका लिङ्गन रूप फलागम कहाँ ? शकुन शास्त्र में "**वामेतरभुजस्पन्दो वरस्त्रीलाभदायकः**" इसके अनुसार पुरुषों का दक्षिणबाहु स्फुरण वर स्त्री लाभ सूचक होता है अर्थात् यह सर्वथा असम्भव है । (हो सकता है कि साकाङ्क्ष विश्वामित्रादि जैसे तपस्वियों को नायिकालिङ्गन भी ऐसे तपोवन में मिल सके परन्तु मुझ जैसे व्यक्ति के लिए तो इसकी भी सम्भावना नहीं हो सकती क्योंकि न तो मैं तपस्वी ही हूँ और न मैं परस्त्री की आकाङ्क्षा से ही यहाँ आया हूँ, पुरुवंशी राजा धर्मात्मा तथा सदाचारी होते हैं ।) इस प्रकार वह तर्क वितर्क के बाद इस निश्चय पर पहुँचता है कि अवश्य होने वाली बात के लिए सर्वत्र द्वार खुले ही रहते हैं अर्थात् वह सोचता हुआ अन्त में यह निश्चय करता है कि यदि मुझे स्त्रीलाभ होना ही है तो वह सर्वत्र हो सकता है चाहे वह शान्त आश्रम हो चाहे नगर हो, होनहार बात टलती नहीं ।

(इससे राजा का शकुन पर दृढ़ विश्वास द्योतित होता है ।)

विशेष—सामान्य से पूर्वार्धगत विशेष समर्थन रूप **अर्थान्तरन्यास** तथा "अथवा" इससे पूर्वोक्त प्रतिषेध रूप **आक्षेपालंकार है । वृत्ति श्रुति तथा छेक अनुप्रास, आर्या जातिः ।**

संस्कृत व्याख्या—इदं पुरतो दृश्यमानं आश्रमपदं आश्रमस्थानं शान्तं शान्तरसास्पदं न तु शृङ्गारस्य तापसानामनाश्रयत्वात् इति भावः तात्स्थात्तन्निवासिनां मुनीनामपि शमप्रधानत्वं शृंगारानाश्रयत्वञ्च द्योत्यते तथा च बाहुः मे दक्षिणभुजः स्फुरति स्पन्दते शकुनशास्त्रानुसारेण वरनायिकालिङ्गनलाभं सूचयतीत्यर्थः परन्तु इह शमप्रधाने आश्रमपदे अस्य बाहुस्फुरणस्य फलं वरस्त्रीलाभरूपं फलं कुतः कथं संभवति न कथमपीत्यर्थः शान्तरसपूर्णे शृङ्गारस्य प्रादुर्भावः कथमपि न सम्भवतीत्यर्थः अथवा किम्वा अलं चिन्तया इत्यर्थः भवितव्यानाम् अवश्यम्भाविनाम् अर्थानां द्वाराणि उपायाः "(द्वारं पुनर्निर्गमनेऽभ्युपाये इति विश्वः)" सर्वत्र भवन्तीति जायन्ते ईश्वराधीनत्वात् सर्वकाले सर्वदेशे च भवितव्यार्थोपलब्धिर्जायत एव नात्र सन्देहः इति भावः ।

(नेपथ्ये)

इदो इदो सहिओ ! । [इतः इतः सख्यौ ! ।]

राजा—(कर्ण दत्त्वा ।) अये ! दक्षिणेन बृक्षवाटिकामालाप इव श्रूयते । यावदत्र गच्छामि (परिक्रम्यावलोक्य च ।) अये । एतास्तपस्विकन्यकाः स्वप्रमाणानुरूपैः सेचनघटैर्बलिपादपेभ्यः पयो दातुमित एवाभिवर्तन्ते । (निपुणं निरूप्य ।) अहो ! मधुरमासां दर्शनम्—

शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य ।
दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः ॥१५॥

यावदिमां छायामाश्रित्य प्रतिपालयामि । (इति विलोकयन्स्थितः ।)

विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः,—पूर्वोक्तप्रतिषेधरूपाक्षेपालंकारोऽपि, आर्या जातिः।

इस छन्द के द्वारा "**परिकर**" नामक मुख सन्धि के द्वितीय अंग का निर्देश किया गया है जिसका लक्षण है :—"**तदुत्पन्नार्थबाहुल्यं ज्ञेयः परिकरस्तु सः**" अर्थात् जहाँ आरब्ध कार्य का विस्तार किया जाय वहाँ परिकर होता है ।

(नेपथ्य में)

इधर आओ, सखियो ! इधर आओ ।

राजा—(कान लगाकर) अरे : वृक्षवाटिका की दाहिनी ओर वार्तालाप सा सुनाई पड़ता है, तो वहाँ ही चलता हूँ । (मुड़कर और देखकर) अरे ! ये तापस कन्यायें अपनी-अपनी सामर्थ्य अनुरूप (छोटे-बड़े) जल सेचन के घड़ों से छोटे-छोटे पौधों में जल देने के लिए इधर ही आ रही है; (गौर से देखकर) ये तो देखने में बड़ी सुन्दर हैं ।

श्लोक १५ अन्वयः—आश्रमवासिनः जनस्य यदि शुद्धान्तदुर्लभम् इदं वपुः अस्तीतिशेषः तदा वनलताभिः गुणैः उद्यानलता दूरीकृताः खलु ।

शब्दार्थ—शुद्धान्तदुर्लभम्—राजमहलों के लिए भी दुर्लभ अर्थात् जो शरीर-सौन्दर्य राजप्रासादों में भी न प्राप्त हो सके, वपुः=शरीर, गुणैः=सौगन्ध्यकोमलत्वादि गुणों से, खलु=निश्चय ही, दूरीकृताः=तिरस्कृत की गई ।

अनुवाद—यदि राजप्रासादों में भी न मिलने योग्य यह शारीरिक सौन्दर्य आश्रमवासी जन में अर्थात् इन तापस कन्याओं में (देखा जाता है तो कहना ही पड़ेगा कि) वनलताओं द्वारा (अपने सुगन्धि कोमलत्वादि) गुणों से उद्यान लतायें भी तिरस्कृत कर दी गई हैं।

व्याख्या—आश्रम में आगे बढ़कर और शकुन्तला सहित मुनिकन्याओं के विशेषाकर्षक सौन्दर्य को देखकर राजा आश्चर्य प्रकट करता हुआ मन में कहता है—

यदि राजप्रासादों में भी न मिलने योग्य यह दृश्यमान शारीरिक सौन्दर्य आश्रम वासी वनवासी इन बालिकाओं में (देखा जाता है) तो यह निश्चय है कि वनलताओं द्वारा अपने सुगन्धि कोमलत्वादि गुणों से वाटिकालतायें भी तिरस्कृत हो गई । तात्पर्य यह है कि राजप्रासादों में, जहाँ पर कि सब प्रकार के सुन्दर-सुन्दर स्वास्थ्य एवं सौन्दर्यवर्धक भोजनाच्छादन के अतिरिक्त श्रृङ्गारप्रसाधन उपलब्ध रहते हैं, रहने वाली स्त्रियाँ वनवासिनी स्त्री जाति की अपेक्षा अधिक सौन्दर्य शालिनी होनी चाहिए क्योंकि वन में श्रृङ्गार प्रसाधन एवं अन्य सुख-सामग्री नहीं मिलती, इस प्रकार राजोद्यान में परिवर्धित लताओं में वनलताओं की अपेक्षा अधिक सुगन्धि कोमलत्वादि गुण होने चाहिए परन्तु यहाँ तो सब विपरीत है यह आश्चर्य की बात है इसलिये राजा सोचता है कि यदि इन वनवासिनी कन्याओं में राज-

ततः प्रविशति यथोक्तव्यापारा सह सखीभ्यां शकुन्तला ।)

शकुन्तला—इदो इदो सहीओ [इत इतः सख्यौ ! ।]

अनुसूया—हला सउंदले ! तुवत्तो वि तादकस्सवस्स अस्समरुकखआ पअदरेति तक्केमि । जेण णोमालिआकुसुमपेलवा तुमं वि एदाणं आलवालपूरणेणिउत्ता । [हला शकुन्तले ! त्वत्तोऽपि तातकाश्यपस्याश्रमवृक्षकाः प्रियतरा इति तर्कयामि । येन नवमालिकाकुसुमपेलवा त्वमप्येतेषावालवालपूरणे नियुक्ता ।]

प्रासाद की स्त्रियों से भी वढ़कर सौन्दर्य है तो निश्चय ही यह कहना पड़ेगा कि वनलताओं ने अपने गुणों के कारण उद्यानलताओं को परास्त कर दिया है ।

विशेष :—आश्रमवासिनो जनस्य—इससे शकुन्तलादि उप स्त्रीजन का ग्रहण है, आश्रमेत्यादि से, वैसे अद्भुत सौन्दर्य के अभाव के द्योतन में तापर्य है ।

इदं वपुः—से यह पुरोविभाव्यमान अथवा दृश्यमान शरीर अथवा शारीरिक लावण्य अर्थ है क्योंकि "वपुः शरीरे लावण्यम्" यह कोश है, वपु का अर्थ शारीरिक लावण्य भी है ।

शुद्धान्त से तात्पर्य राजा के अन्तःपुर से है "स्त्र्यागारं भूभुजामन्तः पुर स्यादवरोधनम् शुद्धान्तश्चावरोधश्च" इति अमरकोशानुसार अवरोध, अन्तःपुर, शुद्धान्त पर्यायवाची शब्द है । यहाँ शुद्धान्त पद से अन्तःपुर में रहने वाली स्त्रियों को लक्षणा से ग्रहण किया गया है । इन बालिकाओं जैसा शारीरिक लावण्य राजा ने अपने अन्तःपुर में भी नहीं देखा था इसलिये वह इस प्रकार आश्चर्य प्रकट करता है ।

वनलताभिः से तात्पर्य उन लताओं से है जो वन में अप्रयत्नपरिवर्धित हैं अर्थात् जिनको जलसिञ्चन आदि के द्वारा सुन्दर बनाने का प्रयत्न नहीं किया गया है जबकि उद्यान लतायें कृत्रिम होती हैं, उन्हें काट-छाँट कर सुन्दर बनाने का प्रयत्न किया जाता है ।

कवि का तात्पर्य, यहाँ कृत्रिम सौन्दर्य की अपेक्षा प्राकृतिक सौन्दर्य की विशेषता दिखलाना है, कृत्रिम वस्तु अकृत्रिम वस्तु के सौन्दर्य को कभी नहीं पा सकती है । इसलिए कवि आगे कहता है "इदं किलाव्याजमनोहरं वपुः" इत्यादि । प्रस्तुत श्लोक में असम्बद्धवस्तु सम्बन्ध रूप निदर्शनालंकार है । कुछ आचार्य यहाँ दृष्टान्तालंकार मानते हैं, परन्तु निरपेक्ष वाक्यों में ही बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव रहने पर ही दृष्टान्तालंकार होता है । यहाँ दोनों वाक्य एक दूसरे से निरपेक्ष नहीं हैं । अतः दृष्टान्त नहीं हो सकता । अतएव प्रतिवस्तूपमालंकार भी नहीं है क्योंकि शुद्धान्त दुर्लभत्व तथा वनलताओं से गुणों द्वारा दूरीकरणत्व एक ही तत्व है भिन्न-भिन्न कथन नहीं, "यदि" के द्वारा ही वाक्यद्वय की सम्भवना निरस्त हो जाती है और प्रतिवस्तूपमालंकार तो सामान्य वस्तु द्वय के पृथक्-पृथक् होने पर ही होता है । अतः प्रतिवस्तूपमालंकार भी नहीं है । यहाँ पर अर्थ समर्थन भी मानना उचित नहीं क्योंकि वाक्यार्थ से साम्यमात्र की प्रतीति होती है अर्थ समर्थन नहीं । अतः निर्विवाद रूप से निदर्शनालंकार ही है । छेक तथा वृत्युनुप्रास भी है ।

यदि आश्रम वासिनो जनस्य इदम् वपुः—इससे विशेष के (शकुन्तला के) प्रस्तुत रहने पर भी सामान्य कथन है आश्रमवासी जन) अतः अप्रस्तुत प्रशंसालंकार है । इस प्रकार निदर्शना तथा अप्रस्तुत प्रशंसालंकारों की संसृष्टि है । "शकुन्तला की कमनीयता अद्वितीय है" यह वस्तु अलंकार द्वारा ध्वनित है, वस्त्वलंकार ध्वनि है । आर्या जातिः ।

संस्कृत व्याख्या—आश्रमे वस्तुं शीलं यस्य तस्य आश्रमवासिनः जनस्य शकुन्तलारूपस्य लोकस्य इदं पुरोदृश्यमानं वपुः शरीरलावण्यं यदि शुद्धान्ते राजप्रासादस्थस्त्रीजनेषु दुर्लभं दुष्प्रापम् इति शुद्धान्तदुर्लभम् भवेदिति शेषः तर्हि वनलताभिः अप्रयत्नपरिवर्धिताभिः अकृत्रिमाभिः

शकुन्तला—ण केअलं तादणिओओ एव्व; अत्थि मे सोदरसणेहो एदेसु। [न केवलं तातनियोग एव; अस्ति मे सोदरस्नेह एतेषु।] (इति वृक्षसेचनं रूपयति।)

राजा—(आत्मगतम्।) कथमियं सा कण्वदुहिता ? असाधुदर्शी खलु तत्रभवान्काश्यपः य इमामाश्रमधर्मे नियुङ्क्ते।

इदं किलाव्याजमनोहरं वपु-
स्तपःक्षमं साधयितुं य इच्छति।
ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया
समिल्लतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति ॥१६॥

भवतु: पादपान्तर्हित एव विस्रब्धं तावदेनां पश्यामि। (इति तथा करोति।)

वनोद्भूतलताभिः गुणैः सौगन्ध्यसौकुमार्यादिभिः उद्यानलताः अत्यन्तायाससम्वर्धिता वाटिकालता दूरीकृताः परास्ताःतिरस्कृता इत्यर्थः खलु इति निश्चयेन नात्रसन्देह इत्यर्थः।

निर्दशनाप्रस्तुतप्रशंसालंकारौ, छेकवृत्त्यनुप्रासौ च, आर्या जातिः।

अच्छा ! तो इस छाया में खड़ा होकर तब तक इनकी प्रतीक्षा करता हूँ। अर्थात् जब तक वे वृक्षों को सींचती हुई यहाँ तक आवें तब तक मैं इस वृक्ष की छाया में खड़े होकर इनकी प्रतीक्षा करता हूँ।

(इस प्रकार देखता हुआ खड़ा रहता है)

(जैसा कि ऊपर बताया गया है अर्थात् वृक्षों को सींचती हुई सखियों के साथ शकुन्तला का प्रवेश)

शकुन्तला—इधर आओ सखियो ! इधर आओ।

"नायिकानां सखीनाञ्च शौरसेनी प्रकीर्तिता" इस भरत वचन के अनुसार नायिका एवं सखियों का वार्तालाप भी शौरसेनी प्राकृत में होना चाहिये।"

अनुसूया—अरी शकुन्तला ! मैं समझती हूँ कि पिता कण्व को ये आश्रम के पौधे तुम से भी अधिक प्रिय हैं, जिससे कि चमेली, जाती या सप्तला के कुसुम के समान कोमल भी तुम इन पौधों के आलवालों को (थलहे अथवा क्यारियाँ) के लिये नियुक्त की गई हो। (समानाभिस्तथा सख्यो हला भाष्याः परस्परम्" अर्थात् समवयस्काओं एवं सखियों से बातचीत करते समय 'हला' यह सम्बोधन किया जाता है। "हण्डे हञ्जे हलाह्वाने नीचां चेटीं सखीं प्रति (अमरकोशः)।

शकुन्तला—केवल पिता की आज्ञा ही नहीं, अपितु मेरा भी इस पौधों पर सगे बन्धु जैसा स्नेह है।

(पौधों में पानी देने का अभिनय करती है)

राजा—(मन ही मन) तो क्या यही वह कण्व-पुत्री शकुन्तला है ? सचमुच महर्षि कण्व बड़े विवेकहीन हैं, जो कि इसको आश्रम धर्म पालन में जोते हुए हैं-लगाये हुये हैं।

श्लोक १६ अन्वय—यः (ऋषिः) इदं अव्याजमनोहरं वपुः किल तपः क्षमं साधयितुं इच्छति सः ऋषिः ध्रुवं नीलोत्पलपत्रधारया समिल्लतां छेत्तुं व्यवस्यति।

शब्दार्थ—यः=ऋषि कण्व, इदं=यह पुरोदृश्यमान, अव्याजमनोहरं=स्वभाव सुन्दर, वपुः=शरीर, तपः क्षमं=तपस्या साधन योग्य, साधयितुं=करने के लिये, ध्रुवं—निश्चय ही, नीलोत्पलपत्रधारया=नील कमलदल के अग्रभाग समिल्लताम्=शमी वृक्ष

शकुन्तला—सहि अणुसूए ! अदिपणद्धेण वक्कलेण पिअंवदाए णिअंतिद म्हि; सिढ़िलेहि दाव ण। [सखि अनसूये ! अतिपिनद्धेन वल्कलेन प्रियंवदया नियन्त्रितास्मि। शिथिलय तावदेतत्।]

अनसूया—तह [तथा।] (इति शिथिलयति)

प्रियंवदा—(सहासम्।) एत्थ पोहरवित्थारइत्तअं अत्तणो जोव्वणं उवालह ! [अत्र पयोधरविस्तारयितृ आत्मनो यौवनमुपालम्भस्व।]

राजा—काममननुरूपमस्या वयसो वल्कलं, न पुनरलंकारश्रियं न पुष्यति। कुतः ?

की लता, शमी नाम के वृक्ष प्रायः सभी प्रान्तों में पाये जाते हैं; इसकी लकड़ी अधिक कठोर होती है। ये वृक्ष बंगाल व बिहार में अधिक होते हैं। इस जाति के लाल पत्तों वाले वृक्ष अग्निगर्भ कहलाते हैं। किसी-किसी प्रान्त में इसे छिवकर भी कहते हैं। इसकी लकड़ी खदिर वृक्ष जैसी होती है। छेत्तुम्=काटने के लिये, व्यवस्यति=यत्न करता है।

अनुवाद—जो ऋषि इस पुरोदृश्यमान सहज सुन्दर शरीर अर्थात् स्वभाव सुन्दरी शकुन्तला को तप साधन योग्य बनाने की इच्छा करता है, निश्चय ही वह ऋषि नीलकमल के पत्ते के अग्र भाग से शमीलता को काटने का प्रयत्न करता है।

व्याख्या—वृक्ष सेचन में संलग्न शकुन्तला के सहज सुन्दर सुकुमार शरीर को देख कर दुष्यन्त मन में कहता है :—

जो ऋषि (यहाँ महर्षि कण्व से तात्पर्य है) इस आगे स्थित सहज सुन्दर (शकुन्तला सम्बन्धी) शरीर को तप साधन योग्य बनाने की इच्छा करता है अर्थात् जो इस सहज सुकुमार शरीर से वृक्ष सेचनातिथिसत्कारादि तपस्या जैसे कठोर कार्य कराना चाहता है, खेद का विषय है कि वह ऋषि निश्चय ही नीलकमल के पत्ते के अग्रभाग से शमीलता को काटने का प्रयत्न करता है। तात्पर्य यह है कि शकुन्तला के सुकुमार शरीर से वृक्ष सेचन का कार्य लेना वैसा ही अदूरदर्शिता का कार्य है जैसा कि कमल पत्र के अग्रभाग से शमीलता को काटने का प्रयत्न। कण्व की यह बात सर्वथा अनुचित है, उन्हें ऐसी सुकुमारी को तो आश्रम के कठोर कार्य में नहीं जोतना चाहिये था।

विशेष—किलेति—अरुचि, खेद, या अनुकम्पा सूचित करता है। अव्याजमनोहरमिति—भूषणादि प्रसाधन के बिना ही सहज सुन्दर, व्याज=भूषणादिधारण, अव्याज=भूषणादि के बिना ही। नीलोत्पलेति=इससे सौकुमार्य द्योतित होता है।

प्रस्तुत श्लोक में असम्बद्धवस्तु सम्बन्ध रूप निदर्शनालंकार, ध्रुवम् यहाँ उत्प्रेक्षालंकार, पूर्वार्ध में विरूप संघटनरूप विषमालंकार, समिल्लताम् यहाँ पर रूपक और उपमा का सन्देह संकर है, समिल्लता इव अथवा समिल एव वा लता ये दोनों अर्थ सम्भव हैं। निश्चय नहीं कि कौन सा अर्थ गृहीत है। दोनों ही अर्थों में साधक व बाधक प्रमाण नहीं हैं। श्रुति वृत्ति अनुप्रास। वंशस्थ छन्द है। "जतौ तु वंशस्थ मुदी रितं जरौ" इस लक्षणानुसार जगण, त, ज र इस क्रम से १२ अक्षरों का यह छन्द है।

। ऽ । ऽ ऽ । । ऽ । ऽ । ऽ
इ दं कि, ला व्याज, म नो ह, रं व पुः

संस्कृत व्याख्या—यः ऋषिः इदं पुरोदृश्यमानं व्याजः भूषणादि धारणं न व्याजः अव्याजस्तेन मनोहरं अव्यजमनोहरं स्वाभवसुन्दरं वपुः शकुन्तलासम्बन्धि शरीरं किल इति खेदे तपसः क्षमं तपः क्षमं तपस्यासाधनयोग्यं साधयितुं सम्पादयितुं कर्तुमित्यर्थः इच्छति वाञ्छति

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी।
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥ १७ ॥

स ऋषिः कण्वः ध्रुवं निश्चितम् नीलोत्पलपत्रस्य नीलकमलपत्रस्य धारया पार्श्वदेशेन नि[illegible] मुखेनेत्यर्थः समिल्लतां एतन्नाम्नीं लताविशेषां छेत्तुं व्यवस्यति=प्रयतते । उत्प्रेक्षा निद[illegible] विषमालंकाराः। वंशस्थ वृत्तम्।

उपर्युक्त श्लोक द्वारा अभिप्राय नामक भूषण का निर्देश किया गया है "अभिप्राय[illegible] सादृश्यादभूतार्थप्रकल्पना" अर्थात् जहाँ सादृश्य के कारण अभूत अर्थ की कल्पना की जा[illegible] वहाँ यह भूषण होता है। कमल पत्र से शमीलता नहीं काटी जा सकती है—यही अभूता[illegible] प्रकल्पना है।

अच्छा, तो तब तक निश्चिन्त होकर वृक्ष की ओट से ही इसे देख लूँ।
(ऐसा ही करता है—अर्थात् वृक्ष की ओट से देखने लगता है)

शकुन्तला :—सखि अनुसूये—प्रियम्वदा द्वारा बहुत अधिक कस कर बाँधे गये [illegible] वल्कल से मैं जकड़ गई हूँ, पीड़ित हो रही हूँ, तो तू इसे ढीला कर दे।

अनुसूया :—अच्छा (ढीला करती है)

प्रियम्वदा :—(हँसते हुए) इस सम्बन्ध में तो अपने यौवन को उलाहना दो जो तुम्हारे स्तनों को विस्तृत करने वाला है (मुझे क्या उलाहना देती हो ?)

राजा :—यद्यपि वल्कल इसके शरीर के अनुरूप बिल्कुल नहीं है तथापि वह इसको अलंकारों सदृश्य ही सुशोभित नहीं कर रहा है ? यह बात नहीं अपितु कर ही रहा है क्योंकि :—

श्लोक १७ अन्वय—:शैवलेन अपि अनुविद्धं सरसिज रम्यं (भवति) हिमांशोः मलिनम् अपि लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति/इयं तन्वी वल्कलेन अपि अधिकमनोज्ञा (प्रतिभाति) हि मधुराणाम् आकृतीनां (सम्बन्धे) किम् इव मण्डनं न (भवति)

शब्दार्थ—: शैवलेन=सिवार, एक प्रकार की घास या काई जल में होती है, अनुविद्धं=आच्छादित आवृत, हिमांशोः=चन्द्रमा का, लक्ष्म=कलङ्क रेखा, लक्ष्मीम्=शोभा को, तनोति=फैलाती है। तन्वी=कोमलाङ्गी, कृशाङ्गी नायिका शकुन्तला; मण्डनं =आभूषण।

अनुवाद :—सिवार से भी आच्छादित कमल सुन्दर (लगता है) चन्द्रमा का मलिन भी कलङ्क शोभा बढ़ाता है। यह कोमलाङ्गी शकुन्तला वल्कल से भी अधिक सुन्दर (लगती है) क्योंकि मधुर आकृतियों के सम्बन्ध में कौन सी वस्तु अलंकार नहीं बन जाती अर्थात् सभी शोभा वर्धक बन जाती हैं।

व्याख्या :—वल्कलावृत भी शरीर वाली शकुन्तला को देख कर प्रगाढ़ानुराग वश दुष्यन्त अपने मन में कहता है—

(यद्यपि इसका कोमल शरीर वल्कल के योग्य नहीं है फिर भी वह इसके शरीर को अलंकार के समान ही सुशोभित कर रहा है) क्योंकि सिवार से भी आच्छादित कमल सुन्दर लगता है, चन्द्रमा का मलिन कलङ्क भी उसकी शोभा ही बढ़ाता है, उसी तरह यह कृशाङ्गी शकुन्तला वल्कल से भी और अधिक सुन्दर मालूम होती है, क्योंकि मधुर अर्थात् अपने को अच्छी लगने वाली आकृतियों के लिये कौन सी वस्तु अलंकार नहीं बन जाती अर्थात् मधुराकृति के लिये सभी वस्तुएँ अलंकार का काम देने लगती हैं। तात्पर्य यह कि सुन्दर

शकुन्तला—(अग्रतोऽवलोक्य ।) एसो वादेरिदपल्लवंगुलीहि तुवरेदि विअ मं केसररुक्खओ । जाव णं संभावेमि । [एष वातेरितपल्लवाङ्गुलीभिस्त्वरयतीव मां केसर वृक्षकः ।] (इति परिक्रामति ।]

प्रियंवदा—हला सउंदले ! एत्थ एव्व दाव मुहुत्तअं चिठ्ठ । जाव तुए उवगदाए लदासणाही विअ अअं केसररुक्खओ पडिभादि । [हला शकुन्तले ! अत्रैव तावन्मुहुर्तं तिष्ठ, यावत्त्वयोपगतया लतासनाथ इवायं केसरवृक्षकः प्रतिभाति ।]

शकुन्तला—अदो खु पिअंवदा सि तुमं । अतः खलु प्रियंवदाऽसि त्वम् ।]

शरीर पर सभी कुछ शोभा देने लगता है, चाहे वह मलिन हो या उज्ज्वल, कठोर, हो या कोमल ।

विशेष :—वल्कलेनेति—वल्कल जैसी तुच्छ एवं कठोर मलिन वस्तु से भी यह सुन्दर लगती है तो कौशेय वस्त्राभूषणादि से तो कितनी सुन्दर न लगेगी इसका कहना ही व्यर्थ है । प्रस्तुत श्लोक में उपमान उपमेय के एक ही सौन्दर्यरूप सामान्य धर्म का पृथक्-पृथक् वाक्यों द्वारा निर्देश किया गया है, अतः प्रतिवस्तूपमालंकार हैं । चतुर्थ चरण में सामान्य से विशेष समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है, वृत्यनुप्रास छेकानुप्रास । मालिनी छन्द है, "न न म य य यु, ते यं मालिनी भोगिलोके" इस लक्षण के अनुसार नगण, न, म, य, य, इस क्रम से १५ वर्णों का यह छन्द है ।

। । । । । । S S S । S S । S S
स र सि, ज म नु, वि द्ध शं, व ले ना, पि रम्यम् ।

संस्कृत व्याख्या :—शैवलेन जलनील्या "जलनीली तु शैवालं शैवलम् इत्यमरः", अनुविद्धं, सम्पृक्तं, आच्छादितं वा अपि सरसिजातं सरसिजं कमलं रम्यं मनोहरं (एव भवति) तथा हिमांशोः चन्द्रस्य लक्ष्म कलङ्कः मलिनम् अपि लक्ष्मीं शोभां तनोति विस्तारयति तथैव इयं पुरोदृश्यमाना तन्वी कृशाङ्गी (शकुन्तला) वल्कलेन अपि वल्कलसदृशतुच्छवस्तुसम्पर्केणापि पट्टवस्त्राभूषणादिविषये किमुत वक्तव्यम् इत्यर्थः अधिक मनोज्ञा अति मनोहारिणी दृश्यते इति शेषः हि यतः मधुराणां स्वभावतः सर्वजनोल्लादिनीनाम् रम्याणां आकृतीनां शरीरावयवानां किमिव किं तत् वस्तु यत् मण्डनं आभूषणं न भवतीति शेषः अपितु यावद्वस्तुमात्र मपि मण्डन मेव भवति, तथा च इयमपि तुच्छवल्कलेनापि स्वशोभां पुष्णाति । कण्ठे विषमिव नीलकण्ठस्य, कलंकेन चन्द्रस्येव, शैवालेन कमलस्येव अस्य वल्कलेनापि शोभा वर्धत एवेत्याशयः । पूर्वमेवोक्ता अलंकाराः । मालिनी वृत्तम् ।

इससे माधुर्य नामक अयत्नज अलंकार का निर्देश किया गया है "सर्वावस्थाविशेषेषु माधुर्यं रमणीयता" अर्थात् सभी प्रकार की अवस्था में रमणीयता का रहना माधुर्य कहलाता है । शकुन्तला वल्कल से भी मनोज्ञा है । इसी से प्रसिद्धि नामक भूषण भी उपक्षिप्त हैं "प्रसिद्धिः लोकविख्यातैर्वाक्यैरर्थप्रसाधनम्" इति ।

शकुन्तला—(सामने देख कर) यह केसर का छोटा वृक्ष हवा से हिलती हुई पल्लवों रूपी उँगलियों से मुझे शीघ्र बुला रहा है, तो चलूँ, इसका भी मन रख लूँ ।

(जाती है)

प्रियंवदा—अरी शकुन्तला ! थोड़ी देर तक यहाँ ही ठहर, देख ! जब तू इससे लग कर खड़ी होती है तो यह केसर का वृक्ष ऐसा लगता है कि मानो उससे कोई लता लिपटी हुई हो ।

राजा—प्रियमपि तथ्यमाह शकुन्तलां प्रियंवदा । अस्याः खलु,—
अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू ।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु संनद्धम् ॥ १८)

शकुन्तला—अतएव तू प्रियम्वदा है (अर्थात् ऐसी बातों से ही तो तू प्रियम् मिष्टभाषिणी कहलाती है ।) इस वार्तालाप से निरुक्त नामक भूषण उपक्षिप्त हो "निरुक्ति निरवद्योक्तिर्नामान्यर्थप्रसिद्धये" इति ।

राजा—प्रियम्वदा ने शकुन्तला से यद्यपि प्रिय तथापि सत्य ही कहा है क्यों इसका :—

श्लोक १८ अन्वय :—(अस्याः) अधरः किसलयरागः बाहू कोमलविटपानुकारि (तथा) अङ्गेषु कुसुमम् इव लोभनीयं यौवनं सन्नद्धम् (अस्ति)

शब्दार्थ :—किसलयरागः=पल्लव (नवोद्गत दल) की भाँति लाल, कोमलविटपा कारिणौ=दो कोमल शाखाओं के समान 'सन्नद्धं'=व्याप्त ।

अनुवाद :—(इसका) अधरोष्ठ पल्लव के समान रक्ताभ अर्थात् लाल वर्ण का है दोनों बाहु कोमल टहनियों की भाँति हैं, तथा अंगों में पुष्प सदृश आकर्षक यौवन व्याप्त रहा है ।

व्याख्या :—शकुन्तला से प्रियम्वदा के यह कहने पर कि तुम्हारे पास रहने से केसर वृक्ष का पौधा लता से युक्त अतएव सनाथ सा ज्ञात होता है अतः तुम थोड़ी देर यहीं खड़े रहो, शकुन्तला इसके उत्तर में कहती है कि इसी से तो तू प्रियम्वदा (मीठी-मीठी बातें करने वाली) कहलाती है । राजा विटपान्तरित हो यह सब वार्तालाप सुन रहा है वह अपने मन में कहता है यद्यपि प्रियम्वदा ने ये प्रिय वचन कहे हैं फिर भी इनमें पर्याप्त तथ्य है, केवल प्रिय ही नहीं सत्य भी है क्योंकि इसका :—

अधरोष्ठ पल्लव के समान रक्ताभ (लाल वर्ण का है) और दोनों बाहु कोमल-कोमल टहनियों की भाँति हैं । तथा अङ्गों में फूल सदृश चित्ताकर्षक यौवन व्याप्त हो रहा है लताओं में कोमल टहनियाँ और फूल होते हैं वही इस शकुन्तला में है । अतः प्रियम्वदा का कथन प्रिय होने के साथ-साथ सत्य भी है ।

विशेष :—अङ्गेषु—इस बहुवचन निर्देश से कवि ने उसके प्रत्येक अङ्ग में तारुण्य का व्याप्त होना सूचित किया है यथा मुख पर कान्ति, नेत्रों में अनुराग, चांचल्य; कण्ठ में कम्बु साम्य तथा त्रिरेखावलयत्व, वक्षःस्थल पर स्तनों का उज्जृम्भण औन्नत्य काठिन्यादि, नाभि में गम्भीरता या निम्नत्व, उदर में तनुता कृशता, नितम्ब स्थल में मध्यभाग में तिम्नता तथा उभय भाग में मांसलत्व; जघन जङ्घा जानु तथा उरु प्रदेशों में मांसलता, विशालता शीतलता, मृदुलता, पैरों में मदालस्य, गमन में विलासादि ।

सन्नद्धं=संनाह को प्राप्त होना अत्युत्कट होना, सर्वतः सम्यक्प्रकारेण व्याप्त होना । कुसुमं=जाति में एक वचन । उपमालंकारः आर्या जातिः ।

संस्कृत व्याख्या:—अधरः अधरोष्ठः किसलयस्य पल्लवस्येव रागः लौहित्यं यस्य स तथाभूतः पल्लवताम्र इत्यर्थः रागेण किसलयसदृशः इति भावः बाहू भुजौ कोमलौ मृदुलौ विटपौ स्कन्धोर्ध्वशाखे अनुकुरुत इति कोमलविटपानुकारिणौ मृदुलशाखानुकारिणौ, अङ्गेषु सर्वशरीरावयवेषु कुसुममिव पुष्पमिव (जातावेकवचनम्) लोभनीयं चित्ताकर्षकं यौवनम् तारुण्यं सन्नद्धम् व्याप्तम् । एवञ्चास्या लतासा दृश्यं युज्यत इति भावः ।

श्लोक से पदोच्चय नामक भूषण उपक्षिप्त होता है "सम्बद्धार्थानुरूपो यः पदौघः स पदोच्चयः" अर्थात् जहाँ सम्बन्द्ध अर्थ के अनकूल पदों का प्रयोग किया जाता है ।

अनसूया—हला सउंदले ! इअं सअंवरबहू सहआरस्स किदणमहेआ वणजो-सिणित्ति णोमालिआ । णं विसुमरिदा सि । [हला शकुन्तले ! इयं स्वयंवरवधू सहकारस्य त्वया कृतनामधेया वनज्योत्स्नेति नवमालिका । एनां विस्मृतवत्यसि ।]

शकुन्तला—तदा अत्ताणं वि विसुमरिस्सं । (लतामुपेत्यावलोक्य च) हला ! रमणीए खु काशे इमस्स लदापाअवमिहुणस्य वइअरो संवुत्तो । णवकुसुमजोवणा वणजोसिणी, सिणिद्धपल्लवदाए उबभोअक्खमो सहआरो । [तदात्मानमपि विस्म-रिष्यामि । हला ! रमणीये खलु काल एतस्य लतापादपमिथुनस्य व्यतिकरः संवृत्तः । नव-कुसुमयौवना वनज्योत्स्ना, स्निग्धपल्लवतयोपभोगक्षमः सहकारः ।] इति पश्यन्ती तिष्ठति ।)

अनसूया :—अरी शकुन्तले ? यह (वही) आम्रवृक्ष की स्वयम्वर वधू (अपने आप पति का वरण करने वाली) नव मालिका (नई मल्लिका या चमेली) है न, जिसका नाम तुमने वनज्योत्स्ना रखा है (वनज्योत्स्ना=वन की चाँदनी) क्या इसे भूल गई हो ?

शकुन्तला :—तब तो अपने को भी भूल जाऊँगी (यदि इसे भूल जाऊँगी, अर्थात् मैं इसे कभी कहीं भूल सकती) "नवमालिका लता के पास जाकर" सखी ! सचमुच इस लता और वृक्ष का मिलना बड़े सुन्दर समय में हुआ है (मिथुन=जोड़ा, व्यतिकर=सम्बन्ध मिलन अर्थात् लता का पेड़ से लिपटना, संवृत्तः=हुआ है (क्योंकि) यदि वन ज्योत्स्ना नवीन कुसुम रूपी यौवन से भरी हुई है और आम्र वृक्ष भी अपने कोमल व चिकने पल्लवों (किसलयों) के कारण इसका उपभोग करने में समर्थ है । वास्तव में मिलन तभी सार्थक होता है जब नायिका उपभोग योग्य हो और नायक उपभोग करने में समर्थ हो । यहाँ पर लता स्त्री लिङ्ग है और सहकार पुल्लिङ्ग, अतः लता पर नायिका का तथा सहकार पर नायक का व्यवहार समारोपित किया गया है अतः समासोक्ति है ।

नव कुसुम से तात्पर्य प्रथम रजोदर्शन से है । स्निग्ध पल्लव से तात्पर्य कर किसलय से है ।

(इस प्रकार उसे देखतीं हुई खड़ी हो जाती है)

प्रियम्वदा:—अनसूये ! जानती हो ? क्यों शकुन्तला वन ज्योत्स्ना को इतना अधिक देखती है ।

अनसूया:—नहीं, मैं तो नहीं जानती, मुझे बताओ ।

प्रियंवदा:—जैसे वन ज्योत्स्ना को अपने अनुरूप वृक्ष मिल गया है, (अर्थात् वह अपने योग्य वृक्ष की जीवनी संगिनी बन गई हैं) ऐसे ही मैं भी अपने अनुकूल वर को प्राप्त करूँ (बस इसीलिए ही तो)

शकुन्तला:—यह तो वास्तव में तेरी अपनी इच्छा है (इसीलिये ऐसा कह रही हैं, मेरी नहीं प्रत्युत अपनी इच्छा प्रकट कर रही है)

(घड़े से जल डालती है)

'कथमियं सा' से लेकर यहाँ तक मुख संधि का चतुर्थ 'विलोभन' नामक अङ्ग उपक्षिप्त किया गया है । "गुणानां वर्णनं तज्ज्ञैः विलोभन मितीरितम्" अर्थात् जहाँ नायिकागत गुणों का वर्णन किया जाय ।

राजा:—तो क्या यह कुलपति कण्व की, ब्राह्मण के अतिरिक्त किसी अन्य वर्ण की स्त्री से उत्पन्न कन्या है ? अथवा सन्देह करना व्यर्थ है । (असवर्ण क्षेत्र सम्भवा=पति के वर्ण के अतिरिक्त किसी अन्य वर्ण की स्त्री से उत्पन्न । एक ही वर्ण के पति पत्नी की सन्तान सवर्ण क्षेत्रज कहलाती है इसके विपरीत असवर्ण क्षेत्रज)

प्रियंवदा:—अणसूए ! जाणासि किं सउंदला वणजोसिणीं अदिमेत्तं दिक्ति । [अनसूये ! जानासि किं शकुन्तला वनज्योत्स्नामतिमात्रं पश्यतीति ।]

अनसूया:—ण खु विभावेमि । कहेहि । [न खलु विभावयामि कथय ।]

प्रियंवदा:—जह वणजोसिणी अणुरूवेण पाअवेण संगदा, अविणाम अहं वि अत्तणो अणुरूवं वरं लहेअत्ति । [यथा वनज्योत्स्नानुरूपेण पादपेन संगता नामैवमहमप्यात्मनोऽनुरूपं वरं लभेयेति ।]

शकुन्तला:—एसो णूणं तुह अत्तगदो मणोरहो । [एष नूनं तवा मनोरथः ।] (इति कलशमावर्जयति ।)

राजा:—अपि नाम कुलपतेरियमसवर्णक्षेत्रसंभवा स्यात् । अथवा संदेहेन:—

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा
"यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः ।"
सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु
प्रमाणमन्तःकरणप्रवृतयः ॥१९॥

तथापि तत्त्वत एनामुपलप्स्ये ।

श्लोकः—१९ अन्वयः—असंशयं (इयं) क्षत्रपरिग्रहक्षमा यत् मे आर्य मनः अ अभिलाषि, हि सन्देहपदेषु वस्तुषु सताम् अन्तःकरणप्रवृत्तयः प्रमाणम् ।

शब्दार्थः—असंशयं=निःसन्देह, क्षत्र परिग्रहक्षमा=क्षत्रिय द्वारा पत्नी रूप में करने योग्य, आर्यम्=निषिद्धाचरण विमुख साधु, निर्दोष, मे=मेरा विद्या विनयसदाचा गुणसम्पन्न, अभिलाषा युक्त, हि=क्योंकि, सन्देहपदेषु=संशयास्पद, वस्तुषु=विषयों सतां=सज्जनों की, अन्तःकरणप्रवृत्तयः=मनोवृत्तियाँ,प्रमाणं=निर्णय हेतु ।

अनुवाद:—निःसन्देह, यह क्षत्रिय द्वारा पत्नी रूप में ग्रहण करने योग्य है, क्यों मेरा श्रेष्ठ मन इस पर अभिलाषी है । क्योंकि संशयास्पद विषयों में सज्जनों की मनोवृ ही प्रमाण होती हैं । अर्थात् कर्तव्याकर्तव्य का निश्चय करने वाली होती हैं ।

व्याख्या:—राजा सोचता है कि इनकी बातों से यह पता चलता है कि यह कुलपति महर्षि कण्व ब्राह्मण के अतिरिक्त किसी और वर्ण से उत्पन्न कन्या है, परन्तु निश्चय किया जाय, तदनन्तर कुछ सोच विचार कर वह कहता है अथवा सन्देह व्यर्थ है:—

निःसन्देह यह क्षत्रिय द्वारा पत्नी रूप में ग्रहण करने योग्य है क्योंकि विनय सदाचरणादि गुणों से सम्पन्न मेरा निषिद्धाचरण रहित मन इस पर अभिलाषा करता है तात्पर्य यह है कि यदि यह क्षत्रिय द्वारा परिग्रहणीय न होती तो मेरे जैसे सदाचारी धर्मा व्यक्ति का निर्दोष मन इस पर कभी आसक्त न होता क्योंकि संशयास्पद विषयों में सज्ज की मनोवृत्तियां ही कर्तव्या-कर्तव्य का निश्चय करने वाली होती हैं । मनु ने कहा है "स नामात्मनः तुष्टिरेव च" अर्थात् सज्जन जिस वस्तु को पवित्र या ग्रहण करने योग्य मन द्वारा निश्चय कर लेते हैं वह अवश्य ही पवित्र तथा स्वीकरणीय होती है । अतः अवश्य ग्रहण करने योग्य है इसमें सन्देह नहीं क्योंकि इस पर मेरा मन विशेष रूप से आ हो रहा है । मेरे मन का इस पर आकृष्ट होना ही इस बात का प्रमाण है कि यह मेरे द्वा पत्नी रूप में स्वीकरणीय है ।

शकुन्तला:(ससंभ्रमम्) अम्मो ! सलिलसेअसंभमुग्गदो णोमालिअं उज्झिअ वअणं मे महुअरो अहिवट्टइ। [अम्मो ! सलिलसेकसंभ्रमोद्गतो नवमलिकामुज्झित्वा वदनं मे मधुकरोऽभिवर्तते ।] (इति भ्रमरबाधां रूपयति)

राजा:—(सस्पृहम् ।)

चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः ।
करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर ! हतास्त्वं खलु कृती ॥ २० ॥

विशेष:—यहाँ मत्परिग्रहक्षमा न कह कर जो क्षत्रपरिग्रहक्षमा यह सामान्य कथन किया गया है अतः अप्रस्तुत प्रशंसालंकार है । यत् मे मनः अस्यामभिलाषि अतः क्षत्रपरिग्रह-क्षमा इस कथन से काव्यलिङ्ग अलंकार है । उत्तरार्ध सामान्य से पूर्वार्धगत विशेष समर्थन रूप अर्थान्तरन्यासालंकार है । अर्यमस्यामभिलाषि मनः कहकर फिर अन्तःकरण प्रवृत्तयः कहा गया है अतः पुनरुक्त वदाभासालंकार है ।

यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः—से नायकगत औचित्य घ्वनित होता है । वंशस्थविल नामक छन्द है "जतौ तु वंशस्थविलं जरौ यदि"

। S । S S । । S । S । S
अ सं श, यं क्ष त्र, प रि ग्र, ह क्ष मा १२ वर्णों का छन्द है ।

संस्कृत व्याख्या—असंशयं नून मेव (इयं शकुन्तला) क्षत्रस्य क्षत्रियस्य राजन्यस्य परिग्रहाय पत्नीत्वेन स्वीकाराय क्षमा योग्या क्षत्रपरिग्रहक्षमा "क्षत्रं क्षत्रिय राजन्यौ, परिग्रहः परिजने पत्न्यां स्वीकारमूलयोः इति कोशः" यत् यस्मात् कारणत् विनयाचरणादिसमन्वितस्य आर्य निषिद्धाचरणशून्यं मनः अन्तःकरणम् अस्यां पुरोवर्तिन्यां शकुन्तलायाम् अभिलाषि अभिलाषायुक्तम् (अस्तीति शेषः) हि यतः सन्देहस्य पदेषु स्थानेषु सन्देहपदेषु संशयास्पदेषु वस्तुषु विषयेषु सतां सज्जानानाम् अन्तःकरणस्य प्रवृत्तयः अन्तःकरणप्रवृत्तयः मनोवृत्तयः प्रमाणं कर्तव्याकर्तव्यनिर्णयहेतुः । अस्यां ममान्तःकरणस्य वलवत् प्रवृत्तत्वात् अवश्यमेवेयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा अस्ति इत्यर्थः । अलंकाराः पूर्वमेवोक्ताः वशंस्थविलं वृत्तम् ।

फिर भी मैं यथार्थ रूप से इसे प्राप्त करूँगा । तात्पर्य यह कि यद्यपि मेरे मन में विश्वास है तथापि लोक व्यवहार की रक्षा के लिए तत्त्वतः ही इसे जानकर प्राप्त करूँगा, केवल अपने मानसिक विश्वास से ही नहीं । इससे यहाँ 'परिन्यास' नामक मुख सन्धि के तृतीय अङ्ग को उपक्षिप्त किया गया है । "तन्निष्पत्तिस्तु कथनं परिन्यासं प्रचक्षते" अर्थात् जहाँ कार्य की निष्पत्ति बतलाई जाय । "मुखादिसन्धिष्वङ्गानां क्रमो नायं विवक्षितः" इस सुधाकरोक्ति के अनुसार अङ्गों में कोई क्रम विवक्षित नहीं रहता है, कोई भी अङ्ग आगे पीछे आ सकता है जैसा कि यहाँ चतुर्थ बिलोभन अङ्ग के बाद तृतीय परिन्यास अंग उपक्षिप्त हुआ है ।

शकुन्तला:—(घबड़ाकर शीघ्रता से) अरे रे ! जल सेचन से घबड़ा कर उड़ा हुआ यह भ्रमर नवमालिका को छोड़कर मेरे मुँह की ओर दौड़ रहा है ।

(इस प्रकार वह भ्रमर पीड़ा का अभिनय करती है ।)

राजा:—(ललचाता हुआ)

श्लोक २० अन्वय—हे मधुकर ! करं व्याधुन्वत्याः (अस्याः शकुन्तलायाः वेपथुमतीम् अतएव चलापाङ्गां दृष्टिं बहुशः स्पृशसि, रहस्याख्यायी इव कर्णान्तिकचरः सन् (त्वं) मृदु

स्वनसि, तथा रतिसर्वस्वम् अधरं पिबसि, (अतएव) वयं तत्त्वान्वेषात् हताः त्वं खलु
असि।

शब्दार्थः—मधुकर=भ्रमर, व्याधुन्वत्याः=भ्रमर को भगाने के लिए इधर-उधर
चलाती, हिलाती हुई उसकी, वेपथुमतीं=तुम्हारे भय से काँपती हुई, अत्यन्त चञ्
चलापाङ्गां, अपाङ्ग—नेत्रों के प्रान्त भाग (कोने, कोए) अर्थात् चल=चञ्चल अपा
वाली दृष्टि, रहस्याख्यायी=गुप्त बात कहने वाले, कर्णान्तिकचरः=कान के पास गु
करने वाले, स्वनसि=शब्द करते हो, रतिसर्वस्वं=रति काल में सर्वश्रेष्ठ आस्वाद
तत्त्वान्वेषात्=यह किसकी कन्या है, कौन है, मेरे ग्रहण करने योग्य है या नहीं आदि
की खोज के कारण, हताः=वञ्चित, कृती=सफल मनोरथ, खलु=निश्चय ही।

अनुवाद:—हे भ्रमर! इधर उधर हाथ चलाती हुई इसकी (भयवश) काँपती
चञ्चल अपाङ्गों वाली दृष्टि को बारबार स्पर्श करते हो। रहस्य को बतलाने वाले की
कान के पास घूमने वाले (तुम) धीरे धीरे गुनगुनाते हो और रतिसर्वस्व अर्थात् रति
में सबसे अधिक आस्वादन योग्य अधर का पान करते हो। (अतएव) हम लोग तो ता
बातों का पता लगाने के कारण वञ्जित रह गये, पर, तुम कृती अर्थात् सफल मनोर
गये।

व्याख्या:—राजा शकुन्तला को तृष्णा पूर्वक देखकर कहता है वाह! भ्रमर
हटाने में भी इसकी चेष्टायें कितनी स्पृहणीय हैं, वास्तव में भ्रमर तू बड़ा भाग्यवान
हम कुछ नहीं क्योंकि—

हे भ्रमर! तुमको भगाने के निमित्त अपने हाथों को इधर-उधर चलाती हुई
तुम्हारे भय से काँपती हुई (इस श्लोक में प्रायः सर्वत्र दो अर्थ घटित होते हैं १ भ्रमर
में २ कामिजन पक्ष में) अतः वेपथुमतीं का अर्थ है भ्रमर के भय से काँपती हुई, कामि
पक्ष में कामावेग से अति चञ्चल हुई, अतएव चञ्चल अपाङ्गों वाली दृष्टि को बार
(नीलोत्पल बुद्धि से) स्पर्श करते हो (भ्रमर पक्ष में स्पृशति का अर्थ है काटना चाहते
कामिजन पक्ष में चुम्बन करना चाहते हो) रहस्य को बताने वाले की तरह कान के स
घूमते हुए तुम मीठी मीठी बातें गुनगुनाते हो, (कामिजन पक्ष में स्वनसि का अर्थ है कान
समीप पहुँच कर धीरे-धीरे बात करते हो) तथा रति सर्वस्व रतिकाल में सबसे अधिक आस्
दन योग्य अथवा रति=कामपत्नी का सर्वस्व अर्थात् कामिजनों को जीतने में सर्व प्र
कारण अथवा सुरत समय में सर्वस्व सर्वप्रधान अङ्ग की भाँति आस्वादन योग्य इसके अधरो
को काटते हो कामिजन पक्ष में चुम्बन करते हो। अतएव हम लोग (मैं दुष्यन्त) तो "
किसकी कन्या है, ग्रहण करने योग्य है या नहीं, यह कौन है, इत्यादि निश्चित बातों
पता लगाने में व्यस्त रहने के कारण वञ्चित रह गये, इसके पास तक भी न पहुँच सके,
इसके कटाक्ष गोचर ही हो सके, न इसके अभिप्राय व्यञ्जक रहस्यमय शब्दों को ही सुन स
और न इसके मना करने परे भी, इच्छा न प्रकट करने पर भी इसके परिचुम्बन का
उद्योग कर सके, यहाँ तक कि समीप तक भी न पहुँच सके, इसकी चेष्टाओं का प्रत्यक्ष
से अवलोकन भी न कर सके, केवल मनोराज्य विजृम्भणमात्र ही रहा परन्तु भ्रमर तु
निश्चय रूप से भाग्यवान् हो, सफल मनोरथ हो क्योंकि तुम्हें इन उपर्युक्त बातों का द
स्पर्शन श्रावणादि सब कुछ मिल गया।

विशेष:—रहस्याख्यी इव, कामी जन रहस्याख्यान के बहाने कर्ण समीप जा
चुम्बनोद्योग ही करते हैं, अतः उत्प्रेक्षालंकार है, करौ व्याधुन्वत्याः का सम्बन्ध यद्यपि पूर्व
की दोनों ही पंक्तियों से है तथापि कवि का विशेष तात्पर्य इसे, रतिसर्वस्व अपने अधरों
चुम्बन के समय ही प्रयुक्त करने से है अतएव तृतीयपंक्ति में इसका प्रयोग है। रतिसर्वस्वं

शकुन्तला:—ण एसोदु ट्ठो विरमदि । अण्णादो गमिस्सं । (पदान्तरे स्थित्वा सदृष्टिक्षेपम्) कहं इदो वि आअच्छदि ? परित्ताअह मं इमिणा दुव्विणीदेण दुट्ठमहुअरेण पडिहूअमणं । [न एष दुष्टो विरमति । अन्यतो गमिष्यामि । कथ-मितोऽप्यागच्छति । हला ! परित्रायेथां मामनेन दुर्विनीतेन दुष्टमधुकरेण परिभूयमानाम् ।]

उभे:—(सस्मितम् ।) का वअं परित्तादुं ? । दूस्संदं अक्कंद । राअरक्खिदव्वाइं तवोदणाइं णाम । [के आवां परित्रातुम् ? दुष्यन्तमाक्रन्द । राजरक्षितव्यानि तपोवनानि नाम ।]

राजा:—अवसरोऽयमात्मानं प्रकाशयितुम् । न भेत्तव्यं न भेत्तव्यम्—(इत्यर्धोक्ते । स्वगतम् ।) राजभावस्त्वभिज्ञातो भवेत् । भवतु । एवं तावदभिधास्ये ।

शकुन्तला—(पदान्तरे स्थित्वा, सदृष्टिक्षेपम् ।) कहं इदोवि मं अणसरदि ? [कथमितोऽपि मामनुसरति ।]

राजा:—(सत्वरमुपसृत्य)

अर्थ है सम्भोग निदानभूत क्योंकि रतिकाल में उसी का सर्व प्रथमतः आस्वादन कहा गया है "आदौ रतं वाह्यमिह प्रयोज्यं तत्रापि चालिङ्गनपूर्वमेव" इससे आलिगन चुम्बन को ही सर्वप्रथम स्थान दिया है अतएव अधरोष्ठ (उत्तरोष्ठ नहीं) ही रति सर्वस्व माना गया है । त्वं खलु कृती :—से कवि का तात्पर्य है कि इस प्रकार की सर्वाभिलषणीया मुग्धा नायिका की रति अनायास स्वच्छन्दता पूर्वक कर लेने के कारण तुच्छ कुरुप कीट भी तुम कृतार्थ हो गये और मैं सकल सौभाग्यशाली सुन्दर आकृति वाला होकर भी वास्तविक वृत्तान्त जिज्ञासा के चक्कर में पड़ कर सौभाग्य से वञ्चित ही रह गया । इसी भाव को स्पष्ट करने के लिए कवि ने त्वं इस एक वचन का प्रयोग किया है । और राजा के लिए वयं इस बहुवचन का प्रयोग किया है खलु इस प्रयोग से भ्रमर की अयत्नसिद्धचरितार्थता ध्वनित होती है ।

प्रस्तुत श्लोक में दृष्टिस्पर्श, मृदुकथन, अधरपान रूप कार्य के द्वारा प्रच्छन्न कामुक नायक के व्यवहार का समारोप किया गया है अतः **समासोक्ति अलंकार** है, वयं हस्तास्त्वं कृती में उपमानाधिक्य कथन से **व्यतिरेक अलंकार** है, "मधुकर कृती" में प्रथम चरणत्रयगत वाक्यार्थों का हेतु रूप से उपन्यास किया गया है, अतः **वाक्यार्थ हेतुक काव्यलिंग** अलंकार है, 'रहस्याख्यीव' में **क्रियोत्प्रेक्षालंकार है**, भ्रमर नीलोत्पल बुद्धि से ही उसकी दृष्टि का स्पर्श करना चाहता है (कमल नेत्रों के उपमान कहे गये हैं) अतः **भ्रान्तिमान अलंकार है**, "भ्रमर वृत्ति" में स्वभाव कथन है अतः **स्वभावोक्ति अलंकार** है, प्रथम वाक्यद्वय में **रसनाकाव्यलिंग** है, श्रुत्यनुप्रास आदि अलंकार हैं । शिखरिणी छन्द है ।

"रसैरुद्रैश्छिन्ना य म न स भ लागाः शिखरिणी" लक्षणानुसार जिस छन्द में यगण, म, न, स, भ, लघु गुरु वर्णों के क्रम से १७ वर्ण हों तथा ७ और ११ पर यति हो वह शिखारिणी छन्द होता है ।

। S S S S S । । । । । S S । । ल गु
च ला पा, ङ्गां दृ ष्टिं, स्पृ श सि व हु शो, वे वे थु, म तीम्

संस्कृत व्याख्या:—हे मधुकर ! वेपथुमतीं त्वद्भयेन, आरोपपक्षे कामावेगेन नितरां कम्पमानाम् आशंकाकातरां भयतरलितां वा अर्थात् अति चञ्चलां अतएव चलौ अपाङ्गौ यस्याः सा तां चलापाङ्गां चञ्चललोचन-प्रान्तभागां 'अपाङ्गौ नेत्रयोरन्तौ, इत्यमरः । दृष्टिं नयनं बहुशः पुनः पुनः स्पृशसि दष्टुं स्पृशसीत्यर्थः । आरोपपक्षे चुम्बसि, रहस्यं गोप्यं वस्तु आख्यातुं शीलं यस्य स रहस्याख्यायी स इव कर्णयोरन्तिके चरति तच्छीलः कर्णान्तिकचरः

क: पौरवे वसुमतीं शासति शासितरि दुर्विनीतानाम्
अयमाचरत्यविनयं मुग्धासु तपस्विकन्यासु ॥ २१ ॥
(सर्वा राजानं दृष्ट्वा किंचिदिव संभ्रान्ताः ।)

कर्णाभ्याशं भ्रमन् सन् मृदु कोमलं प्रियं मन्दं मन्दं वा यथा स्यात्तथा स्वनसि शब्दं करो आरोपपक्षे ब्रवीषि (अन्योऽपि कामी कामिन्याः कर्णान्तिकचरः सन् रहस्याख्यानव्याजेन मधुरं मन्दं मन्दं ध्वनत्येव) करं हस्तं व्याधुन्वत्याः भ्रमरबाधानिराकरणाय पाणिपल्लवं इतस्ततः विलोलयन्त्याः (अस्याः शकुन्तलायाः) रतेः सर्वस्वं रतिसर्वस्वं सुरते प्रधानकारणं यद्वा रतिकाले प्रधावत्वेनादरणीयं, रतेः कामपत्न्याः युवकजनजये प्रधानी कारणम् अधरं अधरोष्ठं पिबसि दशसि (अन्योऽपि कामी रतिकाले प्रथमं नायिकाधरबिम्बं स्वादयति यतः कामशास्त्रे आलिङ्गनचुम्बनयोः पूर्वत्वमुक्तम् । अत एवं वयं (अर्थात् दुष्यन्तः) तत्त्वान्वेषात् 'कस्येयं, का वेयं, परिग्रहयोग्या नवेति विचारपराः कर्तव्याकर्तव्यनि परिचयजिज्ञासया मनोराज्यविजृम्भणमात्रसंलग्नाः न तस्याः कटाक्षगोचरीभूता अपि परिचुम्बनादयस्तु दूरत एव, परन्तु त्वं खलु निश्चितं कृती सफलमनोरथः असि, त्वमि कवचनेन निकृष्टत्वं तुच्छत्वं च सूच्यते । वयमिति बहुवचननिर्देशेन राज्ञः सकलसौभाग्यशालि सुन्दराकृतित्वं च ध्वन्यते । अलंकारा उक्ताः, शिखारिणी वृत्तम् ।

भ्रमर बाधा दिखाकर शकुन्तला का पद्मिनी नायिका होना सूचित किया गया यद्यपि यहाँ 'हताः' यह कहा गया है तथापि इससे अत्यन्त अभिलाषा जन्य सुख की प्रा प्रकट होती है अतः यह 'प्राप्ति' नामक मुखसन्धि का षष्ठ अङ्ग है "साक्षात्पर्यायेण विधेयानि" इस कथनानुसार अङ्गों के विधान में क्रम नहीं रहता अतएव पञ्चम अङ्ग प्रथम ही षष्ठ अङ्ग उपक्षिप्त किया गया है । 'प्राप्ति' का लक्षण है ।

"सुखार्थस्योपगमनं प्राप्तिरित्यभिधीयते" अर्थात् जिस कार्य से सुखोलब्धि हो 'प्राप्ति' कहा जाता है ।

शकुन्तला—अरे ! यह दुष्ट मानता ही नहीं, चलूँ दूसरे स्थान पर । (दूसरे स्थान पर जाकर और दृष्टि फेर कर) पद=स्थान, अन्तर=अन्य । अरे, क्या इधर भी रहा है ? सखी ! बचाओ, इस अशिष्ट दुष्ट भ्रमर से परिपीड्यमान मुझे बचाओ ।

उभे—(मुस्कराकर) हम बचाने वाली कौन होती हैं ? (अर्थात् किसी को रक्षा का हमें क्या अधिकार है) दुष्यन्त को बुलाओ । तपोवन तो राजा के द्वारा रक्षित चाहिए (न कि हम तापसकन्याओं के द्वारा)

राजाः—अब, अपना परिचय देने के लिए यह अच्छा अवसर है । डरो मत, डरो (इतनी आधी बात कह कर फिर मन ही मन) इससे तो मेरा राजा होना प्रकट जायेगा, अच्छा तो फिर मैं इस प्रकार कहूँगा । (अश्राव्यं खलु यद्वस्तु तदिह स्वगतं मतम् अर्थात् जो वस्तु सुनाने योग्य नहीं होती वह 'स्वगत' कही जाती है)

शकुन्तलाः—(दूसरे स्थान पर जाकर और दृष्टि फेर कर) अरे ! यह तो मेरा भी पीछा नहीं छोड़ता है (क्या करूँ)

राजाः—(शीघ्र ही जाकर)

श्लोकः—२१ अन्वय—दुर्विनीतानां शासतरि पौरवे वसुमतीं शासति (सति) कः मुग्धासु तपस्विकन्यासु अविनयम् आचरति ।

शब्दार्थः—दुर्विनीतानां=दुष्टों के, पौरवे=पुरुवंशोत्पन्न राजा दुष्यन्त के, वसुमतीं रत्नगर्भा वसुन्धरा को, मुग्धासु=स्वभाव सरल ।

अनुवाद—दुष्टों का दमन करने वाले, पुरुवंशी राजा के पृथ्वी का शासन करते

अनसूया—अज्ज ! ण खु किवि अच्चाहिदं। इअं णो पिअसही महुअरेण अहिहुअमाण कादरीभूदा । ! [आर्य ! न खलु किमप्यत्याहितम् । इयं नौ प्रियसखी मधुकरेणभिभूयमाना कातरीभूता ।] इति (शकुन्तलां दर्शयति ।)

राजा—(शकुन्तलाभिमुखो भूत्वा ।) (अपि तपो वर्धते ?)

(शकुन्तला साध्वसादवचना तिष्ठति ।)

अर्थात् जब कि दुष्ट दमनकारी पुरुवंशी राजा पृथ्वी का शासन कर रहा हो तो यह कौन ? सरल स्वभाव वाली तपस्विकन्याओं पर दुर्व्यवहार कर रहा है ।

व्याख्या—भ्रमरबाधा का नाट्य करती हुई, और यह कहती हुई, कि यह पीछा ही कर रहा है, मुझे छोड़ता नहीं, शकुन्तला का वचन सुनकर राजा सहसा शीघ्रतापूर्वक पास जाकर कहता है :—

दुष्टों का दमन करने वाले जब, पुरुवंशी धर्मनिष्ठ एवं वीर राजा दुष्यन्त इस रत्नगर्भा वसुन्धरा पर शासन कर रहे हैं तो इन सरलस्वभाव वाली भोली-भाली तपस्वि-कन्याओं पर कौन असदाचारण कर रहा है ?

विशेष—शासतरि=दण्ड-विधानादि द्वारा लोगों के शिक्षक, वसुमतीं=रत्नगर्भा पृथ्वी अतः अवश्य रक्षणयोग्य सूचित किया गया है। मुग्धासु=अचतुर सरल स्वभाव वाली, तपस्वि शब्द से अत्यन्त असम्भाव्य अविनयाचरण व्यञ्जित किया गया है। "कः अयम्" यह, राजा की क्रोधोक्ति सूचित करता है अर्थात् जो तपस्वि कन्याओं पर भी अत्याचार करने का साहस करता है वह अवश्य मेरे द्वारा दण्डनीय है।

भगवान् कामदेव का प्रभाव बड़ा ही विचित्र है जिसने दुष्यन्त जैसे धर्मनिष्ठ वीर राजा की भी विद्या विनय सम्पन्न बुद्धि को भी एक प्रत्यक्ष तुच्छ भ्रमर को दण्ड देने के लिए चलायमान कर दिया। और यह है महाकवि का अद्भुत रचना कौशल ।

प्रस्तुत श्लोक में मयि, भ्रमर, शकुन्तलाया, इन विशेष प्रस्तुतों का कथन न कर जो इनके स्थान पर शासतरि, कः अयं, तपस्विकन्यासु इत्यादि सामान्यकथन किया गया है अतः यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसालंकार है और इस सामान्योक्ति से राजा का व्यापक प्रताप तथा राज-भाव-गोपन ध्वनित होता है (राजा ने बड़े ही कौशल द्वारा अपना प्रभाव भी स्पष्ट कर दिया है और साथ ही अपना परिचय भी गुप्त रखा है, दुष्यन्त के प्रत्यक्ष हो जाने पर भी मुनि-कन्यायें उसकी इस सामान्योक्ति से यह न जान सकी थीं कि यही राजा दुष्यन्त हैं। छेक, वृत्ति अनुप्रास । आर्या जातिः । लक्षण पहिले लिखा जा चुका है ।

संस्कृत व्याख्या—दुर्विनीतानां दुष्टानां शासतरि दण्डादिना शिक्षयितरि पौरवे पुरुवंशोद्भवे राजनि दुष्यन्ते वसुमतीं रत्नगर्भा वसुन्धरां शासति पालयति सति कः अयं मुग्धासु सरलासु तपस्विनां कन्याः तासु तपस्विकन्यासु मुनिकुमारीषु अविनयं धार्ष्ट्यम् असदाचरणम् आचरति करोति । आर्या जातिः । अलंकारा उक्ताः ।

(सभी राजा को देखकर मानो कुछ घबड़ा सी जाती हैं)

इससे दण्ड' नामक सन्ध्यङ्गातर उपक्षिप्त किया गया है "दण्डस्त्वविनयादीनां दृष्टया श्रुत्या च तर्जनम्" इति ।

अनसूया—आर्य ! कोई बड़ी भारी विपत्ति नहीं है। यह हमारी प्रिय सखी (केवल) भ्रमर से अभिभूत होकर त्रस्त या अधीर हो उठी थी ।

(इस प्रकार शकुन्तला को दिखलाती है)

अनसूया—दाणि अदिहिविसेसलाहेण। हला सउंदले ! गच्छ उडअम्, फलमिस्स अग्घ उवहार। इदं पादोदअ भविस्सदि। [इदानीमतिथिविशेषलाभेन। हला शकुन्तले ! गच्छोटजम्; फलमिश्रमर्घमुपहर। इदं पादोदकं भविष्यति।]

राजा—भवतीनां सूनृतयैव गिरा कृतमातिथ्यम्।

प्रियम्वदा—तेण हि उमस्सि पच्छाअसीअलाए सत्तवणवेदिआए मुहुत्तम् उवविसिअ परिस्समविणोदं करेदु अज्जो। [तेन ह्यास्यां प्रच्छायशीतलायां सप्तपर्णवेदिकायां मुहूर्तमुपविश्य परिश्रमविनोदं करोत्वार्यः।

राजा—नूनं यूयमप्यनेन कर्मणा परिश्रान्ताः।

अनसूया—हला सउंदले ! उइदं णो पज्जुवासणं अदिहीणं; एत्थ उवविसम्ह। [हल शकुन्तले ! उचितं नः पर्युपासनमतिथीनाम्; अत्रोपविशामः] (इति सर्वा उपविशन्ति।)

शकुन्तला—(आत्मगतम्।) किं णु खु इमम् पेक्खिअ तपोवण-विरोहिणो विआरस्स गमणीअ म्हि संवुत्ता ? [किं न खल्विमं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्य गमनीयास्मि संवृत्ता ?]

राजा—(शकुन्तला के सामने होकर) तुम्हारी तपस्या तो बढ़ रही है न ? अर्थात् तुम्हारा तप कर्म (वृक्ष सेचनादि) तो ठीक चल रहा है ? उसमें कोई विघ्नबाधा तो नहीं है ? (शकुन्तला भय और लज्जा के कारण चुप रह जाती है) साध्वस=भय मिश्रित लज्जा।

अनसूया—इस समय तो (आप जैसे एक) विशेष प्रकार के अतिथि के लाभ से (तो तप कर्म और भी निर्विघ्न एवं सफल हो गया है) अच्छा शकुन्तला, कुटी में जा, और कुछ फल फूलों के साथ अर्घ्य तो ले आ। और यह (घड़े का जल) पादोदक (चरण धोने का जल) हो जायेगा।

इससे यहाँ पर "अनुवृत्ति" नामक नाट्यालङ्कार का निर्देश किया गया है "प्रश्रयादनुर्वतनमानुवृत्तिः" अर्थात् सविनय व्यवहार का नाम अनुवृत्ति है। उटज=मुनियों की पर्णशाला।

राजा—आप लोगों की सत्य एवं मीठी-मीठी बातों ही ने मेरा अतिथि, सत्कार कर दिया है (अतः और अधिक सत्कार की आवश्यकता नहीं)

प्रियम्वदा—तो फिर आर्य इस घनी छाया वाले सप्तपर्ण (के तले) वेदी पर कुछ देर बैठकर अपनी थकान दूर करें; सप्तपर्णवेदिकायाम्=विषमच्छद वृक्ष के नीचे लगी हुई चौकोर (भूमि पर)

राजा—आप लोग भी तो इस (जल सेंचन रूप) कर्म से थक गई होंगी।

अनसूया—शकुन्तले ! हम लोगों को अतिथि-सत्कार तो करना ही चाहिए, तो आओ यहाँ बैठ जाँय। तात्पर्य यह कि हम लोगों को अतिथि की बात तो रखनी ही है अतः बैठना ही ठीक है (क्योंकि राजा ने यह कहकर आप लोग भी तो जल सेचन से थक गई होंगी उनके बैठ जाने की इच्छा प्रकट की थी।)

(सब बैठ जाते हैं)

शकुन्तला—(मन ही मन) न जाने क्यों तपोवन विरोधी मनोविकार इस व्यक्ति को देखकर मुझमें उत्पन्न हो रहा है। तात्पर्य यह है कि इस पुरुष को देखकर मेरे मन में न जाने क्यों उथलपुथल मच गई है। वास्तव में इस प्रकार का मनोविकार उत्पन्न होना उस

राजा—(सर्वा विलोक्य ।) अहो ! समवयोरूपरमणीयं भवतीनां सौहार्दम् ।

प्रियम्वदा—(जनान्तिकम् ।) अणसूए ! को णु खु एसो चउरगंभीराकिदी चउरं पिअम् आलवंतो पहाववंदो विअ लक्खीआदि ? । [अनुसूये ! को नु खल्वेष चतुरगम्भीराकृतिश्चतुरं प्रियमालपन्प्रभाववानिव लक्ष्यते ? ।]

अनसूया—सहि ! मम वि अत्थि कोदूहलं । पुच्छिस्सं दाव णं । (प्रकाशम्) अज्जस्स महुरालावजणिदो वीसंभो मं मंतावेदि—कदमो अज्जेण राएसिणो वसो अलंकरीअदि ? कदमो वा विरहपज्जुस्सुअजणो किदो देसो ? किंणिमित्तं वा सुउमारदरो वि नवोवणगमणपरिस्समस्स अत्ता पदं उवणीदो ? [सखि ! ममाप्यस्ति कौतूहलम् । पृच्छामि तावदेनम् । आर्यस्य मधुरालापजनितो विश्रम्भो मां मन्त्रयते-कतम-आर्येण राजर्षे-र्वंशोऽलंक्रियते ? कतमो वा विरहपर्युत्सुकजनः कृतो देशः ? किंनिमित्तं वा सुकुमारतरोऽपि तपोवनगमनपरिश्रमस्यात्मा पदमुपनीतः ? ।]

व्यक्ति के लिये सर्वथा अनुचित है जो तपोवन का रहने वाला है । (विकारस्य गमनीयास्मि संवृत्ता=कामोद्रेक का विषय बन गई हूँ; काम विकार उत्पन्न हो गया है इससे शकुन्तलागत **'भाव' नामक** अंगज विकार का निर्देश किया गया है "निर्विकारात्मके चित्ते भावः प्रथमविक्रिया" अर्थात् जब विकार रहित चित्त में सर्वप्रथम मनोविकार उत्पन्न होता है तब उसे 'भाव' कहते हैं ।

राजा—(सबको देखकर) आप सब समान अवस्थावाली तथा समान स्वरूप वाली हैं और आप लोगों की यह पारस्परिक मैत्री भी बहुत ही रमणीय है ।

प्रियंवदा—(धीरे से अलग अनसूया की ओर मुड़कर जिससे कि राजा न सुन सके) अनसूये ! चतुर एवं गम्भीर आकृति वाले प्रिय एवं चतुरता पूर्वक मधुर भाषण करने वाले व्यक्ति तो बड़े प्रभावशाली दिखलाई पड़ते हैं, (यह कौन हो सकते हैं) जनान्तिकम्=जब किसी के सामने उपस्थित व्यक्ति के, जिससे कि वर्तालाप चल रहा है, कुछ मुड़ कर—मुंह फेर कर, या त्रिपताकार हाथ से ओट करके समीपवर्ती अन्य व्यक्ति से इस प्रकार बातचीत की जाती है जिससे वह उपस्थित व्यक्ति न सुन सके उस समय **जनान्तिक** का प्रयोग किया जाता है । जन=व्यक्ति, अन्तिक=समीपस्थ अर्थात् जिससे कोई अन्य (उसके ही अतिरिक्त अन्य कोई) न सुन सके केवल वही सुन सके जिससे कहा जा रहा है । जिसमें अनामिका ऊँगली टेढ़ी कर ली जाती है उसे त्रिपताकार हाथ कहते हैं ।

"त्रिपताककरेणान्यानपवार्यान्तरा कथाम्"
अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्याज्जनान्ते तज्जनान्तिकम् ॥ साहित्य दर्पण ॥
स एव त्रिपताकः स्यात् वक्रितानामिकाङ्गुलिः ॥ संगीत रत्नाकर ॥

अनसूया—सखी ! मुझे भी तो (यह बात जानने की) बड़ी उत्कण्ठा हो रही है चलो । इन्हीं से पूछें । (प्रकट—सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यात्) आर्य ! आपके प्रिय वार्तालाप से मुझे जो विश्वास उत्पन्न हो गया है वह मुझे आपसे और भी कुछ पूछने का उत्साह बढ़ा रहा है अतएव मैं पूछती हूँ कि आप किस वंश को सुशोभित करते हैं, (अर्थात् आप किस राजर्षि वंश में उत्पन्न हुए हैं) किस देश के लोगों को आप अपने वियोग से दुखी कर यहाँ पधारे हैं अर्थात् आप किस देश के रहने वाले हैं) और किस प्रयोजनवश अत्यन्त सुकुमार शरीर वाले भी आपने तपोवन में आने के परिश्रम में अपने को डाला है (अर्थात् आप इतने सुकुमार हैं

शकुन्तला—(आत्मगतम्) हिअअ मा उत्तम्म। एसा तुए चिंतिदाइं अणसूआ मंतेदि। [हृदय ! मोताम्य ! एषा त्वया चिन्तितान्यनसूया मन्त्रयते।]

राजा—(आत्मगतम्।) कथमिदानीमात्मानं निवेदयामि ? कथं वात्मापहारं करोमि ! भवतु; एवं तावदेनां वक्ष्ये। (प्रकाशम्) भवति ! यः पौरवेण राज्ञा धर्माधिकारे नियुक्तः सोऽहमविघ्नक्रियोपलम्भाय धर्मारण्यमिदमायातः।

फिर भी आपने यहाँ आकर अपने को क्यों कष्ट दिया है) कहाँ तो आपका सुकुमार शरीर और कहाँ यह तपोवन की कठोर भूमि, इससे तो कोई विशेष प्रयोजन ही प्रतीत होता है अन्यथा आप क्यों आने का कष्ट करते, परन्तु तपोवन में आप जैसे विशेष पुरुषों का प्रयोजन भी क्या हो सकता है ? अतः कुछ फल न दिखलाई पड़ने के कारण आपका आना केवल परिश्रमजनक ही होगा फल जनक नहीं—तात्पर्य यह कि आप मुझे बतलायें कि आप किस लिये और कहाँ से आये हैं।

शकुन्तला—(मन ही मन) हृदय ! उतावले न बनो, बात तुमने सोची थी वही तो यह अनुसूया पूछ रही है (मन्त्रयते=उसी के विषय में बातचीत कर रही है)

इससे यहाँ **'हाव'** नामक अङ्गज विकार का निर्देश किया गया है "भावादीषत्प्रकाशो यः स हाव इति कथ्यते" अर्थात् जब पूर्वोक्त 'भाव' का और कुछ अधिक प्रकाश हो जाता है तो वह 'हाव' कहलाने लगता है। भाव आदि यद्यपि चित्त-मात्र में उत्पन्न होते हैं फिर भी इनके कारण कुछ-कुछ भ्रू नेत्रादि विकार भी शरीर में उत्पन्न हो जाते हैं अतएव इन्हें शरीर विकार कहा गया है।

लक्षण ग्रन्थों में स्त्रियों के यौवनकालीन २० अलंकार माने गये हैं (किन्हीं आचार्यों ने १८ ही माने हैं) इनमें भाव हाव हेला ये तीन अङ्गज अलङ्कार हैं (इन मनोविकारों को अलंकार नाम इसलिये दिया गया है क्योंकि ये शोभावर्धक होते हैं) इनमें सर्वप्रथम भाव है। व्यक्ति की सत्त्वावस्था वह अवस्था है जबकि उसमें कोई विकार उत्पन्न नहीं होता और जब सर्व प्रथम उसमें विकार उत्पन्न होता है तो उसे ही भाव कहते हैं, यह प्रथम विकार (भाव) सर्वथा अस्फुट रहता है और शरीर के अन्तस् में ही छिपा रहता है, फिर भी कुछ, सर्वथा अस्फुट ही, आंगिक चेष्टाओं से भाव के उदय होने का पता लग जाता है, और जब यह भाव कुछ और स्पष्ट हो जाता है तब इसे हाव' कहा जाने लगता है। पहिले तो शकुन्तला ने ही, अपने मन में ही विकार के उद्रेक का अनुभव किया था अतः उस समय यह भाव मात्र था अब वह अपने चंचल हृदय को सान्त्वना भी देने लगी है अतएव वह भाव अब हाव के रूप में बदल गया है। "अल्पालापः सश्रृंगारो हावोऽक्षिभ्रू विकारकृत्" अर्थात् नायिका बातचीत तो कम करे परन्तु श्रृंगार वश उसके भ्रू नेत्र आदि में चाञ्चल्य स्पष्ट प्रतीत हो वह हाव की अवस्था होती है :—

> अथवा—भ्रू नेत्रादि विकारैस्तु सम्भोगेच्छाप्रकाशकः
> भाव एवाल्पसंलक्ष्यविकारो हाव उच्यते। सा० द०।

अर्थात् जब भ्रू नेत्रादि विकारों से भाव ही सम्भोग की इच्छा का प्रकाशक बन जाता है परन्तु स्फुट नहीं होता तो वह हाव कहलाता है। यही हाव जब श्रृङ्गार रस को प्रकट रूप में भली भाँति अभिव्यक्त करने लगे तब 'हेला' कहलाने लगता है हेला में नायिका के विकार सर्वथा स्पष्ट रूप में दिखलाई पड़ने लगते हैं तथा प्रकट रूप में ये श्रृगार-चेष्टाओं के प्रकाशक बन जाते हैं। उपर्युक्त तीनों अलंकार नायक में भी होते हैं। हेला एवं शेष अलंकारों का यथास्थान निर्देश किया गया।

अनसूया—सणहा दाणिं धम्मआरिणो । [सनाथा इदानीं धर्मचारिणः ।]

(शकुन्तला शृङ्गारलज्जां रूपयति ।

सख्यौ—(उभयोराकारं विदित्वा, जनान्तिकम् ।) हला सउंदले ! जइएत्थ अज्ज तादो संणिहिदो भवे ! [हला शकुन्तले ! यद्यत्राद्य तातः संनिहितो भवेत् ।]

राजा—(मन ही मन) अब मैं किस प्रकार अपना परिचय दूँ और किस प्रकार अपने को छिपाऊँ भी (राजा का तात्पर्य यह है कि यदि मैं दुष्यन्त के रूप में अपना परिचय देता हूँ तो इससे यह स्पष्ट प्रतीत हो जायेगा कि मैंने एकान्त में तपोवन में इन तापस कन्याओं से मिलने के लिए प्रवेश किया है, जो सर्वथा अनुचित होगा अतः दुष्यन्त के रूप में मुझे सहसा अपना परिचय नहीं देना चाहिए तो फिर क्या इनसे झूठ बोला जाय अपने को छिपाया जाय परन्तु झूठ बोलना भी तो पाप है क्या किया जाय, उत्तर देना आवश्यक ही है अतः वह कुछ सोच कर कहता है । मैं इससे अब यह कहता हूँ—

(प्रकट) देवि ! मैं पुरुवंशी राजा द्वारा नियुक्त धर्माधिकारी हूँ । अर्थात् धार्मिक क्रियाओं की देखभाल करने वाला हूँ, वही मैं आज मुनिजनों के कार्य-में कोई विघ्न बाधा तो नहीं पड़ रही है यह जानने के लिए पवित्र तपोवन में आया हूँ । (इस प्रकार राजा ने अपना परिचय दिया और अपने को असत्य भाषण से बचाते हुए उनको भी सन्तुष्ट कर दिया) ।

अनसूया—अब धर्माचरण करने वाले सफल हुए अर्थात् यहाँ आकर आपने धर्मचारियों पर बड़ी कृपा की है ('हम लोगों पर कृपा की, यह न कहकर जो धर्मचारिणः सनाथाः' यह सामान्य कथन किया गया है अतः अप्रस्तुत प्रशंसालंकार है तथा इस अप्रस्तुत प्रशंसा से सर्व तपस्वियों की सनाथता व्यञ्जित की गई है और इस अप्रस्तुतप्रशंसा से ही असम्बन्ध में सम्बन्ध लक्षण अतिशयोक्ति भी ध्वनित होती है । क्योंकि राजा के एक ही स्थान पर गमन की सर्वस्थान गमनव्याप्ति सूचित की गई है । अतः अलंकार से अलंकार ध्वनि है ।

(शकुन्तला शृङ्गार लज्जा का अभिनय करती है)

(शृङ्गार लज्जा के अभिनय से तात्पर्य है कि सिर झुकाकर या सिर अवनत कर लज्जित हुई दृष्टि से देखना और मुँह फेर कर इधर उधर देखते हुए बात करना अथवा कृत्रिम कोप प्रकट करना इत्यादि ।

"पराङ् मुखीकृतं शीर्षं परावृत्तमुदीरितम्
तत्कार्यं कोपलज्जादि कृते वक्त्राप्रसारणे ।।इति।।
अथवा "मिथोऽभिगामिपक्ष्माग्राप्यधस्ताद्गततारका ।
पतितोर्ध्वपुटा दृष्टिर्लज्जया लज्जिता मता ।।

अथवा शृङ्गार का अर्थ है प्रकृष्टरति" उससे जो लज्जा, कन्याजन सुलभा व्रीड़ा, उस व्रीड़ा का अभिनय करती है ।

इस कथन के द्वारा नायिकागत हेला नामक अङ्गज विकार को भी निर्देश किया गया है "हेलात्यन्तसमालक्ष्यविकार : स्यात्स एव तु" अर्थात् जहाँ पर उत्पन्न विकार अत्यन्त स्फुट रूप में दिखलाई पड़ने लगे वही हेला कहलाता है । कोई आचार्य यहाँ 'हाव' ही मानते हैं जैसा कि हाव का लक्षण ऊपर दिया गया है । वास्तव में हेला अवस्था में ही भाव पूर्णतया स्पष्ट हो पाता है और तभी उनकी चेष्टाओं से समीपवर्ती जन उनके पारस्परिक स्नेह का पता लगा पाते हैं । यहाँ प्रकृत में ऐसा ही उपयुक्त जान पड़ता है इसलिए तो आगे सखियाँ कहती हैं—

शकुन्तला—तदो किं भवे ? [ततः किं भवेत् ? ।]

सख्यौ—इमं जीविदसव्वस्सेण वि अदिहिविसेसं किदत्थं करिस्सदि। [इमं जीवितसर्वस्वेनाप्यातिथिविशेषं कृतार्थं करिष्यति ।]

शकुन्तला—तुम्हे अवेध। किं वि हिअए करिअ मंतेध । ण वो वअणं सुणिस्सं। [युवामपेतम्। किमपि हृदये कृत्वा मन्त्रयेथे। न युवायोर्वचनं श्रोष्यामि।]

राजा—वयमपि तावद् भवत्योः सखीगतं पृच्छामः ।

सख्यौ—(राजा और शकुन्तला की आकृति अर्थात् उनके कम्पन स्वेद रोमाञ्चादि को देखकर और उनके मनोगत भावों को ताड़ कर, धीरे से अलग शकुन्तला से कहती हैं), अरी शकुन्तला ! यदि आज पिता जी घर होते—समीपवर्ती होते ? सोमतीर्थ से लौट आये होते ?

शकुन्तला—तो क्या होता ?

सख्यौ—तो इस असाधारण अतिथि को अपने जीवन का सर्वस्व देकर भी इन्हें सफल मनोरथ कर देते।

जीवित सर्वस्व का अर्थ है दारा अपत्यादि रूप धन। यह धन किसी को देने योग्य नहीं होता अतएव यह धन जीवित सर्वस्व कहा जाता है, यहाँ इससे तात्पर्य है प्राणाधिक प्रिया शकुन्तला, क्योंकि नैष्ठिक ब्रह्मचारी कण्व के पत्नी सन्तानादि तो थे ही नहीं अतः कण्व के जीवित सर्वस्व से यहाँ तात्पर्य है शकुन्तला। अथवा जीवित का अर्थात् अपना सर्वस्व=सर्व सम्पत्ति स्वरूप अर्थात् शकुन्तला, अतः सखियों का तात्पर्य है कि तो तुमको (शकुन्तला को) इस अतिथि को देकर इन्हें कृतार्थ कर देते अर्थात् इनके साथ तुम्हारा विवाह कर देते।

इस जीवित सर्वस्व कथन द्वारा पताकास्थानक का निर्देश किया गया है "सहसैवार्थसम्पत्तिर्नायकस्योपकारिका पताका स्थानकं सन्धौ" अर्थात् जहाँ नायकोपकारिणी कथावस्तु की सहसा भावी सूचना प्राप्त होती है वहाँ पताका स्थानक होता है। कुछ आचार्यों ने तो यहाँ केवल श्लेषालङ्कार ही माना है परन्तु उन्होंने इसी पृष्ठ पर "यः पौरवे आदि कथन में पताका स्थानक माना है उनके अनुसार—

"द्व्यर्थो वचनविन्यासः सुश्लिष्ट काव्ययोजितः
प्रधानार्थान्तरापेक्षी पताका स्थानकं परम्। सा० द०।

अर्थात् काव्य प्रयुक्त श्लिष्ट द्व्यर्थक वचन रचना जो प्रधान कथावस्तु की उपकारक हो पताका स्थानक कहलाती है। प्रकृत में "यः पौरवेण.......आयातः" यह वाक्य द्व्यर्थक है। पौरवेण=(१) पुरुवंशोत्पन्न राजा दुष्यन्त द्वारा, (२) पुरुवंशोत्पन्न राजा के द्वारा अर्थात् दुष्यन्त के पिता के द्वारा, धर्माधिकारे=राज्यान्तर्गत प्रजाजनों के धार्मिक कार्यों की—न्यायादि—की देखभाल करने के कार्य में, नियुक्तः—लगाया गया वह, मैं दुष्यन्त (१) दुष्यन्त द्वारा नियुक्त उसका कोई सचिव न्यायाधीश आदि। सोचवाद रूप में तो धर्मारण्य की धार्मिक क्रियाओं को निर्विघ्न देखने के लिये तथा दुष्यन्त रूप में वैखानसों द्वारा निर्दिष्ट मृगयानुसारी मैं पुण्याश्रम देखने के लिये आया हूँ। इस प्रकार द्व्यर्थक वचन विन्यास से राजा ने अपना मिथ्यावादित्व भी दूर किया तथा उनको परिचय देकर सन्तुष्ट भी किया। अतएव यहाँ पर पताका स्थानाक का निर्देश है।

शकुन्तला—चलो हटो तुम लोग ! मन में कुछ रखकर तुम लोग बात करती हो, अब मैं तुम लोगों की बात न सुनूँगी। (तात्पर्य यह कि तुम लोग मेरे विवाह की बात को

सख्यौ—अज्ज अणुग्गहो विअ इअं अब्भत्थणा। [आर्य ! अनुग्रह एवेयमभ्यर्थना।]

राजा—भगवान्काश्यपः शाश्वते ब्रह्मणि स्थित इति प्रकाशः। इयं च वः सखी तदात्मजेति कथमेतत् ?।

अनसूया—सुणादु अज्जो। अत्थि को वि कोसिओत्ति गोत्तणामहेओ महाप्पहावो राएसी। [श्रृणोत्वार्यः। अस्ति कोऽपि कौशिक इति गोत्रनामधेयो महाप्रभावो राजर्षिः।]

राजा—अस्ति, श्रूयते।

अनसूया—तं णो पिअसहीए पहवं अवपच्छ। उज्झिआए सरीर संवड्ढणादिहिं तादकस्सवो से पिदा। [तमावयोः प्रियसख्याः प्रभवमवगच्छ। उज्झितायाः शरीरसंवर्धनादिभिस्तातकाश्यपोऽस्याः पिता।]

राजा—'उज्झित' शब्देन जनितं मे कौतूहलम्। आमूलाच्छ्रोतुमिच्छामि।

मन में रखकर कह रही हो जो कि तपोनिष्ठ हम लोगों को न कहनी चाहिये, और फिर उसका यहाँ कोई सम्बन्ध भी नहीं अतः तुम्हारा कथन सर्वथा असम्बद्ध है, मैं न सुनूँगी।

"राजा (आत्मगतम्)" से लेकर यहाँ तक 'उदाहरण' नामक भूषण उपक्षिप्त किया गया है "वाक्यं यद्गूढतुल्यार्थ तदुदाहरणं मतम्" अर्थात् प्रकृत विषयोपयोगी गूढ उक्त उदाहरण कही जाती है) (शकुन्तला का यह कथन कृत्रिम कोप प्रदर्शक है।)

राजा—आप लोगों की सखी (शकुन्तला) के विषय में हम भी कुछ पूछना चाहते हैं।

सख्यौ—पूछिये ! आर्य यह तो आपका अनुग्रह ही है, अभ्यर्थना नहीं। तात्पर्य यह है कि आप जैसे व्यक्ति का हम जैसे लोगों से कुछ पूछना कृपा सूचक है फिर भी जब इसे नम्रतापूर्वक पूछा जाय तब तो इसके औचित्य के विषय में कहना ही क्या अर्थात् तब तो पूछना सर्वथा ही उचित है।

राजा—यह बात तो सर्व विदित है कि पूज्य महर्षि कण्व तो नित्य ब्रह्मचर्य व्रतधारी हैं और यह तुम्हारी सखी उनकी पुत्री है यह बात कैसी ? अर्थात् यह बात कैसे सम्भव है। पत्नी के परिग्रह के विना औरस सन्तान ही नहीं सकती, नित्य नैष्ठिक ब्रह्मचारी विवाह कर नहीं सकते, विवाह ही नहीं नैष्ठिक ब्रह्मचारियों के लिये तो अष्टविध मैथुन आदि सभी वर्जित हैं तो फिर यह उनकी औरसी सन्तान हो, यह तो सर्वथा परस्पर विरुद्ध बात है। (शाश्वत=नित्य, इति प्रकाशः=अति प्रसिद्ध है)

"ब्रह्मचार्य्युपकुर्वाणो नैष्ठिको ब्रह्मतत्परः
योऽधीत्य विधिवद्वेदान् गृहस्थाश्रम माव्रजेत्
उपकुर्वाणको ज्ञेयो नैष्ठिको मरणान्तकः

अर्थात् ब्रह्मचारी दो प्रकार के होते हैं एक उपकुर्वाण तथा दूसरे नैष्ठिक, उपकुर्वाण वे जो विधिवत् वेदाध्ययन कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते हैं, नैष्ठिक वे जो मरणपर्यन्त ब्रह्मचारी रहते हैं। भगवान् कण्व ऐसे ही नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं, तो उनसे सन्तानोत्पत्ति कैसी ?।

अनसूया—आर्य आप सुनें। मैं बतलाती हूँ कैसे, सुनिये कौशिक गोत्रोत्पन्न अतएव कौशिक नामधारी एक बड़े प्रभावशाली राजर्षि हो गये हैं। (प्रभाव यह कि वे अपने प्रताप से क्षत्रिय होकर भी ब्राह्मण हो गये थे)।

राजा—हाँ। सुना जाता है।

अनसूया—सुणादु अज्जो, गोदमीतीरे पुरा किल तस्स राएसिणो उग्गे तवसि वट्टमाणस्स किवि, जादसकेहिं देवेहिं मेणआ णाम अच्छरा पेसिदा णिअमविग्घकालिणी। [शृणोत्वार्यः, गौतमीतीरे पुरा किल तस्य राजर्षेरुग्रे तपसि वर्तमानस्य किमपि जातशङ्कैर्देवैर्मेनका नामाप्सराः प्रेषिता नियमविघ्नकारिणी।]

राजा—अस्त्येतदन्यसमाधिभीरुत्वं देवानाम्।

अनसूया—तदो वसंतोदाररमणीए समए से उम्मादइत्तअं रूवं पेक्खिअ,—[ततो वसन्तोदारसमये तस्या उन्मादयितृ रूपं प्रेक्ष्य,—] (इत्यर्धोक्ते लज्जया विरमति।

राजा—परस्ताज्ज्ञायत एव। सर्वथाप्सरःसंभवैषा

अनसूया—अह इं ?। [अथ किम् ?।]

राजा—उपपद्यते,—

अनसूया—तो बस हमारी प्रिया सखी के जन्म-कारण उन्हीं को समझिये। अर्थात् यह उन्हीं की कन्या है। उनके द्वारा परित्यक्त इसका शरीर-सम्वर्धन आदि (पालन-पोषण आदि) करने के कारण, न कि उत्पन्न करने के कारण, तात काश्यप भी इसके पिता हैं। अर्थात् महर्षि कण्व इसके धर्म पिता हैं जनक नहीं। क्योंकि पिता पाँच प्रकार के माने गये हैं:—

अन्नदाता, भयत्राता, यस्य कन्या विवाहिता।
जनयितोपनेता च पञ्चैते पितरः स्मृताः॥

अथवा "शरीरकृत् प्राणदाता यस्य चान्नानि भुञ्जते।
क्रमेणैते त्रयः प्रोक्ताः पितरो धर्मसाधनाः॥

और भीः—कन्यादाताऽन्नदाता च ज्ञानदाताऽभयप्रदः
जन्मदो मन्त्रदो ज्येष्ठभ्राता च पितरः स्मृताः॥

राजा—तुम्हारे द्वारा कथित "उज्झितायाः" अर्थात् उनके द्वारा परित्यक्त, इससे तो मेरी उत्कण्ठा और भी बढ़ गई है अतः मैं आरम्भ से लेकर (पूरी कथा) सुनना चाहता हूँ।

("राजर्षि कन्या" सुनकर ही राजा को यह विश्वास हो गया था कि यह मेरे परिणय योग्य है अतएव उसके प्रति अनुराग भी बढ़ गया था परन्तु फिर भी अपने अनुराग को छिपाता हुआ वह उसकी माता के विषय में भी जानने के लिये वचन कौशल पूर्वक उससे पूछता है—उज्झितशब्ददेनेत्यादि)

अनसूया—बतलाती हूँ आर्य! सुनिये, बहुत दिन हुये एक बार जब वह राजर्षि गोदावरी नदी के किनारे घोर तप कर रहे थे किसी कारणवश सशङ्कित हुए (अर्थात् अपने अधिकार छिन जाने के डर से) देवताओं ने तपस्या में विघ्न डालने वाली मेनका नाम की अप्सरा भेजी। (यद्यपि अमरकोशानुसार आपदः सुमनः, वर्षाः, अप्सराः, सिकताः, समाः ये शब्द सदा स्त्रीलिङ्ग एवं बहुवचन ही होते हैं तथापि "स्त्रियां बहुष्वप्सरसः स्यादेकाऽप्सरा अपि" इस शब्दार्णव के अनुसार अप्सरा एक वचन का भी प्रयोग होता है)

राजाः—हाँ, यह तो ठीक है, देवताओं को दूसरों की तपस्या से डर लगता ही है।

अनसूया—तब बसन्त के उस रमणीक समय में उसका मादक सौन्दर्य देखकर (आधा कह कर ही लज्जा वश रुक जाती है)

राजा—बस बस, आगे मैं समझ ही गया, तो वह अप्सरा की ही कन्या है।

मानुषीषु कथं वा स्यादस्य रुपस्य संभवः ?।
न प्रभातरलं ज्योति रुदेति वसुधातलात् ॥२२॥
(शकुन्तलाऽधोमुखी तिष्ठति ।)

अनुसूया:—जी हाँ और क्या ।

अस्ति कोऽपि'' से लेकर यहाँ तक आख्यान नामक नाट्यालङ्कार है ''आख्यान पूर्ववृत्तोक्तिः'' अर्थात् जहाँ पूर्ववृत्त कहा जाय ।

राजा—ठीक ही है:—

(प्रसंगत:—रूप, सौन्दर्य, लावण्य, आभिरुप्य, मृदुता, कोमलता आदि के लक्षण:—

रूपम्:—''अंगान्यभूषितान्येव प्रक्षेप्याद्यैः विभूषणैः ।
येन भूषितवद्भान्ति तद्रूपमहि कथ्यते ।

लावण्यम्:—''मुक्ताफलेषु छायाया स्तरलत्वमिवान्तरा ।
प्रतिभाति यदङ्गेषु लावण्यं तदिहोच्यते ।

सौन्दर्यम्:—''अङ्गप्रत्यङ्गकानां यः सन्निवेशो यथोचितम् ।
सुश्लिष्टस्सन्धिबन्धो यः तत्सौन्दर्यमितीर्यते ।

आभिरुप्यम्:—''यदात्मीयगुणोत्कर्षस्त्वन्यच्च निकटस्थितम् ।
सारूप्यं नयननिष्ठाङ्गं राभिरूप्यं तदुच्यते ।

मृदुता:—''स्पृष्टं यत्रांगमस्पृष्टमिव स्यान्मार्दवं हि तत् ।
यत्स्पर्शासहनांगेषु कोमलस्यापि वस्तुनः ।
तत्सौकुमार्यं त्रेधा स्यात् मुख्यमध्याधमक्रमात् ।
अंगं पुष्पादिसंस्पर्शासहं येन तदुत्तमम् ।
न सहते करस्पर्शं येनांगं मध्यमं हि तत्
येनांगमातपादीना मसहं तदिहाधमम् ।

ये रूपादि आलम्बन गुण कहे जाते हैं ।

श्लोक २२ अन्वय—मानुषीषु अस्य रूपस्य कथ नु सम्भवः स्यात्, प्रभातरलं ज्योतिः वसुधातलात् न उदेति ।

शब्दार्थ—मानुषीषु=मानव-लोकोत्पन्न स्त्री जाति में । सम्भवः=उत्पत्ति कथं नु स्यात्—कैसे हो सकती है अर्थात् नहीं हो सकती, प्रभा=कान्ति, तरलं=देदीप्यमान भास्वर अर्थात् अपनी कान्ति से भास्वर, ज्योतिः—तेज, विद्युत, चन्द्रादि, उदेति=उत्पन्न होती ।

अनुवाद—मानव लोक की स्त्रियों में इस (शकुन्तला जैसे) रूप की उत्पत्ति कैसे (हो सकती थी) प्रभा से देदीप्यमान तेज (विद्यच्चन्द्रादि का तेज) पृथ्वी तल से उत्पन्न नहीं होता ।

व्याख्या—अनुसूया से यह जान कर कि शकुन्तला की उत्पत्ति ऋषि विश्वामित्र के सम्पर्क से एक अप्सरा से हुई है राजा कहता है, ठीक है अन्यथा—

मानव लोक की नानाविधि स्त्री जाति से इस पुरोदृश्यमाव शकुन्तला जैसे रूप की उत्पत्ति कैसे हो सकती थी । निश्चय ही यह अप्सरा से उत्पन्न है । इसी बात को और पुष्ट करने के लिए वह आगे कहता है कि अपनी प्रभा से देदीप्यमान तेज विद्युत प्रकाश अथवा चन्दादि का तेज पृथ्वी तल से कैसे उत्पन्न हो सकता है । वह तो ऊपर से ही उत्पन्न होता है और पृथ्वी तल को प्रकाशित करता है, शकुन्तला भी स्वर्गवासिनी अप्सरा से उत्पन्न हुई और

राजा—(आत्मगतम् ।) लब्धावकाशो मे मनोरथः । किंतु सख्याः परिहा दाहृतां वरप्रार्थनां श्रुत्वा धृतद्वैधीभावकातरं मे मनः ।

प्रियम्वदा—(सस्मितं शकुन्तलां विलोक्य नायकाभिमुखी भूत्वा ।) पुणो वत्तुकामो विअ अज्जो (पुनरपि वक्तुकाम इवार्यः ।)

(शकुन्तला सखीमङ्गुल्या तर्जयति ।)

राजा—सम्यगुपलक्षितं भवत्या । अस्ति नः सच्चरितश्रवणलोभादन्य प्रष्टव्यम् ।

प्रियम्वदा—अलं विआरिअ अणिअतणाणुओओ तवस्सिअणो णाम

[अलं विचार्य । अनियन्त्रणानुयोगस्तपस्विजनो नाम ।]

पृथ्वी तल को आभूषित कर रही है ऐसा रूप मानुषी स्त्रियों में कहाँ से हो सकता था। तुम्हारा कथन सर्वथा सत्य है ।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में विशेष के प्रस्तुत होने पर 'मानुषीषु अस्य रूपस्य सम्भवः इति' सामान्योक्ति वश अप्रस्तुत प्रशंसालंकार, यहाँ उत्पत्ति क्रिया का सम्भव और उदय इन दो पदों से निर्देश किया गया है अतः प्रतिवस्तूपमालंकार है, श्रुति वृत्ति अनुप्रास पथ्या वक्त्र नामक छन्द है ।

संस्कृत व्याख्या—मानुषीषु नानाविधस्त्रीजातिषु अस्य पुरोदृश्यमानस्य रूपस्य शकुन्तलासदृशरूपस्य सम्भवः कथं नु स्यात् कथमपि न भवेत् इत्यर्थः । प्रभया मयूखमण्डलेन तरलं उज्जवलं भास्वरं प्रभातरलं ज्योतिः तेजः चन्द्रविद्युतादि वसुधातलात् भूमण्डलात् उदेति नोत्पद्यते । इति ।

क्व मानुष्यः क्व चेदं रूपम् इति विषमालङ्कारोऽपि व्यङ्ग्यः । नोदेति च सामान्य धर्मस्य शब्दान्तरेणोक्तेरतिशयोक्तिमूला प्रतिवस्तूपमा । अनेन च निदर्शनं नाम भूषणमुप क्षिप्तम् । तल्लक्षणञ्च "यत्रार्थानां प्रसिद्धानां क्रियते परिकीर्तनम् परोक्षेपाव्युदासार्थं तन्निदर्शन मुच्यते । पथ्यावक्त्र वृत्तम् "युजोश्चतुर्थतो जेन पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम्" अर्थात् जहाँ सम पाद के चतुर्थ वर्ण के अनन्तर जगण हो वह पथ्यावक्त्र छन्द होता है अर्थात् पञ्चम सप्तम वर्ण लघु और षष्ठ वर्ण गुरु होता है । प्रथम और तृतीय पाद में तो यगण ही रहता है। यह विषम छन्द है । विषम छन्दों के चारों ही चरण प्रायः भिन्न-भिन्न होते हैं । अनुष्टुप् नामक अष्ट वर्णात्मक छन्द में चतुर्थ वर्ण के अनन्तर यगण होने से तथा द्वि० और च० पाद में मगण तथा एक गुरु होने से वक्त्र नामक छन्द होता है इससे यह पथ्यावक्त्र बनता है।

(शकुन्तला अपनी इस प्रकार प्रशंसा सुनकर सिर झुका लेती है)

राजा—(मन ही मन) अब मेरे मनोरथ को कुछ सहारा तो मिला । अर्थात् अब मेरी इच्छा पूर्ण होने का कुछ अवसर हाथ आ गया है । किन्तु अभी इसकी सखी ने हँसी-हँसी में जो कुछ इसकी वर प्रार्थना के विषय में कहा था इसे सुनकर तो द्विविधा में पड़ा हुआ मेरा मन अधीर-सा हो रहा है ।

प्रियम्वदा—(मुस्कराती हुई पहले शकुन्तला की ओर देखकर फिर राजा के सामने होकर) ऐसा प्रतीत होता है कि आर्य फिर कुछ कहना चाहते हैं ?

(शकुन्तला सखी को धमकाती हुई उंगली से संकेत करती है)

राजा—आपने ठीक अनुमान किया । आप लोगों के सुन्दर वृत्तान्त सुनने के लोभ-वश हमें अभी और कुछ पूछना है ।

राजा—इति सखीं ते ज्ञातुमिच्छामि ।
वैंखानसं किमनया व्रतमा प्रदाना
द्व्यापाररोधि मदनस्य निषेवितव्यम्
अत्यन्तमेव मदिरेक्षणवल्लभाभि-
राहो निवत्स्यति समं हरिणाङ्गनाभिः ॥२३॥

प्रियम्वदा—अज्ज ! धम्मचरणे वि परवसो अअं जणो । गुरुणौ उण से अणुरूव-वरप्पदाणे संकप्पो । [आर्य । धर्मचरणेऽपि परवशोऽयं जनः । गुरोः पुनरस्या अनुरूपवर-प्रदाने संकल्पः ।]

राजा—(आत्मगतम् ।) न दुरवापेयं खलु प्रार्थना ।

प्रियम्वदा—संकोच करने की आवश्यकता नहीं, तपस्विजनों से तो बिना किसी झिझक के पूँछा जा सकता है (अनुयोग—प्रश्न) "प्रश्नोऽनुयोगः पृच्छा च" अमरकोश ।

राजा—आपकी सखी के सम्बन्ध में मैं यह जानना चाहता हूँ—

श्लोक २३—अन्वय—अनया आप्रदानात् मदनस्य व्यापाररोधि वैखानसं किं निषेवितव्यम् । आहो मदिरेक्षणवल्भाभिः हरिणाङ्गनाभिः समं अत्यन्तं एव निवत्स्यति ।

शब्दार्थ—आप्रदानात्=विवाह काल पर्यन्त अर्थात् जब तक विवाह न हो तब तक ही, व्यापाररोधि=काम विकार को रोकने वाले अर्थात् ब्रह्मचर्यव्रत, वैखानसं=तापसव्रत ब्रह्मचर्यादि, निषेवितव्यम्=धारण करेगी, आहो=अथवा, मदिरेक्षणवल्लभाभिः=मदिर अर्थात् मद युक्त नेत्रों से प्रिय लगने वाली, हरिणाङ्गनाभिः=हरिणियों के, समं=साथ; अत्यन्तमेव=सदा आजीवन ही, निवत्स्यति=निवास करेगी ।

अनुवाद—क्या इसके द्वारा विवाह काल तक ही कामदेव के व्यवहार को रोकने वाले तापस व्रत—ब्रह्मचर्य का पालन किया जायेगा, अथवा यह, मदयुक्त नेत्रों से प्रिय लगने वाली हरिणियों के साथ सदा (आजीवन ही) रहेगी ।

व्याख्या—प्रियम्बदा के यह कहने पर कि तपस्विजनों से कुछ पूछने के लिए कोई विशेष नियम नहीं रहता, राजा कहता है कि मैं यह पूछता हूँ कि—

यह तुम्हारी सखी विवाह के पूर्व तक ही क्या इस काम व्यवहार शून्य तापस व्रत ब्रह्मचर्य का पालन करेगी अथवा मद युक्त नेत्रों से प्रिय लगने वाली हरिणियों के साथ सदा ही जीवनपर्यन्त रहेगी अर्थात् तपोवन में सदा ही रहेगी । राजा के पूछने का तात्पर्य है कि क्या यह शकुन्तला उपकुर्वाण ब्रह्मचर्य धारण करेगी (उपकुर्वाण जो कि कुछ काल के बाद छोड़ दिया जाता है अर्थात् जो ब्रह्मचर्य कुछ दिनों बाद छोड़ दिया जाता है तदन्तर वह ब्रह्मचारी गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है ।) अथवा नैष्ठिक ब्रह्मचर्य धारण कर आजीवन इस तपोवन में ही रहेगी, इसका यह ब्रह्मचर्यव्रत जिसको कि यह इस समय धारण किये हुए है, किस प्रकार का है । स्त्रियों के द्विविध ब्रह्मचर्य के विषय में हारीत वचन है—"द्विविधाः स्त्रियों ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्च" ब्रह्मवादिनी नैष्ठिक ब्रह्मचारिणी होती हैं और दूसरी कुछ काल बाद विवाह कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करती हैं ।

कुछ आचार्यों के मत में राजा के पूछने का आशय है कि क्या यह विवाह पर्यन्त ही तापसव्रत रखेगी अथवा सदा आजन्म नैष्ठिकब्रह्मचर्य का पालन करेगी । तात्पर्य यह कि यदि यह किसी योग्य वर को दी जायगी तब तो विवाह काल तक ही यह तापसव्रत रखती हुई वन में रहेगी और तनन्तर गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हो कामोपभोग करेगी अथवा यदि यह किसी तपस्वी को ही दी जावेगी, अर्थात् यदि इसका विवाह किसी तपस्वी से ही किया

भव हृदय ! साभिलाषं संप्रति संदेहनिर्णयो जातः ।
आशङ्कसे यदग्निं तदिदं स्पर्शक्षमं रत्नम् ॥ २४ ॥

शकुन्तला—(सरोषमिव ।) अणसूए ! गमिस्सें अहं । [अनसूये । गमिष्याम्यहं

जायेगा तब तो यह आजीवन मृगमिथुन की तरह कामोपभोग रहित रह कर तपो रहेगी । इन दोनों में इसके लिए क्या निश्चय है इसी का उत्तर देती हुई आगे प्रिय कहती है :

विशेष—यहाँ साभिप्राय विशेषण होने से परिकरालंकार है, तथा सहोक्ति वृत्यनुप्रास अलंकार हैं ।

बसन्त तिलका छन्द है "ज्ञेया वसन्ततिलका तभजा जगौ गा" इस लक्षणा इसमें तगण, भ, ज, ज तथा दो गुरु इस क्रम से १४ वर्ण होते हैं ।

ऽ ऽ । ऽ । । । ऽ । । ऽ । ऽ ऽ
वै खा न, सं कि म, न या ब्र, त मा प्र, दा ना त्

संस्कृत व्याख्या—अनया शकुन्तलया मदनस्य कामस्य व्यापारं रुणद्धि इति व्या रोधि कामप्रसरावरोधकं वैखानसं तापसव्रतं ब्रह्मचर्य आप्रदानात् परिणयपर्यन्तं किं वितव्यम् आचरणीयम् आहो अथवा मदिरेक्षणवल्लभाभिः समदनेत्रप्रियाभिः हरिणाङ्गना मृगीभिः समं सार्धं अत्यन्तम् एव आजन्म एव निवत्स्यति निवासं करिष्यति । किं उपकुर्वाणब्रह्मचर्यं नैष्ठिकब्रह्मचर्यं वेयं धारयिष्यति अथवा किमियं कस्मैचित् राज्ञे उत्तरार्धेन च कस्मैचित् तपस्विने वा देया इति राज्ञः प्रश्नाशयः यतः-यदि राज्ञेदेया विवाहकालपर्यन्त मेव बने वासः स्यात् तदनन्तरं कामोपभोगो भविष्यति यदि वा कस्मै तपस्विने देया तर्हि आजीवनं मृगमिथुनवत् कामोपभोग रहिता सती वने एव निवत्स्य इति । परिकर सहोक्ति वृत्यनुप्रासा अलंकाराः, वसन्त तिलका छन्दः ।

प्रियम्वदा—आर्य ! (विवाहादि तो दूर की बात है, आश्रमवासी होने के का सामान्यतः प्राप्त जो) धर्माचरण है उसमें भी यह पराधीन है, फिर भी पिताजी का किसी योग्य वर को देने का संकल्प है ।

'राजा वयमपि, से लेकर यहाँ तक युक्ति नामक मुख सन्धि का अङ्ग है, 'सम्प्रधा र्मानां युक्तिरित्यभिधीयते" अर्थात् जहाँ प्रयोजनसिद्धि का कुछ निश्चिय हो जाय ।

राजा—(मन में) इससे तो इस संकल्प का पूरा होना कुछ कठिन नहीं है ।

श्लोक २४ अन्वय—हे हृदय ! साभिलाषं भव, सम्प्रति सन्देहनिर्णयः जातः यत् अग्निं आशंकसे तत् इदं स्पर्शक्षमं रत्नम् (अस्ति) ।

शब्दार्थ—साभिलाषम्=शकुन्तला विषयक अभिलाशायुक्त, संप्रति=स्पर्शक्षमं= योग्य, रत्नं=स्त्री रत्न ।

अनुवाद—हे हृदय ! अब तुम (शकुन्तला के विषय में) अभिलाषायुक्त बनो जितनी चाहो अभिलाषा कर सकते हो । (क्योंकि) अब तो सन्देह का निर्णय हो जिसे तुम (अब तक स्पर्श न करने योग्य) अग्नि समझ रहे थे, वह तो स्पर्श करने रत्न निकाला ।

व्याख्या—प्रियंवदा से यह बात जानकर कि महर्षि कण्व इसे अनुरूप वर को चाहते हैं, दुष्यन्त मन में कहता है कि अब मेरी यह शकुन्तला विषयक प्रार्थना व्य जायेगी अतः वह कहता है—।

अनसूया—किणिमित्तं ? (किं निमित्तम् ?)

शकुन्तला—इमं असंबद्धप्पलाविणि पिअंवदं अज्जाए गोदमीए णिवेवइस्सं [इमामसंबद्धप्रलापिनीं प्रियंवदामार्यायै गौतम्यै निवेदयिष्यामि ।]

अनुसूया सहि ! ण जुत्तं अकिदसक्कारं अदिहिविसेसं विसज्जिअ सच्छंददो गमणं । [सखि ! न युक्तमकृतसत्कारमतिथिविशेषं विसृज्य स्वच्छन्दतो गमनम् ।]

(शकुन्तला न किंचिदुक्त्वा प्रस्थितैव)

राजा—(ग्रहीतुमिच्छन्निगृह्यात्मानम् । आत्मगतम् ।) अहो चेष्टाप्रतिरूपिका कामिजनमनोवृत्तिः । अहं हि,—

हे हृदय ! अब तुम शकुन्तला के विषय में निश्चिन्त रहो, इच्छा पूर्वक जितनी चाहो उतनी इस पर अभिलाषा करो क्योंकि अब तो सन्देह अर्थात् किमुपकुर्वाणनैष्ठिकी-ब्रह्मचारिणी वेति सन्देह का निर्णय हो चुका अर्थात् यह अनुरूप वर को दी जायेगी, मेरे ग्रहण करने योग्य भी है अतः सन्देह की कोई बात नहीं, तुम (हृदय) जिसको अभी तक अग्नि तुल्य स्पर्श न करने योग्य समझ रहे थे वह तो स्पर्श करने योग्य गृहणीय रत्न निकला ।

विशेष—यत् अग्निम्=अर्थात् जो शकुन्तला रूप वस्तु अग्नि तुल्य (तापस कन्या होने से तथा ब्रह्मचारिणी होने से स्पर्शायोग्य होने के कारण मेरे द्वारा परिग्रह योग्य न थी क्योंकि इस प्रकार की कन्या के विषय में अभिलाषा करना भी पाप था, वह इस परिचय के बाद अब सुख से स्पर्श करने योग्य, ग्रहण करने योग्य प्रमाणित हुई क्योंकि यह क्षत्रिय वीर्य से उत्पन्न है, अप्सरा की कन्या है, कण्व महर्षि ब्राह्मण की कन्या नहीं तथा यह नैष्ठिक ब्रह्मचारिणी भी नहीं रहेगी । अनुरूप वर से इसका विवाह होना भी निश्चित है अतः इसके विषय में प्राप्ति की अभिलाषा करने में कोई पाप नहीं है । "साभिलाषं भव" इससे राजा की स्वाभाविक स्थिरता द्योतित होती है, सन्देहनिर्णयो जातः, यह परिग्रहयोग्य है या नहीं, यह निर्णय हो गया । यह वाक्य साभिलाष होने में कारण है अतः काव्यलिंग अलंकार है अथवा उत्तरार्धवाक्य पूर्वार्ध वाक्य के प्रति हेतु है अतः काव्यलिंग है । अग्नि रत्न इन पदों में समास न होने के कारण व्यस्त रूपक है, 'अग्नि स्पर्शक्षम रत्न प्रमाणित हुआ' यह व्यतिरेक रूपक है । वृत्यनुप्रास, सम्पूर्ण श्लोक से नायक की उत्सुकता ध्वनित होती है । आर्या जाति छन्द है ।

संस्कृत व्याख्या—हे हृदय ! सम्प्रति=अधुना शकुन्तलायां साभिलाषं प्राप्त्याशान्वितं भव सन्देहस्य इयं मद्योग्यास्ति नवेति संशयस्य निर्णयः निश्चयः जातः यत् शकुन्तलारूपं वस्तु (त्वं) अग्निं-आशङ्कसे मन्यसे तत् इदं पुरादृश्यमानं स्पर्शक्षमं स्पर्शार्हं ग्रहणां रत्नम् कन्या-रत्नम् अस्तीति शेषः नेयं ब्राह्मणकन्या नापि नैष्ठिकब्रह्मचारिणी किन्तु अप्सरस्सम्भवा क्षत्रियवीर्योत्पन्ना अतः मत्परिग्रहयोग्या इति भावः । आर्या जातिः । इससे समाधान नामक अंग उपक्षिप्त किया है "बीजार्थस्योपगमनं तत्समाधानमुच्यते" । अर्थात् जहाँ बीज रूप प्रयोजन की प्राप्ति हो सके ।

शकुन्तला—(कृत्रिम रोष के साथ) अनुसूये मैं तो जा रही हूँ ।

अनसूया—क्यों ?

शकुन्तला—इस उल्टी सीधी (अप्रासंगिक बातों को) बकने वाली प्रियम्वदा की आर्या गौतमी से, सब बातें कहूँगी ।

अनसूया—सखी ! अतिथि विशेष का सत्कार न करके इच्छानुसार चल देना उचित नहीं है ।

(शकुन्तला कुछ उत्तर न देकर चलने को प्रस्तुत हो जाती है)

अनुयास्यन्मुनितनयां सहसा विनयेन वारितप्रसरः।
स्थानादनुच्चलन्नपि गत्वेव पुनः प्रतिनिवृत्तः ॥ २५ ॥

इस कथन से उपदेश नामक नाट्यालंकार का निर्देष किया गया है। "शिक्षा-द्युपदेशनम्" अर्थात् सामयिक शिक्षा देना उपदेश कहलाता है।

राजा—(एक बार उठकर उसे रोकना चाहता है पर फिर अपने को रोक कर, ... ही मन) कामियों की चित्तवृत्ति भी उनकी बाहरी घटनाओं के अनुरूप ही अर्थात् ... शारीरिक चेष्टा में वैसी ही उसके बिना भी होती है यह आश्चर्य की बात है। क्यों-कि मैं:—तात्पर्य यह है कि कामियों की चित्तवृत्ति उनकी बाह्य शारीरिक क्रियाओं के अनुरूप ही होती है अर्थात् शारीरिक व्यापार जिस-जिस दशा में जिस-जिस रूप से चेष्टा करता है मानसिक व्यापार भी वैसा ही करता जाता है।

श्लोक २५ अन्वय—सहसा मुनितनयाम् अनुयास्यन् विनयेन वारितप्रसरः अतः स्थानात् अनुच्चलन् अपि गत्वा इव (अ॑) पुनः प्रतिनिवृत्तः अस्मीति शेषः।

शब्दार्थ—मुनितनयाम्=शकुन्तला, अनुयास्यन्=पीछे जाता हुआ, विनयेन=जिते-न्द्रिय होने से अथवा सहज धैर्यवान् होने से, वारितप्रसरः=प्रतिषिद्ध गतिः, अनुच्चलन्=एक पद भी न चलता हुआ, प्रतिनिवृत्तः=लौट आया हूँ।

अनुवाद—सहसा मुनितनया शकुन्तला के पीछे-पीछे जाता हुआ मैं विनयेन अर्थात् सहज धैर्यशाली एवं जितेन्द्रिय होने से प्रतिषिद्ध गति वाला (होकर) अपने स्थान या आसन से एक पद भी न चलता हुआ मैं मानों जाकर पुनः लौट आया हूँ।

व्याख्या—प्रियम्वदा के यह कहने पर भी कि अतिथि विशेष का सत्कार न करके चला जाना अनुचित है, जब शकुन्तला उसकी बात पर ध्यान न देकर चल ही देती है तो दुष्यन्त (मानो पकड़ने की इच्छा करता है परन्तु फिर रुक जाता है) इसी बात को अपने मन में कहता है :—

सहसा (बिना सोचे समझे अथवा अपने अविनय के प्रकट हो जाने की भी चिन्ता न करके) शकुन्तला के पीछे-पीछे जाता हुआ मैं विनय द्वारा जितेन्द्रिय होने के कारण अथवा स्वभाव से ही धैर्यशाली वशी होने ने कारण रोक दिया गया हूँ (वारित=प्रतिषिद्ध, रुकी हुई, प्रसर=गति, चलना, प्रतिषिद्ध गति वाला) अतः यद्यपि मैं एक पद भी अपने आसन से नहीं चला हूँ तथापि मुझे ऐसा लगता है कि मैं उसके पीछे जाकर फिर लौट आया हूँ। तात्पर्य यह है कि यद्यपि राजा ने अपने मन में एक बार उसे पकड़ने की इच्छा की थी परन्तु विनयशीलता ने उसे ऐसा करने से मानो रोक दिया। अतः अब उसे ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वह उसके पीछे जाकर फिर लौट आया है। यह उसकी केवल मन की भावना थी। वास्तव में वह विनयवश अपने आसन से उठा भी नहीं था, पीछे जाना तो असम्भव ही था। अत्यन्त उत्सुकतावश उसके मन में ऐसी भावना होना स्वाभाविक है, क्योंकि कामियों की मनोवृत्ति (इच्छा) भी वाह्य शारीरिक व्यापारों के अनुसार ही होती है।

विशेष—विनय का अर्थ है जितेन्द्रियता क्योंकि "इन्द्रियाणां जयं प्राह विनयं भरतो मुनिः" ऐसा कहा गया है। इससे कवि ने अनुगमन करने में वेग का ही निरोध दिखला कर तात्विक अनुराग का निषेध नहीं किया है अतः रति का स्थायित्व ध्वनित होता है। अनुच्चलन् से कवि-तात्पर्य है कि वह अपने आसन से हिला भी नहीं, उठने की तो बात ही क्या। "गत्या प्रतिनिवृत्त इव" यहाँ पर क्रियोत्प्रेक्षालंकार है।

"अनुच्चलन् अपि गत्वा"; विरोधाभासालंकार, काव्यलिङ्ग, अनुप्रास आदि। आर्या जातिः छन्द हैं।

प्रियम्वदा—(शकुन्तलां निरुध्य।) हला ! ण दे जुत्तं गंतुं । [हला ! न ते युक्तं गन्तुम् ।]

शकुन्तला—(सभ्रू भङ्गम् ।) किंणिमित्तं ? [किं निमित्तम् ?]

प्रियम्वदा—रुक्खसेअणे दुवे धारेसि मे । एहि दाव; अत्ताणं मोचिअ तदो गमिस्ससि । [वृक्षसेचने द्वे धारयसि मे । एहि तावत्; आत्मानं मोचयित्वा ततो गमिष्यसि ।] (इति बलादेनां निवर्त्तयति ।) ।

राजा—भद्रे ! वृक्षसेचनादेव परिश्रान्तामत्रभवतीं लक्षये । तथा ह्यस्याः—

स्रस्तांसावतिमात्रलोहिततलौ बाहू घटोत्क्षेपणा
दद्यापि स्तनवेपथुं जनयति श्वासः प्रमाणाधिकः ।
स्रस्तं कर्णशिरीषरोधि वदने घर्माम्भसां जालकं
बन्धे स्रंसिनि चैकहस्तयमिताः पर्याकुला मूर्धजाः ॥२६॥

तदहमेनामनृणां करोमि । (इत्यङ्गुलीयं दातुमिच्छति ।)

अनु+या (लृटःसद्वा) इत्यनेन लृटःशतृ प्रत्ययः न प्र+सृ+अप्=प्रसरः । ण्यन्तात् वृ धातोः क्त-वारितः । उत्+चल+शत=उच्चलन्, उच्चलन्,=अनुच्चलन् । नि+वृ+क्त=निवृत्तः ।

संस्कृत व्याख्याः—सहसा विनयमनादृत्य हठात् मुनितनयां शकुन्तलाम् अनुयास्यन् अनुगमिष्यन् (लृटः सद्वा इति शतृ) अहं विनयेन जिदेन्द्रिय-तया वारितः प्रसरः यस्य स वारितप्रसरः प्रतिषिद्धगतिः (अस्मि) अतः स्थानात् स्वोपवेशनात् अनुच्चलन् नानुगच्छन् सन्नपि गत्वा प्रतिनिवृत्तः प्रत्यागत इव । अस्मीति भावः ।

इससे परिभावना नामक सन्ध्यङ्ग का निर्देश किया गया है "कुतुहलोत्तरावेशो विज्ञेया परिभावना" अर्थात् जहाँ कुतूहलता से पूर्व आदेश हो ।

प्रियम्वदा—(शकुन्तला को रोक कर) सखी ! तुम्हारा इस प्रकार जाना ठीक नहीं है।

शकुन्तला—(भौंहें टेढ़ी कर) क्यों, किस कारण ?

प्रियम्वदा—तुम्हें अभी मेरे दो पौधे और सींचने हैं, तो चल पहले अपना ऋण चुका ले तब जाना (धारयसि=ऋणी होना, यहाँ प्रियम्वदा के दो पौधों के सींचने का ऋण शकुन्तला पर था) इस प्रकार बलपूर्वक वह उसे लौटती है ।

राजा भद्रे—कल्याणी ! पौधों के सींचने से ही, इन देवी को मैं थकी देख रहा हूँ। क्योंकि इसके:—

श्लोक २६ अन्वयः—(अस्याः) बाहू घटोत्क्षेपणात् स्रस्तांसौ अतिमात्रलोहिततलौ (स्तः) प्रमाणाधिकः श्वासः अद्यापि स्तनवेपथुं जनयति, तथा वदने कर्णशिरीषरोधि धर्माम्भसां जालकं स्रस्तं, बन्धे स्रंसिनि पर्याकुला मूर्धजाः च एकहस्तयमिताः (सन्ति)

शब्दार्थ—घटोत्क्षेपणात्=घड़े उठाने से, स्रस्तांसौ=अंस=कन्धे, स्रस्त=झुके हुए अर्थात् झुके हुए कन्ध प्रदेश वाली, अतिमात्र=लोहिततलौ, तत=हथेली, लोहित=लाल, अतिमात्र=बहुत अधिक अर्थात् जिन भुजाओं की हथेलियाँ बहुत अधिक लाल हो गई हैं। प्रमाणाधिकः=प्रमाण=निश्चित मात्रा, अधिक अर्थात् द्वादश अङ्गुल से भी अधिक, स्तन-वेपथुं=स्तनों का कम्प, श्वासः=निःश्वास वायु, कर्णशिरीषरोधि=कर्णावतंसीकृत शिरीष पुष्प को रोकने वाला, धर्माम्भसां जालकम्=स्वेद बूँदों का समूह, स्रस्तं=गलित हो रहा

है, स्रंसिनि=केशपाश के ढीले पड़ जाने पर, पर्याकुलाः=इधर उधर फैले हुए, मूर्धजा=बाल, एकहस्तयभिताः=एक हाथ से पकड़ लिये हैं।

अनुवाद—(क्योंकि इसकी) भुजायें, घड़े के उठाने से झुके हुये स्कन्ध प्रदेश वाली (तथा) अत्यधिक लाल हथेलियों वाली (हो गई हैं) निश्चित मात्रा से अधिक निःश्वास वायु अब भी (इसके) स्तनों में कम्प उत्पन्न कर रहा है। कानों में शिरीषपुष्प के (हिलने से) रोकने वाला स्वेद बूंदों का समूह मुख पर पड़ा हुआ है। केशपाश के ढीले हो जाने पर इधर-उधर फैले हुये केश एक हाथ से पकड़ लिये हैं।

व्याख्या—प्रियम्वदा के यह कहने पर कि अभी तू हमारे दो वृक्ष सींचने की कर्जदार है उनसे पहिले छुटकारा पाले तब जाना, राजा कहता है कि यह तो (शकुन्तला) वृक्ष सेचन से ही बहुत थकी हुई है क्योंकि—

(सींचने के लिये बार-बार) घड़े उठाने से इसके बाहु-स्कन्ध झुके हुए हैं तथा **हथेलियाँ अधिक लाल हो गई हैं (सुन्दरी स्त्रियों के** कन्धे स्वभावतः आगे को झुके हुए होते **हैं, तथा हथेलियाँ भी स्वभावतः लाल** होती हैं, परन्तु घड़े उठाने से कन्धे और अधिक झुक **गये हैं तथा हथेलियाँ** अत्यन्त लाल हो **गई हैं** इसीलिये कवि ने अतिमात्र शब्द का प्रयोग **किया है अर्थात् स्वभावतः नत भी** कन्धे घटोत्क्षेपण से और अधिक नत हो गये हैं तथा **स्वभाव रक्त हथेलियाँ भी घड़े से अधिक** लाल हो गई हैं) प्रमाण से अधिक श्वास अब भी **(इसके) स्तनों में कम्प** उत्पन्न कर रहा है अर्थात् द्वादश अंगुल से भी अधिक निःश्वास **लेने के कारण अब (घटोत्क्षेपण के बाद भी)** इसके स्तन काँप रहे हैं (स्वभावतः श्वास लेने से स्तनों में कम्प (हिलना) उत्पन हो जाता है परन्तु जब श्ववांस निश्चित प्रमाण से भी अधिक शीघ्रतापूर्वक, बार-बार खींचा जायेगा तब तो स्तन कम्प और अधिक स्पष्ट हो जायगा) कवि का तात्पर्य अधिक कम्पन से ही है। अद्यापि (अब भी) का सम्बन्ध उपर्युक्त तीनों **विशेषणों के साथ है अर्थात् अद्यापि स्रस्तांसौ**, अद्यापि अतिमात्रलोहिततलौ तथा अद्यापि प्रमाणाधिकः श्वासः और इन सबका कारण एक मात्र घटोत्क्षेपण ही है) और मुख पर (घटोत्क्षेपण के कारण) पसीने की बूंदे छहरी हुई हैं जिससे कर्णावतंसीकृत शिरीष पुष्प हिल नहीं पाते। तात्पर्य यह कि परिश्रम के कारण जो उसके मुख पर पसीने की बूंदें छहरी हुई हैं उन पर शिरीष कुसुम की पंखुड़ियाँ चिपक गई हैं अतः स्वभावतः हिलने वाले कर्णाभूषण बनाये गये शिरीष पुष्प चिपके रहने के कारण हिल नहीं पाते। और घटोत्क्षेपण परिश्रम के कारण केशपाश (जूड़ा) के शिथिल हो जाने पर इधर उधर फैले हुए (अपने) केशों को (उसने) एक हाथ से जकड़ रखा है। अथवा इसका अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है कि केशपाश के ढीले पड़ जाने पर केवल एक हाथ से (क्योंकि दूसरा हाथ घड़ा उठाने में लगा था) लपेटे हुए उसके केश अब भी बिखरे हुए हैं।

विशेष—लोहित तलौ यहाँ तल शब्द बाहुसान्निध्य के कारण करतल वाचक है अर्थात् तल का अर्थ है करतल, क्योंकि "नामैकदेशग्रहणे नाममात्रस्य ग्रहणम्" यह न्याय है अर्थात् जहाँ नाम, के एक देश (अंश) का ग्रहण किया जाता है वहाँ केवल उस अंश से ही पूरा नाम समझ लिया जाता है जैसे कि 'भीम' से ही भीमसेन का भी बोध हो जाता है। स्रस्तांसौ, अतिमात्रलोहिततलौ इन विशेपणों से शकुन्तला का उत्तम नायिकात्व द्योतित होता है।

प्रमाणाधिक—"देहं व्याप्य स्वनाडीभिः प्रमाणं कुरुते वहिः, द्वादशांगुलमानेन तत्र प्राणः समीरितः" अर्थात् स्वभावतः द्वादश अंगुल प्रमाणमात्र निःश्वासवायु निकलता है और जब अधिक परिश्रम किया जाता है तब इसका प्रमाण बढ़ जाता है, अतएव परिश्रम के बाद थकावट मालूम पड़ने लगती है।

(उभे नाममुद्राक्षराण्यनुवाच्य परस्परमवलोकयतः)

राजा—अलमस्मानन्यथा संभाव्य। राज्ञः परिग्रहोऽयमिति राजपुरुषं मामवगच्छथ।

प्रियम्वदा—तेण हि णारिहदि एवं अंगुलीअअं अंगुलीविओअं। अज्जस्स वअणेण अणिरिणा दाणि एसा (किंचिद्विहस्य।) हला सउंदले ! मोईदासिस अणुअंपिणा अज्जेण, अहवा महाराएण, गच्छ दाणि। [तेन हि नार्हत्येतदङ्गुलीयकमङ्गुलीवियोगम्। आर्यस्य वचनेनानृणेदानीमेषा। हला शकुन्तले ! मोचितास्यनुकम्पिनार्येण, अथवा महाराजेन; गच्छेदानीम्।

वदने—यद्यपि परिश्रम के कारण उसका सर्वाङ्ग स्वेदयुक्त, तथापि उसके अन्य अङ्गों के वल्कल से ढके रहने के कारण केवल मुख के ही दिखलाई पड़ने के कारण, और मुख अर्धशरीर भी कहा जाता है अतः प्रधान होने के कारण "सर्व वा मुख मुच्यते" अतएव कवि ने (वदने) शब्द का प्रयोग किया है, इससे कपोल अलकें और चिबुक का भी ग्रहण है। वास्तव में मुख पर सर्वप्रथम अनुरागियों का दृष्टिपात होता है तथा शिरीष कुसुम का अवरोध भी मुख पर ही सम्भव था अतएव कवि ने अन्य अङ्ग न कह कर 'वदन' ही कहा है। प्रस्तुत श्लोक में शकुन्तला गत परिश्रान्तत्व समर्थन के प्रति बहुविधकारणोपन्यास किया गया है अतः समुच्चयालंकार है, परिश्रम से नायिकाओं में स्वभावतः ये सब बातें घटित होती हैं अतः स्वभावोक्ति अलंकार है।

घटोत्क्षेपणं यह हेतु सर्व प्रयोज्य है अतः "सैव क्रियासु वह्वीषु कारकस्येति दीपकम्" इस लक्षण के अनुसार कारक दीपकालंकार है, स्रस्तं संस्रिनि यहाँ पर उभया वृत्ति अलंकार है; स्तनकम्पजननहेतु से श्वास का प्रमाणाधिक होना सिद्ध होता है अतः अनुमानालंकार है, बन्धन के शिथिल होने से पर्याकुल मूर्धज है अतः काव्यलिंग है। अनुप्रासालंकार भी है। शार्दूलविक्रीडित छन्द है। लक्षण ऊपर लिखा जा चुका है।

व्याकरण—स्रंसु + क्त = स्रस्तम्, उत् + क्षिप् + ल्युट् = उत्क्षेपणम्, टुवेपृ कम्पने धातु (द्वितोऽथुच्) इति अथुच् प्रत्ययः वेपथुः। रुध = णिनि = रोधि। अम्भस् शब्दात् षष्ठी बहुवचने अम्भसाम् जालमेव जालकम् = स्वार्थे क प्रत्ययः, स्रंस् णिनि सप्तम्येकवचने रूपम्, मूर्धनि जाताः मूर्धजाः (सप्तम्यां जने र्डः। इति ड प्रत्ययः।

संस्कृत व्याख्या—(अस्याः) बाहू भुजौ घटानामुत्क्षेपणं तस्मात् घटोत्क्षेपणात् जलपूर्णकुम्भोत्थापनात् (वृक्षसेचनायेत्यर्थः) अयं हेतुः सर्वत्र योज्यः। स्रस्तौ शिथिलौ अंसौ स्कन्धौ ययोस्तौ स्रस्तांसौ, अतिमात्रं अत्यधिकं लोहिततलौ ययोस्तौ अतिमात्रलोहिततलौ अतितरां रक्तवर्णकरतलौ अद्यापि इदानीमपि वर्तेते, (घटोत्क्षेपणात् एव) प्रमाणात् अधिकः प्रमाणाधिकः स्वाभाविकादधिकः द्वादशाङ्गुलाधिकः श्वासः निःश्वासवायुः अद्यापि इदानीमपि जलसेचनादनन्तरमपि स्तनयोः वेपथुः तं स्तनवेपथुं उरोजकम्पं जनयति उत्पादयति तथा वदने मुखमण्डले कर्णे अवतंसीकृतं शिरीषपुष्पं कर्णशिरीषं (मध्यमपदलोपी समासः) तद्रोद्धुं शीलं यस्य तत् कर्णशिरीषरोधि कर्णाभरणीकृत शिरीषकुसुमरोधकं धर्मस्य अम्भसां स्वेदवारिकणानां जालमेव जालकं विन्दुकदम्बकम् स्रस्तं गलितम् स्वेदकणैः कर्णशिरीषं कपोलस्थल असक्तं सत् यथापूर्वं न तरलितं भवतीत्याशयः, घटोत्क्षेपणादेव च बन्धे केशपाशबन्धे संस्रिनि प्रशिथिले सति एकेन हस्तेन यमिता बन्धनं नीता धृता वा एकहस्तयमिता (द्वितीयस्य हस्तस्य घटोत्क्षेपणे सक्तत्वात्) अतएव अद्यापि मूर्धजाः केशाः पर्याकुलाः इतस्ततो विक्षिप्ताः विपर्यस्ताः सन्तीति।

शकुन्तला—(आत्मगतम्) जइ अत्तणो पहविस्सं । का तुमं विसज्जिदव्व रुंधिदव्वस्स वा ? । [यद्यात्मनः प्रभविष्यामि । (प्रकाशम्) का त्वं विसर्जितव्यस्य रोद्धव्यस्य वा ? ।]

राजा—(शकुन्तलां विलोक्य, आत्मगतम् ।) किं नु खलु यथावयमस्या-मेवमियमप्यस्मान्प्रति स्यात् । अथवा लब्धावकाशा मे प्रार्थना । कुतः ?

वाचं न मिश्रयति यद्यपि मद्वचोभिः
कर्णं ददात्यभिमुखं मयि भाषमाणे ।
कामं न तिष्ठति मदाननसंमुखीना
भूयिष्ठमन्यविषया न तु दृष्टिरस्याः ॥२७॥

तो, लो, मैं ही इसे उऋण किये देता हूं (यह कहकर अंगूठी देना चाहता (इससे दृष्ट नामक भूषण का निर्देश किया गया है "यथादेशं यथाकालं यथारूपञ्च व यत्प्रत्यक्षं परोक्षं वा तद्दृष्टं दृष्टवद् भवेत्" शकुन्तलां निरुध्य से लेकर यहाँ तक 'क नामक सन्ध्यङ्ग निर्दिष्ट किया गया है । "प्रकृतार्थस्य चारम्भः करणं नाम तद्भवेत्" प्र प्रयोजन का जहाँ आरम्भ किया जाय ।

(दुष्यन्त का नाम अँगूठी पर पढ़कर दोनों एक दूसरे को देखने लगती (नाममुद्राक्षराणि=अलंकरण के लिए धारण की जाने वाली अँगूठी मुद्रिका कही जाती परन्तु जिस पर नामादि खुदा हो वह मुद्रा कहलाती है ।

यहाँ यह मुद्रा ही है मुद्रिका नहीं । 'दुष्यन्त' इस नाम स्वरूप मुद्रा रूप में (खुदे अक्षरों को) नाम मुद्रा के अक्षर ऐसा अर्थ करने पर तो पुनरुक्ति दोष हो जायेगा क तब तो मुद्रा इतना भी पर्याप्त था क्योंकि मुद्रा का ही अर्थ है खुदे हुए अक्षर ।

राजा—मुझे आप लोग और कुछ न समझें अर्थात् दुष्यन्त यह नाम पढ़कर दु ही न समझें यह अँगूठी तो मुझे राजा से पुरस्कार में मिली है इसलिए आप मुझे राज ही समझें ।

प्रियम्वदा—तब तो इस अँगूठी को आपकी उँगली से अलग न होना चाहि आपके कहने मात्र से ही यह ऋण से मुक्त हो गई । देख शकुन्तले ! इन दयालु अ अथवा महाराज ने तुझे ऋण से मुक्त कर दिया, अब तू जा सकती है । (वास्तव में प्रियम्वदा सब जान गई थी अतएव उसने वचन चातुरी से ऐसा कहा है)

शकुन्तला—(मन ही मन) जा तो तब सकूँगी जब अपना मन अपने हाथ में (प्रकट) भेजने के लिए अथवा रोकने के लिए तुम कौन होती हो (यह तो मेरी इच्छा है जाऊँ या न जाऊँ) ।

राजा—(शकुन्तला को देखकर मन ही मन) कहीं यह भी तो हम पर वैसे अनुरक्त नहीं है जैसे कि हम इस पर हैं अथवा (सन्देह करना व्यर्थ है, मेरी मनोअभि को अवसर मिल गया है (अब पूरी होने वाली है) क्योंकिः—(इससे उद्भेद नामक सन्ध्य का निर्देश किया है "उद्भेदों गूढ़ भेदनम्" अर्थात् जहाँ गूढ़ प्रयोजन स्पष्ट हो जाय। राजा का गूढ़ भाव स्पष्ट हो गया है ।

श्लोक २७ अन्वय—यद्यपि इयं मद्वचोभिः वाचं न मिश्रयति (तथापि) भाषमाणे अभिमुखं कर्णं ददाति, मदाननसम्मुखी (सती) कामं न तिष्ठति, तु अस्याः भूयिष्ठं अन्यविषया न (अस्ति) ।

(नेपथ्ये ।)

भो भोस्तपस्विनः ! संनिहितास्तपोवनसत्त्वरक्षायै भवत । प्रत्यासन्नः किल मृगयाविहारी पार्थिवो दुष्यन्तः ।

शब्दार्थ—मिश्रयति=मिलाती है, कामं=अधिकतर, अन्यविषया न=जिसका मेरे अतिरिक्त और विषय न हो अर्थात् मुझे छोड़कर जो अन्य को न देखे।

अनुवाद—यद्यपि (यह शकुन्तला) मेरी बातों के साथ अपनी वाणी नहीं मिलाती है अर्थात् साक्षात् मेरे साथ बातचीत नहीं करती है (तथापि) मेरे बोलने पर मेरे सामने कान लगाती है अर्थात् आदरपूर्वक मेरी बात सुनाती है। (एवं यद्यपि) मेरी ओर अभिमुखी होकर अधिक नहीं ठहरती (फिर भी) इस की दृष्टि मेरे अतिरिक्त दूसरी ओर नहीं जाती।

व्याख्या—शकुन्तला की चेष्टाओं को देखकर दुष्यन्त सोचता है कि कहीं यह भी तो मेरे ऊपर उसी प्रकार अनुरक्त नहीं हो गई है, जैसा कि मैं इस पर अनुरक्त हूँ अथवा सन्देह करना व्यर्थ है। जान पड़ता है कि मेरा मनोरथ पूरा होने वाला है क्योंकि :—

यद्यपि यह शकुन्तला मुझसे बातचीत नहीं करती अर्थात् जब मैं बात करता हूँ तब यह अपना मत प्रकट करती तथापि मेरे बोलने पर सावधानी से मेरी बात सुनने लगती है। यद्यपि यह अधिकतर मेरे सामने नहीं ठहरती फिर भी अधिकतर इस की दृष्टि मेरे अतिरिक्त दूसरी ओर नहीं जाती है अर्थात् मेरी ओर ही देखती रहती है। अतः इन चेष्टाओं से स्पष्ट है कि यह मुझ पर अनुरक्त है अन्यथा क्यों ऐसी चेष्टायें करती।

विशेष—वाचं न मिश्रयति मद्वचोभिः—अर्थात् मेरी उक्तियों के साथ अपनी उक्ति नहीं मिलाती है। मेरे साथ सामने सामने बातचीत नहीं करती है। अथवा वाचं वचोभिः इस स्त्रीलिंग तथा नपुंसकलिंग निर्देश से कवि का तात्पर्य है कि यह अपनी सखी को स्वमित्र से मिलाती है। यह ध्वनि है। कर्णम् अभिमुखं ददाति—मेरे कथन को आदरपूर्वक एवं सावधानी से सुनती है।

पूर्वोक्त तीनों चरणों में मत् मयि मद् इन तीन अस्मद् शब्दों के प्रयोग से सौभाग्यातिशय-द्योतित होता है।

अनुरागोत्पत्ति निर्णय रूप कार्य के प्रति कर्णदान अनन्यदृष्टि रूप दो हेतुओं के निर्देश से समुच्चयालंकार है, छेकानुप्रास तथा वृत्यनुप्रास। वसन्ततिलका छन्द है (लक्षण ऊपर कहा जा चुका है) इस श्लोक में मुग्धानायिका का अंगज अलंकार विलास है।

"यो वल्लभासन्नगतो विकारो गत्यासनस्थानविलोकनादौ,
नानाविधाकूतचमत्कृतिश्च पराङ्मुखंचास्यमयं विलासः"

भाष+शानच्-सप्तम्येकवचने रूपम्। बहुशब्दात् इष्ठन् प्रत्यये यिट्कृते भूयिष्ठम्। दृश्+क्तिन्=दृष्टिः।

संस्कृत व्याख्या—यद्यपि इयं शकुन्तला मद्वचोभिः मदुक्तवाक्यैः सह वाचं स्ववार्णी निजोक्तिमित्यर्थः न मिश्रयति मेलयति, साक्षान्मया सह नालपतीत्यर्थः (तथापि) मयि दुष्यन्ते भाषमाणे यत्किञ्चित् कथयति सति अभिमुखं ममाभिमुखं कर्णं ददाति सादरं शृणोति (एवं यद्यपि) मदाननसंमुखीना मन्मुखाभिमुखी सती कामम् पर्याप्तम् कामं प्रकामं पर्याप्तं निकामेष्टे यथेप्सितम्। न तिष्ठति तथापि अस्याः दृष्टिः विलोकनम् भूयिष्ठं अतिशयेन बहु यथा स्यात्तया अन्यो विषयो यस्याः सा अन्यविषया मद्भिन्नलक्ष्या न नास्तीत्यर्थः। अतो निश्चीयते यदियं तथैवानुरक्ता यथाहम स्यामित्याशयः। अलकाराः पूर्वमुक्ताः, वसन्ततिलकावृत्तम्।

तुरगखुरहतस्तथा हि रेणु-
विटपविषक्तजलार्द्र वल्कलेषु ।
पतति परिणतारुणप्रकाशः
शलभसमूह इवाश्रमद्रुमेषु ॥ २८ ॥

इससे नायिकागत गात्रंज विलास का निर्देश किया गया है "यो वल्लभाग्र... विकारो गत्यासनस्थान विलोकनादौ, नानाविधाकूत-चमत्कृतिश्च पराङ् मुखंचास्यमयं विला... अनुरागेङ्गित भी:—"विकारो नेत्रवक्त्रस्य तद्वाक्यश्रवणादरः, अन्यव्याजेन तद्वीक्षा, अनुरागे... भवेत् ।"

(नेपथ्य में)

हे तपस्वियो ! तपोवन के जीवों की रक्षा के लिये समीप में आओ, देखो, आखेट... प्रेमी राजा दुष्यन्त समीप ही आ गया है ।

यहाँ से कवि प्रकृत कथा विच्छेद करने के लिये अन्तर सन्धि का आरम्भ क... है, दुष्यन्त इस नाम श्रवण से शकुन्तला को प्रोत्साहन होने से यहाँ "भेद" नामक अ... उपक्षिप्त किया गया है । "भेदः प्रोत्साहना मता" अर्थात् जहाँ पर पात्रगत प्रोत्साहन... कथन हो ।

श्लोक २८ अन्वय—तथाहि तुरगखुरहतः परिणतारुणप्रकाशः रेणुः शलभसमूहः... विटपविषक्तजलार्द्रवल्कलेषु आश्रमद्रुमेषु पतति ।

शब्दार्थ—तुरगखुरहतः=घोड़ों की टापों से उड़ी हुई, परिणतारुण प्रकाश=... अस्ताचल के लिये उन्मुख सूर्य अर्थात् संध्याकालीन सूर्य के अरुण प्रकाश सदृश, शलभ... इव=टिड्डीदल के समान, विटपेत्यादि=जिनकी डालियों पर जल से गीले वल्कल... (सूखने के लिये) डाले गये हैं ।

अनुवाद—जैसा कि घोड़ों की टापों से खुदी हुई, अस्तोन्मुख सूर्य अरुण प्र... सदृश, धूलि टिड्डी दल के समान आश्रम के वृक्षो पर जिनकी डालियों पर (सुखाने... लिये मुनियों के गीले) वल्कल वस्त्र डाले गये हैं, पड़ रही है ।

व्याख्या—नेपथ्य में कोई कह रहा है हे तपस्वियों ! शिकारी राजा दुष्यन्त... वन में आ रहा है देखो :—

घोड़ों की टापों से उड़ी हुई, संध्याकालीन सूर्य के अरुण प्रकाश सदृश अरुण रं... धूलि टिड्डीदल के समान आश्रम के वृक्षों पर पड़ रही है जिनकी डालियों पर सुखाने... लिये भीगे वल्कलवस्त्र डाले गये हैं ।

विशेष—तथाहि से तात्पर्य है 'इसी अर्थ को समझो' अर्थात् जो कुछ अभी क... उसे ही और स्पष्टता से तथा विस्तार से समझो, परिणतेत्यादि पद से धूलि का पर्व... गैरिकप्रदेश से उठना अतएव उसका संध्याकालवत् अरुण होना द्योतित किया गया है ।

शलभसमूह—शलभ टिड्डी के पङ्ख भी कुछ लाल होते हैं अतः संध्याकालीन अ... धूलि से इसकी तुल्यता ठीक है ।

विटपविषक्तेत्यादिः—विटप=वृक्षशाखायें, विषक्त=विलम्बित लटके हुए, हुए । यहाँ धूलिपात से मलिन होने की तथा अपवित्र होने की सम्भावना से डालियों से वल्कल हटा लेने चाहिये यह ध्वनित होता है ।

तुरगखुरहतः—इस पद से सेनाबाहुल्य और घोड़ों का आश्रम के पास में ही... ध्वनित होता है ।

तीव्राघातप्रतिहततरुः स्कन्धलग्नैकदन्तः
पादाकृष्टव्रततिवलयासङ्गसंजातपाशः ।
मूर्तो विघ्नस्तपस इव नो भिन्नसारङ्गयूथो
धर्मारण्यं प्रविशति गजः स्यन्दनालोकभीतः ।। २९ ।।

धूलि के साथ शलभों की साम्यता से कवि का तात्पर्य है कि जिस प्रकार शलभ कृषि के लिये घातक होते हैं उसी प्रकार तुरंग खुरोत्थित यह धूलि भी तपोवन में उपद्रव की सूचक है ; परिणतारुण प्रकाश में लुप्तोपमालंकार है, शलभ समूह इव में उपमालंकार, इन दोनों के परस्पर निरपेक्ष होने से संसृष्टि है । कोई तुरगखुरहतः अतएव परिणतारुण-प्रकाशः इस प्रकार व्याख्या करते हैं अतः पदार्थहेतुक काव्यालिङ्ग भी है, ससैन्य राजा के प्रत्यासन्नत्व रूप कारण के रहते हुए उसके कार्य का (रेणूद्धुलनादि) वर्णन किया गया है अतः अप्रस्तुत प्रशंसालंकार है, पर्यायोक्त अलंकार नहीं क्योंकि कार्य अप्रस्तुत है । पर्यायोक्त में कारणवत् कार्य को भी प्रस्तुत दिखाना पड़ता है । वृत्यनुप्रास । पुष्पिताग्रा छन्द है ।

"अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा" अर्थात् जिस छन्द के प्र० तथा तृ० पादों में नगण रगण यगण हों तथा द्वि० वा च० में नगण जगण जगण रगण तथा एक गुरुवर्ण हो वह पुष्पिताग्रा छन्द कहलाता है ।

। । । । । । S । S । S S । । । । S । ।
तु र ग, खु र ह, त स्त था, हि रे णुः । वि ट प, वि ष क्त

। S । S । S S
ज ला र्द्रं, वल्क ले, षु

हन्+क्त=हतः, विषद्+क्त=विषक्त, परि+नम्+क्त=परिणत ।

संस्कृत व्याख्याः—तुरगाणां वाजिनां खुरैः शफैः हतः उत्थापितः तुरगखुर हतः, परिणतस्य अस्ताचलोन्मुखस्य अरुणस्य सूर्यस्येव प्रकाशो यस्य परिणतारुणप्रकाशः (सूर्य किरण सम्पर्कात् संध्यासमये धूलिपटलस्य रक्तवर्णता भवत्येव) रेणुः धूलिः शलभानां पतंगानां समूहः शलभसमूहः इव विटपेषु वृक्षशाखासु विषक्तानि विलम्बितानि जलार्द्राणि मुनीनां स्नानजलेन आर्द्राणि वल्कलानि वृक्षत्वग्वस्त्राणि येषां तेषु विटपविषक्त जलार्द्र वल्कलेषु, आश्रमद्रुमेषु तपोवनवृक्षेषु पतति वायुसंयोगेनोड्डीय संसृजति । इति । अलङ्कारा उक्ताः । पुष्पिताग्रा वृत्तम्

और भी—

श्लोक २९ अन्वय—तीव्राघातप्रतिहततरुः, स्कन्धलग्नैकदन्तः, पादाकृष्टव्रततिवलयासङ्गसंजातपाशः, भिन्नसारङ्गयूथः, स्यन्दनालोकभीतः गजः नः तपसः विघ्न इव धर्मारण्यं प्रविशति ।

शब्दार्थ—तीव्राघातप्रतिहततरुः=दौड़ने में स्वाभाविक संवेग के कारण जिसने पेड़ों को तोड़ दिया है, स्कन्धलग्नैकदन्तः, पार्श्व में (बगल की ओर) देखने के कारण जिसका एक दाँत (दाहिना दाँत) उसके स्कन्ध भाग में लगा हुआ है (यह प्रसिद्ध है कि हाथी दाहिनी ओर अर्थात् दक्षिण स्कन्ध की ओर सरलता के अपना मुख घुमा सकता है पर बायीं ओर कठिनता से अतः उसका दाहिना दाँत ही उसके दाहिने स्कन्ध से लगा हुआ था) पादाकृष्टव्रततिवलयासङ्गसंजातपाशः पैरों द्वारा खींची हुई लताओं के लिपट जाने से जिसके पैर बँध गये हैं, तात्पर्य यह है कि जब वह हाथी भाग रहा था तो लता समूह पर उसके जो पैर पड़ते थे इस कारण लतायें उसके पैरों में लिपट जाती थीं । उनसे छूटने के लिए जब वह पैरों द्वारा जोर से उन्हें खींचने का प्रयत्न करता था तो वे स्वभावतः जाल की तरह

(सर्वा. कर्णं दत्त्वा किंचिदिव सभ्रान्ताः ।)

राजा—(आत्मगतम् ।) अहो धिक् । पौरा अस्मदन्वेषिणस्तपवोनमुपरुन्धन्ति । भवतु; प्रतिगमिष्यामस्तावत् ।

सख्यौ—अज्ज; इमिणा आरण्ण अवुत्तंतेण पज्जाउल म्ह । अणुजाणीहि णो उडअगमणस्स । [आर्य ! अनेनारण्यकवृत्तान्तेन पर्याकुलाः स्मः । अनुजानीहि न उटजगमनाय ।]

राजा—(ससंभ्रमम्) गच्छन्तु भवत्यः, वयमप्याश्रमपीडा यथा न भवति तथा प्रयतिष्यामहे ।

(सर्वं उत्तिष्ठन्ति ।)

सख्यौ—अज्ज ! असंभाविअदिहिसक्कार भूओ वि पेक्खणणि मित्तं लज्जेमो अज्जं विण्णविदुं । [आर्य ! असंभावितातिथिसत्कारं भूयोऽपि प्रेक्षणनिमित्तं लज्जावहे आर्यं विज्ञापयितुम् ।]

राजा—मा मैवम्; दर्शनेनैवात्रभवतीनां पुरस्कृतोऽस्मि ।

(शकुन्तला राजानमवलोकयन्ती सव्याजं विलम्ब्य सह सखीभ्यां निष्क्रान्ता ।)

और कड़ी हो जाती थीं । अतः ऐसा प्रतीत होता था कि मानों वे लतायें उसके पैरों की पाश की तरह जकड़े हुए हैं, लतायें ही उसके पैरों के लिए पाश बन गई थीं । भिन्नसारंगयूथः=जिसने वन के मृगों के झुण्ड को तितर-बितर कर दिया था, स्यन्दनालोकभीतः= जो कि गज राजा का रथ देखकर स्वयं भयभीत हो रहा था ।

अनुवाद :—दौड़ने में स्वभाविक संवेग के कारण गम्भीर आघात से जिसने वृक्षों को तोड़ दिया है, जिसका एक दाँत उसके स्कन्ध भाग में लगा हुआ है, पैरों द्वारा खींची गई लताओं के लिपट जाने से (जिसके पैरों के लिए) पाश बन गया है अर्थात् जिसके पैर बंध गये हैं । जिसने मृगों के झुण्ड को तितर-बितर कर दिया है, रथ के देखने से भयभीत हुआ (ऐसा) गज, (जो कि) हमारी तपस्या का मूर्तिमान विघ्न रूप है, धर्मारण्य अर्थात् तपोवन में प्रविष्ट हो रहा है ।"

अर्थ—नेपथ्य में कोई कहता है कि हे तपस्वियो । देखोः—यह हाथी राजा के रथ को देखकर भयभीत होकर इस धर्मारण्य तपोवन में घुस रहा है । (जिसने सब वृद्ध स्त्री कुमार व्याकुल हो रहे हैं) इस हाथी ने अपने दौड़ने के संवेग से वृक्षों को तोड़ डाला है और इसका एक दक्षिण दाँत (क्रोध में देखने के कारण) इसके दक्षिण स्कन्ध से लगा हुआ है तथा इसके पैरों द्वारा स्वयं खींची गई लतायें ही इसके लिए पाश बन गई हैं अर्थात् जिसके पैरों में लतायें पाश की भाँति लपटी हुई हैं, तथा इसने मृगों के झुण्ड को भी तितर बितर कर दिया है और जो कि हमारी तपस्या के लिए मूर्तिमान विघ्नरूप है ऐसा यह गज तपोवन में प्रविष्ट हो रहा है (आप लोग अपनी रक्षा करें) ।

विशेष—**क्वचित्** "तीव्राघातप्रतिहततरुस्कन्धलग्नैकदन्तः" इस प्रकार भी पाठ है अतः इसका अर्थ होगा कठोर प्रहार से टूटे हुए वृक्ष स्कन्ध (डाली) पर जिसका एक दाँत लगा हुआ है अर्थात् प्रहार करने से जिसका एक दाँत टूट गया है ।

प्रस्तुत श्लोक में आघातादिनिमित्त भूत विशेषणों से गज में मूर्तिमान्, विघ्नत्व की उत्प्रेक्षा की गई है अतः उत्प्रेक्षालंकार है-मूर्तो विघ्नः इव यहाँ पर भी उत्प्रेक्षालंकार है, सरथ राजा के प्रत्यासन्नत्व रूप कारण के रहने पर भी उसके कार्यभूत गज व्यापार का वर्णन

राजा—मन्दौत्सुक्योऽस्मि नगरगमनं प्रति । यावदनुयात्रिकान्समेत्य नातिदूरे तपोवनस्य निवेशयेयम् । न खलु शकुन्तलाव्यापारादात्मानं निवर्तयितुम् । मम हि—

किया गया है अतः अप्रस्तुत प्रशंसालंकार है, परिकरालंकार, वृत्यनुप्रास, श्रुत्यनुप्रास, मन्दक्रान्ता छन्द है । "मन्दक्रान्ताम्बुधिरसनगै र्मो भनौ तौ ग युग्मम्" अर्थात् इस छन्द में क्रमशः मगण, भ, न, त, त, तथा अन्त में दो गुरु वर्ण होते हैं, क्रमशः ४-६ और ७ पर विराम होता है । इस प्रकार १७ वर्णों का यह छन्द होता है ।

S S S S I I I I I S S I S S I S S

ती व्रा घा, त प्र ति, ह त प, रुः स्क न्ध, ल ग्नै क, द न्तः,

इस श्लोक में भयानक रस है, गजगत भय स्थायीभाव, दुष्यन्त सैना रथ आदि का अवलोकन विभाव है, गज का पार्श्वविलोकन पलावन आदि अनुभाव हैं ।

आ+हन्+घञ्=आघात; सम्+जन्+क्त=संजातः; भिदिर्+क्त=भिन्नः, आ+लोक्+घञ् आलोकः, भी+क्त=भीतः ।

संस्कृत व्याख्या—स्यन्दनस्य राजरथस्य, आलोकनात् दर्शनात् भीतः त्रस्तः स्यन्दनालोकभीतः (अतएव) तीव्रः यः आघातः पलायनविषये स्वाभाविकः संवेगः संघट्टः तेन प्रतिहता भग्नास्तरवः वृक्षाः येन स तीव्राघातप्रतिहततरुः, स्कन्धे लग्नः एकः दन्तः यस्य स स्कन्धलग्नैकदन्तः दक्षिणपार्श्वभागसंसक्तैकदन्तः, पादाभ्यां आकृष्टं यत् वततीनां लतानां वलयं जालं तस्य आसङ्गेन समन्तात् सम्बन्धेन परिवेष्टनेन संजातः पाशो बन्धनं यस्य सः पादाकृष्टव्रततिवलयासङ्गसंजातपाशः, भिन्नानि भयोत्पादनेन पृथक् कृतानि सारङ्गाणां वनमृगाणां यूथानि कुलानि यस्मात् स भिन्नसारङ्गयूथः, एभिः विशेषणैः गजस्य वेगातिशयो व्यज्यते, नः अस्माकं तपसः तपोनियमस्य मूर्तः शरीरी विघ्नः इव भयोत्पादनेन धर्मकर्मभङ्गकरणादित्यर्थः गजः वन्यो गजः सेनागजस्य स्यन्दनभीरुत्वासम्भवात्, धर्मारण्यं तपोवनं प्रविशति ।

उक्ता अलंकाराः । मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ।

(सब कान लगाकर (सुनकर) कुछ घबड़ा-सी जाती हैं)

राजा—(मन ही मन) अरे धिक्कार है । पुरवासी सैनिकादि, जान पड़ता है, हमें खोजते हुए तपोवन को कुचल रहे हैं अर्थात् घेर कर सबको विक्षुब्ध किये डालते हैं । अच्छा तो अब हम उधर ही जायेंगे ।

सख्यौ—आर्य ! जंगल के इस वृत्तान्त से हम लोग घबड़ा गईं हैं अतः हम लोगों को कुटी में जाने की आज्ञा दें ।

राजा—(शीघ्रता से) आप लोग जाँय । हम लोग भी ऐसा ही प्रयत्न करेंगे जिससे आश्रम को पीड़ा न पहुँचे ।

(सब उठ बैठते हैं)

सख्यौ—आर्य ! हम लोगों द्वारा जिस आपका कुछ भी अतिथि सत्कार नहीं बन पड़ा है ऐसे आप से यह प्रार्थना करने में हमें संकोच हो रहा है कि आप हमें फिर दर्शन दें ।

राजा—नहीं नहीं ऐसा न कहिये आप लोगों के दर्शन से ही मेरा अतिथि सत्कार हो चुका है (पुरस्कृतः=पूजित) (शकुन्तला राजा को देखती हुई किसी बहाने से "दर्भाकुरेण चरणः क्षत "इत्यकाण्डे" इत्यादि जैसा कि कवि ने आगे कहा है बहाना करके और कुछ देर रुक कर सखियों के साथ चली जाती है अर्थात् सखियाँ आगे चली जाती हैं और वह पीछे जाती है ।)

राजा—अब तो नगर में जाने की मेरी उत्कण्ठा मन्द हो गई है अर्थात् अब नगर को लौटने का जी नहीं चाहता । अतः तपोवन के पास ही में सैनिकों को एकत्र कर डेरा

गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चादसंस्तुतं चेतः ।
चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य ।। ३० ।।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

इति प्रथमोऽङ्कः ।

(पड़ाव) डाले देता हूँ । शकुन्तला के इस प्रेम व्यवहार से अब मैं अपने को छुड़ाने में असमर्थ हूँ ।

क्योंकि मेरा—

श्लोक ३० अन्वय—(मम) शरीरं पुरः गच्छति (परन्तु) प्रतिवातं नीयमानस्य केतोः चीनांशुकम् इव असंस्तुत चेतः पश्चात् धावति ।

शब्दार्थ—प्रतिवातं नीयमानस्य केतोः चीनांशुकम्=नीयमानस्य केतोः=ले जाये जाते हुए झण्डे का, चीनांशुकम्—सूक्ष्म पतला वस्त्र । प्रतिवातं=हवा के सामने अर्थात् जिस ओर हवा चल रही है उसी के सामने, तात्पर्य यह है कि यदि पूर्व की ओर हवा चलती है जो उसके सामने आने वाला व्यक्ति पश्चिम की ओर मुख करके चलेगा ओर उसके झण्डे का वस्त्र पूर्व की ओर उड़ेगा यद्यपि वह उसे लिये हुये पश्चिम की ओर चल रहा है, यह स्वाभाविक बात है । असंस्तुतम्=शरीर से अपरिचित (संस्तव=परिचय)

अनुवाद—(मेरा) शरीर (तो) आगे चलता है, परन्तु वायु के सामने ले जाये जाते हुये झण्डा के चीन देश में निर्मित सूक्ष्म वस्त्र (पताका) की भाँति मेरा, मेरे ही शरीर से अपरिचित सा मन, पीछे भागता है ।

व्याख्या—सब के चले जाने पर राजा सोचता है कि मैं भी चलूँ-परन्तु उसका मन शकुन्तला की ओर जाना चाहता है । इस बात का वर्णन करता हुआ वह कह रहा है—

मेरा शरीर तो आगे (अर्थात् अपनी सेना की ओर लौटने के लिए) चलता है परन्तु वायु सम्मुख संचालित ध्वजा के चीन देश में निर्मित सूक्ष्म वस्त्र (पताका) की भाँति मेरा मेरे ही शरीर से अपरिचित सा मन पीछे (शकुन्तला की ओर) भागता है ।

तात्पर्य यह है कि जैसे हवा के सामने संचालित ध्वजा तो आगे की ओर चलती है परन्तु उसकी पताका (पतला सूक्ष्म वस्त्र) वायुवेग से पीछे की ओर (ध्वज से दूर) उड़ती है उसी प्रकार मेरा शरीर तो आगे चलता है पर मेरा मन मानो वह मेरे शरीर से परिचित ही न हो, पीछे की ओर अर्थात् शकुन्तला के पीछे भागता है ।

विशेष—यहाँ शरीर को केतु तथा पताका को मन माना गया है यह दोनों ही कल्पनाएँ बड़ी सुन्दर हैं जिस प्रकार निर्जीव काष्ठ के डंडे को कोई भी कहीं भी ले जा सकता है उसी प्रकार दुष्यन्त का शरीर हृदय से शून्य होने के कारण (क्योंकि उसका हृदय तो शकुन्तला के पास है) सेना की ओर चलता है लेकिन जिस प्रकार केतु की पताका वायुवेग से पीछे की ओर ही उड़ती है उसी प्रकार उसका मन भी, जो कि चीन के वस्त्र की भाँति अत्यन्त कोमल एवं सूक्ष्म है, पीछे शकुन्तला की ओर भाग रहा है उपमालंकार। शरीर आगे को धीरे-धीरे चलता है परन्तु मन पीछे को तेजी से भाग रहा है, इस प्रकार शरीर और मन के सम्बन्ध रहने पर भी दोनों के सम्बन्ध में असम्बन्ध लक्षण अतिशयोक्ति है, असंस्तुतम् का अर्थ है शरीर से अपरिचित सा अतः गम्योत्प्रेक्षा है वृत्यनुप्रास ।

आर्या जातिः ।

सम्+स्तु+क्त=संस्तुतम्, नी+शानच् कर्मवाच्य=नीयमानः ।

संस्कृत व्याख्या—(मम) शरीरं पुरः अग्रे गच्छति शनैः शनैः कथञ्चित् याति किन्तु प्रतिवात वायुसम्मुखं नीयमानस्य चाल्यमानस्य केतोः ध्वजस्य चीनांशुकम् सूक्ष्म पट्टवस्त्रं इव असंस्तुतम् शरीरेण अपरिचितं इव चेतः मनः पश्चात् शकुन्तलाभिमुखं धावति सत्वरं वेगेन याति। एतेन चेतसश्चाञ्चल्यं शरीरस्य हृदयशून्यत्वात् काष्ठतुल्यत्वं ध्वनितम्। चीनांशुकमिव इत्युपमा, असंस्तुतमिवेति 'गम्योत्प्रेक्षा, शरीरमनसोः सम्बन्धेऽपि असम्बन्धकथनमतिशयोक्तिः, वृत्यनुप्रासः, आर्या जातिः।

(इस प्रकार सब निकल जाते हैं)

इति प्रथमोऽङ्कः

दशरूपक कार ने "एकाह चरितैकार्थ मित्थमासन्न नायकम्
पात्रैस्त्रिचतुरैरङ्कं तेषामन्तेऽस्य निर्गमः॥

इस कारिका के द्वारा अङ्क के विभाजन, उसकी कथावस्तु की समयसीमा तथा पात्र संख्या का उल्लेख किया है। अर्थात् एक अंक में वस्तुयोजना ऐसी होनी चाहिए कि वह एक ही दिन की घटना (चरित्र) से सम्बद्ध हो तथा वह साथ ही एक ही प्रयोजन या एक ही अर्थ से सम्बद्ध हो और नायक समीपवर्ती हो तथा एक अङ्क में तीन चार ही पात्रों का प्रवेश किया जाय और अंक के अन्त में इन सब पात्रों का निष्क्रमण भी बताया जाय। इस प्रकार अंक समाप्त किया जाय। इस दृष्टि से प्रस्तुत अंक पूर्ण है, एक दिन की ही घटना है, एक ही प्रयोजन अन्त तक चलता है, नायक सदा पास रहता है, मुख्य पात्र भी थोड़े ही हैं और अन्त में उनका निर्गम दिखाया गया है।

पाश्चात्य नाट्य शास्त्रियों ने जो नाटकों के लिए अन्वितित्रय (Three unities) की आवश्यकता बतलाई है, भारतीय नाटक उसकी भी पूर्ति करते हैं। अंक में एक ही दिन की घटना (चरित) हो इससे कालान्विति (Unity of time), एक ही प्रयोजन का सन्निवेश हो इससे कार्यान्वित (Unity of action), भारतीय नाटकों के अंकों की एक दृश्यता अर्थात् अंकों का दृश्यों में विभाजन न होना ही स्थलान्विति (Unity of place) सूचित करता है। अतएव भारतीय नाटक सभी दृष्टियों से अपने में पूर्ण हैं।

एक बात अवश्य है कि भारतीय नाटक सभी सुखान्त होते हैं अतएव उनमें पाश्चात्य त्रासद (Tragedies) नाटकों की तरह मरण वध युद्ध संरोधादि दुःख जनक वस्तुओं का वर्णन नहीं होता जैसा कि धनञ्जय ने लिखा है—

"दूराध्वानं वधं युद्धं राज्यदेशादि विप्लवम्
संरोधं भोजनं स्नानं सुरतं चानुलेपनम्
अम्बरग्रहणादीनि प्रत्यक्षाणि न निर्दिशेत्।

अर्थात् नाटक में प्रत्यक्षरूप से लम्बी यात्रा, वध, युद्ध राज्य व देशक्रान्ति घेरा डालना, भोजन, स्नान, सुरत, उवटन, वस्त्रधारणादि न दिखाना चाहिए। अतएव प्रस्तुत अंक में उपस्थित प्रसंग से प्राप्त भी तपोवन सरोवर नहीं दिखलाया गया है, केवल उसकी सूचना मात्र दी गई है।

अंक विष्कम्भक आदि के सम्बन्ध में दश रूपक के अनुसार यहाँ यह जानना चाहिये कि नाटक के आरम्भ में कार्य की युक्ति के अनुसार विष्कम्भक या अंक दोनों की योजना की जा सकती है अर्थात् यदि आरम्भिक कथा का अंश नीरस है पर नाटकीय वस्तु की गति-विधि के लिये उसका रखना अत्यावश्यक है तो ऐसी स्थिति में उस नीरस कथांश को सूचित करने के लिये विष्कम्भक का आरम्भ में ही सन्निवेश कर देना चाहिए जैसा मालती माधव में किया गया है, परन्तु यदि आरम्भिक कथा सरस है उसको रंग मंच पर सफलता के

साथ दिखाया जा सकता है तो विषकम्भक द्वारा उसकी सूचना देने की आवश्यकता नहीं, ऐसी दिशा में तो अंक से ही नाटक आरम्भ कर देना चाहिए और आमुख प्रयोगातिशय आदि के द्वारा प्रारम्भ में ही पात्र प्रवेश करना चाहिये जैसा कि प्रस्तुत नाटक में किया गया है नाटक का आरम्भ अंक से होता है, प्रस्तावना के भेद प्रयोगातिशय के आधार पर ही मुख्य पात्र का प्रवेश कराया गया है।

"यदा तु सरसं वस्तु मूलादेव प्रवर्तते
आदावेव तदाङ्कः स्यादामुखाक्षेपसंश्रयः/।

विष्कम्भक में कथा-वस्तु के नीरस अंश की प्रारम्भ में सूचना दी जाती है पर अंक में प्रथम ही से नाटक का चरित्र प्रत्यक्ष रूप में पाया जाता है अर्थात् साक्षात् रूप से नायक का व्यापार मंच पर दिखाया जाता है जैसा कि प्रस्तुत अंक में किया गया है। इसमें विन्दु नामक अर्थ प्रकृति सर्वत्र व्याप्त रहती है अनेक प्रकार के रसान्वित विधानों का आयोजन किया जाता है। इस प्रकार अंक नाना प्रकार के नाटकीय प्रयोजन के सम्पादन का तथा रस का आश्रय होता है जैसा कि प्रस्तुत अङ्क में देखा गया है। अंक का अर्थ है गोद, क्रोड़ या उत्संग, इसी उपमान पर उनका नाम अङ्क रखा गया है क्योंकि इस गोद में भी विन्दु नायक व्यापार रस आदि रहते हैं।

"प्रत्यक्षनेतृचरितो विन्दुव्याप्ति पुरस्कृतः
अङ्कों नानाप्रकारार्थसंविधानरसाश्रयः ।। इति ।।

द्वितीयः अंकः

प्रथम अङ्क में दैवयोग से ही शकुन्तला और दुष्यन्त ने एक दूसरे को देखा था अतः उन दोनों में परस्पर दर्शन जन्य रति उद्बुद्धमात्र हुई थी, इसके बाद उसी अङ्क में दोनों का परस्पर सम्मुख वार्तालाप भी हुआ इस प्रकार उद्बुद्धमात्र वह रति क्रम से पुष्ट भी हुई परन्तु "न विना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते" इस कथन के अनुसार उस रति को पूर्ण परिपुष्ट एवं प्रगाढ़ करने के लिये वियोग की आवश्यकता थी अतः कवि ने उसी अङ्क में उनका कुछ वियोग भी दिखाना प्रारम्भ किया था।

अब द्वितीय अङ्क में, राजा दुष्यन्त के विषाद आदि व्यभिचारी भावों के द्वारा तथा गुण, कथन आदि अनुभावों के द्वारा, उस पुष्ट रति को परिपुष्टता प्रदान करने के उद्देश्य से कवि पुनः विप्रलम्भ का वर्णन करना चाहता है अतएव अङ्क के आरम्भ में वह उसके सहायक के रूप में विदूषक को प्रवेश कराता है। विदूषक शृंगार रस में विशेष सहायक होता है अतएव कवि ततः प्रविशति विषण्णः विदूषकः कह कर सर्वप्रथम उसका प्रवेश करता है। **विदूषक शृंगार रस में नायक का सहायक होता है** इस सम्बन्ध में दर्पणकार ने लिखा है :—

शृङ्गारेऽस्य सहाया विटचेटविदूषकाद्याः
भक्ता नर्मसु निपुणाः कुपितवधूमानभञ्जिनाः शुद्धाः।

अर्थात् नायक के प्रति अनुरक्त नर्म अर्थात् परिहासादि कार्यों में कुशल, मानिनी नायिकाओं के मान भंग करने में समर्थ, शुद्ध अर्थात् नायक के कार्यों के प्रति औदासीन्यादि दोषों से रहित, विट, चेट विदूषक आदि नायिका तथा नायिका के सहायक होते हैं। इसी प्रकार आदिशब्द निर्दिष्ट मालाकार रजक ताम्बूलिक गान्धिक आदि भी सहायक होते हैं। **विदूषक का लक्षण भी**

"कुसुमवसन्ताद्यभिधः कर्मवपुर्वेशभाषाद्यैः,
हास्यकरः कलहरति विदूषकः स्यात् स्वकर्मज्ञः।

अर्थात् जिसका नाम कुसुम वसन्त आदि है, अर्थात् उसके नाम पुष्पवाचक शब्द तथा वसन्तकाल वाचक शब्दों पर रखे जाते हैं तथा इनके अतिरिक्त भी अन्य नाम हो सकते हैं। ये विदूषक काम से, शरीरचेष्टाओं से, वसनभूषणादि के विन्यास से, वाक्य रचना एवं विशेष प्रकार के विचित्र इंगितों एवं चिन्हों से हास्य उत्पन्न करने वाले होते हैं। और ये कलहप्रिय भी होते हैं (कलह=विवाद) तथा अपने कार्य भोजनादिक को प्रधान रूप से जानते हैं। अथवा "विकृताङ्गवचोवेषैः हास्यकारी विदूषकः" इति सुधाकरे।

ये विदूषक प्राकृत ही बोलते हैं—विदूषकविटादीनां पाठ्यं तु प्राकृतं भवेत्"

इस नाटक में विदूषक की यह कथा 'पताका' कथा है क्योंकि आधिकारिक (मुख्य कथावस्तु) के साथ एक प्रासङ्गिक कथावस्तु भी रहती है। यह प्रासङ्गिक कथावस्तु भी "सानुबन्धं पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक्" के अनुसार पताका और प्रकरी भेद से दो

द्वितीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति विषण्णो विदूषकः।)

विदूषकः—(निःश्वस्य।) भो दिट्ठ। एदस्य मअआसीलस्य रण्णो वअस्सभावेण णिव्विण्णो म्हि। अअं मओ अअं वराहो अअं सद्दूलो ति मज्झण्णे वि गिम्हविरल-पाअवच्छाआसु वणराईसु आहिंडीआदि अडवीदो अडवी। पत्तसंकरकसाआइं कडुआइं गिरिणईजलाइं पीअंति। अणिअदवेलं सल्लमंसभूइट्ठो आहारो अण्हीअदि। तुरगाणु धावणकंडिदसंधिणो रत्तिम्मि वि णिकामं सइदव्वं णत्थि। तदो महंते एव्व पच्चूसे-दासीए-पुत्तेहिं सउणिलुद्धएहिं वणग्गहणकोलाहलेण पडिबोधिदो म्हि। एत्तएण दाणि विं पीडा ण णिक्कमदि। तदो गडस्स उवरि पिडओ संवुत्तो। हिओ किल अम्हेसु ओहीणेषु तत्तहोदो महाणसारेण अस्समपदं पविट्ठस्स तावसकण्णआ सउंदला मम अधण्णदाए दंसिदा। संपदं णअरगमणस्य मण कहं वि

प्राकार की होती है। जो कथा दूर तक चलती है, वह पताका कहलाती है और जो कथा केवल एक ही प्रदेश तक सीमित रहती है, वह प्रकरी कहलाती है। विदूषक की कथा प्रस्तुत नाटक में दूर तक चलती हुई मुख्य कथा वस्तु में सहायक होती है अतः यह 'पताका' है। जैसा कि दर्पणकार ने भी कहा है "व्यापि प्रासङ्गिकं वृत्तं पताकेत्यभिधीयते" कोई आचार्य यह मानते हैं कि **"ततः प्रविशति से लेकर तृतीय अङ्क में उभे :—स्निग्धजनसविभक्तं हि दुःखं सह्यवेदनं भवति"** यहाँ तक **प्रतिमुख सन्धि** चलती है। इसी प्रकार इस अङ्क में शकुन्तला प्राप्ति रूप फलावाप्ति के लिये दुष्यन्त का शकुन्तलाऽन्वेषण रूप अतित्वरान्वित व्यापार चलता है **अतः यह प्रयत्न नामक द्वितीय कार्यावस्था है**। जैसा कि दर्पणकार ने कहा है :—

प्रयत्नस्तु फलावाप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः"

प्रतिमुखसन्धिः—"फल प्रधानोपायस्य मुख सन्धिनिवेशितः
लक्ष्यालक्ष्य इवोद्भेदो यत्र प्रतिमुखं च तत्।

वास्तव में "कामं प्रिया न सुलभा" इस कथन से दुष्यन्त में तो अनुराग का लक्ष्य तथा उदभेद दिखलाया गया है परन्तु वह शकुन्तला में अवस्था मात्र से ही सूचित होने के कारण अलक्षित ही दिखाया गया है।

विदूषक विषण्ण (उदार भाव) से प्रवेश करता है जिसका कारण वह स्वयं बतलाता है "ठण्डी साँस लेकर, 'भो' इति विषादात्मक सम्बोधन है, देखा! इस शिकारपरायण राजा का मित्र होने के कारण (मैं तो) बड़ा दुःखी हो गया हूँ। (वयस्यः स्निग्ध, सवयाः इत्यमरः (निर्विण्ण=दुखी।) दुपहरी में भी ग्रीष्म ऋतु में विरल वृक्षों की छाया वाले वन प्रदेशों में एक जंगल से दूसरे जंगल में 'यह हिरन, यह सुअर, यह व्याघ्र (चिल्लाता हुआ) मारा-मारा फिरना पड़ता है (अटव्यरण्यं विपिनं गहनं काननं वनम् इत्यमरः, अटवी=वन, शार्दूलद्वीपिनौ व्याघ्रे इत्यमरः, शार्दूल=बाघ, विरल=अत्यन्त अल्प, आहिण्डयते=आङ् पूर्वक हिडिङ गतौ इत्यस्य कर्मणि यकि रूपम्, राजि=श्रेणी, वीथ्यालिरावलिः पंक्तिश्रेणी लेखास्तु राजयः इत्यमरः) पत्र संकरकषायाणि=पत्र=पत्ते संकर=मिलना—एकत्र हो जाना, कषाय=कषयले सड़े हुए दुर्गन्धि युक्त, अर्थात् भिन्न भिन्न प्रकार के वृक्षों के पत्रों के मिलने से (गिर कर सड़ जाने से) कसैल अतएव विरस स्वाद रहित एवं कड़वे पहाड़ी नदियों के जल पिये जाते हैं अर्थात् दुर्गन्धि युक्त सड़ा हुआ कड़वा पर्वतीय नदियों का पानी पीने को मिलता है। अनियतवेलम् अर्थात् बिना किसी निर्दिष्ट समय पर (जब ही मिल सके

ण करेदि। अज्ज वि मे तं एव्व चिंतअंतस्स अक्खीसु पभादं आसि। का गदी ? जाव णं किदाचारपरिक्कमं पेक्खामि। (इति परिक्रम्यावलोक्य च।) एसो वाणासण हत्थाहिं जवणीहिं वण पुप्फमालाधारिणीहिं पडिवुदो इदो एव्व आअच्छदि पिअवअस्सो। होदु; अंगभंगविअलो विअ भविअ चिठिस्सं। जइ एव्वं ति णाम विस्समं लहेअं। [भो ! दृष्टम्। एतस्य मृगयाशीलस्य राज्ञो वयस्यभावेन निर्विरणोऽस्मि। अयंमृगोऽयं वराहोऽयं शार्दूल इति मध्याह्नेऽपि ग्रीष्मविरलपादपच्छायासु वनराजिष्वाहिण्ड्यतेऽटवीतोऽटवीं। पत्रसंकरकषायाणि कटूनि गिरिनदीजलानि पीयन्ते। अनियतवेलं शूल्यामांसभूयिष्ठ आहारो भुज्यते। तुरगानु धावनकण्डितसंधेः रात्रावपि निकामं शयितव्यं नास्ति। ततो महत्येव प्रत्यूषे दास्याःपुत्रैः शकुनिलुब्धकैर्वनग्रहणकोलाहलेन प्रतिबोधितोऽस्मि। इयतेदानीमपि पीडा न निष्क्रामति। ततो गण्डस्योपरि

तभी) शूल्य माँस ही जिसमें अधिक रहता है ऐसा भोजन मिलता है (लोहे की शलाकाओं में बाँध कर जो माँस पकाया जाता है उसे शूल्य माँस कहते हैं, भूयिष्ठम्=अधिक) तुरगानुधावन-कण्डित सन्धेः अर्थात् धोड़ों के पीछे दौड़ते-दौड़ते जिसके शरीर की हड्डियों की सन्धियाँ (जोड़) भी चूर्ण हो जाते हैं, अस्थियों के जोड़ भी चटकने लगते हैं, जोड़ों में पीड़ा होने लगती है इस प्रकार से मुझे रात्रि में भी पर्याप्त सोने को नहीं मिलता है। अर्थात् घोड़ों के पीछे दौड़ते रहने के कारण सब शरीर शिथिल हो जाता है और हड्डियों की सन्धियों में पीड़ा होने लगती है अतः रात्रि में भी नींद नहीं आती दिन में सोना या आराम करना तो दूर की बात है। (निकामं=पर्याप्त, कण्डित=कुट्टित, चूर्ण विचूर्ण, चरमराई हुई, सन्धि=जोड़) ततो महत्येव प्रत्यूषे=बड़े तड़के ही (बड़े सुबह ही) "सूर्योदयात् प्राङ् नाडीचतुष्टयात्मकः कालः प्रत्यूषः कथ्यते अर्थात् सूर्योदय से चार घड़ी पूर्व (२½ घड़ी या घटी का एक घण्टा होता है) का समय प्रत्यूष कहलाता है अतः महत्येव प्रत्यूषे का अर्थ है जब कि अभी प्रत्यूष आरम्भ ही हुआ था अर्थात् सूर्योदय के लगभग चार घटी पूर्व ही, दास्याः पुत्रैः (दासी के छोकरे) अर्थात् अत्यन्त नीच (दास्याः पुत्र) कहना एक प्रकार का गाली देना है इन बहेलियों आदि के कोलाहल से विदुषक को बड़े तड़के ही जागना पड़ जाता था. रात को वह वैसे भी नहीं सो पाता था इसलिये वह उन्हें गाली देने के लिए दास्याः पुत्रैः कहता है। शकुनिलुब्धकैः :—शकुनि=पक्षी, लुब्धक=बहेलिया अर्थात् पक्षियों को मारने वाले "व्याधो मृगवधाजीवो मृगयुर्लुब्धकोऽपि सः इत्यमरः" प्रतिबोधितोऽस्मि= जगा दिया जाता हूँ तात्पर्य यह है कि बड़े तड़के ही इन नीच पक्षिव्याधाओं द्वारा वन को घेरने के कोलाहल के द्वारा मैं जगा दिया जाता हूँ अर्थात् न रात को सो पाता हूँ और न सुबह ही (वन ग्रहण=वन का घेरना जिससे कोई शिकार न निकल सके) इयता=इतने समय में भी, निष्क्रामति=निकलती है अर्थात् इतने समय में भी अब भी यह पीड़ा नहीं निकलती है तात्पर्य यह कि दर्द अब भी कम नहीं हुआ है। "ततो गण्डस्योपरि पिटकः सम्वृतः=स्फोटस्योपरि स्फोटः इत्यर्थः कोढ़ में खाज होना, गण्ड=कपोल, पिटक=फोड़ा, सम्वृतः=हो गया अर्थात् एक दुःख के रहने पर ही दूसरा दुःख उपस्थित हो गया जब तक एक दुःख का अन्त न हो सका तब तक दूसरा आ खड़ा हुआ।" यहाँ इस मुहावरे का तात्पर्य है कि अभी शरीर की पीड़ा भी शान्त न होने पाई थी कि तब तक यह दूसरा दुःख भी आ पड़ा कि कल, जैसा कि कहा जाता है, जब कि हम लोग उनके साथ नहीं थे, पूज्य महाराज दुष्यन्त को मृग का पीछा करते करते आश्रम में प्रविष्ट होने पर, मेरे, दुर्भाग्य से ही, तापस कन्या शकुन्तला दिखलाई पड़ गई। (अस्मासु अवहीनेषु=हम लोगों के साथ न रहने पर अथवा जबकि हम पीछे रह गये थे, किल=यह बात प्रसिद्ध है अथवा ऐसा कहा जाता है.

पिटकः संवृत्तः । ह्यः किल अस्मास्ववहीनेषु तत्र भवती मृगानुसारेणाश्रमपदं प्रविष्टस्य तापसकन्यका शकुन्तला ममाधन्यतया दर्शिता । सांप्रतं नगरगमनस्य मनः कथमपि न करोति । अद्यापि तस्य तामेव चिन्तयतोऽक्ष्णोः प्रभातमासीत् । का गतिः ? यावत्तं कृताचारपरिक्रमं पश्यामि । एष बाणासनहस्ताभि र्यवनीभि र्वनपुष्पमालाधारिणीभिः परिवृत इत एवागच्छति । प्रियवयस्यः । भवतु; अङ्गभङ्गविकल इव भूत्वा स्थास्यामि । यद्येवमपि नाम विश्रामं लभेय ।] (इति दण्डकाष्ठमलम्ब्य स्थितः ।)

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टपरिवारो राजा ।)

राजा—(आत्मगतम् ।)

मम अधन्यतया=मेरे दुर्भाग्यवश, अर्थात् यदि मैं साथ होता तो सम्भवतः ऐसा न होता और मुझे दुःख न मिलता । (इसका फल यह हुआ कि अब) वह (राजा) नगर गमन के लिए (राजधानी में लौट चलने के लिये कैसे भी (कथमपि) मन नहीं करते हैं तात्पर्य यह है कि शकुन्तला के कारण अब राजधानी को किसी भी प्रकार लौटना नहीं चाहते, लौटने का नाम भी नहीं लेते । आज भी (अद्यापि) उसी शकुन्तला के (विषय में) सोचते-सोचते उनकी आँखों के सामने सुबह हो गया अर्थात् शकुन्तला के लिये चिन्ता करते-करते ही सारी रात बीत गई वे जागते ही रहे और प्रभात हो गया । यहाँ चिन्तन से सुख, तथा निद्रानाश से दुःख का वर्णन करके विधान नामक सन्ध्यङ्ग उपक्षिप्त किया गया है "सुखदुःख कृतो योऽर्थस्तद्विधानमिति स्मृतम्" दश रूपकेऽपि "विधानं सुखदुःखकृत्" अर्थात् जहाँ पर सुख और दुःख का एक ही साथ वर्णन किया जाय । का गति :—लेकिन उपाय ही क्या चलो तब तक उनसे मिलें (कृतः आचारस्य स्नानादेः परितः क्रमः येन स तम्) अर्थात् जिसने स्नानादि कार्यक्रम पूर्णतया कर लिये हैं ऐसे राजा से मिलें । (थोड़ा आगे बढ़कर और देखकर) यह मेरे प्रिय मित्र तो (राजा दुष्यन्त) धनुष हाथों में धारण करने वाली तथा वन पुष्प मालाओं को धारण करने वाली यवनी (संचारिका) स्त्रियों के द्वारा घिरे हुये इधर ही आ रहे हैं । (यवनी राजाओं की सेविकायें वे स्त्रियाँ होती हैं जो कि गृहकक्षों में घूमने फिरने वालीं तथा वाटिकाओं व वनों में साथ रहने वाली होती हैं इन्हें ही संचारिका यवनी भी कहते हैं जैसा कि मातृगुप्ताचार्य ने कहा है "गृह-कक्षा विचारिण्यः तथोपवनसंचराः, संचारिकास्तु ताः ज्ञेया यवन्योऽपि मताः क्वचित्" अच्छा तो (भवतु) (मैं भी) अङ्ग भङ्ग से विकल सा होकर बैठ जाता हूँ देखें ऐसा करने से ही स्यात विश्रम हाथ लग जाय (ऐसा कहकर डंडे के सहारे बैठ गया)

तब निर्दिष्ट (जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है अर्थात् शिकारी वेष में यवनियों के साथा राजा प्रवेश करता है)

राजा :—(आत्मगतम्) अपने मन में सोचता है :—

श्लोक १ अन्वय—(सा) कामं प्रिया न सुलभा तु मनः तद्भावदर्शनायासि (अस्ति) मनसिजे अकृतार्थे अपि उभयप्रार्थना रतिं कुरुते ।

शब्दार्थ—कामम्=अत्यर्थ, बहुत अधिक, अतिशयेन, प्रिया=प्रियतमा सुलभा =सुखेन लभ्या, सुख से पाने योग्य, तु=किन्तु, तद्भावदर्शनायासि=उसके (शकुन्तला के भावों के) (आङ्गिक चेष्टाओं के, अनुरागव्यञ्जक स्निग्ध कटाक्ष विक्षेप, विलम्ब आदि विशेष प्रकार की शारीरिक चेष्टाओं के) दर्शन (देखने में) आयास करने वाला (आयास =प्रयत्न पूर्वक लालसा करने वाला) मनसिजे=कामदेव के, अकृतार्थे=सफल मनोरथ न होने पर भी (अर्थात् शकुन्तला विषयक सुरत सम्भोग की अनुपलब्धि के कारण अचरितार्थ

कामं प्रिया न सुलभा मनस्तु तद्भावदर्शनायासि ।
अकृतार्थेऽपि मनसिजे रतिमुभयप्रार्थना कुरुते ॥ १ ॥

होने पर भी) उभयप्रार्थना=शकुन्तला का और मेरा परस्पर अनुराग, रतिम्=सम्भविष्य-सम्मेलन जन्य प्रीति को, कुरुते=उत्पन्न करता है ।

अनुवाद :—(वह शकुन्तला मुझे) बहुत अधिक भले ही प्रिय है (किन्तु) सुलभ नहीं, अर्थात् आराम से मिलने योग्य नहीं । किन्तु (मेरा) मन उसके भावों-अङ्गिक चेष्टाओं को देखने में प्रयत्न पूर्वक लालायित हो रहा है । कामदेव के असफल होने पर भी हम दोनों का पारस्परिक अनुराग अर्थात् परस्पर मिलनोत्कण्ठा प्रीति उत्पन्न करती ही है ।

व्याख्या—दुष्यन्त कहता है फिर (वह शकुन्तला मुझे) बहुत अधिक प्रिय (है) (यदि कहा जाय तो बड़ा अच्छा, वह प्रिया ही है, रहने दीजिये, तो वह कहता है कि नहीं, क्योंकि वह) सुलभ नहीं अर्थात् वह आराम से प्राप्त नहीं हो सकती । (यदि कहा जाय कि तो दुष्प्राप्य वस्तु के लिये प्रयत्न करना व्यर्थ है तो इसके उत्तर में दुष्यन्त कहता है कि) किन्तु मन तो उसकी आङ्गिक चेष्टाओं को देखने में प्रयत्न पूर्वक लालायित हो रहा है (अतः यह कैसे सम्भव है कि उसके लिये प्रयत्न न किया जाय, यह तो तब हो सकता था जब कि मन उस ओर आकर्षित नहीं हुआ था अब तो जबकि मन उसकी आङ्गिक चेष्टाओं के देखने पर मुग्ध हो गया है तो प्रयत्न कैसे छोड़ा जा सकता है) क्योंकि कामदेव के अकृतार्थ होने पर हम दोनों का पारस्परिक अनुराग तो प्रीति उत्पन्न करता ही है । तात्पर्य यह कि भले ही कामदेव दोनों को मिलाने में असमर्थ होने के कारण असफल रहे परन्तु हम दोनों का पारस्परिक प्रेम तो प्रीति उत्पन्न करता ही रहेगा, मिलन हो सके अथवा न हो सके दर्शनोत्कण्ठा तो बढ़ती ही रहेगी अतः प्रयत्न का करना भी स्वाभाविक ही है ।

सारांश यह कि यद्यपि प्रियतमा शकुन्तला का मिलना आसान नहीं है तथापि मेरा मन उसके भावों को देखने के लिये लालायित है, प्रयत्नशील है । इसका कारण यह है कि यदि कामदेव दोनों को मिलाने में सफल नहीं भी होता तो भी दोनों की पारस्परिक मिलनोत्कण्ठा दोनों को आनन्दित करती ही रहती है ।

"कामं प्रिया न सुलभा"

इसका अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है कि—

प्रिया शकुन्तला (कामं=अतिशयेन न सुखलभ्या अर्थात्) बड़ी आसानी से तो सुलभ नहीं है, क्योंकि वह पराधीन है, उसके पिता भी यहाँ नहीं हैं किन्तु अधिक प्रयास के बाद तो मिल ही सकती है । 'किसी पुस्तक में तद्भावदर्शनाश्वासि' भी पाठ है अतः इसका अर्थ है कि मन उसके भावों के देखने से ढाढस-सान्त्वना प्राप्त करता है अतः उसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना तो आवश्यक है । क्योंकि "स्त्रीणामाद्य प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु" के अनुसार प्रयत्न साध्य वस्तु के लिये भी मन का उत्सुक होना स्वाभाविक ही है अतएव वह उसके भाव दर्शन से ही आश्वासन प्राप्त करने लगा है । भले ही काम असफल रहे दोनों को सम्भोगप्राप्ति न हो सके परन्तु दोनों की मिलनोत्कण्ठा तो आनन्दप्रद ही है ।

भावार्थ यह कि बहुप्रयत्न साध्य वस्तु की अप्राप्ति से निराशा अतएव अलब्ध संयोगसुख वाले भी नायक नायिका का पारस्परिक अनुराग दोनों के मन में आनन्द उत्पन्न करता ही है ।

(स्मितं कृत्वा ।) एवमात्माभिप्रायसंभावितेष्टजनचित्तवृत्तिः प्रार्थयिता विडम्ब्यते ।

स्निग्धं वीक्षितमन्यतोऽपि नयने यत्प्रेषयन्त्या तया
यातं यच्च नितम्बयो गुरुतया मन्दं विलासादिव ।
मा गा इत्युपरुद्धया यदपि सा सासूयमुक्ता सखी
सर्वं तत्किल मत्परायणमहो कामी स्वतां पश्यति ॥ २ ॥

विशेष—श्लोक के पूर्वार्ध में कथित विशेष का उत्तरार्ध वर्णित सामान्य द्वारा समर्थन किया गया है अतः **अर्थान्तरन्यास** अलंकार है । वास्तव में "पूर्वार्ध में प्रस्तुत दुष्यन्त के मन के तद्भावदर्शन लालसारूप कार्य का संमर्थन उत्तरार्ध विहित कारण से किया गया है अतः उद्भटादि आचार्यों के मत में, जो किं सामान्य विशेष भाव में ही अर्थान्तरन्यास मानते हैं कार्य कारण भाव में नहीं, यहाँ पर **काव्यलिङ्ग** अलंकार होगा अर्थान्तरन्यास नहीं और दूसरे आचार्यों के मत में जो दोनों में अर्थात् कार्य कारण एवं सामान्य विशेष भाव में अर्थान्तरन्यास मानते हैं, यहाँ अर्थान्तरन्यास होगा ।

मनसिज=कामदेव, अकृतार्थ तथा रति (काम पत्नी) इस प्रकार अर्थ करने से हाँ **यहाँ विरोधाभास** अलंकार भी है क्योंकि रति के रहने पर कामदेव अकृतार्थ कैसे हो सकता है अतः यह विरोध है अतः इसके परिहार के लिये रति का अर्थ काम पत्नी नहीं अनुराग लिया जायेगा । अथवा मनसिजः अकृतार्थः अपि रति=सुरतं कुरुते इस प्रकार भी विरोध हो सकता है दोनों के लिए वही परिहार है । क्योंकि "रतिः कामस्त्रियाँ रागे सुरतेऽपि रतिः स्मृता" इति धरणिः । **श्रुत्यनुप्रास अलंकार । आर्या छन्द** (लक्षण पहिले लिखा जा चुका है) ।

सु+लभ+खल=सुलभा । मनसि जातः—मनसि जन+ड=मनसिजः । रम्+क्तिन्=रतिः ।

संस्कृत व्याख्या—"(सा-शकुन्तला) कामं—अत्यर्थं प्रिया प्रियतमा इत्यर्थः (किन्तु) सुलभा=सुखेन लभ्या न (अस्ति) बहुप्रयत्नसाध्या इत्यर्थः (तर्हि दुष्प्राप्ये वस्तुनि किं प्रयत्नेनेत्याशंक्याह) तु—किन्तु मनः मम हृदयं, तस्याः (शकुन्तलायाः) भावाः—(अनुराग-व्यंजकस्निग्धकटाक्षादिचेष्टाविशेषाः) तद्भावाः तेषां दर्शने आयासि= खेद युक्तम् प्रयत्न-पूर्वकं लालसमित्यर्थः (आश्वासि इति पाठे तद्भावदर्शनेन तत्प्राप्तिसम्भावनया प्राप्तानन्द भवतीत्यर्थः । मनसि जातः मनसिजस्तस्मिन् मनसिजे कामे कृतः सफलीभूतः अर्थः प्रयोजनं यस्य स कृतार्थः न कृतार्थः अकृतार्थ तस्मिन् अकृतार्थे तत्संभोगानुपपत्त्या अचरितार्थे (हति अपि) उभयोः प्रार्थना उभयप्रार्थना प्रियाया मम च परस्परानुरागः रति भावि-सम्मिलनोत्सुक तां, प्रीतिम् कुरुते=समुत्पादयति । बहुप्रयत्नलभ्य-समागमेन हताशयोरपि तयोः पारस्परिकानुरागोऽद्भुतं कमप्यानन्दमुत्पादयतीति भाव : ।

कोई आचार्य इस श्लोक में राजा दुष्यन्त की शकुन्तला के लिये उत्कट अभिलाषा होने के कारण **विलास नामक प्रतिमुख सन्धि का प्रथम अङ्ग है** ऐसा मानते हैं जैसा कि दर्पणकार ने कहा है :—

"समीहा रति भोगार्था विलास इति कथ्यते" दशरूपक में भी रत्यर्थेहा विलासः स्यात् इति !

स्मितं कृत्वा इति, (कामिनां अलीके वस्तुनि अपि सत्यताबुद्धिः भवतीति नियमात् अर्थात् कामी स्वार्थान्ध होता है, वह सर्वत्र ही स्वत्व देखता है, अतएव असत्य वस्तु में भी उसे सत्यता प्रतीत होने लगती है अतः राजा अपनी भ्रान्ति सूचक ईषद् हँसी हँसकर) मुस्करा कर, एवम्=इसी प्रकार अर्थात् मेरे ही समान (जो व्यक्ति) आत्माभिप्रायेण (स्वाशय द्वारा

सम्भाविता=कल्पिता स्थिरीकृता इष्ट जनस्य प्रिय-जनस्य चित्तवृत्तिः मनोगतभावः येन स तथोक्तः प्रार्थयिता कामीजनः विडम्ब्यते=वञ्चितो भवति वञ्च्यते प्रतार्य्यते अर्थात् अपने ही मनोगत भावों के समान ही अपने इष्ट जन (प्रिय जन अभिलाषिता नायिका) की चित्तवृत्ति को समझने लगता है वह कामी व्यक्ति इसी प्रकार धोखा खाता है, उपहास्य योग्य होता है। **विशेषे प्रस्तुते सामान्योक्तेरप्रस्तुत प्रशंसालंकार :)** अर्थात् जैसीं मेरी (दुष्यन्त की) चित्तवृत्ति शकुन्तला में है वैसी ही उसकी भी मेरे लिये होगी इस बात को मानकर मैं प्रतारित हुआ" यह प्रस्तुत विशेषार्थ था परन्तु यहाँ सामान्य से कथन किया गया है अतः अप्रस्तुत प्रशंसालंकार है।

श्लोक २ अन्वय—अन्यतः नयने प्रेषयन्त्या अपि तया यत् स्निग्धं वीक्षितम्, विलासात् इव यत् च नितम्बयोः गुरुतया यातम्, मा गा. इति उपरुद्धया (तया) यत् अपि सा सखी सासूयं उक्ता, तत् सर्व मत्परायणं किल; अहो-कामी स्वतां पश्यति।

शब्दार्थ—अन्यतः=दूसरी ओर—लता वृक्षादि पर, प्रेषयन्त्या=डालती हुई यत् =जो कि, स्निग्धम्=अभिलाषा पूर्वक वीक्षितम्=बहाने के साथ नेत्रतारिकाओं को घुमाते हुये देखा था, विलासात् इव=मुझे ही मानो उद्देश्य करके कटाक्ष, भ्रू विक्षेप, हस्तचालनादि आङ्गिक क्रियाओं में कुछ विशेषता दिखाती हुई सी होने के कारण, गुरुतया=स्थूलता के कारण, यातम्=चली थी, मा गाः=मत जाओ, इति उपरुद्धया=मत जाओ यह कह कर सखी द्वारा रोकी गई उसके द्वारा, सासूयम्=ईर्ष्या पूर्वक, उक्ता=कही हुई, मत्परायणं=मेरे ही लिए, अहो=आश्चर्य सूचक अव्यय, स्वतां=आत्मीयता को अन्य विषयक भावना को भी अपनी समझना।

अनुवाद—अन्यतः अर्थात् दूसरी ओर लता वृक्षादि पर नेत्रों को डालते हुये भी जो उसने अभिलाषा पूर्वक (मुझे ही) देखा था। तथा विलास पूर्वक देखने के लिये मानो जो वह नितम्वों की स्थूलता के कारण धीरे-धीरे चली थी और "मत जाओ" यह कह कर (सखी द्वारा) रोकी गई उसने जो ईर्ष्या पूर्वक सखी से कहा था वह सब कुछ सम्भवतः मेरे ही लिये था आश्चर्य है कि कामी सर्वत्र अपनत्व ही देखता है।

व्याख्या—दुष्यन्त कहता कि इधर-उधर दूसरी ओर लतावृक्षादि पर नेत्रों को स्पष्ट रूप से डालते हुये भी जो उस शकुन्तला ने अभिलाषा पूर्वक (मुझे ही) देखा था (यद्यपि वह, सखियों के समक्ष होने के कारण या स्वाभाविक लज्जावश, स्पष्ट रूप से तो लता वृक्षादि पर देख रहीं थी फिर भी जो उसने किसी बहाने से नेत्र तारिकाओं को घुमा कर मुझे प्रेम पूर्वक देखा था) तथा विलास पूर्वक मुझे देखने के लिये ही मानो जो वह नितम्बों की स्थूलता के कारण धीरे-धीरे चली थी, और 'मत जाओ' कह कर जब वह अपनी सखी के द्वारा रोकी गई तो उसने उसी सखी (रोकने वाली) से भ्रू भङ्ग सूचित ईर्ष्या पूर्वक कहा था, वह सब अर्थात् सानुराग मुझे देखना, विलासपूर्वक मुझे देखते हुये मन्द-मन्द चलना एवं रोके जाने पर सखी से झिड़कते हुये कहना, यह सब कुछ मेरे ही लिए था अर्थात् इन सब बातों से अपना मुझ पर अनुराग सूचित कर मुझे अपनी ओर आकर्षित करना था, स्वाभाविक नहीं, आश्चर्य है कि कामी सर्वत्र अपनत्व ही देखता है अर्थात् दूसरे के भी भावों को अपने जैसा ही समझने लगता है यह आश्चर्य की बात है।

विशेष—यानस्थानासनादीनां मुखनेत्रादिकर्मणाम्, विशेषस्तु विलासः स्याद् इष्टसन्दर्शनादिना "विलासो हावभेदे स्यात्" अथवा "यो वल्लभासन्नगतो विकारो गत्यासनस्थानविलोकनादौ इत्यदि अर्थात् प्रिय जन को समीपवर्ती देखकर जो चाल, स्थान, आसन, अवलोकन भाषण आदि में एक विशेष प्रकार की नवीनता स्फूर्ति या मधुरता आ जाती है उसे **विलास नामक हाव** कहते हैं।

विदूषक—(तथास्थित एव), भो वअस्स ! ण मे हत्थपाआ पसरंति वाआमे त्तएण जीआवइस्सं [भो वयस्य ! न मे हस्तपादं प्रसरति । वाङ्मात्रेण जापयिष्यामि]

राजा—(सस्मितम् ।) कुतोऽयं गात्रोपघातः ? ।

विदूषकः—कुदो किल सअं अच्छी आउलीकरिअ अस्सुकारणं पुच्छेसि ? [कुतः किल स्वयमक्ष्याकुलीकृत्याश्रुकारणं पृच्छसि ? ।]

राजा—न खल्ववगच्छामि ।

विदूषकः—भो वअस्स ! जं वेदसो खुज्जलीलं विडम्पेदि तं कि अत्तणो पहावेण णं णईवेअस्स ? । [भो वयस्य ! यद्वेतसः कुब्जलीलां विडम्बयति तत्किमात्मप्रभावेण ननु नदीवेगस्य ? ।]

राजा—नदीवेगस्तत्र कारणम् ।

विदूषकः—मम वि भवं । [ममपि भवान् ।]

राजा—कथमिव ? ।

सामान्य द्वारा विशेष का समर्थन होने से **अर्थान्तरन्यास**, विलासात् इव में हेतूत्प्रेक्षा, **कारकदीपकालंकार**, यन्त्या यातम् तया तया **छेकानुप्रास**, और पूर्वार्ध वृत्यनुप्रास के साथ उसका एक वाचकानुप्रवेशलक्षणः **संकर**, उत्तरार्ध में **वृत्यनुप्रास, स्वभावोक्ति** अलंकार।

शार्दूलविक्रीडित छन्द (लक्षण लिखा जा चुका है)

वि+ईक्ष्+क्त=वीक्षितम, गुरु—तल् तृतीयैक वचने गुरुतया, या धातो; भावे क्त=यातम्, असूयया सह-अव्ययीभाव समासः; सहस्य सादेशः । वच्+क्त=उक्त, कर्मणि प्रत्ययः । कामः अस्यास्तीति कामी इन् प्रत्ययः । स्वस्य भावः स्वता तल् प्रत्ययः । मा गाः इत्यत्र इण् गतौ लुङि मध्यम पुरुषैक वचने रुपम्, इणः गादेशः माङ् योगे अडभावः ।

संस्कृत व्याख्या—अन्यतः—अन्यत्र वस्तुनि अन्यस्यां दिशि, नयने—नेत्रयुगलं, प्रेषयन्त्या=स्फुट पातयन्त्या अपि तथा शकुन्तलया यत् स्निग्धं—साभिलाषं यथा स्यात्तथा वीक्षितम्—सव्याजं अवलोकितम्, विलासन् इव—मावलोक्य उद्दिश्य वा कटाक्षहस्तसंचालनादिक्रियासु वैशिष्ट्यं उपपाद्य इव नितम्बयोः कटिपश्चाभदागयोः गुरुतया स्थूलतया मन्दं शनैः शनैः मन्थरमिति यावत् मृदु यथा स्यात् तथा यातम्, अपि च मा गाः—न गच्छ इति इत्थमुक्त्वा उपरुद्धया-निवारितगमनया तथा शकुन्तलया सा सखी (उपरोधकारिणी) असूयया सहितं सासूयम् यथा स्यात् तथा उक्ता कथिता तत् सर्वं अवलोकनगमनकथनादिकं मत्परायणम् (अहमेव परं अयनम् विषयः आश्रयो वा यस्य तजु मत्परायणम् मदनुरागप्रकटनपरम्

(आसीत्) किल-इति सम्भावयामि इत्यर्थः, अहो आश्चर्यसूचकं अव्ययम्, कामी-विषयाभिलाषी जनः स्वतां आत्मीयताम् पश्यति सम्भावयति ।

विदूषक—(उसी प्रकार अङ्ग भङ्ग कर डंडे के सहारे बैठा हुआ ही) हे मित्र ! मेरे हाथ पैर नहीं चलते (फैलते नहीं) इसलिए मैं वचनों द्वारा ही जापयिष्यामि-जय जय शब्दों (आपकी जय हो आपकी जय हो) का उच्चारण करूँगा ।

राजा—मुस्कराते हुए, यह तुम्हारा शरीर क्यों जकड़ गया है ?

विदूषक—स्वयं ही आँख फोड़कर (आकुली कृत्य=नष्ट कर, अस्त व्यस्त कर

विदूषकः—एव्वं राअकज्जाणि उज्झिअ तारिसे आउलप्पदेसे वणचरवुत्तिणा तुए होदव्वं। जं सच्चं पच्चहं सावदसमुच्छारणेहिं संखोहिअसंधिबंधाणं मम गत्ताणं अणीसो म्हि संवुत्तो। ता पसादइस्सं विसज्जिदुं मं एक्काहं वि दाव विस्समिदुं।

[एवं राजकार्याण्युज्झित्वा तादृश आकुलप्रदेशे वनचरवृत्तिना त्वया भवितव्यम्। यत्सत्यं प्रत्यहं श्वापदसमुत्सारणैः संक्षोभितसंधिबन्धानां मम गात्राणामनीशोऽस्मि सवृत्तः। तत्प्रसादयिष्यामि विसर्जितुं मामेकाहमपि तावद्विश्रमितुम्।

राजा— (स्वगतम्।) अयं चैव माह। ममापि काश्यपसुतामनुस्मृत्य मृगयाविक्लवं चेतः। कुतः?

न नमयितुमधिज्यमस्मि शक्तो
धनुरिदमाहितसायकं मृगेषु।
सहवसतिमुपेत्य यैः प्रियायाः
कृत इव मुग्धविलोकितोपदेशः॥ ३॥

घुमाकर) आँसुओं का कारण पूछते हो? ऐसा क्यों (तात्पर्य यह कि तुम ही तो इस दुःख के कारण हो और फिर तुम्ही दुःख का कारण पूछते हो।

राजा—मैं तुम्हारी बात का आशय नहीं समझ रहा हूँ।)

विदूषक—हे महाराज! जो कि बेंत (नदी के किनारे उगने वाली वानीर लता विशेष) कुबड़े कुब्ज जिसकी पीठ पर टंडीरा निकल आता है अर्थात् पीठ ऊँची हो जाती है शरीर भुक जाता है) की लोला, काम=कुबड़ा जैसे भुककर चलता है वैसे ही) का अनुकरण करता है (विडम्बयति) वह क्या अपने मन से अर्थात् जान बूझकर अथवा नदी के वेग के कारण? (इन दोनों में कौन सी बात ठीक है? वही बात मेरे विषय में भी लागू होती है।

राजा—बेंत का भुकने का कारण तो नदी का वेग है।

विदूषक—तो मेरे भुक जाने. कुबड़े जैसे बन जाने के कारण भी आप हैं।

राजा—कैसे

विदूषक—क्योंकि तुम राज काज छोड़कर वैसे (मनुष्यों के लिए दुर्गम) आकुल प्रदेश में (जंगली जन्तुओं से भरे हुए) वनों में सर्वथा बहेलिया बन गये हो, (क्योंकि अब भी तुम शिकार खेलना नहीं छोड़ रहे हो।) यह सच है कि प्रतिदिन जंगली जानवरों के उत्सारण से (उठाने तथा उनका पीछा करने से) जिस मेरे शरीर के अङ्गों के सन्धि के सब बन्धन ढीले पड़ गये हैं या अस्त व्यस्त हो अपनी निश्चित जगह से हट गये हैं अब मैं उन अङ्गों को सम्भालने में असमर्थ (अनीशः) हो गया हूँ (सम्वृत्तः) अर्थात् अब इन अंगों मैं कुछ काम नहीं ले सकता ये सब बेकार हो गये हैं। इसलिए आप एक दिन के लिए भी विश्राम करने को मुझे छोड़ देने के लिए प्रसन्न हों अर्थात् मैं आप को प्रसन्न करूँगा कि कि आप मुझे एक दिन के लिये भी विश्राम के लिए छोड़ दें।

राजा— (अपने मन में) इसने भी ऐसा कहा हैं, और शकुन्तला की (काश्यप=कण्व, सुता=पुत्री) याद कर करके मेरा भी चित्त शिकार से विरक्त हो गया, ऊब गया है (मृगया=शिकार, विक्लवं=विह्वल—विकल—विरक्त) क्योंकि

श्लोक ३ अन्वय—अधिज्यं अहितसायकं इदं धनुः मृगेषु नमयितुम् न शक्तः अस्मि यैः सहवसति उपेत्य प्रियायाः मुग्धविलोकितोपदेशः कृतः इव।

विदूषकः—(राज्ञो मुखं विलोक्य ।) अत्तभवे किं वि हिअए करिअ मंतेदि। अरण्णे मए रुदिअं आसि । [अत्रभवान् किमपि हृदये कृत्वा मन्त्रयते । अरण्ये मया रुदितमासीत् ।)

राजा—(सस्मितम् ।) किमन्यत् ? अनतिक्रमणीयं में सुहृद्वाक्यमिति स्थितोऽस्मि ।

शब्दार्थ—अधिज्यम्=ज्या=प्रत्यञ्चा, धनुष की डोरी, अधि=ऊपर खींचना, चढ़ाना, अर्थात् जिसकी प्रत्यञ्चा चढ़ी हुई है, आहितसायकम=आहित=चढ़ाया हुआ या आरोपित किया हुआ, सायक=वाण अर्थात् जिस पर वाण का सन्धानआरोपण कर लिया गया है ऐसे इदम्=इस धनुष को, नमयितुजे=कान तक प्रत्यञ्चा खींच कर वाण को चलाने के लिए, शक्तः=समर्थ, सहवसतिं=सहवास—साथ-साथ रहना, उपेत्य=प्राप्त कर मुग्धविलोकितोपदेशः=अर्थात् स्वभाव सुन्दर अवलोकन उपदेश ।

अनुवाद—जिसकी प्रत्यञ्चा चढ़ी हुई और जिस पर वाण चढ़ा लिया गया है ऐसे इस धनुष् को मैं उन मृगों पर चलाने के लिए समर्थ नहीं हूँ, जिन्होंने प्रिया शकुन्तला के साथ-साथ रहकर अर्थात् सहवास जन्य प्रीति प्राप्त कर मानो उसे स्वभावतः सुन्दर अवलोकन के लिये उपदेश दिया है ।

व्याख्या—दुष्यन्त अपने मन में कहता है कि (मैं) जिसकी प्रत्यञ्चा चढ़ी हुई उन मृगों पर चलाने के लिए वाण भी चढ़ा लिया गया है ऐसे इस धनुष को उन मृगों पर चलाने के लिए समर्थ नहीं हूँ (क्यों असमर्थ हूँ इसका कारण बतलाता हुआ कहता है कि) जिन हिरणों ने सहवास जन्य मैत्री प्राप्त कर प्रिया शकुन्तला को स्वभाव सुन्दर अवलोकनों का मानो उपदेश दिया हैं । तात्पर्य यह कि ये हिरण तपोवन में शकुन्तला के साथ रहने के कारण उसे पूर्णतया घुल मिल गये हैं अतएव इन्होंने ही मानो उसको स्वभावतः सुन्दर अवलोकन के लिए उपदेश दिया है अर्थात् तपोवनवासिनी होने के कारण शकुन्तला के अवलोकनों में हाव-भाव कटाक्षादि की जो कमी थी उसको इन मृगों ने ही सिखा कर पूरा कर दिया है अतएव ये मेरे लिए अवध्य हैं यही कारण है कि धनुष चढ़ा हुआ है उस पर वाण भी है पर फिर भी मैं उसको इन मृगों पर छोड़ नहीं सकता । कहीं-कहीं लोचनकान्ति संविभागः भी पाठ है अतः उसका अर्थ है नेत्रों की शोभा का पूर्णरूप से विभाग कर दे देना।

विशेष—यहाँ पूर्वार्धवाक्य के शक्त्यभाव रूप अर्थ के प्रति उत्तरार्ध वाक्यगतार्थ कारण रूप से बतलाया गया है अतः वाक्यार्थ हेतुक **काव्यलिङ्ग** अलंकार है । "कृत इव" यहाँ पर **उत्प्रेक्षालङ्कार** है । इन दोनों का **अङ्गाङ्गिभाव** संकर है, **वृत्त्यनुप्रास** के साथ **श्रुत्यनुप्रास की संसृष्टिः** है । क्योंकि यहाँ पर नकारादि १६ दन्त्यवर्ण हैं अतः श्रुत्यनुप्रास है । यहाँ पर मृगलोचन की तरह शकुन्तला के नेत्र सुन्दर हैं **उपमालंकार** भी ध्वनित होता है ।

यह **पुष्पिताग्रा** छन्द है (लक्षण लिखा जा चुका है) ।

ज्यामधिगत मधिज्यम् । शक्ल धातोः क्त=शक्तः । आहितः—धृतः—धा धातोः क्तः हि आदेशः । उप+इण्+क्त्वा—ल्यप् तुक् । वि+लोक् भावे क्त, उप+दिश्+घञ्= विलोकितोपदेशः, मुह्+क्त=मुग्ध ।

संस्कृत व्याख्या—अधि=अधिगता आरूढा वा ज्या मौर्वी यस्मिन् तत् अधिज्यम्, आहितः संयोजितः सायकः वाणः यस्मिन् तत् आहितसायकम् इदं पुरोदृश्यमानं धनुः (तेषु) मृगषु-हरिणेषु नमयितुम् ज्याकर्षणेन आकृष्टम् व्यापारयितुम् न शक्तःसमर्थः अस्मि, यैः मृगैः सहवसतिं=सहवासं, एकत्रवासजन्यमित्रत्वं उपेत्य=प्राप्य प्रियाया शकुन्तलायाः मुग्धानि=

विदूषकः—चिरं जीअ । [चिरंजीव ।] (इति गन्तुमिच्छति ।)

राजा—वयस्य ! तिष्ठ; सावशेषं मे वचः ।

विदूषकः—आणवेदु भवं । [आज्ञापयतु भवान् ।]

राजा—विश्रान्तेन भवता ममाप्यनायासे कर्मणि सहायेन भवितव्यम् ।

विदूषकः—किं मोदखण्डिआए ? तेण हि अअं सुगहीदो खणो । [किं मोदकखण्डिकायाम् ? तेन ह्ययं सुगृहीतः क्षणः ।]

राजा—यत्र वक्ष्यामि । कोऽत्र भोः ।

(प्रविश्य ।)

दौवारिकः— (प्रणम्य ।) आणवेदु भट्टा । [आज्ञापयतु भर्ता ।]

राजा—रैवतक ! सेनापतिस्यावदाहूयताम् ।

दौवारिकः— तह । [तथा ।] (इति निष्क्रम्य सेनापतिना सह पुनः प्रविश्य ।) ऐसो अण्णावअणुक्कंठो भट्टा इदो दिण्णदिट्ठी एव चिट्ठदि । उवसप्पदु अज्जो । [एष आज्ञावचनोत्कण्ठो भर्ता इतो दत्तदृष्टिरेव तिष्ठति । उपसर्पत्वार्यः ।]

सेनापतिः—(राजानमवलोक्य) दृष्टदोषापि स्वामिनि मृगया केवलं मण एव संवृत्ता । तथा हि देवः—

स्वभावसुन्दराणि अवलोकितानि विलोकनानि तेषां उपदेशः (अज्ञात ज्ञापमम् उपदेशः) बालत्वात् ब्रह्मचारित्वाच्चानधिगतहावभाद त्वेन सहजसुन्दराणि विलोकनानि तेषामुपदेशः कृतः इव ।

विदूषक—राजा के मुख को देखकर (कहता है) आप तो अपने मन में ही कुछ कह रहे हैं अर्थात् तुम अपने मन ही मन न जाने क्या क्या सोच रहे हो (मैंने तुम से जो कहा) मानों वह अरण्यरोदन था (अरण्यरोदन=जंगल में रोना) जिसे कोई न सुन सकने के कारण जैसे अरण्यरोदन व्यर्थ जाता है उसी प्रकार यह मेरा वचन-कथन भी बेकार हुआ ।

राजा—मुस्करा कर, और क्या, मुझे मित्र की बात नहीं टालनी है इसीलिये चुप रह गया ।

विदूषक—आप चिरञ्जीवी हो (यह कह कर जाना चाहता है ।)

राजा—मित्र ! ठहरो, अभी मेरी बात शेष है अर्थात् पूरी बात नहीं हो पाई है ।

विदूषक—कहिये जो कुछ शेष रह गया है ।

राजा—आप विश्राम कर लेने के बाद मेरे एक अनायास=बिना परिश्रम साध्य कार्य में सहायक बनें ।

विदूषक—तो क्या लड्डू खाने के काम में (कहीं खण्डिकायां यह पाठ है, खण्डिका =टुकड़े करना लड्डू फोड़ने के काम में) इससे तो यह बड़ा अच्छा अवसर प्राप्त हुआ तो लड्डू फोड़ना स्वीकार किया ।

राजा—मैं बतलाऊँगा जहाँ ! यहाँ कौन है ?

प्रवेश करके

दौवारिक—"नीचेषु प्राकृतं भवेत्" इस कथन वश दौवारिक (द्वार पाल) प्रणाम कर (प्राकृत में) कहता है आज्ञापयतु भर्ता" भट्टेति नाधमैः इस कथन के अनुसार भट्ट या भर्ता राजा के लिये प्रयुक्त होता है) अर्थात् आज्ञा दीजिए ।

अनवरतधनुर्ज्यास्फालनक्रूरपूर्वं
रविकिरणसहिष्णु स्वेदलेशैरभिन्नम् ।
अपचितमपि गात्रं व्यायतत्वादलक्ष्यं
गिरिचर इव नागः प्राणसारं बिभर्ति ॥४॥

(उपेत्य) जयतु स्वामी; गृहीतश्वापदमरण्यम् । किमन्यत्रावस्थीयते ?।

राजा—रैवतक ! (द्वारपाल का नाम) सेनापति को तो बुलाओ। (सेनापति का लक्षण लिखा जा चुका है ।)

दौवारिक—तथा अर्थात् ऐसा ही होगा, कह कर निकल कर और सेनापति के साथ फिर प्रवेश कर कहता है कि यह आज्ञा देने के लिये उत्कण्ठित राजा इधर दृष्टि लगाये हुए बैठे हैं (आज्ञा वचन=आज्ञा देना) अतः आर्य ! आप पास जायँ ।

सेनापति—राजा को देखकर, यद्यपि मृगया में पशु वध जन्य अनेकों दोष देखे जाते हैं अर्थात् यद्यपि मृगया अनेक दोषविनिन्दिता हैं तथापि स्वामी आपके विषय में वह भी गुण बन गई है क्योंकि आप

"राजा स्वामीति देवेति भृत्यैरिति वचनात् "देव" यह सम्बोधन है ।"

श्लोक ४ अन्वयः—गिरचरः नागः इव (देवः) प्राणसारं अनवरत-धनुर्ज्यास्फालनक्रूरपूर्वम्, रविकिरणसहिष्णु, स्वेदलेशैः अभिन्नं अवचितम् अपि व्यायतत्वात् अलक्ष्यं गात्रं बिभर्ति ।

शब्दार्थ—गिरिचरः=पर्वतों पर चलने वाला, नागः=गज, प्राणसारं=बल ही जिसमें स्थिरांश है अर्थात् बलशाली, अनवरत····पूर्वम्=लगातार धनुष की डोरी खींचने से जिसका पूर्व भाग कठोर हो गया है, रविकिरणसहिष्णु=सूर्य-किरणों को सहन करने वाला अर्थात् धूप से न घबड़ाने वाला, स्वेदलेशैः अभिन्नम्=थोड़े से भी पसीने से रहित, अपचितम्=परिश्रम से क्षीण दुबला, व्यायतत्वात्=विशाल एवं दृढ़ होने के कारण, अलक्ष्यम्=दुर्बल सा न दिखलाई पड़ने वाला, बिभर्ति=धारण करता है ।

अनुवाद—पर्वत चारी गज के समान (शक्ति शाली) आप निरन्तर धनुष की प्रत्यञ्चा खींचने से (जिस आप के शरीर का) पूर्व-अगला-भाग कठोर हो गया है जो सूर्य की किरणों को सहन करने वाला, पसीने से सर्वथा रहित एवं (परिश्रम के कारण) क्षीण भी जो दृढ़ एवं विशाल होने के कारण लक्षित नहीं होता, तथा जो शक्तिसम्पन्न है। अर्थात् कमजोर ज्ञात नहीं होता, ऐसे शरीर को धारण करते हैं ।

व्याख्या—पर्वतचारी हाथी के समान शक्तिशाली आप, निरन्तर धनुष की प्रत्यञ्चा खींचने के कारण जिस आपके (शरीर का) पूर्व भाग=अगला हिस्सा कठोर=दृढ़ हो गया है, जो सूर्य की किरणों को सहन करने वाला अर्थात् धूप से व्याकुल न होने वाला तथा पसीने से सर्वथा रहित, परिश्रम के कारण क्षीण भी जो दृढ़ एवं विशाल होने के कारण लक्षित नहीं होता अर्थात् कमजोर ज्ञात नहीं होता, ऐसे शरीर को धारण करते हो ।

अनवरत आदि पद से राजा के शरीर का दिव्यास्त्रसहन करने योग्य होना ध्वनित होता है, एवं रविकिरण आदि पद से शरीर का दुःख-सहिष्णुत्वा स्वेद, इत्यादि पद से श्रमशीलत्व ध्वनित किया गया है । इसी प्रकार अपचितमपीत्यादि पद से महापुरुष चिह्नों को अभिव्यक्त किया गया है । पर्वतचारी से उसका स्वातन्त्र्य द्योतित किया गया है ।

उपर्युक्त सभी विशेषण गज के पक्ष में भी लगाये जा सकते हैं । गज पक्ष में अनवरतेत्यादि पद का अर्थ होगा—"प्रयाल द्रुम की भूमि में आस्फालन (घर्षण) से जिस

राजा—मन्दोत्साहः कृतोऽस्मि मृगयापवादिना माढव्येन ।

सेनापति—(जनान्तिकम् ।) सखे ! स्थिरप्रतिबन्धो भव । अहं तावत्स्वामिनश्चित्तवृत्तिमनुवर्तिष्ये । (प्रकाशम् ।) प्रलपत्वेष वैधेयः । ननु प्रभुरेव निदर्शनम्—

मेदश्छेदकृशोदरं लघु भवत्युत्थानयोग्यं वपुः।
सत्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयोः ।

हाथी के शरीर का अग्रभाग कठोर हो गया है । आतप सहन करने वाला एवं प्रस्वेदशून्य क्षीण भी विशालकाय होने के कारण अलक्षित, एवं शक्तिशाली शरीर धारण करता है ।

विशेष:—वर रवि णस णस आदि में छेद वृत्ति एवं श्रुत्यनुप्रास हैं, साभिप्राय विशेषणों के होने के कारण परिकरालंकार, श्लेष तथा उपमा अलंकार है ।

मालिनी छन्द है (लक्षण लिखा जा चुका है ।)

गिरि इति सप्तम्यन्ते उपपदे 'चरेष्ट' इति चरधातोः टप्रत्यये गिरिचर । सह+इष्णुच्=सहिष्णु । भिदिर्+क्त=भिन्नम् । अप+चि+क्त=अपचितम् । लक्ष्+यत्=लक्ष्यम् । वि+भृ=लटि रुपम्-विभर्ति ।

संस्कृत व्याख्या—गिरौ चरतीति गिरिचरः—पर्वतीयः, नागः=गजः इव देवः (दुष्यन्तः) प्राणो वलं एव सारः स्थिरांशो यत्र तत् प्राणसारं शक्तिसम्पन्नं, अनवरतं निरन्तरं यत् धनुषः शरासनस्य ज्यायाः मौर्व्याः आस्फालनं कर्षणं तेन क्रूरं कठोरं कठिनं वा पूर्वः शरीरस्य पूर्वभागः यस्य तत् अनवरतधनुर्ज्यास्फालनक्रूरपूर्वम्, अनेन तस्य गात्रस्य दिव्यास्त्रसहनक्षमत्वं व्यज्यते, रवेः सूर्यस्य किरणान् रश्मीन् सोढुं शीलं यस्य तत् रवि-किरणसहिष्णु, स्वेदस्य लेशैः स्वेदलेशैः धर्मजन्यप्रस्वेदकणैः अभिन्नं असंस्पृष्ट, अनेन तस्य शरीरस्य दुःखश्रममहिष्णुत्वं ध्वनितम् अपचितम् मृगयाजन्यपरिश्रमेण क्षीणं अपि व्यायतत्वात् विशालत्वात् दृढत्वाच्च शरीरस्य, अलक्ष्यं कृशत्वेन न लक्ष्यम् एवम्भूतं गात्रं शरीरं विभर्ति पुष्णाति । गज पक्षे तु अनवरतं धनुषः प्रियालतरोः ज्यायाः भूमेः आस्फालनेन घर्षणेन क्रूरं कठिनीकृतं पूर्वभागो यस्य तत् इति अनवरतधनुर्ज्यास्फालनक्रूरपूर्वं आतपसहिष्णु प्रस्वेदशून्यं तथा क्षीणमपि विशालस्थूलकायत्वात् अलक्ष्यं गात्रं पर्वतीयः गजः विभर्ति । "धनुस्संज्ञा प्रियालद्रौ राशिभेदे शरासने इति विश्वः, ज्या मौर्वी च वसुन्धरे इति धरणिः ।

(पास जाकर) महाराज की जय हो ।

जंगल में (आखेट के) पशु घेर लिये गये हैं !

(श्वापद=जंगली जानवर) तो अब और क्या करना है ।

राजा—शिकार की निन्दा करने वाले माढव्य ने मेरा सारा उत्साह ठंडा कर दिया है ।

सेनापति—(मुँह फेरकर विदूषक से) मित्र ! तुम अपनी बात पर डटे रहना अर्थात् इसी प्रकार तुम शिकार का विरोध करते रहना और मैं तो महाराज की चित्तवृत्ति का अनुसरण कर रहा हूँ अर्थात् जैसा स्वामी का मन देखूँगा वैसी ही बात करूँगा । (प्रकट) महाराज ! यह मूर्ख तो व्यर्थ में बक रहा है इसे बकने दीजिये । (प्रतिबन्ध=आग्रह, वैधेयः=मूर्ख (अज्ञे मूढयथाजातमूर्खवैधेयबालिशः अमरकोशः) महाराज स्वयं ही प्रमाण हैं (निदर्शनम्=शिकार के गुण के विषय में दृष्टान्त हैं ।)

श्लोक ५ अन्वय—बपुः मेदश्छेदकृशोदरं (अतएव) लघु (सत्) उत्थानयोग्यं भवति, अपि च सत्त्वानां भयक्रोधयोः विकृतिमत् चित्तं लक्ष्यते, चले लक्ष्ये यत् इषवः सिद्ध-

उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिध्यन्ति लक्ष्ये चले
मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग्विनोदः कुतः ॥५॥

विदूषक—अत्तभवं पकिदि आपण्णो। तुम दाव अडवीदो अडवीं आहिंडन्तो णरणासिआलोलुवस्स जिण्णारिच्छस्स कास्स वि मुहे पडिस्ससि। [अत्रभवान्प्रकृतिमापन्नः। त्वं तावदटवीतोऽटवीमाहिण्डमानो नरनासिकालोलुपस्य जीर्णऋक्षस्य कस्यापि मुखे पतिष्यसि।]

स च धन्विनां उत्कर्षः (भवति) मृगयाम् मिथ्या एव व्यसनं वदन्ति (मन्वादयः) ईदृग् विनोदः कुतः (न कुतोऽपि)

शब्दार्थ—वपुः=शरीर, मेदश्छेदकृशोदरं=चर्बी के कम होने जाने से जिसका=(शरीर का) उदर पतला हो जाता है, लघु=हलका, सत्त्वानाँ=सिंहव्याघ्रादि जन्तु विकृतिमत्=विकार युक्त, लक्ष्यते=चेष्टा विशेष देखने से जान लिया जाता है, चले=चञ्चल गतिमान्, इषवः=वाण सिद्ध यन्ति=सफल होते हैं, उत्कर्षः=निपुणता मृगयाम्=शिकार को ईदृक्=ऐसा विनोदः=मनोरंजन।

अनुवाद:—(मृगया जन्य परिश्रम से) शरीर, चर्बी के छट जाने से पतले उदर वाला (अतएव) हल्का (होकर) उद्योग करने योग्य हो जाता है। भय अथवा क्रोध के समय अन्य जीवों का विकारग्रस्त चित्त भी ज्ञात हो जाता है। जो कि धनुर्धारियों के वाण चञ्चल लक्ष्य पर भी सिद्ध हो जाते हैं यह (उनकी) बड़ी निपुणता है। मनु आदि ऋषि मृगया को व्यर्थ ही में दुर्व्यसन कहते हैं; ऐसा मनो विनोद और कहाँ से हो सकता है अर्थात् कहीं से भी नहीं।

व्याख्या—सेनापति राजा से कहता है कि मृगया की उपकारिता के सम्बन्ध में तो आप ही प्रमाण हैं आप देखें :—

(मृगया के परिश्रम से) मेद। (चर्बी) कम हो जाती है अतएव निकला हुआ पेट सिकुड़ जाता है, जिससे शरीर हल्का और फुर्तीला होकर उद्योग करने योग्य बन जाता है (उद्योगे च तथोत्थानम्" इस कोष के अनुसार) भय अथवा क्रोध के समय वन्य जीवों का विकृतचित्त मनोविकार भी ज्ञात हो जाता है अर्थात् भयभीत जन्तु की मनोवृत्ति कैसी होती है तथा क्रोधित जन्तु किस प्रकार चेष्टायें करता है इत्यादि बातों का ज्ञान मृगया से ही होता है। जो कि धनुर्धारियों का वाण चल लक्ष्य पर सिद्ध हो जाता है अर्थात् चल लक्ष्य पर भी चूकता नहीं, यही तो धनुर्धारियों की प्रथम निपुणता या विशेषता की बात है तात्पर्य है कि वही धनुर्धर सर्वश्रेष्ठ माना जाता है जो कि चल लक्ष्य को भी वेध सकता है और यह शक्ति उसमें मृगया के अभ्यास से हो आती है। (इतनी उपकारिता के रहते हुए भी जो मृगया को मन्वादि धर्मशास्त्र प्रणेताओं ने व्यसन (दोषोत्पादक) कहा है वह ठीक नहीं, वास्तव में मृगया के अतिरिक्त ऐसा मनोविनोद और कहाँ हो सकता है अर्थात् कहीं नहीं। अतः मृगया व्यसन नहीं प्रत्युत वह मनोविनोद का शरीर के लिये उत्साह का, एवं विशेष प्रकार के हिंसक जीवों की चित्तवृत्ति के परिज्ञान द्वारा युद्ध में कौशल प्रदर्शन का तथा अपनी निपुणता प्रदर्शन का एक मात्र साधन है। अतः इस विदूषक का यह कथन प्रलाप मात्र है।

विशेष:—मेदः वसा, चर्बी, शरीर स्थौल्य विधायक धातु विशेष,
"अव्यायामदिवास्वप्नश्लेष्मलाहारसेविनः।

राजा—भद्र सेनापते ! आश्रमसन्निकृष्टे स्थिताः स्मः । अतस्ते वचो नाभिनन्दामि । अद्य तावत्,—

गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृंगैर्मुहुस्ताडितं
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु ।
विश्रब्धं क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले
विश्रामं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः ॥६॥

मधुरोऽन्नरसः प्रायः स्नेहान्मेदो विवर्धये्
मेदो हि सर्वजन्तूना मुदरेष्वस्थिषु स्थितम्
अतः एवोदरे वृद्धिः प्रायो मेदस्विनो भवेत् ॥

तृतीय चरण में 'च' समुच्चयार्थ है अतः क्रिया समुच्चयालंकार है, अथवा मृगया व्यसन नहीं है इस बात के नाना विध कारणों का निदर्शन किया गया है अतः समुच्चयालंकार है ।

मिथ्या हि व्यसनं वदन्ति" इस वाक्य के प्रति पूर्व वाक्यत्रय कारण रूप से रखे गये हैं अतः वाक्यार्थ हेतुक काव्य लिङ्ग अलंकार है, वृत्यनुप्रासालंकार । शार्दूल विक्रीडित छन्द है । लक्षण लिखा जाता है ।

श्लोक ६ अन्वय :—महिषः शृङ्गैः मुहुः ताडितं निपान-सलिलं गाहन्ताम्, छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थं अभ्यस्यतु, विश्रब्धैः वराहपतिभिः पल्वले मुस्ताक्षतिः क्रियताम् इदं शिथिलज्यावन्धम् अस्मद्धनुश्च विश्रामं लभताम् ।

छिदिर्+घञ्=छेदः, कृश् तनूकरणे-क प्रत्ययः कृशः । उत्+स्था+ल्युट्=उत्थानम् । विकृति शब्दात् मतुप् प्रत्ययः । लक्ष्+यक् कर्मणि आत्मने पदम्—लक्ष्यते । उत्+कृष्+घञ्=उत्कर्षः । धनुः विद्यते अस्य धन्वी धनुष् शब्दात् इनि प्रत्ययः । वि+नुद+घञ्=विनोदः । किम+तसिल्, किमः क आदेशः=कुतः ।

संस्कृत व्याख्या:—(मृगया जन्य परिश्रमात्) वपुः शरीरं मेदसां शरीरस्थौल्यवर्धकधातुविशेषाणां छेदनेन ह्रासेन कृशः उदरं यस्मिन् तत् मेदश्छेदकृशोदरं अतएव लघु भारहीनं सत् उत्थानस्य उद्योगस्य योग्यम् उद्योगसम्पादनसमर्थ सर्व कार्यक्षमं इत्यर्थः भवति, सत्त्वानां सिंहव्याघ्रमृगादीनां वन्यपशूनां भयक्रोधयोः भयकाले क्रोधकाले च विकृतिमत् विकारयुत्तं चित्तं मनः लक्ष्यते चेष्ठाविशेषदर्शनेनावगम्यते, चले गतिशीले लक्ष्ये यत् इषवः वाणाः सिद्धयन्ति, सफलीभवन्ति, स च धन्विनाम् धनुर्धारिणां उत्कर्षः वैशिष्टयं निपुणता वा (मन्वादयः धर्मशास्त्रप्रणेतारः) मिथ्या एव मुधैव मृगयां आखेटं व्यसनं दोषोत्पादकं वदन्ति कथयन्ति (यतः) ईदृक् ईदृशः मृगयासदृशः विनोदः प्रमोदः कुतः न कुतोऽपीत्यर्थः ।

अलङ्कारा उक्ताः, शार्दूल विक्रीडितम् वृत्तम् ।

"जयतु स्वामी" से लेकर यहाँ तक 'दाक्षिण्य' नामक भूषण का निर्देश किया गया है "चित्तानुवर्तनं यत्र, दाक्षिण्यमितीरितम्" ।

विदूषक :—अरे जा ! महाराज समझते हैं, अब वे अपने स्वाभाविक सरल व्यवहार को समझ रहे हैं । अतः अब तो जंगल से जंगल घूमने वाला तू मनुष्य नासिका के लिए लुब्ध किसी बूढ़े रीछ के मुँह में जा पड़ेगा ।

राजा :—भद्र सेनापति ! हम लोग आश्रम के पास हैं । इसीलिए मैं तुम्हारी बात का समर्थन न करूँगा । आज तो :—

शब्दार्थ :—महिषाः=भैंसे, मुहुः=बारम्बार, ताडितं=मथित विलोडित, निपान सलिलं=सरोवर का जल, गाहन्ताम्=नहायें, छायावद्धकदम्बकम्=छाया में एकत्रित हुये रोमन्थं=जुगाली, विश्रब्धैः=विश्वस्त, वराहपतिभिः=बड़े-बड़े शूकर पल्वले=जलगर्तों अल्प जल वाले गड्ढों में, मुस्ताक्षतिः=मोथा (एक घास विशेष जो कि गड्ढों के किनारे उगती हैं) क्षतिः=तोड़ना नोंचना। शिथिलज्यावन्धम्=जिसकी प्रत्यञ्चा ढीली कर दी गई है, अर्थात् खिंची नहीं है, विश्रामं लभताम्= आराम करे।

अनुवाद—महिषा (अपने) सींगों द्वारा वारम्बार विलोडित किये गये सरोवरों के जल में (स्वेच्छा पूर्वक) नहायें। छाया में एकत्रित हुये मृगों के झुण्ड (निश्चिन्त होकर) जुगाली करें। (मेरे डर से) निश्चिन्त हुये बड़े-बड़े सूकर जल गर्तों में मोथा घास खायें शिथिल प्रत्यञ्चा वाला मेरा धनुष भी अब विश्राम करे।

व्याख्या :—राजा कहता है कि हे सेनापति मैं इस समय आश्रम के पास हूँ इसलिए मैं तुम्हारे द्वारा की गई मृगया की प्रशंसा का इस समय अनु-मोदन नहीं कर सकता अब मैं शिकार नहीं करूँगा अब मेरी आज्ञा से :—

महिषा अपने सींगों द्वारा बारबार विलोडित किये गये सरोवरों के पानी में (स्वेच्छा पूर्वक नहायें) अर्थात् अब मैं शिकार न करूँगा इसलिये सभी वन्य पशु स्वेच्छापूर्वक निश्चिन्त होकर विचरें, मेरे डर से अब उन्हें छिपने की आवश्यकता नहीं। छाया में एकत्रित हुये मृगों के झुण्ड (अब निश्चिन्त होकर) जुगाली करें, विश्वस्त अर्थात् मेरे डर से निश्चिन्त हुए बड़े-बड़े शूकर जल गर्तों में मोथा खायें तथा शिथिल प्रत्यञ्चा वाला मेरा यह धनुष भी अब आराम करे अर्थात् अब मैं धनुष चढ़ाकर शिकार न करूँगा। कहीं 'विश्रब्धम्' भी पाठ है वहाँ इसे क्रिया विशेषण मानना चाहिए।

विशेष—महिषा—सींगों वाला एक पशु विशेष इसे सैरिभ, लुलाय भी कहते हैं, जल में नहाने से पूर्व यह अपने स्वभाववश पहिले अपने सींगों से खोंद-खोंद कर जल को मथ डालता है। ऐसा कहा जाता है कि महिषों का जठरानल सदा प्रदीप्त रहता है अतः वे प्रायः जल में लोटना अधिक चाहते हैं।

छायावद्धकदम्वक म्=कदम्ब=समूह यूथ, मृगोंके झुण्ड जो कि छाया में आकर एकत्रित हो गये हैं। रोमन्थम् अभ्यस्यतु=बार बार धीरे-धीरे जुगाली करें, पशु पेट भर खाने के बाद आराम से बैठ कर स्वभावतः जुगाली करते हैं जो कि खाद्य को पचाने के लिए एक आवश्यक क्रिया है। खाद्य के पुनः मुख से निकाले हुए कवल के बार-बार चबाने को जुगाली करना कहते हैं। जो कि डर के कारण भागते हुये नहीं की जा सकती थी।

मुस्ताक्षतिः=मुस्ता मोथा (घास विशेष) क्षतिः तोड़ना वराह प्रायः जलगर्तों के आस-पास खड़ी हुई मुस्ता घास को नोंच-नोंच कर खाते हैं। अतः मुस्ताक्षतिः का अर्थ है मोथा उखाड़ना, क्रियताम्=करें। ऐसा माना जाता है कि वराह मोथा नहीं खाते बल्कि उनकी जड़ों से निकलने वाले कन्द को पाने के लिए उसे उखाड़ते रहते हैं।

अस्मद्धनुः=मेरा धनुष्। यह कहा जाय कि राजा के कथन मात्र से ही मेरा धनुष अर्थ लब्ध हो जाता है तो फिर अस्मद शब्द का प्रयोग व्यर्थ है, अनर्थक एवं अनुपयोगी होने से इसका प्रयोग न करना चाहिए। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि अस्मद् पंचमी बहुवचन का रूप है अतः अस्मद्धनुः का अर्थ होगा यह धनुष् अस्मद सकाशात् अर्थात् मेरे पास से विश्राम प्राप्त करे। अस्मत् में अवधि अर्थ में पंचमी विभक्ति है।

धनुः विश्रामं लभताम् इस पद में अचेतन धनुष् का विश्राम लेना बतलाया गया। इस प्रकार अचेतन पर कर्तृत्वारोप, चारुता सम्बर्धनार्थ है, यह कोई दोष नहीं है। यद्यपि

सेनापतिः—यत्प्रभविष्णवे रोचते ।

राजा—तेन हि निर्वर्तय पूर्वगतान्वनग्राहिणः । यथा न मे सैनिकास्तपोवन-मुपरुन्धन्ति तथा निषेद्धव्याः । पश्य,—

शमप्रधानेषु तपोधनेषु
गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः ।

विश्राम पद पाणिनि व्याकरण से सिद्ध नहीं होता तथापि बहुत से कवियों द्वारा इसका प्रयोग किया गया है अतः वह अशुद्ध नहीं है । वास्तव में विश्रान्ति शब्द बनता है ।

श्री भट्टनारायण ने कहा है—विश्रामस्यापशब्दत्वं वृत्युक्तं नाद्रियामहे भुरारिभव-भूत्यादीन प्रमाणी करोति कः ।

कुछ आचार्यों का कथन है कि राजा की यह उक्ति इस अभिप्राय से है कि नायिका वियोग से दुखित मेरी ही तरह स्वप्रिया वियोग से अन्य जीव दुखी न हों अतः उनके अभिप्राय से प्रस्तुत श्लोक में महिष तथा मृग शब्दों में एक शेष द्वन्द्व समास मानना होगा (एक शेष द्वन्द्व में एक ही शेष रहता है जो समस्त दोनों पदों का बोधक होता है जैसे "मात च पिता च पितरौ" पितरौ माता तथा पिता दोनों का बोधक होता है । इसी प्रकार यहाँ महिषाश्च महिष्यश्चेति महिषाः मृगाश्च मृग्यश्चेति मृगाः अर्थात् महिष व मृगों के स्त्री पुल्लिग जोड़े (नर मादा) मुस्ता ज्या, विश्रान्ति, ये तीनों स्त्री लिंग वाची हैं अतः इन पर नायिकात्वारोप किया जाता है, क्षति शब्द पर नख दन्तक्षत का आरोप, वन्ध शब्द का अर्थ सुरत बन्ध, आवन्ध शब्द स्नेह वाची हैं ही । इस प्रकार इन शब्दों में कठिन कल्पना करने पर इन आचार्यों का भी अभीष्ट अभिप्राय सिद्ध किया जा सकता है ।

प्रस्तुत पद्य में लिङ्ग कारक वचन प्रत्ययादिविषयक भग्न प्रक्रमता दोष है जिसका परिहार भी किया जा सकता है जैसा कि टीकाकार राघव भट्ट आदि ने दिखलाया है ।

पशु स्वभाव वर्णन से स्वभावोक्ति अलंकार है, कार्य कारण के एक ही साथ समकाल कथन करने से अतिशयोक्ति अलंकार है, तीनों चरणों में क्रियासमुच्चयालंकार है श्रुत्यनुप्रास, वृत्यनुप्रास ।

शार्दूल विक्रीडित छन्द है, लक्षण लिखा जा चुका है ।

गाहन्ताम्—गाह—इत्यात्मनेपदधातोः लोट् प्रथम-पुरुष बहु वचने रुपम् । मुहुः क्रियाविशेषणम् । कृ, धातोः कर्मणि लोटि रुपम् क्रियताम् ।

संस्कृत व्याख्याः—महिषाः कासारसैरिभाः लुलायाः श्रृङ्गैः विषाणः मुहुः पुनः पुनः ताडितं विलोडितं निपानस्य सरोवरस्य सलिलं जलं गाहन्ताम् विलोडयन्तु निर्भयत्वात् श्रृङ्गैः जलताडनं महिष—जातिः । छायायां वद्धं कदम्बकं येन तत् छायावद्धकदम्बकम् अनातप-प्रदेशबद्धयूथं मृगाणां कुलं मृगकुलम् हरिणवृन्दम् रोमथं चर्वितचर्वणं अभ्यस्यतु पौनः पुन्येन अनुतिष्ठतु । छायाबद्धयूथता चर्वितचर्वणञ्च मृगजातिः, विश्रब्धैः अस्माकमनवलोकनात् भयशून्यतया विश्वस्तचित्तैः बराहपतिभिः श्रेष्ठवराहैः पल्वले अल्पजलगर्तेषु इत्यर्थः मुस्तानां तदाख्यतृणविशेषाणां क्षतिः कन्द प्राप्त्यर्थं मूलोत्पाटनं क्रियताम्, शिथिलो ज्यायाः बन्धो यस्य तत् अवरोपिताशिञ्जिनी कम् अथवा शिथिलज्यावन्धमिति क्रियाविशेषणं इदं पुरोदृश्य-मानं अस्मत् धनुः शरासनं विश्रामं विश्रान्तिं लभताम् अधिगच्छतु । मृगयानिवृत्या वाणप्रयोगाय ज्याकर्षणाभावात् व्यापाररहितम् तिष्ठतु इत्यर्थः । अलंकारा उक्ताः, शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।

सेनापति—जो महाराजा को अच्छा लगे, जो आपकी इच्छा ।

स्पर्शानुकूला इव सूर्यकान्ता—
स्तदन्यतेजोऽभिभवाद्वमन्ति ॥ ७ ॥

सेनापति—यदाज्ञापयति स्वामी ।

विदूषकः—धंसदु दे उच्छाहवुत्तन्तो । [ध्वंसतां त उत्साहवृत्तान्तः ।]
(निष्क्रान्तः सेनापतिः ।)

राजा—(परिजनं विलोक्य) अपनयन्तु भवत्यो मृगयावेशम् । रैवत
त्वमपि स्वं नियोगमशून्यं कुरु ।

राजा—तो, जो वन घेरने वाले आगे गए हैं उन्हें लौटा लो । और उनकों इस प्र
रोक दो जिसमें कि तपोवन को मेरे सैनिक बाधा न पहुँचावें । देखो—

श्लोक ७ अन्वय—शमप्रधानेषु दाहात्मकं गूढं तेजः (अस्ति) हि स्पर्शानुकूला
कान्ता इव (ते) अन्यतेजोऽभिभवात् तद् वमन्ति ।

शब्दार्थ—शमप्रधानेषु=शान्ति प्रधान, गूढं=गुप्त, दाहात्मकं=जलाने वाला स्प
कूलाः=स्पर्श करने योग्य, सूर्यकान्ताः=सूर्य किरण सम्पर्क से जल उठने वाली म
अन्येत्यादि=अन्य के तेज से अभिभूत होकर, वमन्ति=प्रकट कर देती हैं, तद्=तेज ।

अनुवाद—क्योंकि शान्ति प्रधान तपस्वियों में दाहजनक गूढ तेज रहता है ।
करने योग्य भी सूर्यकान्त मणि सदृश (वे तपस्वी) अन्य के तेज से अभिभूत होकर
उस (गूढ तेज) को प्रकट कर देते हैं ।

व्याख्या—राजा सेनापति से कहता है देखो—

शान्ति प्रधान (शान्ति ही जिनमें एक प्रधान गुण है) तपोधन तपस्वियों में (
ही जिनका प्रधान धन है) दाहत्मक=दाहकजनक (लक्षणा से इसका अर्थ है दाह स
वाला, लक्षणा का फल है शीघ्र कार्यकारी होना (अर्थात् शीघ्र फल देने वाला दाहस
विशिष्ट गुप्त तेज होता है (क्योंकि प्रच्छन्न तेज होने के कारण) स्पर्श करने योग्य
सूर्यकान्त मणिं सदृश (वे तपोवन) अन्य के तेज से अभिभूत होकर अपने गूढ तेज को
कर देते है ।

तात्पर्य यह है कि जैसे सूर्यकान्त मणियां, तेज के उनमें अन्तर्हित रहने के का
स्पर्श करने योग्य होती हैं पर जब सूर्य की किरणों के सामने आती हैं तो वे अपने
छिपे हुए तेज बाहर निकाल कर दाहक बन जाती हैं उसी प्रकार यद्यपि ये तपोवन शान्त
एतावता यह न समझ लेना चाहिये कि उनमें तेज है ही नहीं, वे अन्य व्यक्ति के ते
अभिभूत होकर जला देने की शक्ति रखते हैं, अतः आश्रम के पास शिकार करके उ
तपस्या में विघ्न न डालना चाहिए और इस प्रकार उन्हें क्रोधित न करना चाहिये अन्य
शान्त भी वे तपस्वी क्रुद्ध हो शापादि के द्वारा हमारा विनाश कर देंगे ।

विशेष—कोई आचार्य "स्पर्शानुकूला इव सूर्यकान्ता" का अर्थ इस प्रकार कर
"सूर्यकान्ताः रमणीयाः इति अर्थात् सूर्य वत्कान्तिमान तेजस्वी (ऋषियों का विशेष
स्पर्शानुकूलाः=स्पर्शः सम्पर्कः अनुकूलः प्रियः येषां ते अर्थात् जिनको अन्य सम्पर्क प्रिय
इस प्रकार व्याख्या करने पर श्लेषोपमालंकार है, सुख स्पर्श भी जिस प्रकार सूर्य
मणियाँ सूर्य किरण सम्पर्क से जला देती हैं, उसी प्रकार शान्त भी तपस्वीजन अन्य (राजा
के तेज से अभिभूत होकर दाहक शक्ति प्रकट करते हैं इस प्रकार दृष्टान्त अलंकार है । अनु
तथा काव्यलिङ्ग भी अलंकार है । छेकानुप्रास तथा वृत्यनुप्रास । उपाजति छन्द (यह

परिजनः—जं देवो आणवेदि । [यद्देव आज्ञपयति ।]

(इति निष्क्रान्तः)

विदूषकः—किदं भवदा णिम्मच्छिअं । संपदं एदस्सिं पावच्छाआए विरइदलदाविदाणदंसणीआए आसणे णिसीददु भवं, अहं वि सुहासीणो होमि । [कृतं भवता निर्मक्षिकम् । साम्प्रतमेतस्यां पादपच्छायायां विरचितलतावितानदर्शनीयायामासने निषीदतु भवान्, यावदहमपि सुखासीनो भवामि ।]

राजा—गच्छाग्रतः ।

विदूषकः—एदु भवं । [एतु भवान्]

(इत्युभौ परिक्रम्योपविष्टौ ।)

राजा—माढव्य ! अनवाप्तचक्षुःफलोऽसि । येन त्वया दर्शनीयं न दृष्टम् ।

विदूषकः—णं भवं अग्गादो मे वट्टादि । [ननु भावानग्रतो मे वर्तते ।]

राजा—सर्वः खलु कान्तमात्मीयं पश्यति । तामाश्रमलालामभूतां शकुन्तलामधिकृत्य ब्रवीमि ।

इन्द्रवज्रा तथा उपेन्द्र वज्रा इन दोनों छन्दों से मिलकर बनता है । प्रायः प्रथम व तृतीय चरण में इन्द्रवज्रा तथा द्वितीय व चतुर्थ चरण में उपेन्द्रवज्रा रहता है ।

गूह् + क्त गूढम् । दह् + घञ् = दाहः

संस्कृत व्याख्या—शमः शान्ति रेव प्रधानं श्रेष्ठं वहुलं वा येषां तेषु शमप्रधानेषु । तप एव धनं येषां तेषु तपोधनेषु तापसेषु दाहः भस्मीकरणं आत्मा स्वरूपं यस्य तत् दाहात्मकं दहनस्वभावकं गूढं प्रच्छन्नं अन्यजनादृश्यं अनभिभवदशायामप्रकाशमित्यर्थः तेजः ब्रह्मवर्चसं अस्ति, हि यस्मात् कारणात्: स्पर्शः अनुकूलः येषां ते स्पर्शानुकूलाः प्रच्छन्नतेजस्कत्वेन सुखस्पर्शाः सूर्यकान्ताः सूर्यकिरणसम्पर्कणानलोद्गारिणः मणिविशेषाः इव अन्यस्य राजादेः तेजसा अवभवः पराभवः तस्मात् तेजोऽभिभवात् तद् प्रच्छन्नं तेजः वमन्ति प्रकटयन्ति, यथा सूर्यकान्ताः पाषाणविशेषाः स्पर्शे सति अदाहका अपि सूर्यतेजसा अभिभूता सन्तः स्वकीयं तंजः उद्गिरन्ति तद्वत् शमप्रधाना अपि तपोधनाः राजादितेजसा अभिभूताः सन्तः स्वकीयं तेजः प्रकटयन्तः भस्मसात् कुर्वन्तीत्यर्थः । अलंकारा उक्ताः, उसजातिवृत्तम् ।

सेनापति—महाराज की जो आज्ञा--

विदूषक—तुम्हारा उत्साह वर्धक बातें भाड़ में जायँ ।

(सेनापति चला जाता है)

राजा—(सेविकाओं को देखकर) अब तुम भी अपने शिकार का वेश (वस्त्र आदि) उतार डालो । रैवतक ! जाओ तुम भी अपना काम करो ।

परिजन—महाराज की जो आज्ञा । (जाते हैं)

विदूषक—अच्छा किया आपने सब मक्खियाँ उड़ा दीं । तो अब (चलिये) वृक्षों की इस घनी छाया में आप आसन पर बैठें जहाँ कि लताओं द्वारा मण्डप बन जाने के कारण बड़ी रमणीयता है और तब तक मैं भी आराम करलूँ ।

राजा—अच्छा तो चलो आगे आगे ।

विदूषक—आइये आप भी (दोनों घूम कर बैठ जाते हैं)

राजा—माढव्य ! तुम्हें नेत्र पाने का कुछ फल न मिला जो तुमने देखने योग्य वस्तु को न देख पाया ।

विदूषकः—(स्वगतम्) होदु; से अवसरं ण दाइस्सं। (प्रकाशम्) भो वअस्स ! ते तावसकण्णआ अब्भत्थणीआ दीसदि। [भवतु; अस्यावसरं न दास्ये। भो वयस्य ! ते तापसकन्याकाभ्यर्थनीया दृश्यते।]

राजा—सखे ! न परिहार्ये वस्तुनि पौरवाणां मनः प्रवर्तते।

सुरयुवतिसंभवं किल मुनेरपत्यं तदुज्झिताधिगतम्।
अर्कस्योपरि शिथिलं च्युतमिव नवमालिकाकुसुमम् ॥ ८ ॥

विदूषकः—(विहस्य।) जह कस्स वि पिंडखज्जूररेहिं उव्वेजिदस्स तिंतिणीए अहिलासो भवे, तह इत्थिआरअणपरिभाविणो भवदो इअं अब्भत्थणा। [यथा कस्यापि पिण्डखर्जूरैरुद्वेजितस्य तिन्तिण्यामभिलाषो भवेत्, तथा स्त्रीरत्न परिभाविनो भवत इयमभ्यर्थना।]

विदूषक—आप तो मेरी आँखों के सामने रहते ही हैं न (अर्थात् आप से अधिक और कौन सुन्दर है)

राजा—अपने को तो सभी सुन्दर समझते हैं। पर मैं तो शकुन्तला को लेकर बात कर रहा हूँ जो कि आश्रम की शोभा है।

विदूषक— (मन ही मन) अच्छा मैं इनको इस सम्बन्ध में अधिक बात करने का अवसर ही न दूँगा। अर्थात् इस मामले को आगे न बढ़ने दूँगा (प्रकट) ज्ञात होता है कि आप उस तापस कन्या पर मुग्ध हो गए हैं उसे प्राप्त करने की इच्छा कर रहे हैं।

राजा—मित्र ! पुरुवंशियों का मन निषिद्ध वस्तु पर कभी नहीं जाता देखो :—

"राजा-माढव्य" से लेकर तृतीयाङ्क समाप्ति पर्यन्त **प्रतिमुख** सन्धि है 'बीजप्रकाशनं यत्र दृश्यादृश्यता भवेत्" अर्थात् जहाँ बीज रूप कार्य का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में प्रकाशन हो। बिन्दु नामक अर्थ प्रकृति तथा प्रयत्न नामक अवस्था से मिलकर इस सन्धि के १३ अङ्ग होते हैं जिनका यथा स्थान वर्णन किया जायेगा'।

"बिन्दु—प्रयोजनानां विच्छेदे पदवच्छेदकारणम्। यावत्समाप्तिबन्धस्य स बिन्दुरिति स्मृतः" जैसे कि यहाँ मृगया वृतान्त से विच्छेद होने पर "राजा—माढव्य इत्यादि वाक्यों से फिर कथा सूत्र को जोड़ दिया गया है।

प्रयत्न (अर्थ प्रकृति) "अपश्यतः फलप्राप्ति यो व्यापारः फलं प्रति, परं चौत्सुक्यगमनम् प्रयत्नः स प्रकीर्तितः" यथा "राजाः तपस्विभिः कैश्चित्परिज्ञातोऽस्मि चिन्तय तावत्" इत्यादि कथन के द्वारा फल प्राप्ति के लिए प्रयत्न किया जाता-है।

श्लोक ८ अन्वय—शिथिलं (अतएव) अर्कस्य उपरि च्युतं नवमालिकाकुसुमं इव सुरयुवतिसम्भवं तदुज्झिताधिगतं मुनेः अपत्यं किल।

शब्दार्थ—शिथिलं=वृन्त से टूटा हुआ, अर्कस्य=मन्दार वृक्ष के, च्युत=गिरा हुआ नवमालिकाकुसुमं=तप्त लता का पुष्प, सुरयुवतिसम्भवं=सुरयुवति=अप्सरा मेनका से उत्पन्न, तदुज्झाताधिगतम्=उसके द्वारा छोड़ देने पर मुनि द्वारा प्राप्त की गई, मुनेः=कण्व की, अपत्यम्=संन्तान, किल=यह बात प्रसिद्ध है।

अनुवाद—(यथा) अपने वृन्त से टूटा हुआ (अतएव) अर्क के ऊपर गिरा हुआ सप्तलता का पुष्प होता है उसी प्रकार मेनका अप्सरा से उत्पन्न और उसके द्वारा छोड़े जाने पर मुनि के द्वारा प्राप्त की गई वह कण्व मुनि की सन्तान है—यह बात प्रसिद्ध है।

राजा—न तावदेनां पश्यसि येनैवमवादीः ।

विदूषक—तं खु रमणिज्जं जं भवदोवि विम्हअं उप्पादेदि । [तत्खलु रमणीयं यद्भवतोऽपि विस्मयमुत्पादयति ।

राजा—वयस्य ! किं बहुना,—

व्याख्या—विदूषक के यह कहने पर कि मुनिकन्या के लिए अभिलाषा करना आपके लिए कहाँ तक उचित है ? दुष्यन्त कहता है कि यद्यपि वह मुनि कन्या है, किन्तु :—

वह उसी प्रकार मुनि कन्या है जैसे अपने वृन्त से शिथिल होकर नवमालिका का कुसुम मन्दार वृक्ष पर जा गिरे उसी प्रकार वह मेनका से उत्पन्न होकर और उसके छोड़ देने पर मुनि द्वारा प्राप्त की गई मुनि की सन्तान है अर्थात् वह मुनि कण्व की और सन्तति नहीं प्रत्युत वह मुनि द्वारा पालित सन्तान है ।

विशेष—"नवमालिकाकुसुमम्" इससे शकुन्तला का अत्यन्त कोमल सुकुमारी होना ध्वनित होता है "अर्कस्य" यह मुनि का उपमान है अतः जिस प्रकार अर्क से नवमालिका कुसुम का उत्पन्न होना असम्भव है उसी प्रकार महर्षि कण्व से उसकी उत्पत्ति की सम्भावना सर्वथा असम्भव है यह ध्वनित होता है । "उपरिच्युतम्" से कवि का तात्पर्य है कि उसके अधः पतन की शंका न करनी चाहिए और न यही कि उसको किसी ने लाकर दिया है वह तो काकतालीय न्याय से प्राप्त हुई है किसी के द्वारा लाकर नहीं दी गई, प्रत्युत वह कुसुम शिथिल होकर मन्दार पर गिर पड़ा है, कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कोई अपने स्थान से भ्रष्ट होकर अच्छे व्यक्ति के हाथों में पड़ जाता है इसी प्रकार शकुन्तला भी अपनी माता से परित्यक्ता होकर सौभाग्यवश मुनि के हाथ में पड़ गई है । अतः वह मुनि की पालिता कन्या है उसकी औरस सन्तान नहीं । अतः मेरे द्वारा परिग्रहण करने योग्य है। इससे यह भी राजा का तात्पर्य है कि यदि तुम उसे एक बार देख लोगे तो तुम्हारा भी यह भ्रम कि वह मुनिकन्या है, दूर हो जायगा ।

सारांश यह है कि जैसे कुसुम नवमालिका से विच्छिन्न होता है उसी प्रकार वह भी अपनी जन्मदात्री माता मेनका से विच्छन्न हुई है, तथा कुसुम जिस प्रकार अपने वृन्त से च्युत होता है उसी प्रकार वह अपने पिता विश्वामित्र से प्रच्युत हुई है और जैसे कुसुम शिथिल होकर मरन्दा पर गिरता है उसी प्रकार वह भी महर्षि कण्व के आश्रम से प्राप्त हुई है ।

"शिथिलं कुसुमं इव" में उपमान उपमेय भाव के स्फुट होने से उपमालंकार है, श्रुत्यनुप्रास, वृत्यनुप्रास आर्या जाति छन्द है ।

संस्कृत व्याख्या—शिथिलं वृन्तात् विश्लथं, अर्कस्य मन्दारवृक्षस्य उपरि च्युतं गलितं न तस्मादुत्पन्नमित्यर्थः एतेन काकतालीयन्यायेनोपलब्धं न केनाप्यानीय प्रदत्तम्, तवापि चक्षुर्मत्रिगोचरत्वे एव मुनेरपत्यभ्रमो न भविष्यतीति च ध्वन्यते । अर्कस्य मुन्युपमानेन तदुत्पन्नत्वस्यात्यन्ताभावो द्योत्यते । नवमालिकायाः सप्तलतायाः कुसुमं पुष्पं इव, अनेन शकुन्तलाया अतिशयपेलवत्वं ध्वन्यते । किलेति प्रसिद्धौ, सुरयुवति=मेनका, तस्याः अप्सरसः सम्भवतीति सुरयुवतिसम्भवं, तया मेनकया उज्झितं त्यक्तं सत् अधिगतं प्राप्तं तदुज्झिताधिगतं मुनेः कण्डवस्य अपत्यम् कण्वदुहिता । एवञ्च पालकत्वादेव कण्वस्य तस्याःपितृत्वम् न तु तदात्मजेयमिति स्वपरिग्रहयोग्यत्वं तस्या इति ध्वतितम् । कुसुममिवेत्युपमा, अनुप्रासश्च, आर्या जातिः ।

विदूषक—(मुस्करा कर) जैसे कोई मीठे छुआरे (पिण्ड खजूर) खाते-खाते ऊब कर खट्टी इमली (तिन्तिड़ी) पर अभिलाषा करने लगे उसी प्रकार अब आप रनिवास की सुन्दरी रानियों का भोग करते-करते ऊब कर इसकी चाह करने लगे हैं ।

चित्रे निवेश्य परिकल्पितसत्वयोगा
रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु ।
स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे
धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः ॥६॥

राजा—तुम जब तक उसे देखते नहीं हो तभी तक ऐसा कह रहे हो।

विदूषक—तो निश्चय ही वह रूपवती होगी जो कि आपको भी विस्मय उत्पन्न करा रही है अर्थात् जिसे देखकर आप भी चकित हो रहे हैं उसके रूपवती होने में कोई सन्देह नहीं।

राजा—वयस्क ! और तो अधिक क्या कहें—(अर्थात् उसके प्रत्येक अंग का वर्णन किया नहीं जा सकता आप इतने से ही समझ लें कि :—

श्लोक ६ अन्वय—विधिना चित्रे निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगा नु, रूपोच्चयेन मनसा कृता नु, धातुः विभुत्वं तस्याः वपुः च अनुचिन्त्य सा स्त्रीरत्नसृष्टिः अपरा मे प्रतिभाति ।

शब्दार्थ—विधिना=ब्रह्मा के द्वारा, चित्रे=आलेख्य पर, निवेश्य=रखकर, परिकल्पितसत्त्वयोगा=परिकल्पित=देना या सम्बन्धित करना, सत्व=प्राण, योग=सम्बन्ध अर्थात् प्राण देना, प्राणों का सम्बन्ध करना। तात्पर्य यह है कि चित्र फलक पर पहिले उसका चित्र बनाकर तदनन्तर उसमें जीवन संचार कर दिया गया है। रूपोच्चयने=रूप=सौन्दर्य उच्चय=समूह अर्थात् त्रिभुवनवर्ति रूपसमुदाय को लेकर, मनसा=मन के द्वारा, कृता=बनाया है। नु का अर्थ है वितर्क, अर्थात् ब्रह्मा ने उसे चित्र पर रखकर बनाया है अथवा मन से, त्रिभुवन के सौन्दर्य रूप उपकरण के द्वारा उसे बनाया है। (मानसिक सृष्टि) धातु=ब्रह्मा के, विभुत्व=सामर्थ्य, अनुचिन्त्य=सोचकर, अपरा=विलक्षण, प्रतिभाति=ज्ञात होती है।

अनुवाद—ब्रह्मा के द्वारा चित्रफलक पर रखकर उसमें प्राणों का संचार परिकल्पित किया गया है, अथवा ब्रह्मा ने उसे समस्त सौन्दर्य राशि से निर्मित किया है अथवा मन से ही बनाया है। ब्रह्मा के सृष्टि रचना नैपुण्य और उसके शरीर पर बार-बार विचार करके वह मुझे एक विलक्षण ही स्त्रीरत्न की सृष्टि प्रतीत होती है।

व्याख्या—राजा कहता है कि और तो क्या कहूँ बस यही समझ लो कि—ब्रह्मा ने जब उसे बनाया होगा तब पहिले उसे चित्र फलक पर रखकर उसकी तस्वीर बनाई होगी, इस प्रकार प्रथम उसे सर्वाङ्ग सुन्दर बना कर उसमें प्राण संचार कर दिया होगा, इस प्रकार ब्रह्मा ने अपने हाथों से उसे बनाया है अथवा ब्रह्मा ने मन में तीनों लोकों के सौन्दर्य को एकत्रित कर अर्थात् त्रिभुवन की सभी सुन्दरियों के रूपों को इकट्ठा कर उसमें प्राण डाल दिये हैं, कहा नहीं जा सकता कि यह इतनी सुन्दरी किस प्रकार बनाई गई है। क्योंकि ब्रह्मा की निर्माण कुशलता तथा शकुन्तला की सुन्दरता पर बार-बार विचार करने से यही प्रतीत होता है कि यह कोई निराले ही ढंग की सुन्दरी ब्रह्मा ने बनाई है।

विशेष—"चित्रे निवेश्य" से कवि का तात्पर्य है कि जिस प्रकार चित्रकार चित्र फलक पर रखकर किसी भी चित्र को अपनी रुचि के अनुसार उसमें मार्जन तथा लेखन कर सकता है वैसे ही ब्रह्मा ने चित्रफलक पर पहिले इसको अपनी रुचि के अनुसार बनाया और तब उसमे प्राण संचार कर दिया है। अतएव यह सर्वाङ्ग सुन्दर बन पड़ी है। रूपोच्चयेनेत्यादि से कवि का तात्पर्य है कि अथवा यह हो सकता है कि ब्रह्मा के तीनों लोकों के सुन्दर-सुन्दर उपमान (चन्द्र, कमल, मीन, बिम्ब, आदि) जो भी सुन्दरी स्त्रियों के उप

विदूषक—जइ एव्वं पच्चादेसो दाणि रूववदीणं। [यद्येवं प्रत्यादेश इदानीं रूपवतीनाम्]

राजा—इदं च मे मनसि वर्तते,—

हो सकते हैं उन सबको निर्माण कार्य की सामग्री के रूप में मन में रख कर, इसे बनाया है अतः मानसिक सृष्टि होने से कर स्पर्शादि के अभाव में इसमें इतनी अद्भुत कान्तिमत्ता सुकुमारता तथा एवम्भूत सुन्दर लक्षण विशिष्टता है। इससे कवि ने शकुन्तलागत सौकुमार्य को द्योतित किया है। सुकुमारता का लक्षण है "यत्स्पर्शासहतांगेषु कोमल स्यापि वस्तुनः, तत्सौकुमार्यम्" अर्थात् जिस अंग में कोमल भी वस्तु का स्पर्श सहन न किया जा सके उसे सुकुमार कहते हैं महाकवि बिहारी के शब्दों में "पँखुरी लगे गुलाब की परिहै गात खरोंट"

किसी पुस्तक में "रुपोच्चयेन घटिता मनसा कृता नु" पाठ है वहाँ अर्थ होगा मन से ध्यान कर रूप समूह से बनाई गई।

कहीं कहीं "चित्ते निवेश्य परिकल्पितसर्वयोगात्" पाठ है वहाँ अर्थ है 'सृष्टि करने की सब सामग्रियों को मन में रखकर" अपरा स्त्रीरत्नसृष्टि :—विलक्षण असाधारण या अद्वितीय, रत्नोपम स्त्री की सृष्टि। क्योंकि अन्यत्र ऐसी सुन्दरी नहीं देखी जाती।

नु का अर्थ है अथवा।

प्रस्तुत पद्य में "नु" इससे सन्देह प्रकट होता है, हस्त निर्मित है अथवा मन से निर्मित है अतः सन्देहालंकार है, कोई आचार्य नु शब्द का वितर्क अर्थ लेते हैं अतः उत्प्रेक्षालंकार है।

"शकुन्तला विधाता की स्त्रीरत्न सृष्टि है फिर वह अपरा है अतः इस भेदारोप से अभेद में भेदलक्षण अतिशयोक्ति अलंकार है "अयं राजा अपरः पाकशासनः" के अनुसार। काव्यलिंग, श्रुति, वृत्ति, अनुप्रास। बसन्त तिलका छन्द है (लक्षण लिखा जा चुका है)।

नि+ण्यन्त विश्+त्वा+ल्यप्=निवेश्य, युजिर् योगे धातोः घञ्=योगः। उत्+चि+अच्=उच्चयः तृतीयैक वचने रुपम्। दधातीति धाता तस्य, धा+तृच्=षष्ठ्येक वचने रुपम्। अनु+चिती संज्ञाने धातोः त्वा-ल्यप्=अनुचिन्त्य।

संस्कृत व्याख्याः—धातुः ब्राह्मणः विभुत्वं निर्माणकौशलम् तस्याः शकुन्तलायाः वपुः शरीरञ्च (अतुल सौन्दर्य सारभूतमिति यावत् अनुचिन्त्य पुनः पुनः विभाव्य मे मम (दुष्यन्तस्य) अर्थात् विधातुः सर्वविधनिर्माणकौशलसामर्थ्यम् अतुलनीयशकुन्तलालावण्यञ्च पुनः पुनः विमृशतः मम; विधिना सृष्टिकर्त्रा चित्रे आलेख्ये प्रतिरूपके वा निवेश्य आलिख्य, परिकल्पितः कृतः सत्त्वस्य योगः यस्याः परिकल्पितसत्त्वयोगा कृतप्राणयोगा नु इति वितर्के, रूपाणां उच्चय; समूहः त्रिभुवनवर्तिसौन्दर्यसमूदायरुपोपादानकारणेन मनसा करणेन कृता निर्मिता नु अतएव करस्पर्शाद्यभावात्ताहशं तस्याः कान्तिमत्त्वमिति भावः अनेन तस्याः सौकुमार्यं ध्वनितम्। सा शकुन्तला अपरा अद्वितीया विलक्षणा स्त्री-रत्नसृष्टिः जगत्स्त्रीसृष्टिविलक्षण रत्नोपमा स्त्री सृष्टिः प्रतिभाति ज्ञायते इत्यर्थः। अलंकारा उक्ताः वसन्ततिलकं वृत्तम।

विदूषक—यदि ऐसी ही बात है तब तो यह सभी रूपवती नायिकाओं का प्रत्यादेश है। (प्रत्यादेश=निराकरण) अर्थात् तब तो इसने सभी को सुन्दरता में परास्त कर दिया।

राजा—मेरे मन में तो ऐसी बात है कि :—

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै—
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम् ।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः ॥१०॥

विदूषकः—तेण हिं लहु परित्ताअदु णं भवं । मा कस्स वि तवस्सिणो इंगुदीतेल्लमिस्सचिक्कणसीस्सस्स हत्थे पडिस्सदि । [तेन हि लघु परित्रायतामेनां भवान् । मा कस्यापि तपस्विन इङ्गुदीतैलमिश्रचिक्कणशीर्षस्य हस्ते पतिष्यति]

श्लोक १० अन्वय—अनाघ्रातं पुष्पं, कररुहैः अलूनं किसलयं, अनाविद्धं रत्नं, अनास्वादितरसं नवं मधु, पुण्यानां अखण्डं फलं इव च अनघं तद्रूपं, इह कं भोक्तारं विधिः समुपस्थास्यति इति न जाने ।

शब्दार्थ—अनाघ्रातम्=जो सूंघा न गया हो ऐसे पुष्प के समान इससे यह ध्वनित होता है कि उसका रूप अन्य पुरुष कृत उपमर्दन के अभाव में अखण्डित सौन्दर्यशाली है अर्थात् जिसका अभी तक किसी ने उपभोग नहीं किया है, दूर घ्राणेन्द्रिय को तृप्ति देने वाली सुगन्धि भी ग्रहण नहीं की है हस्तादि से स्पर्श करना तो दूर की बात है। कररुहैः=नखों से, अलूनम्=अच्छिन्न, न तोड़ा गया अस्पृष्ट किसलय के समान इससे शकुन्तला गत रूप में अम्लानता अक्लान्तता तथा उपभोग-वैरुप्य-शून्यता ध्वनित होती है, अनाबिद्धम्=सब ओर से वेध रहित रत्न-मणि के समान अथवा अनाविद्ध का अर्थ है अकुटिल सरल अदुष्ट अथवा अखण्डित इससे उसका दोषराहित्य सूचित किया गया है। अनास्वादितरसम्=जिसके रस का आस्वादन किसी के द्वारा नहीं किया गया है नवम्=नया शीघ्र ही लाया गया (मधु के सदृश) इससे शकुन्तलागत रस का अद्यावधि अनास्वादन अनुपयोग तथा अति मनोहरता सूचित किया गया है। कोई व्याख्याकार मधु का अर्थ शहद न लेकर मदिरा लेते हैं परन्तु इस अर्थ में नवम् पद व्यर्थ हो जायगा क्योंकि मदिरा जितनी पुरानी होती है उतनी ही अधिक मादक मानी जाती है परन्तु शहद ताजा ही अच्छा माना जाता है अतः मधु का अर्थ शहद ही उचित है। कालिदास ने स्वयं रघुवंश में "पुराण सीधुं नवपाटलञ्च" कहा है अतः मधु से कवि का तात्पर्य शहद ही है मद्य नहीं। पुण्यानां=शुभ कर्मों का, अखण्डम्=पूर्ण (फल के समान) इससे उसकी अत्यन्त अभिलषणीयता सूचित की गई है, अनघं=निष्कलंक निष्पाप मनोज्ञ, तद्रूपं—शकुन्तला के रूप को, इह=इस संसार में कं भोक्तारम्=किस भाग्यवान सम्भोग करने वाले को, विधिः=ब्रह्मा, समुपस्थास्यति=प्राप्त करेगा अर्थात् ऐसे सौन्दर्य को भोगने वाला ब्रह्मा किसको बनायेगा ऐसा कौन भाग्यशाली होगा। इति न जाने=यह मुझे ज्ञात नहीं होता।

अनुवादः—उसका रूप, न सूँघे गये पुष्प, नखों से न काटे गये किसलय, बिना बिंधे हुये रत्न, चखे हुये नये मधु और बिना भोगे गये, पुण्यों के फल के समान है। पर यह ज्ञात नहीं कि इस रूप को भोगने वाला, इस संसार में, ब्रह्मा किस को बनायेगा।

व्याख्या—राजा कहता है—मेरी समझ में तो उसका रूप वैसा ही सकलातिशायी सौन्दर्य विशिष्ट एवं पवित्र है जैसा कि बिना सूँघा हुआ पुष्प, नखों से अछूते पल्लव, बिना विंधा हुआ रत्न, बिना चखा हुआ नया मधु और बिना भोगा हुआ पुण्य का पूर्ण फल। पर यह पता नहीं कि इस रूप को भोगने के लिए इस संसार में ब्रह्मा ने किसको रक्खा है।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में इव शब्द पुष्पम् आदि में सर्वत्र जोड़ा गया है।

राजा—परवती खलु तत्रभवती । न च संनिहितोऽत्र गुरुजनः ।

विदूषकः—अत्तभवं तं अंतरेण कीदसो से दिठ्ठिराओ ? [अत्रभवन्तमन्तरेण कीदृशस्तस्या दृष्टिरागः ? ।]

मालोपमालंकार है, "मालोपमा यदेकस्योपमानं वहु दृश्यते" यहाँ गुण सङ्कीर्तन नामक नाट्य-लक्षण है ।

सम्पूर्ण पद्य से नायक-गत, शकुन्तला के सम्भोग की अत्यन्ताभिलाषा उद्बुद्ध होती है अतः वस्तु द्वारा वस्तुध्वनि है ।

उक्त सभी विशेषणों के उक्त प्रकार से साभिप्राय होने से परिकर अलंकार है "उक्ति विशेषणैः साभिप्रायैः परिकरो मतः ।"

श्लोक में अनाघ्रातादि विशेषणों से शकुन्तला का कन्यात्व अतएव उसका दुष्यन्त द्वारा परिग्रहयोग्यत्व सूचित किया गया है तथा पुष्पादि उपमानों से क्रम से उसमें परिभोग-योग्यता कान्तिमत्ता मुग्धता हृद्यता उत्तमजनाभिलषणीयता सूचित की गई है । उपर्युक्त पाँचों उपमानों से क्रमशः घ्राण, मुख, चक्षु:, रसना श्रवणेन्द्रियों का संतर्पण भी ध्वनित होता है श्रुत्यनुप्रास, वृत्यनुप्रास ।

शिखरिणी छन्द है (लक्षण ऊपर लिखा जा चुका है)

आ+घ्रा+क्त,=आघ्रातम् । लूञ् धातोः क्त, प्रत्ययस्य नकारादेशः=लूनम् आ+ण्यन्त स्वद्+क्त=आस्वादितम् । भुज्+तृच्-द्वितीयैक वचने रूपम् भोक्तारम् । सम+उप+स्था लृटि रूपम् समुपस्थास्यति । वि+धा+कि विधिः ज्ञा धातोःलटि जाने इति रूपम् ।

संस्कृत व्याख्या—अनाघ्रतं अकृतघ्राणसम्पर्कगं अकृतोपभो पुष्पमिव, कररुहैः नखैः पुनर्भवः कररुहो "नखोऽस्त्री नखरोऽस्त्रियाम् इत्यमरः । अलूनं अच्छिन्नं किसलयं पल्लवम् इव, अनाविद्धं आसमन्ताद्वेधरहितं अथवा अकुटिलम् रत्नमिव । न आस्वादितो रसो यस्य तत् अनास्वादितरसं अग्रहीतास्वादं नवं सद्यः समानीतं, एतेन तस्याः रजोदोषलेशराहित्येनातिहृद्यत्वं ध्वनितम् । मधु क्षौद्रं इव, पुण्यानां सुकृतानाँ अखण्डं सम्पूर्णं फल परिपाकः इव, अनघं निर्दोषं च तस्याः शकुन्तलायाः रूपं तद्रूपं सौन्दर्यं इह जगति कं भोक्तारं उपभोगकर्तारं विधिः ब्रह्मा समुपस्थास्याति उपगमिष्यति । इति (अहं) न जाने । स्वद्रष्टेरगोचरत्वादेतद्रू पानुरूपतरुण-सृष्टेरभावादिति भावः । अलंकारा उक्ताः, शिखरिणी वृत्तम् ।

इन दोनों पद्यों से गुणकीर्तन नामक अवस्था का वर्णन किया गया है ।

विदूषक—तब तो इसे आप शीघ्र अपना लीजिये अन्यथा इङ्गुदी (हिंगोट) के तेल के लगाने से चिकनी खोपड़ी वाले किसी तपस्वी के हाथ में पड़ जायेगी । तात्पर्य यह है कि यदि आप देर करेंगे तो वह रमणीमणि किसी विलासविमुख विकृताकृति तपस्वी के हाथ लग जायेगी, इस प्रकार उसकी फिर वह दशा होगी जैसी कि बन्दर के गले में पड़ी मणिमाला की होती है (लघु=शीघ्र, परित्रायताम्=स्वीकार करें)

राजा—वह देवी तो अपने गुरुजनों के अधीन है और गुरुजन पास में (आश्रम) नहीं हैं ।

विदूषक—अच्छा तो यह तो बताइये कि आपके लिये उसका दृष्टिराग कैसा है (दृष्टि राग—उसके देखने से उसका आप पर कैसा अनुराग प्रकट होता था)

राजा—तापस कन्यायें तो स्वभाव से ही भोली-भाली तथा लज्जाशील होती हैं। तो भी :—

राजा—निसर्गादेवाप्रगल्भस्तपस्विकन्याजनः । तथापि तु,—

अभिमुखे मयि संहृतमीक्षणं
हसितमन्यनिमित्तकथोदयम् ।
विनयवारित वृत्तिरतस्तया
न विवृतो मदनो न च संवृतः ॥ ११ ॥

श्लोक ११ अन्वय—मयि अभिमुखे ईक्षणं संहृतम्, अन्यनिमित्तकथोदयं हसितम् (तया) विनयवारितवृत्तिः मदनः न विवृतः न च सम्वृतः ।

शब्दार्थ—मयि अभिमुखे (सति) =मेरे सामने आने पर अर्थात् जब मैं उसके मुख की ओर देखने लगता था तब, ईक्षणं=दृष्टि अर्थात् उसका मेरे मुख पर दृष्टि डाल मुझे देखना, संहृतम्=हटा ली संकुचित करली थी । तात्पर्य यह कि जब मैं उसको देखने लगता था तो वह स्त्रीसुलभ लज्जावश अपनी दृष्टि को (जो कि वास्तव में मुझे देखने के लिये चञ्चल एवं लायायित हो रही थी) मुझसे हटा लेती थी । अन्यनिमित्त-कथोदय= किसी और (कथा) बात का लक्ष्य करके किसी और बात का (प्रकृत बात को छोड़कर) बहाना लेकर मानो हँसतीं थी, विनयवारितवृत्तिः=निनय शीलतावश जिसकी प्रवृत्ति रोक दी गई थी अर्थात् उसकी स्वाभाविक विनय शीलतावश जिस काम की प्रवृत्ति रोक दी जाती थी । मदनः=काम विवृतः=प्रकट किया गया, सम्वृतः=संवरण किया गया ।

अनुवाद—मेरे सामने आने पर (उसने) दृष्टि हटा ली, अन्य किसी बात का बहाना लेकर हँसी थी । इस प्रकार उसके द्वारा, विनयशीतलता वश जिसकी प्रवृत्ति रोक दी गई थी ऐसा कामदेव न तो प्रकट ही किया गया और न छिपाया ही गया ।

व्याख्या—विदूषक के यह पूछने पर कि उसका तुम्हारे ऊपर कैसा दृष्टिराग था, दुष्यन्त कहता है कि तपस्वी जनों की कन्यायें स्वभावतः अप्रगल्भ एवं लज्जाशील होती हैं अतः उनका दृष्टिराग प्रकट होना सम्भव नहीं तथापि—

जब मैं उसकी ओर देखने लगता था तब वह अपनी आँखें चुरा लेती थी (मेरी ओर से दृष्टि हटा कर इधर-उधर देखने लगती थी (मुग्धा नायिकाओं का विशेषतया मुनिकन्याओं का यह स्वभाव वर्णन है) और किसी न किसी बात के बहाने (मेरी बात को सुन कर नहीं और ही कोई बात का बहाना लेकर) हँस भी देती थी। सच बात तो यह है कि वह शील से इतनी दबी हुई थी कि न तो वह अपने प्रेम को छिपा ही पा रही थी और न खुल कर प्रकट ही कर पा रही थी । वह अपनी काम प्रवृत्ति को स्वाभाविक विनय शीलतावश दबाये हुए थी अतएव वह प्रकट नहीं हो पा रही थी पर उसकी अन्य चेष्टायें, आँख चुराना, हँसना आदि, उसकी काम प्रवृत्ति को उभार पर ला रही थीं । अब तुम्हीं समझ लो कि उसका मुझ पर कैसा दृष्टिराग था ।

विशेष—ईक्षणं संहृतम्—से उसकी शृंगार लज्जा ध्वनित होती है । अन्यनिमि-त्यादि पद से भी यही ध्वनित होता है । और इससे यह सूचित होता है कि वह अपने और बात का बहाना भी बना लेती थी और हँसने भी लगती थी अतः उसमें स्वभाव से हास्य प्रवृत्ति थी । इससे उसका उत्तम नायिका होना तथा स्वानुराग प्रकट करना भी होता है ।

न निवृतः न संवृतः, अपनी दृष्टि चुराने से तो काम प्रवृत्ति अप्रकट होती थी मन्दहसित से प्रकट हो जाती थी । इस प्रकार मुग्धात्ववश ईक्षण सम्वरण से गूहित भी भाव हास्य के द्वारा प्रकट हो ही जाता था (इससे उसका मुग्धपान प्रकट होता है

विदूषकः—ण खु दिट्ठमेत्तस्स तुह अंकं समारोहदि। [न खलु दृष्टमात्रस्य० तवाङ्कं समारोहति।

राजा—मिथः प्रस्थाने पुनः शालीनतयापि काममाविष्कृतो भावस्तत्रभवत्या। तथा हि,—

ज्ञात यौवनत्व तथा अज्ञात यौवनत्व दोनों हीं रहते हैं। इससे हेला मोट्टायित भाव आदि को भी सूचित किया गया है।

"मुग्धा नववयः कामा' इस कथन से शकुन्तला में नवकामाविर्भूतिविशिष्ट मुग्धात्व है। अर्थात् उसमें प्रथम यौवन का समावेश हो गयो था। प्रथम यौवन में "ईषच्चपलेनत्रान्तं स्मरस्मेरमुखाम्बुजम्" अर्थात् ईक्षणों में चाञ्चल्य तथा कामवश हास्ययुक्त मुखकमल का होना प्रथम यौवन का लक्षण है।

हेला=चित्तज विकार को कहते हैं "नाना विकारैः सुव्यक्तः शृङ्गाराकृतिसूचकैः हाव एव भवेद्धेला"।

मोट्टायित गात्रज विकार को कहते हैं "स्वाभिलाषप्रकटनं मोट्टायित मितीरितम्" अंग विकारों द्वारा स्वाभिलाषा प्रकट करना मोट्टायित भाव है।

न विवृतः न च सम्वृतः इन दो विरुद्ध धर्मों के समावेश से विरोधाभास अलंकार है। "मुग्धात्व से विरोध का परिहर किया जा सकता है। अथवा न विवृतः न च सम्वृतः यह यथासख्यालंकार भी है। वृत्यानुप्रास। द्रुतविलम्बित छन्द है।

"द्रुत विलम्बित माह नभौ भरौ" अर्थात् इसमें क्रमशः नगण, भ, भ, रगण ये १२ अक्षर होते हैं।

।	।	।	S	।	।	S	।	।	S	।	S
अ	भि	मु,	खे	म	यि,	सं	हृ	त,	मी	क्ष	णम्

ईक्षः धातोः ल्युटि ईक्षणम्। हस्—धातोः भावे क्त प्रत्यये हसितम्॥

संस्कृत व्याख्या—मयि सम्मुखे तत्सम्मुख मागते सति, मयि तन्मुखावलोकनपरे सति, तया शकुन्तलया ईक्षणं अवलोकनं संहतम् सङ्कोचितम् अर्थात् मन्मुखादाकृष्या न्यत्र स्थापित-मित्यर्थः, अनेन शृङ्गार लज्जा ध्वन्यते। अन्येन अपरेण निमित्तेन हेतुना व्याजेनेत्यर्थः कथायाः वाग्व्यापारस्य उदयो यत्र तत् अन्यनिमित्तकथोदयं यथा स्यात्तथा हसितम् तया हसनं कृतम् ऐतेन तस्या अनुरागः सूचितः तस्या उत्तमनायिकात्वञ्च ध्वनितम् अतः अस्मात् कारणात् (तया) विनयेन शिष्टाचारेण सुशिक्षितत्वेन वारिता संस्तम्भिता वृत्तिः प्रसरः यस्य स विनयवा-रितवृत्तिः मदनः कामः न विवृत्तः ईक्षणसंहरणान्न व्यक्तीकृतः न च सम्वृतः तथाविधहसितान्न वा गोपितः। तथा च मुग्धाभावेन ईक्षणसंहरणाद् गूहितोऽपि कामविकारस्तया हसितेन स्फुटीकृत एवेति भावः। अनेन च तस्या मुग्धानायिकात्वं ध्वनितम्। उक्ता अलंकाराः। द्रुतविलम्बितम् वृतम्।

विदूषक—तो देखने मात्र से ही तो वह आपकी गोदी में तो नहीं चढ़ जाती। तात्पर्य यह है कि इतने से उसका तुम्हारे ऊपर अनुराग तो प्रकट हो ही गया और अधिक आप क्या चाहते थे, देख कर ही कोई नायिका गोदी में नहीं आ बैठती।

राजा—सखियों के साथ (मिथः) साथ जाते समय उसने फिर अधृष्ट होने के कारण (एकान्त में) अपना भाव और अधिक स्पष्ट किया था जैसे कि—

(शालीनता=अशिष्ट या धृष्ट न होना, तत्रभवत्या=तापस कन्या होने से पूज्या)

दर्भाङ्कुरेण चरण क्षतःइत्यकाण्डे
तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा ।
आसीद्विवृत्तवदना च विमोचयन्ती
शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम् ॥ १२ ॥

विदूषकः—तेण हि गहीदपाहेओ होहि । किदं तुए उदवणं तवोवणं ति पेक्खामि । [तेन हि गृहीतपाथेयो भव । कृतं त्वयोपवनं तपोवनमिति पश्यामि ।]

श्लोक १२ अन्वय—कतिचित् एव पदानि गत्वा तन्वी (सा) अकाण्डे दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इति स्थिता, द्रुमाणा शाखासु असक्तं अपि वल्कलं विमोचयन्ती च विवृत्तवदना आसीत् ।

शब्दार्थ—कतिचित्=कुछ ही दो तीन ही, पदानि=पग, कदम, तन्वी=कृशाङ्गी, अकाण्डे=अनवसर पर ही, एकाएक, स्थिता=ठहर गई, दर्भाङ्कुरेण=कुशों के अंकुर के अग्रभाग से, क्षतः=विद्ध, विदीर्ण, इति=ऐसा कह कर, च=किञ्च, असक्तम्=अलग्न, न उलझा हुआ भी, विमोचयन्ती=छुड़ाती हुई, विवृत्तवदना=पराङ्मुख हो गयी थी अर्थात् पीछे की ओर घूम कर मुझे देखने लगी थी ।

अनुवाद :—कुछ ही कदम चल कर ही वह तन्वी शकुन्तला अनवसर पर ही यह कह कर रुक गई कि दर्भ के कांटे से (मेरा) पैर घायल हो गया है । और वृक्षों की शाखाओं में न उलझे हुये भी वल्कल को छुड़ाती हुई वह पराङ्मुखी हो गई थी अर्थात् पीछे मुड़कर मेरी ओर देखने लगी थी ।

व्याख्या—राजा कहता है कि जब वह जाने लगी उस समय शिष्टता की रक्षा करते हुए भी उसने अपना प्रेम प्रकट कर ही दिया था क्योंकि—एक दो पग चल कर ही वह तन्वी शकुन्तला सहसा अनवसर पर ही (अर्थात् जब कि ऐसा करने का कोई अवसर ही नहीं था) यह कह कर रुक गई—अरे, मेरे पांव में डाभ का काँटा चुभ गया है, और यद्यपि उसका वल्कल पेड़ों की शाखाओं में उलझा नहीं था फिर भी धीरे-धीरे वल्कल छुड़ाने के बहाने वह मेरी ओर देखने लगी थी । इस प्रकार मेरी ओर देखती हुई वह कुछ देर और खड़ी रही । (अब तुम्हीं समझो कि उसका दृष्टिराग कैसा था ? क्या इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह भी मुझ पर उसी प्रकार मुग्ध है जैसा कि मैं उस पर ?)

विशेष—कतिचिदेवेति—दो तीन ही पग, तीन चार भी नहीं इससे उसका उत्कण्ठातिशय ध्वनित होता है । 'पदानि' यहाँ अध्व वाचक है अतः "कालाध्वनोरत्यन्त संयोगे" इससे द्वितीया विभक्ति है । तन्वी-इससे यह सूचित किया गया है कि विरहारम्भ में ही वह अतिकृश थी ।

अकाण्डे—अनवसर पर ही, वास्तव में दर्भांकुर द्वारा क्षत न होने पर भी, केवल दर्भाङ्कुर का बहाना करके ही ।

दर्भाङ्कुरेण—दर्भ के अग्रभाग से कहने का तात्पर्य यह है कि दर्भ तो स्पष्ट दिखाई पड़ता है अतः बहाना नहीं बन सकता था अङ्कुर (अग्रभाग के स्पष्ट दृष्टिगत न होने के कारण ब्याज सम्भव था अतएव दर्भ न कह कर दर्भांकुर कहा है अतः अङ्कुर पद जन्य ... से उसका विलम्ब करना ध्वनित होता है ।

चरणव्यथा-ब्याज से रुक जाना, तथा शाखाओं में असंलग्न भी वल्कल को छुड़ाने के बहाने घूम कर मेरी ओर उसका देखना, इन दोनों कार्यों से उसने अपना अनुराग ... किया है ।

राजा—मखे ! तपस्विभिः कैश्चित्परिज्ञातोऽस्मि। चिन्तय तावत्केनापदेशेन सकृदप्याश्रमे वसामः।

विदूषकः—को अवरो अवदेसो तुम राआणं ? णीवारछट्ठभाअं अम्हाण उवहरंतु त्ति। [कोऽपरोऽपदेशस्तव राज्ञः ? नीवारषष्ठभागमस्माकमुपहरन्त्विति।]

राजा—मूर्ख ! अन्यद्भागधेयमेतेषां रक्षणे निपतति, यद्रत्नराशीनपि विहायाभिनन्द्यम्। पश्य—

प्रस्तुत श्लोक में चरण क्षतिब्याज से तथा वल्कल मोचन रूप ब्याज से, स्फुट प्रकाशित नायिका का नायक को देखने लिए ठहर जाना, तथा उसका वदन विवर्तन, छिपा लिया गया है अतः व्याजोक्ति अलंकार है, असक्तमपि विमोचयन्ती में विरोधाभासलंकार है, प्राचीनाचार्यों के मत में हेतु अलंकार भी है। श्रुत्यनुप्रास वृत्यनुप्रास छेकानुप्रास। वसन्ततिलका छन्द (लक्षण लिखा जा चुका है)

अतः इस सम्पूर्ण श्लोक से नायिकागत लज्जा एवं उत्सुकता तथा नायकगत विस्मय प्रकट होता है।

संस्कृत व्याख्या—कतिचिद् द्वित्रीणि एव न तु अधिकानि पदानि पदप्राप्य स्थानानि गत्वा चलित्वा एव (पदानीत्यस्य अध्वाचकत्वात् अत्यन्त संयोगे द्वितीया) तन्वी कृशाङ्गी सा शकुन्तला अकाण्डे अनवसरे वस्तुतो दर्भाङ्कुराविद्धेऽपि हठादित्यर्थः दर्भाङ्कुरेण न तु दर्भेण (तस्य दर्शनयोग्यतया व्याजो न भवेत् अङ्कुरस्य तु अदृस्यमानतया तत्सम्भावत्) चरणः पादः क्षतः विद्धः विदीर्णो वा इत्युक्त्वा स्थिता अर्थात् मामवलोकितुं दर्भांकु रोद्धरणव्याजेन विलम्बितगमना अभवत्। च किञ्च द्रुमाणां वृक्षाणं शाखासु विटपेषु असक्तं असंलग्नं अपि वल्कलं परिहिततरुत्वचं विमोचयन्ती मन्दं मन्दं मोचनव्यापारं नाट्यन्ती सतीत्यर्थः, विवृत्तं मामवलोकितुं प्रत्यावृत्तं वदनं मुखं यस्याः सा विवृत्तवदना मत्सम्मुखीनेत्यर्थः आसीत्। अनेन क्रियाद्वयेन सा स्वानुरागं प्रकटितवतीति भावः। उक्ता अलंकाराः, वसन्ततिलकं वृत्तम्।

विदूषकः—तब आपको शकुन्तला से पाथेय, (जीवन सम्बल मिल गया है) अर्थात् शकुन्तला ने अपना इस प्रकार से अनुराग प्रकट कर यह स्पष्ट कर दिया है कि वह आप पर पूर्णतया अनुरक्त है, आपके लिए यह बहुत बड़ा सहारा मिल गया अब इसी पाथेय के सहारे प्रेम पथ पर भली भाँति चले जाइये कोई बाधा न होगी। परन्तु इस आप के अनुराग व्यापार से मैं देख रहा हूँ कि आपने इस तपोवन को आनन्दोद्यान बना डाला है। विदूषक का तात्पर्य यह है कि आपको इस तपोवन में तो ऐसा प्रेम-जाल न फैलाना चाहिये था।

राजा—मित्र ! कुछ तपस्वियों ने मुझे जान लिया है अर्थात् वे जान गये हैं कि मैं राजा दुष्यन्त हूँ, तात्पर्य यह है कि शिकार के समय यदि मुनिजन मुझे न पहचान पाते तब तो छिपे रूप में आश्रम में आना जाना होता रहता पर अब परिचित होने पर यदि वहाँ गया और लोगों ने देख लिया तो बड़ा अनुचित होगा तो बताओ अब किस बहाने से कम से कम एक बार तो और आश्रम में हो ही आऊँ।

विदूषक—तुम राजा के लिये और कौन सा दूसरा बहाना है यही कि नीवारों (धान्य विशेष) का षष्ठ भाग सब लोग हमारे लिए ले आवें। षष्ठ भाग लेना राजा के लिये उचित है ही बस यही बहाना बना बनाया है।

राजा—मूर्ख ! इन ऋषियों की रक्षा के बदले तो हमें दूसरा ही भाग कर के रूप में मिलता है जो कि रत्नों के ढेर से भी बढ़कर है। देखः—

यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयि तत्फलम् ।
तपःषड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः ॥१३ ॥
(नेपथ्ये)

हन्त, सिद्धार्थौं स्वः ।

राजा—(कर्णं दत्त्वा) अये ! धीरप्रशान्तस्वरैस्तपस्विभि र्भवितव्यम् ।

(प्रविश्य)

दौवारिकः—जेदु भट्टा । एदे दुवे इसिकुमारआ पडिहारभूमिं उवट्टिदा । [जयतु भर्ता । एतौ द्वौ ऋषिकुमारौ प्रतिहारभूमिमुपस्थितौ ।]

श्लोक १३ अन्वय—वर्णेभ्यः यत् उत्तिष्ठति नृपाणां तत् फलं क्षयि (अस्ति) हि आरण्यकाः न अक्षय्यं तपः षड्भागं ददति ।

शब्दार्थ—वर्णेभ्यः=ब्राह्मण आदि वर्णों से, यत्=कर रूप में प्राप्त होने वाला धन, तत्फलं=उस धन का फल अर्थात् ऐश्वर्योपभोगादि, क्षयि=विनाशशाली है । उत्तिष्ठति =मिलता है, हि=निश्चय ही आरण्यकाः=वनवासी तपस्वी जन, नः=हमको, अक्षय्यं= =कभी नष्ट न होने वाला, तपः षड्भागं=अपनी तपस्याका छठा भाग जो वे हमें कर रूप में देते हैं ।

अनुवाद :—ब्राह्मणादिवर्णों से राजाओं को जो कर रूप में प्राप्त होता है उसका फल तो आशु विनाशशाली है । परन्तु वनवासी मुनिजन हमें अपनी तपस्या का छठा भाग देते हैं उसका फल अक्षय होता है ।

व्याख्या—विदूषक के यह कहने पर कि आपको आश्रम में प्रवेश के लिये बहाना बनाने की क्या आवश्यकता ? आप तो जाकर यह कहिये कि आप लोग राजकर के रूप में नीवार धान्यों का छठा भाग मुझे दीजिये मैं इसीलिये आया हूँ, राजा कहता है कि तू तो एकदम मूर्ख है, देखः—

ब्राह्मणादि चारों वर्णों से राजाओं को जो कर मिलता है उसका फल तो आशुविनाशाली है, तस्कर, वह्नि, उपभोग आदि सहस्रों प्रकार से नष्ट हो जाने वाला है, परन्तु वे वनवासी मुनिजन हमें जो अपनी तपस्या का षष्ठांश देते हैं (वह कभी भी नष्ट न होने वाला धन है) और यह धन हमें सर्वथा अप्रत्यक्ष रूप से प्राप्त होता है अतएव तपस्वियों से कर ग्रहण के बहाने आश्रम में प्रवेश करना सर्वथा असम्भव है, क्योंकि ऐसा कभी नहीं किया गया है । धर्मशास्त्र का वचन है कि मुनिजनः—

"यदधीयते यद्यजते यद्ददाति यदर्चति
तस्य षड्भागभाग्राजा सम्यग् भवति रक्षणात्"

विशेष—साधारण धन की अपेक्षा मुनिप्रदत्ततपः षड् भाग रूप धन का आधिक्य बतलाया गया है अतः व्यतिरेकालंकार है अनुष्टुप् छन्द है, इसमें प्रत्येक चरण में आठ वर्ण होते हैं चारों चरणों में पञ्चम अक्षर लघु तथा षष्ठ गुरु होता है, द्वितीय और चतुर्थ चरण में सप्तम अक्षर लघु होता है । इसे श्लोक या पद्य भी कहते हैं ।

"पंचमं लघु सर्वत्र सप्तमं द्विचतुर्थयोः,
षष्ठं गुरु विजानीया देतत्पद्यस्य लक्षणम्" ॥

| S | S |
यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो, नृपाणां क्षयि तत्फलम्
| S | S |
तपः षड्भाग मक्षय्यं, ददत्यारण्यका हि नः

राजा—तेन ह्यविलम्बितं प्रवेशय तौ ।

दौवारिकः—एसो पवेसेमि (इति निष्क्रम्य, ऋषिकुमाराभ्यां सह प्रविश्य) इदो इदो भवंतो । [एष प्रवेशयामि । इत इतो भवन्तौ ।]

(उभौ राजानं विलोकयतः ।)

प्रथमः—अहो दीप्तिमतोऽपि विश्वसनीयतास्य वपुषः । अथवोपपन्नमेतदृषिभ्यो नातिभिन्ने राजनि ! कुतः ?

अध्याक्रान्ता वसतिरमुनाप्याश्रमे सर्वभोग्ये
रक्षायोगादयमपि तपः प्रत्यहं संचिनोति !
अस्यापि द्यां स्पृशति वशिनश्चारणद्वन्द्वगीतः
पुण्यः शब्दो मुनिरिति मुहुः केवलं राजपूर्वः ॥१४॥

संस्कृत व्याख्या—वर्णेभ्यः ब्राह्मणक्षत्रियादिवर्णेभ्यः यत् धनमित्यर्थः उत्तिष्ठति कररूपेण समागच्छति प्राप्यते वा तत्फलम् प्राप्तधनस्य फ क्षयि अचिरस्थायि प्रकारसहस्रैरपि न स्थायीति व्यज्यते किन्तु आरण्यकाः वनवासिनः तपस्विनः नः अस्मभ्यं=राजभ्यः, अक्षय्यं अविनश्वरं तपसः स्वसञ्चिततपोनियमस्य षड्भागं षष्ठांशम् ददति । अप्रत्यक्षरूपेण ते तपस्विनः तपः षष्ठाँशमर्पयन्ति न इति भावः ।

इससे 'विलास' नामक प्रतिमुख सन्धि का प्रथम अंग उपक्षिप्त किया गया है 'विलासः सङ्गमार्थस्तु व्यापारः परिकीर्तित" ।

(नेपथ्य में)

हर्ष की बात है कि हम दोनों सफल मनोरथ हुये (राजा दर्शन से)

राजा—(कान लगाकर) अरे ! धीर और प्रशान्त स्वरों से तो इन्हें ऋषि होना चाहिये (अर्थात् धीर प्रशान्त स्वर वाले ये तो ऋषि हैं)

(प्रवेश करके)

दौवारिक—महाराज की जय हो । ये दो ऋषिकुमार द्वार पर खड़े हैं ।

राजा—तो उन्हें शीघ्र प्रवेश कराओ ।

दौवारिक—(निकल कर ऋषिकुमारों के साथ पुनः प्रवेश कर) आइये इधर से आप लोग इधर आइये ।

(दोनों राजा को देखते हैं)

प्रथम—यद्यपि राजा अत्यधिक प्रभावशाली है तो भी इसका शरीर हमारे लिये बड़ा विश्वसनीय है अर्थात् इतने तेजस्वी भी इन्हें देखकर विश्वास उत्पन्न हो रहा है, कोई भय की बात नहीं है । अथवा ऋषिजनों से अत्यधिक न भिन्न प्रतीत न होने वाले राजा के विषय में यह ठीक ही है । क्योंकि :—

श्लोक १४ अन्वय—अमुना अपि सर्वभोग्ये आश्रमे वसतिः अध्याक्रान्ता, रक्षायोगात् अयं, अपि प्रत्यहं तपः सञ्चिनोति, वशिनः अस्य अपि केवलं राजपूर्वः पुण्यः मुनिः इति शब्दः मुहुः चारणद्वन्द्वगीतः सन् द्यां स्पृशति ।

शब्दार्थ—प्रस्तुत श्लोक में प्रायः सभी विशेष वाची पद तथान्यपद द्वयर्थक हैं, उनका एक अर्थ राजा के पक्ष में तथा द्वितीय अर्थ मुनि के पक्ष में होगा—

अमुना=दुष्यन्त ने, अपि=भी अर्थात् दुष्यन्त ने भी, न केवल मुनि ने, सर्वभोग्ये=राज पक्ष में=सब ब्रह्मचारी आदि जनों द्वारा आश्रय प्राप्त करने योग्य, तात्पर्य यह है कि

गृहस्थाश्रम ही सर्वश्रेष्ठ आश्रम है क्योंकि सभी अन्य आश्रमावलम्बी ब्रह्मचारी वानप्रस्थ तथा सन्यासी आदि इसी आश्रम से अपना आश्रय प्राप्त करते हैं जैसा कि कहा भी गया है "यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः, तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते चतुराश्रमाः" यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः, वर्तन्ते गृहिणस्तद्वदास्त्रित्येतर आश्रमाः।

मनुरपि—गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान् विभर्ति हि। आश्रमे=गृहस्थाश्रम में, अर्थात् वनितासम्भोगादि भोगास्पद गृहस्थाश्रम में, मुनि पक्ष में, सर्वभोग्ये=धार्मिक जनों के आश्रय प्राप्त करने योग्य अर्थात् ब्रह्मचारी आदि के द्वारा विद्याध्ययनार्थ आश्रयणीय, आश्रमे=वनाश्रम में। वसतिः=निवास स्थान, अध्याक्रान्ता=प्राप्त किया है, तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार मुनि सर्वधार्मिक जनों द्वारा आश्रयणीय आश्रम में निवास करता है उसी प्रकार यह राजा भी सभी आश्रमों द्वारा भोगयोग्य गृहस्थाश्रम में निवास करता है अतः राजा मुनि में कोई अन्तर नहीं। रक्षायोगात्=रक्षा के उपाय से अथवा उद्योग से, प्रजा पालन करने से, मुनि पक्ष में, रक्षा=शरीर रक्षा के लिए योग अर्थात् अष्टाङ्गयोग करने से तात्पर्य यह कि मुनि जन अपनी शरीर रक्षा हेतु अष्टाङ्ग योगाभ्यास करते हैं इस कारण, अयमपि=राजा दुष्यन्त भी न केवल मुनि ही, प्रत्यहं=प्रतिदिन, तपः=लोकोत्तर धर्म, मुनि पक्ष चान्द्रायणादि व्रतोपवासादि तपोनियम सञ्चिनोति=अर्जित करता है, तात्पर्य यह कि जिस प्रकार मुनि रक्षा हेतु अष्टाङ्गयोगादि करके तपोनियम को अर्जित करता रहता है उसी प्रकार यह राजा भी प्रजा पालन करके लोकोत्तर धर्म का सञ्चयन करता है अतः यह राजा भी मुनि ही है। वशिनः=इन्द्रियों को जीतने वाला, राजा तो प्रजानुरञ्जनयज्ञानुष्ठानादिधर्मकर्मों से वशी है और मुनि तो जितेन्द्रिय होता ही, अस्यापि=दुष्यन्त का भी, न केवल राजपूर्वः=केवल राज शब्द जिसके पूर्व में है अर्थात् राजर्षि शब्द, और मुनि शब्द राज शब्द से रहित हैं, तात्पर्य यह कि दुष्यन्त के साथ केवल राज शब्द अधिक है, यदि यह राज शब्द अलग कर दिया जाय तो यह भी मुनि ही है अतः केवल राज शब्द पूर्व वाला यह पुण्यः=मन्त्रवत् पवित्र मुनि शब्द (अर्थात् अध्ययन काल में वटुजनों से उच्चरित ब्रह्मनाद वत् पवित्र मुनि शब्द) मुहुः=बार बार चारणद्वन्द्वगीतः=चारणों के द्वन्द्व स्त्री पुरुष युगल-जोड़ों से-कीर्तित गीयमान होकर, द्यां=स्वर्ग को स्पृशति, स्पर्श करता है, पहुँचता है, तात्पर्य यह कि जैसे मन्त्रवत् पवित्र मुनि शब्द वटुजनों द्वारा गीयमान होकर स्वर्ग तक पहुँचता है वैसे ही यह राजर्षि शब्द भी चारणों द्वारा कीर्ति होकर स्वर्गगामी होता है अर्थात् स्वर्ग तक इसका यश गाया जाता है अतः यह भी मुनि ही है अन्तर केवल इतना, कि दुष्यन्त रूप मुनि के साथ राज शब्द अधिक लगा हुआ है अर्थात् यह राजर्षि है जब कि मुनि केवल मुनि या ऋषि है।

अनुवाद—जैसा कि एक मुनि, सभी ब्रह्मचारी अदि धार्मिक जनों द्वारा आश्रय प्राप्त करने योग्य वनाश्रम में निवास स्थान प्राप्त करता है उसी प्रकार इस राजा ने भी सभी अन्य आश्रमों द्वारा उपभोगयोग्य गृहस्थाश्रम में निवास स्थान प्राप्त किया है। जिस प्रकार एक मुनि शरीर रक्षा हेतु अष्टाङ्गयोग से प्रतिदिन तप सञ्चित करता है उसी प्रकार यह राजा भी प्रजा रक्षण सम्बन्ध से प्रतिदिन लोकोत्तर धर्म का संचय करता है। जिस प्रकार जितेन्द्रिय ऋषि का मन्त्रवत् पवित्र 'मुनि' यह शब्द, वटुजनों के जोड़ों से कीर्तित होकर स्वर्ग तक सुनाई पड़ता है उसी प्रकार प्रजानुरञ्जन यथानुष्ठानदिकायों से वशी इस राजा का भी पवित्र राजर्षि, यह शब्द चारणों के जोड़ों से गीयमान होकर आज भी स्वर्ग तक पहुँचता है (इस प्रकार राजर्षि और ऋषि दोनों समान हैं। तथापि ऋषि केवल ऋषि जब कि राजर्षि में राज शब्द अधिक है।

व्याख्या—राजा को देख कर एक मुनि कुमार कहता है—यह राजा भी सर्वभोग्य आश्रम में (गृहस्थाश्रम) रहता है जैसा कि एक मुनि अपने तपोवन के आश्रम में रहता है,

द्वितीयः—गौतम ! अयं स बलभित्सखो दुष्यन्तः ।
प्रथमः—अथ किम् ? ।
द्वितीयः—तेन हि,—

नैतच्चित्रं यदयमुदधिश्यामसीमां धरित्री—
मेकः कृत्स्नां नगरपरिघप्रांशुबाहु र्भुनक्ति ।
आशंसन्ते सुरयुवतयो बद्धवैरा हि दैत्यै—
रस्याधिज्ये धनुषि विजयं पौरुहूते च वज्रे ॥१५॥

प्रजापालन के द्वारा यह राजा भी लोकोत्तर धर्म का उसी प्रकार संचयन करता है जैसे कि मुनि शरीर रक्षार्थ कृत अष्टाङ्गयोगाश्रयण से प्रतिदिन तप करता है तथा इस प्रजापालन तत्पर राजा का यह राजर्षि शब्द चारणों द्वारा गीयमान होकर प्रायः स्वर्ग तक सुनाई पड़ता है जैसा कि एक जितेन्द्रिय मुनि का मन्त्र वत पवित्र मुनि यह शब्द वटुजनों द्वारा कीर्तित होकर स्वर्ग तक सुनाई पड़ता है अतः यह राजा भी मुनि ही है इतना ही नहीं मुनि से इसमें एक विशेषता भी है वह यह कि यह तो राजर्षि है जबकि मुनि केवल ऋषि है । अर्थात् यह राजा राजत्व मुनित्व दोनों से विशिष्ट होने से परम विश्वास पात्र है ।

आश्रमे सर्वभोग्ये आदि विशिष्ट पदों से अनेकार्थाभिधान किया गया है अतः श्लेषालंकार है, केवलं राजपूर्वः में मुनि को अपेक्षा आधिक्याभिघान है अतः व्यक्ति रेकालंकार है । मन्द्राक्रान्ता छन्द है ।

अधि + आ + क्रम् + क्त = अध्याक्रान्ता, भोक्तु योग्यः भोग्यः । अहः अहः प्रति प्रत्यहम् अत्राव्ययीभावः । गै शब्दे इत्यमाद्धातोः क्त = गीतः ।

संस्कृत व्याख्या—अमुना राज्ञा दुष्यन्तेनापि न केवलं, मेनिनेत्यर्थः सर्वैः चतुर्भिरप्याश्रमवासिभिः ब्रह्मचार्यादिभिः, भोग्ये = आश्रयणीये आश्रमे गृहस्थाश्रमे अथवा वनितासम्भोगयोग्ये गृहस्थाश्रमे, मुनि पक्षे सर्वैः वटुभिरध्ययनार्थमाश्रयणीये आश्रमे मठे तपोवनस्थाश्रमे अथवा समस्तधार्मिकजनाश्रयभूते तपोवनाश्रमे, वसतिः = निवास (स्थानं) अध्याक्रान्ता अधिकृता, रक्षायाः योगः उद्योगः तस्मात् रक्षायोगात् प्रजापरिपालनादित्यर्थः, मुनिपक्षेः—रक्षार्थं शरीरारक्षार्थ योगः अष्टाङ्गयोगः तस्मात् रक्षायोगात् अयमपि दुष्यन्तोऽपि, न केवलं मुनिरेव, तपः लोकोत्तरं धर्मं, मुनिपक्षे तपोनियमं प्रत्यहं प्रतिदिनं सञ्चिनोति अर्जयपि, तथा वशिनः जितेन्द्रियस्य अस्य राज्ञः दुष्यन्तष्य अपि न केवलं मुनेरेव (प्रजापालनधर्मसञ्चयनादिनां राज्ञो जितेन्द्रियत्वं वोध्यम्) केवलं राजा इति शब्दः पूर्वस्मिन् यस्य स राजपूर्वः राजोपपदविशिष्टः पुण्यः मन्त्रवत्पवित्रः मुनिरिति शब्द राजर्षिरिति शब्दः मुहुः पौनः पुन्येन चारणानां द्वन्द्वं मिथुनं तेन गीतः सन् द्यां स्वर्गं स्पृशति प्रयाति पक्षे ब्रह्मचारिभिः स्वाध्ययनकाले समुच्चरितो ब्रह्मनादोऽन्तरिक्षचरो भवति । अतोऽयं राजा मुनिवत् विश्वासपात्रमस्तीति भावः । उक्ता अलंकाराः । मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ।

द्वितीयः—क्या यह वही इन्द्र के मित्र राजा दुष्यन्त हैं ?

प्रथमः—हाँ हाँ और क्या ।

द्वितीयः—तब तो अर्थात् तब तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं । किः—

श्लोक १५ अन्वय—नगरपरिघप्रांशुबाहुः, अयं एकः उदधिश्यामसीमां कृत्स्नां धरित्रीं यत् एकः भुनक्ति, एतत् चित्रं न, हि दैत्यैः बद्धवैराः सुरयुवतयः (समितिषु) अस्य अधिज्ये धनुषि पौरुहूते वज्रे च विजयं आशंसन्ते ।

शब्दार्थ—नगरपरिघप्रांशुबाहुः = नगर का अर्थ लक्षणा द्वारा नगर द्वार है अर्थात् नगर द्वार की अर्गलाओं के समान उन्नत भुजाओं वाला, (प्रांशु = उन्नत लम्बी, परिघि =

उभौ—(उपगम्य ।) विजयस्व राजन् !

राजा—(आसनादुत्थाय ।) अभिवादये भवन्तौ ।

उभौ—स्वस्ति भवते । (इति फलान्युपहरतः ।)

राजा—(सप्रणामं परिगृह्य) आज्ञापयितुमिच्छामि ।

उभौ—विदितो भवानाश्रमसदामिहस्थस्ते भवन्तं प्रार्थयन्ते ।

राजा—किमाज्ञापयन्ति ?

उभौ—तत्रभवतः कण्वस्य महर्षेरसान्निध्याद्रक्षांसि न इष्टिविघ्नमुत्पादयन्ति । तत्कतिपयरात्रं सारथिद्वितीयेन भवता सनाथीक्रियतामाश्रम इति ।

राजा—अनुगृहीतोऽस्मि ।

विदूषकः—(अपवार्य ।) एसा दाणि अणुऊला ते अब्भत्थणा । [एषेदानीमनुकूलता तेऽभ्यर्थना ।]

अर्गला दण्ड) उदधिश्यामसीमां=नीले समुद्र से परिवेष्टित, कृत्स्नां=सम्पूर्ण, एकः=अकेला ही, अन्य किसी की सहायता न लेकर, भुनक्ति=पालन करता है, सुरयुवतयः=देवाङ्गनायें, अधिज्ये धनुषि=प्रत्यञ्चा खिंचे हुए धनुष पर, पौरुहूवे=इन्द्र के, आशंसन्ते=चाहती हैं। चित्रं=विचित्र बात। (समितिषु=युद्धों में) ।

अनुवादः—नगर द्वार के अर्गल दण्ड के समान उन्नत एवं दृढ़ भुजाओं वाला यह राजा यदि अकेला ही नीलसागर पर्यन्त विस्तृत सम्पूर्ण पृथ्वी का पालन करता है तो यह कोई विचित्र बात नहीं क्योंकि जिनका दैत्यों के साथ सदा बैर बँधा रहता है ऐसा देवाङ्गनायें (युद्धों में) चढ़ी हुई प्रत्यञ्चा वाले इसके धनुष पर और इन्द्र के वज्र पर ही विजय की आशा रखती हैं।

व्याख्या—द्वितीय मुनि कुमार कहता है—कि नगर द्वार के अर्गलदण्ड के समान लम्बी लम्बी (दृढ़) भुजाओं वाला यह राजा यदि अकेला ही न समुद्र परिवेष्टित या नील सागर पर्यन्त सम्पूर्ण पृथ्वी का पालन करता है तो (इसके विषय में) यह कोई विचित्र बात नहीं है, क्योंकि जिनका दैत्यों के साथ सदा बैर बँधा रहता है ऐसी देवाङ्गनायें युद्धों में चढ़ी हुई प्रत्यञ्चा वाले इस राजा के धनुष और इन्द्र के वज्र में ही जयलाभ की आशा रखती हैं।

विशेष—नगरेत्यादि पद से राजा की भुजाओं की दीर्घता, दृढ़ता तथा शत्रु विजय में उसकी असाधारण क्षमता ध्वनित होती है। उदधिश्यामसीमाम् का अर्थ है "सागर की नीलिमा अर्थात् जल भाग ही जिसकी सीमा परिधि मर्यादा है ऐसी पृथ्वी अथवा समुद्र ही जिसकी श्यामवर्ण वाली सीमा है, जलपूर्ण समुद्र की सीमा दूर से नीली दिखाई पड़ती है अतएव सीमा पर नीलत्व का आरोप किया गया है। अथवा जल के कारण श्याम दिखलाई पड़ने वाला समुद्र ही जिसकी सीमा है। उदधिश्याम सीमा तो देश के एक भाग में ही हो सकती है अतएव "कृत्स्नां" पद का प्रयोग कर सम्पूर्ण पृथ्वी की विजय सूचित की गई है।

उक्त पदों द्वारा "भुजाओं की सहायता से शत्रुओं का बध रूप कारण न बतला कर जो सम्पूर्ण पृथ्वी का विजय रूप कार्य कहा गया है अतः पर्यायोक्तालंकार है। सुरयुवतयः पद में युवति पद से उनकी अतिभीरुता सूचित की गई है। राजा के धनुष का प्रथम ग्रहण किया गया और तब इन्द्र के वज्र का अतः इन दोनों में राजा का धनुष ही प्रधान है वज्र

राजा—(स्मितं कृत्वा ।) रैवतक ! मद्वचनादुच्यतां सारथिःसबाणासनं रथमुपस्थापयेति ।

दौवारिक—जंदेवो आणवेदि [यद्देव आज्ञापयति ।]

(इति निष्क्रान्तः ।)

उभौ—(सहर्षम् ।)

गौण है, यह सूचित किया गया है । "विजयं" से विशेष रूप से जयलाभ सूचित किया गया है ।

एकः भुनक्ति एतच्चित्रं न—इससे यह ध्वनित होता है कि एक द्वारा सम्पूर्ण पृथ्वी का पालन करना यद्यपि आश्चर्य जनक है तथापि इसके विषय में यह बात भी आश्चर्यजनक नहीं । "हि" क्योंकि (अर्थात् क्यों आश्चर्य नहीं)

इसमें पुरुहूत के वज्र की अपेक्षा दुष्यन्त के धनुष की विशेषता बतलाई गई है अतः व्यतिरेक है ।

यहाँ प्रस्तुत दुष्यन्त के धनुष और अप्रस्तुत इन्द्र के वज्र का एक विजयाशा क्रिया के साथ सम्बन्ध बतलाया गया है अतः दीपकालंकार है "प्रस्तुताप्रस्तुतयोर्दीपकन्तु निगद्यते" नगर परिघवत दीर्घवाहु, में लुप्तोपमा है ।

नैतच्चित्रम् इस अर्थ के प्रति उत्तर का वाक्यर्थ, हि के शब्द प्रयोग से हेतुरूप से उपन्यस्त है अतः काव्यलिङ्ग है और समुच्चयालंकार भी है । वृत्युनुप्रास । मन्दाक्रान्ता छन्द है ।

इस श्लोक से राजा का युद्ध वीर होना ध्वनित होता है, युद्ध वीर रस में पराक्रम तप विनयादि विभाग होते हैं, हर्ष गर्व अमर्षादि व्यभिचारी भाव होते हैं । भयभीतों की रक्षा करना आदि अनुभाव होते हैं उत्साह स्थायीभाव होता है । प्रस्तुत श्लोक में विभाव अनुभाव तो स्पष्ट ही हैं, व्यभिचारी भावों का आक्षेप किया जा सकता है । अतः युद्ध वीर रस है ।

संस्कृत व्याख्या—नगरस्य लक्षणया नगरद्वारस्य परिधौ अर्गलदण्डौ वद् प्रांशू उन्नतौ बाहू यस्य स नगरपरिधप्रांशुबाहुः अयं दुष्यन्तः यत्—यतः, एकः असहाय एव श्यामश्चासावुदधिरित्युदधिश्यामः सः सीमा यस्यास्ताम् उद्धधिश्यामसीमाम् (राजदन्तादित्वात् श्याम शब्दस्य परनिपातः) कृत्स्नाँ=सम्पूर्णा धरित्री पृथ्वीं भुनक्ति पालयति, एतद् चित्रं आश्चर्यजनकं न, हि यतः दैत्यैः सह बद्धं वैरं याभिः ताः वद्धवैराः सक्ताविद्वेषाः सुरयुवतकः देवाङ्गनाः (समितिषु युद्धेषु) अस्य राज्ञः दुष्यन्तस्य ज्यामधिगतं अधिज्यं तस्मिन् अधिज्ये अधिगतगुणे धनुषि पुरुहूतस्य इन्द्रस्य इदं तस्मिन पौरुहूते इन्द्रसम्बन्धिनि वज्रे च विजयं आशंसन्ते आकांक्षन्ति । इन्द्रतुल्यवीरत्वादयमेकाकी दुष्यन्तो यदि कृत्स्नां पृथ्वीं पालयति कोऽत्राश्चर्यविषयावसरः इति भावः ।

उभौ—(पास जाकर) राजन् ! आपकी जय हो ।

राजा—(आसन से उठकर) आप लोगों को प्रणाम करता हूँ ।

उभौ—आपका कल्याण हो (फलों को भेंट करते हैं)

राजा—(प्रणाम पूर्वक स्वीकार कर) आज्ञा दीजिये ।

उभौ—सब आश्रम वासियों को ज्ञात है कि आप यहीं ठहरे हैं अतः वे आप से प्रार्थना करते हैं ।

राजा—क्या आज्ञा देते है ।

अनुकारिणि पूर्वेषां युक्तरूपमिदं त्वयि ।
आपन्नाभयसत्रेषु दीक्षिताः खलु पौरवा ॥१६॥

राजा—(सप्रणामम् ।) गच्छतां पुरो भवन्तौ । अहमप्यनुपदमागत एव ।

उभौ—विजयस्व । (इति निष्क्रान्तौ ।)

राजा—माढव्य ! अप्यस्ति शकुन्तलादर्शने कुतूहलम् ?

विदूषकः—पढमंपरीवाहं आसि । दाणि रक्खसव्वुत्ततेण विंदुवि णाविसेसिदो।

उभौ—पूज्यनीय महर्षि कण्व के समीप न होने से अर्थात् आश्रम से बाहर चले जाने से राक्षस हमारे यज्ञ में विघ्न डालते हैं । अतः आप अपने सारथी के साथ यहाँ कुछ रातें व्यतीत कर आश्रम को कृतार्थ करें ।

राजा—यह उनकी बड़ी कृपा है ।

विदूषकः—(अलग मुँह फेर कर) यह लो, अब तो आपकी अभिलाषा पूरी हुई, अर्थात् यही तो आप चाहते थे कि किसी बहाने आश्रम में पहुँच सकूँ, अब तो वहीं से निमन्त्रण मिल गया है ।

राजा—(मुस्कराकर) रैवतक ! मेरी आज्ञा से सारथी से कहो कि धनुष बाण सहित रथ ले आये ।

दौवारिक—जैसी महाराजा की आज्ञा ।

(जाता है)

उभौ—प्रसन्नता पूर्वक—

श्लोक १६ अन्वय—पूर्वेषां अनुकारिणि त्वयि इदं युक्तरूपम् (एवास्ति) आपन्नाभयसत्रेषु पौरवाः दीक्षितः खलु ।

शब्दार्थ :—पूर्वेषाम्=ययाति आदि राजाओं का, अनुकारिणि=अनुकरण करने वाले, रूप चारित्रय शौर्य्य दया दान यज्ञ पावित्र्यादिकों से उनके पद चिन्हों पर चलने वाले इदम्=यह, मुनिवचन पालन करना, उनको अभय देना, युक्तरूपम्=अत्यन्त योग्य उचित पौरवाः=पूरु वंशी राजा, आपन्नाभयसत्रेषु=आपन्ना=दुःखी जनों के लिए अभय प्रदान रूप यज्ञों में अर्थात् आर्तजनों को अभय देने में, दीक्षिताः=व्रतधारी

अनुवाद :—पूर्वजों का अनुकरण करने वाले आपके विषय में यह (मुनिजनों की आज्ञा पालन रूप) कार्य अत्यन्त उचित है । क्योंकि पुरुवंशी राजा विपत्तिग्रस्त जनों के अभयदान रूप यज्ञों में सदा दीक्षित अर्थात् व्रतधारी रहे हैं । इसमें सन्देह नहीं ।

व्याख्या—मुनि कुमार कहते हैं कि :—आप अपने पूर्वजों का अनुकरण करने वाले हैं, अतः जो अपने मुनि-वचनों का पालन करते हुए उन्हें अभय दान दिया, यह बात आपके योग्य ही है क्योंकि पुरु वंशी राजा विपत्तिग्रस्त लोगों को अभय प्रदान रूप में सदा ही दीक्षित रहे हैं इसमें सन्देह नहीं ।

विशेष :—"आप पूर्वजों का अनुकरण करने वाले हैं अतएव आप में यह उचित है" अतः काव्यलिङ्ग, उत्तरार्ध में (अभय रूप यज्ञ में) रूपक अलंकार, और उत्तरार्ध रूप कारण द्वारा पूर्वार्धगत कार्य का समर्थन है अतः अर्थान्तरन्यास अलंकार है । अनुष्टुप् छन्द है ।

अनुकर्तुं शीलमस्य अनु+कृ+णिनि सप्तम्येक वचने रूपम् । आ+पद्+क्त= आपन्नम् ।

[प्रथमं सपरीवाहमासीत् । इदानीं राक्षसवृत्तान्तेन विन्दुरपि नावशेषितः ।]

राजा—मा भैषीः; ननु मत्समीपे वर्तिष्यसे ।

विदूषकः—एसो रक्खसादो रक्खिदो म्हि [एष राक्षसाद्रक्षितोऽस्मि ।]

(प्रविश्य)

दौवारिकः—सज्जो रधो भट्टिणो विजअप्पत्थाणं अवेक्खदि । एस उणणअरादो देवीणं आणत्तिहरओ करभओ आअदो । [सज्जो रथो भर्तुर्विजय-प्रस्थानमपेक्षते । एष पुनर्नगराद्देवीनामाज्ञप्तिहरः करभक आगतः ।]

राजा—(सादरम्) किमम्बाभिः प्रेषितः ? ।

दौवारिकः—अह इं ? [अथ किम् ? ।]

राजा—ननु प्रवेश्यताम् ।

दौवारिकः—तह । (इति निष्क्रम्य करभकेण सह प्रविश्य ।) एसो भट्टा; उवसप्प । [तथा । एष भर्ता; उपसप ।

करभकः—जेदु भट्टा । देवी अणवेदि—आआमिणि चउत्थदिअहे पउत्थपारणो मे उववासो भविस्सदि । तहिं दाउणा अवस्सं संभाविदव्वात्ति । [जयतु भर्ता । देव्यज्ञापयति-आगामिनि चतुर्थदिवसे प्रवृत्तपारणो मे उपवासो भविष्यति । तत्र दीर्घायुषावश्यं संभावनीया—इति ।]

संस्कृत व्याख्या—पूर्वेषां पूर्वपुरुषाणां नृपाणां अनुकरोतीत्यनुकारी तस्मिन् अनुकारिणि शौर्यादिभिरनुकर्तरि त्वयि दुष्यन्ते इदं मुनिवचनपालनं तेभ्योऽभयदानञ्च युक्तरूपम् अतिशयेन योग्यम् इत्यर्थः, युक्त शब्दात् प्रशंसायां रूपप् प्रत्ययः, तथा हि—पौरवाः पुरुवंशोम्दवाः राजानः आपन्नानां विपत्तिग्रस्तानां अभयं अभयप्रदानं एवं सत्रं यागस्तेषु आपन्नाभयसत्रेषु दीक्षिताः धृतवृताः अभूवन् खलु इति निश्चितम् ।

उक्ता अलंकाराः । अनुष्टुप् वृत्तम् ।

राजा :—(प्रणाम करके) आप लोग आगे चलें । मैं भी पीछे ही आ रहा हूँ ।

उभौ :—(चले जाते हैं)

राजा :—माढव्य ! क्या तुम्हें शकुन्तला के देखने की इच्छा है ?

विदूषक :—पहिले तो (यह इच्छा) बाढ़ पर थी पर अब तो राक्षसों के समाचार से एक बूँद भी शेष नहीं रह गई ।

(सपरीवाहम्=प्रवाहयुक्त—बाढ़ पर—उत्कट)

राजा :—मत डरो, तुम तो मेरे ही पास रहोगे न ।

विदूषक :—हाँ, तब तो मैं राक्षसों से बच गया ।

(प्रवेश करके)

दौवारिक :—रथ तैयार है आपको विजय यात्रा की प्रतीक्षा कर रहा है । और यह राजधानी से राज माता की आज्ञा लेकर करभक भी आया है ।

राजा :—क्या माताजी ने भेजा है ?

दौवारिक :—जी हाँ, और क्या ?

राजा—इतस्तपस्विकार्यम्; इतो गुरुजनाज्ञा । द्वयमप्यनतिक्रमणीयम्; किमत्र प्रतिविधेयम् ? ।

विदूषक—तिसंकु विअ अंतराले चिट्ठ । [त्रिशङ्कुरिवान्तराले तिष्ठ ।]

राजा—सत्यमाकुलीभूतोऽस्मि—

कृत्ययोर्भिन्नदेशत्वाद् द्वैधीभवति मे मनः ।
पुरः प्रतिहतं शैले स्रोतः स्रोतोवहो यथा ॥ १७ ॥

(विचिन्त्य ।) सखे ! त्वमम्बया पुत्र इति प्रतिगृहीतः । अतो भवानितः । प्रतिनिवृत्य तपस्विकार्यव्यग्रमानसं मामावेद्य तत्रभवतीनां पुत्रकृत्यमनुष्ठातुमर्हति ।

विदूषकः—ण खु मं रक्खोभीरुअं गणेसि । [न खलु मा रक्षोभीरुक गणय ।]

राजा—(सस्मितम् ।) कथमेतत्सम्भवति संभाव्यते ? ।

राजा :—प्रवेश कराओ ।

दौवारिक :—जो आज्ञा । (निकल कर करभक के साथ प्रवेष कर) महाराज यहाँ हैं, जाइये ।

करभक :—महाराज की जय हो । माताओं ने आज्ञा दी है कि आगामी चौथे दिन मेरे उपवास की पारणा (व्रतान्त भोजन) होगी तो उस दिन चिरंजीव (आप) उपस्थित होकर हमें आनन्दित करें ।

राजा :—इधर तो तपस्वियों का कार्य है और इधर गुरुजनों की आज्ञा । दोनों ही अनुल्लंघनीय हैं तो अब इस सम्बन्ध में क्या करना चाहिये ।

विदूषक :—तो अब त्रिशंकु की तरह बीच में लटके रहिये ।

राजा :—सचमुच मैं बड़ा व्याकुल हो रहा हूँ, उलझन में पड़ गया हूँ ।

श्लोक १७ अन्वय :—कृत्ययोः भिन्नदेशत्वात् मे मनः द्वैधी भवति यथा पुरः शैले प्रतिहतं स्रोतोवहः स्त्रोतः (द्वैधी भवति) ।

शब्दार्थ :—कृत्ययोः=दोनों कार्य के, तपोवन पालन और मातृसम्भावन अर्थात् माता के पास जाकर प्रदर्शन करना, भिन्नदेशत्वात्=दोनों कार्यों के भिन्न-भिन्न स्थानों में होने के कारण अर्थात् मातृदर्शन के लिए तो नगर में जाना होगा और आश्रम-पालन के लिए तपोवन में रहना होगा । अतः दोनों कार्य दूरवर्ती, दो भिन्न-भिन्न स्थानों में होने वाले हैं, द्वैधी भवति=द्विविधा से पड़ गया है, क्या करना चाहिए, यह निश्चय नहीं कर पा रहा हूँ । पुरः=आगे, शैले=पर्वत पर, प्रतिहतं=रोका गया, स्रोतोवहः=नदी के, स्रोतः=प्रवाह ।

अनुवाद :—दोनों कार्यों के भिन्न-भिन्न स्थानों में होने के कारण मेरा मन (उसी प्रकार) द्विविधा में पड़ गया है जैसे नदी का प्रवाह आगे पर्वत पर अवरुद्ध होकर (दो धाराओं) में बंट कर बहने लगता है ।

व्याख्या—करभक से यह जानकर कि माता के वृतान्त पारण के समय उसे अवश्य नगर में उपस्थित होना है और इधर आश्रम की रक्षा भी करनी है, राजा बड़ी उलझन में पड़ कर कहता है मित्र ! मैं क्या करूं, दोनों कार्य दो भिन्न-भिन्न स्थानों में पड़ रहे हैं अतः मेरा मन दुविधा में उसी प्रकार पड़ गया है अर्थात् दुविधा में पड़े हुए मेरे मन की वही दशा हो रही है जैसी एक उस नदी के प्रवाह की होती है जो कि आगे तो शिला समूहों पर रोक दिया गया हो और पीछे भी न लौट सकता हो । अतः वह दो धाराओं में बँट कर बहने लगा हो । मैं भी कभी नगर जाने के लिए सोचता हूँ और कभी तपोवन की रक्षा के लिये यहीं रहने के लिए सोचता हूँ । अतः द्विविधा में पड़ा हुआ हूँ ।

विदूषकः—जह राआण एण गंतव्वं तह गच्छामि। [यथा राजानुगेन गन्तव्यं तथा गच्छामि।]

राजा—ननु तपोवनोपरोधः परिहरणीय इति सर्वानानुयात्रिकांस्त्वयैव सह प्रस्थापयामि।

विदूषकः—तेण हि जुवराजो म्हि दाणिं संवुत्तो। [तेन हि युवराजोऽस्मीदानीं संवृत्तः।]

राजा—(स्वगतम्।) चपलोऽयं बटुः। कदाचिदस्मत्प्रार्थनामन्तःपुरेभ्य कथयत्। भवतु; एनमेवं वक्ष्ये। (विदूषकं हस्ते गृहीत्वा, प्रकाशम्।) वयस्य! ऋषिगौरवादाश्रमं गच्छामि। न खलु सत्यमेव तापसकन्यकायां ममाभिलाषः। पश्य—

विशेष—मन निरवयव होता है तथापि उसका द्वैधीभाव कहा गया है अतः असम्बन्ध में सम्बन्ध कल्पना की गई है इसलिये असम्बन्धे सम्बन्ध लक्षणा अतिशयोक्ति है। उपमा। स्रोतः स्रोतो लटानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, छेकानुप्रास। यहाँ नदी आदि शब्द का प्रयोग न कर जो स्रोतोवह का प्रयोग किया गया है अतः इससे महा नदी अर्थ ध्वनित होता है क्योंकि अल्प जल वाला स्रोत तो पर्वतों से टकरा कर रुक भी जाता है। अनुष्टुप् छन्द।

संस्कृत व्याख्या—कृत्ययोः आश्रमपालनमातृसम्भावनरूपयोः द्वयोः कार्ययोः भिन्नदेशत्वात् परस्परव्यवहितप्रदेशस्थत्वात् तपोवन नगररूपस्थान द्वयसाध्यत्वात् मे मम मनः अन्तःकरणं, यथा पुरः अग्रे शैले शिलासंघाते प्रतिहतं प्रतिरुद्ध स्रोतोवहः नद्यः स्रोतः प्रवाहः (तथैव) द्वैधीभवति, नैकत्रकर्मणि स्वजते, कार्यद्वयमपि कर्तव्यबुद्ध्या कर्तुमिच्छति। परन्तु मातृकार्यस्य नगरे मुनिकार्यस्य च तपोवने सत्त्वा-देकदैव तयोरनुष्ठानासम्भवान्मे मनः संशयाकुलं भवतीत्यर्थः।

(सोच कर) मित्र! तुम भी मेरी माता के द्वारा पुत्र के समान ही माने जाते हो। अतः आप यहाँ से लौट कर और यह बता कर कि मैं तपस्वियों के काम में व्यस्त हूँ, पूज्य माता का, पुत्र के करने के योग्य कार्य कर देना।

विदूषक :—मुझे राक्षसों से डरने वाला मत समझिये।

राजा—(मुस्करा कर) नहीं, आपसे भला ऐसी सम्भावना कैसे हो सकती है? अर्थात् तुम राक्षसों से नहीं डर सकते।

विदूषक :—तो फिर मैं उसी तरह जाऊँगा जैसे राजा का छोटा भाई जाता है।

राजा—तपोवन का उपरोध (घेरा) तो दूर करना ही है इसलिए मैं सभी अपने अनुचरों को तुम्हारे साथ लौटा रहा हूँ।

विदूषक :—तब तो मैं अब युवराज बन गया हूँ।

राजा—(मन ही मन) यह ब्राह्मण बड़ा चंचल है, कहीं मेरी (शकुन्तला सम्बन्धी) अभ्यर्थना को रानियों से न कह दे, अच्छा तो मैं इससे इस प्रकार कहता हूँ (विदूषक का हाथ पकड़ कर प्रकट) मित्र! ऋषियों के महत्व का ध्यान करके ही मैं आश्रम में जाता हूँ और वास्तव में उस तापस कन्या के लिए तो मेरी कुछ भी अभिलाषा नहीं है। देखो—

क्व वयं क्व परोक्षमन्मथो
मृगशावैः सममेधितो जनः ।
परिहासविजल्पितं सखे !
परमार्थेन न गृह्यतां वचः ॥ १८ ॥

श्लोक १८ अन्वय—वयं क्व मृगशावैः समं एधितः (अतएव) परोक्षमन्मथः जनः क्व सखे ! परिहासविजल्पितं वचः परमार्थेन न गृह्यताम् ।

शब्दार्थ—वयं=हम लोग अर्थात् सकल कलाकोविद नागरिक जनः, क्व=कहाँ मृगशावैः=हरिणों के बच्चों के; समं=साथ, एधितः=परिवर्धित अतएव परोक्षमन्मथः= काम कला से सर्वथा अनभिज्ञ, जनः—शकुन्तला सदृश वनवासी मुग्ध जन, परिहास-विजल्पितं=हँसी-हँसी में कहा गया, परमार्थेन=सत्य रूप में, न गृह्यताम्=न ग्रहण कीजिए ।

अनुवाद:—कहाँ तो हम अर्थात् सकल कला कोविद नागरिक, और कहाँ मृगों के बच्चों के साथ परिवर्धित अतएव काम की कला में अनभिज्ञ वह (शकुन्तला रूपी) जन- व्यक्ति । हे मित्र ! हँसी-हँसी में की गई बातों को सत्य रूप में न ग्रहण करना ।

व्याख्या—दुष्यन्त यह सोच कर कि यह वाचाल है, कहीं शकुन्तला-विषयक मेरे प्रेम की बात अन्तःपुर में भी न कह दे, उससे कहता है कि कहाँ तो हम जो सकलकलाकोविद नागरिक हैं और कहाँ प्रेम की बातों से सर्वथा अनभिज्ञ, मृगशावकों के साथ पली हुई वह मुनिकन्या शकुन्तला अर्थात् हम दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है, अतः मित्र ! मैंने जो हँसी-हँसी में तुमसे इतनी बातें कहीं हैं उन्हें तुम सत्य मत समझना, क्योंकि परिहास में कही गई बातें असत्य होती हैं । अर्थात् शकुन्तलानुरागवर्णनादि मेरी सब बातें असत्य हैं ।

विशेष:—'वयम्' इस पद में बहुवचन निर्देश से राजागत अनेक राजोपचार युक्तत्व तथा नानाविधकुशलत्व सूचित होता है ।

एधितः अर्थात् पालित (कण्व द्वारा पालित) अथवा समेधितः एक पद है तब उसका अर्थ होगा समान अर्थात् मृग शावकों के समान ही कण्व द्वारा पालित हुई । अतएव परोक्षमन्मथा ।

प्रस्तुत श्लोक में यद्यपि राजा ने असत्य भाषण किया है तथापि नर्म वचन में असत्य भाषण दोष नहीं माना जाता, यदि यह कहा जाय कि "न वितथा: परिहासकथास्वपि" पूर्व शिष्टाचार तो ऐसा ही है कि परिहास में भी असत्य बोलना दोष है तो राजा ने धीरोदात्तत्व पालनार्थ ऐसा कहा है, यह मानना चाहिए ।

क्व वयं इति तथा परोक्षमन्मथः जनः यह परस्पर विरुद्ध धर्मों का संघटन रूप विषमालंकार है ।

परोक्षमन्मथत्व रूपार्थ को उद्देश्य करके मृगशावैः समेधितत्वरूप वाक्यार्थ का हेतुत्वेन उपन्यास किया गया है अतः वाक्यार्थ हेतुक काव्यलिङ्ग है, कोई यहाँ परिकरालंकार मानते हैं, सहोक्ति, पुनरुक्तवदाभास, वृत्यनुप्रास । सुन्दरी छन्द है । अयुजोर्यदि सौ जगो युजोः सभरा लगौ सुन्दरी मता अर्थात् जिसके विषम चरणों में सगण सगण जगण तथा गुरु वर्ण हों तथा सम चरणों में सगण भगण रगण लघु गुरु दो वर्ण हों वह सुन्दरी छन्द होता है ।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

इति द्वितीयोऽङ्कः ।

। । ऽ । । ऽ । ऽ । ऽ
क्व व यं, क्व प रो, क्ष म न्म, थः
। । ऽ ऽ । । ऽ । ऽ ल० गु०
मृ ग शा, वैः स म, मे धि तो ज नः

एध्+क्त=एधितः । ग्रह कर्मणि लोट्=गृह्यताम् ।

संस्कृत व्याख्या:—वयं नागरिकाः क्व कुत्र मृगशावैः मृगशिशुभिः समं सह एधितः वर्धितः अतएव परोक्षः कैश्चिदपि करणैरगोचरो भूतः, मनः मथ्नातीति मन्मथः कामः, परोक्षः मन्मथः यस्य स परोक्षमन्मथः कामकलानभिज्ञः जनः शकुन्तलासदृशः जनः क्व कुत्र नास्माकमीदृशकर्मणि प्रवृत्तिः कथमपि सम्भाव्यते इत्याशयः । मृगशावैरित्यनेन तस्या मौग्ध्यातिशयः ध्वनितः । सखे ! परिहासेनोपहासेन विजल्पितं कथितं परिहासविजल्पितं त्वः वचनं परमार्थेन तत्त्वतः (सत्यमेतदिति) न गृह्यताम् स्वीक्रियताम् अर्थात् मत्कृतं शकुन्तलानुरागवर्णनादिकं सर्वं काल्पनिकं न तथ्य मासीदिति भावः, अलंकारा उक्ताः । वैतालीयं वृत्तम् ।

"राजा (स्वगतम्)" से यहाँ तक संवृत्तिः नामक सन्ध्यान्तराङ्ग है "संवृत्तिः स्वयमुक्तस्य स्वयं पृच्छादनं भवेत्" अर्थात् ।

जहाँ अपना कहा हुआ अपने आप छिपाया जाय ।

इस प्रकार सब निकल जाते हैं ।

इति द्वितीयोऽङ्कः

तृतीयोऽङ्कः ।

(ततः प्रविशति कुशानादाय यजमानशिष्यः ।)

शिष्यः—अहो ! महानुभावः पार्थिवो दुष्यन्तः । प्रविष्टमात्र एवाश्रम तत्रभवति राजनि निरुपद्रवाणि नः कर्माणि प्रवृत्तानि भवन्ति ।

का कथा बाणसंधाने ज्याशब्देनैव दूरतः ।
हुंकारेणेव धनुषः स हि विघ्नानपोहति ॥ १ ॥

यावदिमान्वेदिसंस्तरणार्थं दर्भानृत्विग्भ्य उपनयामि । (परिक्रम्यावलोक्य च; आकाशे) प्रियंवदे ! कस्येदमुशीरानुलेपनं मृणालवन्ति च नलिनीपत्राणि नीयन्ते ? (आकर्ण्य) किं ब्रवीषि ? आतपलङ्घनाद्बलवदस्वस्था शकुन्तला; तस्याः शरीर-निर्वापणायेति तर्हि त्वरितं गम्यताम् । सखि ! सा खलु भगवतः कण्वस्य कुलपतेरुच्छ्वसितम् अहमपि तावद्वैतानिकं शान्त्युदकमस्यै गौतमीहस्ते विसर्जयिष्यामि । (इति निष्क्रान्तः)

विष्कम्भकः ।

तृतीयोऽङ्कः

(तदन्तर कुशों को लेकर कण्वशिष्य का प्रवेश)

यजमान=याज्ञिक, यज्ञ करने वाला, यहाँ यजमान से तात्पर्य है यज्ञानुष्ठान करने वाले महर्षि कण्व ।

शिष्य—(विस्मय के साथ) महाराज दुष्यन्त का बड़ा प्रभाव है । जिस आदरणीय राजा के आश्रम में प्रवेश मात्र करते ही हमारे सब यज्ञादि कर्म निर्विघ्नता पूर्वक होने लगे हैं।

श्लोक १ अन्वय—बाणसन्धाने का कथा हि स (राजा) दूरतः धनुषः हुंकारेण एव ज्याशब्देन एव विघ्नान् अपोहति ।

शब्दार्थ—बाण सन्धाने=बाण चढ़ाने के विषय में, अपोहति=दूर कर देता है।

अनुवाद—बाण चढ़ाने की तो बात ही क्या, वह राजा तो धनुष् की हुंकार तुल्य प्रत्यञ्चा की टंकार से ही दूर से ही विघ्नों को दूर कर देता है ।

व्याख्या—ऋषि कुमार राजा की वीरता की प्रशंसा करता हुआ कहता है कि धनुष चढ़ाने की तो बात ही क्या, वह राजा तो धनुष् की हुंकार तुल्य केवल प्रत्यञ्चा की टंकार से ही विघ्नों को दूर कर देता है ।

तात्पर्य है कि उसे धनुष चढ़ाने की आवश्यकता ही नहीं होती वह अपनी प्रत्यञ्चा की टंकार से ही जो धनुष की हुंकार जैसी ज्ञात होती है, दूर से ही राक्षसादि यज्ञ विघ्न-कारियों को दूर कर देता है।

विशेष—कथा का अर्थात् उसका तो कोई प्रसंग ही नहीं आता। का कथा इस स्थान पर अर्थापत्ति अलंकार है, हुंकारेण इव यहां पर उत्प्रेक्षालंकार है, और यह उत्प्रेक्षा समासोक्ति गर्भा है क्योंकि धनुष पर चेतनत्व का आरोप किया गया है, इससे अनायास ही राजा ने विघ्नों को दूर कर दिया है, यह ध्वनित होता है। दूरतः इससे विघ्नों का अनायास निराकरण द्योतित होता है। धनुष से मुनि साम्यता बतलाई गई है ऐसा भी किसी का व्याख्यान है।

यहां वीर रस है। अष्टाक्षरात्मक अनुष्टुप् छन्द है।

संस्कृत व्याख्या=वाणस्य सन्धानं तस्मिन् वाणसन्धाने धनुषि शरारोपणे का कथा किमुच्यते वाणसन्धानस्य प्रसंग एव नायातीत्यर्थः, हि यतः स राजा धनुषः स्वशरासनस्य हुंकारेण "हूं" इति शब्देन एव ज्यायाः शब्दः तेन ज्याशब्देन स्वमौर्वीटंकारेण एव विघ्नान् यज्ञविध्वंसकारिणः राक्षसादीन् दूरत एव अपोहति निराकरोति अर्थात् दुष्यन्तेन अनायासेनैव सर्वे विघ्ना निरस्ता इति भावः। उक्ता अलंकारा, अनुष्टुप् वृत्तम्।

तो चलूं, ऋत्विज़ों के लिए यज्ञीय वेदी पर बिछाने के हेतु इन कुशों को पहुंचा दूं (घूम कर आकाश की ओर देख कर) प्रियम्वदे! यह खश का अनुलेप (लेप) और कमल दण्ड सहित अर्थात् डंठल वाले ये कमलिनी के पत्ते किस के लिये ले जा रहे हैं। (सुनकर अर्थात् ऐसा अभिनय करके मानो वह किसी की बात सुन रहा है) क्या तुम यह कहती हो कि आतप लङ्घनात्—अर्थात् लू लग जाने से शकुन्तला बलवत्—(बहुत अधिक) अस्वस्थ हो गई है अर्थात् लू के कारण बहुत बेचैन हो रही है उसके शरीर को निर्वापणाय—शीतलता प्रदान कर स्वस्थ करने के लिये (इन्हें ले जा रही हूं) तो शीघ्र जाइये। सखी! शकुन्तला तो भगवान् कुल पति कण्व के प्राण के समान है। (उच्छ्वसति=प्राण—जीवन, प्राणाधिक प्रिय) और मैं भी तब तक उसके लिये गौतमी के हाथ से यज्ञ का शान्ति-जल भेजूंगा। (वैतानिकं=यज्ञ में मन्त्रों द्वारा अभिमन्त्रित पवित्र जल) (जाता है)

विष्कम्भकः—जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि नीरस पर अत्यन्त आवश्यक कथांश विषकम्भक द्वारा अङ्क के आदि में सूचित किया जाता है। विष्कम्भनाति=नियोजयति पूर्वापरकथा-भागं य सः विष्कम्भकः अर्थात् पूर्वापर कथा भाग को जोड़ने वाला कथा विशेष का भाग। इस व्युत्पत्ति से यह स्पष्ट है कि विष्कम्भक कथा वस्तु की पूर्वापर कड़ी जोड़ने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। और जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि भारतीय नाटकों में युद्ध, वध आदि व्यापार मञ्च पर प्रत्यक्ष दिखाना वर्जित है अतएव द्वितीय अंक में जब यह बताया गया था कि राजा यज्ञ में विघ्नकारियों के वध के लिए प्रस्थान करता है और उसी के बाद अंक समाप्त हो जाता है, क्योंकि वध नहीं दिखाया जाना चाहिए था अतः जब आगे कथा भाग को जोड़ने के लिए पूर्व घटना को बताना आवश्यक था इसीलिये विषकम्भक की योजना की गई है।

अतः सारांश यह है कि विष्कम्भक पूर्व घटित ऐसे वृत्त की सूचना देने के लिये, जो कि मञ्च पर न दिखाया जा सकता हो, नियोजित किया जाता है जैसा कि प्रस्तुत अङ्क में है, इसके अतिरिक्त विष्कम्भक भावी कथा को भी सूचित करता है अर्थात् बीच में टूटी हुई कथा की कड़ी को आगे की कथा से जोड़ भी देता है। द्वितीय अङ्क में शकुन्तला अपना अनुराग प्रकट कर चली जाती है और इधर राजा राक्षसों के बध के लिए चला जाता है। अतः इस युद्ध की कथा के बीच में आ पड़ने से मुख्य कथा की कड़ी विच्छिन्न हो जाती है

(ततः प्रविशति कामयमानावस्थो राजा ।)

राजा—(निः श्वस्य ।)

यह विष्कम्भक फिर उसे जोड़ देता है, अर्थात् यह सूचित करता है कि शकुन्तला काम पीड़ित हो संतप्त हो रही है और सखियाँ उसका उपचार कर रही हैं। इस प्रकार पूर्वापर कथांशों को मिलाने के कारण यह विष्कम्भक बड़ा उपयोगी होता है इसकी कथा बहुत संक्षिप्त होती है और इसका प्रयोग अङ्क के आदि में होता है। यह प्रायः मध्यम पात्रों या पात्र द्वारा प्रयुक्त होता है। जैसा कि दर्पणकार ने कहा है—

वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः ।
संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शितः ॥
मध्येन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां सम्प्रयोजितः ।
शुद्धः स्यात् स तु संकीर्णो नीचमध्यमकल्पितः ॥

अर्थात् विष्कम्भक दो प्रकार का होता है, १—शुद्ध, जिसमें मध्य पात्र हों (एक या दो)। दूसरा संकीर्ण जो नीच पात्रों द्वारा प्रयुक्त हो। यहाँ कण्वशिष्य एक ही मध्यम पात्र है उसी के द्वारा भूत भविष्यत्कथांशों की सूचना दी गई है अतः यह शुद्ध विष्कम्भक है।

इसी को सुधाकर में कुछ भिन्न ढंग से कहा गया है—

"तत्र विष्कम्भको भूतभाविवस्त्वंशसूचकः,
अमुख्यपात्ररचितः संक्षेपैकप्रयोजनः ।
द्विधा स शुद्धो मिश्रश्च मिश्रः स्यान्नीचमध्यमैः
शुद्धः केवलमध्योऽय मेकानेककृतो द्विधा ।

अर्थात् मिश्र या संकीर्ण विष्कम्भक में नीच या मध्यम पात्र दोनों ही हो सकते हैं। परन्तु शुद्ध में केवल एक मध्यम अथवा अनेक मध्यम पात्र रह सकते हैं। अतएव यह शुद्ध दो प्रकार का होता है। इस प्रकार प्रस्तुत विष्कम्भक एक मध्यम पात्र प्रयुक्त होने से शुद्ध विष्कम्भक है। क्योंकि कण्व शिष्य द्वारा यहाँ पर दुष्यन्त के आश्रम में प्रवेश करने से तापस जनों के कार्य निर्विघ्नता-पूर्वक चलने लगे हैं, इस भूतकार्यांश की सूचना दी गई है और आतपलङ्घन से शकुन्तला के भावी विरह की भी सूचना दी गई है।

किन्हीं आचार्यों का मत है कि शुद्ध विष्कम्भक वह होता है जहाँ पात्र केवल संस्कृत भाषी हों तथा संकीर्ण वह होता है जहाँ मिश्रित प्राकृत व संस्कृत दोनों भाषाएँ प्रयुक्त हों। और केवल वर्तिष्यमाण कथांशसूचक भी विष्कम्भक होता है। परन्तु प्रकृत में इसका कोई उपयोग नहीं, यहाँ शुद्ध विष्कम्भक है। और वह भावी तथा भूत दोनों कथांशों का सूचक है।

आकाशे=अर्थात् बिना किसी अन्य पात्र के सम्मुख उपस्थित हुए ही वार्तालाप करना। प्रस्तुत विष्कम्भक में प्रियम्वदा उपस्थित नहीं है फिर भी कण्व शिष्य उससे बात करता सा प्रतीत होता है, ऐसे स्थल पर अदृश्य पात्र बोलता नहीं प्रत्युत उपस्थित पात्र ही स्वयं प्रश्नोत्तर करता है। जैसा कि धनञ्जय ने कहा है—

किं ब्रवीष्येवमित्यादि विना पात्रं [illegible]ति यत्
श्रुत्वेवानुक्तमप्येतः तत्स्यादाकाशभाषितम्

अर्थात् जब क्या कहते हो आदि कहकर कोई पात्र बोलता है और मानो बिना कही हुई ही बात सुनकर उत्तर देता है वह आकाश भाषित कहलाता है। इसे नाट्यधर्म कहते हैं—

तदन्तर विरही राजा का प्रवेश

जाने तपसो वीर्यं सा बाला परवतीति मे विदितम् ।
अलमस्मि ततो हृदयं तथापि नेदं निवर्तयितुम् ॥२॥

(मदनबाधां निरूप्य ।) भगवन्कुसुमायुध ! त्वया चन्द्रमसा च विश्व सनीयाभ्याम तिसंधीयते कामिजनसार्थः । कुतः ?

(कामयमानः—विरहावस्था को प्राप्त । कहीं कामयानः यह पाठ है वहाँ इसका अर्थ है काम के यान अर्थात् उदगमन में या आरोहण में जो अवस्था अभिलाषा आदि, इनसे युक्त अर्थात् काम जन्य अभिलाषादि अवस्था से युक्त)

राजा :—लम्बी साँस लेकर :—

श्लोक.२ अन्वय :—तपसो वीर्यं जाने, सा वाला परवती इति मे विदितम्, तथापि इदं हृदयं ततः निर्वतयितुं (अहं) अलं न अस्मि ।

शब्दार्थ :—तपसो वीर्यं जाने=मैं मुन्यियों की तपस्या की शक्ति, सामर्थ्य को जानता हूं अर्थात् मुनिजन अपनी तपस्या के बल से निग्रहानुग्रह की सामर्थ्य रखते हैं इस बात को मैं भली भाँति जानता हूं । अतः बलात्कार से उसका न तो अपहरण ही करना सम्भव है और न रहःसम्भोग ही सम्भव है क्योंकि यदि इन बातों का किसी भी प्रकार मुनि को पता लग गया तो वह तपोबल से मुझे भस्म कर देगा । सा बाला परवती (परतन्त्र) इति मे विदितम्=अर्थात् मुझे यह भी ज्ञात है कि वह बाला शकुन्तला अपने गुरुजनों के अधीन है अतः गुरुजनों की आज्ञा के बिना वह स्वतः प्रवृत्त होने में सर्वथा असमर्थ है अतएव यह भी सम्भव नहीं कि सखियों की अनुमति के अनुसार ही वह प्रवृत्त हो सके । अतः सर्वथा उसका समागम दुर्लभ है । तो फिर जब वह मिल ही नहीं सकती तो उस ओर से अपने चित्त को हटा लेना चाहिये यदि यह कहा जाय तो इसके उत्तर में राजा कहता है कि अलमिति :—अर्थात् फिर भी उससे अपने चित्त को हटाने में मैं असमर्थ हूँ ।

अनुवाद :—मैं तप की सामर्थ्य को जानता हूं, और यह भी मुझे विदित है कि वह बाला (भोली-भाली नायिका) परतन्त्र है अर्थात् गुरुजनों के अधीन है । तो भी मैं अपने इस मन को उस पर से हटाने के लिए असमर्थ हूं ।

व्याख्या :—कामासक्त राजा कहता है कि :—मैं तपस्वियों के तप की सामर्थ्य को भली भाँति जानता हूँ अतः शापादिभय से मैं उसे हर कर भी नहीं ले जा सकता और न रहःसम्भोगादि कर सकता हूँ । और यह भी जानता हूँ कि भोली भाली नायिका अपने गुरुजनों के अधीन है अतः वह अपनी सखियों की अनुमति पाकर भी गुरुजनों की आज्ञा बिना स्वयं मेरे साथ चल भी नहीं सकती, विवाह नहीं कर सकती, क्योंकि यह सब उसके हाथ में नहीं है अतः इससे यद्यपि यह स्पष्ट है कि मुझे इस परिस्थिति में उसके लिए अभिलाषा न करनी चाहिए फिर भी न जाने क्या बात है कि मैं अपना मन उस पर से हटा नहीं पा रहा हूं ।

'जाने' इस पद से विश्वास द्योतित होता है अर्थात् राजा कहता है कि मुझे पूर्ण विश्वास है । और इससे यह कार्य रूप प्रस्तुत अर्थ भी प्रतीत होता है कि यदि मैंने बलात्कार द्वारा उसका अपहरण किया या रहः सम्भोग किया तो मुनि जन शाप द्वारा मुझे भस्म कर देंगे । 'सा' पद राजा के अनुभूत अर्थ का द्योतक है जिससे राजा शकुन्तला के पूर्वानुभूत कटाक्षमन्दस्मित आदि तथा उसके अनुराग की स्मृति करता है ।

'बाला' पद शकुन्तला के कर्तव्यानभिज्ञत्व का द्योतक है अर्थात् यह बाला है अतएव गुरुजनाधीन है अतएव आत्मदान में असमर्थ है, स्वतन्त्र रूप से कुछ नहीं कर सकती, कामासक्त होते हुए भी सखीजनों की अनुमति पाकर भी स्वकर्तव्य निश्चित नहीं कर सकती ।

तव कुसुमशरत्वं शीतरश्मित्वमिन्दो-
द्वयमिदमयथार्थं दृश्यते मद्विधेषु ।
विसृजति हिमगर्भैरग्निमिन्दुर्मयूखै-
स्त्वमपि कुसुमबाणान्वज्रसारीकरोषि ॥३॥

'मे' मया के अर्थ में निपात है "ते मे शब्दौ निपातौ त्वया मयेत्यर्थे" इस वचनानुसार मे का अर्थ मया है अथवा विदितम् में जो भाव में क्त प्रत्यय है उससे शेषविवक्षा में 'मे' में कर्तरि षष्ठी है।

'इदम्' यह मेरा मन जो कि मुझसे सदा सम्बन्धित है और फिर भी मुझे छोड़कर शकुन्तला से क्षणमात्र के लिए परिचित होकर उसमें आसक्त हो गया है, अतः इस स्वार्थी निर्लज्ज मन को मैं "ततः" शकुन्तला के पास से हटाने में 'नालम्' समर्थ नहीं हूँ अर्थात् यह स्वयं तो हटता ही नहीं और मैं भी नहीं हटा पा रहा हूँ।

प्रथमार्ध में अप्रस्तुत प्रशंसालंकार है क्योंकि 'बलात्कार' से उसका अपहरण नहीं किया जा सकता' इस कार्य के प्रस्तुत रहने पर भी यहाँ अप्रस्तुत "तपसो वीर्यं जाने" इस कार्य का कथन किया गया है। द्वितीयार्ध में श्रौतोपमालंकार है। आर्या जातिः छन्द है।

संस्कृत व्याख्या—तपसः तपोनियमस्य वीर्यं सामर्थ्यं (अहं) जाने अवगच्छामि, सा पूर्वोक्ता बाला मुग्धा नायिका शकुन्तला परवती गुरुजनाधीना इति मे मया विदितम् ज्ञातम् तथापि (अहं) ततः शकुन्तलासकाशात् इदं तदनुरक्तं हृदयं मनः निवर्तयितुं अपनेतुं न अलं अस्मि , समर्थो नास्मि । अलंकारा उक्ताः, आर्या जातिः ।

(काम पीड़ा का अभिनय करके)

काम पीड़ा का अभिनय करते समय सिर का हिलना, हाथों का इतस्ततः विक्षेप तथा दृष्टि का शून्य होना आदि दिखाया जाता है।

भगवान् कामदेव ! विश्वासपात्र भी तुम्हारे और चन्द्रमा दोनों के द्वारा विरही जनों को बड़ा धोखा दिया जाता है अर्थात् तुम दोनों विरहियों को बहुत सताते हो, दिखाते हो, करते कुछ हो (कामिजन सार्थः=कामीजनों का समूह, काम संतप्त अर्थात् विरही जन) संधीयते=वञ्चित किया जाता है। "वञ्चनं चाभिसंधानं व्यलीकञ्च प्रतारणम्, हेमचन्द्र कोश । काम कुसुमशर है और चन्द्र शीत रश्मि, अतएव तुम दोनों कोमल होने से विश्वास पात्र हो पर तुम्हारा काम वञ्चना पूर्ण है क्योंकि :—

श्लोक व अन्वय—तव कुसुमशरत्वं, इन्दोः शीतरश्मित्वं, इदं द्वयं मद्विधेषु अयथार्थं दृश्यते, इन्दुःहिमगर्भैः मयूखैः अग्निं विसृजति, त्वम् अपि कुसुमबाणान् वज्रसारीकरोषि।

शब्दार्थ—कुसुमशरत्वम्=कुसुमशर कुसुमायुध होना, शीतरश्मित्वम्=शीतल किरणों वाला होना, अयथार्थं=असत्य, मद्विधेषु=हम जैसों पर विसृजति=फैलाता है, बरसाता है, हिमगर्भैः हिम से भरी हुईं, वज्रसारी करोषि=वज्रवत् कठोर करते हो।

अनुवाद—तुम्हारा पुष्प बाण होना और चन्द्रमा का शीतरश्मि वाला होना, ये दोनों ही बातें हमारे जैसे लोगों के विषय में असत्य दिखलाई पड़ती हैं। चन्द्र तो हिम से भरी हुई अपनी किरणों से अग्नि बरसाता है और तुम भी अपने पुष्प बाणों को वज्रवत् कठोर बना रहे हो।

व्याख्या—काम पीड़ित राजा कहता है कि हे कामदेव तुम और चन्द्रमा संसार के बड़े विश्वासपात्र हो फिर भी तुम दोनों मिलकर कामियों को बहुत संताते हो बड़ा धोखा देते हो। क्योंकि: तुम्हारा कुसुमायुध (पुष्प बाण धारण करने वाला) कहा जाना या माना जाना तथा चन्द्रमा का शीतरश्मि (ठण्डी किरणों वाला) कहा जाना वे दोनों ही बातें मुझ

जैसे विरहियों के विषय में झूँठी ही जान पड़ती हैं क्योंकि चन्द्रमा तो अपनी ठण्डी (हिम से परिप्लावित) किरणों से आग बरसाता है और तुम भी अपने फूलों के वाणों को वज्र की तरह कठोर बना रहे हो मानो तुमने अपने सुकुमार भी वाणों में वज्र की कठोरता ही भर ली हो।

विशेष :—'तव' पद से तुम्हारा अर्थात् वञ्चक कामदेव का, 'कुसुम' पद से वाणों की अत्यन्त कोमलता सौम्यता व सरलता ध्वनित होती है। शीतरश्मित्वं इस पद से चन्द्र किरणों का शैत्यकारित्व ही सम्भावित है फिर अग्नि वर्षण रूप यह तापकारित्व कैसा, यह विपरीतिता कैसी, यह ध्वनित होता है। क्योंकि शीतरश्मित्व से यह स्पष्ट है कि चन्द्र किरणें त्रिकाल में भी उष्ण नहीं हो सकतीं। अयथार्थम्=विपरीतार्थकारित्व, विरुद्धाचारित्व अनन्वर्थ संज्ञकत्व अर्थ है तात्पर्य यह है कि यद्यपि तुम कुसुमशर हो तो भी मुझ विरही के लिए तुम वज्रवत् कठोर हो गये, कुसुमायुध नहीं वज्रायुध हो गये और शीतरश्मि चन्द्रमा भी उष्णरश्मि हो गया हैं।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि उस समय तो दिन था, मध्याह्न था, चन्द्रोदय तो था ही नहीं। यदि चन्द्रमा का अस्तित्व तो रहता ही है, यह कहा जाय तो मध्याह्न के समय वह निस्तेज होने के कारण कुछ कर ही नहीं सकता था; तो फिर कवि ने 'विसृजति' यह वर्तमान निर्देश कैसे किया हैं इसका उत्तर है कि कवि ने यहाँ राजा द्वारा मदन पीड़ाजन्य दुःखातिरेक वश भावी चन्द्रोदय जन्य सन्ताप कारिता का अनुसन्धान कराया है अतः वर्तमान निर्देश किया है।

यहाँ यद्यपि क्रम भंग है कुसुमायुध के कार्य तथा चन्द्र के कार्य बताने में कुसुमायुध का कार्य पहिले बताना चाहिये था क्योंकि उसी का प्रसंग प्रस्तुत है और चन्द्रापेक्षया उसका प्रयोग भी श्लोक में प्रथम किया गया है पर कार्य बताने में चन्द्रमा का प्रथम निर्देश किया गया है, तथापि राजा की उन्मादावस्था वर्णन में ऐसा करना काव्य कौशल ही है दोष नहीं।

कोई आचार्य इस क्रम भङ्ग का निराकरण (परिहार) इस प्रकार करते हैं कि प्रतिज्ञातार्थ प्रस्तुत श्लोक में चन्द्र प्रसंग दृष्टान्त है तथा कुसुम शर प्रसंग दार्ष्टान्त। अतः प्रथम दृष्टान्त के द्वारा जब प्रतिज्ञातार्थ स्थिर कर लिया जाता है तब दार्ष्टान्त किया जाता है, यही सर्वत्र नियम है जैसा कि कालीदास ने स्वयं रघुवंश में किया है—

"उमावृषाङ्कौ शरजन्मना यथा, यथा जयन्तेन शची पुरादरौ।
तथा नृपः सा च सुतेन मागधी ननन्दतुस्तत्सदृशेन तत्समौ॥

इसी प्रकार यहाँ 'तव' इत्यादि उद्देश्य क्रम से पश्चात् निर्देष्टव्य भी चन्द्र प्रसंग का पूर्व निर्देश किया गया है अतः यह कोई दोष नहीं वरन् काव्य पद्धति का समुचित अनुसरण ही है।

प्रस्तुत श्लोक में शीतरश्मित्वं, इन्दुः कुसुमशरत्वं, कुसुमवाणान् आदि में जो कथित पदत्व दोष है वह यहाँ राजा की उन्मादावस्था वर्णन से परिहार्य है।

यहाँ 'मयि' यह विशेष कथन न करके मद्विधेषु जो यह सामान्य कथन किया गया है अतः अप्रस्तुत प्रशंसालंकार है। कुसुमवाणान् इस पद में कुसुमों पर वाणों का आरोप किया गया है वह विरह दुःखद होने के कारण प्रकृतोपयोगी है अतः परिणामालंकार है। "आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः" वज्रसारी करोषि इस पद में समासगा उपमा है। पूर्वार्धगत कुसुमशरत्व तथा शीतरश्मित्व के अयथार्थत्व रूप अर्थ के प्रति उत्तरार्धगत वाक्यार्थद्वय हेतु रूप से उपन्यास किए गये हैं अतः वाक्यार्थ हेतुक काव्यलिङ्गालंकार भी है। "हिमगर्भ मयूखों से अग्निवर्षा होना तथा कुसुमवाणों से वज्रवत् कठोर प्रहार की उत्पत्ति होना" इस अर्थ से यहाँ दोनों में विषमालंकार है। कोई आचार्य यहाँ अपह्नुति अलंकार भी

(परिक्रम्य ।) क्व न खलु संस्थिते कर्मणि सदस्यैरनुज्ञातः श्रमक्लान्तमात्मानं विनोदयामि ? (निःश्वस्य ।) किं नु खलु मे प्रियादर्शनादृते शरणमन्यत् ? यावदेनामन्विष्यामि । (सूर्यमवलोक्य ।) इमामुग्रातपवेलां प्रायेण लतावलयवत्सु मालिनीतीरेषु ससखीजना शकुन्तला गमयति । तत्रैव तावद्गच्छामि । (परिक्रम्य संस्पर्शं रूपयित्वा ।) अहो, प्रवातसुभगोऽयमुद्देशः ।

मानते हैं क्योंकि यहाँ चन्द्र का शीत रश्मित्व प्राकृतार्थ छिपा कर उसका अग्निवर्णण बतलाया गया है । इन सब अलंकारों का अङ्गाङ्गिभाव संकर है । छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास भी है ।

समस्त श्लोक में यथासंख्यालंकार भी है । अथवा यदि उत्तरार्ध में "त्वमिह कुसुमवाणान् वज्रसारान्विधत्से ।

विसृजति स च वह्निं शीतगर्भैर्मयूखैः । यदि ऐसा पाठ कर दिया जाय तो उक्त दोषों का परिहार हो सकता है ।

यहाँ गुणातिपात नामक नाट्यलक्षण भी है । "गुणातिपातः कार्यं यद्विपरीतं गुणान् प्रति" (साहित्य दर्पण) मालिनी छन्द है । लक्षण लिखा जा चुका है ।

द्वि शब्दात् तयप् अयच्=द्वयम् । वज्रसार+च्वि+कृ+वज्रसारीकरोषि ।

संस्कृत व्याख्या—तव कामस्य कुसुमानि पुष्पाणि शराः वाणाः यस्य तस्य भावस्तत्त्वं कुसुमशरत्वं पुष्पवाणसंज्ञत्वम् इन्दोः चन्द्रस्य शीतः शीतलाः रश्मयः कराः यस्य तस्य भावस्तत्त्वं शीतरश्मित्वं हिमांशुसंज्ञत्वम् इदमेतत् द्वयं मद्विधेषु मादृशेषु विरहिषु अयथार्थं विपरीतार्थं निरर्थकं दृश्यते ज्ञायते (तथाहि) इन्दुः चन्द्रः हिमं गर्भे येषान्ते तैः हिमगर्भैः हिमाभ्यन्तरैः मयूखैः रश्मिभिः अग्निं अनलं विसृजति विशेषेण किरति, वहिश्शीतलैरप्यङ्गारैरिवान्तः किरणैर्दहतीत्याशयः ऐवं त्वमपि कुसुमायुधोऽपि कुसुमान्येव वाणास्तान् पुष्पमयान् शरानित्यर्थः (वाह्यः पुष्परूपेण प्रतीयमानानपि) वज्रस्य सार इव सारो दलं येषान् ते वज्रसारा अवज्रसारान् वज्रसारान् करोषि इति वज्रसारी करोषि ('सारो वले स्थिरांशे च' इत्यमरः वज्रसारोनाम-लौहविशेषः) वज्रकठोरान् करोषि । चन्द्रो हिमाच्छादितमग्निं वर्षति त्वञ्च कुसुमत्वेन वहिः प्रतीयमानानपि कुलिशकठोरान् वाणान् मुञ्चसि प्रहरसि इति स्फुटं भवतो वंञ्चकत्वमिति भावः ।

अलंकाराः उक्ताः, मालिनीवृत्तम् ।

(घूम कर) यज्ञानुष्ठान के समाप्त हो जाने पर जब उपद्रष्टा तपस्वियों ने मुझे (जाने की) अनुमति दे दी है, तो अब मैं कहाँ जाकर परिश्रम से खिन्न अपने मन को बहलाऊँ, सान्त्वना दूँ (ठण्डी साँस लेकर) प्रिया शकुन्तला के देखने के अतिरिक्त मेरे लिए और क्या दूसरा सहारा है ? अर्थात् प्रियादर्शन को छोड़कर अब और किसी भी तरह से मेरा मनोविनोद नहीं हो सकता । तो चलो, उसी को ढूँढू । (सूर्य की ओर देखकर) ऐसी भीषण गर्मी के समय, प्रायः लता मण्डपों से आवृत मालिनी नदी के किनारे शकुन्तला अपनी सखियों के साथ जाती होगी । अच्छा तो वहीं चलूँ ।

(घूम कर और वायु के स्पर्श का अभिनय करके) वाह ! यह प्रदेश तो शीतल मन्द सुगन्धित वायु से बड़ा ही रमणीक है (प्रवात=प्रकृष्ट उत्तम वायु, प्रकृष्ट शब्द से ही वायु का शीतल मन्द तथा सुगन्धित होना द्योतित किया गया है क्योंकि ऐसी ही वायु उत्तम मानी जाती है । ऋते=बिना । संस्थिते=समाप्त होने पर । सदस्यै=यज्ञ विधिदर्शी तपस्वी । उग्रातप=भीषण धूप ।) यहाँ सौभाग्य (सुभग) चेतन धर्म है वह देश विशेष में सम्भव नहीं

शक्यमरविन्दसुरभिः कणवाही मालिनीतरंगाणाम्
अङ्गैरनङ्गतप्तैरविरलमालिङ्गितुं पवनः ॥ ४ ॥

अतः मुख्यार्थ बाध होने से कार्य कारण भाव सम्बन्ध लेकर (क्योंकि जो मनोहर होता है वह सुभग होता है) सुभग शब्द की मनोज्ञ में लक्षणा है, इसका प्रयोजन विरही जनों का मनोविनोदन है।

ततः प्रविशति से यहाँ तक उद्वेग नामक अवस्था सूचित की गई है। "मनसः कम्प उद्वेगः कथितस्तत्र विक्रियाः, चित्तसन्तापनिःश्वासौ द्वेषः शय्यासनादिषु, स्तम्भचिन्ताश्रु वैवर्ण्यदीनरवादय ईरिताः"। "यावदेनां" से "गच्छामि" तक प्रतिमुखसन्धि का परिसर्प नामक द्वितीय अङ्ग निर्दिष्ट किया गया है "दृष्टनष्टानुसरणं परिसर्प इतीरितः सा० द०" अर्थात् दृष्ट वस्तु के नष्ट होने पर उसका जहाँ अनुसरण किया जाता है वहाँ परिसर्प सन्ध्यङ्ग होता है।

श्लोक ४ अन्वय—अरविन्दसुरभिः मालिनीतरंगाणाम् कणवाही पवनः अनङ्गतप्तैः अङ्गैः अविरलं आलिगितुं शक्यः।

शब्दार्थ—अरविन्दसुरभिः=कमलों से सुगन्धित, मालिनीतरंगाणां कणवाही= मालिनी नामक नदी की कल्लोलों के जलबिन्दुओं को वहन करने वाला, धारण करने वाला, अनंगतप्तैः=कामजनितदाह से युक्त, अविरलम्=अविश्रान्त, तृप्तिपर्यन्त आलिगितुं= सेवन करने के लिये।

अनुवाद—कमलों से सुगन्धित, मालिनी नदी की तरंगों के जलकणों को धारण करने वाला वायु, काम से संतप्त मेरे अंगों द्वारा खूब तृप्ति पूर्वक सेवन करने योग्य है।

व्याख्या—विरह-पीड़ित दुष्यन्त मालिनी नदी के किनारे शकुन्तला से मिलने की आशा से आता है और प्रभात कालीन वायु का स्पर्श पाकर मन में कहता है:—

कमल दलों से सुगन्धित, तथा मालिनी नदी की लहरों के जलबिन्दुओं को वहन करने वाला पवन काम से संतप्त मेरे अंगों द्वारा खूब तृप्ति सेवन करने योग्य है अर्थात् इस प्रदेश का वायु जलकणों से शीतल तथा कमलों से सुगन्धित है अतः मेरे कामाग्नि दग्ध अंगों को बड़ा सुहावना लग रहा है। इससे मुझे शान्ति मिलती है।

विशेष:—मालिनी में तरंगों के उत्पादन से पवन का मन्द होना भी ध्वनित होता है अर्थात् पवन शीतल सुगन्धित एवं मन्दगति से चल रहा है अतः वह काम तप्त राजा को क्षणिक शान्ति दे रहा है।

श्लोक में पवन अंगों का स्पर्श करता है ऐसा न कहकर जो अंगों को पवन का स्पर्श करने वाला बतलाया है इस प्राकर जो कर्ता और कर्म का वैपरीत्य कर दिया है इससे अंगों की अतिकृशता तथा संतापातिशयत्व व्यञ्जित किया है। प्रियादर्शन से आत्मविनोदार्थ आगमन रूप कार्यारम्भ करने वाले दुष्यन्त के लिए उसके कार्य में पवन भी सहायक रूप से निर्दिष्ट किया गया है अतः यहाँ पर समाहितालंकार है। "कार्यारम्भे सहायताप्तिः" उसका लक्षण है। छेक वृत्ति तथा श्रुति अनुप्रास हैं। यहाँ कमल पराग से सुगन्धित तथा जलकणों से शीतल तथा तरंगोत्पादन से मन्द पवन में मूर्तिमत्ता प्रतीत होती है अतएव उसमें आलिगन शक्यत्व की उत्प्रेक्षा है। अतः यहाँ गम्योत्प्रेक्षालंकार है। पवन से आलिगनशक्यत्व नहीं है फिर भी यहाँ आलिगनशक्यत्व बतलाया गया है। अतः असम्बन्ध में सम्बन्धलक्षण अतिशयोक्ति भी है। पवन समालिगन द्वारा सुख उत्पन्न करता है अतः इस प्रकार चेतनत्वारोप द्वारा यहाँ समासोक्ति तथा स्वाभावोक्ति अलंकार भी हैं।

(परिक्रम्यावलोक्य च।) अस्मिन्वेतसपरिक्षिप्ते लतामण्डपे संनिहितया तया भवितव्यम्। तथा हि (अधो विलोक्य।)

अभ्युन्नता पुरस्तादवगाढा जघनगौरवात्पश्चात्।
द्वारेऽस्य पाण्डुसिकते पदपंक्तिर्दृश्यतेऽभिनवा ॥५॥

यदि यह कहा जाय कि पवन तो सब ऋतुओं में उद्दीपक होता है अतः दुष्यन्त के विरही होने के कारण वह उसे सुखदायक कैसे होगा, तो उसका उत्तर है कि पवन वास्तव में इस स्थल पर विरही भी दुष्यन्त के लिए मनोरञ्जक ही है क्योंकि वह इस स्थल पर शकुन्तला से मिलने की आशा से आया है क्योंकि ऐसी भीषण गर्मी में शकुन्तला ऐसे ही नदी के तीर के शीतल पवनान्दोलित कुञ्जों में ही रहती है जैसा कि वह स्वयं भी कह चुका है "इमामुग्रातपवेलां मालिनी तीरेषु शकुन्तला गमयति" दूसरी बात यह भी है कि पवन द्वारा मालिनी तरंगाणां कणवाही होने से नायिका संस्पृष्ट भी है अतः वह उसके लिए सुखद ही है। कवि ने मेघदूत में भी पवन को विरही यक्ष के लिए सुखदायक बतलाया है :—

"आलिङ्ग्यन्ते गुणवति ! मया ते तेषाराद्रवाताः, पूर्वं स्पृष्टं यदि किल भवेदङ्गमेभिस्तवेति"।

"पवनः शक्यम्" में भिन्नलिङ्ग पवन का शक्यम् के साथ समानाधिकरण कैसे होगा यह आशंका न करनी चाहिए क्योंकि महाभाष्य के "शक्यं च श्वमांसादिभिरपि क्षुत्प्रतिहन्तुम्" इस वचन से पवनः शक्यम् प्रयोग भी साधु है। आर्या जाति है।

संस्कृत व्याख्या—अरविन्दैः कमलैः सुरभिः अरविन्दसुरभिः कमलामोदवासितः, अनेनास्य सौगन्ध्यं दर्शितम्, मालिन्याः तन्नामसरितः तरंगाणां कल्लोलानां कणवाही जलबिन्दुवाहकः पवनः अनङ्गेन कामेन तप्तैः अनङ्गतप्तैः कामजनितदाहसंतप्तैः अङ्गैः शरीरावयवैः अविरलं गाढं यथा स्यात्तथा आलिङ्गितुम् आसेवितुं शक्यम् योग्यम् मयेतिशेषः। अलंकारा उक्तः। आर्या जितः।

(घूमकर और देखकर) वेंतो से घिरे हुए इस मण्डप में ही उसे उपस्थित होना चाहिए अर्थात् वह यहीं बैठी होगी (नीचे देख कर) क्योंकि :—

श्लोक ५ अन्वयः—अस्य पाण्डुसिकते द्वारे पुरस्तात् अभ्युन्नता (तथा) पश्चात् जघनगौरवात् अवगाढ़ा अभिनवा पदपंक्तिः दृश्यते।

शब्दार्थ—अस्य=लता मण्डप के, पाण्डुसिकते=उज्ज्वल बालुकाराशि वाले, पुरस्तात् =आगे की ओर, अंगुल्यादि के पास अभ्युनता=ऊँची तथा पश्चात् पीछे की ओर, गुल्फनिक्षेप स्थान पर, घनगौरवात्= जघन=श्रोणी का अग्र भाग, गौरवात्=भारीपन से अर्थात् नितम्बगुरुता से, अवगाढा=गहरी।

अनुवाद—इस लता मण्डप के उज्ज्वल बालुकाराशि वाले द्वार पर आगे की ओर ऊँची और पीछे की ओर जघन स्थल की गुरुता के कारण गहरी बिल्कुल नवीन पद पंक्ति (पैरों के चिह्न) दिखाई पड़ते हैं।

व्याख्या—राजा को वेतस लता मण्डप के प्रवेश द्वार पर, जहाँ कि बहुत सी उज्ज्वल बालुका पड़ी हुई है, स्त्रीजनों के पैरों के नये पड़े हुए चिह्न दिखाई दे रहे हैं, जो नितम्बों की गुरुता के कारण एड़ी की ओर तो गहरे और आगे की ओर अर्थात् पैरो के अग्र भाग पड़ने के स्थान पर, उठे हुए हैं। अतः स्पष्ट है कि अभी ही शकुन्तला ने लतामण्डप में प्रवेश किया है।

'अभिनवा' पद से पद पंक्ति की अविकलता तथा अभी ही तत्काल ही शकुन्तला का प्रवेश द्योतित होता है।

यावद्विटपान्तरेणावलोकयामि । (परिक्रम्य, तथा कृत्वा, सहर्षम् ।) अये, लब्धं नेत्रनिर्वाणम् । एषा मे मनोरथप्रियतमा सकुसुमास्तरणं शिलापट्टमधिशयाना सखीभ्यामन्वास्यते । भवतु; श्रोष्याम्यासां विस्रम्भकथितानि । (इति विलोकयन्स्थितः ।)

(ततः प्रविशति यथोक्तव्यापारा सह सखीभ्यां शकुन्तला ।)

पुरस्तात् अभ्युन्नता अर्थात् वह स्थान जहाँ पर कि इसके पैरों के अग्र भाग (अंगूठा अंगुली आदि) पड़े, हैं पद पंक्ति उछली हुई अर्थात् गहरी नहीं है तथा पश्चात्=उस स्थान पर जहाँ ऐड़ी पड़ती है नितम्बों की गुरुता से पद॰ पंक्ति गहरी है। अन्य स्त्रियों अनसूया तथा प्रियम्वदा का जघन स्थल इतना गुरु नहीं था जितना कि शकुन्तला का अतः शकुन्तला की ही यह पद पंक्ति है और उसने अभी ही प्रवेश किया है, यह भाव है।

शकुन्तला ने इस मार्ग से लता मण्डप में प्रवेश किया है यह कारण न बता कर जो पद पंक्ति रूप कार्य का कथन किया गया है अतः पर्यायोक्तालंकार है। हेतु अलंकार, तथा पद पंक्ति दर्शन रूप साधनों से शकुन्तला के प्रवेश रूप साध्य की प्रतीति होती है अतः अनुमानालंकार है। पद चिह्न-स्वभाव वर्णन से (आगे उन्नत पीछे गहरे) स्वाभावोक्ति अलंकार है। कोई आचार्य "पदपंक्तिर्दृश्यते" में प्रत्यक्षालंकार मानते हैं "प्रत्यक्षमक्षजं-ज्ञानम्" इस लक्षण के अनुसार। उपमानालंकार भी है "सदृशात् सदृश-ज्ञानमुपमानं द्विधेह तत्, स्यादेक मनुभूते स्येऽननुभूते द्वितीयकम् ।। अभ्युन्नता आदि विशिष्ट पद पंक्ति से उसकी ही यह पद पंक्ति है ऐसा ज्ञान होता है जो कि अनुभूतार्थ विषयक है।

यहाँ पहिले पुरो भाग का तब पश्चात् भाग का वर्णन किया गया है अतः यह वर्ण्य क्रम भंग दोष है यह आशंका न होनी चाहिए क्योंकि राजा अभी लता मण्डप के पृष्ठ भाग में ही स्थित था और दूर से ही पद पंक्ति देख रहा था, अतः उन्नत स्थल पर पहिले दृष्टि जाना स्वाभाविक ही था अतः यह दोष नहीं है। श्रुत्यनुप्रास, वृत्यनुप्रास। आर्या जाति है।

अभि+उत्+नम्+क्त=अभ्युन्नता, अव+गाह्+क्त=अववाढ़ा, गुरोः भाव गौरवम्=भावे अण् पञ्चम्येक वचने गौरवात्। दृश् कर्मणि यक्=दृश्यते।

संस्कृत व्याख्या—अस्य लतामण्डपस्य पाण्डुः सिकता यस्मिन् तस्मिन् पाण्डुसिकते द्वारे प्रवेशद्वारमार्गे पुरस्तात् अंगुल्यादिनिक्षेपस्थले अभ्युन्नता गुल्फचिह्नापेक्षया कियदंशेनोन्नता। स्वभावतः संचरण काले कुल्फयोरेव भाराक्रान्तत्वात् अंगुल्यादेस्ताहृशाभावात् अग्रभागस्योन्नतत्वम् पश्चाद्भगस्य च निम्नत्वम्। पश्चात् गुल्फनिक्षेपस्थले श्रोणी-पुरोभागस्य गौरवं गुरुत्वं स्थूलत्वं तस्मात् जघनगौरवात् अवगाढ़ा अङ्गुल्यादिविहित चिन्हापेक्षया किञ्चित् निम्नगा अभिनवा सद्यः पतिता पदपंक्तिः गमनकालीन-पदविन्यासजनित चिन्ह श्रेणी दृश्यतेऽवलोक्यते। उक्ता अलंकाराः। आर्या जातिः।

अच्छा तो वृक्षों की ओट से देखता हूँ (घूमकर और ओट से देख कर हर्ष पूर्वक) अहा। मेरी आँखों को परमानन्द मिल गया (यहाँ नायिका रूप विषय को निगीर्ण कर लिया गया है अतः अतिशयोक्ति है) यह मेरी (अभिलाषा मात्र से) हृदय वल्लभा (शकुन्तला) फूलों के विस्तर वाली पत्थर की पटिया पर लेटी हुई सखियों द्वारा सेवित हो रही है अर्थात् वह कुसुमास्तरण पर लेटी है और सखियां उसकी सेवा (व्यजन शीतलोपचार आदि) कर रही हैं (मनोरथ प्रियतमा=केवल इच्छा मात्र से जो मेरी प्राण प्रिया बन चुकी है) यथार्थतः वह प्रियतमा नहीं है क्योंकि वह अभी परिणीत नहीं है अतएव केवल आभिलाषामात्र से वह प्रियतमा है। निर्वाण=निर्वृत्ति-पूर्ण आनन्द। सकुसुमास्तरण=पत्थर की कठोरता दूर करने के लिये उस पर घने रूप में फूल बिछा दिये गये थे) अच्छा तो अब इनके विश्वस्त (रहस्यमय) वार्तालाप को सुनूँगा (इस प्रकार) वह देखता हुआ खड़ा रहता है (विस्रम्भक-

सख्यौ—(उपवीज्य सस्नेहम्) हला सउंदले ! अवि सुहेदि द णलिणीपत्तवादो ? [हला शकुन्तले ! अपि सुखयति ते नलिनीपत्रवातः ? ।]

शकुन्तला—किं वीअअन्ति मं सहीओ ? । [किं वीजयतो मां सख्यौ ? ।]

(सख्यौ विषादं नाटयित्वा परस्परमवलोकयतः ।)

राजा—बलवदस्वस्थशरीरा शकुन्तला दृश्यते । (सवितर्कम्) तत्किमयमातप-दोषः स्यात्, उत यथा वे मनसि वर्तते ? (साभिलाषं निर्वर्ण्य ।) अथवा कृतं संदेहेन,—

स्तनन्यस्तोशीरं शिथिलितमृणालैकवलयं
प्रियायाः साबाधं किमपि कमनीयं वपुरिदम् ।
समस्तापः कामं मनसिजनिदाघप्रसरयो-
र्न तु ग्रीष्मस्यैवं सुभगमपराद्धं युवतिषु ॥६॥

थितानि=विस्रम्भ=विश्वास, कथित=कथन, वार्तालाप अर्थात् इनकी विश्वास भरी आपस की बातें) ।

(तब जैसा कि ऊपर बतलाया गया है—अर्थात् कुसुमास्तरण पर लेटी हुई तथा सखियों द्वारा संव्यमान शकुन्तला का प्रवेश)

सख्यौ—(बड़े प्यार से पंखा झल कर) अरी शकुन्तला ! क्या तुझे यह कमलिनी पत्तों के बने हुये पंखे की हवा कुछ आराम दे रही है ?

शकुन्तला—अरे ! क्या सखियाँ मेरे ऊपर हवा कर रही हैं ? । (वीजयतः—हवा करना) इससे नायिकागत तापाधिक्य तथा तापाधिक्य के कारण उसका अन्य विषयों का भूल जाना ध्वनित होता है । इसी **अवस्था** का नाम विषयनिवृत्ति है । इससे विधूत नामक प्रति-मुखसन्धि का तृतीय सन्ध्यङ्ग निर्दिष्ट होता है "विधूतं स्यादरतिः" अर्थात् अन्य विषयों में अरुचि या असंवेदनत्व हो जाना विधूत कहलाता है । **विषाद के अभिनय** के समय शिरः कम्प तथा विषण्ण दृष्टि, अटपट बोलना आदि क्रियायें की जाती हैं । अतः इस प्रकार—

सखियाँ विषाद का अभिनय करती हुईं (शंका भाव से) एक दूसरे की ओर देखने लगती हैं)

राजा—शकुन्तला का शरीर बहुत ही अस्वस्थ (बेचैन) दिखाई पड़ रहा है बलवत्= अधिक वितर्क के साथ सोचकर यह अस्वस्थता लू लगने के कारण है अथवा जैसा कि मेरे मन में हैं अर्थात् इसकी अस्वस्थता का कारण या तो लू है या जैसा कि मेरे मन में काम सन्ताप हो रहा है ऐसा ही इस को भी मदन संताप हो रहा है । (अभिलाषा पूर्वक देखकर) अथवा सन्देह करना व्यर्थ है क्योंकि—

श्लोक ६ अन्वयः—स्तनन्यस्तोशीरं शिथिलितमृणालैकवलयं प्रियायाः इदं वपुः साबाधं तदपि कमनीयं (अस्ति) मनसिजनिदाघप्रसरयोः तापः समः कामं, तु युवतिषु ग्रीष्मस्य अपराद्धं सुभगं न भवतीति शेषः

शब्दार्थः—स्तनन्यस्तोशीरं=(जिस शरीर के अङ्ग भूत) स्तनों के ऊपर कामजन्य दाह को दूर करने के लिए उशीर (खश) का अनुलेप किया गया है, (काम शास्त्र के अनुसार तरुणी नायिकाओं के स्तन ग्रीष्म में शीतल तथा हिमकाल में उष्ण रहते हैं तथापि शीतल भी उसके स्तनों का कामातिरेक से अधिक संतप्त होना द्योतत करने के लिए स्तनों पर ही (हृदयादि स्थलों पर नहीं) उशीरानुलेप का कथन किया गया है । शिथिलित मृणालैकवल-यम्=जिसमें मृणाल (कमल दण्ड) का बना हुआ एक वलय (कंकण) ढीला पड़ गया है।

प्रियंवदा—(जनान्तिकम् ।) अणसूए ! तस्स राएसिणो पढमदंसणादो आरहिअ पज्जुस्सुआ विअ सउंदला किं णु खु से तण्णिमित्तो अअं आतंको भवे ? । [अनुसूये ! तस्य राजर्षेः प्रथमदर्शनादारभ्य पर्युत्सुकेव शकुन्तला किं नु खलु तस्यास्तन्निमित्तोऽयमातंको भवेत् ?]

अनुसूया—सहि ! ममवि ईदिसो आसंका हिअअस्स । होदु; पुच्छिस्सं दाव णं । (प्रकाशम्) सहि पुच्छिदव्वासि किंपि । बलवं खु दे संदावो । [सखि ! ममापीदृश्या-शङ्का हृदयस्य । भवतु; प्रक्ष्यामि तावदेनाम् । सखि ! प्रष्टव्यासि किमपि बलवान्खलु ते संतापः]

अर्थात् विरहजन्य कृशता के कारण जिसका एक (मुख्य) वलय ढीला पड़ गया है अथवा शिथि-लित का अर्थ है विरहतांपाधिक्यवश शुष्क हो जाने से म्लान (मुर्झाया हुआ) जिसका एक मुख्य वलय । इससे संतापातिशयं तथा कृशता भी सूचित की गई हैं, एक का अर्थ है असहाय अकेला अर्थात् कृशतावश या सन्तापवश वह केवल एक सी वलय पहने हुये थी अन्य आभूषण नहीं। सावाधम्=आ+वाधा+सह इसमें अ का अर्थ सवर्तः, सब ओर से, वाधा=पीड़ा, सह=के साथ, वर्तमान अर्थ हैं अतः सावाधं=उसका सर्वाङ्ग पीड़ा युक्त नहीं अपितु पीड़ा के साथ वर्तमान है तात्पर्य यह है कि यद्यपि उसकी यह पीड़ा कतिपय दिनों से ही उत्पन्न हुई थी फिर भी उसकी चेष्टा को देख कर ऐसा प्रतीत होता था कि मानो वह पीड़ा उसके शरीर के साथ ही उत्पन्न हुई हो । तदपि=सावाध प्रतीयमान होने पर भी प्रियायाः=शकुन्तला का (प्रिया शब्द का प्रयोग साभिप्राय है) इदं त्रपुः=यह पुरोदृश्यमान लोकोत्तर चमत्कारि शरीर, कमनीयम्=चित्ताकर्षक मनोहर, 'अर्थात् इस प्रकार के सन्ताप के होने पर भी अतिशय शोभा-शाली । कामं=यह शब्द अनुमति सूचक है अर्थात् ऐसा मैं मानता हूँ, कि मनसिज निदाघ-प्रसरयोः=काम ओर ग्रीष्म के वेग का तापः=दाह, समः=तुल्य, तु=किन्तु, युवतिषु=यौवनारुढ तरुणी नायकाओं के विषय में, अपराद्धम्=अपराध (ताप रूप अपराध) एवं=इस प्रकार से, सुभगम्=सुन्दर ।

अनुवादः—(जिस शरीर के अंगभूत) स्तनों के ऊपर उशीर का अनुलेप किया गया है तथा जिसमें एक मृणाल का वलय ढीला पड़ गया है ऐसा यह सर्वतः बाधा युक्त भी प्रिया शकुन्तला का यह शरीर लोकोत्तर चमत्कार एवं चित्ताकर्षक (प्रतीत होता है ।) भले ही काम-देव और ग्रीष्म के वेग का ताप समान ही हो, किन्तु ग्रीष्म का युवतियों के विषय में ऐसा सुन्दर अपराध (ताप रूप अपराध) नहीं होता ।

व्याख्या—राजा उसकी चेष्टा तथा शीतोपचार को देख कर सोचता है कि अब यह सन्देह करना व्यर्थ है कि यह ग्रीष्म प्रभाव दूर करने के लिए शीतोपचार किया गया है अथवा काम सन्ताप दूर करने के लिए, यह काम सन्ताप ही है ग्रीष्म संताप नहीं । अतः वह कहता है :—

इसके स्तनों पर (सन्ताप दूर करने के लिए) यद्यपि उशीर का लेप लगा हुआ है और हाथ में कमल नाल का एक कंगन ढीला पड़ा हुआ (जो विरह कृशता का द्योतक) है तथापि इतनी बेचैन होने पर भी (इस मेरी) प्रिया का यह शरीर कुछ कम आकर्षक नहीं लग रहा है अर्थात् सवाध होने पर भी शरीर सुन्दर ही लग रहा है । यह मैं मानता हूँ कि काम और गर्मी दोनों का ताप समान होता है किन्तु ग्रीष्म युवतियों पर इस प्रकार सुन्दर अपराध नहीं कर सकता, तात्पर्य यह है कि यद्यपि लू लगने और प्रेम में पड़ने पर बेचैनी एक सी ही होती है तथापि लू लग जाने पर युवतियों पर इतनी सुन्दरता नहीं रह जाती । अतः निस्संदेह यह कामवेदना ही है, ग्रीष्मतापवेदना नहीं ।

शकुन्तला—(पूर्वार्धेन शयनादुत्थाय।) हला ! किं वक्तु कामासि ?] हला ! किं वक्तु कामासि ?।]

अनसूया—हला सउंदले ! अणब्भंतरा खु म्हे मदणगदस्स वुत्तंतस्स। किं जादिसी इदिहासणिबधेसु कामअमाणाणं अवत्था सुणीअदि तादिसीं दे पेक्खामि; कहेहि किंणिमित्तं दे सदावो। विआरं खु परमत्थदो आजाणिअ अणारंभो पडिआरस्स। [हला शकुंतले ! अनस्यन्तरे खल्वावां मदनगतस्य वृत्तान्तस्य। किन्तु यादृशीतिहासनिबन्धेषु कामयमानानामवस्था श्रूयते तादृशीं तव पश्यामि; कथय किं निमित्तं ते संतापः। विकारं खलु परमार्थतोऽज्ञात्वाऽनारम्भः प्रतीकारस्य]

राजा—अनसूयामप्यनुगतो मदीयस्तर्कः। नहि स्वाभिप्रायेण मे दर्शनम्।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में शकुन्तला के शरीर सन्ताप निरूपण रूप कार्य के लिये प्रथम चरण में द्विविधि विशेषण रूप कारणों का निर्देश किया गया है अतः समुच्चयालंकार है। शकुन्तला-शरीर के सुस्थतादिसम्पादक हेतु के न होने पर भी कमनीयता रूप कार्योत्पत्ति कथन से विभावनालंकार, तथा सबाध रूप कारण के होने पर भी वैरूप्यादि रूप कार्याभाव कथन से विशेषोक्ति अलंकार है और इन दोनों का परस्पर सन्देहसंकर भी है। यहाँ उपमान और उपमेय रूप काम और ग्रीष्म जन्य सन्तापों में से "न तु" इत्यादि कथन के द्वारा एक का वैधर्म्य प्रतिपादन किया गया है अतः द्वितीय का परिशेषात् आधिक्य कथन सिद्ध होता है अतः व्यतिरेकालंकार है। स्तनन्यस्तेत्यादि विशेषण से संतापतिशय की प्रतीति होती है और उस प्रतीति से भी काम जनित सन्ताप का अनुमान होता है अतः अनुमानालंकार गम्य है अर्थात् वस्तु से अलंकार ध्वनि है। युवतिषु इस सामान्य कथन से अप्रस्तुत प्रशंसालंकार है छेक, वृत्ति श्रुति, अनुप्रास, शिखरिणी छन्द है।

नि+असु+क्त=न्यस्त। साबाधम् इत्यत्र अव्ययीभावः सहस्य सादेशः। प्र+सृ+अप्=प्रसरः। तप्+घञ्=तापः। अप+राध्+भावे क्त=अपराद्धम्।

संस्कृत व्याख्या—स्तनयोः न्यस्तमुशीरं यत्र तत् स्तनन्यस्तोशीरं कुचोत्संगदत्तोशीरानुलेपनम्, शिथिलितं मृणालानामेकं वलयं यत्र तत् शिथिलितमृणालैकवलयम् एतेनान्यभूषणं धारयितुमशक्यमिति ध्वनितम् आबाधया सहितं साबाधाम् पीडासहितं, तदपि प्रियायाः शकुन्तलाया इदं पुरोदृश्यमानं वपुः शरीरं कमनीयं मनोहरं (दृश्यते) कामं मन्येऽहमिदमित्थं यत् मनसिजः कामः निदाघः ग्रीष्मः तयोः प्रसरो वेगः तयोः मनसिजनिघातप्रसरयोः तापः दाहः समस्तुल्यः (भवति) तु किन्तु ग्रीष्मस्य युवतिषु तरुणीषु अपराद्धम् तापरुपापराधः एवमीदृशं सुभगं सुन्दरं न (भवति) अतो निश्चीयते यदयं कामजनितसन्तापः सौन्दर्याधायकत्वात् न तु ग्रीष्मताप इति भावः अलंकारादय उक्ताः। शिखरिणी वत्तम्।

प्रियम्वदा—(शकुन्तला से पृथक्) अनुसूये ! उस राजर्षि के प्रथम दर्शन के (समय से) लेकर शकुन्तला अधिक उत्कण्ठित सी रहती है। हो सकता है कि उसका यह आतंक (संताप-बैचेनी) उस राजर्षि के कारण ही हो, (कौन जाने)

अनसूया—सखी ! मेरे हृदय में भी ऐसी ही आशंका हो रही है। अच्छा तो इससे पूछूँगी। (प्रकट) सखी शकुन्तले ! मैं तुमसे कुछ पूछना चाहती हूँ। क्योंकि तुझे बहुत अधिक संताप है।

शकुन्तला :—(शरीर के आगे अर्धभाग से शयन से-उठाकर) क्या पूछना चाहती हो ?

अनुसूया :—सखी शकुन्तला ! हम लोग काम सम्बन्धी-प्रेम व्यापार की बात तो

शकुन्तला—(आत्मगतम् ।) बलवं खु मे अहिणिवेसो । दाणिं वि सहसा एदाणं ण सक्कणोमि णिवेदुदं । [बलवान्खलु मेऽभिनिवेशः । इदानीमपि सहसैतयोर्न शक्नोमि निवेदयितुम् ।]

प्रियंवदा—सहि संउंदले ! सुट्ठु ससा भणादि । किं अत्तणो आतकं उवेक्खसि ? अणु दिअहं खु परिहीअसि अंगेहिं । केवलं लावण्णमई छाया तुमं ण मुंचदि । [सखि शकुन्तले ! सुष्ठ्वेषा भणति । किमात्मन आतङ्कमुपेक्षसे ? । अनुदिवसं खलु परिहीयसेऽङ्गैः केवलं लावण्यमयी छाया त्वां न मुञ्चति ।

राजा—अवितथमाह प्रियंवदा । तथा हि,—

क्षामक्षामकपोलमाननमुरः काठिन्यमुक्तस्तनं
मध्यः क्लान्ततरः प्रकामविनतावंसौ छविः पाण्डुरा ।

कुछ जानती नहीं है। पर जैसी इतिहास कथाओं में विरहियों की अवस्था सुनी जाती है वैसी ही मैं तुम्हारी अवस्था देख रही हूँ। तो बताओं तुम्हारे सन्ताप का क्या कारण है। क्योंकि जब तक व्याधि का यथार्थ रूप से पता न लग जाय तब तक उसका प्रतीकार (दूर करने का प्रयत्न) किया ही नहीं जा सकता। अर्थात् रोग का निदान बिना जाने औषधोपचार नहीं किया जा सकता।

राजा :—अनुसूया भी मेरे तर्क को ही दुहरा रही है अर्थात् जो मेरा तर्क था कि यह सन्ताप आतप सन्ताप है अथवा मदन सन्ताप, यही तर्क अब अनुसूया के द्वारा भी उपस्थित किया गया है, अतः स्पष्ट है कि उसने मेरी धारणा को समझ लिया है। अतः जो कुछ (इसकी अस्वस्थता के विषय में) सोचा था (वह केवल मेरे ही मन की बात नहीं थी) अर्थात् अनुसूया भी ऐसा ही सोच रही है। दर्शनं=ज्ञान—समझ-धारणा-विचार आदि)

शकुन्तला :—(मन ही मन) सचमुच मेरा यह बहुत बड़ा आग्रह है जो कि अब भी मुझसे एकाएक इनसे कहते नहीं बन रहा है।

अभिनिवेश :—आग्रह। बलवान्=अधिक। तात्पर्य यह है कि वास्तव में यदि मैं अब भी अपने अभिप्राय को नहीं बतलाती हूँ तो न बताने के कारण यह मेरा बहुत बड़ा हठ कहा जायेगा। इसी हठ के कारण मैं अब भी (अर्थात् इस अवस्था में भी जब कि मैं काम पीड़ा से इतना अधिक बेचैन भी हो रही हूँ, और इतना नहीं प्रत्युत उस समय भी जब कि, सखियाँ(वे भी ऐसी वैसी नहीं प्रत्युत प्रिय सखियाँ, रहस्य को जो कभी भी खोल नहीं सकती, और जो मेरी सर्वथा अन्तरंगिनी है) मुझ से यह पूछ भी रही हैं तब भी मैं अकस्मात् इनसे बताने के लिए अपने को असमर्थ पा रही हूँ अर्थात् इतना सब कुछ होते हुये भी मुझे अपनी बात बताते नहीं बनती।

प्रियम्वदा :—सखी शकुन्तला ! यह (अनुसूया) ठीक ही कह रही है। तू क्यों अपने आतंक (सन्ताप-व्याधि) की उपेक्षा कर रही है अर्थात् हम लोगों को न बता कर और बढ़ाती जा रही है। देख, तू दिन प्रतिदिन अपने शरीरावयवों से क्षीण होती जा रही है अर्थात् तेरे अंग दिन-दिन सखते जा रहे हैं। (अब तो तेरे शरीर पर) केवल लावण्यमयी छाया अर्थात् सुन्दरता की झलक मात्र शेष रह गई है अर्थात् तेरा शरीर सूखता जा रहा है केवल सौन्दर्य की झलक ही तुझे नहीं छोड़ रही है।

राजा :—प्रियम्वदा ने ठीक कहा है। क्योंकि :—

शोच्या च प्रियदर्शना च मदनक्लिष्टेयमालक्ष्यते
पत्राणामिव शोषणेन मरुता स्पृष्टा लता माधवी ॥ ७ ॥

शकुन्तला—सहि ! कस्स वा अण्णस्स कहइस्सं ? आआसइत्तिआ दाणिं वो भवस्सं । [सखि ! कस्य वाऽन्यस्य कथयिष्यामि ? । आयासयित्रीदानीं वां भविष्यामि ।]

उभे—अदो एव्व खु णिब्बघो । सिणिद्धिजणसंविभत्तं हि दुक्खं सज्झवेदणं होदि । [अत एव खलु निर्बन्धः । स्निग्धजनसंविभक्तं हि दुःखं सह्यवेदनं भवति ।]

श्लोक ७ अन्वय :—आननं, क्षामक्षामकपोलं, उरः, काठिन्यमुक्तस्तनं, मध्यः क्लान्ततरः, अंसौ प्रकामविनतौ, छविः पाण्डुरा (अतएव) मदनग्लाना इयं पत्राणां शोषणेन मरुता स्पृष्टा माधवी लता इव शोच्या च प्रियदर्शना च आलक्ष्यते ।

शब्दार्थ :—क्षामक्षामकपोलं=जिसमें दोनों कपोल बहुत अधिक धंस गये हैं, काठिन्यमुक्तस्तनं=स्तनों ने कठोरता छोड़ दी है अर्थात् ढीले पड़ गये हैं, मध्यः=कटि कमर, क्लान्ततरः=और भी पतली हो गई हैं, प्रकामविनतौ=बहुत अधिक झुक गये हैं, छविः=देहद्युति, कान्ति, पाण्डुरा=पीली पड़ गई है, पत्राणां शोषणेन मरुता=पत्तों को सुखाने वाले वायु से, स्पृष्टा=स्पर्श की गई, लू से मारी हुई, माधवीलता=वासन्तीलता, मदनक्लिष्टा=कामपीडिता, आलक्ष्यते=दिखाई पड़ती है । शोच्या=शोचनीय, तरस खाने योग्य, दयापात्र, प्रियदर्शना=देखने में सुन्दर लगने वाली ।

अनुवाद :—(क्योंकि इसका मुख, अत्यधिक दुर्बल कपोलों वाला अर्थात् धंसे हुए कपोलों वाला (हो गया है) वक्षः स्थल, कठिन्य रहित स्तनों वाला (हो गया है) अर्थात् इसके स्तन अपनी स्वाभाविक कठोरता को छोड़कर ढीले पड़ कर झुक गये हैं कटि प्रदेश और अधिक पतला (हो गया है) स्कन्ध प्रदेश बहुत अधिक झुक गये हैं । देह की कान्ति ढीली पड़ गई है । (अतएव) पत्तों को सुखाने वाली वायु से स्पृष्ट माधवी लता के समान कामपीड़िता यह शकुन्तला शोचनीया तथापि यह प्रियदर्शना लगती है ।

व्याख्या :—प्रियम्वदा के कहने पर कि तू इस प्रकार अपने रोग (विरह सन्तापजन्य पीड़ा) को क्यों बढ़ाती जा रही है दिन प्रतिदिन तू इतनी सूखती जा रही है कि तेरे शरीर पर बस अब सुन्दरता की झलक भर शेष रह गयी है, राजा कहता है कि प्रियम्वदा ठीक कह रही है क्योंकि—(शकुन्तला के) मुख मण्डल के दोनों कपोल धँस गये हैं, वक्षस्थल के दोनों स्तन अपनी स्वाभाविक कठोरता (कड़ापन) छोड़ चुके हैं अर्थात् ढीले पड़ कर झुक गये हैं, मध्यभाग बहुत पतला हो गया है, दोनों कन्धे बहुत अधिक झुक गये हैं, शरीर की कान्ति पीली पड़ गई है । तात्पर्य यह है कि कामजन्य वेदनावश गाल मुरझा गये हैं मुख सूख गया है, स्तनों की कठोरता जाती रही है, कमर और भी अधिक पतली हो गई है, कन्धे और अधिक झुक गये, और देह पीली पड़ गई है । अतएव पत्तों को सुखाने वाली हवा के लगने से मुरझाई हुई माधवी लता के समान, अर्थात् जैसे लू लगने से वासन्ती लता मुरझा जाती हैं वैसे ही यह काम पीड़िता शकुन्तला शोचनीया तथापि प्रियदर्शना (देखने में सुन्दर) लगती है (क्योंकि लता वत कान्तिमती एवं सुकुमारी, पुष्पवती एवं पल्लविता है) इस पर दया भी आती है क्योंकि कामरूप शोषक वायु ने इसे निरपराध आहत किया है ।

विशेष :—क्षामेत्यादि पद से तात्पर्य है जो कपोल पूर्व ही क्षमा थे वे अब क्षामक्षाम (कृशतर) हो गये हैं, दुःख में मुख का, कपोलों का संकोच तथा सुख में विकास होना स्वाभाविक है । कठिन्येत्यादि पद का तात्पर्य है कि पहिले स्तनों के उत्सेध से वक्षस्थल के अन्तरित हो जाने से वह स्पष्ट नहीं दिखलाई पड़ता था जैसा कि कवि ने वल्कल के

राजा—
पृष्टा जनेन समदुःखसुखेन बाला
नेयं न वक्ष्यति मनोगतमाधिहेतुम्

शिथिलीकरण के समय दिखलाया है पर अब विरहजन्य कृशता के कारण स्तन तथा उरःस्थल स्पष्ट पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं, क्योंकि अब विरहजनित कृशता एवं संताप के कारण स्तनों में वह दृष्टपूर्व काठिन्य एवं उत्सेध नहीं रह गया है जिसके लिए कवि को वल्कल शिथिल कराने की आवश्यकता थी। इसी प्रकार सुन्दरी होने के कारण उसका मध्यभाग वैसे ही कृश था परन्तु अब और कृशतर हो गया था (परन्तु "उदर परमाति मुष्टिना" ही रहा होगा "विधिरेख लौं अखल लखी नहि जाय" तक नहीं पहुंचा होना) सुन्दरी स्त्रियों के स्कन्ध कुछ आगे को झुके हुये होते हैं परन्तु अब वे प्रकाम=अत्यधिक वि=विशेष प्रकार से नत हो गये थे, सम्भवतः घंटोत्क्षेपण से इतने न झुके होंगे नहीं तो प्रकाम और वि वहाँ पर भी आ जाते। विरहवेदना की यही तो विशेषता है।

"शोच्या च प्रियदर्शना च" में विरोधाभास है शोच्या का अनुकम्पा हीं अर्थ करने से इस विरोध का परिहार किया जा सकता है। शोच्या में मदन क्लिष्टा यह हेतु है अतः पदार्थ हेतुक काव्यलिङ्ग है, 'इव' उपमा, स्वभावोक्ति (विरहजन्य व्यथा का स्वाभाविक वर्णन होने से) कोई आचार्य यहाँ पर समुच्चयालंकार मानते हैं क्योंकि प्रियम्वदा के कथन के समर्थन रूप कार्य के प्रति यहाँ पर क्षामेत्यादि बहुविध हेतुओं का निर्देश किया गया है। अनुप्रास, शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

क्षि+क्त=क्षामः, "क्षायो मः" तकारस्य मादेशः, कठिनस्य भावः काठिन्यम्, ष्यञ् प्रत्ययः। मुच्+क्त=मुक्तम्। वि+नम्+क्त=विनती, क्लिश्+क्त=क्लिष्टा, आ+लक्ष्+कर्मणि यक्। शुष+ल्यु=शोषणः।

संस्कृत व्याख्या—आननं मुखं, क्षामक्षामौ अतिशयेन क्षीणौ कपोलौ यत्र तत् क्षामक्षामकपोलं, उरः=वक्षस्थलं, काठिन्येन मुक्तौ त्यक्तौ (रहिता वित्यर्थः) स्तनौ यत्र तत् काठिन्यमुक्तस्तनं, मध्यः कटिप्रदेशः अतिशयेन क्लान्तः इति क्लान्ततरः, अंसौ स्कन्धप्रदेशौ प्रकामविनतौ अत्यन्त मवनतौ, छविः=कान्तिः, देहद्युतिरित्यर्थः पाण्डुरा पीतवर्णा (अतएव) पत्राणां दलानां शोषणेन सारभूतरसग्रहणाच्छोषकार्यं कुर्वता मरुता पश्चिमवातेन स्पृष्टा आक्रान्ता लंघिता माधवी वासन्ती लता इव मदनेन कामेन क्लिष्टा पीड़िता मदनक्लिष्टाइयं शकुन्तला शोच्या शोचनीया प्रियदर्शना मनोज्ञदर्शना च आलक्ष्यते परिदृश्यते इति।

अलंकारादाय उक्ताः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्।

शकुन्तला :—सखी! तुम्हें नहीं, तो और किस दूसरे को बताऊँगी। किन्तु अब इस प्रकार मैं तुमको कष्टदायिनी ही बनूँगी अर्थात् बताकर तुम्हें भी कष्ट ही दूँगी—तुम्हें मेरे लिये कुछ परिश्रम ही करना पड़ेगा और कोई तुम्हें लाभ न होगा।

उभे :—इसीलिये तो मेरा यह आग्रह है। अर्थात् जिससे कि तुम अपने संताप का कारण बता दो और हम लोग उसको दूर करने का प्रयत्न करें। क्योंकि प्रयोजनों में बँटा हुआ दुःख सहन करने योग्य हो जाता है अर्थात् जब कोई दुःख अपने प्रियजनों में बँट जाता है तो वह कम हो जाता है फिर उसकी वेदना असह्य नहीं रह जाती।

"किशोर केलि टीका के अनुसार प्रतिमुख सन्धि यहीं तक चलती है और इसके उपरान्त गर्भ नामक सन्धि आरम्भ होती है। "अर्थद्योतनिका" के अनुसार यह प्रतिमुख सन्धि तृतीयाङ्क समाप्ति पर्यन्त चलती है। प्रस्तुत टीका में, 'अर्थद्योतनिका' के अनुसार ही सन्धियों तथा उनके अङ्गों का निर्देश किया गया है।

दृष्टो निवृत्य बहुशोऽप्यनया सतृष्ण-
मत्रान्तरे श्रवणकातरतां गतोऽस्मि ॥ ८ ॥

शकुन्तला—सहि ! जदो पहुदि मम दंसणपहं आअदो सो तपोवण रक्खिदा रायसी, तदो आरहिअ तग्गदेण अहिलासेण एतदवत्थम्हि संवुत्ता । [सखि ! यतः प्रभृति मम दर्शनपथमागतः स तपोवन रक्षिता राजर्षिः तत आरभ्य तद्गतेनाभिलाषेणैतदवस्थास्मि संवृत्ता ।]

श्लोक ८ अन्वय—समदुःखसुखेन जनेन पृष्टा बाला आधिहेतुं मनोगतं न वक्ष्यति इति न (अपि तु वक्ष्यत्येव) अनया निवृत्य बहुशः सतृष्णं दृष्टः अपि (अहं) अत्रान्तरे श्रवणकातरतां गतः अस्मि ।

शब्दार्थ—समदुःखसुखेन जनेन=दुःख तथा सुख में न्यूनातिरेक से शून्य अर्थात् समान भाव रखने वाली सखियों द्वारा पृष्टा=पूछी गई अर्थात् जब इससे वे पूछेगीं तो, आधिहेतुम् =आधि=मानसिक व्यथा, हेतु=कारण अर्थात् मनोव्यथा का कारण, वक्ष्यति=कहेगी बतलायेगी, निवृत्य=लौट कर, मुँह फेर कर पीछे की ओर मुड़ कर, मुझे देखकर बहुशः=कई बार, संतृष्णं=बड़ी स्पृहा के साथ, अत्रान्तरे=इस अवसर पर, श्रवणकातरतां =उत्तर सुनने की अधीरता, अथवा कातरता=भय अर्थात् न जाने यह क्या उत्तर दे अपनी मनोव्यथा का कारण मुझे बतलायेगी या न बतलायेगी इस बात का भय । गतोऽस्मि=प्राप्त हुआ हूँ ।

अनुवाद :—दुःख और सुख में समान भाव रखने वाली सखियों द्वारा पूछी गई यह शकुन्तला अपनी मानसिक व्यथा का कारण न बतलायेगी ? यह नहीं, अपितु अवश्य बतलायेगी । (यद्यपि पहिले) कई बार मैं इसके द्वारा मुड़ कर मेरी ओर मुँह फेर देखा गया हूँ, (तथापि) इस अवसर पर (इसका उत्तर) सुनने के लिये मैं तृष्णा पूर्वक अधीर हो उठा हूँ ।

व्याख्या :—सखियों द्वारा शकुन्तला से अपनी मनोव्यथा का कारण बताने के लिए आग्रह करने पर, राजा सोचता है कि :—

दुःख तथा सुख में समान भाव से व्यवहार करने वाली अपनी सखियों द्वारा पूछने पर यह बाला अपनी मनोव्यथा का कारण न बतलायेगी ऐसी बात नहीं अर्थात् अवश्य बतला देगी किन्तु इसने (शकुन्तला ने) यद्यपि (उस समय) फिर कर कई बार मुझे सतृष्ण नेत्रों से देखा था (ललचाई हुई आँखों से बार बार बड़े प्यार से देखा था) फिर भी इस अवसर पर (इसका उत्तर) सुनने के लिए मैं अधीर हो रहा हूँ अथवा फिर भी मेरे जी में इस समय बड़ी बेचैनी रही है कि देखें यह अपनी मनोव्यथा का क्या कारण बतलाती है ।

विशेष—समेत्यादि पद में सुखदुःख न कह कर जो दुःख को पहला स्थान दिया गया है इससे इस बात की ओर संकेत है कि दुःख में भी सुखवत् साम्यभाव रखना प्रेम प्रकर्ष का द्योतक है ।

'बाला' पद से कवि का तात्पर्य है कि यह कपट छल छिद्र नहीं जानती, मुग्धा भोली भाली है अतः सत्य ही कहेगी ।

"संतृष्णं दृष्टोऽपि" से तात्पर्य है कि यद्यपि प्रथम दिन ही इसने इस प्रकार बड़े प्यार से मुझे देखा है अतः यह मुझे ही आधि हेतु बतलायेगी यह निश्चय रहने पर भी ।

शकुन्तला के सत्य कथन में बालात्व अथवा समदुःखसुख जन्य हेतु है अतः काव्य-लिङ्ग । सतृष्ण देखना रूप कारण होने पर भी विश्वास रूप कार्य नहीं, और श्रवण-कातरता

राजा—(सहर्षम्) श्रुतं श्रोतव्यम्,

स्मर एव तापहेतुर्निर्वापयिता स एव मे जातः।
दिवस इवाभ्रश्यामस्तपात्यये जीवलोकस्य ॥ ९ ॥

शकुन्तला—तं जइ वो अणमदं ता तह वट्टह जह तस्स राएसिणो अणुकंपणिज्जा होमि। । अण्णहा अवस्सं सिचध मे तिलोदअं। [तद्यदि वामनुमतं तदा तथा वर्तेथां यथा तस्य राजर्षेरनुकम्पनीया भवामि । अन्यथाऽवश्यं सिञ्चतं मे तिलोदकम्]

रूप कार्य होने पर भी कारण नहीं, अतः विभावना और विशेषोक्ति अलकारों का सन्देह संकर है। श्रुति, छेक, वृत, अनुप्रास । वसन्ततिलका छन्द है।

प्रच्छ+क्त=पृष्टा, तृष्णया सह अव्ययीभावः सतृष्णम्।

संस्कृत व्याख्या—समं दुखं सुखं च यस्य तेन समदुःखसुखेन दुःखे सुखे च न्यूनातिरेकशून्येन जनेन सखी जनेन पृष्टा सती इयं बाला मुग्धा शकुन्तला मनोगतं अन्तःकरणनिहतं आधिः मनोव्यथायाः हेतुस्तं-आधिहेतुं न वक्ष्यति कथयिष्यति इति न अपितु वक्ष्यत्येव, अनया शकुन्तलया निवृत्य मुखं परावृत्य सतृष्णं सस्पृहं यथा स्यात्तथा बहुशः असकृत् दृष्टः समवलोकितोऽपि (अहं) अत्रान्तरे अस्मिन्नवसरे श्रवणे कातरता, तां श्रवणकातरतां प्रतिवचनश्रवणातुरतां गतः प्राप्तःअस्मि । उक्ता अलंकाराः, वसन्ततिलकं वृत्तम्।

शकुन्तला—सखी ! तपोवन की रक्षा करने वाले उन राजर्षि को जब से मैंने देखा है तभी से उनकी प्राप्ति की अभिलाषा के कारण मेरी यह दशा हो गई है।

राजा—(हर्ष पूर्वक) सुन लिया जो कुछ सुनने योग्य था—अर्थात् यही तो मैं सुनना चाहता था, वह सुन लिया।

श्लोक ९ अन्वय—तपात्यये जीवलोकस्य अर्धश्यामः दिवसः इव स्मरः एव मे तापहेतुः (आसीत्) स एव मे निर्वापयिता जातः।

शब्दार्थ—तपात्यये=ग्रीष्मावसान, अर्थात् वर्षारम्भ काल में अर्धश्यामः=आधे में मेघों से मलिन, स्मरः—काम, तापहेतुः=कामपीडोत्पादनकारण, निर्वापयिता=शान्ति करने वाला।

अनुवाद—ग्रीष्मावसान अथवा वर्षारम्भकाल में जीवलोक के लिए, आधे में (मेघों से) मलिन, दिन के समान, जो कामदेव (अन्त तक) मेरे लिये सन्तापकारक था वही अब मेरे लिए शान्तिदायक हो गया है।

व्याख्या—शकुन्तला के, अपनी सखियों से, यह कहने पर कि उस राजर्षि को जब से मैंने देखा है तभी से तद्‌गता मैं इस अवस्था को प्राप्त हुई हूँ, राजा कहता है बस जो सुनना था सुन लिया अब—

जो दिन, गर्मी के समय प्राणियों को सन्ताप देता है वही दिन गर्मी बीत जाने पर अर्थात् वर्षा काल के आरम्भ होने पर अर्धभाग में मेघों से मलिन होकर सन्ताप को दूर करने वाला हो जाता है ठीक इसी प्रकार जो कामदेव मुझे (अब तक) सन्ताप दे रहा था उसी ने अब सन्ताप दूर भी कर दिया अर्थात् जो कामदेव अब तक मुझे सता रहा था उसी ने अब जिला लिया जैसे गर्मी में जीवों का सन्ताप देने वाला दिन वर्षा काल में सबका जी हरा कर देता है।

भावार्थ यह कि जैसे ग्रीष्मकालीन दिन तीक्ष्ण सूर्य किरणों के सन्तप्त हो जीवधारियों को सन्तापदायक होता है परन्तु वर्षारम्भ होने पर वही दिन अपनी शीतल जलधार से मृतप्राय प्राणियों को जीवन देने वाला बन जाता है उसी प्रकार जो कामदेव अब तक

राजा—संशयच्छेदि वचनम् ।

प्रियंवदा—(जनान्तिकम् ।) अणसूए ! दूरगअमन्महा अक्खमा इअं कालहरणस्स । जस्सिं बद्धभावा एसा सो ललामभूदो पोरवाणं ता जुत्तं से अहिलासो अहिणंदिदुं । [अनुसूये ! दूरगतमन्मथाक्षमेयं कालाहरणस्य । यस्मिन्बद्धभावैषा स ललामभूतः पौरवाणाम् । तद्युक्तमस्या अभिलाषोऽभिनन्दितुम् ।]

अनसूया—तह जह भणासि । [तथा यथा भणसि ।]

शकुन्तला के कारण मुझे सन्ताप दे रहा था वही अब मेरे कारण शकुन्तला के हृदय में सन्ताप उत्पन्न कर और इस प्रकार मेरी आशा पूर्ति की सम्भावता उत्पन्न कर मेरे सन्ताप को दूर कर रहा है ।

विशेष—जो तापहेतु है वही तापनाशक भी है यह विरोधाभास है वास्तव में नायकगत काम तापहेतु है और नायिकागत होने पर वही तापनाशक है अतः भिन्नाश्रय होने से विरोधपरिहार होता है । कोई आचार्य यहाँ विषमालंकार मानते हैं क्योंकि तापजनक ही तापनाशक हो गया अतः विरुद्ध कार्य का संघट्टन होता है उपमालंकार । और इससे पहिले काम का अत्यन्त तीक्ष्णत्व पर इस समय अत्यन्तानुकूलत्व है यह ध्वनित होता है। "प्रतिकूल दैव जिस काम से मुझे सन्ताप पहुँचाता है उसी काम से शकुन्तला मुझे शान्ति देती है" इस अर्थ से यहाँ व्याघातालंकार व्यङ्ग्य है "यथा साधितस्य तथैवान्येनान्यथाकरणं व्याघातः" वृत्यनुप्रासः, आर्या जातिः छन्द है ।

संस्कृत व्याख्या :—तपात्यये ग्रीष्मावसाने प्रावृडारम्भ इत्यर्थः जीवलोकस्य प्राणिसमूहस्य अर्धे मेघाक्रान्तत्वात् श्यामः सच्छायः अर्धश्यामः जलदमलिनः दिवसः वासर इव तापस्य हेतुः कारणं तापहेतुः स्मरः कामः एव मे मम निर्वापयिता शान्तिदायकः हर्षप्रदः जातः सम्पन्नः । हर्ष विषयोऽयं यत्सन्तापस्वभावोऽपि मारः प्रियायां मदर्थमभिलाषामुत्पाद्य मत्कृते हर्षप्रदो जातः । उक्ता अलंकाराः । आर्या जातिः ।

कुत्रचित् अभ्रश्यामः इति पाठान्तरम् ।

शकुन्तला—तो यदि यह बात तुम दोनों को उचित लगे अर्थात् तुम्हारी अनुमति हो तो कोई ऐसा उपाय करो कि उन राजर्षि की मुझ पर कृपा हो जाय अर्थात् वे कृपा कर मुझे स्वीकार कर लें । नहीं तो अर्थात् यदि ऐसा कोई उपाय न हो सका तो बस तुम मेरे लिए तिलोदक देना अर्थात् मैं मर जाऊँगी और तुम मेरे लिए पानी देते रहना (तिलोदक = तिल और पानी—मृतकों के लिए तर्पण करते समय तिल और पानी अञ्जलि में भरकर दिया जाता है ।)

यहाँ पर शमन नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग उपक्षिप्त किया गया है तस्योपशमनं यत्तु समनं तदुदाहृतम्"

राजा—बस इसका यह कथन सब सन्देहों को दूर कर देता है !

प्रियम्वदा—(अलग) अनुसूये ! इसका काम विकार बहुत अधिक बढ़ गया है अतः यह अब इस कार्य में देर नहीं सहन कर सकती अर्थात् इसकी प्रेमव्यथा इतनी बढ़ गई है कि कोई उपाय शीघ्र ही करना चाहिए । जिस पुरुष पर इसका मनोऽनुराग दृढ़ है वह पुरुवंशियों में सर्वश्रेष्ठ है अर्थात् पुरुवंश सर्वश्रेष्ठ दुष्यन्त पर इसका अनुराग है अतः इसकी अभिलाषा का अनुमोदक करना उचित है । तात्पर्य यह कि इसकी यह बात तो प्रशंसनीय है कि इसने यदि प्रेम किया तो पुरुवंश के श्रेष्ठ राजा से किया ।

अनुसूया—हाँ जैसा तुम कहती हो, ठीक है ।

प्रियंवदा—(प्रकाशम् ।) सहि ! दिट्ठिआ अणुरुवो दे अहिणिवेसो साअरं उज्झिअ कहिं वा महाणई ओदरइ ! को दाणिं सहआरं अंतरेण अदिमुत्तलदं पल्लविदं सहेदि ? । [सखि ! दिष्ट्यानुरूपस्तेऽभिनिवेशः । सागरमुज्झित्वा कुत्र वा महानद्यवतरति ? क इदानीं सहकारमन्तेणामुक्तलतां पल्लवितां सहते ?]

राजा—किमत्र चित्रं यदि विशाखे शशाङ्कलेखामनुवर्तेते ? ।

अनसूया—को उण उवाओ भवे जेण अविलंबिअं णिहुअं अ सहीए मणरहं संपादेम्हं ? । [कः पुनरुपायो भवेद्येनाविलम्बितं निभृतं च सख्या मनोरथं संपादयावः ? ।]

प्रियंवदा—णिहुअंत्ति चिंतणिज्जं भवे । सिग्घंत्ति सुअरं । [निभृतमिति चिन्तनीयं भवेत् । शीघ्रमिति सुकरम् ।]

अनुसूया—कहं विअ ? [कथमिव ? ।]

प्रियंवदा—णं सो राएसी इमस्सिं सिणिद्धदिठ्ठीए सूइदाहिलासो इमाइं दिअहाइं पजाअरकिसो लक्खीअदि । [ननु स राजर्षिरेतस्यां स्निग्धदृष्ट्या सूचिताभिलाष एतान्दिवसान् प्रजागरकृशो लक्ष्यते ।]

प्रियम्वदा—(प्रकट) सखी ! सौभाग्य की बात है कि तेरा यह प्रेम तेरे योग्य है, अर्थात् तुमने अपने योग्य ही व्यक्ति से प्रेम किया है । महानदी सागर को छोड़कर और कहाँ गिरती है अर्थात् कहीं नहीं अर्थात् जिस प्रकार गंगा आदि महानदियाँ समुद्र ही में गिरती हैं अन्यत्र नहीं उसी प्रकार अपूर्व सुन्दरी सर्वगुणविशिष्ट तू भी दुष्यन्त जैसे राजर्षि को छोड़कर और किससे प्रेम कर सकती थी । नये पत्तों वाली माधवी लता को आम्र के वृक्ष के अतिरिक्त और कौन अब अपना सकता है अर्थात् पूर्णतया पल्लवित विकसित माधवी लता को जैसे आम्र वृक्ष ही सहारा देता है वह उसी पर चढ़ती है ठीक उसी प्रकार विकसित यौवना तुम्हें दुष्यन्त के अतिरिक्त और कौन अपना बना सकता है । अर्थात् यह पारस्परिक संयोग बहुत ही सुन्दर है ।

राजा—इसमें विचित्रता ही क्या यदि विशाखा नक्षत्र के दोनों तारे चन्द्रमा का अनुवर्तन-अनुमोदन करते हैं तात्पर्य यह कि जिस प्रकार दो विशाखा नक्षत्र चन्द्रमा के पीछे पीछे चलते हैं उसी प्रकार ये दोनों सखियाँ शकुन्तला के पीछे चलती हैं अर्थात् उसकी बातों का अनुमोदन करती हैं । इनको ऐसा करना ही चाहिए (यहाँ विशाखा तथा शशाङ्क दोनों अप्रस्तुत हैं) ततः अप्रस्तुतप्रशंसालंकार है, तथा योग्यसमागम या यथायोग्य समागम होने से समालंकार हैं ।

अनुसूया :—क्या उपाय हो सकता है कि जिससे सखी का मनोरथ गुप्त रीति से और शीघ्र पूरा किया जाय ।

प्रियम्वदा :—गुप्तरीति से किया जाय यह बात अवश्य सोचने योग्य है पर शीघ्र किया जाय यह बात तो सरल है । अर्थात् यह कार्य शीघ्र तो हो सकता है पर बात छिपी भी रहे इसके लिए तो थोड़ा विचार करना पड़ेगा ।

अनुसूया :—कैसे ?

प्रियम्वदा :—क्योंकि अपनी प्रेमभरी दृष्टि से राजा ने भी तो इस पर अपनी अभिलाषा प्रकट कर दी है अतएव वे (इसी चिन्ता से) अधिक जागते रहने के कारण इन दिनों दुर्बल दिखाई पड़ते हैं ।

राजा :—सत्य है । मैं ऐसा ही हूँ । क्योंकि :—

राजा—सत्यममित्थभूत एवास्मि । तथाहि, —

इदमशिशिरैरन्तस्तापाद्विवर्णमणीकृतं
निशि निशि भुजन्यस्तापाङ्गप्रसारिभिरश्रुभिः ।
अनभिलुलितज्याघाताङ्कं मुहुर्मणिबन्धना-
त्कनकवलयं स्रस्तं स्रस्तं मया प्रतिसार्यते ॥ १० ॥

श्लोक १० अन्वय :—निशि निशि भुजन्यस्तापाङ्गप्रसारिभिः अन्तस्तापात् अशिशिरैः अश्रुभिः विवर्णमणीकृतं अनभिलुलितं ज्याघाताङ्कं मणिबन्धनात् स्रस्तं स्रस्तं इदं कनकवलयं मया मुहुः प्रतिसार्यते ।

शब्दार्थ :—निशि निशि=प्रत्येक रात्रि को, भुजन्यस्तापांगप्रसारिभिः=उपधानी कृत भुजा पर रखे हुये नेत्र प्रान्त से बहने वाले (उपाधान=तकिया) अन्तस्तापात्=हृदय में उठे हुये मदन ताप के कारण, अशिशिरैः=उष्ण, विवर्णमणीकृतं=जिसकी मणि विकृत वर्ण वाली अर्थात् मलिन कर दी गई हैं, अनभिलुलितज्याघाताङ्कं=जिसने धनुष की डोरी खींचने के कारण मणिबन्ध स्थान (प्रकोष्ठ) पर पड़े हुए चिह्न (गड्ढे) को स्पर्श नही किया है, अथवा अनभिलुलित का अर्थ है अनभिव्यक्त अर्थात् वलय से अन्तर्गत होने के कारण ज्याघात का चिह्न जिसमें दिखलाई नहीं पड़ता है, मणिबन्धनात्=प्रकोष्ठ से, स्रस्तं स्रस्तं=बार बार (विरह कृशता के कारण) खिसक कर हथेली की ओर आते हुए, प्रतिसार्यते=ऊपर की ओर खींचा जाता है ।

अनुवाद :—प्रत्येक रात्रि में (उपधानी कृत) भुजा पर रखे गये नेत्रप्रान्त से बहने वाले, हार्दिक मदनताप के कारण उष्ण आसुओं से जिसकी मणियाँ विकृत अर्थात् मलिन कर दी गई हैं (बलय से अनभि व्यक्त होने क कारण) जिसका प्रत्यञ्चा के आघात का चिह्न दिखलाई नहीं पड़ता (ऐसा) यह स्वर्णकंकण मणि बन्धन स्थान अर्थात् कलाई से बार बार खसकता खसकता हुआ मेरे द्वारा ऊपर की ओर खींचा जाता है ।

व्याख्या—प्रियम्वदा के यह कहने पर कि वह राजर्षि भी अपनी स्निग्ध दृष्टि द्वारा अपनी अभिलाषा प्रकट कर चुके हैं और इधर कई दिनों से ज्यादा जागते रहने से वे भी कृश से दीख पड़ते हैं राजा अपने को देखकर कहता है सचमुच मैं ऐसा ही हो गया। क्योंकि :—प्रत्येक रात्रि को (विरह वेदना वश) उपाधानी कृत भुजा पर रखे हुए मेरे नेत्र प्रान्त से बहने वाले तथा हार्दिक काम सन्ताप, से गरम हुए मेरे आँसुओं से जिस मेरे स्वर्ण कंकण की मणि मलिन हो गई हैं और जो स्वर्ण कंकण ज्याघात से पड़े हुए मेरे प्रकोष्ठ के चिह्न को (घट्टे या गट्टे या ठेक) को भी स्पर्श नहीं करता और बार बार (कृशता वश) मणिबन्ध स्थान से खिसक कर हथेली की ओर आ जाता है उस वलय को मैं बार बार ऊपर की ओर खींचता रहता हूँ। तात्पर्य यह है कि सचमुच मैं इन दिनों इतना दुर्बल हो गया हूँ कि प्रत्येक रात्रि को मैं जागता ही रहता हूँ, विरह वेदना वश करवटें ही बदलता रहता हूँ अतः तकिया की बात ही क्या अपनी वाम भुजा पर ही सिर रख कर पड़ रहता हूँ अतः वेदनावश रात रात भर मेरी आँखों की कोरों से छन छन कर बहे हुए और हार्दिक काम संताप वश गरम हुए आँसुओं से प्रकोष्ठ पर बँधे हुए मेरे कनक वलय की मणियाँ विकृत वर्ण वाली अर्थात् मलिन हो गई हैं, विरह कृशतावश यह स्वर्ण वलय इतना ढीला पड़ गया है कि बार बार ऊपर की ओर सरकाते रहने पर भी यह गट्टे पर खिसक आता है और धनुष की डोरी खींचते रहने से पड़े हुए घट्टों पर भी नहीं ठहर पाता ।

यहाँ कवि कालिदास का नायिकागत एवं नायकगत विरह कृशता का वर्णन कितना स्वाभाविक है, उनमें कहीं भी रीतिकाल के हिन्दी कवियों जैसी कृशता की नाप जोख

तथा असंभाव्य उक्तियाँ नहीं हैं, कालिदास जैसे रस सिद्ध कवि को विरह कृशा नायिका को ढूंढ़ने के लिए चश्मा की जरूरत न थी और न उनकी प्रकृतिकन्या शकुन्तला को बिहारी के शब्दों में उसांसों के झूले पर ही झूलना पड़ा है।

पर बिचारे बिहारी जी करते ही क्या, उनके आदर्श तो संस्कृत के ही कवि थे, गाथा सप्तशती तो उनके सामने ही थी और महाकवि विल्हण का वह श्वास समीरणजन्य कम्प भी था जिसको ही उन्होंने झूला बना डाला है महाकवि विल्हण विक्रमांक देव चरित के नवम सर्ग में विरह कृशता का वर्णन करते हुए कहते हैं :—

प्राप्ता तथा तानव मङ्गयष्टि, स्त्वद् विप्रयोगेन कुरङ्गदृष्टेः,
धत्ते गृहस्तम्भनिवर्तितेन, कम्पं यथा श्वाससमीरणेन ॥

जब विरह कृशा चन्द्रलेखा घर के खम्भे से टकरा कर लौटे हुए श्वास समीरण से भी हिलने लगती थी. तो बिहारी जी ने उसे श्वासों के झूले पर बैठा कर छः सात हाथ लम्बे झोंके भी दे दिये हैं। वास्तव में संस्कृत के कवि भी कहीं कहीं ऐसी ही खिलवाड़ में पड़ गये हैं "तथा क्षीणा यथा मुकुलितलोचनपुटविघटनेऽप्यसमर्था, शक्ष्यति दुष्करं गृहगतमपि त्वां दृष्टुं बाला"।

विशेष—निशि निशि अर्थात् उसके देखने के समय से लेकर अब तक रात रात भर। दिन न ग्रहण कर रात ही ग्रहण करने का कारण यह है कि दिन में तो आश्रम रक्षा में तत्पर रहने से, परिजनों के पास में रहने से, शकुन्तला सदृश वनलता मृगकमलादि वस्तु देखते रहने से यथा कथञ्चित् दिन तो बीत ही जाता था अतएव निशा का ग्रहण किया है क्योंकि कामीजनों के लिए प्रायः रात्रि में ही विरह अधिक असह्य होता है, अथवा निशा ग्रहण का तात्पर्य यह है कि दिन में तो विरह वेदना प्रकाशन (अश्रुप्रवाहादि के द्वारा) से दुष्यन्त के धीरोदात्तत्व का व्याघात सम्भव था अतएव निशा ग्रहण किया है, रात में ही प्रिया विरह में अकेले बैठ कर अच्छी तरह रोया जा सकता था। इससे यह भी द्योतित किया है कि शकुन्तला के देखने के समय से लेकर अब तक ऐसी अवस्था हो गई है।

भुजन्यस्तेत्यादि पद से तात्पर्य है कि आश्रम में रहने के कारण, शिकारी होने के कारण तथा विरह पीड़ाजन्य अरति के कारण राजा भू पृष्ठ पर ही सोता था, जागते रहने के कारण, शय्या पर इधर उधर करवटें बदलते रहने के कारण, एक जगह ठहर न सकने के कारण तकिया तो बेचारा बेकार ही था अतः वाम भुजा को ही तकिया बनना पड़ता था अतएव उसी पर बँधे हुए वलय का आँखों के कोनों से छन छन धीरे धीरे आने वाले उष्ण आसुओं से मलिन होना सम्भव था। इससे चिन्ता विषादादि भाव व्यञ्जित होते हैं।

अश्रुभिः—में बहुवचन से आँसुओं का रात भर अनियन्त्रित रूप में बहते रहना तथा उससे वेदनातिशय द्योतित होता है।

विवर्णमणीकृतम्—से यह प्रकट होता है कि दीर्घ काल तक अश्रु प्रवाह होता रहता था अतएव वलय के मणि मलिन हो गये थे, थोड़े समय में मलिन होना सम्भव न था।

कनकवलयं पद से शीतलता द्योतित होती है केवल वलय पद से शीतलता प्राप्त न हो सकती थी अतएव कनक कहा है। वलयं इस एक वचन निर्देश से राजा के विरही होने के कारण अन्य सब आभरणों का त्याग सूचित होता है, राजचिह्न भूत केवल एक वलय ही वह धारण किये हुये था।

अनभिलुलितेइत्यादि पद से तात्पर्य है कि वलय तो वैसे ही ढीला होता है पर कामावस्था कृत तनुता की प्रतीति अन्यथा नहीं हो सकती थी अतएव अनभिलुलितेत्यादि विशेषण दिया है अर्थात् ज्याघात जन्य घट्टों पर भी विरह कृशता वश वह नहीं ठहर सकता। अतएव राजा दुष्यन्त को भी उसे एक आध बार नहीं बार बार ऊपर को खींचना

प्रियम्वदा—(विचिन्त्य।) हला ! मअणलेहो से करीअदु। इमं देवप्पसादस्सावदेसेण सुमणोगोविदं करिअ से हत्थं पावइस्सं [हला ! मदनलेखोऽस्य क्रियताम्। इमं देवप्रसादस्यापदेशेन सुमनोगोपितं कृत्वा तस्य हस्तं प्रापयिष्यामि।]

अनसूया—रोअइ मे सुउमारो पओओ। किं वा सउन्दला भणादि ? [रोचते मे सुकुमारः प्रयोगः। किं वा शकुन्तला भणति ?।]

शकुन्तला—को णिओओ विकप्पीआदि ?। [को नियोगो विकल्प्यते ?।]

प्रियम्वदा—तेण हि अत्तणो उवण्णासपुव्वं चिंतेहि दाव ललिअपदबंधणं। [तेन ह्यात्मन उपन्यासपूर्वं चिन्तय तावल्ललितपदबन्धनम्।]

शकुन्तला—हला ! चिंतेमि अहं। अवहीरणभीरुअं पुणो वेवइ देहिअअं। [हला ! चिन्तयाम्यहम्। अवधीरणाभीरु पुनर्वेपते मे हृदयम्।]

राजा—(सहर्षम्।)

पड़ता था। इससे स्पष्ट है कि प्रियम्वदा का उसे प्रजागर कृश कहना यथार्थ है क्योंकि पहिले तो प्रकोष्ठ में अपेक्षित स्थूलता रहने के कारण वलय अपने स्थान पर ठहरा था वही अब कृशता वश नीचे गिरने लगता था।

स्वाभावोक्ति (ढीले होने के कारण नीचे की ओर खसकना स्वाभाविक वर्णन है, विरहियों का वाम भुजा पर मुख धर रोना भी स्वाभाविक कथन है) काव्यलिङ्ग (मणि के विवर्ण होने के कारण अन्तस्ताप जन्य उष्ण अश्रु बतलाये गये हैं) कोई आचार्य यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा भी मानते हैं क्योंकि अश्रुप्रसरणादि कार्य द्वारा जागरणादि का प्रतिपादन किया गया है जागरण का साक्षात् कथन नहीं है। और अंगों के कृश होने से प्रस्तुत कार्य रूप कनक वलय स्रंसन से उसके कारणीभूत कार्श्य की प्रतीति होती है अतः पर्यायोक्ति अलंकार है।

प्रस्तुत श्लोक में विप्रलम्भ शृङ्गार की अति मनोरम उद्भावना है, नायक आलम्बन विभाव, निशा और निशा से आक्षिप्त चन्द्रादि उद्दीपन विभाव, अश्रुकार्श्यादि अनुभाव और इससे अभिव्यक्त चिन्ता विषाद ग्लानि औत्सुक्यादि व्यभिचारी भाव स्पष्ट हैं और सबसे बड़ी विशेषता यह कि यह विप्रलम्भ भी "क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते" के अनुसार सुखानुभूति उत्पन्न करता हुआ सुभोगायमानता को प्राप्त हो रहा है।

हरिणी छन्द है "न स म र स ला गा ष ड् वेदैः हरिणी मता"

। । । । । ऽ ऽऽ ऽ ऽ । ऽ । । ऽ । ऽ

इ द म, शि शि रै, र न्त स्ता, पा द वि व, र्ण म णी, कृ त म्

अर्थात् इस छन्द में क्रमशः न स म र न लघु गुरु क्रम से १७ वर्ण तथा ६ व ४ पर यति होती है।

नि+अस्+क्त=न्यस्त, प्र+सृ+ताच्छील्ये णिनिः तृतीयाबहुवचने प्रसारिभिः। मणीकृतम् इत्यत्र कृयोगे च्विः। स्रंस+क्त=स्रस्तम्, प्रति+ण्यन्तसृ कर्मणि यक्=प्रतिसार्यते।

संस्कृत व्याख्या—निशि निशि प्रतिनिशम् भुजे न्यस्तो यः अपाङ्ग स्तस्मात् प्रसर्तुं शीलं येषा तैः भुजन्यस्तापाङ्गप्रसारिभिः, उपधानी-कृत-वामवाहुप्रदेशस्थनयनान्तविनिर्गमनशीलैः अन्तस्तापात् कामजनित-हृदयदाहात् अशिशिरैः उष्णैः अश्रुभिः लोचनजलविन्दुभिः विवर्णा मणयो यत्र तत् विवर्णमणि, अविवर्णमणि विवर्णमणि सम्पादितं (कृतं) इति विवर्णमणी कृतम्=कान्तिविरहितमणीकृतम्। ज्यायाः मौर्व्याः आधातेन अङ्कः चिन्हं यस्मिन् व

अयं स ते तिष्ठति संगमोत्सुको
विशङ्कसे भीरु ! यतोऽवधीरणाम् ।
लभेत वा प्रार्थयिता न नवा श्रियं,
श्रिया दुरापः कथमीप्सितो भवेत् ? ॥ ११ ॥

सख्यौ—अत्तगुणावमाणिणि ! को दाणिं सरीरणिव्वावइत्तिअं सारदिअं जोसिणं पडंतेण वारेदि ? [आत्मगुणावमानिनि ! क इदानीं शरीरनिर्वापयित्रीं शारदीं ज्योत्स्नां पटान्तेन वारयति ? ।]

शकुन्तला—(सस्मितम्) णिओइआ दाणिं म्हि [नियोजितेदानीमस्मि ।] (इत्युपविष्टा चिन्तयति ।)

राजा—स्थाने खलु विस्मृतिनिमेषेण चक्षुषा प्रियामवलोकयामि । यतः,—

ज्याघाताङ्कं अनभिलुलितः अस्पृष्टः ज्याघाताङ्कः यस्मिन् तत् अनुभिलुलितज्याघाताङ्कं अस्पृष्टमौर्वीकिणभूषितं । मणिः वध्यते यस्मिन् तत् मणिबन्धनं तस्मात् मणिबन्धनात् प्रकोष्ठात् स्रष्टं भ्रष्टं इदं पुरोदृश्यमानं कनकवलयं स्वर्णकङ्कणम् मया मुहुः पौनः पुन्येन प्रतिसार्यते आकृष्याकृष्य प्रकोष्ठस्थं क्रियते इत्यर्थः । अलंकारादय उक्ताः । हरिणी वृत्तम् ।

प्रियम्वदा—(सोच कर) उसके लिए काम-पत्र लिखा जाय और फिर इसे फूलों में छिपाकर, देवता के प्रसाद का बहाना करके मैं उसके हाथ में पहुँचा दूँगी । विरहिणी की अपनी अवस्था सूचक पत्र मदन लेख कहा जाता है ।

अनुसूया—यह उपाय तो मुझे भी बड़ा सुन्दर लगा, पर शकुन्तला क्या कहती है ।

शकुन्तला—आप लोगों की किस आज्ञा पर मेरे द्वारा कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विचार किया जाता है अर्थात् जैसी आप की आज्ञा होती है मैं तो उसे वैसी ही मान लेती हूँ अतः अब भी वही करूँगी ।

प्रियम्वदा—तो फिर अपने प्रथम वार्तालाप की योजना के अनुरूप कोई ललित (सुकोमल) पदों की रचना सोचिए अर्थात् कोई मधुर पदों वाली गीति रचिये जो कि प्रथम-वार्तालाप की योजना के अनुरूप हों । (उपन्यास पूर्व=प्रथम बार के वार्तालाप में प्रयुक्त करने योग्य]

शकुन्तला—सखी ! मैं सोचती तो हूँ पर मेरा हृदय (इस विचार से) काँप रहा है कि कहीं वे मेरा तिरस्कार न कर दें ।

राजा:—(प्रसन्नतापूर्वक)

श्लोक ११ अन्वय—हे भीरु ! यतः अवधीरणां विशङ्कसे सः अयं ते सङ्गमोत्सुकः तिष्ठति । प्रार्थयिता श्रियं लभेत वा न वा (लभेत) श्रिया ईप्सितः कथं दुरापः भवेत् ।

शब्दार्थ—भीरु=डरपोक, तिरस्कार की आशंका से भयभीत होने वाली, व्यर्थ ही में भीति से कातर होने वाली । यतः=जिस व्यक्ति से, अवधीरणाम्=तिरस्कार, विशङ्कसे=आशंका करती हो, सः अयं=वह यह दुष्यन्त, सङ्गमोत्सुकः=तुम्हारा अङ्गसङ्ग प्राप्त करने के लिए उत्सुक प्रार्थयिता=चाहने वाला, प्राप्त करने की आकांक्षा रखने वाला, श्रिया=लक्ष्मी के द्वारा, ईप्सितः=चाहा हुआ, दुरापः=कठिनता से पाने योग्य ।

अनुवाद—अयि भीरु ! तुम जिससे तिरस्कार की आशंका कर रही हो, वह यह तुम्हारे अङ्गसङ्ग के लिए उत्सुक खड़ा है । लक्ष्मी चाहने वाले को भले ही लक्ष्मी मिले अथवा न मिले पर स्वयं लक्ष्मी जिसे चाहे वह दुष्प्राप्य कैसे हो सकता है ?

व्याख्या—प्रियम्वदा के द्वारा यह कहने पर कि यदि ऐसा है तो एक सुन्दर गीति सोचकर दुष्यन्त के लिए लिखो, शकुन्तला कहती है कि सोचती तो हूँ लेकिन तिरस्कार के भय से मेरा हृदय काँपता है जिसे सुनकर दुष्यन्त कहता है :—

(हँस कर) अयि भीरु ! तुम जिससे निरादर की आशंका कर रही हो वह यह मैं तो तुम्हारे अङ्गसङ्ग को प्राप्त करने के लिए उत्सुक खड़ा हूँ। लक्ष्मी चाहने वाले को भले ही लक्ष्मी मिले अथवा न मिले परन्तु जिसे स्वयं लक्ष्मी चाहे वह उसे न मिले यह कैसे हो सकता है, अर्थात् ऐसा कभी नहीं हो सकता कि जिसे लक्ष्मी चाहे वह न मिले।

तात्पर्य यह कि लक्ष्मी स्थानीया तुम मेरे लिए दुर्लभ हो पर यदि तुम मुझे प्राप्त करना चाहती हो तो, दुर्लभता कैसी ! अतः मैं तो, सर्वथा सुलभ हूँ, दुर्लभ तो तुम्हीं हो सकती हो क्योंकि लक्ष्मी हो, तो फिर मुझसे अनादर की आशंका न करनी चाहिए, परन्तु यह हो सकता है कि मैं तुम से अनादर की सम्भावना करूँ।

विशेष —भीरु पद से तिरस्कार, शंकासम्भावना व्यंजित होती है, यह नियम है कि जिस व्यक्ति से भय हो वही यदि भयभीत होने वाले से "भीरु" कहे तो इससे भयभीत होने वाले के भय दूर होने की सम्भावना हो जाती है शकुन्तला के लिए भीरु सम्बोधन वास्तव में उसके भय को दूर करने के लिए है।

तिष्ठति में वर्तमान निर्देश से तात्पर्य है कि जब तक तुम्हारा संगम प्राप्त न होगा मैं तुम्हारे पास से दूर न जाऊँगा। लभेत न वेति—पुरुषार्थ भी दैवसहकारिता की अपेक्षा रखता है अतः लक्ष्मी चाहने वाले को लक्ष्मी मिल भी सकती है और कदाचित् नहीं भी मिल सकती है अतः लक्ष्मी दुर्लभ ही होती है।

"श्रिया दुरापः कथमीप्सितो भवेत्" इसी आशय का कथन कुमारसम्भव में भी है "न रत्नमन्वष्यति मृग्यते हि तत्"

यहाँ सामान्य से विशेष समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है, श्रुति, वृत्ति, छेकानुप्रास है। पर्यायक्रमभंगदोष "कथं न लभ्यते नरः श्रियार्थिना" इस पाठ से परिहरणीय है। श्रियं श्रिया यह कथित पद दोष तो श्रिया इस स्थान पर तथा पाठ करने से दूर हो सकता है। हर्ष औत्सुक्यादि भाव हैं। वंशस्थ छन्द है।

संस्कृत व्याख्या—अयि भीरु वृथाभीतिकातरे यतः पुरुषात् अवधीरणां अवहेलनाम् विशंकसे वितर्कयसे सोऽयं जनः दुष्यन्त; ते तव सङ्गमाय अंगसंगोपलब्धयेउत्सुकः उत्कण्ठाकुलः सङ्गमोत्सुकः तिष्ठति, त्वदाज्ञां प्रतीक्षमाणो वर्तत इत्यर्थः। प्रार्थयिता लक्ष्मीप्राप्तिसमुत्सुकः श्रीकामो जनः श्रियं लक्ष्मीं लभेत वा प्राप्नुयाद्वा नवा लभेत परन्तु श्रिया लक्ष्म्या (आत्मनैव) ईप्सितः लब्धु मिष्टो जन इत्यर्थः कथं दुरापः दुर्लभः भवेत् न कथ मपीत्यर्थः। श्रीकामः कदाचित् लक्ष्मीं न वा लभेत इति तु युक्तम् परन्तु तयेष्टो जनस्तु सर्वदैव सुलभः। अतो न मत्तोऽवधीरणाशंका विधेयेति भावः।

उक्ता अलंकारादयः। वंशस्थवृत्तम्।

सख्यौ :—अरी, अपने गुणों का निरादर करने वाली। भला बता तो कौन शरीर को शान्ति देने वाली शरद की चाँदनी को वस्त्र के द्वारा अपने ऊपर पड़ने से रोकता है, अर्थात् चाँदनी को रोकने के लिए अपने सिर पर वस्त्र डाल लेता है अर्थात् कोई नहीं। अर्थात् शरज्ज्योत्स्ना समान हृदयानन्ददायिनी तेरा वे तिरस्कार कभी न करेंगे।

शकुन्तला :—(मुस्कराती हुई) अच्छा तो जो कहती हो, वही मैं करती हूँ।

(इस प्रकार बैठ कर सोचने लगती है)

राजा :—प्रिया को अब निर्निमेष नेत्रों से देखने का अच्छा अवसर मिला है (स्थाने खलु=उपयुक्त-उचित) क्योंकि :—

उन्नमितैकभ्रूलतमाननमस्याः पदानि रचयन्त्याः ।
कण्टकितेन प्रथयति मय्यनुरागं कपोलेन ॥ १२ ॥

शकुन्तला—हला ! चिंतिदं मए गीदवत्थु । ण खु सण्णिहिदाणि उण लहणसाहणाणि । [हला ! चिन्तितं मया गीतवस्तु । न खलु संनिहितानि पुनर्लेखन-साधनानि ।]

प्रियम्वदा—इमस्सिं सुओदरसुउमारे णलिणीपत्ते णहेहिं णिक्खित्त-वण्णं करेहि । [एतस्मिञ्शुकोदरसुकुमारे नलिनीपत्रे नखैर्निक्षिप्तवर्णं कुरु ।]

शकुन्तला—(यथोक्तं रूपयित्वा) हला ! सुणाहि दाणिं संगतत्थं ण वेति । [हला ! शृणुतमिदानीं संगतार्थं न वेति]

श्लोक १२ व्याख्या :—पदानि रचयन्त्याः अस्या उन्नमितैकभ्रूतलम् आननं कण्टकितेन कपोलेन मयि अनुरागं प्रथयति ।

शब्दार्थ :—पदानि=मदन लेखयोग्य वाक्य घटित सुबन्ततिङन्तादि पदों को, रचयन्त्याः=ऊहापोह के द्वारा सोचती हुई, उन्नमितैकभ्रूतलम्=जिसमें कि एक भ्रूलता ऊपर को चढ़ा ली गई है (जब कोई व्यक्ति विशेष चिन्तनशील होकर कुछ सोचने लगता है तो स्वभावतः उसकी एक भ्रूलता ऊपर को चढ़ जाती है) इस पद से रचना में उसकी प्रतिपद सावधानता व्यञ्जित होती है तथा राजा ने उसको इस दशा में कभी नहीं देखा था अतः अब उसका अनिमेष दर्शन भी संगत होता है । कण्टकितेन=रोमांचित, प्रथयति= प्रकाशित करती है ।

अनुवाद :—(मदन लेख के लिए) पदों की रचना करती हुई इसका मुख, जिसमें कि लता के समान एक भौं ऊपर को चढ़ी हुई है, अपने रोमाञ्चित कपोल द्वारा मुझ पर अनुराग प्रकट कर रहा है ।।

व्याख्या :—गीत रचना में व्यस्त शकुन्तला को देखकर राजा मन ही मन कहता है कि प्रिया को आँख भर देखने का यह अच्छा अवसर मिला है क्योंकि :—

मदन लेख के लिए यह पद रचना कर रही है अतः इसकी लता के समान एक भौं ऊपर को चढ़ी हुई है, इस अवस्था में इसका मुख अर्थात् इस गीति रचना तत्पर इसका मुख, जिसमें कि एक भौं ऊपर को चढ़ी हुई है, अपने रोमाञ्चित कपोल द्वारा मुझ पर अनुराग प्रकट कर रहा है अर्थात् हर्ष वंश इसके पुलकित कपोल से यह स्पष्ट है कि इसका मेरे प्रति अनुराग है ।

(कपोल विकास का कारण हर्ष है और हर्ष का कारण अनुराग है ।)

विशेष :—कपोलेन एक वचन निर्देश से तात्पर्य है कि जिस ओर की भ्रूलता चढ़ी हुई थी उसी ओर का एक कपोल पुलकित हो रहा था ।

मयि=मेरे विषय में—इससे अपना धन्य होना ध्वनित होता है ।

'रोमांचित कपोल' तब तक नहीं हो सकता जब तक अनुराग प्रकाशन न हो अतः अर्थापत्ति अलंकार है अथवा कपोल पुलक से अनुराग का अनुमान किया जाता है अतः अनुमान अलंकार है । साधक बाधक प्रमाणों के अभाव में इन दोनों का संदेह संकर है । भ्रूलता में उपमालंकार है (भ्रूलता इव) सम्पूर्ण श्लोक में स्वाभावोक्ति अलंकार है । हर्ष भाव है । आर्या जातिः छन्द है ।

उभे—अवहिद म्ह [अवहिते स्वः ।]

शकुन्तला—(वाचयति ।)

तुज्झ ण आणे हिहअअं मम उण कामो दिवावि रत्तिम्मि ।
णिग्घिण ! तवइ बलीअं तुइ वुत्तमणोरदाइं अंगाइं ॥ १३ ॥
[तव न जाने हृदयं मम पुनः कामो दिवापि रात्रावपि ।
निर्घृण ! तपति वलीयस्त्वयि वृत्तमनोरथान्यङ्गानि ॥]

संस्कृत व्याख्या :—पदानि मदनलेखनिनिवेशार्थं सुप्तिङन्तमयानि कवितापदानि रचयन्त्याः विरचयन्त्याः अस्याः शकुन्तलाया उन्नमिता उत्क्षिप्ता एक भ्रूलता यस्मिन् तत् उन्नमितैकभ्रूलतम् आननं मुखम् कण्टकितेन रोमाञ्चितेन कपोलेन (करणेन) मयि दुष्यन्ते अनुरागं प्रथयति सूचयति । प्रकाशयतीत्यर्थः । उक्ता अलंकार आर्या जातिः ।

शकुन्तला :—सखी ! मैंने गीति का विषय तो सोच लिया पर लिखने की सामग्री यहाँ पास में कुछ नहीं है ।

प्रियम्वदा :—तोते के उत्संग (उदर) के समान कोमल इस कमलिनी के पत्ते पर अपने नखों से लिख डालो ।

शकुन्तला :—(वैसा ही करने का अभिनय करती हुई) सखी ! अब सुना, इसका अर्थ ठीक बैठता है या नहीं ।

उभे :—हम दोनों ध्यान से सुन रही हैं ।

शकुन्तला :—(पढ़ती है)

श्लोक १३ अन्वय—हे निघृण ! तव हृदयं न जाने, पुनः कामः त्वयि वृत्त-मनोरथानि मम अङ्गानि दिवा अपि रात्रौ अति वलीयः तपति ।

शब्दार्थ—निर्घृण=निर्दय, वृत्तमनोरथानि=अधीन मनोरथ ।

अनुवाद—अयि निर्दय ! मैं तुम्हारे हृदय को तो नहीं जानती, पर कामदेव मेरे तो उन सभी शरीरावयवों को, जिनकी कि सारी अभिलाषा तुम पर समर्पित है, दिन रात अत्यधिक सन्तप्त कर रहा है ।

व्याख्या—गीत रचकर शकुन्तला सखियों के सामने उसे पढ़ती है :—हे निर्दय ! मैं तुम्हारे मन की तो बात नहीं जानती, पर कामदेव मेरे तो उन सभी शरीरावयवों को जिनकी कि सारी अभिलाषा मैंने तुम्हारे ऊपर सौंप दी है, दिन-रात अत्यधिक संतप्त कर रहा है ।

प्रस्तुत आर्या का बहुत ही सुन्दर पद्यात्मक अनुवाद कालिदास ग्रन्थावली के विद्वन्मण्डल ने दिया है :—

हे निर्दय ! मैं नहीं जानती, तेरे मन की माया
पर तेरे ही प्रेम पास में पड़कर यह फल पाया
कामदेव दिन रात तपाता मेरी कोमल काया

विशेष—निर्दय पद से तात्पर्य है कि जब कि राजा को लोक भर के संताप को दूर करने वाला कहा जाता है फिर तुम तो सम्राट् हो फिर भी मेरे संताप को जानते हुए भी, तुमसे मुझ एक अबला का संताप दूर नहीं होता अतः तुम निर्दय हो, अपने कर्तव्य से पराङ्मुख हो । अतएव दुःख के कारण यह शकुन्तला की परुषोक्ति है । अतः अर्थापत्त्यलंकार है । तव न जाने हृदय=का तात्पर्य है कि तुम्हारा चित्त भी मेरी ही भाँति मुझ पर अनुरक्त

है या नहीं, कामदेव मेरी ही तरह तुम्हारे भी हृदय को संताप देता है या नहीं, मैं यह कुछ नहीं जानती। यहाँ हृदय इस विशेष पद से यह सूचित कियां गया है कि शकुन्तला में तो उत्कण्ठातिशय है परन्तु राजा में उसका अभाव है। "हृदयं मानसोरसो:" इस कोश के अनुसार हृदय अर्थात् तुम्हारे वक्ष:स्थल को, जो कि सैकड़ों दैत्यों के वाणों से भी दुर्भेद्य है अर्थात् बड़ा कठोर है, मैं नहीं जानती हूँ यह बात नहीं अर्थात् मैं जानती हूँ कि वह बड़ा कठोर है अन्यथा वह इस प्रकार के काम संताप से भी, क्यों नहीं द्रवित होता। यह अत्यन्त कठोर है इसीलिए तो जो काम मेरे सभी अङ्गों को तप्त ही नहीं संतप्त भी कर रहा वह क्या तुम्हारे वक्ष:स्थल को भी संतप्त न कर पाता? यदि संतप्त कर पाता तो तुम इस निदाघ समय में विशेष रूप से शीतल मेरे पयोधरों के परिरम्भण के लिए अवश्य आते, नहीं आये, इसी से तो कहना पड़ता है कि तुम्हारा हृदय इतना कठोर है कि उस पर काम बाणों का भी कुछ प्रभाव नहीं पड़ता, पड़े भी कैसे, जो दैत्यों के सैकड़ों तीक्ष्ण वाणों से विद्ध न हो सका वह पुष्प वाणों से विद्ध कैसे होता।

हृदय पद का ऐसा अर्थ लेने पर निर्घृण पद का अर्थ भी निर्जुगुप्स (लज्जा रहित) करना उचित होगा "घृणा जुगुप्सा कृपयो:" इस कोश के अनुसार घृणा का अर्थ जुगुप्सा भी है। तब ही इस प्रकार का अर्थ सम्भव हो सकता है। इस अर्थ में "मैं तुम्हारे ऐसे वक्ष:स्थल को आलिङ्गन करना चाहती हूँ" यह शकुन्तला की अभिलाषोक्ति है। अनुमानालंकार है।

अथवा 'हृदय' पद को हृत्+अयं इस प्रकार अलग अलग कर इसका अर्थ होगा अयं जन: अर्थात् मैं (शकुन्तला) तव=तुम्हारा, हृद—हृदय रूप (स्वान्तं हृन्मानसं मन:) इस कोश के अनुसार हृत् का भी अर्थ हृदय है अत: यहं रूपकालंकार है इस प्रकार इससे तात्पर्य यह है कि तुम इतने निर्दय हो कि अपने हृदय रूप भी मेरी रक्षा नहीं करते। अथवा अयं जन: तव हृत्=हृदय रूप, हूँ अतएव काम तुम्हारी कान्ति से पराभूत होने के कारण मुझे संतप्त करता है यह बात मैं नहीं जानती यह बात नहीं अपितु जानती ही हूँ, कठोर होने के कारण काम तुम्हारे हृदय को तो पीड़ित कर नहीं सकता अत: यह तुम्हारे हृदय रूप मुझे ही जलाता है, यह चाटूक्ति है अत: इस अर्थ में प्रत्यनीकालंकार है।

प्रतिपक्षप्रतीकाराशक्तौ तदीयतिरस्कार: प्रत्यनीकम्।

इस प्रकार आचार्य राघव भट्ट ने हृदय पद के कई अर्थ किये हैं, पाठक राघव भट्ट की टीका देखें।

त्वयि वृत्तमनोरथानि अङ्गानि=अर्थात तुम्हारे विषय में मेरे सभी अंगों को बड़ी अभिलाषा उत्पन्न हो गई है, मेरे सभी अंग तुमसे मिलने को उत्सुक हैं—मेरी भुजायें तुम्हारे आलिंगन के लिये, नेत्र तुम्हारे कान्तिनिर्झर प्रवाह पाने के लिये, श्रवण तुम्हारे वचनामृत सरोवर में निमज्जन के लिये, नासिका तुम्हारे मुखारविन्द के सुरभित श्वास को सूँघने के लिये, नितम्ब तुम्हारे शशांक कोमल अंकारोहरण के लिये, कुच तुम्हारे करतलों द्वारा परिरम्भण (परिमर्दन) प्राप्त करने के लिये, जिह्वा व मुख भी इसी प्रकार तुम्हारे अङ्ग विशेषों का स्पर्श रसास्वाद पाने के लिये, बहुत ही लालायित हो रहे हैं, इस प्रकार के मनोरथ रखने वाले मेरे अंगों को कामदेव रात दिन बहुत अधिक संताप देता है परन्तु तुम इतने निर्दय हो कि तुम्हारे अधीन, तुम्हारी शरण में प्राप्त, अर्थात् भक्त भी इन मेरे अंगों की, जो कि इस प्रकार काम से दग्ध हो रहे हैं, रक्षा नहीं करते। आश्चर्य तो यह है कि यदि अन्य कोई व्यक्ति, अपने शरणागत सेवकों की रक्षा न करता, तो न करता, आप तो क्षत्रिय हैं, क्षत्रिय ही नहीं राजा हैं, राजा हीं नहीं सम्राट हैं फिर भी रक्षा नहीं करते, जब कि क्षत्रिय राजा सदा से शरणागत पालक होते रहे हैं। क्षत्रिय तो दूसरों द्वारा सताये गये

जनों की रक्षा करते हैं, अपने भक्तों की रक्षा करना तो स्वतः सिद्ध हैं। इस प्रकार शकुन्तला द्वारा राजा को यह उपालम्भ है।

काम मेरे तो सभी अंगों को अत्यधिक तपाता है रात दिन तपाता है पर वह तुम्हारे हृदय को भी नहीं तपाता मैं यह जानती हूँ।

दिवापि रात्रौ अपि—तात्पर्य यह कि जिस प्रकार तुम लोकापवाद भय से दिन में नहीं आते उसी प्रकार रात में भी अभिसार नहीं करते क्योंकि निष्कृप हो यह भी उपालम्भ है।

अथवा मैं तुम्हारे हृदय को लक्षणा से हृदयाभिप्राय को तो नहीं जानती, पर "कामः पुनर्मम" अर्थात् काम जो कि मेरा सम्बन्धी (सम्बन्धे षष्ठी) सुहृत् है वह मेरे अंगों को जो कि तुम्हारे जैसे निर्दय पर अनुरक्त हैं, मानो दुखी करके यह शिक्षा देता हैं कि मुझे ऐसे शठ पर अनुरक्त नहीं होना चाहिये। यह भी उपालम्भ है। इस प्रकार अकृतार्थरति के प्रति ऐसे उपालम्भ प्रदान से नायिकागत उन्मादावस्था भी सूचित होती है।

अथवा निर्घृण का अर्थ है निश्चयरूप से दयालु क्योंकि "निर्निश्चय निषेधयोः" इस-कोश से निर् का अर्थ निश्चय भी है अतः निर्घृण का अर्थ है हे परम दयालु राजा! "तव हृदयं अहं न जाने अपितु जाने एव" कि वह बड़ा दयालु है, कोमल है, मेरे लिए उसमें प्रेम और दया है परन्तु मम अर्थात् मम हृदय अर्थात् मैं अपने हृदय को नहीं जानती हूं क्योंकि वह तो त्वयि अर्थात् तुम्हारे में है मेरे पास तो है ही नहीं मैं तो शून्य हृदय हूँ, इतना ही नहीं कि हृदय तुम्हारे पास है अपितु मेरे सभी अंग त्वयि वृत्तमनोरथानि हैं, केवल अंग ही नहीं अपितु कामः अर्थात् मेरी अभिलाषा भी तुम ही हैं। (कामः स्मरेऽभिलाषे च) इस कोश के अनुसार काम का अर्थ अभिलाषा भी हैं। इस प्रकार रात दिन वह अभिलाषा तपति=बढ़ती रहती है। लक्षणा द्वारा तपति का अर्थ बधंते है। इस प्रकार यह शकुन्तला की अनुनयोक्ति भी है। सबका तात्पर्य यह कि मेरा सभी वाह्य और आभ्यन्तर मेरे पास नहीं, सब तुम्हीं पर आसक्त है अतः शीघ्र दर्शन देकर कृतार्थ कीजिए (इसीलिए तो इस वाक्य के श्रवणानन्तर ही शीघ्र राजा उपस्थित हो जाता है) श्लेष, अनुप्रास, काव्यलिङ्ग, समासोक्ति, आदि और भी अलंकार हैं। त्वयि वृतमनोरथान्यङ्गानि से तात्पर्य यह भी है कि जैसे कोई व्यक्ति अपने अधीन वस्तु को स्वेच्छामात्र से जब चाहे बिगाड़ सकता है और बना भी सकता है उसी प्रकार तुम मेरे इन अंगों की जो कि तुम्हारे अधीन हैं, इच्छा पूरी कर भी सकते हो और न भी कर सकते हो। अंगानि में बहु-वचन निर्देश से कोमलातिशय द्योतित होता है।

दिवापि रात्रावपि अर्थात् निरन्तर, कालभेद से भी काम संताप की वृद्धि अथवा ह्रास नही होता। न दिन में चैन न रात में। इससे दुःख का दुःसहत्व द्योतित होता है। वलीयः से तात्पर्य है बहुत अधिक, इससे यह ध्वनित होता है कि शीघ्र ही आइये अन्यथा जीवन की भी आशा नहीं। यहाँ विप्रलम्भ शृङ्गार रस है।

यह गीति नामक छन्द है अर्थात् जिस छन्द में आर्या छन्द के पूर्वार्ध के समान ही अपरार्ध भी होता है वह गीति छन्द होता है।

"आर्या पूर्वार्ध समं यस्या अपरार्धमपि हंसगते,
छन्दोविदस्तदानीं गीतिंताममृतवाणि भाषन्ते ॥

संस्कृत व्याख्या :—अयि निर्घृण ! निष्कृप ! तव हृदयं अहं न जाने, तव हृदयस्य कीदृशी दशेत्यहन्नावगच्छामीत्यर्थः, पुन किन्तु त्वयि त्वद्विषये वृत्ता संजाता मनोरथा अभिलाषा येषां तानि वृत्तमनोरथानि भवदङ्गालिङ्गनादिकमुपलब्धुकामानि मम अङ्गानि कामः स्मरः

राजा—(सहसोपसृत्य ।)

तपति तनुगात्रि ? मदनस्त्वामनिशं मां पुनर्दहत्येव ।
ग्लपयति यथा शशाङ्कं न तथा हि कुमुद्वतीं दिवसः ॥१४॥

दिवा अपि दिनेऽपि रात्रावपि च बलीयः अत्यधिकं यथा स्यात् तथा सन्तापयतीत्यर्थः । अलंकारादय उक्ताः । गीतिः छन्दः ।

(मदन ताप को न सहती हुई उपालम्भ पूर्वक अपनी दशा को निवेदित करती हुई शकुन्तला की राजा से यह प्रार्थना है ।)

राजा :—(एकाएक पास जाकर)

श्लोक १४ अन्वय—अयि तनुगात्रि ! मदनः त्वां अनिनं तपति पुनः मां दहति एव, दिवसः यथा शशाङ्क ग्लपयति यथा हि कुमुद्वतीं न ।

शब्दार्थ—तनुगात्रि=कृशांगी, तन्वी, अनिशम्=रात दिन, कुमुद्वतीं=कुमुदिनी को, ग्लपयति=मथिन करता है ।

अनुवाद—हे तन्वी ! कामदेव तुमको तो रात दिन केवल तपाता ही है पर मुझ को तो जलाता ही है । दिन, चन्द्रमा को जितना मलिन करता है उतना कुमुदिनी को नहीं ।

व्याख्या—पूर्वोक्त गीति को सुनकर और उसका भावार्थ समझकर राजा तुरन्त वहाँ पहुँच कर कहता है :—

हे कृशांगी ! कामदेव तुमको तो रात दिन केवल तपाता ही है, पर मुझको तो वह जलाये ही डालता है (अनिशं को इधर भी लगाया जा सकता है) दिन चन्द्रमा को जितना मलिन करता है उतना कुमुदिनी को नहीं । तात्पर्य यह कि दिन निकलने पर जितना चन्द्रमा मलिन हो जाता है उतनी कुमुदिनी नहीं कुम्हलाती, कुमुदिनी कुम्हला भले ही जाती है पर उसका अस्तित्व तो रहता है पर चन्द्रमा तो दिन में दिखाई भी नहीं पड़ता, उसी प्रकार कामदेव तुम्हें संतप्त ही तो करता है परन्तु मुझे तो भस्म ही किये डालता है ।

विशेष—अवसरान्वेषी नायक अवसर पाकर नायिका शकुन्तला के कथन का उत्तर देने के बहाने से अपनी अवस्था का निवेदन करता है ।

तनुगात्रि=स्वभाव से ही तथा काम सन्ताप वश कृश शरीर वाली । यह तनुगात्रि सम्बोधन एक विशेष अभिप्राय से किया गया है, क्योंकि शरीर के ताप की अपेक्षा मन का ताप अधिक बलवान माना गया है, ताप से शरीर की तनुता ही हो सकती है उसका शीघ्र विनाश नहीं, परन्तु जलने से तो शीघ्र विनाश सम्भव है, अपने मानसिक ताप से शकुन्तला के देह-ताप को कम बताने के लिए ही तनुगात्रि सम्बोधन दिया गया है, राजा को मानसिक ताप है अतः अधिक हानिकर है ।

तपति—न तु संतापयति, अधिक ताप से तो शरीरापाय भी सम्भव था और स्त्री का अपाय सर्व जन विगर्हित माना गया है इसी डर से काम तपाता था संतप्त नहीं करता था ।

तपति और तनुगात्रि दोनों पद विशेष अभिप्राय से प्रयुक्त हुए हैं ।

पुनः माम्=किंतु मुझे=पुरुष को हृष्ट पुष्टाङ्ग मान कर, दहत्येव=भस्म ही किये डालता है । स्त्री-जाति अबला है अतएव दयापात्र है उसको अधिक संताप देने में लोकापवाद भी है और पाप भी है अतः कामदेव (पुरुष जाति) केवल उसे तो तप्त ही करता है परन्तु मुझे तो दृढ़ पुरुष समझ कर दग्ध ही किये देता है । इसमें नायिका की अपेक्षा नायकगत अधिक संताप लक्षित होता है, इस [illegible] आधिक्य व्यङ्ग्य है । एवं व्यय से यह

सख्यौ—(सहर्षम्) साअदं अविलंबिणो मणोरहस्य । [स्वागतमविलम्बिनो मनोरथस्य ।]

(शकुन्तलाऽभ्युत्थातुमिच्छति ।)

राजा—अलमलमायासेन,—

संदष्टकुसुमशयनान्याशुक्लान्तबिसभङ्गसुरभीणि ।
गुरुपरितापानि न ते गात्राण्युपचारमर्हन्ति ॥१५॥

द्योतित होता है कि समागम में विलम्ब हुआ तो देहापाय निश्चित ही है, यह वञ्चनार्थ चाटूक्ति नहीं, सत्य कथन है। इससे राजा का उपालम्भ भी सूचित होता है कि तुम तो (शकुन्तला) तापमात्र जानती हो, तुम्हें दाह का तो अनुभव ही नहीं "नहि बन्ध्या विजानाति गर्भप्रसववेदनाम्" के अनुसार जलते हुये मेरे हृदय को तुम क्या जानो। इसी बात को वह लौकिक दृष्टान्त द्वारा समर्थन करता है।

ग्लपयति—शोभा रहित कर देता है तात्पर्य यह कि समान संताप दायक भी दिन जितना चन्द्रमा को विकृत, विवर्ण मयिन कर देता है उतना उसकी प्रेयसी कुमुदिनी को नहीं, स्त्री दयापात्र होती है अतएव उसमें केवल वह कार्श्य रूप मुकुलन ही उत्पन्न करता है, उसे विकृत नहीं करता।

पद्य में प्रधानतया औत्सुक्य भाव है। पूर्वार्ध परार्धगत वस्तु का विम्वप्रतिविम्व भाव होने से दृष्टान्तालंकार है, पुल्लिग स्त्रीलिंग साम्य से शशाङ्क और कुमुद्वती पर नायक नायिका व्यवहारसमारोपण से परार्ध में समासोक्ति अलंकार है। मदयति इति मदनः इस विग्रह के अनुसार मदन का अर्थ हर्षदः हर्ष देने वाला है जो हर्ष देने वाला है वह ताप देने वाला कैसे होगा अतः विरोधाभास है, तनुगात्रि में पुनरुक्तवदाभास है, क्योंकि तनु और गात्र दोनों शरीर के पर्यायवाची से सुनने में प्रतीत होते हैं परन्तु तनु शब्द का अर्थ यहाँ कृश है। और दोनों भिन्नाकर शब्दगामी भी हैं। तपति इस वाक्यार्थ के प्रति तनुगात्रि पदार्थ हेतु है अतः पदार्थ हेतुक काव्यलिंग है, तपति दहति इन दोनों क्रियाओं का मदन यह केवल एक ही कर्ता है अतः दीपकालंकार है। ग्लपयति इस एक क्रिया के शशाङ्क कुमुद्वती ये दो कर्म हैं अतः तुल्ययोगितालंकार है। कोई आचार्य यहाँ प्रतिवस्तूपमालंकार भी मानते हैं ये सब परस्पर निरपेक्ष हैं अतः संसृष्टि है। अनुप्रास। आर्या जाति छन्द है।

संस्कृत व्याख्या—अयि तनूनि कृशानि गात्राणि यस्याः सा तत्सम्बुद्धौ तनुगात्रि! मदनः स्मरः त्वां (शकुन्तलां) तपपि तापं ददाति पुनः किन्तु माँ अनिशं निरन्तरं दहति भस्मीकरोत्येव, हि यतः दिवसः यथा शशाङ्कं चन्द्रं ग्लपयति निश्शोभं करोति तथा कुमुद्वतीं न ग्लपयति। उक्ता अलंकारादय;। आर्या जातिः।

सख्यौ—(हर्ष पूर्वक,) शीघ्र सफल होने वाले मनोरथ का स्वागत है अर्थात् हम लोग अभी आपके दर्शनों की बात सोच ही रही थीं कि आप स्वयं ही आ गये, आपका स्वागत है (यहाँ नृपरूप विषय के निगरण होने से अतिशयोक्ति- है) (शकुन्तला उठाना चाहती है)

राजा:—नहीं, नहीं, कष्ट करने की आवश्यकता नहीं।

श्लोक १५ अन्वय—गुरुतापानि एतएव सन्दष्टकुसुमशयनानि आशुक्लान्तविसभङ्ग सुरभीणि ते गात्राणि उपचारं न अर्हन्ति।

शब्दार्थ—सन्दष्टेति=जिनके इतस्ततः सञ्चालन से पुष्पशय्या नपोन्नत हो गई है अथवा, दष्टं=लगा हुआ, न केवल लगा हुआ अपितु संदष्टं—संलग्न, कुसुम—शयनं, न

अनुसूया—इदो सिलावट्टेक्कदेसं अलंकरेदु वअस्सो । [इतः शिलातलैकदेशमलंकरोतु वयस्यः]

(राजोपविशति । शकुन्तला सलज्जा तिष्ठति ।)

प्रियंवदा—दुवेणं ण वो अण्णोण्णाणुराओ पच्चक्खो । सहीसिणेहो मं पुणरुत्तवादिणिं करेदि । [द्वयोर्ननु युवयोरन्योन्यानुरागः प्रत्यक्षः । सखीस्नेहो मां पुनरुक्तवादिनीं करोति ।]

राजा—भद्रे ! नैतत्परिहार्यम् । विवक्षितं ह्यनुक्तमनुतापं जनयति ।

केवलं कुसुमं अपितु कुसुमशयनं, तात्पर्य यह कि अत्यधिक कामवश और स्वेदार्द्रता के कारण शरीरावयवों को उपचार के निमित्त उठाने में उनसे चिपकी हुई कुसुमशय्या भी साथ ही उठने लगती है, तापवश स्वेद के कारण कुसुमशयन उसके शरीर के अंगों में चिपका हुआ है अतः शरीर को उठाने में वह भी उठने लगता है।

आशुक्लान्तेत्यादिः—आशु=शीघ्र, क्लान्त=मर्दित, बिस=मृणाल दण्ड, भङ्ग=टुकड़े, बिसभङ्गमृणालतन्तु तद्वत् अर्थात् मृणालतंन्तु के समान, सुरभीणि=सुन्दर, अर्थात् जिन तुम्हारे अंगों पर अभी तत्काल मुरझाए हुए मृणाल खण्ड के आभूषण पड़े हैं, तुमने जो मृणाल के आभूषण पहन रखे है जिससे तुम्हारे अंग सुन्दर प्रतीत होते हैं वे अभी तत्काल ही विरहताप से मुरझा गए हैं। गुरुपरितापानि=अत्यधिक परितप्त, अर्हन्ति=योग्य हैं।

अनुवाद—(विरह से) अतिसन्तप्त, (अतएव ताप जन्य प्रस्वेद के कारण) कुसुमशयन जिनसे चिपटा हुआ हैं। तथा शीघ्र ही परिम्लान मृणाल खण्ड तन्तुओं के समान सुन्दर; तुम्हारे शरीरावयव शिष्ट जनोचित व्यवहार करने योग्य नहीं है।

व्याख्या—शकुन्तला को शिष्टाचार के लिये उठता देखकर राजा उसे सकारण रोकता हुआ कहता है :—

विरह से अत्यन्त संतप्त अतएव तापजन्य स्वेद के कारण कुसुमशयन भी जिनसे चिपटा हुआ है तथा जो तत्काल (तापवश) परिम्लान मृणालाभूषणों से अत्यन्त सुन्दर लग रहे हैं ऐसे तुम्हारे अंग उपचार शिष्टजनोचित व्यवहार करने योग्य नहीं है अब तुम्हें शिष्टाचार प्रदर्शन की कोई आवश्यकता नहीं। तात्पर्य यह है कि विरहताप के कारण शकुन्तला कुसुमशयन पर इधर उधर करवटें बदलती थी जिससे कि स्वेद के कारण फूलों की पंखड़ियाँ उसके शरीर से चिपट गई थीं और उसने जो मृणाल के वलय आदि पहन रखे थे वे भी तापवश कुम्हला गये थे अतः राजा से कहता है कि तुम्हारा शरीर अभी इस योग्य नहीं कि तुम उठकर आदर सत्कार कर सको।

विशेष—आशुक्लान्तेत्यादि=पद्य से तात्पर्य है कि उसने जो विरह ताप के शमनार्थ शीतल होने के कारण मृणाल आदि पहन रखे थे, वे ताप शमन तो न कर सके वरन् स्वयं कुम्हला गये थे।

यहाँ उपचार न करने का हेतु गुरुतापानि पद है अतः पदार्थ हेतुक काव्यलिंगालंकार है, कई सार्थक विशेषण हैं अतः परिकरालंकार है, अनुप्रास, उपमा, आर्या छन्द, नायिकागत ग्लानि आलस्यादि भाव तथा नायक गत आवेग औत्सुक्यादि भाव द्योतित होते हैं।

संस्कृत व्याख्या—गुरुः अधिकः परितः तापो येषां तानि गुरुतापानि अत्यधिकविरहसंतापपरिक्लान्कानीत्यर्थः, अतएव सन्दष्ट संलग्नं कुसुमानां शयनं येषु तानि सन्दष्टकुसुमशयनानि, आशु शीघ्रं क्लान्तो विसभंगस्तेन तद्वत् वा सुरभीणि सुन्दराणि इति आशुक्लान्तविसभङ्गसुरभीणि ते तव (शकुन्तलायाः) अङ्गानि शरीरावयवाः उपचारं मान्यागमनसम्मानप्रदर्शनोत्थानात्मकाचारम् न अर्हन्ति, कर्तुं योग्यानि न सन्ति, सामर्थ्याभावादिति भावः।

प्रियम्वदा—आवण्णस्स विसअणिवासिणो जणस्स अत्तिहरेण रण्णा होदव्वं त्ति एसो वो धम्मो। [आपन्नस्य विषयनिवासिनो जनस्यार्तिहरेण राज्ञा भवितव्य मित्येष युष्माकं धर्मः]

राजा—नास्मात्परम्।

प्रियम्वदा—तेण हि इअं णो पिअसही तुमं उद्दिसिअ इमं अवत्थंतरं भअवता मअणेण आरोविदा! ता अरुहसि अब्भुववत्तीए जीविदं से अवलंबिदुं। [तेन हीयमावयोः प्रियसखी त्वामुद्दिश्येदमवस्थान्तरं भगवता मदनेनारोपिता तदर्हस्यभ्युपत्त्या जीवितं तस्या अवलम्बितुम्।]

राजा—भद्रे! साधारणोऽयं प्रणयः। सर्वथानुगृहीतोऽस्मि।

शकुन्तला—(प्रियंवदामवलोक्य) हला! किं अंतेउरविरहपज्जुस्सुअस्स राएसिणो उवरोहेण! [हला। किमन्तःपुरविरहपर्युत्सुकस्य राजर्षेरुपरोधेन।]

उक्ता अलंकाराः। आर्या जातिः।

अनुसूया :—मित्र! आप भी इधर इस शिला तल के एक भाग को सुशोभित करें।

(राजा बैठ जाता है—शकुन्तला सकुचाती है)

प्रियम्वदा :—यद्यपि यह स्पष्ट है कि आप दोनों का परस्पर अनुराग है, फिर भी अपनी सखी का स्नेह मुझसे फिर उसी बात को कहलाता है, अर्थात् सखी प्रेम वश मुझे फिर भी वही बात दुहरानी पड़ रही है।

राजा :—भद्रे! यह छोड़ने योग्य नहीं अर्थात् आप अपने मन की बात कह डालिए। मन में कहने के लिए आई हुई बात यदि न कही जाय तो पीछे वह बड़ा पश्चात्ताप देती है।

प्रियम्वदा—राजा को अपने राज्य में रहने वाले दुःखी जन का कष्ट दूर करना चाहिए, यह आपका धर्म है। (विषय=देश)।

राजा—बस, इससे अधिक कुछ नहीं, इतनी सी ही बात है?

प्रियम्वदा :—हाँ, तो भगवान् कामदेव ने तुम्हारे ही कारण हमारी इस प्रिय सखी की यह दशा कर दी है। अतः आप अपने अनुग्रह से उसके प्राणों की रक्षा करें।

राजा—भद्रे! जीवनालम्बन रूप यह प्रार्थना तो हम दोनों ही की समान है। अर्थात् कामदेव ने जो इसकी दशा की है वैसी ही मेरी भी है, फिर भी तुम मुझसे मेरे अनुग्रह (स्वीकार) द्वारा इसके जीवन के अवलम्बन की याचना करती हो तो यही याचना तुमसे तुम्हारे अनुग्रह के द्वारा अपने जीवन के अवलम्बन के लिए मेरी भी तो है। अतः हम दोनों की प्रार्थना तो समान ही है। फिर भी मैं आपके द्वारा सर्वथा अनुग्रहीत हूँ। अर्थात् प्रार्थना के समान होने पर भी आपने ही सर्वथा अर्थात् वयस्य कह कर, अर्धासन देकर, तथा हमारी प्रार्थना के बिना ही स्वयं अपनी ओर से वही प्रार्थना करके मुझे अनुग्रहीत किया है क्योंकि अब शकुन्तलासङ्गम प्राप्तकर मुझे जीवनावलम्बन मिल जायेगा।"

प्रणय का अर्थ यहाँ प्रार्थना या याचना है "विश्व कोश के अनुसार प्रणय, प्रेम, विस्रम्भ, याञ्चा, प्रत्यय, ये सब पर्यायवाची शब्द हैं।

शकुन्तला—(प्रियम्वदा की ओर देखकर) सखी! अपने अन्तःपुर की रानियों के विरह से व्याकुल राजर्षि को रोकने से क्या? अर्थात् ये तो अपनी रानियों के लिए उत्सुक होंगे, तो फिर इनको यहाँ इस चक्र में डाल कर क्यों रोक रही हो।

राजा—

इदमनन्यपरायणमन्यथा
हृदयसंनिहिते ! हृदयं मम ।
यदि समर्थयसे मदिरेक्षणे !
मदनबाणहतोऽस्मि हतः पुनः ॥ १६ ॥

(राजा के प्रेम को जानती हुई भी शकुन्तला अनुराग दृढ़ता की दृष्टि से ही ऐसा कर रही है)

श्लोक १६ अन्वय—अयि हृदयसन्निहिते, अनन्यपरायणं इदम् मम हृदयं यदि अन्यथा समर्थयसे, (तर्हि) हे मदिरेक्षणे मदनबाणाहतः पुनः हतः अस्मि ।

शब्दार्थ—हृदयसन्निहिते=हृदय में बसने वाली, अनन्यपरायण=जो तुम्हारे अतिरिक्त किसी और पर न लगा हुआ हो, अन्यथा=इसके विपरीत अर्थात् अन्यासक्त समर्थयसे=कल्पित करती हो, मदिरेक्षणे=खञ्जनवत् चञ्चल अथवा मदयेक्त नेत्रों वाली ।

अनुवाद—अयि हृदय निवासिनि तथा मदिर नेत्रों वाली प्रिये ! यदि एक मात्र तुम्हीं पर आसक्त मेरे इस हृदय को तुम विपरीत अर्थात् अन्यासक्त निरुपति करती हो तो कामबाणों से मारा गया भी मैं पुनः मारा जाऊँगा ।

व्याख्या—शकुन्तला का यह कथन सुनकर कि अपने अन्तःपुर के लिए उत्सुक राजा को रोकने से क्या लाभ, भावी प्रणय भङ्गाशंका को दूर करने के लिए राजा कहता है कि—

हे प्राणेश्वरी ! सदा हृदय में वास करने वाली, यदि केवल एक मात्र तुम्हीं पर आसक्त मेरे हृदय को तुम विपरीत अर्थात् किसी अन्य पर आसक्त निरुपित करोगी तो हे चपलनयने काम बाणों से मारा हुआ भी मैं और फिर भी मारा जाऊँगा । सारांश यह है कि तुम्हीं मेरी हृदयेश्वरी हो, मैं तुम्हें छोड़कर और किसी को प्यार नहीं करता, फिर भी यदि तुम्हें विश्वास नहीं होता तो, हे मदभरी चितवन वाली प्रिये, यह निश्चय है कि तुम काम-बाणों से घायल भी मुझे फिर घायल करना चाहती हो ।

विशेष:—इदनन्यपरायणं हृदयम् इति=अर्थात् जो हृदय जन्म से लेकर सदा मेरे पास रहा उस मुझे भी छोड़ कर तेरे प्रथम दर्शन मात्र से ही तेरे पर ही आसक्त हो गया है अतएव जो अब केवल तेरे पर ही आसक्त है ऐसे मेरे एक मात्र इस त्वन्निष्ठ हृदय को यदि तुम अब भी अन्यासक्त समझती हो ।

"मम" से तात्पर्य है "तुम्हारा ही एक-मात्र ध्यान करने वाले मेरे हृदय को" । हृदय सन्निहिते=मेरे द्वारा सदा ध्यानगम्य रहने वाली (इस अभिप्राय से यह सम्बोधन है) तात्पर्य यह कि जो जिसके पास रहता है वह उसके तत्व को अवश्य जानता ही है, परन्तु तुम जो सदा मेरे पास रहती हो फिर भी तत्व को जानती हुई भी मेरे विषय में तेरे अन्तःपुर के लिए पर्युत्सुक होने की आशंका करती हो, यह कहाँ तक ठीक है ? अर्थात् यह आशंका सर्वथा निर्मूल है । इससे राजा ने अपना अन्तःपुर पर्युत्सुकत्वाभाव द्योतित किया है ।

मदिरेक्षणे—(मदिरे इव ईक्षणे यस्याः तत्सम्बोधने मदिरेक्षणे) अर्थात् मत्तखञ्जनवत् नेत्र वाली ? इससे दृष्टि का चाञ्चल्यातिशय प्रख्यापन द्वारा यह ध्वनित किया गया है कि तुम अनुरक्त भी मुझे अन्यानुरक्त ही देखती हो ।

मदनबाणहतोऽस्मि हतः पुनः अर्थात् काम बाणों से विद्ध भी मैं पुनः विद्ध हो रहा हूँ । इससे यह द्योतित किया गया है कि पिष्टपेषण वत् अथवा मरे को मारने के समान ही, कामबाणों से विद्ध भी मुझे फिर विद्ध करना व्यर्थ है और अनुचित भी है ।

अनुसूया—वअस्स ! बहुवल्लहा राआणो सुणीअन्ति । जह णो पिअसही बन्धुणसोअणिज्जा ण होइ तइ णिव्वत्तेहि । [वयस्य ! बहुवल्लभा राजानः श्रूयन्ते। यथा नो प्रियसखी बन्धुजनशोचनीया न भवति तथा निर्वर्तय ।]

राजा—भद्रे ! किं बहुना,—

परिग्रहबहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य मे ।
समुद्रवसना चोर्वी सखी च युवयोरियम् ॥ १७ ॥

यहाँ अनन्यपरायण के प्रति हृदय सन्निहित पद हेतु रूप में उपन्यस्त है अतः पदार्थ हेतुक काव्यलिङ्ग है । और इससे राजा के हृदय की शकुन्तला में एकनिष्ठा ध्वनित होती है अतः अलंकार द्वारा वस्तु ध्वनि है ।

कई साभिप्राय विशेषण है अतः परिकरालंकार है, मदिरेक्षणे में उपमालंकार है, हृदय हृदयेति इति लाटानुप्रास । द्रुतविलम्बित छन्द है जिसका लक्षण है :—

"द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ" अर्थात् जिस छन्द में क्रमशः न भ भ र गणों के द्वारा १२ वर्ण हों ।

। । । ऽ । । ऽ । । ऽ । ऽ
ह द म, न न्य प, रा य ण, म न्य था ॥

इसमें 'साम' नायक सन्ध्यन्तरांग निर्दिष्ट किया गया है "तत्र साम प्रियं वाक्यं सानुवृत्तिप्रकाशकम्"

संस्कृत व्याख्या :—हे हृदयसन्निहिते, चित्तस्थिते, हृदयेश्वरि ! इद प्रकाशिताभिप्राय, न अन्यत् परं अयनं यस्य तत् अनन्यपरायणं अन्यासक्तिरहितं त्वन्मात्रनिष्ठं त्वदेकप्रणयासक्तमित्यर्थः मम (दुष्यन्तस्य) हृदयं अन्तःकरणं यदि (त्वं) अन्यथा विपरीतभावेन अन्यपरायणतयेत्यर्थः समर्थयसे निरूपयसि (तर्हि) हे मदिरे ईक्षणे यस्याः सा तत्सम्बुद्धौ मदिरेक्षणे चंचलनयने मदनबाणैरेव हतः विद्धः मदनबाणहतः अपि (अहं) पुनः भूयोऽपि इतोऽप्यंधिकमित्यर्थः हतः विपत्तिन्नीतः अस्मि । हृदयेश्वरी अपि यदि त्वं मामन्यथा शङ्कसे तर्हि का नु गति र्ममेति, किमन्यद् दौर्भाग्यमतः परमित्यभिप्रायः ।

अनुसूया :—वयस्य ! राजाओं के बहुत सी रानियाँ होती हैं, ऐसा सुना जाता है। अतः मेरी प्रिय सखी के लिए कुछ ऐसा प्रबन्ध कीजिए जिससे कि इसके स्वजनों को फिर इसके लिए पछताना न पड़े ।

राजा :—भद्रे ? मैं और तो क्या कहूँ, इतना ही पर्याप्त होगा कि :—

श्लोक १७ अन्वय—परिग्रहबहुत्वे अपि ज कुलस्य द्वे प्रतिष्ठे समुद्रवसना उर्वी च युवयोः इयं सखी च ।

शब्दार्थ :—परिग्रहबहुत्वे=बहुत पत्नियों के रहते हुए भी, द्वे प्रतिष्ठे=गौरव के केवल दो ही आश्रय, समुद्रवसना=समुद्रपर्यन्त विस्तृत, समुद्र से आवेष्टित उर्वी=पृथ्वी।

अनुवाद :—बहुत सी रानियों के होते हुए भी मेरे वंश की दो ही प्रतिष्ठा हैं अर्थात् मेरे वंश का गौरव केवल इन दो पर ही निर्भय है—एक तो समुद्र से परिवेष्ठित पृथ्वी और दूसरी यह तुम्हारी सखी—शकुन्तला ।

व्याख्या—अनुसूया के कहने पर कि राजाओं के बहुत सी पत्नियाँ होती हैं अतः आप इसके लिए कुछ ऐसा करें कि हमें फिर पछताना न पड़े, राजा उसे विश्वास दिलाता हुआ कहता है, कि और तो मैं क्या कहूँ बस इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि :—

उभे—णिव्वुद म्ह। [निर्वृते स्वः।]

प्रियंवदा—(सदृष्टिक्षेपम्।) अणसूए ! जह एसो इद्धो दिण्णदिट्ठी उस्सुओ मिअपोदओ मादरं अण्णेसदि। एहि: संजोएम णं। [अनुसूये ! यथैष इतो दत्तदृष्टिरुत्सुको मृगपोतको मातरमन्विष्यति। एहि; संयोजयाव एनम्।] (इत्युभे प्रस्थिते।)

रनिवास में बहुत सी रानियों के होते हुए भी मेरे वंश का गौरव केवल दो ही पर निर्भर रहेगा अर्थात् मेरे वंश में ये दो ही सर्वश्रेष्ठ समझीं जायेंगी, एक तो समुद्र से घिरी हुई पृथ्वी (आसमुद्र पृथ्वी) और दूसरी यह तुम्हारी सखी अर्थात् शकुन्तला। सारांश यह कि बहुत सी रानियों के होते हुए भी यह तुम्हारी सखी शकुन्तला ही सब रानियों में श्रेष्ठ आदरपात्र होगी इस सम्बन्ध में तुम लोगों को शंका न करनी चाहिए और जिस प्रकार मैं पृथ्वीपति होकर अपने को गौरवशाली समझता हूँ उसी प्रकार तुम्हारी इस त्रिलोक सुन्दरी सखी शकुन्तला का पति होकर भी मैं अपने को स्थितिशाली समझूँगा इसमें सन्देह नहीं।

विशेष—परिग्रह बहुत्वेऽपीति :—परिगृह्यन्ते पत्नीरुपेण स्वीक्रियन्ते इति परिग्रहाः तासां बहुत्वे अर्थात् अन्य बहुत सी परिगृहीत रानियों के होते हुए भी। यहाँ परिग्रह पद प्रयोग से यह द्योतित होता है कि हृदय वल्लभा तो यही होगी अन्य तो परिगृहीता मात्र रहेंगी।

द्वे प्रतिष्ठे—दो=गौरव और स्थिति रूप प्रतिष्ठा अर्थात् आसमुद्र पृथ्वी तो गौरव स्थानीया होगी तथा यह शकुन्तला स्थिति, वंश मर्यादा, परम्परा का आश्रय होगी। प्रतिष्ठा पद लक्षण द्वारा प्रतिष्ठा हेतु अर्थ लक्षित कराता है, कार्य कारण भाव सम्बन्ध है तथा अन्य-वैलक्षण्य प्रयुक्त प्रतिष्ठाकारिता व्यंग्य है (यह शुद्धा सारोपा लक्षणा का सुन्दर उदाहरण है) अतः उर्वी प्रतिष्ठा हेतु, तात्पर्य यह है कि सागर वसना पृथ्वी का पुरुवंशी सदा पालन करते रहेंगे और यह शकुन्तला प्रतिष्ठा हेतु अर्थात् स्थिति हेतु, तात्पर्य यह है कि इसमें चक्रवर्ती सन्तान के उत्पन्न होने से यह पुरुवंश परम्परा सदा चलती रहेगी।

समुद्र वसना—का अर्थ है समुद्र ही जिसका वसन अर्थात् अवधि रूप आच्छादित करने वाला वस्त्र है ऐसी पृथ्वी। अथवा समुद्रवसना का अर्थ है 'मुदं प्रीतिं रातिं ददाति-इति मुद्रम्' मुद्रं च तद्वसनं चेति मुद्रवसनं तेन सह वर्तमानेति समुद्रवसना अर्थात् हर्ष देने वाले, चित्ताकर्षक आच्छादन वाली, इस प्रकार यह सखी का भी विश्लेषण हो सकता है। अथवा मुद्रया मण्यादिवस्तुना सह वर्तमानः समुद्रः स एव वसनं यस्याः सा समुद्रवसना इस प्रकार यह पृथ्वी का भी विशेषण है। इयं=अर्थात् त्रिजगल्ललामभूता लोकातिक्रान्त सौन्दर्यशालिनी सखी शकुन्तला।

शकुन्तला की पृथ्वी के साथ तुलना की गई है अतः तात्पर्य है कि जिस प्रकार मुझ पृथ्वी पति के लिए सपत्न=शत्रु का अभाव है उसी प्रकार शकुन्तला के लिए भी सपत्नी का अभाव रहेगा और यदि सपन्त्य भी होगी तो केवल पृथ्वी ही अन्य नायिका नहीं इस प्रकार सापत्न्य की दृष्टि से हम दोनों में साम्य होगा।

प्रस्तुत श्लोक में उर्वी और सखी दोनों प्रकृत हैं और दोनों एक गौरवरूप धर्म से सम्बन्धित हैं अतः तुल्ययोगितालंकार है ऐसा कोई आचार्य मानते हैं, वास्तव में यहाँ सखी प्रस्तुत है और उर्वी अप्रस्तुत है इन दोनों का गौरवरूप एक धर्म से सम्बन्ध दिखलाया गया है अतः दीपकालंकार है। उर्वी शब्द में लिङ्गसाम्य से स्त्री व्यवहार समारोपण किया गया है अतः समासोक्ति अलंकार है। दोनों प्रतिष्ठा की हेतुभूत हैं इस अर्थ में प्रतिष्ठा पद का अध्यवसाय होने से भेद में अभेद लक्षणा अतिशयोक्ति है। समुद्रवसना में श्लेषालंकार है, अनुप्रास, पथ्यावक्त्र छन्द है।

शकुन्तला—हला ! असरण म्हि। अण्णदरा वो आअच्छदु। [हला ! अशरणास्मि। अन्यतरा युवयोरागच्छतु।]

उभे—पुहवीए जो सरणं सो तुह समीवे वट्टइ। [पृथिव्या यः शरणं स तव समीपे वर्तते।] (इति निष्क्रान्ते।)

शकुन्तला—कहं गदाओ एव्व ?] कथं गते एव ?।]

"युजोश्चतुर्थतो जेन पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम्"

अर्थात् अष्टवर्णात्मक अनुष्टुप् छन्द में चतुर्थ वर्ण के अनन्तर यगण होने से तथा द्वितीय और चतुर्थ पाद में मगण तथा एक गुरु होने से वक्त्र नामक छन्द होता है और जब सम पादों के चतुर्थ वर्ण के अनन्तर जगण होता है तब वह पथ्यावक्त्र कहलाता है। यह विषम छन्द है। अर्थात् इसका पंचम वर्ण सर्वत्र लघु और षष्ठ गुरू होता है। विषम पादों में चतुर्थ वर्ण के बाद यगण ही रहता है। समपादों में सप्तम वर्ण लघु होता है। अनुष्टुप् छन्द विषम छन्द है इसके चारों चरण भिन्न होते हैं, इसका सर्वत्र पंचम अक्षर लघु और षष्ठ गुरु होता है तथा समपादों का सप्तम अक्षर लघु होता है शेष में कोई नियम नहीं—इसी को श्लोक या पद्य भी कहते हैं।

पंचम लघु सर्वत्र सप्तमं द्विचतुर्थयोः
षष्ठं गुरु विजानीयात् शेषेष्वनियमो मतः

इसी के आधार पर कुछ विभेद से अन्य विषम छन्द बनते हैं।

ल गु=य ल गु ल=जगण
परिग्रहबहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य में
ल गु=य ल घु ल=जगण
समुद्रवसना चोर्वी, सखी च युवयोरियम्

संस्कृत व्याख्या :—परिग्रहाणां बहुत्वं तस्मिन् परिग्रहबहुत्वे राज्ञिबाहुल्ये अपि में मम कुलस्य वंशस्य द्वे एव प्रतिष्ठे गौरवस्थितिहेतुभूते स्तः, समुद्र एव वसनं यस्याः सा समुद्रवसना सागरपरिवेष्टिता उर्वी पृथ्वी, युवयोः भवत्योः इयं सखी शकुन्तला च। एवञ्चेयं भवे मे पट्टमहिषी भविष्यतीति नात्र सन्देहः कार्य इत्याशयः।

अलंकारादय उक्ताः, पथ्यावक्त्रं वृत्तम्

उभे—हमें अब सन्तोष है। "सख्यौ (सहर्ष) स्वगतं" से लेकर यहाँ तक प्रगमन नामक प्रतिमुख सन्धि के अंग का निर्देश किया गया है। "उत्तरोत्तर वाक्यं तु भवेत् प्रगमनं पुनः"।

प्रियम्वदा—(इधर उधर दृष्टि डालकर) अनुसूये ! देखो—इधर ही दृष्टि लगाये हुए यह उत्सुक मृगशावक अपनी माता को खोज रहा है, आओ, इसको उससे मिला दें (यह कह कर दोनों चली जाती हैं)

शकुन्तला—सखी ! मैं असहाय (अकेली—एकाकिनी) रह गई। अतः दो में से एक तो आ जाओ।

उभे—जो सम्पूर्ण पृथ्वी को सहारा (शरण) देने वाला है वह तो तेरे पास ही है (फिर अशरण कैसी)

(यह कह कर दोनों चली जाती हैं)

शकुन्तला—अरे, क्या चली ही गईं।

राजा—घबड़ाना व्यर्थ है, यह सेवक तो (आराधयिता) तुम्हारे पास है ही।

राजा—अलमावेगेन । नन्वयमाराधयिता जनस्तव समीपे वर्तते ।

किं शीतलैः क्लमविनोदिभिरार्द्रवाता-
न्संचारयामि नलिनीदलतालवृन्तैः ?
अङ्के निधाय करभोरु ! यथासुखं ते
संवाहयामि चरणावुत पद्मताम्रौ ॥ १८ ॥

श्लोक १८ अन्वय—किम् (अहं) शीतलैः (अतएव) क्लमविनोदिभिः नलिनीदलतालवृन्तैः आर्द्रवातान् संचारयामि उत् हे करभोरु ! ते पद्मताम्रौ चरणौ अङ्के निधाय यथा सुखं संवाहयामि ।

शब्दार्थ—क्लमविनोदिभिः=क्लान्ति को दूर करने वाले, नलिनीदलतालवृन्तैः= कमलिनी के पत्तों के पंखों से, आर्द्रवातान्=जलकणों से भीनी हुई वायु, संचालयामि= चलाऊँ, उत्=अथवा, पद्मताम्रौ=कमल वत् आरक्त, निधाय=रखकर । यथासुखं=जिस प्रकार तुम्हें आराम मिल सके, संवाहयामि=दबाऊँ ।

अनुवाद—क्या मैं शीतल अतएव श्रम दूर करने वाले कमलिनी के पत्तों के पंखों से जलकणों से भीनी हुई वायु को चलाऊँ, अथवा कमलवत् आरक्त तुम्हारे चरणों को अपनी गोदी में रख कर जिस तरह तुम्हें सुख मिले उसी प्रकार दबाऊँ ।

व्याख्या—मृग शावक को उसकी माता हरिणी से मिलाने के बहाने जब दोनों सखियाँ शकुन्तला व दुष्यन्त को एकान्त वेतसलता कुञ्ज में छोड़कर चलीं गई तो अपने को असहाय पाकर शकुन्तला व्याकुल होने लगी उसे ऐसा देखकर दुष्यन्त कहता है कि व्याकुलता की कोई बात नहीं । उन सखियों की जगह सेवा करने के लिए यह सेवक तो उपस्थित है कहो किस प्रकार सेवा करूँ :—क्या मैं शीतल अतएव ग्लानि को दूर करने वाले कमलिनी के दलों के पंखे झलूँ जिससे जलार्द्र पवन तुम्हारे अङ्गों की क्लान्ति दूर कर उन्हें सुख दे सके अथवा हे सुन्दर जंघोंवाली प्रिये यदि कहो तो तुम्हारे कमलवत् अरुणाभ चरणों को (अपनी) गोदी में रख कर जिस तरह तुम्हें सुख मिल सके उसी प्रकार दबाऊँ । सारांश यह कि जब यह सेवक है ही तो सखियों के चले जाने पर भी कोई क्षति नहीं अतः व्याकुल होना व्यर्थ है ।

विशेष—करभोरु—करभ=प्रकोष्ठ या मणिबन्धस्थान से लेकर कनिष्ठा अंगुली पर्यन्त प्रदेश, इस करभ के समान ऊरु=जंघा वाली । "मणिबन्धादाकनिष्ठं करस्य करभो बहिः" इससे जंघाओं का अनुवृत्ताकारत्व तथा कोमलत्व आदि ध्वनित होता है । किमिति प्रश्न सूचक अव्यय है क्या (मैं यह करूँ) शीतलैरिति—शीतल स्पर्श वाले (जो शीतल होगा तज्जन्य वायु सुतरां शीतल होगी)

क्लमविनोदिभि—क्लमं विशेषेण नुदन्ति दूरी कुर्वन्ति ये ते तैः=अर्थात् जो थकावट या ग्लानि को विशेषरूप से दूर करने वाले हों, जो (नलिनीदल) दृष्टिगत होने से, स्पष्ट होने से, तथा आघ्रात होने से स्वयं ग्लानि को दूर करने वाले हैं उनका वायु तो सुतरां क्लमहारी होगा ही ।

नलिनीदलतालवृन्तैरिति=कमलिनी के जो पत्ते वही हुए तालवृन्त अर्थात् पंखे अथवा तालवृन्त के समान जो नलिनीदल । इससे सौगन्ध्य सूचित होता है "व्यजनं तालवृन्तकम्" इस कोशानुसार तालवृन्त का अर्थ है व्यंजन ।

आर्द्रवातान्=भीनी भीनी हवायें । आर्द्र अर्थात् आर्द्रवत् शीतल, (शीतल नलिनी दलों की वायु भी शीतल होती है) अतः यहाँ आर्द्र शब्द शीतलतर परक है । आर्द्र शब्द की

शकुन्तला—ण माणणीएसु अत्ताणं अवराहइस्सं । [न माननीयेष्वात्मानमपराधयिष्ये ।] (इत्युत्थाय गन्तुमिच्छति ।)

राजा—सुन्दरि ! अनिर्वाणो दिवसः । इयं च ते शरीरावस्था,

शैत्य में लक्षणा है और इस लक्षणा का प्रयोजन शीतलातिशय द्योतन है । "संचालयामि" में सम् उपसर्ग का अर्थ है सम्यक् प्रकार से अर्थात् धीरे-धीरे, मन्द मन्द ।

इन विशेषणों से व्यजनवायु का शीतल मन्द सुगन्ध होना ध्वनित होता है ।

पद्मताम्रौ—पदि मातीति पद्मं अथवा पद्भ्यां मा उपमा यस्य तत् पद्मं इस प्रकार पद्म शब्द की व्युत्पत्ति करने से पद्म की उपेक्षा चरण ही श्रेष्ठ ठहरते हैं अतः पद्म से चरणों की साम्यता न दिखाकर ताम्रत्व से साम्य दिखलाया है अतएव अरविन्द आदि का प्रयोग न कर कवि ने पद्म शब्द का प्रयोग किया है ।

करभोरु तथा पद्मताम्रौ पदों से चरणों का संवाहन योग्यत्व ध्वनित होता है ।

"अंके निधाय" इससे शकुन्तला का सौभाग्योत्कर्ष तथा राजा का धन्यतरत्व एवं संवाहन कला कुशलत्व ध्वनित होता है ।

"यथा सुखम्" से इच्छानुकूलत्व द्योतित होता है ।

प्रस्तुत श्लोक में नलिनी दलों पर जो तालवृन्त का आरोप किया गया है वह प्रकृत में उपयोगी है अतः परिणामालंकार है । पूर्वार्ध और उत्तरार्ध दोनों में विकल्पालंकार है। "तुल्यबल विरोधे विकल्पः" करभोरु तथा पद्मताम्रौ में लुप्तोपमाओं के परस्पर नैरपेक्ष्य से संसृष्टि है । और ये दोनों पदार्थ संवाहन में हेतु भी हैं अतः पदार्थ हेतुक काव्यलिंग भी है। साभिप्राय विशेषण होने से परिकारालंकार भी है । वृत्यनुप्रास । वसन्ततिलका छन्द है ।

वि+नुद+णिनि=विनोदी, नि+धा+क्त्वा-ल्यप्=निधाय ।

संस्कृत व्याख्या—किमहं शीतलैः शीतलस्पर्शैः क्लमं ग्लानिं क्लान्तिं वा विशेषेण नुदन्ति दूरी कुर्वन्तीति क्लमविनोदिनः तैः क्लमविनोदिभिः, नलिन्या दलानि नलिनीदलानि तान्येव तालवृन्तानि=व्यजनानि तैः नलिनीदल-तालवृन्तैः कमलिनीपत्रविरचितव्यजनैः आर्द्रैः शीतला आर्द्रवच्छीतलाः वाताः पवनाः तान् आर्द्रवातान् संचालयामि बीजयामि उत अथवा हे करभौ-इव-उरु यस्याः सा तत्सम्बुद्धौ हे करभोरु ! पद्मे कमले-इव ताम्रौ अरुणौ पद्मताम्रौ कुशेशयोदररक्तौ ते तव चरणौ अंके उत्संगे निधाय स्थापयित्वा यथा सुखं मन्दं मन्दं संवाहयामि मर्दयामि । उक्ता अलंकारादयः । वसन्ततिलकं वृत्तम् । इससे पर्युपासन नामक सन्ध्यङ्ग का निर्देश किया गया है ।

"पर्युपास्तिरनुनयः" अर्थात् जहाँ प्राप्तव्य के विरोध पर नायकादि द्वारा नायिकादि का अनुनय किया जाय ।

इससे माला नामक भूषण भी उपक्षिप्त होता है "मालास्याद्यभीष्टार्थप्रकाशनम्" अर्थात् जहाँ अभीष्ट प्रयोजन स्पष्ट हो जाय ।

शकुन्तला:—पूज्य जनों के विषय में अपने को मैं अपराधिनी न बनाऊँगी । तात्पर्य यह है कि नायक के अभिप्राय को जानती हुई भी शकुन्तला वचन कौशल से उसको उत्तर देती है कि पूज्य लोगों से सेवा कराके मैं अपराधिनी न बनूँगी, (पूज्य इसीलिये था कि वह पुरुष था, राजा था, वयोवृद्ध था और भावी पति था ।)

उत्सृज्य कुसुमशयनं नलिनीदलकल्पितस्तनावरणा ।
कथमातपे गमिष्यसि परिबाधापेलवैरङ्गैः ? ॥ १९ ॥

इति बलदेनां निवर्तयति

शकुन्तला—पोरव ! रक्ख अविणअं । मअणसंतत्तावि णहुअत्तणो पहवामि
[पौरव ! रक्षाविनयम् । मदनसंतप्तापि न खल्वात्मनः प्रभवामि ।]

राजा—भीरु ! अलं गुरुजनभयेन । दृष्ट्वा ते विदितधर्मा तत्रभवान्न तत्र दोषं ग्रहीष्यति कुलपतिः । अपि च—

(उठकर जाना चाहती है)

राजा:—सुन्दरी ! अभी दिन भी नहीं ढला है अर्थात् मध्याह्न है और तुम्हारे शरीर की भी यह दशा है । अर्थात् तुम अस्वस्थ हो ।

श्लोक १९ अन्वय :—नलिनीदलकल्पितस्तनावरणा (त्वं) कुसुम-शयनं उत्सृज्य परिबाधापेलवैः अङ्गैः कथं आतपे गमिष्यसि ।

शब्दार्थ :—नलिनीत्यादि=जिसने कमलिनी के पत्तों द्वारा (तापशान्त्यर्थं) अपने स्तनों का आवरण (आच्छादन) बनाया है । इस पद से तापातिशय द्योतित होता है तथा यह भी तात्पर्य है कि जब तुम इस प्रकार धूप में निकल जाओगी तो ये कमलिनी दल तो शीघ्र ही कुम्हला जायेंगे जो इस समय शीतल छाया में रहने के कारण न कुम्हाले हुये हो कर तुम्हें कुछ शान्ति दे रहे हैं, उस समय तुम्हारी दशा क्या होगी । कुसुमशयनं उत्सृज्य =पुष्पमयी शय्या को छोड़कर—तात्पर्य यह है कि सखी-जन यहाँ इस समय होतीं तो तुम्हें ऐसी दशा में कभी न जाने देतीं क्योंकि तुम्हारी ताप शान्ति के लिये ही तो उन्होंने यह पुष्पशयन बनाया था और तुम उसी को छोड़कर जा रही हो ।

परिबाधापेलवैः=परितः सर्वतः बाधा पीड़ा अर्थात् कामजन्य विशेष पीड़ा से पेलव= मृदु कोमल अर्थात् दुर्बल अंगों से (उपलक्षित, युक्त) अथवा परिबाधा और पेलवैः पद समस्त नहीं हैं, परिबाधा यह प्रथमान्त शकुन्तला का विशेषण है, परिबाधा=परितः बाधा यस्याः, अर्थात् जिसे विशेष प्रकार की काम पीड़ा हो रही है । पेलवैः का अर्थ है कोमल और यह अङ्गों का विशेषण है ।

अनुवाद :—(काम ताप निवारणार्थं) जिसने कमलिनी के पत्तों से अपने स्तनों का आच्छादन बनाया है (ऐसी तुम) पुष्पशयन को छोड़ कर, (कामजन्य) विशेष पीड़ा से कोमल अर्थात् दुर्बल अंगों से (उपलक्षित होकर) धूप में कैसे जाओगी ।

व्याख्या—शकुन्तला वेतसलता कुञ्ज से उठकर जाना चाहती है दुष्यन्त यह कह कर उसे रोकना चाहता है कि :—

काम ताप निवारणार्थ तुमने अपने स्तनों को कमल दलों से ढक रखा है फिर तुम ऐसी अवस्था में कुसुमशयन को छोड़कर, काम पीड़ा से व्यथित इन कोमल शरीरावयवों से धूप में किस प्रकार जाओगी ।

तात्पर्य यह कि अभी दिन भी नहीं ढला है, इस दुपहरी में फूलों का बिस्तर छोड़कर अपने स्तनों को कमल दलों से ढके हुए बिरह में तपे हुए अपने दुर्बल अंगों को लेकर कैसे जाओगी । जब कि साधारण स्वस्थ मनुष्य भी बिना वस्त्रावरणादि के धूप में नहीं जा सकता है तुम तो स्वभाव से ही सुकुमारी हो, सुकुमारी ही नहीं विरहपीड़ा से व्यथित भी हो, तुम्हारी यह अवस्था है और फिर भी तुम कुसुमशयन को छोड़ कर जा रही हो यह सब कैसे

गान्धर्वेण विवाहेन बह्व्यो राजर्षिकन्यकाः ।
श्रूयन्ते परिणीतास्ताः, पितृभिश्चाभिनन्दिताः ॥ २० ॥

शकुन्तला—मुञ्च दाव मं भूओ वि सहीजणं अणुमाणइस्सं [मुञ्च तावन्माम्। भूयोऽपि सखीजनमनुमानयिष्ये ।]

राजा—भवतु: मोक्ष्यामि ।

शकुन्तला—कदा ? । [कदा ।]

सम्भव हो सकता है । अतः तुम जाने के लिये सर्वथा असमर्थ हो, मत जाओ, यहीं ठहरो, धूप ढल जाने पर, जाना ।

विशेष—इससे नायक गत हर्ष औत्सुक्य करुणादि भाव तथा नायिका गत ग्लानि आलस्यादि भाव व्यञ्जित होते हैं । यहाँ गमनासम्भव के प्रति परिबाधापेलवैरङ्गैः यह हेतु है अतः पदार्थ हेतुक काव्यलिङ्ग है, और इस प्रकार अर्थापत्ति भी है क्योंकि गमनासम्भवत्व परिबाधापेलवाङ्गत्व के बिना अनुत्पन्न है । साभिप्राय विशेषण होने से परिकर तथा श्रुति, वृत्ति, अनुप्रास आर्या जाति ।

आ+वृ+ल्युट्=आवरणम्, शीङ्+ल्युट्=शयनम्; उत्+सृज+त्वा+ल्यप्= उत्सृज्य ।

संस्कृत व्याख्या—नलिनीनां कमलिनीनां दलैः पत्रैः कल्पितं रचितं स्तनयोरावरणं तापशमनायाच्छादनं यस्या यया वा सा नलिनीदलकल्पितस्तनावरणा कुसुमशयनं पुष्पमयीं शय्यां उत्सृज्य विहाय परितः बाधा पीडा यस्याः सा परिबाधा सती त्वं पेलवैः कोमलैः अङ्गैः चरणाद्यवयवैः उपलक्षिता कथं आतपे निदाघे गमिष्यसि । नाधुना तव गमनं उचितमिति भावः । उक्ता अलंकारादयः । आर्या जातिः.

इससे **उपन्यास नामक** प्रति मुख सन्धि का अङ्ग निर्दिष्ट हुआ है "उपन्यासस्तु सोपायम्" उपाय युक्त या हेतु प्रदर्शक वाक्य उपन्यास कहलाता है अर्थात् जहाँ सकारण अनुनयादि का वर्णन हो ।

(इस प्रकार बल पूर्वक उसे रोकता है)

शकुन्तला—पुरुवंशी राजा ! अविनय न करो अर्थात् शील का ध्यान रक्खो पुरुवंशियों को ऐसा अविनय शोभा नहीं देता । काम पीड़ित होने पर भी मैं अपने मन से कुछ नहीं कर सकती । (मैं गुरुजनों के अधीन हूँ उनकी अनुमति बिना मुझे आत्म समर्पण का कोई अधिकार नहीं ।

राजा :—अरी डरपोक ! गुरुजनों से डरने की बात तो व्यर्थ है, इसमें डर की कोई बात नहीं । श्रुति स्मृति प्रतिपादित धर्म के पूर्ण ज्ञाता पूज्य कुलपति महर्षि कण्व दृष्टा=वे सब बातें जान कर भी अर्थात् तुम्हें विवाहित देखकर भी दोषी न समझेंगे अर्थात् तुम्हें परिणीत जान कर भी वे तुम्हें अपराधी न ठहरायेंगे । और भी देखो :—

श्लोक २० अन्वय—बह्व्यः राजर्षिकन्यकाः गान्धर्वेण विवाहेन परिणीताः श्रूयन्ते ताः पितृभिः च अनुमोदिताः ।

शब्दार्थ :—बह्व्यः=बहुत सी (एक दो ही नहीं) गान्धर्वेण विवाहेन=गान्धर्व नामक विवाह द्वारा, गान्धर्व विवाह का लक्षण है—"सकामायाः सकामेन निर्मन्त्रो रहसि स्मृतः करस्पर्शस्तु गान्धर्वः" अर्थात् जब काम पीड़ित नायक नायिका एकान्त में वेदमन्त्र रहित कुछ अपनी प्रतिज्ञाओं के आधार पर अपना पाणिग्रहण करते हैं तो उसे गान्धर्व विवाह कहते हैं । "गान्धर्वः समयान्मिथः" याज्ञवल्क्य ।

राजा—

अपरिक्षतकोमलस्य याव—
त्कुसुमस्येव नवस्य षट्पदेन।
अधरस्य पिपासिता मया ते
सदयं सुन्दरि गृह्यते रसोऽस्य॥ २१॥

(इति मुखमस्याः समुन्नमयितुमिच्छति। शकुन्तला परिहरति नाट्येन।)

(नेपथ्ये)

चक्कवाकवहुए? आमंतेहि सहअरं उवट्ठिआ रअणी। [चक्रवाकवधूः] आमन्त्रयस्व सहचरम्। उपस्थिता रजनी।]

अनुवाद :—बहुत सी राजर्षि कन्यायें गान्धर्व विवाह विधि से विवाहित सुनी जाती हैं और वे अपने माता पिता द्वारा अभिनन्दित समर्थित भी हुई हैं।

व्याख्या—शकुन्तला के यह कहने पर कि यद्यपि मैं काम संतप्त हूँ फिर भी मेरा अपने पर अधिकार नहीं है अर्थात् गुरुजनों की अनुमति के बिना आत्मदान में सर्वथा असमर्थ हूँ, दुष्यन्त कहता है कि गुरुजनों का भय करना व्यर्थ है क्योंकि बहुत सी राजर्षि कन्याओं ने गान्धर्वविवाहविधि से अपना विवाह कर लिया था और फिर उस बात का उनके गुरुजनों ने भी समर्थन किया है।

एक दो ही नहीं बहुत सी राजर्षि कन्याओं ने गान्धर्व विवाह किया है ऐसा सुना जाता है और यह भी कि परिणयानन्तर उनके गुरुजनों ने भी उनका समर्थन किया है अतः गुरुजनों की आशंका न करनी चाहिए।

वह्वी शब्दात् प्रथमा बहुवचने रुपम्। कन्यका इत्यत्र स्वार्थे क प्रत्ययः, परि+नी+क्त=परिणीताः। श्रुधातोः कर्मणि यक्=श्रूयन्ते।

संस्कृत व्याख्या—वह्वयः सहस्रः राजर्षिकन्यकाः राजर्षिकुमार्यः गान्धर्वेण विवाहेन गान्धर्वविवाहविधिना परिणीताः कृतविवाहाः श्रूयन्ते पुराणादिषु गीयन्ते। अतो यथाकामं विहर, न कार्या गुरुजनतः शङ्केति भावः। पिता ते महर्षिः कण्वस्तु त्वामभिनन्दयिष्यत्येव, क्षत्रियाणां पक्षे गान्धर्वविवाहस्य मुख्यत्वात् "क्षत्रियस्य तु गान्धर्वो विवाहः श्रेष्ठ उच्यते" इति वचनात्, त्वमपि राजर्षिवीर्यसम्भूता अहमपि क्षत्रियः अत आवयोः विवाहे न कश्चिद्दोषो, न वा गुरुजनः क्रोधमेष्यतीति भावः। पथ्यावक्त्रम् छन्दः।

इससे उपदिष्ट नाम भूषण का निर्देश किया गया है "प्रतिगृह्य तु शास्त्रार्थं यद्वाक्यमुपधीयते" अर्थात् जहाँ शास्त्र के प्रमाण सहित वार्तालाप उपस्थित किया जाय।

शकुन्तला—अच्छा मुझे अभी तो छोड़ दीजिए, फिर मैं सखियों से तो कम से कम पूछ लूँ।

राजा—अच्छा तो छोड़ दूँगा।

शकुन्तला—कब!

राजा—

श्लोक २१ अन्वय—अपरिक्षतकोमलस्य नवस्य कुसुमस्य इव ते अस्य अधरस्य रसः पिपासता षट्पदेन इव मया यावत् हे सुन्दरि सदयं न गृह्यते।

शब्दार्थ—अपरिक्षतकोमलस्य=भ्रमर आदि द्वारा अस्पृष्ट तथा कोमल, नवस्य=प्रथम विकसित अतएव आस्वादनीय।

शकुन्तला—(ससंभ्रमम् ।) पोरव ? असंसअं मम सरीरवुत्तंतोवलंभस्स अज्जा गोदमी इदो एव्व आअच्छदि । जाव विडवंतरिदो होहि ।

[पौरवः ! असंशयं मम शरीरवृत्तान्तोपलम्भायार्या गौतमीत एवागच्छति । यावद्विटपान्तरितो भव ।]

राजा—तथा (इत्यात्मानमावृत्य तिष्ठति ।)

(ततः प्रविशति पात्रहस्ता गौतमी सख्यौ च ।)

सख्यौ—इदो इदो अज्जा गोदमी । [इत इत आर्या गौतमी ।]

गौतमी—(शकुन्तलामुपेत्य ।) जादे ! अवि लहुसंदावाइं दे अंगाइं ? [जाते ! अपि लघुसंतापानि तेऽङ्गानि ?]

अनुवाद—हे सुन्दरि ! जब तक कि भ्रमरादि के द्वारा अस्पृष्ट-अपरिचुम्बित नवीन एवं कोमल और आस्वाद्य कुसुम की तरह तुम्हारे इस अधर का रस, भ्रमर की भाँति पान करने की इच्छा रखने वाला मैं धीरे-धीरे ग्रहण न कर लूँगा ।

व्याख्या—शकुन्तला के यह कहने पर कि मुझे छोड़ दीजिये दुष्यन्त कहता है छोड़ दूँगा, शकुन्तला पूछती है कब, दुष्यन्त कहता है कि तब तक नहीं जब तक कि—भ्रमर आदि के द्वारा अपरिक्षत=अस्पृष्ट अपरिचुम्बित और कोमल नवोद्गत अतएव आस्वाद्य कुसुम की तरह तुम्हारे इस अधर का रस, भ्रमर की भाँति पान की इच्छा रखने वाला मैं हे सुन्दरी जब तक ग्रहण न कर लूँगा । तात्पर्य यह कि भौंरा नये विकसित फूलों का रस० पान के लिए अत्यन्त लालायित रहता है और जब तक पान कर नहीं लेता उसे नहीं छोड़ता वहीं मँडराया करता है ठीक उसी तरह मुझ प्यासे को भी जब तुम्हारा अधर रस पीने को मिल जायेगा तब छोड़ दूँगा, लेकिन इसके पहले नहीं ।

विशेष—सदयं=दया के साथ, धीरे धीरे, कौशल से । इससे राजा का मुग्धा विषयक अनुवृति कौशल ध्वनित होता है । श्लेष वाच्योपमा, छेक, वृत्यनुप्रास, मालभारिणी छन्द "स स जा प्रथमे पदे गुरु चेत् सभरा येन च मालभारणीयम्" अर्थात् जिसके विषम पादो में स, स, ज और दो गुरु तथा सम पादों में स, भ, र और यगण हो वह मालभारणी अर्ध सम होता है ।

संस्कृत व्याख्या—न विद्यते परितः क्षतं यस्य स चासौ कोमलश्च तस्य, अपरिक्षतकोमलस्य भ्रमरादिना अपरिचुम्बितकोमलस्य नवस्य नवोद्गतस्य कुसुमस्य पुष्पस्येव ते तव अस्य पुरोदृश्यमानस्य सुधासहोदरस्य मत्सुकृतोपचयलयस्याधरस्य रसः पिपासिता पातुमिच्छता षट्पदेनेव मया यावत् हे सुन्दरि सदयं मन्दं मन्दं न गृह्यते नोपलभ्यते तावन्न मोक्ष्यामीत्यर्थः ।

उक्ता अलंकाराः । मालभारिणी वृत्तम् ।

(यह कह कर उसका मुँह ऊपर को उठाना चाहता है, शकुन्तला अभिनय पूर्वक उसे ऐसा करने से रोकती है)

(यह अभिनय सिर को घुमा कर, अधर को अंगुली आदि से ढक कर किया जाता है) इससे नायिका का मुग्धा व्यवहार भी सूचित किया गया है । "मुग्धा नववयः कामा, रतौ वामा इत्यादि" ।

(नेपथ्य में)

अरी चकवी ! अपने सहचर (वल्लभ-प्रिय) से मिल कर विदा ले रात आ पहुँची । (चक्रवाकवधू से शकुन्तला, सहचर से दुष्यन्त तथा रजनी से गौतमी का संकेत है ।

शकुन्तला—अस्थि मे विसेसो। [अस्ति में विशेषः।]

गौतमी—इमिण दब्भोदएण णिराबाधं एव्व दे सरीरं भविस्सदि। (शिरसि शकुन्तलमभ्युक्ष्य।) वच्छे! परिणदो दिवहो। एहि, उडजं एव्व गच्छम्ह। [अनेन दर्भोदकेन निराबाधमेव ते शरीरं भविष्यति। वत्से! परिणतो दिवसः। एहि, उटजमेव गच्छामः।]

(इति प्रस्थिताः।)

शकुन्तला—(आत्मगतम्) हिअअ! पढमं एव्व सुहोवणदे मणारहे कादरभावं ण मुंचसि। साणसअविहडिअस्स अहं दे संपदं संदावो? (पदान्तरे स्थित्वा प्रकाशम्।) लदावलअ संदावहारअ! आमन्तेमि तुमं भूओ दि परिभोअस्स। [हृदय! प्रथममेव सुखोपनते मनोरथे कातरभावं न मुञ्चसि। सानुशयविघटितस्य कथं ते सांप्रतं संतापः?। लतावलय संतापहारक! आमन्त्रये त्वां भूयोऽपि परिभोगाय।] (इति दुःखेन निष्क्रान्ता शकुन्तला सहेतराभिः।)

अर्थात् शकुन्तले! प्रिय से मिल कर अब उससे विदा लो क्योंकि गौतमी आ रही है—अप्रस्तुतप्रशंसालंकार है।

इससे द्वितीय **पताका स्थानक** का निर्देश किया गया है।

"प्रस्तुता गन्तुभावस्य वस्तुनोऽन्योक्तिसूचकम्।

पताकास्थानवत्तुल्यं संविधान विशेषणम्॥ दशरूपक।

अर्थात् जहाँ प्राकरणिक भावी कथावस्तु का, समान वृत्त अथवा समान विशेषण के द्वारा, अन्योत्तिमय संकेत किया जाता है उसे पताकास्थानक कहते हैं। तात्पर्य यह कि जहाँ पर अन्योक्ति या अप्रस्तुत प्रशंसा के द्वारा घटनाओं की समानता के आधार पर अथवा समासोक्ति के द्वारा समान विशेषणों के आधार पर भावी घटना का संकेत करता है वहाँ यह संकेत पताका या ध्वजा की भाँति भावी वृत्त की सूचना देता है अतः यह पताका स्थानक कहलाता है। **प्रकृत में यह पताकास्थानक अन्योक्ति के आधार पर है।** समासोक्ति द्वारा आगे की सन्धि में दिखलाया गया है। अन्योक्ति का लक्षण है, "असमानविशेषणमपि यत्र समाने निवृत्तमुपमेयम्, उक्तेन गम्यते परमुपमानेनेति साऽन्योक्तिः"॥ मुखादि चारों ही सन्धियों में पताकास्थानक का विधान किया गया है "मुखे प्रतिमुखे गर्भे विमर्शे च चतुर्ष्वपि, भेदाः सन्धिषु कर्तव्याः पताकास्थानकस्य तु।

शकुन्तला—(शीघ्रता पूर्वक, घबड़ाकर) पौरव! निस्सन्देह मेरे शरीर की अस्वस्थता का समाचार जानने के लिए आर्या गौतमी इधर ही आ रही है। अतः आप वृक्ष की ओट में छिप जाइये। (उपलम्भाय=अनुभव—परिज्ञान के लिए) राजा कहीं यह न समझ जाय कि यह बहाना कर रही है अतएव शकुन्तला असंशयम् कहती है। इससे निरोध नामक अङ्ग का निर्देश किया गया है, "हितनिरोधो **निरोधनम्**" अर्थात् जहाँ प्राप्तव्य वस्तु की प्राप्ति से नायकादि को रोक दिया जाय वहाँ निरोध (अवरोधक नामक अङ्ग होता है। अथवा "या तु व्यसनसंप्राप्तिर्निरोधः स तु कीर्त्यते" यहाँ अपने अभीष्ट से च्युत होना ही व्यसन सम्प्राप्ति है।

राजा—अच्छा (अपने को छिपाकर खड़ा हो जाता है) जल पात्र को हाथ में लिये हुये गौतमी तथा सखियों का प्रवेश)

सख्यौ—इधर से आइये आर्या गौतमी इधर से।

राजा—(पूर्वस्थानमुपेत्य । सनिःश्वासम्) अहो, विघ्नवत्यः प्रार्थितार्थसिद्धयः। मया हि:—

मुहुरङ्गुलिसंवृताधरोष्ठं
प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम् ।
मुखमंसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः
कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु ॥२२॥

गौतमी—(शकुन्तला के पास जाकर) वत्से ! क्या तुम्हारे अङ्गों का सन्ताप कुछ कम हुआ है।

शकुन्तला—हाँ—अब तो कुछ अच्छा है।

गौतमी—लो, इन कुशों द्वारा छिड़के गये जल से तुम्हारा शरीर पीड़ा रहित हो जायेगा अर्थात् तुम स्वस्थ हो जाओगी। (यह कह कर सिर पर जल छिड़क कर) वत्से! दिन ढल गया है। आओ चलें कुटी में ही चलें।

शकुन्तला—(मन ही मन) हृदय ! जब कि पहिले अनायास मनोरथ पूर्ण हो रहा था तब तो तुमने कातरभाव (अधीरता—भयप्रदर्शन) न छोड़ा अर्थात् जब बिना किसी प्रयास के प्रियतम की प्राप्ति हुई तब तो तुम गुरुजनों से डरते रहे और उनसे स्वाभिलाष पूर्वक न मिल सके पर अब पश्चात्ताप पूर्वक (प्रियतम से) बिछड़े हुए तुम्हारा दुःखी होना कहाँ तक उचित है अर्थात् अब उनके लिए रोना कल्पना कहाँ तक उचित है अर्थात् अनुचित भी नहीं व्यर्थ भी है। कुछ पग चल कर (फिर रुक कर प्रकट) सन्ताप हारक लतामण्डप ! (प्रियतम के साथ) फिर सम्भोग सुख (बिहार) के लिए मैं तुम्हें फिर आमन्त्रित (निमन्त्रित किये जा रही हूँ अर्थात् फिर मैं बिहार के लिए यहाँ आऊँगी तुम भी यहीं मिलना इस प्रकार दुःख पूर्वक शकुन्तला अन्य लोगों के साथ चली जाती है)

राजा—(फिर उसी पूर्व परिचित स्थान पर पहुँच कर लम्बी साँस लेकर) अभिलषित प्रयोजनों की सिद्धियों में न जाने कितने विघ्न उपस्थित हो जाया करते हैं। क्योंकि मेरे द्वारा :—

इससे **मनोरथ** नामक भूषण का निर्देश किया गया है "मनोरथस्तु व्यांजेन विवक्षितनिवेदनम्" जहाँ मनोवाञ्छित प्रयोजन का किसी बहाने से निर्देश किया जाय।

श्लोक २२ अन्वय—मुहुः अङ्गुलिसंवृताधरोष्ठं प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामं अंसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः मुखं कथं अपि उन्नमितं न तु चुम्बितम्।

शब्दार्थ—अङ्गुलिसम्वृताधरोष्ठम्=जिसमें अङ्गुलियों द्वारा अपना अधरोष्ठ ढक लिया गया था, प्रतिषेधेत्यादि=नहीं करते हुए जो कुछ विह्वल पर सुन्दर लग रहा था, अंसविवर्ति=जो कन्धे की ओर मोड़ लिया जाता था, पक्ष्मलाक्ष्याः=प्रशस्तलोमशाली नेत्रों वाली शकुन्तला के, उन्नमितम्=चुम्बनार्थ ऊपर को किया।

अनुवाद :—बार-बार जिसमें अंगुलियों द्वारा अधरोष्ठ ढक लिया जाता था, नहीं नहीं, बस-बस, आदि अस्पष्ट प्रतिषेधाक्षरों के उच्चारण से जो सुन्दर लग रहा था, और (लज्जावश या चुम्बनपरिहारार्थ) जिसको कन्धे की ओर मोड़ लिया गया था, ऐसे, प्रशस्त लोमशाली नेत्रों वाली शकुन्तला के मुख को किसी प्रकार उठाया तो, पर चुम्बन न कर पाया।

व्याख्या—शकुन्तला के चले जाने पर राजा उसी लताकुञ्ज में आकर ठण्डी साँस लेकर कहता है, अहो इष्ट सिद्ध में बहुत से विघ्न खड़े हो जाया करते हैं :—क्योंकि जब मैं उसका अधरोष्ठ पान करना चाहता था तो :—वह अङ्गुलियों से बार-बार अपना अधर

…ओष्ठ ढक लेती थी, और मत्कृत चुम्बन को जब वह नहीं-नहीं बस-बस आदि प्रतिषेधाक्षरों का उच्चारण करती हुई रोकती थी तो कुछ विह्वल भी, उसका मुख मनोज्ञ लगता था (अथवा वैक्लव्यं का अर्थ अस्पृष्ट उच्चारण अर्थात् नहीं-नहीं आदि अस्पष्ट प्रतिषेधाक्षरों के उच्चारण से उसका मुख सुन्दर लगता था) और वह चुम्बन परिहारार्थ अथवा लज्जावश अपने मुख को कन्धे की ओर मोड़ लेती थी। इस प्रकार के उस प्रशस्त नेत्रलोमशाली नेत्रों वाली शकुन्तला के मुख को यद्यपि मैंने चुम्बनार्थ उठाया भी पर चुम्बन न कर पाया। अतः कहना पड़ता है कि अभीष्ट सिद्धि में न जाने कितने विघ्न आ पड़ते हैं।

विशेष—अंगुलीत्यादि :—अंगुलि से तात्पर्य वारणार्थ प्रयुक्त तर्जनी उँगली से है अथवा अङ्गुलि शब्द बहुवचन है अतः न केवल तर्जनी प्रत्युत सभी उँगलियों से, अधर का अर्थ है नीचे वाला ओष्ठ और चुम्बन भी अधर का ही होता है तो फिर ओष्ठ पद का ग्रहण किस लिए ? इसका उत्तर है ओष्ठ शब्द के ग्रहण से अधर का आरक्तत्व, सौकुमार्य तथा माधुर्यातिशय द्योतित होता है, जैसा कि "उमामुखे विम्वफलाधरोष्ठे" कुमारसम्भव में भी कहा गया है।

प्रतिषेधेत्यादि :—नहीं-नहीं बस-बस आदि चुम्बन के प्रतिषेध के लिए अस्फुटोच्चरित वर्णों से अत्यन्त मनोज्ञ लगने वाला मुख। इस पद में वैक्लव्य का कारण लज्जा तथा मुग्धा-स्वभाव अथवा गुरुजन भय आदि है।

अंसविवर्ति—अर्थात् चुम्बन के आतङ्क से बचने के लिये अथवा लज्जादि के कारण वह अपने मुख को कन्धे की ओर मोड़ लेती थी।

यहाँ इन तीन विशेषणों का क्रम बड़े कौशल से रखा गया है पहिले तो अंगुलिसंवरण तदनन्तर प्रतिषेधाक्षर और तब अंस विवर्तन।

पक्ष्मलाक्ष्या :—पक्ष्म=नेत्रलोम (पक्ष्माणि नेत्रलोमानि ययोः सन्ति—इति पक्ष्मले अर्थात् प्रशस्त लोमशाली, प्रशस्तलोमशालिनी अक्षिणी यस्यास्तस्याः पक्ष्मलाक्ष्याः अर्थात् सुन्दर नेत्रलोम विशिष्ट नेत्रों वाली शकुन्तला के।

उन्नमितं न तु चुम्बितम्। चुम्बनार्थ ऊपर को उसका मुख उठाया पर प्रमादवश उसका चुम्बन न किया। यहाँ चुम्बितं पद से रसास्वाद लक्षित होता है जिससे अधर का अति-पीड़नभाव व्यंजित होता है। तु शब्द से सम्भोग सर्वस्वभूत चुम्बन के न मिलने से विषादा-तिशय द्योतित होता है और यदि वह मिल गया होता तो एतावन्मात्र से ही उसकी कृतकृत्यता हो गई होती यह भी ध्वनित होता है।

यहाँ पर नायिकाकृत प्रतिषेध ने नायकगत कामवृद्धि प्रतीत होती है जैसा कि कवि ने रघुवंश महाकाव्य में

"चुम्बने विपरिवर्तिताधरं हस्तरोधिरशनाविघट्टने"

इत्यादि श्लोक द्वारा दिखलाया है।

बलात्कार होने पर भी जो नायिका ने रोदन गमनादि न करके अंगुलि संवरण, प्रतिषेधादि कार्य ही किया इससे नायिका की सम्भोग कार्य में अर्धस्वीकृति भी सूचित होती है। अधरोष्ठ पद में पुनरुक्तवदाभास तथा सम्पूर्ण श्लोक में स्वभावोक्ति है, श्रुति, वृत्ति, अनुप्रास, कथमपि इस अर्थ के प्रति उपर्युक्त मुखविशेषणत्रय हेतु है, अतः काव्यलिंगालंकार है, मालभारिणी छन्द है।

प्रति+षिध्+घञ्=प्रतिषेधः, अभि+रम्+घञ्=अभिरामम्। उद्+ण्यन्त नम्+क्त=उन्नमितम्।

संस्कृत व्याख्या :—मुहुः बारम्बारं अङ्गुलिभिः सम्वृतः अधरोष्ठो यत्र तत् अंगुलिसंवृताधरोष्ठं मत्कृतचुम्बनवारणायाङ्गुलिसमाच्छादिताधरोष्टम् मा मा अलमलमिति चुम्बननि-

क्व नु खलु संप्रति गच्छामि ? अथवा,—इहैव प्रियापरिभुक्तमुक्त लतावलये मुहूर्तं स्थास्यामि। (सर्वतोऽवलोक्य ।)

तस्याः पुष्पमयी शरीरलुलिता शय्या शिलायामियं
क्लान्तो मन्मथलेख एष नलिनीपत्रे नखैरर्पितः।
हस्ताद्भ्रष्टमिदं बिसाभरणमित्यासज्यमानेक्षणो
निर्गन्तुं सहसा न वेतसगृहाच्छक्नोमि शून्यादपि ॥ २३ ॥

षेधकाक्षराणां विक्लवेन अस्फुटमुच्चारणेनाभिरामं मनोज्ञंप्रतिषेधाक्षरविक्लाभिरामं, अंसे विवर्ति शीलं यस्य तत् अंसविवर्ति स्कन्धपरावर्तनशीलं, पक्ष्मले प्रशस्तलोमशालिनी अक्षिणी नयने यस्याःतस्याः पक्ष्मलाक्ष्याः शकुन्तलायाः मुखं कथमपि येन केनापि प्रकारेण उन्नमितं चुम्बनायोर्ध्वीकृतम् तु=किन्तु न चुम्बितम् गौतमी समागमश्रवणभयादित्यर्थः । उक्ता अलंकारादय: मालभारिणी वृतम् ।

अब मैं कहाँ जाऊँ, अथवा (और कहीं जाने से क्या लाभ) यहीं प्रिया के द्वारा परिभोग कर छोड़े गये लता मण्डप में थोड़ी देर बैठूँगा (चारों ओर देखकर)

श्लोक २३ अन्वय—तस्याः शरीरलुलिता शिलायां इयं पुष्पमयी शय्या, नलिनीपत्रे नखैः अर्पित एष क्लान्तः मन्मथलेखः, हस्तात् भ्रष्टं इदं बिसाभरणं इति आसज्यमानेक्षणः (अहं) शून्यात् अपि वेतसगृहात् सहसा निर्गन्तुं न शक्नोमि ।

शब्दार्थ—शरीरलुलिता=काम संतप्त शरीर से इधर उधर करवटें बदलने के कारण मर्दित (मसली हुई) अर्पितः=लिखा हुआ, क्लान्तः=मुरझाया हुआ, मन्मथलेख =मदनव्यथा सूचक लेख, बिसाभरणं=कमलनालतन्तुविरचित आभूषण, आसज्यमानेक्षण =संलग्नदृष्टि वाला ।

अनुवाद :—शिला के ऊपर यह उस शकुन्तला की, (वियोगा नल-संतप्त उसके) शरीर से विमर्दित (मसली हुई) पुष्पमयी शय्या है । कमलिनी पत्र पर नखों से लिखा गया (अब) मुर्झाया हुआ यह (उसका) काम पत्र है । हाथ से गिरा हुआ यह (उसका) मृणाल वलय (भी है) इन सब पदार्थों में संलग्नदृष्टि होकर मैं अब सूने भी वेतसगृह से निकलने के लिए सहसा समर्थ नहीं हूँ ।

व्याख्या :—शिलाखण्ड के ऊपर यह शकुन्तला की, वियोगानल संतप्त उसकी देह से विमर्दित, पुष्पमयी शय्या है, कमलिनी के दल पर नखों से लिखा गया यह म्लान काम पात्र है, उसके हाथ से गिरा हुआ मृणालवलय भी पड़ा है, इन सब पदार्थों में मेरे नेत्र ऐसे रम गये हैं कि अब सूने भी इस वेतसलता-गृह से जाने में एकाएक समर्थ नहीं हूँ । तात्पर्य यह कि उसके शरीर से मसली हुई यह शय्या, यह मदन लेख, और यह मृणालवलय मेरी आँखों को इतना आकर्षित कर रहे हैं कि मैं इन उसके द्वारा उपभुक्त वस्तुओं के रहते हुए इस शून्य भी लता-मण्डप को छोड़कर कहीं भी नहीं जा पा रहा हूँ ।

सच है जब प्रियोपभुक्त वस्तुओं को हीं छोड़कर नहीं जा सकते हो तो फिर उसे छोड़कर कैसे जाते, उसके छोड़ने की तो सम्भावना ही नहीं करनी चाहिए ।

यह है कवि की अनन्यप्रेमचित्रण कुशलता ।

विशेष :—तस्याः पुष्पमयी शय्या :—उसकी पुष्पों की शय्याः तस्याः कहने का तात्पर्य है कि मानो अब भी वह सामने दिखलाई पड़ती हो । शय्या पुष्पमयी है पल्लवमयी नहीं क्योंकि पल्लवों की अपेक्षा फूल और भी कोमल होते हैं इससे उसकी और अधिक कोमलता ध्वनित होती है, शय्या पर फूल चुने हुए नहीं थे अपितु वह फूलों की ही थी बनाई

पुष्पमयी कहा है। अर्थात् पुष्पप्रस्तुता पुष्पात्मिका न तु पुष्पसहिता। पुष्पमयी में प्रस्तुतार्थ में मयट् प्रत्यय है। परन्तु वह शरीर लुलिता थी अर्थात् कामानलसंतप्तशरीर के इतस्ततः परिवर्तन से परिमर्दित हो गई थी कामानल संतप्तत्व प्रकरणतः लभ्य है अतः श्लोक में उसका कथन नहीं है। 'शिलायां' से शैत्य सूचित होता है।

दुष्यन्त ने पहिले शकुन्तला का अनुस्मरण किया तब फूलों पर देखा और तदन्तर शिला पर, अतएव कवि ने क्रमशः तस्याः, पुष्पमयी और तदन्तर शिलायां का प्रयोग किया है। यह यथादृष्टोक्ति काव्य-कौशलाभिधायिनी है।

'एष' यह समीपवर्तित्व द्योतित करता है, अतएव इदम् शब्द का प्रयोग नहीं किया जबकि ऊपर पुष्पशय्या के लिए इदं शब्द का प्रयोग किया है, समीपतरत्व द्योतन के अतिरिक्त एष शब्द यह भी ध्वनित करता है कि अपने लिए प्रिया द्वारा लिखे हुए होने के कारण वह मदनलेख और भी अधिक मनोहर लगता था इस प्रकार इदम् और एतत् शब्दों का प्रयोग विशेषार्थ सूचित करने के लिए किया है अतः इनके प्रयोग में प्रक्रम-भंग दोष भी नहीं है क्योंकि "इदम् प्रत्यक्षगतं समीपतरवर्ति चैतदो रूपम्" ऐसा वचन है।

नलिनी पत्रे नखैरर्पितः से नायिकागत हस्त कौशल सूचित होता है, पंचांगुलिगत नखों के उपयोग के कारण तथा अक्षर बाहुल्य के कारण ही "नखैः" में बहु वचन का प्रयोग है। अर्पितः पद से लेखगत अक्षरों का स्फुटत्व व्यञ्जित होता है।

इदं विसाभरणम्, इदं का अर्थ यह पुरोवर्ति विसाभरण, आभरणोक्ति से यह व्यंजित होता है कि राजा का विसाभरण में न केवल इसीलिए आदरातिशय था कि वह उसकी प्रिया के हाथ से सम्बद्ध रहा था प्रत्युत इसलिए भी कि वह स्वयं भी इतना आकर्षक था।

"इति" का अर्थ है इन सब पुरोदृश्यमान पदार्थों में, कोई आचार्य इति का अर्थ इस प्रकार या इस हेतु भी लेते हैं।

आसज्यमानेक्षणः का अर्थ है आ=समन्तात् सज्यमान प्रियोपभुक्त वस्तु होने के कारण स्वयं ही संबध्यमान (देखने के लिए संलग्न) हो जाने वाले ईक्षण=नेत्रों वाला।

शून्यादपि वेतसगृहात्=प्रिया से रहित भी वानीरतरुगत लतागृह से, सहसा का अर्थ है अकस्मात् ही।

सारांश यह है कि जब प्रियोपभुक्त, पर अब उसके द्वारा परित्यक्त चिह्न ही मेरे मन को इतना अधिक आकर्षित करते हैं, तो प्रिया के विषय में तो कहना ही क्या।

निर्गमनाभाव के प्रति आसज्यमानेक्षण पदार्थ हेतु है अतः काव्यलिंग, लतागृह शून्य है शकुन्तला यहाँ नहीं है अतः शून्य रूप कारण के रहते हुए भी निर्गमन रूप कार्य नहीं हो रहा है अतः कारण रहने पर भी कार्यानुत्पत्ति रूप विशेषोक्ति अलंकार, तथा निर्गमन कार्य का कारण नहीं है फिर भी कार्य हो रहा है अतः कारण न होने पर भी कार्योत्पत्ति लक्षण विभावना है तथा इन दोनों में साधक बाधक प्रमाणों के अभाव में सन्देह संकर है। अनुप्रास। शार्दूल विक्रीड़ित छन्द है।

पुष्प शब्दात् मयट् स्त्रीलिंगे पुष्पमयी, भ्रंश+क्त=भ्रष्टम्। आ+सज् कर्मणि शानच्=आसज्यमानम्। ईक्ष्+ल्युट्=ईक्षणम्।

संस्कृत व्याख्या—तस्याः शकुन्तलायाः इयं पुरोदृश्यमाना शरीरेण कामानलतप्तदेहेन लुलिता मर्दिता इति शरीरलुलिता, पुष्पमयी पुष्पप्रस्तुता शय्या तल्पं शिलायां शिलाखण्डोपरि (अवलोक्यते, तथा) तस्याः नखैः कररुहैः नालिनीपत्रे कमलिनीदले अर्पितः उल्लिखितः क्लान्तः म्लानं तापरिगतः एष समीपवर्ती मन्मथलेखः मदनलेखः (अस्ति) इदं पुरोदृश्यमानं तस्याः हस्तात् करात् भ्रष्टं गलितम् विरहकार्श्याद्धेतोरित्यर्थः, विसाभरणं मृणालवलयं (अस्ति) इति एतेषु पदार्थेषु आसज्यमाने आसमन्तात् सज्यमाने प्रियोपभुक्त-

(आकाशे ।)

राजन् !

सायंतने सवनकर्मणि संप्रवृत्ते
वेदीं हुताशनवतीं परितः प्रयस्ताः ।
छायाश्चरन्ति बहुधा भयामादधानाः
संध्यापयोदकपिशाः पिशिताशनानाम् ॥ २४ ॥

वस्तुत्वात् स्वयमेव संवध्यमाने ईक्षणे नयने यस्यासौ आसज्यमानेक्षणः (अहम्) शून्यात् प्रियारहितादपि वेतसगृहात् वानीरतरुगतलतागृहात् सहसाकस्मादेव निर्गन्तुं वहिर्यातुं न शक्नोमि समर्थोऽस्मि, न पारयामि ।

अलंकारादयः पूर्वमेवोक्ताः । शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ।

यहाँ श्लोक गत चतुर्थचरण से पुष्प नामक अंग का निर्देश किया गया है "पुष्प वाक्यं विशेषवत्" अर्थात् जहाँ विशिष्ट वाक्यों द्वारा बीजोद्घाटन किया जाय, जिस प्रकार पुष्प से फलोत्पत्ति सूचित होती है उसी प्रकार पुष्प अंग से फल प्राप्ति की सूचना मिलती है ।

(आकाश भाषित द्वारा)

श्लोक २४ अन्वय—सायन्तने सवनकर्मणि सम्प्रवृत्ते हुताशनवतीं वेदीं परितः प्रयस्ताः भयं आदधानाः संध्यापयोदकपिशाः पिशिताशनानां छायाः चरन्ति ।

शब्दार्थ—सायन्तने=सन्ध्याकालीन, सवनकर्मणि=यजन कर्म, अग्नि होत्रादि के, सम्प्रवृत्ते=प्रारम्भ होने पर, हुताशवतीं=अग्नि होत्र की अग्नि से व्याप्त, वेदीं=यज्ञभूमि, परितः=चारों ओर, प्रयस्ताः=फैले हुए, आदधानाः=धारण किए हुए, उत्पन्न करते हुए, संध्यापयोदकपिशाः=सन्ध्यकालीन मेघों के समान पिङ्गल (काले और लाल) वर्ण के, छायाः =प्रतिबिम्ब, चरन्ति=चक्कर लगाती हैं । पिशिताशनानां=मांस भक्षी राक्षसों के ।

अनुवाद :—संध्या कालीन यज्ञ कर्म के प्रारम्भ होने पर प्रज्ज्वलित अग्निमयी वेदी के चारों ओर फैले हुए, सन्ध्याकालीन मेघ सदृश पिङ्गल वर्ण वाले, भयोत्पादक, मांसभक्षी राक्षसों के प्रतिबिम्ब अनेक बार चक्कर लगा रहे हैं ।

व्याख्या :—राजा को सम्बोधित करता हुआ कोई आकाशभाषित करता है महाराज !

सन्ध्याकालीन यज्ञ कर्म के आरम्भ होते ही प्रज्ज्वलित अग्निमयी वेदी के चारों ओर व्याप्त, सन्ध्याकालीन मेघों के सदृश पिङ्गलवर्ण के भयोत्पादक राक्षसों के प्रतिबिम्ब अनेक बार चक्कर लगा रहे हैं । अतः आप इनसे हमारी रक्षा करें ।

विशेष—संध्येत्यादि पद में संध्या पद से तत्कालीन सूर्य किरण सम्पर्क से छायाओं का रक्त होना तथा पयोद पद से कृष्ण वर्ण होना सूचित किया गया है ।

"पिशिताशनानां छायाश्चरन्ति" पिशित=मांस, अशन=खाना पिशिताशन मांस भक्षी अर्थात् राक्षस, छांयाः=प्रतिबिम्ब, चरिन्त=इधर उधर घूमते हैं । आते जाते हैं । राक्षश मायावी होते हैं और गगनचारी भी होते हैं अतः यद्यपि वे साक्षाव् दिखलाई नहीं पड़ते तथापि उनकी छाया दिखलाई पड़ती है अतएव छाया पद का प्रयोग किया गया है । माया द्वारा अदृश्य भी राक्षसों का छाया द्वारा अनुमान कर लिया जाता है अतएव उनका शीघ्र विनाश करने के लिए आप शीघ्र आइये, यह भाव है ।

राजा—अयमयमागच्छामि ! (इति निष्क्रान्तः ।)

इति तृतीयोऽङ्कः ।

संध्येत्यादि पद में समासगा लुप्लोतमा है, वे परितः प्रयस्ताः हैं अतएव भयोत्पादक हैं, अतः काव्यलिङ्ग, छेक, वृत्ति, श्रुति, अनुप्रास । वसन्ततलिका छन्द है ।

यहाँ भयानक रस है, भय स्थायीभाव, पिशिताशनच्छायावलोकन विभाव पद्य में पठित भय त्रास नामक व्यभिचारी भाव, राक्षसों का कृष्ण वर्ण येदी के आस पास छाया रूप में प्रकट होना आदि उद्दीपन विभाव, देखकर कम्पादि होना अनुभाव है ।

इस अङ्क में प्रतिमुख सन्धि के नर्म नर्मद्युति उपासना आदि सन्ध्यङ्गों का वर्णन नहीं हुआ है तथा कुछ अंग विपरीत क्रम से भी वर्णित है परन्तु ऐसा होना कोई दोष नहीं है क्योंकि स्वयं भरत मुनि का वचन है—

कविभिः काव्यकुशलैः रसभावमपेक्ष्य तु सर्वाङ्गानि कदाचित द्वित्रिहीनानि वा पुनः व्युत्क्रमेणापि कार्याणि इति ।

अर्थात् रस व भावानुसार कुशल कवि को सभी सन्ध्यंगों का वर्णन करना चाहिये परन्तु यदि आवश्यक न हो तो दो तीन अंगों का वर्णन न भी करे और सन्ध्यंगों में क्रम रखना भी आवश्यक नहीं है ।

सायम् शब्दात् ट्युल् तुडागमः सायन्तनम् सम्+प्र+वृत्=क्त=सम्प्रवृत्ते, आ+धा+शानच्=आदधानाः पयस्+दा√क=पयोदः वेदीमित्यत्र परितः योगे द्वितीया ।

संस्कृत व्याख्या :—सायम्भवः सायन्तनः तस्मिन् सायन्तने सन्ध्याकालीने, सवनस्य यजनस्य कर्म तस्मिन् सवन-कर्मणि सम्प्रवृत्ते प्रारब्धे सति हुताशनवतीं अग्निमयीं वेदीं यज्ञभूमि परितः प्रयस्ताः व्याप्ताः इतस्ततो विक्षिप्ता भयं भीतिं आदधानाः उत्पादयन्त्यः एतेन स्वप्रतीकाराक्षमत्वं ध्वन्यते । संध्यापयोदाः संध्याकालीनमेघाः तेषामिव कपिशाः पिंगलवर्णाः संध्यापयोदकपिशाः, संध्याभ्रवत्कृष्णरक्तवर्णाः, पिशितं अशनं येषां तेषां पिशिताशनानां मांसभक्षकाणां राक्षसानां छायाः प्रतिबिम्बानि बहुधा अनेकवारं चरन्ति गतागतं कुर्वन्ति । अतः शीघ्रमागत्य रक्षणीया वयमिति भाव :

उक्ता अलंकाराः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ।

राजा—लो यह मैं अभी आया !

(प्रस्थान)

इति तृतीयाङ्क

चतुर्थोऽङ्कः ।

(ततः प्रविशतः कुसुमावचयं नाटयन्त्यौ सख्यौ ।)

अनुसूया—प्रियंवदे ! जह वि गंधव्वेण विहिणा णिव्वत्तकल्लाणा सउन्दला अणुरुवभत्तुगामिणी संवुत्तेति निव्वुदंमे हिअअं, तह वि एत्तिअं चितणिज्जं। [प्रियंवदे! यद्यपि गान्धर्वेण विधिना निर्वृत्तकल्याणा शकुन्तलानुरूपभर्तृ गामिनी संवृत्तेति निर्वृत्तं मे हृदयम्, तथाप्येतावच्चिन्तनीयम् ।]

प्रियंवदा—कहं विअ ? [कथमिव ?]

अनुसूया—अज्ज सो राएसी इट्ठिं परिसमाविअ इसीहिं विसज्जिओ अत्तणो णअरं पविसिअ अंतेउरसमागदो इदोगदं वुत्तंतं सुमरदि वा ण वेत्ति [अद्य स राजर्षिरिष्टिं परिसमाप्य ऋषिभिर्विसर्जित आत्मनो नगरं प्रविश्यान्तःपुरसमागत इतोगतं वृत्तान्तं स्मरति न वेति ।]

(पूर्वोत्तर कथा को मिलाने के लिए पूर्व वर्णित सखियों का प्रवेश कराया गया है।) कुसुमावचयं=वृक्षों से फूलों का चुनना, अभिनयन्त्यौ=अभिनय रूप से दिखलाती हुई अर्थात् फूल चुनने का अभिनय करतीं हुई दोनों प्रियंवदा व अनुसूया प्रवेश करती हैं।

इस विषय में सभी विद्वान् सहमत हैं कि इस नाटक में यह चतुर्थ अङ्क ही अन्य सब अङ्कों में श्रेष्ठ है जैसा कि कहा जाता है :—

"कालिदासस्य सर्वस्वमभिज्ञान शकुन्तला ।
तत्रापि च चतुर्थोऽङ्कः तत्र श्लोकचतुष्टयम् ।। इति ।।
"यास्यत्यद्येति तत्रापि श्लोकः सर्वमनोहरः ।। इति ।।

कोई इसी बात को इस प्रकार कहते हैं :—

काव्येषु नाटकं श्रेष्ठं तत्रापि च शकुन्तला
तत्र रम्यश्चतुर्थोऽङ्कस्तत्र श्लोकचतुष्टयम् ।।

इस अङ्क में नाटक की नायिका शकुन्तला का पतिगृह गमन का वर्णन किया गया है, अतः **इस अङ्क का यही भाग प्रधान** है, शेष कुसुमावचयन, दुर्वासाः शाप, तथा उसका मोक्षणादि घटनायें जो कि उसके पतिगृह गमन के पूर्व दिखलाई गई हैं गौण हैं। अतः इस अङ्क में प्रायः **करुण रस** है और वह नायिकागत रति के उद्बोधन के प्रदर्शन द्वारा शृंगार **रस का अङ्ग बन गया है** ।

यहाँ अर्थद्योतनिका के अनुसार चतुर्थ अंक से लेकर पंचम अंक के 'इति यथोक्त करोति' तक गर्भ सन्धि चलती है। **"उद्भेद स्तस्य बीजस्य प्राप्तिरप्राप्ति रेव च, पुनश्चान्वेषणं यत्र स गर्भः परिकीर्तितः"** अर्थात् जहाँ बीज रूप में आरब्ध मुख्य कथा वस्तु का उद्भेद हो अर्थात् वह प्रकट हो जाये पर उसकी प्राप्ति (फलावाप्ति) तथा अप्राप्ति दोनों ही साथ साथ चलें अप्राप्ति होने पर बार-बार उनकी प्राप्ति के लिए उसका अन्वेषण किया

प्रियम्वदा—वीसद्धा हाहि । ण तादिसा आकिदिविसेसा गुणविरोहिणो होति । तादो दाणि इमं वुत्तंतं सुण्णिअ ण आणे किं पडिवज्जिस्सदि त्ति । [विस्रब्धा भव । न तादृशा आकृतिविशेषा गुणविरोधिनो भवन्ति । तात इदानीमिमं वृत्तान्तं श्रुत्वा न जाने किं प्रतिपत्स्यत इति ।]

अनुसूया—जह अहं दक्खामि, तह तस्स अणमदं भवे । [यथाहिं पश्यामि, तथा तस्यानुमतं भवेत् ।]

प्रियम्वदा—अहं विअ ? । [कथमिव ? ।]

जाय वहाँ गर्भ सन्धि होती है । प्रस्तुत नाटक की पूर्व अंक त्रय गत सन्धियों से तो प्राप्ति दिखलाई गई है और इस अंक में दुर्वासा के शाप से अप्राप्ति तथा पञ्जम में अँगूठी मिल जाने से फिर फल प्राप्ति दिखलाई गई है अतः यहाँ गर्भ सन्धि है । जैसा कि धनञ्जय ने भी कहा है "**गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहुः । द्वादशाङ्गः पताका स्यान्नवाप्राप्तिसम्भवः ।** अर्थात् बीज के दिखाने के बाद फिर से नष्ट हो जाने पर उसका बार बार जहाँ अन्वेषण किया जाता है वहाँ गर्भ सन्धि होती है । इसके बारह अंग होते हैं । इसमें नियमानुसार पताका (अर्थ प्रकृति) तथा प्राप्ति सम्भव (अवस्था) का होना आवश्यक है तथापि पताका का होना आवश्यक नहीं परन्तु प्राप्तिसम्भव नामक कार्यावस्था अवश्य होनी चाहिये । इस सन्धि में फल प्राप्ति की संभावना तो रही है पर फल का पूर्ण निश्चय नहीं हो पाता । प्रस्तुत गर्भ सन्धि में पताका नहीं है परन्तु प्राप्तिसम्भव या प्राप्त्याशा रूप कार्यावस्था है । "**प्राप्त्याशा तु महार्थस्य सिद्धिसद्भावभावना**" के अनुसार यहाँ शकुन्तला रूप महान् अर्थ (प्रयोजन) की राजा को प्राप्ति की संभावना होती है । गर्भ सन्धि के १२ अंगों का यथास्थान निर्देश किया जायेगा "**आभूताहरणं मार्गो रूपोदाहरणे क्रमः, संग्रहश्चानुमानञ्च तोटकाधिवले तथा, उद्वेग संभ्रमाक्षेपा इमे ज्ञयाश्च द्वादश ।**"

परन्तु किशोरकेलि के अनुसार इस अंक से लेकर षष्ठांक समाप्ति पर्यन्त विमर्शसन्धि है अतएव यहाँ नियताप्ति रूप कार्यावस्था है ।

स्नेहाधिक्यवश निरन्तर हृदय पथ वर्तिनी शकुन्तला के योगक्षेम की अभिलाषा करती हुई अनुसूया प्रियम्वदा से कहती है :

अनुसूया—हे प्रियम्वदा ! यद्यपि गान्धर्व विवाह विधि द्वारा (गान्धर्व विवाह की व्याख्या तृतीयांक में की जा चुकी है) निर्वृत्तकल्याणा=निर्वृत्तं जातं निष्पन्नं कल्याणं मङ्गलं मनोरथ सिद्धिः यस्याः सा "कल्याणं मङ्गलेऽपि च इति विश्वः) अर्थात् सफल मनोरथ हुई शकुन्तला (अनुरूपं योग्यं भर्तारं पति गच्छति; अनुरूपभर्तृगामिनी) अपने योग्य ही पति को प्राप्त हुई है (सम्वृत्ता प्राप्त हुई हैं) इति=इस कारण में मेरा हृदय (निर्वृतम्=सुखितं सुस्थीभूतम्) सुखी हो गया है तो भी इतनी बात चिन्तनीय है ।

प्रियम्वदा—क्यों ?

अनुसूया—आज वह राजर्षि दुष्यन्त (इष्टिम्=यज्ञ को पूर्णतया समाप्त कर ऋषियों के द्वारा (अपनी राजधानी को जाने के लिए) अनुज्ञात अपने नगर में प्रवेश कर अपने अन्तःपुर में प्राप्त (मिलित) इधर के वृत्तान्त का स्मरण करेगा या नहीं अर्थात् आज यज्ञ समाप्त कर ऋषियों ने उस राजर्षि दुष्यन्त को विदा कर दिया है अब वह अपने नगर में जाकर तथा अपने अन्तःपुर की रानियों से मिल कर इधर के इस शकुन्तला सम्बन्धी विवाहादि कार्य का स्मरण करेगा या नहीं, (यह बात विचारणीय है) ।

अनुसूया—गुणवदे कण्णआ पठिवादणिज्जे त्ति अअं दाव पढमो संकप्पो। तं जइ देव्वं एव्व संपादेदि णं अप्पआसेण किदत्थो गुरुअणो। [गुणवते कन्यका प्रतिपादनीयेत्ययं तावत्प्रथमः संकल्पः। तं यदि दैवमेव संपादयति नन्वप्रयासे कृतार्थो गुरुजनः।]

प्रियम्वदा—(पुष्पभाजनं विलोक्य।) सहि ! अवइदाइं बलिकम्मपज्जत्ताइं कुसुमाइं [सखि ! अवचितानि बलिकर्मपर्याप्तानि कुसुमानि।]

अनुसूया—णं सहीए सउंदलाए सोहग्गदेवआ अच्चणीआनु। [सख्याः शकुन्तलायाः सौभाग्यदेवताऽर्चनीया।]

प्रियम्वदा—जुज्जदि [युज्यते]

(इति तदेव कर्मारभेते।)

(नेपथ्ये।)

अयमहं भाः।

अनुसूया—(कर्णं दत्वा।) सहि ! अदिधीण विअ णिवेदिदं [सखि ! अतिथीनामिव निवेदितम्।]

(इससे वक्ष्यमाण **दुर्वासा के शापवश राजा का शकुन्तला को भूल जाना सूचित** किया **गया है। तथा इससे सखीगत वितर्क चिन्ता विषाद आदि व्यभिचारिभावों की सूचना दी गई है जिससे परिपुष्ट शकुन्तलागत रति प्रधानतया ध्वनित होती है)**।

प्रियम्वदा—तुम इस विषय में विश्वास रखो अर्थात् राजा इस सब वृत्तान्त का स्मरण कर शकुन्तला को शीघ्र ही अपने अन्तःपुर को ले जायेगा इसमें सन्देह नहीं। क्योंकि सामुद्रिक-शास्त्र में वर्णित गुणों से विशिष्ट आकृतियाँ (स्वरूप) कभी गुण रहित नहीं होतीं अर्थात् सामुद्रिक शास्त्र में जिन विशिष्ट गुणों का वर्णन है वे गुण जिस व्यक्ति में पाये जाते हैं वह व्यक्ति उन गुणों के अनुसार ही कार्य करता है। तात्पर्य यह कि दुष्यन्त में वे सामुद्रिक शास्त्रोक्त विशिष्ट गुण विद्यमान हैं अतः उससे वञ्चना, विस्मरण आदि की शंका न करनी चाहिए। जैसा कि कहा गया है **"यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति"** तथा **आकारसदृशप्रज्ञः** अर्थात् विशिष्ट एवं असाधारण स्वरूप कभी गुण विरोधी नहीं होता, आकृति व गुण सदा साथ रहते हैं।

अब पिता इस वृत्तान्त को सुनकर न जाने क्या विचार करेंगे। प्रियम्वदा के कहने का तात्पर्य यह है कि इस बात की तो कोई चिन्ता नहीं कि दुष्यन्त शकुन्तला को भूल जायेगा परन्तु चिन्ता इस बात की है कि पिता कण्व इस समाचार को सुन कर न जाने क्या सोचेंगे, वह इस कार्य को अनुमोदित करेंगे या नहीं यह बात चिन्तनीय है।

अनुसूया—जैसा कि मैं समझती हूँ तदनुसार तो उन्हें यह अनुमत ही होगा अर्थात् वे इस कार्य का अनुमोदन ही करेंगे।

प्रियम्वदा—क्यों, कैसे :—(अर्थात् तुम कैसे जानती हो कि वे इसका समर्थन ही करेंगे)।

अनुसूया—गुणवान् अनुरूप वर को कन्या देनी चाहिए (सभी का) यह प्रथम (मुख्य) संकल्प होता है अर्थात् सभी लोगों का यह मुख्य संकल्प (मानसिक कर्म) होता है कि कन्या किसी योग्य वर को दी जाय और यदि भाग्य ही इस कार्य को पूरा कर दे तो यह निश्चय है (ननु) कि तब तो गुरुजन (पिता आदि) बिना किसी परिश्रम के ही सफल मनोरथ (कृतार्थ) हो गये, अर्थात् पिता आदि के द्वारा, परिश्रम साध्य कार्य, (कन्या का योग्य वर को प्रदान करना यदि भाग्य से अपने आप ही कर दिया जाय अर्थात् दैवगति से ही यदि

प्रियम्वदा—णं उडजसंणिहिदा सउंदला। (आत्मगतम्।) अज्ज उण हिअएण असंणिहिदा। [ननूटजसंनिहिता शकुन्तला। अद्य पुनः हृदयेनासंनिहिता।]

अनुसूया—होदु अलं एत्तिएहिं कुसुमेहिं। [भवतु अलमेतावद्भिः कुसुमैः।]

(इति प्रस्थिते)

(नेपथ्ये)

आः अतिथिपरिभाविनि !

विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा
तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम्।
स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि
सन्कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव ॥ १ ॥

कन्या योग्य वर को प्राप्त करले तब तो पिता आदि बिना किसी परिश्रम आदि के संतुष्ट हो ही जायेंगे इसमें सन्देह ही क्या। अतः मेरी समझ से तो पिता कण्व इस कार्य का सहर्ष समर्थन करेंगे।

प्रियम्वदा—(फूलों की डलिया को देखकर) हे सखि अनुसूये ! वलिकर्म (पूजा कर्म—देवार्चन रूप कार्य) के लिए पर्याप्त फूल (हम लोगों ने) चुन लिए हैं (अर्थात् अब अधिक फूलों की आवश्यकता नहीं, हमें अब चलना चाहिए)।

अनुसूया—शकुन्तला के सौभाग्य देवता की भी तो पूजा करनी है। (अतः और भी फल चुन लेना चाहिए)

प्रियम्वदा—उचित है (अतः और भी फूल तोड़ने लगती हैं)

नेपथ्य में

हे हो, देखो, यह मैं हूँ !

अनुसूया—(कान लगाकर) ज्ञात होता है कि अतिथियों को बुलाना है अर्थात् ऐसा जान पड़ता है कि कोई अतिथि बुला रहा है।

प्रियम्वदा—कुटिया में शकुन्तला तो (है ही) (उटज=पर्ण कुटी, सन्निहिता=उपस्थिता) अर्थात् (वही अतिथि सत्कार कर लेगी, हम लोगों को जाने की आवश्यकता नहीं)।

(परन्तु इतना कहने के बाद वह फिर सोचती है कि) किन्तु आज तो वह हृदय से असन्निहित=अनुपस्थित है अर्थात् उसका हृदय तो दुष्यन्त के पास है, वह तो केवल शरीर मात्र से आश्रम में है अतः उसका होना और न होना बराबर है।

अनुसूया—(यह सुन कर कहती है) होगा—अब रहने दो, इतने ही फूल पर्याप्त हैं।

(दोनों चलने लगती हैं)

(नेपथ्य में)

आः इति कोपसूचक अव्यय है। अतिथि का तिरस्कार करने वाली !

श्लोक १ अन्वयः—अनन्यमानसा यं विचिन्तयन्ती सती त्वं उपस्थितं तपोधनं मां न वेत्सि, प्रमत्तः प्रथमं कृतां कथां इव स बोधितः अपि सन् त्वां न स्मरिष्यति।

प्रियम्वदा—हद्धी। अप्पिअं एव्व संवुत्तं। कस्सि पि पूआरुहे अवरद्धा सुण्णहिअआ सउंदला। (पुरोऽवलोक्य।) णहु जस्सि कस्सि पि। एसो दुव्वासो सुलहकोवो अहेसी। तह सविअ वेअबलुप्फुल्लाए दुव्वाराए गईए पडिणिवुत्तो। को अण्णो हुदवहादो दहिदुं पहवदि?। [हा धिक्। अप्रियमेव संवृत्तम्। कस्मिन्नपि पूजार्हेऽपराद्धा शून्यहृदया शकुन्तला। न खलु यस्मिन्कस्मिन्नपि। एष दुर्वासाः सुलभकोपो महर्षिः। तथा शप्त्वा वेगबलोत्फुल्लाया दुर्वारया गत्या प्रतिनिवृत्तः। कोऽन्यो हुतवहाद्दग्धुं प्रभवति?।]

शब्दार्थ—अनन्यमानसा=एकाग्रचित्ता, विचिन्तयन्ती=विशेष रूप से स्मरण करती हुई, वेत्सि=जानती हो, प्रमत्तः=प्रमादी, असावधान, प्रथमं कृताम्=पहिले कही हुई, कथां=बात को, बोधितः अपि=याद दिलाने पर भी।

अनुवाद—एकाग्र चित्त (होकर) तुम जिस व्यक्ति का विशेष रूप से चिन्तन कर रही हो और उपस्थित हुए मुझ तपोनिधि को नहीं जानती हो वह व्यक्ति याद दिलाने पर भी तुम्हारी उसी प्रकार याद न करेगा जैसे प्रमादी व्यक्ति पहिले कही हुई बात की याद नहीं करता।

व्याख्या—एकाग्र चित्त होकर तुम जिस व्यक्ति का विशेष रूप से चिन्तन कर रही हो और मुझे उपस्थित हुए तपोनिधि महान् तपस्वी दुर्वासा को नहीं जानती हो अर्थात् तू एक मात्र अनन्य चित्त होकर जिस व्यक्ति के स्मरण में लीन है अतएव आश्रम पर उपस्थित मुझ तपस्वी को जानती तक नहीं वह व्यक्ति याद दिलाने पर भी तुझे उसी प्रकार भूल जायगा जैसे कोई प्रमादी व्यक्ति अपनी पहिले कही हुई बात को भूल जाता है और फिर याद दिलाने पर भी उसे उस बात की याद नहीं आती।

विशेष:—अनन्यमानसा=जिसका मन दुष्यन्त के अतिरिक्त और किसी वस्तु पर न था। विचिन्तयन्ती=विशेष रूप से मन से ध्यान करती हुई। उपस्थितम्=आतिथ्य प्राप्ति के लिए स्वयमेव उपस्थित हुए—सामने खड़े हुए इससे अपराध का गौरव सूचित किया गया है—वास्तव में सामने खड़े हुए को भी न देखना उसका बड़ा भारी अपमान करना है और एतावता बड़ा अपराध है जिस किसी साधारण व्यक्ति का अपराध नहीं प्रत्युत तपस्याओं के आधारभूत तपोनिधि महान तपस्वी। इससे उनके अतिथिसत्कार की अत्यन्त अनिवार्य आवश्यकता सूचित होती है तथा उनका निग्रह समर्थ होना भी सूचित होता है। जबकि अतिथि मात्र पूजनीय है तो तपोनिधि की पूजा न करना कितना बड़ा अपराध है। माम्=जिस किसी तपस्वी को नहीं प्रत्युत दुर्वासा जैसे तपोनिधि को जो कि अपने कोप के लिए विख्यात है। न वेत्सि=मेरे आह्वान पर भी नहीं जानती। न स्मरिष्यति=तुमसे उसने कभी सम्पर्क, संयोग प्राप्त किया था इस बात को भूल जायेगा, बस यही मेरे शाप का फल तुम्हें भोगना पड़ेगा।

य त्वं चिन्तयसे बाले! मनसाऽप्यनन्यवृत्तिना

विस्मरिष्यति स त्वां वै, अतिथौ मौनशालिनीम्॥ पद्मपुराण। **काव्यलिंग, श्लेष, परिकर, पूर्णोपमा, छेकानुप्रास वृत्यनुप्रास।** **वंशस्थ** छन्द है। **जतौ तु वंशस्थ मुदीरितं जरा** अर्थात् जिसमें जगण तगण जगण रगण क्रम से १२ वर्ण होते हैं।

"। S । S S । । S । S । S"

वि चि न्त य न्ती य, म न न्य, मा न सा,

"विवाहो भोजनं शापोत्सर्गो मृत्युरतिं तथा" इस वचन के अनुसार शाप और रति आदि के वर्णन का निषेध, **विष्कम्भक** के अतिरिक्त स्थलों में अर्थात् अङ्कों में है, विष्कम्भक

अनुसूया—गच्छ। पादेसु पणमिअ णिवत्ते हि णं जाव अहं अग्घोदअं उवकप्पेमि। [गच्छ। पादयोः प्रणम्य निवर्तयैनं यावदहमर्घोदकमुपकल्पयामि।]

प्रियम्वदा—तह [तथा।] (इति निष्क्रान्ता।)

अनुसूया—(पदान्तरे स्खलितं निरूप्य।) अव्वो ! आवेगक्खलिदाए गईए पब्भट्टं मे अग्गहत्थादो पुप्फभाअणं। [अहो ! आवेगस्खलितया गत्या प्रभ्रष्टं ममाग्रहस्तात्पुष्पभाजनम्।] (इति पुष्पोच्चयं रूपयति।)

(प्रविश्य।)

प्रियम्वदा—सहि ! पकिदिवक्को सो कस्स अणुणअं पडिगेण्हदि ?। किं वि उण साणुक्कोसी किदो। [सखि ! प्रकृतिवक्रः स कस्यानुनयं प्रतिगृह्णाति ? किमपि पुनः सानुक्रोशः कृतः।]

अनुसूया—(सस्मितम्।) तस्सिं वहु एद पि कहेहि। [तस्मिन्बह्वे तदपि कथय।]

प्रियम्वदा—जदा णिवत्तिदुं ण इच्छदि तदा विण्णविदो मए। भअवं ! पढम त्ति पेक्खिअ अविण्णादतवप्पहावस्स दुहिदुजणस्स भअवदा एक्को अवराहो मरिसिदव्वोत्ति। [यदा निवर्तितुं नेच्छति तदा विज्ञापितो मया। भगवन् ! प्रथम इति प्रेक्ष्याऽविज्ञाततपः प्रभावस्य दुहितृजनस्य भगवतैकोऽपराधो मर्षितव्य इति]

में तो किया जा सकता है। "शापाद्यैः सान्तरायश्च स विमर्श इति स्मृतः" सा० द० के अनुसार यह विमर्श सन्धि ही है क्योंकि यहाँ शाप का उल्लेख है। यदि राजा स्वतः भूल जाता तो रस-दोष हो जाता अतएव कवि ने शाप का निर्देश किया है, जो कि रस के पोषण के लिए है।

वि+चिती संज्ञाने धातोः शतृ स्त्रीलिंगे ङीप् प्रत्यये विचिन्तयन्ती। विद् ज्ञाने लटि रूपम् वेत्सि। वुधण्यन्तात् क्त=वोधितः।

संस्कृत व्याख्या—नास्ति दुष्यन्तातिरिक्ते अन्यस्मिन् विषये मानसं, मनः, चित्तं, यस्याः सा अनन्यमानसा=एकाग्रचित्ता त्वं (शकुन्तला) यं=पुरुषम्ः विशेषेण चिन्तयन्ती स्मरन्ती सती उपस्थितं=आतिथ्यसत्कारप्राप्तये स्वयमेव गृहद्वारि त्वत्समक्षमागतं न तु दूरस्थितं (अनयोक्त्या तस्या अपराधस्यातिशयत्वं द्योत्यते) तपसां ब्रह्मचर्याद्याश्रमविहितधर्माणां धनम् आधारभूतम् आश्रयं वा तं तपोधनम् तपोमूर्तिम् (अनयोक्त्या स्वस्यावश्यपूज्यत्वं निग्रहानुग्रहसामर्थ्यम् अनादरे च दोषाधिक्यत्वञ्च ध्वन्यते) "अतिथिः किल पूजार्हः प्रकृतोऽपि विजानता" इति वचनेनातिथिमात्रस्य पूज्यत्वमुक्तम्, किमुत वक्तव्यम् तपोधनस्य इति" मां=यं किमपि न, किन्तु सुलभकोपं दुर्वाससम् इत्यर्थः न वेत्सि (मया आहूता बोध्यमानापि) न जानासि स पुरुषः अपि=त्वत् त्वत्सम्बन्धि-चिह्नप्रदर्शनेन स्मारितः अपि त्वां (तथैव) न स्मरिष्यति अपि शब्देन 'स्वयं तु न स्मरिष्यति एव परन्तु ज्ञापितोऽपि न स्मरिष्यति इति द्योत्यते। (यथा) (कोऽपि) प्रकर्षेण मत्तः प्रमत्तः=महान् प्रमादी अवधानरहितः जनः प्रथमं=पूर्वं कृतां=कथितां कथां=वार्ताम् बोधितः अपि (न स्मरति)। प्रमादोऽनवधानता इत्यमरः।

यतः सा विचिन्तयन्ती अतः अनन्यमानसा अस्ति इति हेतुहेतुमद्भावात् काव्यलिङ्गालंकारः। तपोधनमित्यत्र परिकरालंकारः साभिप्राय विशेषणत्वात्। श्लेषालंकारः, पूर्णोपमालंकारश्च उत्तरार्धे : छेकानुप्रासः वृत्त्यनुप्रासः। वंशस्थं वृत्तम् "जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ" इति तल्लक्षणम्।

अनुसूया—तदो तदो ? । [ततस्ततः ? ।]

प्रियम्वदा तदो मे वअणं अण्णहाभविदु णादिहदि । किंदु अहिण्णाणाभरण-दसणेण सावो णिवतिस्सदि त्ति मतअंतो सअं अंतरिहिदो । [ततो मे वचनमन्यथाभवितुं नार्हति । किंत्वभिज्ञानाभरणदर्शनेन शापो निवतिष्यत इति मन्त्रयन् स्वयमन्तर्हितः ।]

अनुसूया—सक्कं दाणि अस्ससिदु । अत्थि तेण राएसिणा संपत्थिदेण सणामहेअंकिअं अंगुलीअअं सुमरणीअंत्ति सअं पिणद्धं । तस्सिं साहीणोबाआ सउंदला भविस्सदि । [शक्यमिदानीमाश्वासयितुम् । अस्ति तेन राजर्षिणा संप्रस्थितेन स्वनामधेयांङ्कितमङ्गुलीयकं स्मरणीयमिति स्वयं पिनद्धम् । तस्मिनन्स्वाधीनोपाया शकुन्तला भविष्यति ।]

प्रियम्वदा—सहि ! एहिः देवकज्जं दाव णिव्वत्तेम्ह [सखि ! एहि; देवकार्यं तावन्निर्वर्तयावः ।]

(इति परिक्रामतः)

प्रियम्वदा—(आगे देखकर) हाय हाय, बड़ा ही बुरा हुआ । किसी पूज्य व्यक्ति (के साथ) शून्य हृदया (दुष्यन्तासक्त चित्त होने के कारण) शकुन्तला ने अपराध किया है । जिस किसी अर्थात् साधारण व्यक्ति के साथ नहीं (अपराध किया है) प्रत्युत यह शीघ्र क्रुद्ध हो जाने वाले महर्षि दुर्वासा (हैं) तथा=पूर्वोक्त प्रकार से शाप देकर वेगवशात् बड़ी हुई दुर्निवार गति से अर्थात् बड़े वेग से लौट गए हैं । कौन दूसरा अर्थात् अग्नि के अतिरिक्त और कौन । हुतवह=अग्नि (हुत=घृतादि द्रव्य को, वह=ले जाने वाला) अर्थात् अग्नि के अतिरिक्त और अन्य कौन सा पदार्थ ज़ला सकता है ? अर्थात् अग्नि में ही शीघ्र जला देने को शक्ति है उसी प्रकार थोड़े से अपराध पर भी दुर्वासा ही शाप देने में समर्थ हैं अन्य कोई तपस्वी इतना क्रोधी नहीं है ।

अनुसूया—जाओ, पैरों में प्रणाम करके अथवा चरणवन्दना कर इनको लौटा लाओ, तब तक मैं उनके लिए) अर्घोदक (अर्घ के लिए जल) तैयार किए लेती हूँ ।

प्रियम्वदा—तथा अर्थात् ऐसा ही करती हूँ ऐसा कह कर निकल जाती है ।

अनुसूयाः—(अर्घोदक लाने के लिए कुटी की ओर एक पग चल कर दूसरे ही पग पर पैरो का लड़खड़ाना आङ्गिकाभिनय के द्वारा दिखलाती हुई) आश्चर्य की बात है कि अत्यन्त शीघ्र चलने के कारण प्रस्खलित गति के द्वारा मेरे हाथ के अग्रभाग से फूलों की डलिया गिर गई है (अतः वह फिर फूलों को एकत्रित करने लगती है)

(**अनेनापशकुनेन दुर्वाससोऽनिवृत्तिः सूचिता**)

(प्रवेश करके)

प्रियम्वदा :—हे सखी ! वह तो (दुर्वासा) स्वभाव से ही कुटिल हैं, वह किसकी प्रार्थना को स्वीकार कर सकता है अर्थात् किसी की भी नहीं किन्तु मैंने फिर भी कुछ कृपालु बनाया है (सानुक्रोशः=कृपा दया) "कृपा दयानुकम्पा स्यादनक्रोशोऽपि च इत्यमरः ।

अनुसूया :—(मुस्कराते हुए) उसके विषय में इतना ही बहुत है अर्थात् यदि वे थोड़े से दयालु हो सके यही बहुत है, कथय=कहो किस प्रकार वे दयालु बने ।

प्रियम्वदा :—(जब मेरे विनय करने पर भी) उन्होंने लौटाना न चाहा तब मैंने उससे कहा हे भगवन्, यह देखकर, कि यह उसका प्रथम अपराध है अर्थात् इसके पहिले उसने कोई अपराध नहीं किया, तपस्या के प्रभाव को न जानने वाली कन्या के एक अपराध को क्षमा कर देना चाहिये अर्थात् यदि वह तप के प्रभाव को जानती होती तो ऐसा अपराध

प्रियम्वदा—(विलोक्य ।) अणसूए ! पेक्ख दाव ! वामहत्थोवहिदअवणा आलिहिदा विअ पिअसही भत्तु गदाए चिंताए अत्ताणं पि एसा विभावेदि । किं उण आअंतुअं ? [अनुसूये ! पश्य तावत्; वामहस्तोपहितवदनालिखितेव प्रियसखी । भर्तृगतया चिन्तयात्मानमपि नैषा विभावयति । किं पुनरागन्तुकम् ? ।]

अनसूया—पिअंवदे ! दुवेणं एव्व णं णो मुहे एसो वुत्तंतो चिट्ठदु । रक्खिदव्वा खु पकिदिपेलवा पिअसही । [प्रियंवदे ! द्वयोरेव ननु नौ मुख एष वृतान्तस्तिष्टतु । रक्षितव्या खलु प्रकृतिपेलवा प्रियसखी ।]

प्रियम्वदा—को णाम उण्होदएण णोमालिअं सिंचेदि ? । [को नामोष्णोदकेन नवमालिकां सिञ्चति ? ।]

(इत्युभे निष्क्रान्ते ।)

विष्कम्भकः ।

(ततः प्रविशति सुप्तोत्थितः शिष्यः ।)

शिष्य :—वेलोपलक्षणार्थं मादिष्टोऽस्मि तत्रभवता प्रवासादुपावृत्तेन काश्यपेन । प्रकाशं निर्गतस्तावदवलोकयामि कियदवशिष्टं रजन्या इति । (परिक्रम्यावलोक्य च ।) हन्त प्रभातम् । तथा हि,—

कभी न करती, अतः इस अपराध का कारण उसका अज्ञान है, उसने जान बूझ कर अपराध नहीं किया अतः क्षम्य है । जैसी यह कण्व की पुत्री है वैसी ही आपकी भी, अतएव दुहिता-बालिका होने के कारण ही आपके तप के प्रभाव को न जान सकी थी अतएव उसका यह एक और प्रथम अपराध क्षमा करने योग्य है । इससे परिहर नामक नाट्यालंकार का निर्देश किया गया है । परिहार इति प्रोक्तः कृतानुचित मार्जनम् ।" अर्थात् जहाँ अपराध के लिए क्षमा चाही जाये ।

अनुसूया :—तब क्या हुआ ?

प्रियम्वदा :—ततः (इस पर उन्होंने कहा) मेरा वचन अन्यथा असत्य नहीं होना चाहिए अर्थात् जो मैंने कहा है वह अवश्य होगा, परन्तु अभिज्ञान—पहचान के लिए कोई अलंकार दिखलाने से अर्थात् जब उस प्रियजन को कोई अभिज्ञान अलंकार दिखलाया जायेगा इस शाप की निवृत्ति हो जायेगी, शाप समाप्त हो जायेगा, वह उसे स्मरण करने लगेगा ऐसा कहते हुए ही वह स्वयं अन्तर्धान हो गया ।

अनुसूया :—अब धीरज बँधाया जा सकता है । उस राजर्षि दुष्यन्त ने जाते समय, अपने नाम से अंकित एक अँगूठी अपने आप पहना दी थी, जिससे कि वह स्मरण रखने का साधन हो सके, वह अँगूठी अपने पास है ही, अतः उस शाप विमुक्ति के विषय में (तस्मिन्) शकुन्तला के पास स्वयं स्वाधीन उपाय है अर्थात् इस शाप की मुक्ति के लिये उसे अन्य किसी की आवश्यकता न पड़ेगी, अंगूठी दिखाकर वह स्वयं शाप के प्रभाव को दूर कर सकेगी ।

प्रियम्वदा :—सखी ! आओ, तब तक (शकुन्तला) का देव कार्य (पूजा आदि) सम्पन्न करें ।

(यह कह कर दोनों जाती हैं)

प्रियम्वदा :—(देखकर) अनुसूया ! देखो तो, प्रिय सखी शकुन्तला, अपने बायें हाथ पर मुख रखे हुए एक चित्र जैसी (अतिनिश्चल भाव से) (बैठी है) (वामहस्तोपहितवदना

यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीना—
माविष्कृतोऽरुणपुरःसर एकतोऽर्कः ।
तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्यां
लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु ॥२॥

होना स्त्रियों का स्वभाव है) और स्वपति विषयक चिन्ता से (जब कि) यह स्वयं अपने को नहीं समझ पा रही है (कि मैं क्या कहूँ, कहाँ हूँ, क्या कर रही हूँ) तो वह आगुन्तक अतिथि को (दुर्वासा) कसे जान सकती है। तात्पर्य यह है कि यह पति के ध्यान में इतनी विभोर है कि स्वयं अपने ही को भूल रही है तो आगुन्तक को कैसे जान सकती थी। इस प्रकार चिन्तानुभाव का वर्णन किया हैं, जैसा कि कहा गया है :—

हस्ते कपोल मालोलं पथि चक्षुर्मनस्त्वयि । इत्यादि ।
द्वारि चक्षु रधिपाणि कपोलम् । इत्यादि ।

अनुसूया :—हे प्रियम्वदा ! ननु—मेरी अनुमति है कि यह वृत्तान्त (दुर्वासा का शाप) हम दोनों ही के मुख में रहे अर्थात् यह वृत्तान्त हम दोनों तक ही रहे अन्य कोई न जान सके, (क्योंकि) स्वभाव से ही कोमल प्रिय सखी शकुन्तला की तो रक्षा करनी ही है, अर्थात् शकुन्तला एक तो स्वभावतः सुकुमार है दूसरी ओर यह वज्राघातसम शाप वृत्तान्त जब वह सुनेगी तो उसका जीवन ही संशय में पड जायेगा अतः उसे यह समाचार न सुनाकर उसके जीवन की रक्षा करनी है।

प्रियम्वदा—कौन ऐसा होगा जो गरम जल से नव मालिका को सींचेगा, तात्पर्य यह है कि शकुन्तला को शाप वृत्तान्त सुनाना गरम जल से नव मालिका का सींचना है, प्रकृति सुकुमार शकुन्तला इस शाप को सुनकर उसी प्रकार सूख जायेगी जैसे सुकुमार नव-मालिका गरम जल से सिञ्चित हो सूख सकती है अतः ऐसा कोई क्यों करेगा। यह वैधर्म्य दृष्टान्त है।

(यह कह कर दोनों चली जाती हैं)

विष्कम्भक :—इसका लक्षण पहिले लिखा जा चुका है। अर्थात् भूत तथा भावी कथांश विष्कम्भक के द्वारा सूचित किया जाता है यहाँ 'गान्धर्वेण विवाहविधना' इत्यादि से पूर्ववृत्त की सूचना तथा आभरणाभिज्ञान दर्शनेनास्याः शापो निर्वर्तिष्यते इत्यादि से भावी कथांश की सूचना दी गई है। यह मध्यम पात्र सखियों द्वारा केवल प्राकृत भाषा में ही प्रयुक्त हुआ है अतः शुद्ध विष्कम्भक है।

तथा यहाँ पर "प्रियम्वदे ! द्वयोरेव" से यहाँ तक अभूताहरण नामक गर्भ सन्धि का प्रथमाङ्ग निर्दिष्ट हुआ है "कपटाश्रयं च यद्वाक्यम्" अभूताहरणं विदुः अर्थात् जहाँ पर कपट के द्वारा प्राप्ति कराने की चेष्टा की जाय।

कुलपति कण्व के आश्रम में आगमन की सूचना देने के लिए कवि कण्वशिष्य का प्रवेश कराता है "ततः प्रविशतीत्यादि" तब सोकर उठा हुआ शिष्य प्रवेश करता है।

शिष्य—प्रवास (विदेश—सोमतीर्थ) से लौटे हुये (उपावृत्तेन) पूज्य काश्यप महर्षि कण्व ने समय का निश्चय करने के लिए (समय—होम समय का उपलक्षण है) मुझे आज्ञा दी है, इसलिये बाहर प्रकाश में आकर देखूँ रात कितनी शेष रह गई (घूम कर और देख कर) ओह ! प्रातःकाल हो गया, क्योंकि :—

श्लोक १ अन्वय—ओषधीनां पतिः एकतः अस्तशिखरं याति, अरुणपुरस्सरः अर्कः एकतः आविष्कृतः, तेजोद्वयस्य युगपद व्यसनोदयाभ्याम् लोकः आत्मदशान्तरेषु नियम्यते इव।

अपि च,-

अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती मे
दृष्टिं न नन्दयति संस्मरणीयशोभा ।

शब्दार्थ—औषधीनां=सस्यादिकों का, तृण, लता, गुल्म, व्रीहि यवादिक सस्यों का पतिः=स्वामी-रक्षक, (सस्यादिकों के असमय विनाशादि विपत्तियों के विनाशक तथा सम्पूर्ण जीव लोक के प्राण, विकास के एक मात्र साधन होने के कारण चन्द्रमा को औषधिपति कहा गया है) एकतः=एक ओर अर्थात् पश्चिम दिशा में, अस्तशिखरं=अस्ताचल की चोटी पर, अरुणपुरस्सरः=अरुण नामक (अनुरु जिसका दूसरा नाम है) सूर्य का सारथी जिसके आगे आगे चल रहा है, अर्कः=सूर्य, एकतः=पूर्व दिशा में आविष्कृतः=प्रादुर्भुत हो रहा है उदय को प्राप्त हो रहा है। तेजोद्वयस्य=दो तेजों के (सूर्य चन्द्र रूप दो तेज) युगपत्=एक साथ ही, व्यसन (चन्द्र का अस्त होना, दुःख) उदय-सुख अर्थात् अस्त और उदय के द्वारा। आत्मदशान्तरेषु=अपनी भिन्न-भिन्न सुखात्मक एवं दुःखात्मक दवाओं में। नियम्यते=शिक्षित किया जाता है।

अनुवाद—औषधि पति अर्थात् चन्द्रमा एक ओर (पश्चिम दिशा में) अस्ताचल की चोटी पर जा रहा है अर्थात् अस्त हो रहा है। तथा दूसरी ओर (अर्थात्. पूर्व दिशा में सूर्य जिसका सारथी अरुण उसके आगे चल रहा है, उदित हो रहा है। दो तेजों के (सूर्य चन्द्र रूप दो तेज) एक साथ ही उदय और अस्त के द्वारा, अपनी-अपनी भिन्न दशाओं के विषय में लोक मानो नियन्त्रित किया जा रहा है।

व्याख्या—चन्द्रमा एक ओर पश्चिम दिशा में अस्त हो रहा है और दूसरी ओर पूर्व दिशा में अरुण को आगे कर सूर्य उदय हो रहा है इस प्रकार चन्द्र सूर्य रूप दो तेजों के अस्त और उदय के द्वारा इस संसार को अपनी दुःख सुखात्मक अवस्थाओं के विषय में मानो शिक्षा दी जा रही है तात्पर्य यह है कि चन्द्र सूर्य के अस्त उदय रूप विपत्ति सम्पत्ति अथवा दुःख सुख हेतुओं से मानो संसार को इस नियम का निर्देश कराया जा रहा है कि परिवर्तन-शील भिन्न-भिन्न दुःख सुखात्मक अवस्थायें सदा आती जाती ही रहती हैं न कोई सदा सुखी रह सकता है और न कोई सदा दुःखी, सम्पत्ति विपत्ति कालक्रमानुसार आया जाया करती हैं जो उदय होता है वह अस्त भी होता है इसी प्रकार अस्त होने वाला कभी उदित भी होता है। अतः मनुष्य को अभ्युदय काल में न तो हर्षित होना चाहिए और न विपत्ति काल में दुःखी होना चाहिए। सूर्य चन्द्र मानो अपने उदय अस्त द्वारा इस ईश्वरीय नियम की ओर संकेत कर रहे हैं—संसार को इससे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए और ह्रास तथा उदय को नित्य न मान कर दुःख एवं सुख के समय एक सा भाव रखना चाहिए जैसा कि नीतिकारों ने कहा है "**कस्यात्यन्तं सुखमुपगतं दुःखमेकान्ततो वा, नीचै र्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण**', अन्यत्रापि—

सुखं च दुःखं यदि वापि जन्तुर्दैवाधीनं विन्दते नात्मशक्तया,
तस्माद् दैवं बलवन्मन्यमानो न संज्वरेन्नापि हृष्येत्कदाचित् ।

इस श्लोक के पूर्वार्ध में **समासोक्ति** अलंकार है क्योंकि, जैसे कोई पुरुष जो पहिले समृद्धिशाली रहा है सहसा विपत्तिग्रस्त हो अपने सम्बन्धियों या आश्रितों को छोड़कर विवश हो पर्वतादि सून्य प्रदेश प्रदेश में चला जाता है, तथा जो अपने आश्रितों को अभ्युदय प्रदान कर स्वयं भी उदय को प्राप्त होता है, इस प्रकार चन्द्र सूर्य के अस्तोदय रूप में दो सत्पुरुषों के व्यवहार का यहाँ समारोप किया गया है।

यहाँ प्रस्तुत प्रभात वर्णन में चन्द्र सूर्य दोनों के प्रकाराणक होने के कारण **तुल्ययोगितालंकार**। "तेजोद्वयस्य व्यसनोदयाभ्याम्" में **यथासंख्यालंकार**, **हेतु अलंकार**, "नियम्यते

इष्टप्रवासजनितान्यबलाजनस्य
दुःखानि नूनमतिमात्रसुदुःसहानि ॥३॥

(प्रविश्यापटीक्षेपेण)

अनुसूया—जह वि णाम विसअपरम्मुहस्स वि जणस्स एदं ण विदिअं तह वि तेण रण्णा सउन्दलाए अणज्जं आअदिअं [यद्यपि नाम विषयराङ्मुखस्यापि जनस्यैतन्न विदितं तथापि तेन राज्ञा शकुन्तलायामनार्यमाचरितम् ।]

इव" यहाँ पर **क्रियोत्प्रेक्षालंकार**। इन सब अलंकारों का संकर है। **छेकानुप्रास**। **वृत्यनुप्रास** भी अलंकार है। **बसन्त तिलका छन्द** है (लक्षण लिखा जा चुका है)

यहाँ दृष्टान्त नामक नाट्य लक्षण है :

दृष्टान्तो यस्तु पक्षार्थं साधनाय निदर्शनम् ॥ सा० द० ॥

पुरः सरतीति पुरस्+सृ+अप्=पुरस्सरः। नि+यम् कर्मणि=नियम्यते।

संस्कृत व्याख्या—औषधीनां=सस्यादीनां पतिः ईश्वरः रक्षकः चन्द्रः, 'औषधयः फलपाकान्ताः" ओषधीशो निशापतिः इतिः चामरः। एकतः एकस्यां दिशि पश्चिमदिग्विभागे अस्तशिखरं अस्ताचलचूडाम् याति गच्छति, अरुणँपुरस्सरः अग्रगामी यस्य सः अरुणपुरस्सरः अरुणसारथिः, 'सूर्यसूतोऽरुणोऽनुरुः' इत्यमरः। अर्कः सूर्यः एकतः एकस्यां दिशि पूर्वदिशायां आविष्कृतः उदय आरभत प्रादुर्भूतः इत्यर्थः, तेजोद्वयस्य=चन्द्रस्य सूर्यस्य च युगपत्=एककालमेव व्यसनोदयाभ्याम्=व्यसनेन अस्तंगमनेन व्यसनावाप्त्या उदयेन वृद्धि गतेन आविर्भावेण च लोकः नित्यानित्यवस्तुविवेकरहितः सर्वोऽपि जनः आत्मदशान्तरेषु स्वस्वदुःखसुखात्मकावस्थाविशेषेषु नियम्यते शिक्ष्यते इव, इव, चन्द्रर्याभ्यां स्वैकीयास्तोदयरुपावस्थाविशेष प्रदर्शनेन ज्ञाप्यते इव लोकः। सर्वेषामेवेत्थमुदयह्रासौ जायेते नात्र चिन्ता विधेया, स्वस्वसम्पतिविपत्तिदशायां हर्षशोकाभ्यां न प्रतारणीया इति भावः।

और भी—अर्थात् प्रभातकालीन कमनीयता से आकृष्टदृष्टि होकर जल में कुमुदनी को देखता हुआ शिष्य प्रासङ्गिक चन्द्रवृत्तान्त से प्रस्तुत अर्थ को स्पष्ट करता है :—

श्लोक ३ अन्वय—अन्तर्हिते शशिनि संस्मरणीयशोभा सा एव कुमुद्वती मे दृष्टि न नन्दयति, अवलाजनस्य इष्टप्रवासजनितानि दुःखानि नूनं अति-मात्रसुदुःसहा नि (भवन्ति इति शेषः)

शब्दार्थ—अन्तर्हिते=अस्त हो जाने पर, संस्मरणीयशोभा=जिसका सौन्दर्य अच्छी तरह से स्मरण रखने योग्य है (यद्यपि वह सौन्दर्य इस समय देखने योग्य नहीं है केवल वह स्मरणीय है, क्योंकि चन्द्रमा के अस्त हो जाने के कारण अब उसका सौन्दर्य क्षीण हो गया है वह मुरझा गई है अतएव उसकी शोभा अब स्मरणीय ही है दर्शनीय नहीं। सा एव=वही अर्थात् जो कि चद्रोदय के समय विकसित एवं दर्शनीय शोभा वाली थी। नन्दयति=आनन्द देती है। अबला जनस्य=नारी जनस्य (अबला शब्द के प्रयोग से कवि का तात्पर्य उसमें दुःख का सुदुःसकत्व दिखाना है अतएव उसने स्त्रीजनस्य नहीं कहा)। इष्टप्रवासजनितानि=प्रियजन के विदेश गमन से होने वाले,—विदेशगत प्रियजन के वियोग से उद्भूत। नूनम्=निश्चय ही, अतिमात्रसुदुःसहानि=अत्यधिक दुःख से सहने योग्य।

अनुवाद—चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर, जिसका कि सौन्दर्य अब केवल सम्यक् रूप से स्मरणीय मात्र (न तु दर्शनीय) रह गया है, (ऐसी) वही कुमुदिनी मेरी दृष्टि को आनन्द नहीं देती। निश्चय ही, प्रियजन के देशान्तर चले जाने से उत्पन्न दुःख, स्त्री जाति के लिए अत्यधिक दुःख से सहने योग्य होते हैं।

शिष्य—यावदुपस्थितां होमवेलां गुरवे निवेदयामि ।

(इति निष्क्रान्तः)

अनसूया—पडिवुद्धा वि किं करिस्सं ? ण मे उइदेसु वि णिअकरणिज्जेसु हत्थपाआ पसरंति । कामो दाणिं सकामो होदु । जण असच्चसंधे जणे सुगहिआ सही पदं कारिदा । अहवा, दुव्वाससो कोवो एसो विआरेदि । अण्णहा कहं सो राएसी तारिसाणि मंतिअ एत्तिअस्स कालस्स लेहमेत्तं पि ण विसज्जेदि ? ता इदो

व्याख्या—चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर जिसका सौन्दर्य अब केवल सम्यक् रूप से स्मरणीय मात्र (न तु दर्शनीय) रह गया है (ऐसी) वही (जो कि चन्द्रोदय के समय प्रफुल्लित एवं अतिशय-सौन्दर्य शालिनी थी) कुमुदिनी मेरी (अर्थात् विषयादि विवेकशून्य तपस्वी की) दृष्टि को आनन्द नहीं देती (आनन्द प्रदाना भाव का कारण है चन्द्रमा का अस्त हो जाना और कुमुदिनी का मुरझा जाना, विषयादि विकार रहित तपस्वी शिष्य इस बात को नहीं जान सकता था अतएव उसे उस चन्द्र वियोग विधुरा कुमुदिनी को देखकर कुछ आनन्द प्राप्त न हो रहा था) क्योंकि प्रियजन के देशान्तर चले जाने के कारण उत्पन्न दुःख अबला जाति के लिये वास्तव में बड़ी ही कठिनता से सह्य होते हैं ।

प्रसंगानुसार इसका इस प्रकार भी कोई अर्थ करते हैं :—सा एव कुमुद्वती (कौ= पृथिव्यां मुद्वती हर्षयुक्ता इति कुमुद्वती) अर्थात् पृथिवी पर हर्षित रहने वाली अर्थात् शकुन्तला ही, शशिनि=लक्षणा द्वारा चन्द्रसदृश राजा अथवा चन्द्रवंशोत्पन्न राजा दुष्यन्त । अन्तर्हिते= असन्निहित, दूरंगत । अर्थात् यह वही प्रसन्नचित्ता शकुन्तला चन्द्रवंशीय राजा दुष्यन्त के स्वराजधानी को लौट जाने पर अब विरह दुःख से विगत कांन्ति हो जाने पर (संस्मरणीय शोभा=संस्मरणीय अर्थात् अदृश्य शोभा वाली) मेरी दृष्टि को आनन्द नहीं देती, वास्तव में प्रियजन वियोग । जन्य दुःख अबलाओं के लिए असह्य होते ही हैं । इस कथन से कवि ने शकुन्तला के राजगृह के लिए प्रस्थान की भी सूचना दी है ।

इस श्लोक के पूर्वार्ध में शशी व कुमुद्वती इन दोनों पर क्रमशः पुलिङ्ग वा स्त्रीलिङ्ग साम्य से नायक के परदेश चले जाने पर प्रोषितभर्तृका नायिका अपनी दृष्टि को आनन्द नहीं देती, इस अर्थानुरोध से नायक नायिका व्यवहार के समारोप करने से **समासोक्ति** अलंकार है ।

उत्तरार्ध में सामान्य में विशेष का समर्थन होने के कारण **अर्थान्तरन्यासालंकार** है । यह संस्मरणीय शोभा वाली है अतएव 'दृष्टिं न नन्दयति' इस कारण **काव्यलिङ्ग अलंकार** भी है। इन सबका अङ्गाङ्गिभाव रूप **संकर** है । तथा **छेक वृत्ति श्रुति अनुप्रास** भी हैं **वसन्ततिलका छन्द** है ।

यहाँ शकुन्तला का पतिगृह गमन के प्रति प्रस्थान सूचक तृतीय **पताका स्थानक** है "अर्थोपक्षेपणं यत्र न गूढं सविनयं भवेत् श्लिष्टा प्रत्युत्तरोपेतं तृतीयं तन्मतं तथा" मातृगुप्ताचार्य । यहाँ **समासोक्ति द्वारा प्रयुक्त पताका स्थानक** है ।

अन्तर्+धा+क्त=धा इत्यस्य हि आदेशः=अन्तर्हिते । सम्+स्मृ+अनी यर्= संस्मरणीया, प्र+वस्+घञ्+प्रवासः ।

संस्कृत व्याख्या—शशिनि=चन्द्रे (कुमुदिनीनायके) अन्तर्हिते=अस्तंगते व्यवहिते (विदेशं प्रस्थिते च सति) संस्मरणीया सम्यग् स्मरणयोग्या (न तु दर्शनीया इदानीम्) शोभा-सौन्दर्यं यस्याः सा संस्मरणीयशोभा सा (या पूर्वं चन्द्रोदयकाले विकसितकुसुमा दर्शनीया आसीत्) एव कुमुद्वती कुमुदिनी मे मम (विषयादि विवेकशून्यस्य दृष्टिं न नन्दयति आनन्दयति हर्षयति) या कुमुदिनी चन्द्रे सन्निहिते विकसिता सौंदर्यशालिनी लोचनाभिरामा

अहिण्णाणं अंगुलीअअं से विसज्जेम ? दुक्खसीले तव-स्सिंजणे को अब्भत्थीअदु ? णं सहीगामी दोसो त्ति व्यवसिदा वि ण पारेमि, पवासपडिणउत्तस्स तदकस्सवस्स दुस्संतपरिणांद आवण्णसत्तं सउंदलं णिवेदिदुं । इत्थं ए अम्हेहिं कि करणिज्जं ? ।

[प्रतिबुद्धापि किं करिष्ये ? न म उचितेष्वपि निजकार्येषु हस्तपादं प्रसरति । काम इदानीं सकामो भवतु । येनासत्यसंधे जने शून्यहृदया सखी पदं कारिता अथवा दुर्वाससः कोप एष विकारयति । अन्यथा कथं स राजर्षिस्तादृशानि मन्त्रयित्वैतावत्कालस्य लेखमात्रमपि न विसृजति ? तदितोऽभिज्ञानमङ्गुलीयकं तस्य विसृजावः । दुःखशीले तपस्विजने कोऽभ्यर्थ्यताम् ? ननु सखीगामी दोष इति व्यवसितापि न पारयामि, प्रवासप्रतिनिवृत्तस्य तातकाश्यपस्य दुष्यन्तपरिणीतामापन्नसत्वां शकुन्तलां निवेदयितुम् । इत्थंगतेऽस्माभिः किं करणीयम् ? ।]

आसीत् सैव चन्द्रोऽस्तं गतेऽधुना अदृश्यशोभा संस्मरणीयशोभा सती लोचनयोः हर्षं न दिशती-तिभावः । इष्टस्य प्रियजनस्य प्रवासेन विदेशगमनेन जनितानि समुद्भूतानि इष्टप्रवासजनितानि दुःखानि अबला-जनस्य प्रमदालोकस्य नूनं निश्चितम् अतिमात्रसुदुःसहानि अत्यर्थं दुःखेनोद्वहनी-यानि अत्यन्तकष्टेन सोढ़व्यानि भवन्तीति भावः । प्रियविरहे नार्योऽतिदुःखं सहन्ते इत्याशयः।

प्रविश्यापटीक्षेपेण:—"**पटीक्षेपो न कर्तव्य आर्त्तराजप्रवेशने**" इस उक्ति के अनुसार जवनिका को न हटाकर ही प्रवेश करके । शकुन्तला के दुःख से दुःखी अनुसूया के प्रवेश के समय पटीक्षेप की सम्भावना का निषेध करने के लिए ही कवि ने 'अपटीक्षेपेण' कहा है। जहाँ कहीं 'पटीक्षेपेण' ऐसा पाठ है वहाँ भी यही अर्थ है अर्थात् बिना सूचना के ही परदे को झटके से हटाकर अनुसूया ने प्रवेश करके । अपटी का अर्थ है जवनिका "अपटी काण्डपटीका प्रतिसीरा जवनिका तिरस्करिणी" इति हलायुधः ।

यदि "नासूचितस्य पात्रस्य प्रवेशो निर्गमेऽपि च" इस वचन के अनुसार बिना सूचना के अनुसूया का प्रवेश नाटकीय नियमानुसार अनुचित है, यह कहा जाय तो 'पटीक्षेपेण कर्तव्यमार्त्त राज्यप्रवेशनम्" यह वचन पटीक्षेप पूर्वक (असूचित) प्रवेश के विषय में प्रमाण है अर्थात् आर्त्त जन एवं राजप्रवेश पटीक्षेप द्वारा भी कराया जा सकता है । प्रकृत में अनुसूया शकुन्तला के दुःख से आर्त्त है अथ च प्रभातकालिक कार्य के लिए व्यग्र है अतएव उसका अपटीक्षेपण द्वारा प्रवेश कराना उचित ही है । कहीं-कहीं अपटाक्षेपेण भी पाठ मिलता है वहाँ भी "सम्भ्रमवश जवनिका के बिना ही" यह अर्थ किया जा सकता है ।

अनुसूया—(नाम=रोष एवं विषाद सूचक अव्यय है अर्थात् शकुन्तला के वियोग दुःख को तथा दुष्यन्त कृत उसकी उपेक्षा को सोचती हुई अनुसूया इस दुःख तथा उपेक्षा के कारणभूत राजा पर क्रुद्ध होकर विषाद पूर्वक कहती है) यद्यपि स्त्रक्चन्दनवनितादि सांसारिक भोगविलासों से सर्वथा विमुख मुझ जैसे तापस जन को यह बात पूर्णतया अविदित है अर्थात् वनवासिनी विषयपराङ्मुख मैं यद्यपि इन सांसारिक विलासी जनों के व्यवहार, प्रेम की बातों एवं आचरण के सम्बन्ध में कुछ नहीं जानती तथापि (इतना तो अवश्य कह सकती हूँ कि) उस राजा ने शकुन्तला पर निन्दनीय (अनार्य) असाधुवत् आचरण किया है अर्थात् उसके साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया । अनुसूया के कथन का तात्पर्य यह है कि जो इस प्रकार प्रेम प्रदर्शन कर तथा प्रतिज्ञा करके भी राजा अपनी राजधानी में पहुँचकर शकुन्तला को भूल गया है यह उसका व्यवहार निन्दनीय है और मेरे लिये क्रोध एवं विषाद का कारण है ।

इस कथन से कवि ने अनुसूया गत रोष, विषाद, चिन्ता आदि भावों की व्यञ्जना की है ।

(प्रविश्य ।)

प्रियम्वदा—(सहर्षम्) सहि ! तुवर सउंदलाए पत्थाणकोदुअं णिव्वत्तिदुं । [सखि ! त्वरस्व शकुन्तलायाः प्रस्थानकौतुकं निर्वर्तयितुम् ।]

अनुसूया—सहि; कहं एदं ? । [सखि ! ! कथमेतत् ? ।]

प्रियम्वदा—सुणाहिः दाणिं सुहसइदपुच्छिआ सउंदलासआसं गदम्हि । तदो जाव एणं लज्जावणमुहिं परिस्सजिअ तावकस्सवेण एव्वं अहिणंदिदं दिट्ठभा धूमाउलिददिट्ठिणो वि जअभाणस्स पाअए एस्व आहुदी पडिदा । वच्छे ! सुसिस्सपरिदिण्णा विज्जा विअ असोअणिज्ज । संवुत्ता । अज्ज एव्व इसिरक्खिदं तुमं भत्तुणो सआसं विसज्जेमि त्ति । श्रृणुः इदानी सुखशयनपृच्छिका शकुन्तलासकाशं गयास्मि । ततो यावदेनां लज्जावनतमुखीं परिष्वज्य तातकाश्यपेनैवमभिनन्दितम् । दिष्ट्या धूमाकुलितदृष्टेरपि यजमानस्य पावक एवाहुतिः पतिता । वत्से ! सुशिष्यपरिदत्ता विद्येवाशोचनीया संवृत्ता । अद्यैव ऋषिरक्षितां त्वां भर्तुः सकाशं विसर्जयामि इति ।]

शिष्य :—चलूँ, गुरुदेव को उपस्थित (सम्प्राप्त) हवन के समय की सूचना दूँ।

(यह कह कर चला जाता है)

अनुसूया—(शकुन्तला के दुःख की चिन्ता करती हुई, शिष्य वाक्य से प्रभात बेला जान कर अपने कर्तव्य का ध्यान करती हुई तथा अपनी असामर्थ्य प्रकट करती हुई कहती है :—जाग कर भी क्या करूँगी (अर्थात् कुछ न कर सकूँगी क्योंकि वेदिका सम्मार्जन-देवार्चन, कुसुमचयनादि प्राभातिक स्वकीय नित्योचित कार्यों में मेरे हाथ पर ही नहीं फैलते, नहीं चलते । (सभी दुःखों के मूल निदान का अनुसन्धान कर वह सखेद कहती है :—कामदेव अब सफल मनोरथ हो (वामस्वभाव काम अब इस प्रकार प्रिय सखी का दुःख देखकर अपनी अभिलाषा पूरी करें) जिस कामदेव ने असत्यप्रतिज्ञ व्यक्ति का, शून्य हृदया प्रिय सखी शकुन्तला को स्थान बनाया है (शून्य हृदय =काम जन्य परिणाम तथा विकार को न जानने वाली अतएव शून्यहृदया अथवा अन्यकृतप्रतारणादिदोष शून्यचित्ता, या वञ्चनाशून्यचित्ता । कहीं कहीं 'शुद्धहृदया' भी पाठ है जिसका अर्थ है सरलचित्ता, परप्रतारणादि को न जानने वाली, सन्धा=प्रतिज्ञा, (सन्धा प्रतिज्ञा मर्यादा इत्यमरः) असत्यसन्धे=असत्य प्रतिज्ञा वाले, पदम्=स्नेह बन्धन रुपव्यवसाय, स्थान, कारिता=कराई गई, बनाई गई । "पदं व्यवसितत्राण स्थानलक्ष्मांघ्रिवस्तुषु इत्यमरः" अथवा दुर्वासा का यह क्रोध (इस प्रकार) विपरीत आचरण करा रहा है (विकारयति) तात्पर्य यह कि यदि दुर्वासा का शाप कारण न होता तो वह राजर्षि कभी शकुन्तला के प्रति ऐसा दुर्व्यवहार न करता) । अन्यथा (यदि दुर्वासा का शाप न होता तो) कैसे वह ऋषि तुल्य राजा दुष्यन्त तादृशानि मैत्रयित्वा=शीघ्रमेव त्वामितो नेष्यामि—शीघ्र ही मैं तुमको यहाँ से ले जाऊँगा आदि वचन को, "एकैकमत्र दिवसे दिवसे मदीयम्" इत्यादि वक्ष्यमाण वचनों, को एकान्त में कहकर अनेक प्रकार के पूर्वोक्त प्रेमालाप तथा प्रतिज्ञा आदि करके, इतने समय तक (एतावत्कालस्य=एतावत्कालं अभिव्याप्य इत्यर्थः कर्मणि षष्ठी) कुशलवृत्तान्त तक भी, कुशल सूचक पत्रादि भी न भेजता । (अतः यह दुर्वासा शाप का ही प्रभाव है इससे राजा का कोई दोष नहीं) तो (दुर्वासा के शाप से मुक्ति पाने के लिए) इतः= आश्रम से, अभिज्ञानम् (अभिज्ञायते अनेन इति अभिज्ञानम् अर्थात् परिचायक दुष्यन्त प्रदत्त चिह्न स्वरूप अँगूठी को उस राजा के पास हम दोनों भेज दें जिससे राजा को शकुन्तला का स्मरण हो सकेगा । परन्तु दुःखशीले तपस्विजने=सर्वदा तप के क्लेशों को सहने वाले, विषय भोगों से पराङ्मुख अतएव विषयी जनों के चित्तवृत्ति और व्यवहारादि से पराङ्मुख

अनुसूया—अह केण सूइदोतादकस्सवस्स वुत्तंतो ? [अथ केन सूचितस्तात-काश्यपस्य वृत्तान्तः ? ।]

प्रियम्वदा—अग्गिसरणं पविट्ठस्स सरीरं विणा छन्दोमईए वाणिआए। [अग्निशरणं प्रविष्टस्य शरीरं बिना छन्दोमय्या वाण्या ।]

(संस्कृतमाश्रित्य ।)

तपस्विजनों के बीच में अर्थात् सदा तपः क्लेशाभिभूत कठोर जीवन बिताने वाले एवं शृंङ्गार व्यवहारानभिज्ञ इन आश्रमस्थ तपस्वियों में से (दुष्यन्त के पास जाने के लिए) किससे प्रार्थना की जाय अर्थात् कोई भी तपस्वी इस कार्य के लिए वहाँ जाने को प्रस्तुत न होगा। अतएव इन तपस्वियों में से किसी से इस सम्बन्ध में कहना अनुचित एवं व्यर्थ ही होगा इसलिए अँगूठी को भेजने के लिए कोई भी उपाय नहीं दिखाई पड़ता ।

इसके बाद अन्य कोई उपाय न देखकर अनुसूया दोष के मूल कारण की ओर ध्यान देती हुई कहती है—तो क्या यह प्रिय सखी शकुन्तला का दोष है ? अर्थात् जो उसने अज्ञात-चरित्र व्यक्ति को बिना कुछ पूर्वापर विचार किए हुए ही अपने को समर्पित कर दिया, यह उसका ही तो अपराध है यह निश्चय होने पर भी मैं (व्यवसितापि यह सखी का दोष है इस बात को जानते हुए भी, इसके अपराध को समझते हुए भी) प्रवास=परदेश सोमतीर्थ से लौटे हुए पिता काश्यप (कण्व) से दुष्यन्त से परिणीत (विवाहित) एवं गर्भवती (आपन्नसत्त्वा) शकुन्तला की बात कहने में असमर्थ हूँ (न पारयामि) अर्थात् अनुसूया सोचती है कि यह बात तो निस्सन्देह है कि इस विषय में शकुन्तला का दोष है और इतना कम से कम महर्षि काश्यप से कहा भी जा सकता है परन्तु "शकुन्तला दुष्यन्त से विवाहित है और फलतः वह गर्भवती है" यह बात लज्जा व आशंकावश उनसे कहना मेरे लिए असम्भव है अतएव 'इस सम्बन्ध में कुछ वे ही उपाय करे यह बात भी असम्भव है अतः वह बड़े खेद पूर्वक कहती है :—तो अब ऐसी परिस्थिति में क्या करना चाहिये । आपन्नसत्त्वाम्=आपन्न : गर्भ प्राप्तः सत्व जन्तुः यया ताम् । **आपन्नसत्त्वा स्याद्गुर्विण्यन्तर्वत्नी च गर्भिणी** इत्यमरः ।"

इन वाक्यों द्वारा कवि ने अनुसूयागत विषाद, अतिक्रोध, असूया, निर्वेद दैन्य, आलस्य, चिन्ता, आदि भावों की स्फुट व्यञ्जना की है इस प्रकार करुण रस परिपुष्ट होता है।

(प्रवेश कर)

प्रियम्वदा—(सहर्ष) सखि अनुसूया, शकुन्तला की विदाई का मंगलमय कार्य पूरा करने के लिए जल्दी करो (प्रस्थानकौतुकम्=पतिगृहगमंन समय में परम्परागत मंगलाचरण)

अनुसूया=सखि प्रियम्वदा ! यह कैसे (अर्थात् सहसा यह कैसे हुआ ?)

प्रियम्वदा—सुनो, अभी मैं सुखशयन के विषय में पूछने के लिए शकुन्तला के पास गई थी, अर्थात् उसे सुख पूर्वक अच्छी तरह से नींद आई या नहीं यह जानने के लिए मैं उसके पास गई थी। तो उस समय (मैंने देखा कि) लज्जा से नीचे मुख किये हुए इस शकुन्तला का आलिंगन कर (पिता की आज्ञा के बिना जो मैंने पति वरण किया है यह अकृत्य है अतएव उसने लज्जावश पिता के सामने अपना मुख नीचा कर लिया था) पिता काश्यप ने इस प्रकार सानन्द उसका समर्थन किया अर्थात् उसके पतिवरण रूप कार्य का अनुमोदन किया । (उन्होने कहा कि) यह बड़े सौभाग्य अथवा हर्ष की बात है कि—(दिष्ट्या) यज्ञाग्नि के धुँये से उपरुद्ध (बन्द) दृष्टि वाले भी यजमान की आहुति (हवनीय द्रव्य विशेष) (इधर उधर न पड़ कर जैसा कि दृष्टि के रुद्ध होने पर स्वाभाविक

दुष्यन्तेनाहितं तेजो दधानां भूतये भुवः ।
अवेहि तनयाँ ब्रह्मन्नग्निगर्भां शमीमिव ॥ ४ ॥

था) अग्नि में ही पड़ी है । तात्पर्य यह है कि कामवश होकर भी तेरे द्वारा योग्य पति का ही वरण किया गया यह हर्ष की बात है । प्रायः कामान्ध जन उचितानुचित एवं कर्तव्याकर्तव्य का ध्यान नहीं रखते । इस दृष्टान्त से महर्षि कण्व की कृतकृत्यता ध्वनित होती है, अर्थात् बिना उनके आयास के ही उसका उचित व्यक्ति के साथ सम्बन्ध हो गया । (यहाँ सादृश्यानुरोध से यजमान पद से आत्मा, आहुति पद से शकुन्तला तथा पावक पद से राजा का ग्रहण है अतएव **अप्रस्तुत प्रशंसालंकार** है) फलतः महर्षि कण्व कहते हैं—हे पुत्री] योग्य शिष्य को दी हुई विद्या के समान (अब तुम।मेरे लिए) अशोचनीय हो गई हो अर्थात् जिस प्रकार किसी योग्य शिष्य को विद्या देकर गुरु, यह समझ कर कि यह उसका सदुपयोग करेगा, विद्या फलीभूत होगी, निश्चिन्त हो जाता है उसी प्रकार मैं यह जान कर कि तू एक योग्य, अपने अनुरूप ही पति को प्राप्त हुई है, मैं तुझसे निश्चिन्त हो गया हूँ "अशोच्या हि पितुः कन्या सद्भर्तृ प्रति पादिता" तथा "कुशिष्य मध्यापयतः कुतो यशः" यहाँ श्रौती उपमा अलंकार है। आज ही मैं तुझे ऋषियों से परिरक्षित (के साथ) तेरे पति के पास भेज देता हूँ (वर्तमान सापीप्ये लट्लकार)

अनुसूया—तो किस व्यक्ति ने तात काश्यप को यह वृत्तान्त बतलाया ।

प्रियम्वदा—अग्निहोत्रगृह में प्रविष्ट हुये तात काश्यप को अशरीरिणी छन्दोमयी (छन्दः वृत्तं पद्यं तन्मयी) पद्यात्मक वाणी ने (यह सूचित किया) "शरणं गृहरक्षित्रोः इत्यमरः" छन्दः पद्येऽभिलाषे च इत्यमरः अर्थात् यह किसी शरीरधारी व्यक्ति द्वारा नहीं प्रत्युत अशरीरिणी पद्यात्मक वाणी द्वारा सूचित किया गया है ।

संस्कृतमाश्रित्य :—वैसे तो नाटकीय नियमानुसार स्त्रीपात्र प्राकृत में ही वार्तालाप करते हैं परन्तु कारणवश यत्र तत्र संस्कृत में भाषण कराया जाता है । जैसा कि मातृगुप्ताचार्य द्वारा कहा गया है :—योज्यं विदूषकोन्मत्तबालतापसयोषिताम्, नीचानां पण्डकानाञ्च नीचग्र हविकारिणाम्, विद्वद्भिः प्राकृतं कार्यं कारणात् संस्कृतं क्वचित् :—अतः यहाँ पर अशरीरिणी पद्यात्मक वाणी का यथावस्थित अनुवाद करना ही कारण था । वह संस्कृत के बिना नहीं हो सकता था अतएव प्रियम्वदा संस्कृत का आश्रयण कर कहती है । अन्यत्र भी भाषाव्यतिक्रम के सम्बन्ध में कहा गया है :—

"कार्यतश्चोत्तमादीनां कार्यो भाषा व्यतिक्रमः
योषित्सखीबालवेश्या कितवाप्सरसां तथा
वैदग्ध्यार्थं प्रदातव्यम् संस्कृतं चान्तरान्तरा ॥

श्लोक ४ अन्वय :—हे ब्रह्मन् दुष्यन्तेन आहितं तेजः भुवः भूतये दधानां तनयाँ अग्नि गर्भां शमीं इव अवेहि ।

शब्दार्थ :—आहितं=निषिक्त, दिया गया, धारण किया गया, तेजः=शुक्र, वीर्य भूतये=ऐश्वर्य के लिए, दधानाँ=धारण किये हुये, अग्निगर्भां=जिसके अन्दर अग्नि हो, शमीम्=शमी नामक लता विशेष या शमी नामक वृक्ष जिसके अन्दर स्वभावतः अग्नि रहती है अतः वह शीघ्र ही जल जाता है । अवेहि=जानो ।

अनुवाद—हे ब्रह्मन् कण्व ! दुष्यन्त राजा द्वारा निषिक्त तेज को, पृथिवी के कल्याण के लिये धारण करने वाली अपनी पुत्री को अग्नि गर्भा शमीलता के समान समझो ।

अनुसूया—(प्रियंवदामाश्लिष्य ।) सहि ! पिअं मे; किंदु अज्ज एव्व सउदंला णअदित्ति उक्कठंठासाधारणं परितोसं अणुहोमि । [सखि ! प्रियं मे; किंत्वद्यैव शकुन्तला नीयत इत्युत्कण्ठासाधारणं परितोषमनुभवामि ।

प्रियम्वदा—सहि ! आवां दाव उक्कंठं विणोदइस्सामो सा तवस्सिणी णिब्वुदा होद । [सखि ! आवां तावदुत्कण्ठां विनोदयिष्यावः । सा तपस्विनी निर्वृता भवतु ।]

अनुसूया—तेण हि एदस्सिं चूदसाहावलंबिडे णारिएरसमुग्गए एतण्णिमित्तं एव्व कालंतरक्खमा णिक्खित्ता मए केसरमालिआ । ता इमं हत्थसंणिहिदं । करेहि । जाव अहंपि से मिअलीअणं तित्थमित्तिअं दुव्वाकिसल अणित्ति मंगलसमालभणाणि विरएमि [तेन ह्येतस्मिश्चूतशाखावलम्बिते नालिकेरसमुद्गक एतन्निमित्तमेव कालान्तरक्षमा निक्षिप्ता मया केसरमालिका । तदिमां हस्तसंनिहितां कुरु । यावदहमपि तस्यै मृगरोचनां तीर्थमृत्तिकां दूर्वाकिसलयानीति मङ्गलसमालम्भनानि विरचयामि ।]

प्रियम्वदा—तह करीअदु । [तथा क्रियताम्]

(अनुसूया निष्क्रान्ता । प्रियम्वदा नाट्येन सुमनसो गृहणाति)

(नेपथ्ये ।)

गौतमि ! आदिश्यन्तां शार्ङ्गरवमिश्राः शकुन्तलानयनाय ।

व्याख्या—हे ब्रह्मन् "ब्रह्म विप्रः प्रजापतिः इत्यमरः" कण्व ! दुष्यन्त राजा, के द्वारा निषिक्त तेज को, पृथ्वी के कल्याण के लिए, उसके ऐश्वर्य बढ़ाने के लिए, धारण करने वाली, अग्निगर्भ शमी वृक्ष की भाँति अपनी कन्या को जानो । अर्थात् आपकी कन्या दुष्यन्त द्वारा गर्भवती है । इससे मार्ग नामक गर्भ सन्धि के द्वितीय अंग का निर्देश किया गया है । "भूतार्थकथनं चैव मार्ग इत्यभिधीयते" अर्थात् जहाँ गत सत्य बात का कथन किया जाय । इस सत्यार्थ कथन से प्राप्त्याशा का अनुगमन भी सूचित किया गया है ।

संस्कृत व्याख्या—हे ब्रह्मन-महर्षे कण्व ! (अनेन "तव प्रभावादेवास्या मनोरथसिद्धिरिति ध्वन्यते) दुष्यन्तेन (नामसंकीर्तनेन सोमवंशोद्भवत्वेन किमप्याभिजात्यमौदार्यविनयादिगुणसम्पन्नत्वं तस्य व्यज्यते) आहितं=निषिक्तम्, दत्तम्, तेजः=रेतः (शुक्रं तेजो रेतसी इत्यमरः) दीप्तिम् च (अनेन तेजस्त्रयरूपत्वं गर्भस्य ध्वनितम्) भुवः=पृथिव्याः भूतये—सम्पत्तये, अभ्युदयाय (सर्वविधाभ्युदय कारणत्वात्पुत्रस्येति भावः) भूतिः भस्मनि सम्पदि इत्यमरः । अनेन गर्भस्थस्य चक्रवर्तित्वं ध्वन्यते । किञ्च बिभर्तीति भरतः इति गर्भस्थस्यान्वर्थत्वमपि ध्वनितम् । दधानां-धारयन्तीम् तनयां=कन्यां (तनोति विस्तारयति कुलम् इति तनया ताम् तनयाम्) अग्निःगर्भे (अभ्यन्तर) यस्याः सा ताम् अग्निगर्भां (अनेन सहजपूतत्वं ध्वनितम्) शमीम्=एतन्नामनीं लताम्=(वह्निररण्येषु शमीनामतः प्रविष्टो ज्वलतीति प्रसिद्धम् । "शमीमिवान्तर्लीनपावकम् इति रघुवंशे") अवेहि=जानीहि इति । श्रौती उपमा, अनुप्रासः, अनुष्टुप् छन्दः ।

अनुसूया :—(प्रियम्वदामाश्लिष्य=प्रीतिकर वचन श्रवण से परम सन्तुष्ट होकर उसका आलिङ्गन करके) हे सखि । यह तो बड़ा अच्छा हुआ । किन्तु आज ही शकुन्तला (पतिग्रह) ले जाई जा रही है इस कारण मैं वियोगवश उत्कण्ठा से साधारण सन्तोष का अनुभव करती हूँ अर्थात् जहाँ मुझे उसके लिए वियोगवश उत्कंठा हो रही है "अलभ्यरागः उत्कण्ठा" वहाँ साथ ही मुझे इस बात से सन्तोष भी है कि पतिगृह पहुँच कर खुशी होगी ।

प्रियम्वदा—(कर्णं दत्वा ।) अनुसूये ! तुवरसु; एदे खु हत्थिणाउरगमिणो इसीओ सद्दावीअन्ति । [अनुसूये ! त्वरस्व; एते खलु हस्तिनापुरगामिन ऋषय आकार्यन्ते ।]

(प्रविश्य समालम्भनहस्ता)

अनुसूया—सहि ! एहि; गच्छम्ह । सखि ! एहि; गच्छावः]

(इति परिक्रामतः ।)

प्रियम्वदा—(विलोक्य) एसा सुज्जोदय एव्व सिहामज्जिदा पडिच्छिदणीवारहत्थाहि सोत्थिवाअणकाहिं तावसीहिं अहिणदीअमाणा सउंदला चिट्ठइ । उवसप्पम्ह णं । [एषा सूर्योदय एव शिखामज्जिता प्रतिष्ठितनीवारहस्ताभिः स्वस्तिवाचनिकाभिस्तापसीभिरभिनन्द्यमाना शकुन्तला तिष्ठति । उपसर्पाव एनाम्]

प्रियम्वदा :—सखि ! हम लोग तो अपनी उत्कण्ठा को दूर कर लेंगी परन्तु वह तपस्विनी तो सुखी हो जायगी (तपस्विनी से तात्पर्य है दीन मात्रादि रहित एवं प्रिय वियोग से दुखी अतएव दयापात्र) "मुनिदीनौ तपस्विनौ" "तपस्वी तापसे चानुकम्पार्हे" । निर्वृत्ता =पति संयोग से सुखिनी । तात्पर्य यह है कि हम लोगों के शकुन्तला वियोग जन्य दुःख की अपेक्षा उसका पतिवियोग जन्य दुःख अत्यन्त कष्ट कर है अतः वह न हो, हमें अपनी कोई चिन्ता नहीं ।

अनुसूया :—तो (शकुन्तला को पतिगृह अवश्य जाना है अतः) इस=सामने दिखलाई पड़ने वाले (अङ्गुल्या निर्देशः) चूतशाखावलम्बिते=आम्रवृक्ष की शाखा में (डोरे आदि से) संसक्त, बाँध कर रखे गये, नारियल के सम्पुट में (समुद्गक=पात्र, नारियल के कपाल के बने खोखले में) समुद्गकः सम्पुटकः इत्यमरः । इसी काम के लिये "पतिगृह गमन के समय उसके अलंकरण के लिये) कालान्तर-क्षमा=दीर्घकाल तक न कुम्हिलाने वाले (नारियल के सम्पुटक में रखने के कारण जो कि अधिक समय तक म्लान न हो सके). मेरे द्वारा केसर माला (वकुल के फूलों की माला) रखी गई है । तो इस माला को तुम अपने हाथ में ले लो तब तक मैं भी उसके लिए मृगरोगना=गोरोचना (गोरोचना नामक एक विशेष प्रकार का द्रव्य जो मंगल कार्यों में तिलकादि के काम में लाया जाता है यह एक प्रकार की स्थान विशेष से प्राप्त मिट्टी होती है, जो पवित्र और माङ्गलिक द्रव्य मानी जाती है) तीर्थ मृत्तिका=भिन्न भिन्न तीर्थों से प्राप्त मिट्टी, दूर्वा=दूब घास, एवं किसलय=आम्रपल्लव आदि मङ्गलसमालम्भनानि=माङ्गलिक वस्तु सामग्री, मङ्गलार्थ अलङ्करण अथवा मङ्गलानुलेपन (समालम्भनमालेपे तिलकेऽलंकृतावपि इति यादव प्रकाशः) एकत्र करती हूं ।

प्रियम्वदा :—ऐसा ही करो ।

(अनुसूया चली जाती है, और प्रियम्वदा नाटय्य विधि से फूल ग्रहण करने लगती है)

(नेपथ्य में)

हे गौतमी ! (कण्व की धर्मभगिनी) शकुन्तला के ले जाने के लिए शाङ्गंरव को आज्ञा दो (शृङ्गरचितस्य चापस्य रवः ध्वनिरिव रवः कण्ठध्वनिर्यस्य स शाङ्गंरवः—प्रधान शिष्यः । मिश्रा :—गौरवान्विताः आदरसूचनार्थं बहुवचन प्रयोगः)

प्रियम्वदा:—कान लगा कर, हे अनुसूये ! शीघ्रता करो, ये हस्तिनापुर जाने वाले ऋषि बुलाये जा रहे हैं (आकार्यन्ते)

(इत्युपसर्पतः)

(ततः प्रविशति यथोद्दिष्टव्यापारासनस्था शकुन्तला)

तापसीनामन्यतमा—(शकुन्तलां प्रति।) जादे ! भत्तुणो वहुमाण सूअअं महादेईसद्दं लहेहि। [जाते ! भर्तुर्बहुमानसूचकं महादेवीशब्दं लभस्व।]

द्वितीया—वच्छे ! वीरप्पसविणी होहि। [वत्से ! वीरप्रसविनी भव।]

तृतीया—वच्छे ! भत्तुणो बहुमदा होहि। [वत्से ! भर्तुर्बहुमता भव।]

(इत्याशिषो दत्त्वा गौतमीवर्जं निष्क्रान्ताः।)

सख्यौ—(उपसृत्य) सहि ! सुहमज्जणं दे होदु। [सखि ! सुखमज्जनं ते भवतु।]

(कुछ लोगों का यह कथन है कि दुष्यन्तः के राजत्व काल में हस्तिनापुर नामक नगर न था बल्कि दुष्यन्त के परवर्ती हस्ति नामक नृपति से इस नगर का नाम हस्तिनापुर पड़ा है परन्तु ऐसी बात नहीं है महाभारत से स्पष्ट है कि हस्तिनापुर नगर दुष्यन्त के समय भी था और दुष्यन्त शकुन्तला का उससे सम्बन्ध भी था।

"तथेत्युक्त्वा तु ते सर्वे प्रातिष्ठन्त महौजसः,
शकुन्तलां पुरस्कृत्य सपुत्रां गजसाह्वयम्॥

गजसाह्वय आदि शब्दों का प्रयोग हस्तिनापुर के लिये ही हुआ है; गज नाग हस्ति पर्यायवाची शब्द हैं।

(समालम्भनहस्ता प्रविश्य=उपर्युक्त अनुलेपादि माङ्गलिक वस्तु सामग्री को हाथ में लिए हुए प्रवेश करके)

अनुसूया—सखि, आओ, चलें।

(इस प्रकार कह कर दोनों चलने लगती हैं)

प्रियम्बदा:—देख कर, सूर्य के उदय काल में ही शिखा पर्यन्त स्नान कराई गई (अभ्यङ्गस्नान कराई गई) यह शकुन्तला, नीवार=धान्य विशेष (जो कि ऋषियों का मुख्य भोजन है) प्रतिष्ठित=गृहीत, अर्थात् मङ्गलार्थ मुनिधान्य तण्डुलों को हाथों में लिए हुए (पतिगृह गमन काल रूप मंगल समय पर शून्य हाथों से आना अनुचित था अतएव उन्होंने धान्यों को हाथ में ले रखा था) स्वस्तिवाचनिका=स्वस्तिवाचन करने वालीं तापसियों द्वारा (परम्परागत स्वस्तिवाचन=माङ्गलिक मन्त्र पाठ करने वाली शुभं भूयात् इत्यादि मङ्गल-शब्दोच्चारण करने वालीं) अभिनन्द्यमाना—आशीर्वादों से संवर्ध्यमाना प्रशंसित सहर्ष अनुमोदित। प्रोत्साहित अर्थात् नीवारों को हाथों में लिए स्वस्तिवाचन करने वाली तापसियों द्वारा सानन्द आशीर्वादों से अनुगृह्यमाणा शिखा मज्जित यह शकुन्तला बैठी है। हम लोग इसके पास चलें।

(इस प्रकार दोनों चलने लगती हैं)

(इसके बाद ऊपर बतलाए गए व्यापार करती हुई आसनस्थ शकुन्तला प्रवेश करती है—अर्थात् शकुन्तला स्नान किए हुए आसन पर बैठी है और तापसियाँ उसे आशीर्वाद दे रही हैं)

तापसीनामन्यतमा। तापसियों में से एक :—शकुन्तला के प्रति कहती है :—

हे पुत्री। पति दुष्यन्त के अत्यादर सूचक महादेवी पद को प्राप्त करो :—(देवी शब्दः देवी यह संज्ञा—नाम, अर्थात् दुष्यन्त की कृताभिषेका महिषी बनो, "देवी कृताभिषे-

शकुन्तला—साअयं में सहीणं इदो णिसीदह। [स्वागतं मे सख्योः । इतो निषीदतम् ।]

उभे—(मङ्गलपात्राण्यादाय उपविश्य ।) हला ! सज्जा होहिं। जाव मंगल समालंभणं विरएम। [हला ! सज्जा भव । यावन्मङ्गलसमालम्भनं विरचयावः ।]

शकुन्तला—इदंपि बहु मंतव्वं । दुल्लहं दाणि में सहीमंडणं भविस्सदि त्ति । [इदमपि बहु मन्तव्यम् दुर्लभमिदानीं मे सखीमण्डनं भविष्यतीति । (इतिबाष्पं विसृजति ।)

उभे—सहि ! उइअं ण दे मंगलकाले रोइदुं । [सखि ! उचितं न ते मंगलकाले रोदितुम्] इत्यश्रूणि प्रमृज्य नाट्येन प्रसाधयतः ।)

प्रियम्वदा—आहरणोइदं रूव अस्समसुलहेहि पसाहणेहि विप्पआरीअदि। [आभरणोचित रूपमाश्रमसुलभैः प्रसाधनै विप्रकार्यते ।]

(प्रविश्योपायनहस्तौ ।)

ऋषिकुमारकौ—इदमलंकरणम् । अलंक्रियतामत्रभवती ।

[हर्वा विलोक्य विस्मिताः]

गौतमी—वच्छ णारअ ! कुदो एदं ? । [वत्स नारद ! कुत एतत् ? ।]

कायामितारास्तु भट्टिनी" इति कोष बचन से महादेवी=प्रधान रानी के पद को प्राप्त करो।"

दूसरी तापसी :—आशीर्वाद देती हुई कहती है :—वीर सन्ताप उत्पन्न करने वाली बनो, अर्थात् तुझसे वीर सन्तान का जन्म हो।

तीसरी तापसी :—पुत्री ! पति द्वारा अत्याहृत हो, अर्थात् तू पति की बहू मानीया प्रेमास्पदा बने।

इस प्रकार आशीर्वाद देकर गौतमी को छोड़ कर सब चली जाती हैं।

सख्यौ :—प्रियम्वदा अनुसूया :—पास जाकर, सखि शकुन्तले ! तुम्हारा अभ्यङ्गस्नान तुम्हें मङ्गलदायक हो।

शकुन्तला :—मेरी सखियों का स्वागत, इधर, बैठो।

दोनों :—सखि ! अब तुम प्रस्तुत हो जाओ, जब कि हम हम दोनों तुम्हारा मांगलिक अलंकरण (प्रसाधन) करें।

शकुन्तला :—इदमपि=यह तुम्हारे द्वारा किया जाने वाला मेरा प्रसाधन जो कि स्वाभाविक है तो भी आज यह अत्यधिक समादरणीय है अर्थात् मुझे इसे विशेष आदर देना चाहिये क्योंकि आज से यह सखियों द्वारा प्राप्त अलंकरण मेरे लिए दुर्लभ हो जायेगा अर्थात् आश्रम छोड़ने के बाद फिर यह सखी मण्डन मुझे न मिल सकेगा।

(यह कहकर रोने लगती है।)

दोनों—हे सखि ! मङ्गल के समय-प्रस्थान के समय जब कि मंगलाचरण आवश्यक है तुम्हें रोना न चाहिये (क्योंकि रोना अपशकुन सूचक होता है) (इससे शकुन्तला का भावी वियोग सूचित होता है)

यह कह कर आंसू पोंछ कर नाट्यविधि से उसका अलङ्करण करने लगती है)

प्रथम :—तातकाश्यपप्रभावात्।

गौतमी—किं माणसी सिद्धि ? [किं मानसी सिद्धिः]

द्वितीय :—न खलु; श्रूयताम्-तत्रभवता बयमाज्ञप्ताः शकुन्तला हेतोर्वनस्पतिभ्यः कुसुमान्याहरत इति। तत इदानीं,—

क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डु तरुणा माङ्गल्यामाविष्कृतं
निष्ठ्यूतश्चरणोपभोगसुलभो लाक्षारसः केनचित्।
अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितै
र्दत्तान्याभरणानि तत्किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः॥ ४॥

प्रियम्वदा:—तुम्हारा यह सौन्दर्य (बहुमूल्य) आभूषणों के योग्य है परन्तु (यहाँ आज उनके अभाव मे) आश्रम में सुलभ पत्र पुष्पादि से यह तुम्हारा रूप अलंकृत नहीं प्रत्युत विकृत किया जा रहा है।

(उपायन=भेंट की वस्तुओं को हाथों में लिए प्रवेश करके)

दो ऋषि कुमार :—यह अलंकरण वस्तु सामग्री है, प्रिय शकुन्तला को इससे अलंकृत कीजिए।

(सब देखकर आश्चर्य में पड़ जाती हैं)

गौतमी—पुत्र नारद ! (नारद नामक एक ऋषि कुमार) यह कहाँ से, अर्थात् यह अलंकरण सामग्री तुम्हें कहाँ से प्राप्त हुई है)

प्रथम—तात काश्यप के प्रभाव से (यह प्राप्त हुई है)

गौतमी—तो क्या यह उनकी मानसी सिद्धि है ? अर्थात् क्या महर्षि ने यह सब सामग्री अपने सिद्ध मन से परिकल्पित की है।

द्वितीय—कदापि नहीं, सुनिये, पूज्य काश्यप ने हम लोगों को, शकुन्तला के लिए (उसके प्रसाधन के लिए, वेश रचना के लिए) वनस्पतियों से (वृंक्ष आदिकों से फूल ले आओ, यह आज्ञा दी थी। तब इस समय :—

श्लोक ४ अन्वय—केनचित् तरुणा इन्दुपाण्डु माङ्गल्यं क्षौमं आविष्कृतम्, केनचित् (तरुणा) चरणोपभोगसुलभः लाक्षारसः निष्ठ्यूतः, अन्येभ्यः (वृक्षेभ्यः) आपर्वभागोत्थितैः तत्किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः बनदेवताकरतलैः आभार-णानि दत्तानि।

शब्दार्थ—इन्दुपाण्डु=चन्द्रवत् शुभ्र वर्ण वाले, (सितपीतसमायुक्तः पाण्डुवर्णः प्रकीर्तितः) केनचित्=किसी (वृक्ष के द्वारा) माँगल्यं=मंगल कर्म में उपयुक्त, क्षौमं=पट्टांशुकम्=रेशमी वस्त्रों का जोड़ा, आविष्कृतम्=निकाल कर दिया। चरणोपभोगसुलभः=पैरों में लगाने के योग्य, लाक्षारस=महावर (चरणानुरञ्जकालक्तकद्रव) निष्ठ्यूतः=निकाल कर दिया, आपर्वभागोत्थितैः=पर्व भाग=मणिबन्धन स्थान, पर्यन्त निकले हुए, तत्किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः=उन उम्दिद्यमान किसलयों के प्रतिस्पर्धी अर्थात् वृक्षों के नवीन निकले हुए पल्लवों से स्पर्धा, ईर्ष्या करने वाले अर्थात् तत्सदृश वन देवताओं के हाथों से।

अनुवाद :—किसी वृक्ष के द्वारा चन्द्रवत शुभ्र माङ्गलिक क्षौम युगल (रेशमी वस्त्रों का जोड़ा) निकाल कर दिया गया। किसी वृक्ष के द्वारा चरणों के अनुरञ्जन योग्य लांक्षारस (महावर) निकाल कर दिया गया। तथा अन्य वृक्षों से, वन देवताओं के कर-पल्लवों द्वारा, जो कि पर्वभाग तक बाहर निकले हुये थे, एवं जो कि वृक्षों के नवीन उद्भिद्यमान पल्लवों से स्पर्धा करने वाले अर्थात् उनके सदृश ही थे, आभूषण दिये गये।

प्रियम्वदाः—(शकुन्तलां विलोक्य) हला ! इमाए अब्भुववत्तीए सूइया दे भत्तुणो गेहे अणुहोदव्वा राअलच्छित्ति । [हला ! अनयाभ्युपपत्त्या सूचिता ते भर्तुर्गेहेऽनुभवितव्या राजलक्ष्मीरिति]

(शकुन्तला व्रीडां रूपयति)

प्रथम :—गौतम एह्येहि; अभिषेकोत्तीर्णाय काश्यपाय वनस्पतिसेवां निवेदयावः ।

द्वितीय :—तथा ।

(इति निष्क्रान्तौ)

सख्यौ :—अए ! अणुवजुत्तभूषणो अअं जणो । चित्तकम्मपरिअएण अंगेस आहरणविणिओअं करेम्ह । [अये ! अनुपयुक्तभूषणोऽयं जनः । चित्रकर्म-परिचयेनाङ्गेषु त आभरणविनियोगं कुर्वः ।]

व्याख्या—किसी वृक्ष के द्वारा चन्द्रवत् शुभ्र माँगलिक क्षौम युगल निकाल कर दिया गया। तथा किसी वृक्ष से चरणों के अनुरञ्जन योग्य महावर निकाल कर दिया तथा अन्य वृक्षों से वन देवताओं के करपल्लवों द्वारा, जो कि पर्व भाग पर्यन्त बाहर निकले हुए थे तथा जो कि वृक्षों के नवीन उभ्दिद्यमान पल्लवों के सदृश थे, आभूषण दिये गये ।

इन्दु पाण्डु पद से चन्द्रवत् शुभ्र अथवा चन्द्रवत सितपीत वस्त्र का ग्रहण है जिससे कि नैर्मल्यातिशय एवं मनोहरत्व ध्वनित होता है, मांगल्यम् पद से :—प्रस्थानिक मंगल कार्य के उपयुक्त क्षौमवस्त्र युगल, जो कि गोरोचनादि मांगलिक वस्तुओं से किनारों पर चित्रित होता है ।

लाक्षारस—आलक्तक द्रव से चरणों का रञ्जित करना सौभाग्यवती स्त्रियों का चिह्न है। अन्येभ्यो वृक्षेभ्यः—वृक्षों के अचेतन होने के कारण वृक्षाधिष्ठित वन देवताओं द्वारा यह अर्थ लिया जायेगा । तत्किसलायोद-भेदप्रतिद्वन्द्विभिः—वन देवताओं के करतलों की रक्तता एवं कोमलता के अनुकरण करने वाले थे । यदि यह कहा जाय कि देवता ही आभरण दान कर सकते थे, करतल पद व्यर्थ है तो ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि देवता अदृश्य रहते हैं वे प्रत्यक्ष सामने नहीं आ सकते थे अतएव कवि ने करतलैः का प्रयोग किया है और इसका विशेषण आपर्वभागोत्थितैः दिया है अर्थात् पर्व भाग पर्यन्त ही उनके करतल बाहर निकले थे और वे भी पल्लवानुकारी होने से पल्लव सदृश जान पड़ते थे, मानो वृक्षों के पल्लव देवताओं के करतल थे । किसलय का विशेषण बनाने के लिये ही 'तल' शब्द का प्रयोग किया है अन्यथा 'कर' इतना ही पर्याप्त था । आभरणानि दत्तानि पद से देवताकरतल द्वारा दान से शकुन्तला के आजन्म अवैधव्य सौभाग्य तथा आभरणों की अमूल्यता व्यञ्जित की गई है ।

इन्दुपाण्डु तत्किसलयेत्यादि पदों में **समासगा लुप्तोपमा, श्रुत्यनुप्रास, वृत्यनुप्रास शार्दूलविक्रीडित छन्द ।**

पूर्व सिद्धार्थकथन से निरुक्ति नाम नाट्यालकार द्योतित किया है । अन्यैस्तैः इस पाठ का आश्रयण कर अन्येभ्यः यह कर्तृ प्रकमभङ्गदोष परिहरणीय है ।

मङ्गलस्य भावः भावे ष्यञ् = माङ्गल्यम् । आविः + कृ + क्त + आविष्कृतम् । उप + भुज + घञ् = उपभोगः, सु + लभ + खल् = सुलभः । दा + क्त दा इत्यस्य दथ् आदेशः दत्तानि । आश्रियन्ते यानि आभरफानि आ + भृ + ल्युट् = आभरणानि । उत् + स्था + क्त, = उत्थितः ।

शकुन्तला—ज़ाणे वो णेउणं : [जाने वा नैपुण्यम् ।]

(उभे नाट्येनालंकुरुत:)

(ततः प्रविशति स्नानोत्तीर्णः काश्यपः)

काश्यप :—

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
कण्ठः स्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम् ।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहारण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं न तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः ॥ ५ ॥

संस्कृत व्याख्या—केनचित् तरुणा वृक्षेण इन्दुरिव पाण्डु तत् इन्दुपाण्डु चन्द्रवत् शुभ्रम् माङ्गल्यं=मङ्गल कर्मणि साधु, क्षौमं क्षौमवस्त्रयुगलं आविष्कृतम् प्रकटीकृत्य दत्तम्, केनचित् (तरुणा) चरणयोः उपयोगाय रञ्जनाय सुलभः उचितः चरणोपभोगसुलभः लाक्षारसः—आलक्तकद्रवः निष्ठ्यूतः वहिष्कृत्य प्रदत्तः (लाक्षारसेन चरणानुरञ्जनं स्त्रीणां व्यवहारः । अन्येभ्यः वनदेवताधिष्ठितेभ्यः वृक्षान्तरेभ्यः सकाशात् पर्वभागं मर्यादीकृत्य इति आपर्वभाग उत्थितैः वहिर्निर्गतैः=मणिबन्ध स्थान पर्यन्त वहिर्निःसृतैः, किसलयानामुद्भेदः तेषां किसलयोद्भेदः तेषां किसलयोद् भेदाना प्रतिद्वन्द्विनः तैः तत्किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः=पल्लवशोभानुकारिभिः पल्लववत्पाटलवर्णैः अनेन लक्षणया रक्ततरत्वं कोमलत्वादिकं च व्यंग्यम् वनदेवतानां करतलैः पल्लवानुकारिभिः हस्तैः आभरणानि विविधालंकरणानि दत्तानि प्रत्यर्पितानि ।

प्रियम्वदा—शकुन्तला को देख कर, सखि ! इस वसन भूषण प्रदान रूप वन देवता कृत अनुग्रह से (अभ्युपपत्तिरनुग्रहः) यह सूचित किया गया है कि तुम पतिग्रह में (पट्ट महिषी पटरानी पद प्राप्त कर) राजलक्ष्मी का भोग करोगी ।

प्रविश्योपायनहस्तौ से लेकर यहाँ तक गर्भ सन्धि का उदाहरण नामक अंग निर्दिष्ट किया गया है ।

"यत्तु सातिशयं वाक्यं तदुदाहारणं स्मृतम्"

अतिशयिता पूर्ण वाक्य उदाहरण कहलाता है ।

(शकुन्तला लज्जा निरूपित करती है)

प्रथम : (शिष्य)—गौतम ! (इस नाम का ऋषि विशेष) आओ, आओ स्नान कर लौटे हुए सात काश्यप से वनस्पतियों द्वारा की गई वसन भूषणदान रूप सेवा को निवेदित करें ।

द्वितीय :—हाँ ऐसा ही (दोनों निकल जाते हैं)

सख्यौ :—सखि शकुन्तले ! अयं जनः (हम दोनों ने) **अनुपयुक्त भूषणः**=कभी आभूषणों को धारण नहीं किया है । केवल चित्र कर्म के परिचय मात्र से ही हम लोग तुम्हारे अंगों पर आभूषण पहनाती हैं । तात्पर्य यह कि दोनों वनवासिनी होने के कारण, किस आभूषण को किस शरीर के भाग पर पहनना चाहिए, नहीं जानती थीं अतः उनके लिए उपयुक्त स्थान पर प्रत्येक आभूषण को पहनना कठिन था इसलिए वे पहले अपना असामर्थ्य प्रकट करती हैं । उन्हें केवल चित्र कर्म का परिचय था चित्रों में उन्होंने आभूषण पहने हुए स्त्रियों को देखा था, स्वयं भी चित्रित किया था, अतएव चित्र कर्म परिचयानुसार ही वे उसको आभूषण पहनाने के लिये प्रस्तुत होती हैं ।

शकुन्तला—मैं तुम लोगों की निपुणता जानती हूँ अर्थात् तुम लोग जिस प्रकार अन्य विषयों में निपुण हो उसी प्रकार आभरण विनियोग कार्य में भी निपुण हो यह मैं अच्छी तरह जानती हूँ, अतः तुम्हें ऐसा न कहना चाहिए ।

दोनों नाटय्यविधि से उसका प्रसाधन करने लगती हैं।

(तब स्नान कर लौटे हुये महर्षि कण्व प्रवेश करते हैं)

श्लोक ५ अन्वय—काश्यपः—अद्य शकुन्तला यास्यति इति हृदयं उत्कण्ठया संस्पृष्टम्, कण्ठः स्तम्भितवाष्पवृत्तिकलुषः, दर्शनं चिंताजडम्, अरण्यौकसः मम तावत् स्नेहात् इदं ईदृशं वैक्लव्यम्, गृहिणः नवैः तनयाविश्लेषदुःखैः कथं न पीड्यन्ते।

शब्दार्थ—यास्यति=जायगी (गई नहीं, न अभी जा रही है, किन्तु जायगी यह बात मन में आते ही जब ऐसी उत्कण्ठा होती है तो चले जाने पर न जाने क्या होगा) इति =इस कारण (शकुन्तला जायगी इस कारण से) उत्कण्ठया=उन्मन स्कतया—

"रागेष्वलब्धविषये वेदना महती तु या,
संशोषिणी तु गात्राणां तामुत्कठां विदुर्बुधाः॥

अर्थात् गात्रसंशोषणकारिणी उत्कण्ठा से हृदय=उसके चिन्तन से तन्मय हुआ मेरा मन, संस्पृष्टम्=आक्रान्त हो गया है। तात्पर्य यह कि हृदय अभी अवगाढ (उत्कण्ठा निमग्न नहीं है, भविष्य में उसके चले जाने पर वह भी सम्भव है, अभी तो वह संस्पृष्ट मात्र है) (यदि यह कहा जाय कि हृदय का तो स्पर्श सम्भव नहीं है, अतः हृदय पद के ग्रहण में **अपंपौनरुक्त्य** दोष है तो ऐसा कहना भ्रम है क्योंकि भिन्न-भिन्न इन्द्रिय जन्य भिन्न-भिन्न वस्तु विषयक ज्ञान के प्रति हृदय को ही कारणता है, इन्द्रिय जन्य ज्ञान मन के बिना अनुभवगम्य नहीं हो सकता अतः हृदय पद प्रयोग आवश्यक है अन्यथा **"चिन्ताजडं दर्शनम्"** का अर्थ बिना हृदय पदोपादन के स्फुरित नहीं हो सकता है। कण्ठः=स्वर **"कंठ शब्देऽन्तिके** ते कोशः" स्तम्भितः वाप्प वृत्तिकलुपः=स्तम्भित=अन्तर्निरुद्ध, भीतर अश्रुप्रवाह रोकी गई, जो वाष्पवृत्ति आँसुओं की प्रवृत्ति=उद्गम=बाहर निकलना, उससे कलुषः=स्वर भङ्ग गद्गद, अस्पष्ट। (विह्वलताप्रकाशनार्थ एवं अमङ्गल परिहारार्थ भीतर ही भीतर अश्रुप्रवाह रोक लिया गया था, **इससे पुरुषगत धैर्य भी परिलक्षित होता है।** इसलिए स्तम्भन निर्हेतुक नहीं है स्वरसतः प्रवृत्त अश्रुप्रवाह का रोकना कठिन है अतएव वृत्ति पद का उपादान है, इससे अस्पष्ट वचन प्रयोग ध्वनित होता है। दर्शनम्=दृष्टिः, चिन्ताजडम्=चिन्ता से (शकुन्तला जन्य चिन्ता से) जडम्=स्वविषय के ग्रहण करने में असमर्थ अर्थात् दृष्टि (कुछ देखने में) चिन्तावश असमर्थ हो गयी है, देख नहीं सकती, (यहाँ प्रधानतया मन एवं चक्षुरिन्द्रिय की परवशता बतलाई गई है परन्तु यह अन्य इन्द्रियो का भी **उपलक्षण है** अर्थात् सभी इन्द्रियां स्वस्वविषय ग्रहण में असमर्थ हो गई थीं। अथवा दर्शनम्=भिन्न-भिन्न इन्द्रिय जन्य ज्ञान **"दृष्टिर्ज्ञानेऽक्षिण दर्शने"** अर्थात् शकुन्तला के सतत ध्यान जन्य चिन्ता से सभी इन्द्रियाँ स्वस्वविषयग्रहण में असमर्थ हो गई थीं क्योंकि जब ज्ञानकारिणीभूत मन ही परवश एवं आक्रान्त हो गया था तो इन्द्रिय जन्य ज्ञान कैसे सम्भव हो सकता था। अरण्य=वन, ओकस्=निवास स्थान अर्थात् वनवासी (नित्य तपस्वी शमदमादिगुण सम्पन्न जिसमें विकलता का अत्यान्ताभाव होना स्वाभाविक था) भी मेरे जैसे मन को वैक्लव्यम्=विह्वलता गृहिणः=विषयासक्त गृहाश्रमी जन, नवैः=प्रथम वार के, तनया=पुत्री, विश्लेष=वियोग कन्या के वियोग जन्य दुःखों से, कथं=किस प्रकार, पीडयन्ते=पीडित होंगे।

अनुवाद—'आज शकुन्तला जायेगी' इस कारण हृदय उत्कण्ठा से आक्रान्त हो गया है। कण्ठ अर्थात् स्वर संयोग, (अमंगल परिहारार्थ) अन्तर विरुद्ध अश्रुप्रवाह के कारण कलुष (अस्पष्ट एवं गद्गद) हो गया है। दर्शन अर्थात् दृष्टि अथवा सर्वेन्द्रिय जन्य ज्ञान (शकुन्तला गमन जन्य) चिन्ता से जड़ अर्थात् स्वविषय ग्रहण में असमर्थ हो गया है। वनवासी भी जब मेरी स्नेह वश ऐसी यह विह्वलता है तो प्रथम बार के पुत्री वियोग के दुःखों से गृहस्थ जन कैसे न पीड़ित होते होंगे अर्थात् अवश्य ही पीड़ित होंगे।

(इति परिक्रामति ।)

सख्यौ—हला सउंयले ! अवसिदमंडणासि । परिधेहि संपद खोमजुअलं ।
[हला शकुन्तले ! अवसितमण्डनासि । परिधत्स्व सांप्रतं क्षौमयुगलम् ।]

(शकुन्तलोत्थाय परिधत्ते)

गौतमी—जादे । एसो दे आणंदपरिवाहिणा चक्खुणा परिस्सजंतो अवि गुरु उवट्ठिदो । आआरं दाव पडिवज्जस्स । [जाते ! एष त आनन्द-परिवाहिणा चक्षुषा परिष्वजमान इव गुरुरुपस्थितः । आचारं तावत्प्रतिपद्यस्व ।]

शकुन्तला—(सव्रीडम्) ताद ! वंदामि [तात ! वन्दे ।]

काश्यपः—वत्से !

व्याख्या—आज शकुन्तला जायेगी, इस कारण मन चिन्ता से स्पृष्ट हो रहा है, (जब अभी गई नहीं है, जायगी, तब भी मन चिन्ताग्रस्त हो गया अतः नहीं कहा जा सकता कि चले जाने पर मन की क्या दशा होगी, जिसके गमन का विचार ही मन में आते ही उत्कण्ठा से हृदय स्पष्ट होने लगता है उसके चले जाने पर हृदय अवश्य उत्कण्ठा से परिप्लावित हो जायेगा) कण्ठ=स्वरयोग, पुंस्त्व भावनावश धैर्य प्रदर्शनार्थ विह्वलता एवं अमङ्गल परिहारार्थ अन्तर, निरुद्ध अश्रुवृत्ति के द्वारा कलुष (अस्पष्ट एवं गद्गद) हो गया है अतः स्पष्ट शब्दोच्चारण करना कठिन है । दर्शन अर्थात् दृष्टि अथवा सर्वेन्द्रियजन्य ज्ञान चिन्ता से स्व-विषय ग्रहण में असमर्थ है अर्थात् दृष्टि से वस्तु स्पष्ट देखी नहीं जा सकती, शकुन्तला वियोग जन्य चिन्ता के कारण सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने रूपादि विषयों के ग्रहण करने में सर्वथा असमर्थ हो गई हैं, ऐसा होना अनिवार्य ही है क्योंकि जब इन्द्रिय ज्ञान का कारिणीभूतमान ही उत्कण्ठा से पारवश्याभिभूत है तो इन्द्रिय ज्ञान जन्य ज्ञान कैसे सम्भव हो सकता है । वनवासी अर्थात् नित्य तपस्यालीन शमदमादि निष्ठासम्पन्न, जिसमें विह्वलता का सर्वथा अभाव होना चाहिए था, भी मेरी जब स्नेहवश यह ऐसी विह्वलता है अर्थात् जब वनवासी मुझे इस प्रकार का सर्वथा हृदय परवशता जन्य दुःख हो रहा है तो प्रथम बार के पुत्री वियोग के दुःखों से गृहस्थ लोग कैसे न पीड़ित होते होंगे अर्थात् उन्हें असह्य दुःख अवश्य होता होगा । तात्पर्य यह है कि जब शमदमादि गुण सम्पन्न विषय पराङ्मुख तपस्वी जनों को प्रथमबार का कन्या वियोग जन्य दुःख होता है तो सांसारिकता में सर्वथा लिप्त, माया से पराभूत गृहस्थाश्रमियों को तो असह्य दुःख होना अनिवार्य है । (नवैः से तात्पर्य है प्रथम बार का कन्या वियोग जन्य दुःख क्योंकि अभ्यस्त हो जाने के कारण बार-बार उतना दुःख नहीं होता । स्नेहात् से तात्पर्य है दैव वश उस पालित (न कि औरस) कन्या पर महर्षि के स्वपुत्री के समान स्नेह से, जब पालित कन्या पर इतना प्रगाढ़ स्नेह हो सकता है तो, औरस कन्या पर कितना न होगा और तदनुसार दुःख की मात्रा भी कितनी न होगी, इसका तो भुक्त गृहस्थाश्रमी ही अनुभव कर सकते हैं ।

इस पद्य से विषय पराङ्मुख मुनि का पालित कन्या पर इतना प्रगाढ़ स्नेह दिखलाने के द्वारा कवि ने उसकी सर्वजीव समदर्शिता एवं परम-कारुणिकता की ओर संकेत किया है ।

इस पद्य में **"माँ निषाद ! प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः"** इत्यादि आदि कवि के समान ही महर्षि का शोक वर्णित किया गया है अतः शकुन्तला प्रस्थान अवलम्बन विभाव, उसके गुणों का अनुस्मरण आदि उद्दीपन विभाव, वाष्प स्वरभङ्गादि अनुभाव, चिन्ता विषादादि व्यभिचारी भाव, आश्रय महर्षि कण्व, इस प्रकार विभावानुभावसञ्चारि भावों से परिपुष्ट **करुणारस** मुख्यतया द्योतित हो रहा है । कोई विद्वान् यहाँ पर "मम अपि एवं

वैक्लव्यं जातम्" मुझे भी इतनी विकलता हो गई। यह बात बड़ी ही अद्भुत है" इस अर्थ की प्रतीति द्वारा करुण रस से उपस्कृत **अद्भुत रस प्रधान** मानते हैं और कोई इस अद्भुत रस को उक्त करुण रस का अङ्ग मानते हैं अर्थात् प्रधान रस करुण तदङ्गभूत **अद्भुत रस** है।

यदि यह कहा जाय कि यहाँ पर **वैक्लव्यम्** इत्यादि शब्दों से शोकादि के उक्त हो जाने से रस दोष है तो ऐसा समझना भ्रम है **क्योंकि** 'व्यभिचारि रसस्थायिभावना शब्द-वाच्यता" अर्थात् शब्दवाच्यता में ही दोष होता है सर्वत्र नहीं।

अतः यहाँ रस दोष नहीं है।

इस नाटक में "कालिदासस्य सर्वस्वमभिज्ञानशकुन्तला।

तत्रापि च चतुर्थोऽङ्कस्तत्रश्लोकचतुष्टयम्॥

"**यास्यत्यद्येति** तत्रापि श्लोकः **सर्वमनोहरः** इति।

इस कथन के अनुसार यह सर्वोत्तम श्लोक है।

यहाँ वैक्लव्य रूप कार्य के प्रति उत्कण्ठा स्पर्श रूप एक कारण होने पर भी कण्ठक-लुषत्व रूप कारणान्तर कथनानुरोधवश कारणद्वैविध्य से **समुच्चयालंकार**, उत्तरार्ध में **अर्थापत्ति अलंकार**, इन दोनों के परस्पर निरपेक्ष होने से संसृष्टि, इति शब्दोपादन से **हेतु अलंकार, काव्यलिङ्ग,** गृहिणः इत्यादि यहाँ पर **व्यतिरेकालङ्कार, वृत्यनुप्रास छेकानुप्रास, शार्दूल विक्रीडित छन्द** है।

उद्देश्यप्रतिनिर्देश्य प्रक्रम भंग दोष "**दृष्टिर्जड़ा चिन्तया**" इस पाठ से परि-हरणीय है।

सम्+स्पृश+क्त=संस्पृष्टम्, दृश्—धातोः करणे ल्युट्=दर्शनम्। वि+श्लिष्+घञ्=विश्लेषः। पीड्+कर्मणि लटि पीड्यन्ते।

संस्कृत व्याख्या:—अद्य (न तु इदानीमेव) शकुन्तला यास्यति (पतिगृहमिति शेषः) इति हेतोः हृदयं मम मनः उत्कण्ठया उन्मनस्कतया संस्पृष्टम् आक्रान्तम्, कण्ठः स्तम्भिता या वाष्पाणां **वृत्तिः** तया कलुषः स्तम्भित-वाष्पवृत्तिकलुषः=अन्तर्निरुद्धाश्रु वृत्ति-गद्गदः, दर्शनम्—दृष्टिः—अथवा इन्द्रियजन्यज्ञानं चिन्तया जड़म् चिन्ताजडम् चिन्ताभि-भूतत्वेन स्वस्वविषयग्रहणासमर्थम् जातमिति शेषः। अरण्यं ओकः यस्य तस्य अरण्योकसः वनवासिनः मम कण्वस्य तावत् इदं अनुभूयमानं ईदृशं एवंविधम् वैक्लव्यं विह्वलत्वम् (अस्ति तर्हि) नवैः प्रथमोद्भवैः तनयायाः **विश्लेषः** तेन दुःखानि तैः तथोक्तैः कन्यावियोगजन्यदुःखैः गृहिणः गृहस्थाश्रमिणः कथं न पीड्यन्ते अर्थात् पीड्यन्ते एव। यदा शमदमादि-सम्पन्नस्य वनवासिनः तपस्विनः मम दुखं भवति तदा मायाभिभूतानां सांसारिकविषयलिप्तानां गृहस्था-श्रमिणां प्रथमे तनयावियोगसमये दुःखस्य तु का कथा।

सख्यौ:—हे शकुन्तले! तुम्हारा अलङ्करण (प्रसाधन) समाप्त हुआ (अवसित—समाप्त) अब क्षौमवस्त्र युगल पहनो।

(शकुन्तला उठ कर पहनती है)

गौतमी:—हे पुत्रि! आनन्द से बहते हुए (अश्रुओं से प्रवाहित) नेत्रों से उपलक्षित, युक्त, आलिङ्गन सा करते हुए यह तुम्हारे गुरु तात काश्यप उपस्थित हैं। आनन्दपरिवाहिणा =शकुन्तला के पतिसंयोग-प्राप्त्याशाजन्य आनन्द से निर्गत अश्रुओं को प्रवाहित करते हुए नेत्र से युक्त, "सर्वे भावाश्चक्षुषि व्यज्यन्ते इति न्यायानुसार आनन्दातिशय प्रकाशनशील नेत्र से उपलक्षित, परिष्वजमानः इव=आलिङ्गन करते हुए से अर्थात् प्रगाढ़ प्रेमपूर्ण दृष्टि प्रसार द्वारा आलिङ्गन सा करते हुए (इससे उस समय का गुरु का विशेष स्नेह पूर्वक देखना

यथातेरिव शर्मिष्ठा भर्तुर्बहूमता भव ।
सुतं त्वमपि सम्राजं सेव पूरुमवाप्नुहि ॥ ६ ॥

गौतमी—भअवं ! वरो खु एसो; णा आसिसा । [भगवान् वरः खल्वेषः; नाशिषः ।]

काश्यपः—वत्से ! इतः सद्योहुताग्नीन् प्रदक्षिणीकुरुष्व ।

(सर्वे परिक्रामन्ति ।)

काश्यपः—(ऋक्छन्दसाऽऽशास्ते ।)

सूचित होता है) तो आचारम्=शिष्टाचार, उपयुक्त व्यवहार, उत्थान वन्दनादिक करो (प्रति पद्यस्व=करो)

शकुन्तला—(लज्जा पूर्वक) तात ! वन्दना करती हूँ !

काश्यपः—हे पुत्री !

श्लोक ६ अन्वयः—ययातेः शर्मिष्ठा इव त्वं अपि भर्तुः बहुमता भव, सा पुरुं सुतं इव त्वमपि सम्राजं सुतं आप्नुहि।

शब्दार्थः—प्राचीन समय में ययाति नामक राजा ने शुक्राचार्य की कन्या-देवयानी तथा वृषिपर्व की कन्या शर्मिष्ठा से विवाह किया था परन्तु उन दोनों में शर्मिष्ठा ही राजा को अतिप्रिय थी अतएव उसका पुत्र पुरु ही पिता की आज्ञानुसार सम्राट हुआ । ययातेः—ययाति नामक राजा की, बहुमत=अति माननीय । सम्राजं=चक्रवर्ती, आप्नुहि=प्राप्त करो ।

अनुवादः—राजा ययाति की शर्मिष्ठा नामक पत्नी के समान, तुम भी, अपने पति की अतिप्रिया बहु माननीया बनो, और जैसे शर्मिष्ठा ने चक्रवर्ती पुत्र पुरु को पाया था उसी प्रकार तुम भी चक्रवर्ती पुत्र प्राप्त करो ।

व्याख्याः—जैसे शर्मिष्ठा राजा ययाति की अत्यन्त प्रेम पात्री थी उसी प्रकार तुम अपने पति की अति प्रिया, प्रीतिपात्री बनो और जिस प्रकार शर्मिष्ठा ने चक्रवर्ती पुरु को पाया था उसी प्रकार तुम भी (भावी) चक्रवर्ती पुत्र को प्राप्त करो । इससे क्रम नामक गर्भ सन्धि का अङ्ग उपक्षिप्त किया गया है "**तत्त्वोपलब्धिरिष्टस्य क्रम इत्यभिधीयते**" जहाँ पर प्रयोजन की तत्त्वतः प्राप्ति कथित हो ।

यहाँ आशीर्लक्षण नाट्यालंकार भी है "**आशीरिष्टजनाशंसा**" इष्ट जनों की कल्याण-कामना आशीः कही जाती है ।

संस्कृत व्याख्या—ययातेः (ययाति नामा कश्चित् सोमवंशीयः राजा पुरा आसीत्) शर्मिष्ठा=तस्य महिषी वृषपर्वदुहिता, इव भर्तुः दुष्यन्तस्य त्वं बहुमता (महादेवी पद प्राप्त्या) माननीया भव, सा शर्मिष्ठा पुरुं पूरु नामानं पुत्रं इव त्वं अपि सम्राजं चक्रवर्तिनम् पुत्रं अवाप्नुहि=प्राप्नुहि ।

उपमालंकारः, आशीर्नाम नाट्यालंकारः, यथोक्तम् दर्पणे "आशीरिष्टजनाशंसा" **इति ।**

गौतमी—भगवान् यह वरदान है आर्शीवाद नहीं । तात्पर्य यह है कि आर्शीवाद तो और कोई ऋषि भी दे सकता था परन्तु ययातेरिव शर्मिष्ठा आदि कथन रूप वरदान देने में महर्षि कण्व जैसा महातपस्वी व्यक्ति ही समर्थ हो सकता था अतः गौमती का तात्पर्य है कि जब महर्षि तुझ पर इतना स्नेह रखते हैं और इतने प्रभावशाली हैं तो यह उनका कथन वरदान है आशीर्वाद नहीं, क्योंकि वह तो अन्य व्यक्ति द्वारा भी सम्भव है ।

अमी वेदिं परितः क्लृप्तधिष्ण्याः
समिद्वन्तः प्रान्तसंस्तीर्णदर्भाः ।
अपघ्नन्तो दुरितं हव्यगन्धै-
र्वैतानास्त्वां वह्नयः पावयन्तु ॥ ७ ॥

प्रतिष्ठस्वेदानीम् (सदृष्टिक्षेपम् ।) क्व ते शार्ङ्गरवमिश्राः ? ।

(प्रविश्य ।)

शिष्यः—भगवान् ! इमे स्मः ।

काश्यपः—भगिन्यास्ते मार्गमादेशय ।

शार्ङ्गरवः—इत इतो भवती ।

(सर्वेपरिक्रामन्ति ।)

काश्यपः—भो भोः संनिहितास्तपोवनतरवः ?

काश्यप—अब यहाँ (इतः इस स्थान पर) सद्योहुतान्=यात्राकाल में शकुन्तला के अभ्युदय के लिए विशेष रूप से जिनमें हवन किया गया है ऐसी इन यज्ञाग्नियों की प्रदक्षिणा करो ।

(सब परिक्रमा करने लगते हैं)

काश्यप—ऋक् वेद के छन्द से आशीर्वाद देते हैं ।

श्लोक ७ अन्वय—वेदिं परितः कलृप्तधिष्ण्याः समिद्विन्तः प्रान्तसंस्तीर्णदर्भाः हव्यगन्धैः दुरितं अपघ्नन्तः अमी वैतानाः वह्नयः त्वां पावयन्तु ।

शब्दार्थ—परितः=चारों ओर, क्लृप्तधिष्ण्याः=जिनके स्थान त्रिधा विभक्त कर रचित किये गये हैं (प्रथम आधान (अग्नि स्थापन) काल में ही जो तीन स्थानों में रखी गई हैं अथवा होमान्तर प्रतिदिन एकत्र की गईं तथा होम के समय फिर तीन स्थानों में विभक्त कर स्थापित की गईं) क्लृप्त=रचित, धिष्ण्य=स्थान "धिष्ण्यं स्थानं गृहे भेऽग्नौ इत्यमरः" समिद्वन्तः=समिधाओं (हवन की लकड़ियों) से युक्त, प्रान्तसंस्तीर्णदर्भाः=प्रान्त =अग्नि के चारों ओर, संस्तीर्ण=विकीर्ण, दर्भ=कुश अर्थात् जिन अग्नियों के चारों ओर कुश बिछाये गये हैं । हव्य गन्धैः=विविध देवताओं के उद्देश्य से दी गई आज्यादि आहुतियों की सुगन्धों से, दुरित=पाप, अपघ्नन्तः=नाश करती हुई. अमी=सामने दिखलाई पड़ने वाले, वैतानाः=वितान=यज्ञ. वैतानाः=यज्ञीय, वह्नयः=गार्हपत्यादि त्रिविध अग्नियाँ त्वां=तुमको, पावयन्तु=पवित्र करें ।

अनुवादः—वेदी के चारों ओर, जिनके लिये त्रिधा विभक्त कर स्थापन स्थान बनाये गये हैं । जो समिधाओं से युक्त हैं, एव जिनके चारों ओर कुश बिछे हुये हैं तथा जो कि हवनीय पदार्थों की सुगन्ध से पापों को नाश करती हुई हैं ऐसी ये यज्ञ सम्बन्धी विविध अग्नियां तुम्हें पवित्र करें ।

व्याख्या—वेदी (परिष्कृत भूमि) के चारों ओर जिनके लिये त्रिधा विभक्त कर स्थापन स्थान बनाये गये हैं, जो समिधाओं के सहित हैं, एवं जिनके चारों ओर कुश बिछे हुए हैं तथा जो कि हवनीय द्रव्यों की सुगन्ध से पापों को नाश करने वाली हैं ऐसी ये सामने स्थापितयज्ञ सम्बन्धी गार्हपत्यादि त्रिविध अग्नियाँ तुमको (शकुन्तला) पवित्र करें । **उपजाति विशेष छन्द है**, वास्तव में यह कोई ऋग्वेद का वैदिक छन्द ही है जो कि सतत वेदाभ्यास निरत महर्षि के मुख से निकला है ।

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम् ।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम् ॥ ८ ॥

विशेषणों के साभिप्राय होने से **परिकरालंकार** है ।

सम्+तृ+क्त=संस्तीर्ण, अप+हन्+शतृ=अपघ्नन्तः ।

संस्कृत व्याख्या—वेदिं=परिष्कृतभूमिम् परितः समन्तात् क्लृप्तानि रचितानि धिष्ण्यानि स्थानानि येषां ते क्लृप्तधिष्ण्याः समिद्वन्तः=ससमिधाः प्रान्तेषु अग्नेः अग्नेः समन्तात् संस्तीर्णाः विक्षिप्ताः विकीर्णाः दर्भाः कुशाः येषां ते प्रान्तसंस्तीर्णदर्भाः हव्यगन्धैः आहुतिगन्धैः दुरितं पापं अपघ्नन्त=नाशयन्तः वितानस्य इमे वैतानाः याज्ञिका वह्नयः त्वां शकुन्तलां पावयन्तु पवित्री कुर्वन्तु । इति

अब प्रस्थान करो (दृष्टि घुमाकर) वे शार्ङ्गरव कहाँ हैं ?

(प्रवेश कर)

शिष्यः—भगवान् हम लोग ये हैं ।

काश्यः—अपनी बहिन को मार्ग दिखलाओ ।

शार्ङ्गरव——आप इधर आइये !

(सब चलने लगते हैं)

काश्यप—हे समीपवर्ती तपोवन के वृक्षो !

श्लोक ८ अन्वय—या युस्मासु अपीतेषु प्रथमं जलं पातुं न व्यवस्यति प्रियमण्डना अपि या स्नेहेन भवतां पल्लवम्न आदत्ते वः कुसुमप्रवृत्तिसमये आद्ये यस्याः उत्सव भवति सा इयं शकुन्तला पतिगृहं याति, सर्वैः अनुज्ञायताम् ।

शब्दार्थ—या=शकुन्तला, युष्मासु=आप लोगों (वन वृक्षों) के अपीतेषु=असिक्त होने पर (अर्थात् जब तक वह वृक्षों के आलवालों (क्यारियों) में जल सेचन न कर लेती थी तब तक) प्रथम=पहिले अर्थात् वृक्षों में जल सेचन के पूर्व, जलं पातुं न व्यवस्यति= जल पीने के लिए प्रवृत्त नहीं होती थी (वर्तमान कालिक व्यवस्यति के प्रयोग से कवि ने यह ध्वनित किया है कि वह अब भी ऐसा ही करती है । प्रियमण्डना अपि=मुग्धा स्वभाव के कारण यद्यपि वह अलंकरण प्रिय है अर्थात् पुष्प पल्लवों के आभूषण पहनना यद्यपि उसे बहुत अच्छा लगता है फिर भी वह, स्नेहेन=प्रेमवश (हमारे आदेश वश नहीं, वृक्षों पर उसका स्वाभाविक प्रेम है, भवतां=आप लोगों के (वृक्षों के) पल्लव=पत्ते को, न आदत्ते =ग्रहण नहीं करती है अर्थात् वृक्षों की कोई हानि न हो इस दृष्टि से, यद्यपि उसे अपने को पुष्प किसलयादि से आभूषित करना बहुत प्रिय है फिर भी वह प्रेम वश वृक्षों के नव किसलय नहीं तोड़ती है । वः=आप लोगों के (वृक्षों के) कुसुमप्रसूतिसमये=फूलों के निकलने के समय में, आद्ये=हम लोगों के पूर्व ही, यस्याः=जिस शकुन्तला को, उत्सव=आनन्द, भवति=होता है अर्थात् जब वृक्षों में प्रथम पुष्पोदगम होता है तो उसे हम लोगों से पूर्व ही बड़ी प्रसन्नता होती है अथवा "आदौ कुसुमप्रसूत्तिसमये" ऐसा अन्वय कर प्रथम बार वृक्षों के पुष्पोद्गम काल में—ऐसा भी अर्थ किया जा सकता है । (इससे कवि ने वृक्षों के प्रति उसका स्वाभाविक स्नेह सूचित किया है तात्पर्य यह है कि जब पुष्पोद्गम काल में ही उसे इतना अधिक हर्ष होता है तो फलोद्गम काल में कितना हर्ष होता होगा । सा इयं=तुम लोगों के प्रति इस प्रकार का वात्सल्य रखने वाली यह पुरः स्थित शकुन्तला, पतिगृहम्=

(कोकिलरवं सूचयित्वा ।)

अनुमतगमना शकुन्तला
तरुभिरियं बनवासबन्धुभिः ।
परभृतविरुतं कलं यथा
प्रतिवचनीकृतमेभिरीदृशम् ॥९॥

स्वभर्तृ गृह को (इससे वृक्षों द्वारा उसे आज्ञादान के उचित **समय को ध्वनित** किया है, **अर्थात्** पतिगृह जाते समय सहवासी होने के कारण वृक्षों को उसे **आज्ञा देने का** यह उचित **समय** है) सर्वैः=सब वृक्षों द्वारा, अर्थात् सब वृक्षों को मिलाकर; पृथक् पृथक् आज्ञा देने में विलम्ब होता अतएव 'सर्वैः सम्भूय' इस तात्पर्य से सर्वैः का प्रयोग किया गया है। **अनुज्ञायताम्**—पतिगृह प्रयाणानुरूप स्नेहपूर्वक इसका अनुमोदन करें। तात्पय यह है कि तुम लोगों की आज्ञा के अभाव में स्नेहाकर्षण के कारण इसका जाना न हो सकेगा अतः आज्ञा प्रदान करना आवश्यक है। इस कथन से जहाँ शकुन्तला का वृक्षों के प्रति **स्वाभाविक स्नेहातिशय ध्वनित** होता है वहाँ महर्षि कण्व का भी, उन तपोवन वृक्षों के प्रति, जैसा कि शकुन्तला के प्रति, वैसा ही **वात्सल्यातिशय** सूचित होता है अतएव वे वृक्षों से शकुन्तला के प्रयाण के अनुमोदन के लिए कह रहे हैं। वृक्षों के अनुमोदन की आवश्यकता इसलिये भी है क्योंकि वे भी शकुन्तला के लिए, उसकी प्रिय सखियों की भाँति ही, उसके प्रथम बार के दुष्यन्त परिचय के समय से लेकर **सभी वृत्तान्त के साक्षी हैं**। अतः **वयस्य स्थानीय हैं**।

अनुवाद :—जो शकुन्तला, बिना तुम लोगों में जल सेचन किये हुए, कभी पहिले जल नहीं पीती है। जो प्रसाधन प्रिय होने पर भी प्रेमवश तुम लोगों के नव पल्लव नहीं ग्रहण करती है और तुम लोगों के पुष्पोत्पत्ति काल में, हम लोगों से भी पहिले जिस शकुन्तला को हर्ष होता है वह यह शकुन्तला पतिगृह जा रही है आप सभी (मिलकर) इसे (जाने की) आज्ञा दें।

व्याख्या—काश्यप कहते हैं कि हे तपोवन के वृक्षों! जो शकुन्तला बिना तुम लोगों में जल सेचन किये हुये कभी पहिले जल नहीं पीती है, जो अलंकरणप्रिय होने पर भी प्रेमवश तुम लोगों के नव किसलय को नहीं तोड़ती है और तुम लोगों के पुष्पोत्पत्ति काल में हम लोगों से पहिले ही जिस शकुन्तला को महान हर्ष होता है वह यह शकुन्तला पतिगृह जारही है आप सभी मिलकर इसे जाने की आज्ञा दें।

अचेतन वृक्षों पर चेतन व्यवहार समारोपण किया गया है अतः **समासोक्ति** अलंकार, और वृक्षों के प्रति शकुन्तला का स्नेहाधिक्य प्रतिपादन रूप कार्य में उपर्युक्त तीन कारणों का कथन किया गया है अतः **समुच्चयालंकार** भी है, **हेतु, श्रुति, वृत्ति छेक, अनुप्रास, शार्दूल विक्रीडित छन्द है**।

संस्कृत व्याख्या—या शकुन्तला, **युष्मासु** अपीतेषु=युष्मासु वृक्षेषु अकृतजल सेकेषु सत्सु, न विद्यते पीतं पानं येषां ते तेषु अपीतेषु अर्शादित्वात् अच् प्रत्ययः, प्रथमं आदौ जलं पातुं न व्यवस्यति न प्रवर्तते जलपाने मनोऽपि न **कुरुते इत्यर्थः** युष्मान् प्रति आदरातिशयत्वादिति भावः। प्रियं मंडनं यस्याः सा प्रियमण्डना अलंकरणप्रिया अपि या स्नेहेन भवतां (वृक्षाणाम्) पल्लवं=नव किसलयं न आदत्ते अवतंसादि कर्तुं न **गृह्णाति**, अनेन कर्मणा भवतां काचित् हानि भवेदिति मनसि कृत्वेत्यर्थः। वः=युष्माकं (वृक्षाणां) कुसुमानां प्रसूतिः तस्याःकालः तस्मिन् कुसुमप्रसूतिसमये पुष्पोत्पत्तिसमये आदौ अस्मदादीनां पूर्वमेव यस्याः शकुन्तलाया उत्सवः आनन्दः भवति (अनेन तस्याः वृक्षान् प्रति स्नेहाधिक्यं सूचितम्, पुष्पोत्पत्तिकाले एव यदीदृशः उत्सवः फलोद्गमकाले स कीदृशः स्यादिति भावः। सा इयं

युस्मत्वात्सल्यशालिनी शकुन्तला पतिगृहं=स्वभर्तुः निवासस्थानं याति गच्छति, सर्वैः (वृक्षैः) सर्वैःसम्भूय (पृथक् प्रत्येक मनुज्ञाकरणे कालविलम्वः स्यादिति भावः। अनुज्ञायताम्=अनुमन्यताम् (नुष्माकं) आज्ञाया अभावे स्नेहाकर्षणेन तस्या गमनं न सम्भवतीति भावः।

(कोयल की ध्वनि को सूचित करके)

श्लोक ९ अन्वय—इयं शकुन्तला वनवासवन्धुभिः तरुभिः अनुमतगमना (जाता) यथा, कलं परभृतविरुतं एभिः ईदृशं प्रतिवचनीकृतम्।

शब्दार्थ—वनवासबन्धुभिः=वन में एक साथ रहने के कारण वन्धुवत् वन्धुभाव को प्राप्त हुए, तरुभिः=वृक्षैः, अनुमतगमना=जिसे पतिगृह जाने के लिए आज्ञा दी गई है, यतः=क्योंकि, एभिः इन वृक्षों द्वारा, कलं=मधुर और अस्फुट ध्वनि, परभृतविरुतं=परभृत =कोयल (परैः काकैः भ्रियते पाल्यते इति परभृतः कोकिलः। कोकिल दूसरी जाति के कौवों द्वारा पालित होता है अतएव उसे परभृतः कहा जाता है।) उसका विरुत=ध्वनि, ईदृशं= ऐसा, प्रतिवचनीकृतम्=प्रत्युत्तर के रूप में प्रस्तुत किया है।

अनुवादः—तपोवन में एक साथ रहने के कारण वन्धुभाव को प्राप्त, वृक्षों के द्वारा इस शकुन्तला को पतिगृह जाने की आज्ञा दे दी गई है क्योंकि इन वृक्षों के द्वारा मधुर और अस्पष्ट कोकिल ध्वनि को इस प्रकार प्रत्युत्तर रूप में प्रस्तुत किया गया है।

व्याख्या—वन में कोकिल ध्वनि सुनकर शार्ङ्गरव काश्यप से शुभ शकुन की सूचना देता हुआ कहता है (कहा भी है "**वामे मधुरवाक् पक्षी, वृक्षः पल्लवितोऽग्रतः अनुकूलो वहन् वायुः प्रयाणे शुभशंसिनः**" तपोवन में एक साथ रहने के कारण वन्धुस्वरूप वृक्षों ने इस शकुन्तला को पतिगृह जाने की आज्ञा दे दी है क्योंकि इन वृक्षों ने इस प्रकार के मधुर और अस्पष्ट कोकिल ध्वनि से (आप लोगों को) प्रत्युत्तर दिया है। तात्पर्य यह कि इससे पूर्व के श्लोक में कवि ने महर्षि कण्व द्वारा वृक्षों से शकुन्तला को पतिगृह गमन की आज्ञा देने को कहलाया है, शार्ङ्गरव कोकिल ध्वनि सुन कर गुरु से कहता है कि जैसा आप चाहते थे वैसा ही हुआ इन वृक्षों ने शकुन्तला को आज्ञा दे दी क्योंकि कोकिल वृक्षों पर बोल रहा था अतः शिष्य अनुमान करता है कि मानों वृक्षों ने कोकिल ध्वनि द्वारा ही महर्षि को उत्तर देते हुए शकुन्तला को जाने की आज्ञा दी है।

कोकिल ध्वनि में प्रतिवचनत्व के आरोप के प्रकृत शकुन्तलागमन में उपयोगी होने के कारण **परिणामालंकार**, वनवासवन्धुभिः=**रूपक**, **अनुप्रास**, **अपरवक्त्रम् छन्द** है जिसका लक्षण :—

अयुजि न नरला गुरुः समे तदपरवक्त्रमिदं नजौ जरौ इति।

अर्थात् जिस छन्द के विषम चरणों में दो नगण एक रगण एक लघु एक गुरु हो तथा समचरणों में नगण जगण तथा जगण रगण हों वह अपरवक्त्र नामक छन्द कहलाता है।

नगण	नगण	रगण	ल०	गु०
। । ।	। । ।	S । S	।	S
अ नु म	त ग म	ना श कु	न्त	ला,

नगण	जगण	जगण	रगण
। । ।	। S ।	। S ।	S । S
त रु भि,	रि यं व,	न वा स,	व न्धु भिः।

संस्कृत व्याख्या :—इयं शकुन्तला वनवासेन वन्धुभिरिव, वनवासवन्धुभिः=तपोवनैकनिवासज्ञातिभावप्राप्तैः तरुभिः=वृक्षैः अनुमतं गमनं यस्याः सा अनुमतगमना=अनुज्ञातपतिगृहप्रस्थाना (जाता) यतः—यस्मात् कारणात् एभिः=तरुभिः, कलं=मधुरास्फुटं। परभृत

(आकाशे)

रम्यान्तरः कमलिनीहरितैः सरोभि-
श्छायाद्रुमैर्नियमितार्कमयूखतापः ।
भूयात्कुशेशयरजोमृदुरेणुरस्याः
शान्तानुकूलपवनश्च शिवश्च पन्थाः ॥१०॥

कोकिलः तस्य विरुतं रवः इति परभृतविरुतं आत्मनः प्रतिवचनीकृतम्=प्रत्युत्तररूपेण उपन्यस्तम्। यतो वृक्षै रेवं विधं विरुतं प्रतिवचनीकृतं तस्मात् सा अनुमतगमना अस्तीति ज्ञायत इति भावः। उक्ता अलंकारादयः। **अपरवक्त्रं छन्दः।**

आकाशे-इति :—अर्थात् आकाश भाषित द्वारा प्रस्तुत कथन किया गया है।

श्लोक १० अन्वय—अस्याः पन्थाः कमलिनीहरितैः सरोभिः रम्यान्तरः, छायाद्रुमैः नियमितार्कमरीचितापः, कुशेशयरजोमृदुरेणुः शान्तानुकूलपवनः च शिवः च भूयात्।

शब्दार्थ—कमलिनीहरितैः सरोभिः=कमलिनी के दलों से अथवा कमलिनी समूह से हरितवर्ण के दिखलाई पड़ने वाले सरोवरों से (दूर से देखने पर कमलिनी समूह से व्याप्त सरोवर हरितवर्ण के दिखलाई पड़ रहे थे) रम्यान्तरः=जिसका (मार्ग का) मध्भाग बड़ा सुन्दर लगता है। छायाद्रुमैः=सघन छाया वाले वट आदि के वृक्षों द्वारा, नियमितार्कमयूखतापः=जिसमें (जिस मार्ग में) सूर्य किरणों का ताप प्रतिरुद्ध (रोकना) कर दिया गया है अर्थात् जहाँ छाया प्रधान वृक्षों के द्वारा सूर्य का ताप रुक जाता है। कुशेशयेत्यादि=अर्थात् (जिस मार्ग की) धूलि कमलों के पराग के समान ही कोमल है, शान्तेत्यादि=अर्थात् (जिस मार्ग में) शान्त=जो अधिक प्रखर न हो अर्थात् मन्द मन्द और अनुकूल पवन बहता है, शुभः=कल्याणकारी। भूयात्=हो। अस्याः=शकुन्तला का, पन्थाः=पतिगृह गमन मार्ग। उपर्युक्त चारों ही पद पन्थाः के विशेषण हैं।

अनुवाद—इस शकुन्तला का पतिगृह गमन मार्ग, कमलिनी समूह से हरित (दृष्टिगत होने वाले) सरोवरों से रमणीक मध्य भाग वाला, तथा छाया प्रदान वृक्षों द्वारा प्रतिरुद्ध सूर्य किरणों के ताप वाला, एवं कमलों के पराग के समान कोमल धूलि वाला, और शान्त तथा अनुकूल वायु वाला एवं कल्याणकारी हो।

व्याख्या—आकाश में अर्थात् देवता मानवों की भाँति प्रत्यक्ष नहीं आते अतः ने अदृश्य रूप से ही आशीर्वाद देते हैं :—इस शकुन्तला का पतिगृह गमनमार्ग कल्याणकारी हो, (जिस मार्ग का) मध्यभाग, (दूर से देखने पर) कमलिनी समूह से हरित सरोवरों से रमणीक दिखलाई पड़ता हो तथा (जिस मार्ग का सूर्य किरणजन्य आतप मार्गस्थ छायादार वृक्षों द्वारा दूर कर दिया गया हो और (जिस मार्ग की) धुलि कमल पराग सदृश कोमल हो गई हो, और जिस मार्ग में) मन्द मन्द तथा अनुकूल पवन बहता हो तात्पर्य यह कि शकुन्तला की पतिगृह यात्रा कल्याणमय हो, मार्ग में बीच में नील कमलों से भरे सरोवर मिलें, धूप से बचाने वाले छायादार वृक्ष हों, और की धूलि कमल पराग के समान कोमल हो, और मन्द अनुकूल पवन बंहता चले।

विशेष—कमलिनीहरितैः=कमलिनी=अर्थात् सघन रूप में खड़ी हुई कमलिनी की कतारों से, दूर से देखने पर हरित वर्ण के दिखाई पड़ने वाले। इससे सरोवर का कमलिनी व्याप्तत्व तथा विसिनी आदि का प्रयोग न कर कमलिनी पदप्रयोग से कमल संयोग भी ध्वनित होता है। कमलिनीहरितैः में **तद्गुणालंकार है।**

(सर्वे सविस्मयमाकर्णयन्ति)

गौतमी—जावे ! ण्णादिजणसिणिद्धाहि अणुण्णदगमणासि तवोवणदेवदाहि।

सरोभिः रम्यान्तरः, सरोभिः इस बहुवचन से मार्ग में पग पग पर सरोवरों का होना सूचित होता है।

अतः कमलिनीत्यादि वाक्य से सहज सुकुमारी तथा कृशाङ्गी उस शकुन्तला का सरोवरदर्शनकुतूहल आदि से मार्गश्रम जन्य परिखेद का परिहार तथा तृषापीडादि का अभाव द्योतित होता है।

छायाद्रुमैः—छाया प्रधान वृक्षों से वृक्षमात्र से सूर्य ताप का दूरीकरण सम्भव नहीं अतएव छायासुधा वट आदि वृक्ष का निर्देश है अतएव बहुवचन का भी प्रयोग किया गया है। इससे यह द्योतित होता है कि मार्ग में अध्वश्रमखेदपरिहारार्थ विश्रान्ति स्थल भी थे।

नियमितेत्यादिः—केवल अर्कमरीचि कथन से ही अविनाभाव नियम से ताप का अर्थ उपलब्ध हो सकता था फिर भी ताप शब्द का प्रयोग **मध्याह्नकालीन ताप की तीव्रता** लक्षित कराने के लिए है अर्थात् **ताप शब्द की तीव्र ताप में लक्षणा है तापाधिक्य इस लक्षणा का प्रयोजन है। इससे गमन में दुःखभाव व्यञ्जित होता है।** कुशेशयेत्यादि—कुशे जले शेरते इति कुशेशयानि कमलानि। इससे अर्थात् धुलि के पद्मपराग सदृश कोमल कथन से उसके कोमल चरणों का अनुपघात सूचित होता है।

शान्तेत्यादि—वेगरहित होने से सौम्य मन्द मन्द बहने वाला अनुकूल=सुखकर गमनानुसारी वायु, अतएव शिवः अतएव शिवः कल्याणकारी।

इस प्रकार शकुन्तला के पतिगृह प्रस्थान के समय देवताओं द्वारा मङ्गल कामना की गई है मार्ग के मध्य में सरोवरों की प्राप्ति से सुगन्धित एवं शीतल जल पान द्वारा उसकी पिपासा निवृत्ति की कामना हैं, छायाद्रुम लाभ से अध्वश्रम जन्यखेदनिवृत्ति की, पद्मपराग कोमल धूलि प्राप्ति से आमोदोपलब्धि की, तथा चरणघाताभाव की, शान्तपवनलाभ से गमनकालीन कष्टाधिक्यनिवृत्ति की तथा पवन की अनुकूलता प्राप्ति से मंगललाभ की कामना की गई है।

आचार्य राघव भट्ट के अनुसार प्रस्तुत श्लोक में एक चकार का प्रयोग तो विशेषणों के समुच्चय के लिए उचित है पर दूसरे च का प्रयोग का **अधिकपदता दोष** प्रकट करता है यदि यह कहा जाय कि शिवश्च का समुच्चय भी हो सके इसलिये द्वितीय चकार का प्रयोग है तब तो चारों ही विशेषणों के बाद च का प्रयोग करना चाहिये था परन्तु ऐसा नहीं किया गया है अतः द्वितीय चकार का प्रयोग अधिकपदता दोष का कारण ही है अतः इस दोष के परिहारार्थ 'शान्तानुकूलश्च यः पवनः स शिवः सुखकरः भूयात् तथा पन्थाश्च शिवः कल्याणकरः भूयात् अर्थात् शान्तानु कूल पवन सुखकर हो तथा मार्ग कल्याणकारी हो, ऐसा अर्थ करना पड़ेगा। इसी तात्पर्य से तो कवि ने शान्तेत्यादि पद को समस्त किया है। इस अर्थ में पवन और पथ दोनों ही के प्राकरणिक होने से **तुल्ययोगितालंकार** होगा अतः उपर्युक्त विशेषण पवन के साथ भी प्रयुक्त होंगे अतः क्रमशः इन विशेषणों से विशिष्ट पवन का अर्थ इस प्रकार होगा :—

रम्येत्यादि विशेषण से तथा **कुशेशयेत्यादि विशेषण** से पवन का **सुगन्धित** होना, छायेत्यादि चरणगत विशेषण से पवन का **शीतल** होना तथा शान्तेत्यादि विशेषण से पवपन का मन्द होना सूचित होता है और अनुकूल विशेषण से **शुभशकुन** व्यञ्जित होता है, कुशेशयेत्यादि विशेषण से वायु का धूसर होना भी कहा गया है अतः कुछ अपशकुन भी सूचित होता है।

णम भअवदीआं [जाते ! ज्ञातिजनस्निग्धाभिरनुज्ञातगमनासि तपोवन देवताभिः । प्रणम भगवतीः ।]

शकुन्तला—(सप्रणामं परिक्रम्य । जनान्तिकम् ।) हला प्रिअंवदे ।-? हला प्रियम्वदे !-?] णं अज्जउत्तदंसणुस्सुआए वि अस्समपदं परिच्चअंतीए दुक्खेण मे चरणा पुरदो पदहंति ।] नन्वार्यपुत्रदर्शनोत्सुकाया अप्याश्रमपदं परित्यजन्त्या दुःखेन मे चरणौ पुरतः प्रवर्तेते ।]

प्रियम्वदा—ण केवलं तपोवणविरहकादरा सही एव्व । तुए उवट्ठिदविओअस्स तवोवणस्य वि दाव समवस्था दीसइ । [न केवलं तपोवनविरहकातरा सख्येव । त्वयोपस्थितवियोगस्या तपोवनस्यापि तावत्समवस्था दृश्यते ।]

इस प्रकार योग्य वायु से योग्य पथ का सम्बन्ध द्योतक करने से **समालंकार व्यङ्ग्य** है और ये दोनों परस्पर उपकारी हैं अतः **अन्योन्यालंकार** है, **वृत्ति श्रुति अनुप्रास**, पवन और पथ दोनों प्रस्तुतों के एक धर्म से सम्बन्धित से **तुल्योगितालंकार** है, कुशेशयेत्यादि अंश में **उपमालंकार** है, प्रायः सभी विशेषणों के साभिप्राय होने से **परिकरालंकार** है तथा **काव्यलिंग** भी सर्वत्र है । मार्ग के तथा पवन के शिवत्व के प्रति बहुत से कारणों का उल्लेख है अतः **समुच्चयालंकार** है ऐसा कोई आचार्य मानते हैं । **वसन्ततिलका छन्द है ।**

अनुकूल पवन मङ्गलसूचक होता है इस सम्बन्ध में यह वचन है :—

वामे मधुर वाक पक्षी वृक्षः पल्लवितोऽग्रतः
अनुकूलो वहन् वायुः प्रयाणे शुभशंसिनः ।

यह श्लोक इस नाटक के सर्वश्रेष्ठ चार श्लोकों में से एक है ऐसा कुछ लोगों का मत है और कुछ 'पातु'नेत्यादि श्लोक को मानते हैं ।

यहाँ पाँसुलत्व से राजकन्या के अङ्गों का अनुमान होता है अतः अनुमान नामक गर्भ सन्धि का अंग है ।

'अभ्यूहो लिंगतोऽनुषमा''

संस्कृत व्याख्या—अस्याः शकुन्तलयाः पन्थाः पतिगृहप्रस्थानमार्गः कमलिनीभिः हरितानि तैः पद्मिनीपंक्तिहरितायमानैः सरोभिःसरोवरैः रम्यं मनोहरं अन्तरं मध्यप्रदेशो यस्य स रम्यान्तरः । छायाप्रधाना द्रुमाः छायाद्रुमास्तैः छायाद्रुमैः शीतलच्छायायुक्ततरुभिः नियमितः अर्कस्य मरीचीनां तापः यस्मिन् स नियमितार्कमरीचितापः समवरुद्धसूर्यकिरणतापः, कुशे शेरते इति कुशेशयानि जलजानि (कमलानि) तेषां रजोभिः परागैः रजांसीव वा मृदवः कोमलाः रेणवः धूलयः यत्र स कुशेशयरजामृदुरेणुः अतएव शान्तः अनुकूलः पवनो यत्र स शान्तानुकूलपवनः सौम्यमंगलकरवायुः शिवः कल्याणकरः च भूयात् । अत्र चकारद्वयप्रयोगवलेन इमानि विशेषणानि वायुपक्षेऽपि योज्यानि । अतः वायुपक्षे हि कमलसम्बन्धात् (प्रथमचरण गतविशेषणे) वायोः सौरभत्वं, छायाद्रुमसम्बन्धात् वायोः शैत्यं, कमलरेणुसम्पर्कात् पवनस्य मान्द्यत्वं च द्योत्यते शिवश्चेत्यनेन कल्याणकरत्वञ्च तस्य । अनया चोक्तिभङ्ग्या मार्ग एव कुशलमिति भविष्यदमंगलमिति सूच्यत इति केषाञ्चिन्मतम् । अलंकारादय उक्तः वसन्ततिलकं वृत्तम् ।

(सब विस्मय पूर्वक सुनते हैं)

गौतमी—हे पुत्रि ! अपने कुटुम्बियों की भाँति स्नेह रखने वाले वन देवताओं ने (तुम्हें) जाने की आज्ञा दे दी है (अतः) इनको प्रणाम करो ।

उग्गलिअदब्भकवला मिआ परिच्चत्तणच्चण मोरा।
ओलरिअपंडुपत्ता मुअन्ति अस्सू विअ लदाओ ॥ ११ ॥
[उद्गलितदर्भकवला मृग्यः, परित्यक्तनर्तना मयूरा :।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः ॥]

शकुन्तला— (प्रणाम करके, घूम करके अलग प्रियम्वदा से चुपके से) सखि प्रियम्वदे ! यद्यपि मुझे आर्य पुत्र (प्रिय पति दुष्यन्त) के दर्शन की बड़ी उतावली हो रही है फिर भी आश्रम को छोड़ते हुये मेरे पैर बड़े दुःख से आगे को बढ़ते हैं ।

प्रियम्वदा—तपोवन के विरह से केवल सखी ही अर्थात् तुम्हीं ही अधीर (दुःखी) नहीं हो रही हो प्रत्युत तुम्हारे आश्रम त्याग द्वारा उपस्थित विरह से तपोवन की भी तो ऐसी ही अवस्था दिखाई पड़ती है अर्थात् तुम्हारे समान वह भी कातर हो रहा है। तात्पर्य यह कि तुम्हारी विदाई का समय ज्यों ज्यों निकट आता जाता है त्यों त्यों सारा तपोवन भी उदास होता जा रहा है । देखो :—

श्लोक ११ अन्वय :—मृग्यः उद्गलितदर्भकवलाः, मयूराः परित्यक्तनर्तनाः, अपसृतपाण्डुपत्राः लताः अश्रूणि मुञ्चन्ति इव ।

शब्दार्थः—मृग्यः=हरिणी, उद्गलितेत्यादि=कुशों के ग्रास उगल दिए हैं, परित्यक्तेत्यादि=नाचना बन्द कर दिया है, अपसृतेत्यादि=पुराने पीले पत्ते गिरा कर।

अनुवाद :—हरिणियाँ (अपने मुँह से चबाये हुए) कुशों के कवल उगले दे रहीं हैं, मयूरों ने नृत्य करना छोड़ दिया है। पीले पीले (पके हुए) पत्ते गिरा देने वालीं लतायें मानों आँसू बहा रही हैं ।

व्याख्या—आश्रम की समदुःखावस्था का वर्णन करती हुई प्रियम्वदा. शकुन्तला से कहती है :—

देखो—हरिणियाँ (अपने मुँह से चबाए हुए।) कुशों के कवल उगले दे रहीं हैं, मयूरों ने नाचना बन्द कर दिया है और लतायें पीले-पीले (पके हुए) पत्ते गिरा कर मानों आँसू गिरा रही है अर्थात् लताओं से पके पीले पत्ते इस प्रकार झड़ रहे हैं मानों तुम्हारे विरह में आँसू गिर रहे हों।

विशेष :—उद्गलितेत्यादि :—हरिणियाँ अर्धचर्वित भी कुश ग्रासों को विरहजन्य शोक के कारण अपने मुँह से उगल देती हैं इससे दुःखातिशय ध्वनित होता है। यद्यपि हरिणी और मयूर तिर्यग्योनि में उत्पन्न जीव हैं तथापि सहवासी होने के कारण उन्हें भी दुख का अनुभव हो रहा है ।

न केवल चेतन जीवों की ही ऐसी अवस्था है अचेतनों में भी तुम्हारे विरहजन्य दुःख का अनुभव देखा जाता है अतएव लतायें भी पीले पत्ते गिराने के ब्याज से मानों आँसू गिरा रही हैं। जब अन्य जीवों तथा अचेतन लतादिकों की यह अवस्था है तो कुटुम्बी जनों के विषय में कहना ही क्या। इससे कन्या के पतिगृह गमन के समय पितृकुल के लोगों को बड़ा कष्ट होता है, यह ध्वनित होता है ।

यहाँ लता मृगी आदि में स्त्रीलिंग निर्देश से यह सूचित किया गया है कि स्त्रियों के विदेश गमन के समय स्त्रियों को ही अधिक दुःख होता है ।

महाकवि **कालिदास** ने रघुवंश में भी ऐसा ही वर्णन किया है :—"नृत्तं मयूरा कुसुमानि वृक्षाः दर्भानुपात्तान् विजहु हंरिण्यः"

शकुन्तला—(स्मृत्वा) ताद ! लताबहिणिअं वणज्जोसिणिं दाव आमंतइस्सं ।
[तात ! लताभगिनीं वनज्योत्स्नां तावदामन्त्रयिष्ये]

काश्यपः—अवैमि ते तस्यां सौदर्यस्नेहम् इयं तावद्दक्षिणेन ।

शकुन्तला—(लतामुपेत्य) वणज्जोसिणि ! चूदसंगता वि मं पच्चालिंग इतो गदाहिं साहावाहाहिं । अज्जप्पहुदि दूरपरिवत्तिणी भविस्सं [वनज्योत्स्ने ! चूतसंगतापि मां प्रत्यालिङ्ग इतोगताभिः शाखाबाहुभिः अद्यप्रभृति दूरपरिवर्तिनी भविष्यामि ।]

काश्यप :—

संकल्पितं प्रथममेव मया तवार्थे
भर्तारमात्मसदृशं सुकृतैर्गता त्वम् ।
चूतेन संश्रितवती नवमालिकेय-
मस्यामहं त्वयि च संप्रति वीतचिन्तः ॥ १२ ॥

इतः पन्थानं प्रतिपद्यस्व ।

प्रस्तुत श्लोक में तपोवन के विरह कातरत्वप्रतिपादन रूप कार्य के प्रति, मृगी आदिकों का दर्भकवलादित्याग रूप तीन कारणों का कथन किया गया है अतः **समुच्चयालंकार** है । पाण्डुपत्र पतन में अश्रुपतनत्व की सम्भावना की गई है अतः **क्रियोत्प्रेक्षालंकार** है । मृगी आदिकों पर दर्भकवलादित्याग रूप कार्य के द्वारा बन्धुजन व्यवहार का आरोप किया गया है अतः **समासोक्ति अलंकार** है । इन सब में परस्पर निरपेक्षतावश **संसृष्टि** है । **अनुप्रास** । **गाथा छन्द है** ।

संस्कृत व्याख्या—मृग्यः हरिण्यः उद्गलिताः दर्भाणां कवलाः याभिस्ताः उद्गलित-दर्भकवलाः उद्गीर्णकुशग्रासाः, मयूराः बर्हिणः परित्यक्तं नर्तनं यैस्ते परित्यक्तनर्तनाः वर्जितनर्तनव्यापाराः । अपसृतानि पाण्डूनि पत्राणि यासां ताः अपसृतापाण्डुपत्रा पतित-परिणामपाण्डुवर्णपत्रा लता वल्लयः अश्रूणि नेत्रजलानि मुञ्चन्ति परित्यजन्तीवेति । अलंकारादय उक्ताः । गाथा वृत्तम् ।

शकुन्तला—(स्मरण करके) तात ? मैं जरा अपनी बहिन वनज्योत्स्ना लता से अनुमति ले लूँ । यहाँ लता पर भगिनी का आरोप किया गया है, उसके प्रकृत में सम्भाषण में उपयोगी होने से **परिणामालंकार** है ।

काश्यपः—उस पर तेरा सहोदरा बहिन जैसा स्नेह है यह मैं जानता-हूँ, देख, यह दाहिनी ओर है ।

शकुन्तला—(लता के पास जाकर) प्यारी वनज्योत्स्ने ! तू आम के वृक्ष से लिपटी हुई होने पर भी अपनी इधर फैली हुई शाखा रूपी वाहुओं से मुझ से भेंट ले क्योंकि आज से तो मैं तुझसे बहुत दूर जा पड़ूँगी । शाखाबाहुभिः में परम्परित रूपकालंकार है तथा पूरे वाक्य से यह भी ध्वनित होता है कि पतिप्रेम से भी अधिक सौन्दर्य स्नेह होता है ।

श्लोक १२ अन्वय—मया तव अर्थे प्रथमम् एव संकल्पितं, त्वं सुकृतैः आत्मसदृशं भर्तारं गता (असि) इयं नवमालिका चूतेन संश्रितवती (अस्ति) अहं सम्प्रति अस्यां त्वयि च वीतचिन्तः (अस्मि)

शब्दार्थः—संकल्पितं=मन से दृढ़ इच्छा की थी, तवार्थे=तुम्हारे निमित्त अर्थात् तुम्हें योग्य वर को देने के लिये, सुकृतैः=मत्कृत पुण्यों से अथवा स्वयं पूर्वजन्मोपात्त पुण्यों से । आत्म सदृशं भर्तारम्=स्वानुरूप पति, अर्थात् अभिजनोचित गुणों से सौन्दर्य से-अपने

शकुन्तला—(सख्यौ प्रति ।] हला ! एसा दुवे णं वो हत्थे णिक्खेवो । [हला ! एषा द्वयोर्युवयोर्ननु हस्ते निक्षेपः ।]

सख्यौ—अअं जणो कस्स हत्थे समप्पिदो ? [अयं जनः कस्य हस्ते समर्पितः ?।] (इति बाष्पं विहरतः ।)

काश्यप—अनुसूये ! अलं रुदित्वा । ननु भवतीभ्यामेव स्थिरीकर्तव्या शकुन्तला ।

(सर्वे परिक्रामन्ति !)

शकुन्तला—ताद ! ऐसा उडजपज्जंतचारिणी गब्भमंथरा मिअवहू जदा अणघप्पसवा होइ पदा मे कंति पिअणि वेदइत्तअं विससज्जइस्सह । [तात ! एषोटजपर्यन्तचारिणी गर्भमन्थरा मृगवधूर्यदानघप्रसवा भवति तदा मह्यं कमपि प्रियनिवेदयितृकं विसर्जयिष्यथ ।]

जैसा भर्ता, न केवल तुम्हारा हीं भर्ता (पालक) अपितु त्रिभुवन का भरण करने में समर्थ ऐसे आत्म सदृश पति को, गता=प्राप्त हुई हो । संश्रितवती=लपटी हुई है । सम्प्रति=इस समय, अब, वीतचिन्तः=चिन्ता रहित ।

अनुवादः—मैंने पहिले ही तेरे लिये (तेरे जैसे वर का) संकल्प किया था तूने अपने (पूर्वजन्म कृत) पुण्यों से अपने अनुरूप पति को पा लिया है । यह नवमालिका जो आम्र वृक्ष से भली भाँति लिपट गई है, अब मैं इसके विषय में और तुम्हारे विषय में चिन्तारहित हो गया हूँ ।

व्याख्याः—महर्षि काश्यप कहते हैं :

मैंने पहिले ही तेरे लिये तेरे जैसे पति का संकल्प किया था तूने अपने पूर्वजन्म कृत-पुण्यों से वैसा ही अपने अनुरूप पति पा लिया है और यह नवमालिका भी ठीक आम्रवृक्ष से लिपट गई है अतः अब मैं तुम दोनों की चिन्ता से रहित हो गया हूँ । तात्पर्य यह है कि यह वनज्योत्स्ना भी मत्कृत जल सेचनादि कार्यों से बढ़ कर अब आम्र से लिपट गई है अर्थात् इसे भी अब सहारा मिल गया है और तू भी योग्य पति को प्राप्त कर चुकी है अतः मैं तुम दोनों से निश्चिन्त हो गया हूँ ।

विशेष :—संकल्पितम्=अर्थात् मुझ तपोधन का यह पहिले से ही संकल्प था कि तू आत्म सदृश योग्य वर को प्राप्त हो ।

सुकृतैः=चिन्तित भी योग्य समागम् बिना पुण्यों के नहीं होता अतएव सुकृतैः का प्रयोग किया गया है !

इयं=पुरतो दृश्यमान नवमालिका भी सुकृतैः एव चूतेन संश्रितवती अर्थात् नवमालिका भी सुकृतों से ही आम्र पर लिपट सकी है, अतः इस पक्ष में सुकृत का अर्थ है सुष्टुकृत=अच्छी तरह किये गये कार्य-समुचित भूमि पर आम्र के समीप आरोपण, जलसेचन, रक्षा सम्वर्धनादि कार्य जो कि इसके लिये काश्यप द्वारा किये गये थे ।

अस्याम्—नवमालिका के विषय में । शकुन्तला के विश्वास एवं सन्तोष के लिये है "अस्यां" का प्रथम निर्देश किया है ।

वीतचिन्तः—अनुरूप वर प्राप्ति के कारण निश्चिन्त । जैसा कि कवि ने स्वयं कुमारसम्भव में कहा है ।

काश्यपः—नेदं विस्मरिष्यामः ।

शकुन्तला—(गतिभङ्गं रूपत्विा) को णु खु एसो णिवसण में सज्जइ। (को नु खल्वेष निवसने मे सज्जते] (इति परिवर्तते ।)

काश्यप :—वत्से !

"**अशोच्या हि पितुः कन्या सद्भर्तु:प्रतिपादिता**" इससे काश्यप की कृतार्थता द्योतित होती है :—

काश्यप के इस सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अब मैं निश्चित हो गया हूँ उसी प्रकार अब तुम भी तपोवन बिरह दुःख को किसी भी प्रकार सह कर अनुरूप पति प्राप्ति के लाभ को सोच कर निश्चिन्त एवं प्रसन्न रहो।

प्रस्तुत श्लोक में दोनों प्राकरणिक हैं अतः **तुल्ययोगितालंकार** है। चूत एवं नवमालिका पर नायक नायिका व्यवहार समारोपण से **समासोक्ति** अलंकार है। योग्य से योग्य का समागम कहा गया है अतएव **समालंकार** है। परस्पर दोनों एक दूसरे के उपकारी हैं अतः **अन्योन्यालंकार व्यङ्ग्य** है, प्रकृत नायिका और नवमालिका के सङ्गमन रूप एक धर्म का पद भेद से निर्देश किया गया है इससे **अर्थावृत्ति दीपक अलंकार** है, पूर्व वाक्यार्थ का उत्तरपदार्थ उपपादक है अतः **काव्यलिंग अलंकार** है, **भाव ध्वनि** है। **अनुप्रास**। **वसन्ततिलका** छन्द है।

भृ+तृच् द्वितीयैक वचने भर्तारम् सम्+श्रि+क्तवत् स्त्रीलिङ्ग संश्रितवती, वि+इ+क्त=वीत ।

संस्कृत व्याख्या :—मया तपोधनेन काश्यपेन प्रथमं एव यौवनारम्भात् परिणयाद्वा पूर्वमेव तदार्थे त्वत्प्रयोजनिमित्तं प्रयोजनञ्च योग्यसमागम एव। संकल्पितं मनसीप्सितम् सुकृतैः मत्कृतपुण्यैः, स्वयं पूर्वजन्मकृतपुण्यै र्वा आत्मनः सदृशं आत्मसदृशं भर्तारं स्वानुरूपं पतिं गता प्राप्ता (असि) इयं पुरोदृश्यमाना नवमालिका अपि चूतेन आम्रेण सुकृतैः समीपारोपणजलसेचननादिभिः सुष्ठु कृतैः कार्यैः=संश्रितवती समाश्रिता अतः अस्यां नवमालिकायां त्वयि च अहं कश्यपः सम्प्रतिइदानीं वीता अपगता, चिन्ता योग्यवरयोजनात्मिका चिन्ता यस्य स वीतचिन्तः (अस्मि) युवां ममाशोच्ये जाते इत्यर्थः।

(अब इधर से मार्ग पर आ जाओ)

शकुन्तला :—(दोनों सखियों से) सखियों ! मैं इस नवमालिका को तुम दोनों के हाथों सौंपती हूँ। सनु=निश्चय रूप से निक्षेप का अर्थ है धरोहर के रूप में तुम को सौंपती हूँ।

सख्यौ :—दोनों सखियाँ कहती हैं—यह जन अर्थात् प्रियम्वदा और अनुसूया रूप जन किसके हाथ सौंप रही हो अर्थात् नवमालिका को तुमने हमारे हाथों सौंप दिया है पर हम दोनों को किसके हाथ सौंपे जा रही हो।

(यह कह कर रोने लगती हैं)

काश्यपः—रोओ मत अनुसूया, तुम दोनों ही को तो शकुन्तला को धीरज बँधाना है अर्थात् तुम दोनों को शकुन्तला को धीरज बँधाना चाहिये था परन्तु तुम तो स्वयं रो रहो हो तो अब मैं तुम को समझाऊँ या शकुन्तला को। तुम लोग उसकी विश्वास पात्र हो अतः तुम्हीं को उसे धीरज बँधाना चाहिये अतः तुम्हें स्वयं न रोना चाहिए नहीं तो शकुन्तला और दुखी होगी।

सब चलने लगते हैं

यस्य त्वया व्रणविरोपणमिङ्गुदीनां
तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे ।
श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितको जहाति
सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते ॥ १३ ॥

शकुन्तला :—पिता जी ! पर्णशाला के प्रान्त भाग में विचरने वाली, गर्भ के भार से धीरे-धीरे चलने वाली, यह मृगी जब सुख से प्रसव करे अर्थात् जब इसके बच्चा पैदा हो तब मेरे पास किसी इस प्रिय समाचार कहने वाले को भेज दोगे। वधू पद से मृगी का यौवन काल तथा उसका प्रथम प्रसव द्योतित होता है। सम्पूर्ण वाक्य से शकुन्तला अपनी गर्भावस्था से मृगवधू की अवस्था की तुलना करती है, और इस कथन से मृगवधू के प्रति आदरातिशय द्योतित होता है। वास्तव में यहाँ पर शकुन्तला की यह गूढ़ोक्ति है कि मेरी बात तो (अर्थात् प्रसवादि वार्ता) तुम्हें अवश्य ही प्राप्त हो जानी चाहिये।

काश्यप :—यह न भूलूंगा।

शकुन्तला :—(चलने में रुकावट का अभिनय करके) अरे यह कौन मेरा अञ्चल पकड़ कर खींच रहा है ?

(यह कह कर पीछे घूम कर देखती है ।)

काश्यप :—हे पुत्रि—

श्लोक १३ अन्वय :—त्वया यस्य (मृगस्य) कुशसूचिविद्धे मुखे व्रणविरोपणं इंगुदीनां तैलं न्यषिच्यत, श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितकः पुत्रकृतकः सः अयं मृगः ते पदवीं न जहाति।

शब्दार्थ :—कुशसूचिविद्धे=कुशों के नुकीले अग्रभाग से घायल हुए, व्रणविरोपणं=घाव को सुखाने वाले या दूर करने वाले, इंगुदीनाम्=इंगुदी नामक वृक्षों के फलों का, न्यषिच्यत=लगाया करती या डाला करती थीं। श्यामाकेत्यादि=श्यामाक नाम तृणधान्य विशेष की मुट्ठी से पाला हुआ, पुत्रकृतकः=कृत्रिम पुत्र, पालितपुत्र। पदवीं=मार्ग, जहाति=छोड़ता है।

अनुवाद :—तुम्हारे द्वारा जिस मृग के कुशों के नुकीले अग्रभाग से छिदे हुये मुख पर घाव को सुखाने वाला हिंगोट का तेल लगाया जाया करता था, और जो तेरे हाथ से दिये गये) मुट्ठी भर सावें के दानों से पला हुआ है (अतएव) जो तुम्हारा कृतक पुत्र है, वह यह मृग तुम्हारा मार्ग नहीं छोड़ रहा है।

व्याख्या :—तुम्हारे द्वारा जिस मृग के कुशों के नुकीले अग्रभागों से छिदे हुए मुंह पर घाव को सुखाने वाला हिंगोट का तेल लगाया जाया करता था अर्थात् जब इसका मुंह कुशों के अभाग से छिद जाता था उसमें घाव हो जाता था तो उस घाव को सुखाने के लिए तुम उस पर हिंगोट का तेल लगा दिया करती थीं। और जो (तेरे हाथ के दिये हुये) मुट्ठी भर सावें के दानों से पला हुआ है अतएव जो तुम्हारा कृतक पुत्र है वह यह मृग तुम्हारा मार्ग नहीं छोड़ रहा है अर्थात् पल्ला पकड़ कर मार्ग रोके खड़ा है।

विशेष :—त्वया=अत्यन्त दयालु माता तुल्य तुम्हारे द्वारा (**यह अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि है**) कुशेत्यादि=कुशों की सूचियों से विद्ध, सूची का अर्थ **लक्षणा द्वारा सुई के समान तीक्ष्ण हैं, इससे वेधन योग्यतातिशतय ध्वनित** होता है, विद्ध का अर्थ है कि जब वह नासमझ मृग कुशाग्र भाग को खाने के लिये प्रवृत्त होता था उसका मुंह क्षतविक्षत हो जाता था। किसी आचार्य का कथन है कि **वेध तो अग्रभाग से ही सम्भव है** अतः कुशविद्ध इतना ही पर्याप्त था सूची शब्द व्यर्थ है अतएव **कुशा एवं सूचयः इस प्रकार रूपक समास** द्वारा

शकुन्तला—वच्छ ! किं सहवासपरिच्चचाइणि मं अणुसरसि ? अचिरपसूदाए जणणीए विना वड्ढिदो एव्व । दाणि पि मएविरहिदं तुमं तादो चिंतइस्सदि । णिवत्तेहि दाव । [वत्स ! किं सहवासपरित्यागिनीं मामनुसरसि ? । अचिरप्रसूतया जनन्या विना वर्धित एव । इदानीमपि मया विरहितं त्वां तातश्चिन्तयिष्यति । निवर्तस्व तावत् ।]

(इति रुदती प्रस्थिता)

काश्यपः—

उत्पक्ष्मणोर्नयनयोरुपरुद्धवृत्तिं
बाष्पं कुरु स्थिरतया विहतानुबन्धम् ।

इसकी व्याख्या करना उचित है मुखे का अर्थ है मुखान्तर या मुखान्त अर्थात् मुख का भीतरी भाग अतएव घाव के भीतरी होने के कारण प्रयत्नातिसाध्यत्व ध्वनित होता है। इंगुदीनाम=इंगुदी नामक वृक्ष विशेष जिसके फलों से तेल निकलता है, मुनिजन इसी का तेल के रूप में विभिन्न कार्यों में प्रयोग करते थे इसे हिंगोट भी कहते हैं। इससे शकुन्तला का विभिन्न कार्यों का परिज्ञान, कर्म कुशलता एवं मृगों पर स्नेहातिशय ध्वनित होता है। श्यामाकेत्यादि :—मुष्टि पद से मृग का अतिशैशव काल प्रतीत होता है अतएव वह स्वयं खाने में असमर्थ था इसलिये शकुन्तला सावें के दानों को अपनी मुट्ठी में रखकर उसके मुख में दिया करती थी इससे शकुन्तला का **पोषण प्रकार ज्ञान** सूचित होता है। परिवर्धितकः में अनुकम्पा अर्थ में क प्रत्यय अथवा स्वार्थ में कन प्रत्यय है, पुत्रकृतकः=माना हुआ पुत्र न तु औरस पुत्र, अर्थात् कृत्रिम पुत्र । न जहाति=पूर्वकृत उपकार का स्मरण करके कृतज्ञतावश अथवा भावी वियोग जन्य दुःख की आशंका से विह्वल होने कारण तुम्हारे पतिगृह गमन मार्ग को नहीं छोड़ता है।

इस प्रकार प्रथम तीन पदों से शकुन्तला का मृग पर तथा अन्तिम चरण से मृग का शकुन्तला पर **स्नेहातिशय** दिखलाया गया है। यह मुनि की पूर्ववत भावध्वनि है। पदवी-त्यागाभाव के प्रति पूर्व वाक्य हेतु हैं अतः **काव्यलिंग, मृग स्वाभावोक्ति, छेक श्रुति वृत्ति अनुप्रास वसन्ततिलका का छन्द है।**

वि+रुप+करणे ल्युट्=विरोपणम्, नि+सिच्कर्मणि यक् लङि रुपम् न्यषिच्यत । परिवर्द्धित शब्दात अल्पार्थे क=परिवर्द्धितकः ओहाक् त्यागे लटिरुपम्जहाति ।

संस्कृत व्याख्या—त्वया दयार्द्रया मातृभूतया शकुन्तलया यस्य मृगस्य कुशानां सूचयः ताभिः विद्धं तस्मिन् कुशसूचिविद्धे=सूचिवत्तीक्ष्णकुशाग्रभागक्षतविक्षतीकृते मुखे वक्त्रान्ते व्रणस्य क्षतस्य विरोपणं विरोपणं व्रणविरोपणं क्षतनाशकम् इङ्गुदीनां तापसतरुफलानां तैलं न्यषिच्यत निषिक्तम् । श्यामाकनां मुष्टिभिः परिवर्द्धितकः श्यामाकमुष्टिपरिवर्द्धितकः=मुनिजनभक्ष्यतृण धान्यविशेषमुष्टिपरिपालितः अतएव अपुत्रः पुत्रः कृतः इति पुत्रकृतकः 'श्रेण्यादिभ्यः कृतादि मिरिति समासः ततोऽनुक म्पायां स्वार्थे वा कः । सः अयं त्वद्विरहदुःखेन त्वामनुसरन् मृगः ते तव पदवीं पतिगृहगमनमार्गं न जहाति न परित्यजति । उक्ता अलंकारादयः वसन्ततिलकं वृत्तम् ।

शकुन्तला—बच्चे तुम्हारा सहवास परित्याग करने वाली मेरे पीछे तुम क्यों आ रहे हो, अर्थात् तेरा साथ छोड़कर दूर जाने वाली भी मेरे पीछे तू कहाँ जा रहा है। तेरी मां जब तुझे जन्म देने के बाद ही तुरन्त मर गई थी उस समय मैंने तुझे पाल पोष कर बड़ा किया था और अब मेरे पीछे पिताजी तेरी देखभाल करेंगे अर्थात् तेरी माँ के मरने के बाद मैंने तेरा पालन पोषण किया था और अब उसी तरह जबकि मेरा साथ छूट रहा है, 'तो पिताजी तुम्हारी देखभाल करेंगे, तो जा लौट जा ।

अस्मिन्नलक्षितनतोन्नतभूमिभागे
मार्गे पदानि खलु ते विषमीवन्ति ॥ १४ ॥

शांर्ङ्गरवः—भगवन् ! उदकान्तं स्निग्धो जनोऽनुरन्तव्य इति श्रूयते। तदिदं सरस्तीरम् । अत्र संविश्य प्रतिगन्तुमर्हसि ।

काश्यपः—तेन हीमां क्षीरवृक्षच्छायामाश्रयामः ।

(सर्वे परिक्रम्य स्थिताः)

काश्यपः—(आत्मगतम्) किं नु खलु तत्रभवतो दुष्यन्तस्य युक्तरूपमस्माभिः संदेष्टव्यम् (इति चिन्तयति ।)

इस प्रकार रोती हुई प्रस्थान करती है ।

काश्यपः—

श्लोक १४ अन्वयः—उत्पक्ष्मणोः नयनयोः उपरुद्धवर्त्ति वाष्पं स्थिरतया विहतानुबन्धं कुरु, अस्मिन् अलक्षितनतोन्नतभूमिभागे मार्गे ते पदानि विषमी भवन्ति खलु ।

शब्दार्थः—उत्पक्ष्मणोः=जिन नेत्रों के नेत्रलोम (विरौनी) ऊपर उठ गए हैं, उपरुद्धवृत्तिम्=वृत्ति=देखने की शक्ति, दर्शनव्यापार, उपरुद्ध=रुकी हुई अर्थात् जिससे नेत्रों की दर्शनशक्ति रोक दी गई है, स्थिरता=धीरज धारण करके, विहतानुबन्धं=अनुबन्ध =लगातार बहना, विहत=रोकना अर्थात् नेत्रों से लगातार बहने वाले आँसुओं को रोकना, अलक्षितेत्यादि=जिस मार्ग में ऊँची नीची भूमि नहीं देखी गई है अर्थात् आंसुओं के कारण जिस मार्ग की ऊँची नीची भूमि को तुम देख नहीं पातीं अथवा अलक्षितेत्यादि पद शकुन्तला के लिये सम्बोधन है अर्थात् ऊँची-नीची भूमि से अपरिचित हे शकुन्तले । विषमी भवन्ति= लड़खड़ाते हैं ।

अनुवादः—जिनके नेत्रलोम ऊपर की ओर उठे हुये हैं । (ऐसे अपने) नेत्रों के, दर्शन व्यापार को उपरुद्ध करने वाले आँसू को, धैर्य धारण कर, लगातार बहने से रोक लो क्योंकि जिसका ऊँचा नीचा भूमि भाग नहीं देखा गया है (ऐसे) इस मार्ग पर तेरे चरण (कदम) लड़खड़ा रहे हैं ।

व्याख्या—रोती हुई शकुन्तला से काश्यप कहते हैं कि :—

तुम्हारे नेत्रों के लोम ऊपर को उठे हुए हैं अतः जब उनमें आंसू आ जाते हैं तो उनकी दर्शनशक्ति रुक जाती है अतः धीरज धारण कर आंसू रोको । तात्पर्य यह है कि अश्रु पतन से अमङ्गल न हो इसलिये उनको रोकने के लिए तुमने अपने नेत्रलोमों को ऊपर उठा रखा है परन्तु फिर भी लगातार रोने के कारण जो आँसू आ जाते हैं उनसे तुम्हारी मार्ग देखने की शक्ति रुद्ध हो जाती है अतः धीरज धारण कर इन लगातार बहने वाले आँसुओं को रोक लो, केवल अमङ्गल वारणार्थ नेत्रलोमों को ऊपर उठा लेना पर्याप्त नहीं है, रोना बन्द किए बिना अश्रु प्रवाह बन्द न होगा । सारांश यह कि धीरज धर कर इन आँसुओं को पोंछ डालो रोना बन्द करो क्योंकि इन आँसुओं के कारण तेरी उठी हुई विरौनियों वाली आँखें ठीक से मार्ग देख नहीं पा रही । अतएव इस ऊबड़ खाबड़ भूमि भाग वाले मार्ग पर तुम्हारे पैर लड़खड़ा रहे हैं, उल्टे सीधे पड़ रहे हैं ।

विशेष—उत्पक्ष्मणोः इस विशेषण के लिए ही यहाँ विशेष्य नयन पद का प्रयोग किया है अन्यथा वाष्प, नयन के ही होते हैं, अर्थात् जहाँ नयन होंगे वहीं वाष्प होगा, इस प्रकार नयन पद तो अविनाभाव सम्बन्ध से आक्षिप्त हो ही जाता ।

खलु का अर्थ यहाँ यतः (क्योंकि) है ।

शकुन्तला—(जनान्तिकम्) **हला पेक्ख णलिणोपत्तंतारिदं वि सहअरं अदेक्खंती आदुरा चक्कवाई आरडवि दुक्करं अक्करं अहं करेमि त्ति।** [हला ! पश्य; नलिनी-पत्रान्तरितमपि सहचरमपश्यन्त्यातुरा चक्रवाक्यारौति दुष्करमहं करोमीति]

अनुसूया—सहि ! गा एव्वं मंतेहि [सखि ! मैवं मन्त्रय।]

"विषमीभवन्ति" तुम्हारे चरण उल्टे सीधे गिरते हैं, यह न कह कर विषमीभवन्ति कहने का तात्पर्य यह है "कि निपतन्ति=पतित होते हैं, गिरते हैं, यह शब्द अमङ्गल सूचक है जिसका उच्चारण यात्रा समय में वर्जित है अतः निपतन्ति न कह कर विषभीवन्ति कहा है। निपतन्ति कहने से शकुन्तला को भी अमंगलाशंका की सम्भावना होती अतएव विषमी भवन्ति कहा है।

यहाँ पूर्वार्ध वाक्य के प्रति उत्तरार्ध वाक्य हेतु है अतः **वाक्यार्थ हेतुक काव्यलिङ्ग है।** तथा पादों के विषम होने में नतोन्नत भूमि का अलक्षित होना हेतु है अतः **पदार्थ हेतुक भी काव्यलिङ्ग** है। इन दोनों का गुणप्रधान भाव से **गांगिभाव होने से संकर है।**

वाष्प नयन के विना नहीं हो सकते अतः **पुनः नयन** पदोपादन से अर्थगत **पौनरुक्त्य** दोष की आशंका यहाँ न करनी चाहिये क्योंकि यहाँ उत्पक्ष्मणोः इस विशेषण के लिए ही नयन पद का उपादान है जैसा कि प्रायः प्रयोग होता है। **"उवास माधुरां वाचम्"। वसन्त तिलका छन्द** है। सम्पूर्ण श्लोक का भाव यह है कि रोना न केवल अमंगल सूचक ही है प्रत्युत यह गमन विरोधी भी है अतः तुम मत रोओ।

संस्कृत व्याख्या—उत्—उद्गतानि पक्ष्माणि नेत्ररोमाणि ययोः तयोः उत्पक्ष्मणोः नयनयोः नेत्रयोः उपरुद्धाः निरुद्धा वृत्तिः दर्शनशक्तिः येन तत् उपरुद्धवृत्ति स्वविषयप्रतिरुद्ध-दर्शनव्यापारं वाष्पं अश्रुजलं स्थिरतया धैर्येण विहतः शिथिलितः, मन्दीकृतः प्रतिहतः अवरुद्धो वा अनुबन्धः अविश्रान्ताश्रुप्रवाहः यस्य तत् विहतानुबन्धं कुरु मा रुदिहीति भावः। खलु यतः अलक्षितः अदृष्टः नतोन्नतः वन्धुरः नीचोच्चो वा **भूमेः** भागः **भूमेः सन्निवेशः यस्मिन् तस्मिन्** अलक्षितनतोन्नतभूमिभागे **अस्मिन्** पुरोदृश्यमाने मार्गे ते तव पदानि **चरणाविन्यासाः** विषमीभवन्ति स्खलन्ति। ते **चरणविन्यासा** असमाना भवन्तीत्यनु**मीयते** यत्त्वं पतिष्यसीति भावः। अलंकारादाय उक्ताः, वसन्ततिलकं **वृत्तम्।**

शार्ङ्गरवः—भगवान् सुना जाता है कि प्रियजन (प्रियजनों को विदा देते समय) जलाशय तक ही उनके पीछे-पीछे या साथ-साथ जाते हैं, उसके बाद लौट जाते हैं। अतः अब यह सरोवर का किनारा है अतः यहाँ कुछ ठहर कर आपको लौट जाना चाहिए (कहीं कहीं संदिग्ध पाठ है अतः इसका अर्थ है कि जो कुछ उपदेश देना हो वह देकर लौट जाइये। इस सम्बन्ध में श्रुति का प्रणाम है 'ओदकान्तं प्रियं प्रोथमनु व्रजेत्"

काश्यप—तो चलो फिर हम लोग, इस क्षीर वृक्ष की छाया में थोड़ा बैठ लें। (क्षीर वृक्ष से तात्पर्य है दुग्ध प्रधान वृक्ष, सप्तपर्ण पीपल या वट वृक्ष) वट की छाया घनी होती है और वट में दूध भी होता है। मंगल और छायाधिक्य के कारण ही क्षीर वृक्ष का ग्रहण है।

(सब चल कर बैठ जाते हैं)

काश्यप—(मन में) माननीय राजा दुष्यन्त के पास कैसा संदेश भेजना ठीक होगा (सोचता है) तत्र भवता=मान्य, **वर्णाश्रमरक्षक**, 'दुष्यन्तस्य' इस नाम ग्रहण से पुत्रवत् स्नेह प्रकर्ष सूचित किया गया है। **युक्तरूपम्**=अतिशयेन युक्त अर्थात् सर्वथा उसके अनुरूप।

शकुन्तला—(सखि से अलग) सखि, देख तो ! कमलिनी के पत्तों की भी ओट में छिपे हुए अपने सहचर चकवे को न देखती हुई चकवी घबड़ा कर चिल्ला रही है, मैं तो

एसा वि पिएण विणा गमेइ रअणि विसाअदीहअरं।
गरुअं पि विरहदुक्खं आसादन्धो सहावेदि ॥ १५ ॥
[एषापि प्रियेण बिना गमयति रजनीं विषाददीर्घतराम्।
गुर्वपि विरहदुःखमाशाबन्ध साहयति ॥]

काश्यपः—शार्ङ्गरव ! इति त्वया मद्वचनात्स राजा शकुन्तलां पुरस्कृत्य वक्तव्यः।

शार्ङ्गरवः—अज्ञापयतु भवान्।

बड़ा कठिन कार्य कर रही हूँ, (जो कि इतने दिनों से पति के बिना जी रही हूँ, तात्पर्य यह है कि कमलिनी पत्र मात्र के व्यवधान होने पर भी यह चक्रवाकी अपने प्रिय को न देखती हुई व्याकुल हो रही है; परन्तु मैं तो प्रिय से चिरविरहित होकर भी अब भी जी रही हूँ वास्तव में यह मेरा बड़ा दुष्कर काम है।

अनुसूया—सखि ! ऐसा नहीं सोचना चाहिए—

श्लोक १५ अन्वय—एषा अपि प्रियेण बिना विषाददीर्घतरां रजनीं गमयति। आशाबन्धः गुरु अपि विरह दुःखं साहयति।

शब्दार्थ—विषाददीर्घतराम्—प्रिय विरह जन्य दुःख के कारण अधिक लम्बी, गमयति=व्यतीत करती है। गुरु अपि=बहुत अधिक भी, आशाबन्ध=आशा का बन्धन, साहयति=सहन कराता है।

अनुवाद :—यह चकवी भी तो अपने प्रियतम के बिना विरहजन्यदुःख के कारण अधिक लम्बी रात्रि को बिता देती है। (प्रिय समागम की) आशा का बन्धन बहुत अधिक भी विरह-दुःख को सहन कराता है।

व्याख्या—देखो यह चकवी भी तो जो कि एक क्षणमात्र भी प्रिय बिना नहीं रह सकती, प्रिय विरह जन्य विषाद की बड़ी लम्बी रात को प्रिय के बिना ही काट देती है (तुम्हीं केवल विरह की रातों को नहीं काटती) इस प्रकार **वक्रोक्ति चातुर्य से** शकुन्तला को धीरज बँधा कर फिर अनुसूया **अर्थान्तर न्यास** के द्वारा अपनी बात की पुष्टि करती हैं :—

आशा का बन्धन अर्थात् प्रिय समागम की आशा का बन्धन असह्य भी विरह के दुःख को सहन कराता है तात्पर्य यह कि प्रिय मिलन की आशा से विरही जन अत्यन्त असहनीय भी विरह दुःख को सहन कर लेता है। जिस प्रकार चकवी प्रातः प्रिय मिलन की आशा से प्रत्येक रात को प्रिय बिना ही बिता कर प्रातःकाल प्रिय से मिल कर आनन्दानुभव करती है उसी प्रकार तुम भी प्रिया समागम की आशा को हृदय में धारण करो और इस प्रकार कुछ समय बाद ही प्रिय से मिल कर सुख का अनुभव करोगी।

प्रियेण बिना=अर्थात् नाथ या कान्त के बिना नहीं अपितु प्रिय के बिना रञ्जयति लाकान् इति रजनी, अर्थात् रात्रि मात्र ही नहीं, अपितु विषाद से—प्रिय विरहजन्य दुःख से दीर्घ ही नहीं, अपितु दीर्घतर रात्रि को बिताती है अथवा विषाद का अर्थ है विषाद युक्त अर्थात् बिरही जनों के लिये दीर्घतर रात्रि को बिताती ही है।

संस्कृत व्याख्या—एषा पुरोदृश्यमाना चक्रवाकी अपि प्रियेण स्वसहचरेण चक्रवाकेन बिना विषादेन प्रिय विरहजन्य सन्तापेन अतिशयेन दीर्घा इति दीर्घतरातां विषाददीर्घतराम् रजनीं रात्रि गमयति नयति। आशायाः बन्धं प्रियसमागमाशा बन्धनम् गुरु अधिक मपि विरहदुःखम् साहयति सोढु मुत्साहयति।

काश्यपः—

अस्मान्साधु विचिन्त्य संयमधनानुच्चैः कुलं चात्मन-
स्त्वय्यस्याः कथमप्यबान्धवकृतां स्नेहप्रवृत्तिं च ताम्
सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकमियं दारेषु दृश्या त्वया
भाग्यायत्तमतः परं न खलु तद्वाच्यं वधूबन्धुभिः ॥ १६ ॥

काश्यप—वत्स शार्ङ्गरव ? तुम मेरी आज्ञा से शकुन्तला को राजा के सम्मुख करके ऐसा कहना।

शार्ङ्गरव—आप आज्ञा दें।

काश्यप—

श्लोक १६ अन्वय—अस्मान् संयमधनान् साधु विचिन्त्य आत्मनः उच्चः कुल च साधु विचिन्त्य, त्वयि अस्याः कथमपि अबान्धवकृतां तां स्नेहप्रवृत्तिं च साधु विचित्त्य इयं त्वया दारेषु सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकं दृश्या, अतः परं भाग्यायत्तं तत् वधूबन्धुभिः न खलु वाच्यम्।

शब्दार्थ—संयमधनान्=संयम ही जिनका धन है अर्थात् संयमी तपस्वी, विचिन्त्य=सोच कर, साधु=भली भाँति, अबान्धवकृताम्=बन्धु जनों के द्वारा न की गई, स्नेहप्रवृत्तिम् =स्नेह प्रवाह, प्रेमाधिक्य, दारेषु=पत्नियों में, सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकम्=समान भाव से, अतः परं=इसके उपरान्त।

अनुवाद—हम लोगों को संयमी तपस्वी भली भाँति सोचकर, तथा अपने उच्च कुल का भली भाँति विचार करके, तथा तुम पर किसी प्रकार (अनिर्वचनीय कारण वश उत्पन्न) इस शकुन्तला के उस प्रेम प्रवाह को जो कि बन्धुओं द्वारा उत्पन्न नहीं कराया गया है भली भाँति समझकर इसे तुम्हें अन्य पत्नियों में समान भाव पूर्वक देखना चाहिए इसके उपरान्त सब कुछ भाग्याधीन हैं। इस बात को वधू के बन्धुजनों को न कहना चाहिये।

व्याख्या—हम लोगों को सीधे सादे संयमी (एकमात्र संयम ही जिनके पास है अन्य सांसारिक सम्पत्ति कुछ नहीं) तपस्वी जान कर तथा अपने उच्च कुल का विचार कर एवं इस बात को अच्छी तरह सोचकर कि तुम्हारे प्रति इसका स्वतः इतना बड़ा अनुराग है जो कि वास्तव में किसी लोकोत्तर चमत्कार के कारण ही से उत्पन्न हुआ है क्योंकि इसमें इसके बन्धुजनों का कोई हाथ नहीं है। तुम इसको अपनी अन्य रानियों के बीच समभाव से देखना। इसके उपरान्त और जो कुछ भी होगा वह सब इसके भाग्य के अधीन है उसके लिए कन्या के बन्धुजनों को कुछ न कहना चाहिये।

विशेष—अस्मान्=हम लोगों को—इसके आत्मीयजनों को अथवा पितृस्थानीय मुझको, बहुवचन निर्देश गौरव सूचनार्थ है।

संयमधनान्=संयम अर्थात् तप ही जिनका धन है। संयम धन से तात्पर्य यह है कि हम लोग तपस्वी हैं अतः यदि तुम इसे आदरपूर्वक ग्रहण कर लोगे तब तो हम तुम पर अनुग्रह करने की क्षमता रखते हैं अन्यथा तुम्हें शापादि द्वारा दण्ड भी दे सकते हैं। अथवा इससे यह भी सूचित किया है कि लोक व्यवहार में कन्या के बन्धुजन यौतुक दान (दहेज) के रूप में कन्या के साथ-साथ बहुत सा धन भी देते हैं तो इस सम्बन्ध में हमारे पास तो तप ही धन है लौकिक सम्पत्ति तो कुछ है भी नहीं, देंगे कहाँ से।

उच्चैः कुलम्=अपने आभिजात्य ऐश्वर्य आदि से समुन्नत प्रसिद्ध पुरुवंश को भी सोचकर अर्थात् आप एक ऐसे उत्तम कुल में उत्पन्न हुए हैं जिससे शकुन्तला के अपमानादि की सम्भवना भी नहीं हो सकती अतः आपको इसके स्वीकार के समय अपने कुल का ध्यान

होना चाहिए ऐसी कोई बात न हो जो आपके कुल को कलंकित करने वाली हो, सत्कुलोत्पन्न जन सर्वत्र समदर्शी, उदार, वचन प्रतिपालक होते हैं।

त्वयि अस्याः स्नेहप्रवृत्तिम्=यहाँ तव अस्या न कह कर इसकी तुम्हारे ऊपर स्नेह प्रवृत्ति कहा गया है इससे यह ध्वनित होता है कि तुम्हारे प्रथम दर्शन से लेकर इसका ही तुम्हारे प्रति प्रतिक्षण अनुराग सागर बढ़ता रहा है, यद्यपि नायक नायिका का परस्पर अनुराग ही रति का कारण होता है तथापि यहाँ पर शकुन्तला के पतिगृह गमन के अवसर पर अवसर प्राप्त नायिका का ही अनुरागाधिक्य दिखाना था अतएव उसी का वर्णन किया है। स्नेह प्रवृत्तिम् में प्रवृत्ति का अर्थ है प्रवाह प्रेमाधिक्य।

कथमपि=जिस किसी प्रकार से, किसी अनिर्दिष्ट अथवा अदृश्य कारणवश, क्योंकि प्रथम दर्शन जन्य प्रेमाधिक्य का कारण प्रायः अनिर्दिष्ट तथा अनिर्वचनीय ही होता है, जैसा कि कवि महा भवभूति ने कहा है :—**"व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतुः न खलु वहिरूपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते**। अथवा जिस किसी भी प्रकार से—पारस्परिक प्रतिज्ञा से या किसी अन्य के संकेतादि से।

तामिति—इस सर्वनाम प्रयोग से यह व्यञ्जित होता है कि उस प्रकार की पूर्वानुभूति स्नेहप्रवृत्ति को जिसमें तुम दोनों ने विरहवश उन-उन काम की अवस्थाओं का अनुभव किया और समागमजन्यनन्द सागर में निमज्जन किया है।

अबान्धवकृताम्=अर्थात् जो स्नेहप्रवृत्ति कन्या के बन्धुजनों द्वारा नहीं उत्पन्न कराई गई थी। इस प्रकार कवि ने इस रागोत्पत्ति को अन्यकृत ही बताने का प्रयत्न किया है। इससे उसका तात्पर्य है कि यह रागोत्पत्ति स्थायी है और इसमें कोई लोकोत्तर चमत्कार है। क्योंकि यदि कन्या के बन्धुजनों द्वारा कन्या का वर में विवाहादि के द्वारा अनुराग उत्पन्न कराया जाता है तो यह सम्भव है कि यदि कन्या गुणवती हुई तब वर का उस पर स्थायी अनुराग रहता है अन्यथा नहीं भी रह सकता है, अनादर भी सम्भव है परन्तु यदि कन्या स्वयं ही बिना बन्धुजनों की अनुमति के ही किसी स्वानुरूप बर पर अनुरक्त हो गई हो और इतना ही नहीं, उसकी वासना पूर्ति द्वारा जिसने उसका उपकार भी किया हो और फिर भी यदि वह वर उस कन्या पर कम से कम सामान्य प्रतिपत्ति भी नहीं रखता तो यह उसकी बहुत बड़ी कृतघ्नता कही जायेगी।

दारेषु—परिगृहीत तथा परिगृह्यमाण रानियों में अर्थात् जो इस समय आपकी रानियाँ हैं तथा जो अन्य रानियाँ होंगी उन सबके बीच।

सामान्येति—सामान्य=साधारण—अन्य रानियों के समान, प्रतिपत्ति=गौरव आदर=अर्थात अन्य रानियों के समान आदरपूर्वक, ऐसा न हो कि यह समझ कर कि अन्य रानियाँ तो राजकन्यायें हैं और यह ऋषि कन्या है, इसका अनादर हो।

प्रश्न यह होता है कि मुनि ने साधारणप्रतिपत्ति के लिए ही क्यों कहा असाधारण गौरव देने के लिए भी तो कह सकते थे क्योंकि वे उसके पिता थे अतः अपनी कन्या के लिए सबसे अधिक गौरव की अभिलाषा करना उनके लिये स्वाभाविक बात थी, इसके उत्तर स्वरूप कवि स्वयं कहता है कि 'अतः परं भाग्यायत्तम' अर्थात् सामान्यप्रतिपत्ति से अधिक अन्य रानियों की अपेक्षा विशेष प्रतिपत्ति पूर्वक देखना, इसके पूर्वकृत कर्मों के अधीन है अर्थात् यदि इसका भाग्य अच्छा है तो अपने आप ही इसे सर्वाधिक गौरव मिलेगा ही (और मिला भी) इसके लिए कहने की कोई आवश्यकता न थी क्योंकि भाग्य का उल्लंघन कोई नहीं कर सकता।

यदि यह कहा जाय कि भाग्याधीन फल तो जनसाधारण की कन्याओं को मिलता ही है फिर उसे सर्व सामर्थ्यवान् ऋषि की कन्या होने से क्या फल हुआ? आपका आशीर्वाद

शार्ङ्गरवः—गृहीतः संदेशः।

काश्यपः—वत्से! त्वमिदानीमनुशासनीयासि। वनौकसोऽपि सन्तो लौकिकज्ञा वयम्।

शार्ङ्गरवः—न खलु धीमतां कश्चिदविषयो नाम।

काश्यप:—सा त्वमितः पतिकुलं प्राप्य,—

तो उसे भाग्य की परिधि से भी बढ़कर उत्तम फल दिला सकता था तथा दुष्यन्त जैसे प्रेमी से सामान्य प्रतिपत्ति की याचना करना कहाँ तक उचित था उससे तो विशेष प्रतिपत्ति ही सम्भव थी तो वैसा क्यों नहीं कहा गया। इसके उत्तर में कवि कहता है, न खलु तद्वाच्यं वधू बन्धुभिः अर्थात् कन्या के पिता आदि बन्धुजनों को इसकी याचना न करनी चाहिये क्योंकि कहने या प्रार्थना मात्र से सब कुछ मनोवाञ्छित वस्तु की प्राप्ति नहीं हो सकती, हानि लाभ सब कुछ भाग्याधीन है जैसा कि इन दोनों का प्रेम भी भाग्याधीन ही था।

इस पद्य से महर्षि की समदर्शिता सूचित होती है।

प्रस्तुत श्लोक में 'विचिन्त्य' इस एक क्रिया का 'अस्मान्' आदि तीन कर्मों से अभिसम्बन्ध है अतः **तुल्ययोगितालंकार** है। 'न खलु तद्वाच्यम् वधूबन्धुभिः इस पदार्थ के प्रति 'भाग्यायत्त' यह पदार्थ कारण है अतः **पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग है**। 'शकुन्तला बन्धुना मया' इस प्रस्तुत विशेष का कथन न कर जो 'वधू बन्धुभिः इस अप्रस्तुत सामान्य का कथन किया गया है इससे **अप्रस्तुत प्रशंसालंकार** है। इन अलंकारों में परस्पर निरपेक्षतावश **संसृष्टि** है। **श्रुति वृत्ति अनुप्रास। शार्दूल विक्रीडित छन्द है।**

साधु इति क्रिया विशेषणम्, वि+चिती+क्त्वा-ल्यप्=विचिन्त्य। बन्धुरेव बान्धवः स्वार्थे अण् प्रति+पद+क्तिन्=प्रतिपत्तिः, दृश्+यत्=दृश्या, वच्+ण्यत्=वाच्यम्।

संस्कृत व्याख्या:—संयम एवं धनं येषान्ते तान् संयमधनान् तपोधनान् तपस्विनः एतेन स्वनिग्रहानुग्रहसामर्थ्यं व्यज्यते। अस्मान् साधु सम्यक् प्रकारेण विचिन्त्य विचार्य आत्मनः स्वस्य उच्चैः कुलं उन्नतवंश च (विचिन्त्य) त्वयि दुष्यन्ते अस्याः शकुन्तलायाः कथमपि येन केनापि प्रकारेण बान्धवैः पित्रादिवधुजनैः कृता बान्धवकृता न बान्धवकृता अबान्धवकृता तां अबान्धवकृताम् शकुन्तलया स्वमेव कृतामित्यर्थः, कन्याप्रदानाधिकारिभिरकृतां तां तादृशी त्वयानुभूतां स्नेहप्रवृत्ति प्रेमाविक्यं (विचार्य) इयं शकुन्तला दारेषु भार्यासु सामान्या सर्वसाधारणी या प्रतिपत्तिः गौरवं "प्रतिपत्ति पदप्राप्तौ प्रवृत्तौ गौरवेऽपि चेति विश्वः" तत्पूर्वकम् इतरसाधारणादपुरस्कारेण दृश्या द्रष्टव्यां, अतः परं इतोऽधिकं भाग्यायत्तं भाग्याधीनं तद् वधूबन्धुभिः कन्याबान्धवैः न खलु वाच्यम् नैव कथनीयम्।

अलङ्कारादय उक्ताः, शार्दूलविक्रीडितम् वृत्तम्।

शार्ङ्गरव:—आपका आदेश **मैंने समझ** लिया।

काश्यप:—हे पुत्रि! अब तुम्हें शिक्षा देनी है, यद्यपि हम लोग वनवासी हैं तथापि लौकिक व्यवहार की बातें जानते हैं।

शार्ङ्गरव—प्रशस्त बुद्धिशालिजनों के लिए कोई भी पदार्थ अविषय अर्थात् अगोचर नहीं होता अर्थात् वे लौकिक अलौकिक सभी विषयों को जानते हैं। अतः आपके लिए भी यह गार्हस्थ्य व्यवहार जानना दुर्लभ नहीं (गुरु वाक्य समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है)।

काश्यप:—जो तुम अब तक आश्रम में स्वेच्छानुकुल व्यवहार करती रही थीं वह तुम अब यहाँ से पतिगृह पहुँच कर:—

शुश्रूषस्व गुरून्कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः ।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः ॥१७॥

कथं वा गौतमी मन्यते ? ।

गौतमी—एत्तिओ वहूजणस्स उवदेसो । जादे ! एवं खु सव्वं ओधारेहि। [एतावान्वधूजनस्योपदेशः । जाते ! एतत्खलु सर्वमवधारय ।]

काश्यप :—वत्से ! परिष्वजस्व मां सखीजनं च ।

शकुन्तला—ताद ! इदो एव्व किं पिअंवदामिस्साओ सहीओ णिवत्तिस्संति ?। [तात ! इत एव किं प्रियंवदामिश्राः सख्यो निवर्तिष्यन्ते ? ।]

काश्यपः—वत्से ! इमे अपि प्रदेये । न युक्तमनयोस्तत्रम् गन्तु । त्वया सह गौतमी यास्यति ।

श्लोक १७ अन्वय :—गुरून् शुश्रूषस्व सपत्नीजने प्रियसखीवृत्तिं कुरु, विप्रकृता अपि रोषणतया भर्तुः प्रतीपं मा गमः स्म, परिजने भूयिष्ठं दक्षिणा भव, भाग्येषु अनुत्सेकिनी (भव) एवं युवतयः गृहिणीपदं यान्ति, वामाः कुलस्य आधयः (जायन्ते)

शब्दार्थ :—सपत्नीजने=सौतों पर, प्रियेत्यादि=अपनी प्रिय सखियों के समान व्यवहार, विप्रकृता=तिरस्कृत अपमानित, रोषणतया=क्रुद्ध होकर, भर्तुः प्रतीपं मा गमः स्म=पति के प्रतिकूल आचरण न करो, भूयिष्ठम्=अत्यधिक, दक्षिणा=उदाराशय वाली, भव=बनो, भाग्येषु=सुखप्राप्ति काल में, अनुत्सेकिनी अगर्वित, वामाः=प्रतिकूल आचरण करने वाली, आधयः=मानस दुःख का कारण ।

अनुवाद—गुरुजनों-बड़े बूढ़ों की सेवा करना, सौतों के प्रति प्रिय सखी जैसा व्यवहार रखना, तिरस्कृत हो कर भी क्रुद्ध होकर पति के प्रतिकूल आचरण न करना, परिजनों दास दासी आदि पर बहुत अधिक उदार रहना तथा भाग्य प्राप्य भोगों में घमण्ड न करना, इस प्रकार (व्यवहार करने वाली) स्त्रियाँ गृहिणी पद प्राप्त कर लेती हैं। पर इसके प्रतिकूल आचरण करने वाली स्त्रियाँ मानसिक क्लेश का कारण होती हैं ।

व्याख्या :—गुरुजनों=बड़े बूढ़ों की सेवा करना, अपनी सौतों के प्रति अपनी प्रिय सखियों के समान बर्ताव रखना, पति निरादर भी करे तो भी क्रुद्ध होकर उसके प्रतिकूल आचरण न करना, दास दासी आदि के प्रति बड़ी उदारता से व्यवहार करना, भाग्यलभ्य भोगों में आसक्त होकर कभी घमण्ड न करना, जो स्त्रियाँ इस प्रकार व्यवहार करती हैं वे ही सच्ची गृहणी कही जाती हैं अर्थात् गृहिणी पद को अनायास प्राप्त कर लेतीं हैं और जो इसके प्रतिकूल आचरण करतीं हैं वे हार्दिक क्लेश का कारण होती हैं।

विशेष—"**भर्तृशुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मो ह्यमायया, तद् बन्धूनां च कल्याण प्रजानां चानुपोषणम्**" इस वचनानुसार सास ससुर तथान्य गुरु जनों एवं पति की सेवा करना तथा सेवकों का पालन करना, स्त्रियों का परम धर्म है । गुरुजन सेवा दोनों ही लोकों में कल्याण देने वाली होती है अतएव सर्व प्रथम उसी का कथन किया गया है ।

"**दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोग्यधनोऽपि वा, पतिः स्त्रीभि र्न हातव्यः**" तथा च "**पतिरेव बुधैस्त्रीणां देवतेति निगद्यते**" इन वचनों के अनुसार भले ही पति तिरस्कार करे फिर भी पत्नी को उसके प्रतिकूल व्यवहार न करना चाहिये ।

शकुन्तला—(पितरमाश्लिष्य ।) अहं दाणिं तादस्स अंकादो परिब्भट्टा मलअतरुम्मूलिआ चंदणलदा विअ देसंतरे जीविअं धारइस्सं ? [कथमिदानीं तातस्याङ्कात्परिभ्रष्टा मलयतरून्मूलिता चन्दनलतेव देशान्तरे जीवितं धारयिष्ये ? ।]

काश्यप—वत्से ? किमेवं कातरासि ? ।

भाग्येष्वनुत्सेकिनी—"कं श्रीर्न दर्पयति" वचनानुसार लक्ष्मी सबको घमंडी बना देती है अतः मुनि कहते हैं कि तुमको अपने सुख के समय गर्व न करना चाहिये । भाग्येषु से तात्पर्य अपना भाग्य अथवा सपत्नियों का भाग है अर्थात् यह सोच कर कि सपत्नी का उत्तम भाग्य है इसे पतिप्रेम जन्य विषय भोगादि सुख अधिक मिल रहा है मुझे नहीं, दुःखी न होना चाहिए अथवा अपने विशेष सुख लाभ के समय गर्व न करना चाहिए क्योंकि आजन्म वन में रहने वाली तथा ऐश्वर्यहीन स्त्री के लिए सहसा वैसा सार्वभौम ऐश्वर्य प्राप्त करके अभिमानिनी हो जाना स्वाभाविक है ।

प्रस्तुत श्लोक में सपत्नी के प्रति प्रिय सखी के समान व्यवहार करना रूप असम्भव वस्तु सम्बन्ध रूप **निदर्शनालंकार** हैं, चतुर्थ पाद गत सामान्य से प्रथम तीन चरण गत विशेष का समर्थन किया गया है अतः **अर्थान्तरन्यास** है । वामा युवतयः कुलस्याधयः में **रूपक** अलङ्कार है । कार्यभूत आधि पद के साथ कारण भूत वामा का अभेद से निर्देश किया गया है अतः **हेतु अलंकार** है । इन सब में परस्पर निरपेक्षता वश **संसृष्टि** है ।

यह श्लोक कालिदास के "श्लोकचतुष्टयम्" के अन्तर्गत ही है । **शार्दूलविक्रीड़ित** छन्द है ।

वि+प्र+कृ+क्त=विप्रकृता, रुष् धातोः ल्यु प्रत्यय, रोषणः ततः तल् प्रत्ययः । गमः इत्यत्र माङ् योगे अडभावः । उत्+सिच्=घञ्=उत्सेकः, नञ्, समासः, इनि प्रत्यय =स्त्रीलिङ्ग अनुत्सेकिनी, युवन् शब्दात् ति प्रत्येय युवतिः ।

संस्कृत व्याख्या—गुरुन् पूज्यजनान् शुश्रूषस्व सेवस्व, समानः पतिर्यासाँ ताः सपत्न्यः ता एव जनस्तत्र सपत्नीजने=सपत्नीसमूहे प्रियसखीष्विव वृत्तिस्ताम् प्रियसखीवृत्ति प्रियसख्यास्यव्यवहारं कुरु विधेहि, विप्रकृता भर्त्रापमानिता अपि रोषणतया क्रोधेन-ईर्ष्यया वा भर्तुः पत्युः प्रतीपं विरुद्धं प्रतिकूलं मा गमः मा याहि, परिजने सेवकसमूहे भूयिष्ठं अतिशयेन दक्षिणा उदाराशया-अनुकूला-छन्दानुवर्तिनी अभीष्ट सम्प्रदानद्वारा, भव । भाग्येषु परमसम्पत्सु अनुत्सेकिनी गर्वेर्ष्यादिरहिता एवं पूर्वोक्तविधिना युवतयः स्त्रियः गृहिण्याः पदं स्थानं गृहिणीत्वम् यान्ति प्राप्नुवन्ति वामाः प्रतिकूलवर्तिन्यः स्त्रियस्तु कुलस्य वंशस्यापि, न केवलं पत्युरेव आधयः हार्दिक पीडाजनिका भवन्तीति । अलंकारा उक्ताः । शार्दूलक्रीडितं वृत्तम् ।

गौतमी का इस सम्बन्ध में क्या मत है ? अर्थात् जो कुछ मैंने कहा क्या गौतमी भी उसे ठीक समझती है ।

गौतमी :—कुलवधुओं के लिए इतना उपदेश पर्याप्त है अर्थात् इससे अधिक बढ़कर और क्या उपदेश होगा, पुत्रि ! इसको भली भाँति हृदय में रखना, गाँठ, वाँध लो, भूलना नहीं ।

काश्यप :—पुत्रि ! मुझसे और अपनी सखियों से मिल लो ।

शकुन्तला :—तात ! क्या प्रियम्वदा आदि सखियाँ इसी स्थान से लौट जायेंगी । अर्थात् राजधानी तक क्या मेरे साथ न जायेंगी ?

काश्यप :—पुत्रि ! इन्हें भी तो (योग्य वर को) देना है अतः इनका वहाँ जाना उचित नहीं, तुम्हारे साथ गौतमी जायगी । सखियों का वयस्क एवं अविवाहित होने के

अभिजनवतो भर्तुः श्लाध्ये स्थिता गृहणीपदे
विभवगुरुभिः कृत्यैस्तस्य प्रतिक्षणमाकुला ।
तनयमचिरात् प्राचीवार्कं प्रसूय च पावनं
मम विरहजां न त्वं वत्से ! शुचं गणयिष्यसि ॥ १८ ॥

कारण अपरिचित, सम्पर्क रहित स्थान में जाना उचित नहीं, पुरुषों के भी साथ जाना उचित नहीं अतः गौतमी जायेगी ।

शकुन्तला :—(पिता से भेंट कर) पिता की गोद से अलग, मलय वृक्ष से उखाड़ी गई लता के समान अब मैं पर देश में कैसे जीवन धारण करूँगी, जी पाऊँगी । अर्थात् राजधानी में बहु सम्मान प्राप्त करके भी पितृवियोग दुःख मुझे असह्य रहेगा ।

काश्यप—पुत्रि ! क्यों इस प्रकार अधीर होती हो । क्योंकि :—

श्लोक १८ अन्वय :—अभिजनवतः भर्तुः श्लाध्ये गृहिणीपदे स्थिता, तस्य विभवगुरुभिः कृत्यैः प्रतिक्षणं आकुला (सती) अचिरात् प्राची पावन अर्क इव (पावनं) तनयं प्रसूय च वत्से त्वं मम विरहजाँ शुचं न गणयिष्यसि ।

शब्दार्थ—अभिजनवतः=सत्कुलोत्पन्न, श्लाध्ये=प्रशंसनीय, विभवगुरुभिः=धन राशि से भरपूर, कृत्यैः=यज्ञोत्सवादि कामों के द्वारा, आकुला=व्यस्त-तत्पर, अचिरात्=शीघ्र ही, प्राची=पूर्व दिशा, प्रसूय—उत्पन्न करके ।

अनुवाद—सत्कुलोत्पन्न पति के आदरणीय महाराज्ञी पर पर प्रतिष्ठित होकर और उसके धन से भरपूर यज्ञोत्सवादि द्वारा प्रतिक्षण व्यस्त रहती हुई तुम, शीघ्र ही, उसी प्रकार जगत को अपवित्र करने वाले पुत्र को उत्पन्न करके जैसे जग त्पावन पुत्र को पूर्वा दिशा उत्पन्न करती है हे पुत्रि ! तुम मेरे विरह का दुःख भूल जाओगी ।

व्याख्या—(यहाँ से पतिगृह में पहुँच कर) अपने सत्कुलोत्पन्न पति के आदरणीय महाराज्ञी पद पर प्रतिष्ठित हो कर और उसके धन से भरपूर यज्ञोत्सवादि कार्यों द्वारा प्रतिक्षण व्यस्त रहती हुई तुम शीघ्र ही उसी प्रकार अपने पवित्र आचरण द्वारा जगत् को पवित्र करने वाले पुत्र को उत्पन्न करके जैसे पूर्व दिशा जगत्पावन सूर्य को उत्पन्न करती है, हे पुत्री तुम मेरे विरह का दुःख न गिनोगी अर्थात् राजमहिषी पद प्राप्त कर, गार्हस्थ्य जीवन के विविध कार्यों में संलग्न रहकर पुत्र को जन्म देकर तुम मेरे विरह के दुःख को भूल जाओगी । अतः इतना अधीर न होना चाहिये ।

विशेष —अभिजनवतः=अभिजन का अर्थ है वंश-कुल, अभिजनवतः=कुलीन यहाँ प्रशंसा अर्थ में मतुप् प्रत्यय है अतः अर्थ है उत्तम कुलोत्पन्न । यहाँ अभिजन शब्द न कहने पर भी यह अर्थ लभ्य था ही अतः **तात्पर्यानुपपत्ति रूप लक्षणा से सामान्य शब्द विशिष्ट** का बोधक होगा अर्थात **"दया दान दाक्षिण्य धर्मभीरुत्वादि विशिष्ट कुल"** अर्थ गृहीत होगा। अथवा अभिजन पद से अभिजनोत्पन्न अर्थात् कुलोत्पन्न, जब इस अर्थ में लक्षणा होगी तो इसका अर्थ होगा **"सब ओर से स्वजनो से विशिष्ट"** इससे सर्व बन्धुजनों के कामों की चिन्ता से गृहिणीगत अतिशय व्यञ्जित होता है ।

भर्तुः=का अर्थ है जो न केवल शकुन्तला का भर्ता-पति प्रत्युत् सारे संसार का भरण पोषण करने वाला ।

गृहिणी पदे—महादेवी पद पर प्रतिष्ठित, "गृहिणी गृहमुच्यते" इस वचन के अनुसार उसका गार्हस्थ्य जीवन तुम्हारे ही अधीन होगा यह द्योतित किया गया है ।

आकुला=अर्थात् अपने विविध गृह कार्य में व्यस्त रहने के कारण अन्य मत्र कार्य व्यापार—हमारा वियोगादि सब भूल जायेगा ।

(शकुन्तला पितुः पादयोः पतति ।)

काश्यपः—यदिच्छामि ते तदस्तु ।

शकुन्तला—(सख्यावुपेत्य) हला ! दुवे वि मं समं एव्व परिस्सजह । [हला ! द्वे अपि मां सममेव परिष्वजेथाम् ।

सख्यौ—(तथा कृत्वा) सहि ! जइ णाम सो राआ पच्चाहिण्णाणमंथरो भवे तदो से इमं अतणामहेअअंकिअं अंगुलीअअं दंसेहि [सखि] यदि नाम स राजा प्रत्यभिज्ञान भवेत्ततस्तस्येदमात्मानामधेयाङ्कितमङ्गुलीयकं दर्शय ।]

शकुन्तला—इमणिा संदेहेण वो आकंपिद म्हि । [अनेन संदेहेन वामा कम्पितास्मि ।]

सख्यौ—मा भाआहि, सिणेहो पावसंकी । [मा भैषीः स्नेहः पापशङ्की ।]

शार्ङ्गरवः—युगान्तरमारूढः सविता । त्वरतामत्रभवती ।

पावनम्=सूर्य तो स्वयं पवित्र है अतः इस विशेषण का तात्पर्य है कि जिसका नाम लेने से अन्य जन भी पवित्र हो जाते हैं । सूर्य से उपमा देने के कारण पुत्र का विलक्षण तेजस्वित्व, लोकत्रयातिक्रान्त पौरुषत्व, चतुर्दश भुवनगीयमान कीतिर्मत्व तथा चक्रवर्तित्व आदि ध्वनित होता है ।

पूर्णोपमालंकार, चतुर्थचरणगत अर्थ के प्रति पूर्व वाक्यार्थ कारण हैं अतः **काव्यलिङ्ग, समुच्चय, श्रुति वृति अनुप्रास । हरिणी छन्द हैं "न स मर स ला गः षड् वेदैर्हयै र्हरिणी मता"** अर्थात् जिसमें नगण, स, म, र, स, लघु और गुरु क्रम से वर्ण हों वह हरिणी छन्द होता है इसमें ३, ४, ७ वर्णों पर यति होती है, १७ वर्णों का यह छन्द है :—

नगण	सगण	मगण	रगण	सगण	ल गु
। । ।	। । S	S S S	S । S	। । S	
अ भि ज,	न व तो,	भ र्तुः श्ला,	घ्ये स्थि ता	गृ हि णी	प दे

इससे संग्रह नामक गर्भ सन्धि का अङ्ग दिखलाया गया है ।

"सामदानार्थ संयोगः संग्रहः परिकीर्तितः" शान्ति दानार्थ जहाँ कथन हो वहाँ यह अङ्ग होता है ।

अभिजन शब्दात् मतुप् प्रत्यये षष्ठयेक वचने अभिजनवतः । श्लाघ्+यत्=श्लाघ्ये क्षणः क्षणंप्रति=प्रतिक्षणमित्याव्ययीयभावः । उण संख्याने लृटि रुपम् गणयिष्यसि, प्र+सूञ् अभिषवे त्वा ल्यप=प्रसूय ।

संस्कृत व्याख्या—अभिजनवतः सत्कुलोत्पन्नस्य भर्तुः सर्वजनभरणशीलस्य पत्युः श्लाघ्ये प्रशंसनीये गृहणी पदे महादेवीपदे स्थिता चापल्य निवृत्तिपूर्वकं स्थिरीभूता, अभिषिक्ता, तस्य भर्तुः विभवेन गुरुभिः महनीयैः विभवगुरुभिः कृत्यैः कर्मभिः प्रतिक्षणं अहर्निशम् आकुला कार्यप्रत्यवेक्षणव्यस्ता अचिरात् शीघ्रमेव इदानीमन्तर्वत्नीत्वादिति भावः । प्राची पूर्वदिशा पावनं अर्कं सूर्यमिव तनयं पुत्र प्रसूय उत्पाद्य वत्से पुत्रि (त्वं) मम काश्यपस्य विरहजां वियोगजन्यां शुचं शोकव्यथां न गणयिष्यसि, न ज्ञास्यसि उक्ता अलंकारदयः । हरिणीवृत्तम् ।

(शकुन्तला पिता के चरणों पर गिरती है अर्थात् वन्दना करती है ।)

काश्यप :—मेरी जो इच्छा है वह हो अर्थात् मैं जो तुम्हारे लिये चाहता हूँ वह सब तुम्हें प्राप्त हो ।

शकुन्तला—(आश्रमाभिमुखी स्थित्वा !) ताद ! कदा ण भूओ तवो वणं पेक्खिस्सं ? ।] तात ! कदा नु भूयस्तपोवनं प्रेक्षिष्ये ? ।

काश्यपः—श्रूयताम्,—

भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी
दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य ।
भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण साधं
शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन् ॥ १६ ॥

शकुन्तला :—(सखियों के पास जाकर) आओ, तुम दोनों एक साथ मुझ से भेंट करो ।

सखियां —(भेंट कर) सखि ! यदि वह राजा तुम्हें पहचानने में असमर्थ हो (प्रत्यभिज्ञान=पहचान, मन्थर—शिथिल, देर करना) तो यह उनके नाम से अङ्कित अंगूठी तुम उन्हें दिखा देना ।

इससे रूप नामक गर्भ सन्धि का अंग निर्दिष्ट किया गया है । "**रूपं वितर्कवद्वाक्यम्**" जहाँ सन्देहास्पद वचन कहा जाय ।

शकुन्तला :—तुम्हारे इस सन्देह से तो मैं भय कम्पित हो गई हूँ अर्थात् इससे मेरे जी में खटका उत्पन्न हो गया है ।

इससे संभ्रम नामक अङ्ग उपक्षिप्त है । "**शंकात्रासौ च संभ्रम**" शंका और त्रास कथन संभ्रम कहा जाता है ।

सखियां :—सखि ! डरो नहीं, प्रेम अमंङ्गल की आशङ्का कर सकता है । अर्थात् प्रेमवश व्यक्ति अपने प्रियजन के लिए तुच्छ सी भी बात से अमङ्गल की आशङ्का करने लगता है, यद्यपि वैसा सम्भव नहीं फिर भी प्रेमवश व्यक्ति अमङ्गल की आशंका के लिए बाध्य होता है प्रेम का स्वभाव ही ऐसा है ।

इससे **अधिबल नामक** अंग उपक्षिप्त "**कपटेनाप्तिसन्धानं ज्ञेयं चाधिबलं बुधैः** ।

शार्ङ्गरव—(युगान्तरं=उदय स्थान से बहुत दूर अथवा उदय काल से अर्थात् प्रातः काल से मध्याह्न काल पर, आरुढ़=चढ़ गया है अर्थात् सूर्य बहुत चढ़ आया है आप अब शीघ्र चलें ।

शकुन्तला—(आश्रम की ओर मुख कर खड़ी होकर) पिताजी ! फिर कब तपोवन देखूँगी ?

काश्यप—सुनिये :—

श्लोक १६ अन्वयः—चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी भूत्वा. अप्रतिरथ दौष्यन्तिम् तनयं निवेश्य तदर्पितकुटुम्बभरेण भर्त्रा साधं शान्ते अस्मिन् आश्रमे पुनः पदं करिष्यसि ।

शब्दार्थ—चिराय=बहुत समय तक, चतुरन्तेत्यादि=चारों समुद्र पर्यन्त विस्तीर्ण पृथ्वी की सपत्नी, अप्रतिरथं=जिसका कोई प्रतिद्वन्द्वी न हो अद्वितीय वीर, दौष्यन्तिं=दुष्यन्त से उत्पन्न पुत्र को, निवेश्य=स्थापित करके, तदेत्यादि=उस पर अर्थात् पुत्र पर कुटुम्ब के भरण का भार सौंप देने वाले, साधं—साथ, पदं करिष्यसि=निवास स्थान बनाओगी ।

अनुवाद—बहुत समय तक, चतुः समुद्र पर्यन्त अधिकृत पृथिवी की सपत्नी बन कर, तदनु अद्वितीय वीर, दुष्यन्त से उत्पन्न, पुत्र को (पृथिवी के राज्य पर) अभिषिक्त कर,

गोतमी—जादे ! परिहीअदि गमणवेला णिवत्तेहि पिदरं । अहवा चिरेण वि पुणो एसा एव्वं मंतइस्सदि । णिवत्तदु भव । [जाते ! परिहीयते गमनवेला । निवर्तय पितरम् । अथवा चिरेणापि पुनः पुनरेषैवं मन्त्रयिष्यते । निवर्ततां भगवान् ।]

काश्यप :—वत्से ! उपरुध्यते तपोऽनुष्ठानम् ।

शकुन्तला—(भूयः पितरमाश्लिष्य ।) तवच्चरणपीडिदं तादसरीरं । ता मा अदिमेत्त मम किदे उक्कंठिदुं । [तपश्चरणपीडितं तातशरीरम् । तन्मातिमात्रं मम कृत उत्कण्ठितुम् ।)

और उसी पर कुटुम्ब के भरण पोषण का भार रखने देने वाले पति के साथ पुनः इस शान्त आश्रम में अपना निवास स्थान बनाओगी ।

व्याख्या—शकुन्तला के यह पूछने पर कि मैं फिर कब इस आश्रम को देखूँगी । काश्यप कहते हैं कि सुनो :—

बहुत समय तक चतुः समुद्र पर्यन्त अधिकृत पृथ्वी की सपत्नी हो कर (दुष्यन्त चक्रवर्ती राजा था, चतुः समुद्र पर्यन्त पृथ्वी का वह अधिपति था, राजा पृथ्वीपति कहा जाता है अतः ऐसे पृथ्वीपति दुष्यन्त की पत्नी होने पर तुम पृथ्वी की सपत्नी कही जाओगी) और फिर (उस अपनी सपत्नी पृथ्वी के राज्य पर) अद्वितीय वीर (प्रतिरथ=प्रतिद्वन्द्वी-विपक्षी, अप्रतिरथ=जिसकी बराबरी करने वाला कोई दूसरा न हो) दुष्यन्त पुत्र को अभिषिक्त कर, और उसी पुत्र पर सम्पूर्ण कुटुम्ब के भरण पोषण का भार रख देने वाले अपने पति के साथ पुनः इस शान्त आश्रम में आओगी । अर्थात् इस समय वियोग होने पर भी कुछ समय बाद तुम दोनों ही इस आश्रम में बहुत समय तक निवास करोगी अतः तुम्हें अधीर न होना चाहिए ।

विशेष—'चिराय' से उनका दीर्घ जीवन सूचित किया गया है । अप्रतिरथं और दौष्यन्ति विशेषणों से पुत्रगत महीभारधारणक्षमत्व ध्वनित होता है । निवेश्य=विवाह करा कर राज्य पर अभिषिक्त करके,

> **"वयः परिणतौ राजन् कृतकृत्यो गृहाश्रमी,**
> **पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत् सहैव वा ।**

इस वचन के अनुसार वृद्धावस्था आने पर राजा लोग पत्नी सहित वानप्रस्थाश्रम में वन में जाकर निवास करते थे अतः काश्यप कहते हैं कि तुम भी अपने पुत्र पर राज्य भार छोड़कर पति सहित फिर इस शान्त आश्रम में निवास करने के लिये आओगी उसी समय फिर इस आश्रम को देखोगी ।

प्रस्तुत श्लोक में सपत्नी शब्द से पृथ्वी पर भी पत्नीत्वारोप व्यञ्जित किया गया है अतः यहाँ **वस्तु से रूपकालंकार ध्वनि है** । यहाँ पर पृथिवी पर सपत्नी का आरोप फिर उस पर पुत्र का सन्निवेश और फिर उस पर भार का निवेशन इस प्रकार **मालादीपक अलंकार** है । काव्यलिङ्ग भी हो सकता है **वसन्ततिलका छन्द है** ।

दुष्यन्तस्यापत्यं पुमान् दौष्यन्तिः इञ् प्रत्ययः, विश+त्वा+ल्यप्=निवेश्य, भृ=अप्=भरः ।

संस्कृत व्याख्या—चिराय चिरकालं अभिव्याप्य चत्वारः समुद्राः अन्तो यस्याः सा चतुरन्ता सा चासौ मही च तस्याः सपत्नी (विशेषणेनैव समुद्र विशेष्यप्रतिपत्तिः) भूत्वा अर्थात् **चतुरधिपर्यन्त** भूभागपालकस्य पत्युः प्रिया भूत्वेत्यर्थः, न विद्यते प्रतिरथः स्वसमानयोद्धा यस्य अप्रतिरथस्तम् अप्रतिरथं प्रतियोगिशून्यमित्यर्थः दुष्यन्तस्यापत्यं पुमान् दौष्यन्तिस्तम् दौष्यन्ति

काश्यप :—(सनिःश्वासम्)

शममेष्यति मम शोकः कथं नु वत्से ! त्वया रचितपूर्वम् ?।
उटजद्वारविरूढं नीवारबलिं विलोकयतः ॥ २० ॥

गच्छ: शिवास्ते पन्थानः सन्तु ।

(निष्क्रान्ता शकुन्तला सहयायिनश्च ।)

सख्यौ—(शकुन्तलां, विलोक्य ') हद्धी हद्धी । अंतलिहिदा सउंदला वणराईए । [हा धिक् हा धिक् । अन्तर्हिता शकुन्तला वनराज्या ।]

काश्यप—(सनिःश्वासम् ।) अनुसूये ! गतवती वां सहधर्मचारिणी । निगृह्य शोकमनुगच्छतं मां प्रस्थितम् ।

उभे—ताद ! सउंदलाविरहदेसुण्णं विअ तवोवण कहं पविसावो ? [तात ! शकुन्तलाविरहितं शून्यमिव तपोवनं कथं प्रविशावः ।]

काश्यप :—स्नेहप्रवृत्तिरेवंदर्शिनी । (सविमर्शं परिक्रम्य ।) हन्त भोः ! शकुन्तलां पतिकुलं विसृज्य लब्धमिदानीं स्वास्थ्यम् कुतः ।

(अत इत्या॰) तनयं पुत्रं निवेश्य स्थापयित्वा कुटुम्बस्य भरः स तस्मिन् अर्पितः येन तेन तदर्पितकुटुम्बभरेण दौष्यतिभरतनिवेशितराज्यभारेण भर्त्रा पत्या दुष्यन्तेन सार्धं समं अस्मिन् शान्ते पवित्रे आश्रमे तपोवने पुनः पदं स्थानं-निवासस्थानं करिष्यसि विधास्यसीत्यर्थः उक्ता अलंकारादयः । वसन्ततिलक वृत्तम् ।

गौतमी—पुत्रि ! चलने का समय निकला जा रहा है, इससे अब पिता को लौटा दो, अथवा शकुन्तला तो चिरकाल तक इसी प्रकार बार बार कहती रहेगी इसलिये आप ही लौट जायें क्योंकि कोई पितृवत्सला कन्या अपने पिता को लौटाना न चाहेगी ।

काश्यप—पुत्रि ! अब मेरे तपश्चरण में बाधा पड़ रही है । (अतः अब मुझे लौट जाने दो ।)

शकुन्तला—(फिर पिता के चरणों की वन्दना करके अथवा पिता से भेंट करके) आपका शरीर तो यों ही तपस्या के कारण बहुत दुर्बल है अतः आप मेरे लिये अधिक उत्कण्ठित न हों ।

काश्यत—लम्बी साँस लेकर—

श्लोक २० अन्वय—वत्से, त्वया रचितपूर्व उटजद्वारविरुढं नीवारबलिं विलोकयतः मम शोकः कथं नु शमं एष्यति ।

शब्दार्थ :—नु=प्रश्नार्थे अव्यय, त्वया रचितपूर्वं=पहिले तुम्हारे द्वारा पक्षियों के खाने के लिए फैलाये गए, उटजेत्यादि=और अब जल-सम्पर्क से पर्णशाला के द्वार पर उगे हुए, नीवारबलिं=नीवार धान्य जो कि भूतबलि के रूप में द्वार पर फैलाये गये थे, विलोकयतः =देखते हुये, शममेष्यति=शान्ति को प्राप्त होगा ।।

अनुवाद—हे पुत्रि ! तुम्हारे द्वारा पहले फैलाई गई और अब झोंपड़ी के द्वार पर उगी हुई नीवार धान्य की बलि को देखते हुए मेरा शोक किस प्रकार शान्ति को प्राप्त होगा?

व्याख्या—शकुन्तला के यह कहने पर कि आप मेरी अधिक चिन्ता न करना काश्यप कहते हैं

अर्थो हि कन्या परकीय एव
तामद्य संप्रेष्य परिग्रहीतुः ।
जातो ममायं विशदः प्रकामं
प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा ॥२१॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

चतुर्थोऽङ्कः ।

हे पुत्रि ! तुमने जो भूतवलि के रूप में नीवार धान्यों को पर्णशाला के द्वार पर पहिले फैलाया था वे अब जल का संसर्ग पाकर उगे हुए हैं, इनको प्रतिदिन द्वार पर देखते हुए मेरा यह शोक किस प्रकार दूर होगा ? अर्थात् उन नीवारों को द्वार पर अङ्कुरित देख कर मुझे प्रतिक्षण तेरी स्मृति होती रहेगी, अतः मैं कैसे तुझे भूल सकूँगा, अतएव उत्कण्ठित कैसे न होऊँगा ।

जाओ, तुम्हारा मार्ग मङ्गलमय हो ।

(साथ जाने वाले अन्य जनों के साथ शकुन्तला निकल जाती है)

विशेष—शोकानपगमन के प्रति नीवार वलि विलोकन **रूप पदार्थ हेतु है** अतः **पदार्थ हेतुक काव्यलिङ्ग, परिकर । आर्या जाति ।**

वि+रुह+क्त=विरुढम, वि+लोक+शतृ—षष्ट्येक वचने विलोकयतः ।

संस्कृत व्याख्या—वत्से पुत्रि ! त्वया-पूव रचितं इति रचितपूर्वं तं रचितपूर्वं पूर्वमुकल्पितं उटजस्य पर्णशालायाः द्वारे विरुढं अङ्कुरितं उटजद्वारविरुढं नीवाराणाँ वलिस्तं नीवारवलिम्=नीवारधान्योपकल्पितभूतवलिं विलोकयतः प्रेक्षमाणस्य मम काश्यपस्य शोकः त्वद्विरहनिबन्धनविषादः कथं केन प्रकारेण शमं शान्तिं एष्यति गमिष्यति दूरी भविष्यतीयर्थः, उक्ता अलंकाराः आर्या जातिः ।

सखियां—शकुन्तला को देख कर, हाय ! हाय ! शकुन्तलातो वृक्षों की आड़ में आझल हो गई !

काश्यप—लम्वी साँस लेकर, अनुसूये ! तुम्हारी सखी तो चली गई, अतः अव अपने शोकावेग को रोक कर तुम दोनों मेरे पीछे आओ ।

दोनों—पिता जी ! शकुन्तला से रहित इस सूने तपोवन में हम लोग कैसे प्रवेश करें ?

काश्यप—स्नेहाधिक्य के कारण ही ऐसा मालूम पड़ता है । (एवं दर्शिनी=ऐसा दिखाने वाली) कुछ विचारते हुए घूम कर, ओह ! शकुन्तला को पतिगृह भेज कर अब मुझे स्वास्थ्य निश्चिन्तता प्राप्त हुई । अर्थात् शकुन्तला की प्राप्ति के समय से लेकर अब तक उसके भरण, पोषण, शिक्षा आचार आदि की चिन्ता मुझे लगी ही रहती थी परन्तु अब उसे योग्य वर के पास भेजकर मैं उसके उत्तरदायित्व से मुक्त हो गया हूँ । क्योंकि—

श्लोक २१ अन्वय—हि कन्या परकीयः एव अर्थः (अस्ति) तां अद्य परिग्रहीतुः संप्रेष्य प्रत्यर्पितन्यासः इव अयं मम अन्तरात्मा प्रकामं विशदः जातः ।

शब्दार्थ—अर्थ=कन्यारूपी धन, परकीयः=दूसरे का, परिगृहीतुः=परिणेता पति के पास, संप्रेष्य=भेजकर, प्रत्यर्पितन्यासः=न्यास—धरोहर प्रत्यर्पित=लौटा देना अर्थात् जिसने दूसरे की धरोहर को उसे लौटा दिया है, अन्तरात्मा=हृदय मन, विशदः=स्वच्छ ।

अनुवाद—क्योंकि कन्या पराया धन ही होती है आज उसे पति के पास भेजकर, मेरा, मन, उसी प्रकार सर्वथा निश्चिन्त एवं स्वच्छ हो गया है जिस प्रकार कि मैंने किसी की धरोहर को उसे लौटा दिया हो ।

व्याख्या—क्योंकि कन्या सचमुच पराया धन ही होती है आज उसे पति के पास भेज कर मेरा मन उसी प्रकार सर्वथा निश्चिन्त, भार मुक्त—स्वच्छ हो गया है जैसे मैंने किसी की धरोहर उसे लौटा दी हो।

उत्प्रेक्षालंकार। इन्द्रवज्रा छन्द है।

जिसमें तगण तगण जगण और दो गुरु इस क्रम से ११ वर्ण होते हैं वह इन्द्रवज्रा वृत्त होता है "**स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः**"

तगण	तगण	जगण	गु० गु०
S S ।	S S ।	। S ।	S S
अ र्थो हि	क न्या प,	र की य	ए व

संस्कृत व्याख्या—हि यतः अर्थः कन्यारूपं धनं परस्यायं परकीयः एव परस्यैव नत्वात्मन इत्यर्थः तां कन्यां अद्य परिग्रहीतुः पत्युः (पार्श्वे) संप्रेष्य विसृज्य प्रत्यर्पितः प्रतिदत्तः न्यासः निक्षेपः येन स प्रत्यर्पितन्यास इव अथ मम काश्यपस्य अन्तरात्मा मनः प्रकामं अतिशयेन विशदः प्रसन्नः भारमुक्तः जातः अस्तीति शेषः।

उक्ता अलंकाराः इन्द्रवज्रा वृत्तम्।

इस अङ्क में कण्व प्रवेश के अनन्तर '**शकुन्तलाविरहितं शून्यमिव तपोवनं कथं प्रविशाव**:' यहाँ तक **करुणा रस ध्वनित** होता है—करुणा का लक्षण है—

इष्टबन्धुवियोगश्च स्त्रीनाशो बन्धुबन्धने।
विभावाः सम्मताः पुंसा मुत्तमानां पराश्रिताः
मध्यमाधमपुंसान्तु ते स्युरात्मैकगोचराः
अश्रुपातो मुखे शोषो विलापः परितेवनम्
स्तम्भो विवर्णता स्रस्तगात्रता प्रलयस्तथा
यत्र संचारिणः स्थायी शोकः स करुणो मतः

अर्थात् इसका स्थायी भाव शोक, इष्ट बन्धु-वियोगादि विभाव, अश्रुपातादि अनुभाव, स्तम्भ वैवर्ण्यादि सात्त्विक भाव तथा आवेगादि चिन्तादि, संचारी भाव होते हैं।

(इस प्रकार सब निकल जाते हैं)

इति चतुर्थाङ्कः

पंचमोऽङ्कः

(ततः प्रविशत्यासनस्थो राजा विदूषकश्च ।)

विदूषकः—(कर्णं दत्त्वा) भो वअस्स ! संगीतसालंतरे अवधाणं देहि । कलविसुद्धाए गीदीए सरसंजोओ सुणीअदि जाणे तत्तहोहंसवदिआ वण्णपरिअअं करेदि त्ति [भो वयस्य ! संगीतशालान्तरेऽवधानं देहि । कलविशुद्धाया गीतेः स्वरसंयोगः श्रूयते। जाने तत्रभवती हंसपदिका वर्णपरिचयं करोतीति ।]

राजा—तूष्णीं भव । यावदाकर्णयामि ।

(आकाशे गायते)

अहिणवमहुलोलुवो भवं
तह परिचुंबिअ चूअमंजरिं ।

पंचमोऽङ्कः

(राजा आसन पर बैठा है और पास ही विदूषक भी है)

विदूषक—(कान लगाकर) सुनो वयस्य ! संगीतशाला के भीतर ध्यान दो अर्थात् संगीतशाला की ओर कान लगाकर ध्यान से सुनो । मधुरास्फुटध्वनि से युक्त विशुद्ध (शुद्धा नामक) गीति की स्वरयोजना सुनाई दे रही है, मैं समझता हूँ कि श्रीमती हंस पदिका स्वर साध रही है । संगीतशाला=वह सुसज्जित गृहविशेष जहाँ गीत वाद्य नृत्य ये तीनों ही हों "**गीतं वाद्यं च नृत्यञ्च त्रयं संगीतमुच्यते**" **कल मधुर और अस्फुट** ध्वनियुक्त, **विशुद्धायाः**=**शुद्धा नामक गीति**=विशेष जोकि ग्रामराग जनिका होती है । कोई आचार्य विशुद्धा का अर्थ निर्दोष करते हैं क्योंकि "भीतमुत्कृष्टमव्यक्तमनुनासिकम्" आदि जो दोष बतलाये गये हैं उन दोषों से रहित अर्थात् मधुर और निर्दोष गीत का स्वरसंयोगः=निषादादिसप्त स्वरों की सम्यक् प्रकार से योजना करना अथवा अभ्यास करना, तत्रभवती=रानी होने के कारण आदर सूचक विशेषण है । हंसपादिका नाम की कोई रानी अथवा हंसपादिका नाम की कोई नर्तकी, वर्णपरिचय करोति=वर्ण का अर्थ है गीतिक्रम अर्थात् निषादादि स्वरों का आरोह अवरोह क्रम अथवा "गानक्रियोच्यते वर्णः स चतुर्धा निरुपतिः, स्थाय्यारोह्यवरोही च संचारी" इति अर्थात् गान क्रिया को वर्ण कहते हैं वह वर्ण चार प्रकार का होता है—स्थायी आरोही अवरोही सचारी अतः वर्ण परिचय का अर्थ है गीतिक्रम का परिचय-अभ्यास ।

राजा—चुप हो जाओ तो मैं सुनूँ :—(नेपथ्य में कोई गाता है)

कमलवसइमेत्तणिव्वुरो
महुअर ! विम्हरिओ सिणं कहं ? ॥ १ ॥
[अभिनवमधुलोलुपो भवांस्तथा परिचुम्ब्य चूतमञ्जरीम् ।
कमलवसतिमात्रनिर्वृतो मधुकर ! विस्मृतोऽस्येनां कथम् ॥]

श्लोक १ अन्वय—मधुकर ! अविनवमधुलोलुप: भगवान् तां चूतमञ्जरीं परिचुम्ब्य कमलवसतिमात्रनिवृत्त: सन् कथं एनां विस्मृत: असि ।

अनुवाद—हे मधुकर ! नूतन पुष्प पराग के रसास्वाद के लिये लालायित आप (पहिले) उस प्रकार से आम्रमञ्जरी का परिचुम्बन करके, (अब) केवल कमलो पर निवास मात्र से सन्तुष्ट होकर उस आम्रमञ्जरी को कैसे भूल गये हो ।

अर्थ—हे भ्रमर पहिले तो नूतन रस के लिए लालायित हुए आपने उस प्रकार (पूर्वोक्त रीति से) आम्रमञ्जरी का चुम्बन किया था अब केवल कमल पर निवास मात्र से संतुष्ट होकर तुम उस आम्रमञ्जरी को क्यों भूल गये हो ।

गीति—नये नये मधु के लोभी ओ मधुकर !
एक बार ही इस रसाल की मधुर मञ्जरी चूम गये तुम
क्यों निवास कर कमल कोश में मुझे भूल कर घूम गये तुम
(कालिदास ग्रन्थावली में)

विशेष—इस गीति द्वारा हंसपदिका (कोई रानी अथवा नर्तकी) जो कि एक बार ही राजा द्वारा उपभुक्त होकर महारानी के भय से फिर राजा द्वारा परित्यक्त हो गई है, राजा की भाँति ही व्यवहार करने वाले भ्रमर के उपालम्भ के व्याज से राजा को उपालम्भ देती है:—हे मधुकर भ्रमर ! पक्षे मधुसदृशमधुरसुरतरसरसिक राजा दुष्यन्त !

अभिनवेत्यादि—अभिनव=अचिरोद्गत (हाल ही में उत्पन्न) मधु=पुष्पपरागरसास्वाद, लोलुप,=लोभी अर्थात् अचिरोद्गत पुष्पपरागरसास्वादन के लिये, लालायित भ्रमर ! राज पक्षे अभिनवतरुणी के मधुर सुरत रसास्वादन के लिए परिलुब्ध होने वाले आप (भवान्) चूतमञ्जरीम्=आम्रमञ्जरी को, राजपक्षे चूतमञ्जरी सदृश परप्रीतिकारिणी युवती को तथा (पूर्वानुभूत विधि से) परिचुम्ब्य=रस लेकर, राज पक्षे आलिङ्गन चुम्बनादि द्वारा उसका उपभोग करके (अब) कमलेत्यादि=कमल पर अर्थात् जो कि सर्वदा अनुभूत हैं न कि चूतमञ्जरी के समान क्षणमात्र के लिए परिचित हैं, रहने मात्र से न कि मधुरसास्वादन से (क्योंकि सर्वदानुभूत होने के कारण पूर्णरूप से वह उपभुक्त हो चुका है और परिणतप्राय होने के कारण जो कि रस रहित हो गया है) सन्तुष्ट होकर, राजक्षे परिणतावस्था के कारण जो कि कमल वत् केवल देखने मात्र को है न कि सरस है ऐसी अन्य नायिका के पास जोकि तुम्हारे द्वारा सर्वदा उपभुक्त है केवल रहने मात्र से न कि सुरत रसोपभोग से, सन्तुष्ट होकर अपने इस क्षणमात्र के लिए आस्वादित चूतमञ्जरी, राजपक्षे चूतमञ्जरी के समान अभिनवरसपरिप्लावित परमलोभनीय पर एक बार ही उपभुक्त हंसपदिका को क्यों भुला दिया है ?

ये चूतमञ्जरी के सभी विशेषण शकुन्तला के पक्ष में भी उपर्युक्त अर्थों में लग सकते हैं और मधुकर के सभी विशेषण राजा के पक्ष में लगते हैं अतः यहाँ यह तीसरा भी अर्थ लगाया जा सकता है और यह न केवल हंसपदिका का उपालम्भ है प्रत्युत शकुन्तला का भावी प्रत्याख्यान सूचक भी है । अथवा कमला नाम की कोई अन्य नायिका अथवा वसुमती में आसक्त राजा के लिए यह गूढ़ उपालम्भ भी है। "दीर्घह्रस्वे मिथो वृत्तौ" इस नियमानुसार कमल वह ह्रस्व हो जायेगा ।

राजा—अहो रागपरिवाहिनी गीतिः ।

विदूषकः—किं दाव गीदीए अवगओ अक्खरत्थो ? [किं तावद्गीत्या अवगतोऽक्षरार्थः ?]

राजा—(स्मितं कृत्वा ।) सकृत्कृतप्रणयोऽयं जनः । तस्या देवीवसुमतीमन्तरेण मदुपालम्भमवगतोऽस्मि । सखे माढव्य ! मद्वचनादुच्यतां हंसपदिका । निपुणमुपालब्धोऽस्मीति ।

शब्दशक्तिमूला ध्वनिः । हेतु, अनुप्रास अलंकार । अपर वक्त्र नामक छन्द है । "अयुजि ननरला गुरुः समे तदपरवक्त्रमिदं नजौ जरौ" अर्थात् जिसमें विषम चरणों —प्रथम तृतीय चरणों में क्रमशः नगण नगण रगण लघु गुरु इस क्रम से वर्ण हों तथा समचरणों—द्वि० च० चरणों में क्रमशः नगण जगण जगण तथा रगण हों अर्थात् विषम चरणों में ११ तथा समचरणों में १२ वर्ण हों वह अपर वक्त्र नामक वृत्त होता है—**यह अर्धसम वृत्त है** ।

यहाँ सारुप्य निमित्त प्रशंसा से राजा दुष्यन्त के शकुन्तला-विस्मरण रूप प्रस्तुत के प्रतीयमान होने से **आक्षेप नामक गर्भ सन्धि** के अङ्ग का निर्देश किया गया है "**गर्भबीजसमुद्भेदादाक्षेपः परिकीर्तितः** । अर्थात् जहाँ गर्भबीज का उद्भेद किया गया है ।

इससे **तृतीय पताका स्थानक** का भी निर्देश किया गया है, जिसकी योजना तुल्यविशेषणों द्वारा की गई है ।

संस्कृत व्याख्या—मधुकर भ्रमर ! अभिनवे मधुनि लोलुपः अभिनवमधुलोलुपः=नूतन पुष्परससतृष्णः भवान् तथा स्वेच्छापूर्वक चूतमञ्जरीं आम्रवल्लरीं परिचुम्ब्य सर्वतोभावेनोपभुज्य, कमले या वसतिः तया एवं निर्वृत्तः कमलवसतिमात्र निर्वृत्तः कमलोदरनिवासेनैवात्मानं बहुमन्यमानः, न तु मधुरसमास्वाद्यमानः सन् कथं केन प्रकारेण एनां पूर्वोपभुक्तां चूतमञ्जरीं विस्मृतः असि । अर्थात् नवयौवनोद्गमकाले मां तथोपभुज्येदानीं त्वदुपभोगयोग्यामपि मां कथं न स्मरसीति हंसपदिकाया उपालम्भः । अनेन शकुन्तला विषयकोऽपि व्यवहारः सूचितः । अस्मिन्नर्थे कमला इत्यस्य राजलक्ष्मीः इत्यर्थः तेन राजलक्ष्मीभोगासक्तस्त्वं कथं न तां स्मरसीति सूच्यते ।

विदूषक—जं भवं आणवेदि। (उत्थाय!) भो वअस्स! गहीदस्स ताए परकीएहिं हत्थेहिं सिहंडए ताडीअमाणस्स अच्छराए वीडराअस्स विअ णत्थि दाणिं मे मोक्खो। [यद्भवानाज्ञापयति। भो वयस्य! गृहीतस्य तया परकीयैर्हस्तैः शिखण्डके ताडयमानस्याप्सरसा वीतरागस्येव नास्तीदानीं मे मोक्षः।]

राजा—गच्छ नागरिकवृत्त्या संज्ञापयैनाम्।

विदूषक—का गई? [का गतिः?] (इति निष्क्रान्तः।)

राजा—(आत्मगतम्।) किं नु खलु गीतार्थमकर्ण्येष्टजनविरहादृतेऽपि बलवदुत्कण्ठितोऽस्मि। अथवा,—

राजा—ओह! कैसी अनुराग की धारा बहाने वाला यह गान है?

विदूषक—क्या आपने गीत के अक्षरों का अर्थ समझ लिया है? अर्थात् इस गीति का व्यङ्ग्यार्थ आप समझे या नहीं, वाच्यार्थ तो सभी समझ जाते हैं।

राजा—(मन्दहास्य करके) इस व्यक्ति से मैंने एक बार प्रेम किया है और आजकल जो मैं देवी वसुमती से प्रेम करने लगा हूँ अतएव इसने मुझे उपालम्भ दिया है (व्यक्ति से तात्पर्य हंस पदिका से है) मैं यह समझ गया हूँ। मित्र माढव्य! मेरी ओर से हंस पदिका से कहो कि तुमने मुझे भलीभाँति उलाहना दिया है अर्थात् बड़ी मीठी चुटकी ली है।

विदूषक—(उठ कर) जैसी आपकी आज्ञा, परन्तु वयस्य! जैसे अप्सरा द्वारा गृहीत वीतराग महात्मा नहीं छूट पाता है उसी प्रकार अपनी दासियों से मेरी चोटी पकड़वाकर जब वह मुझे पीटने लगेगी तो छूटना मेरे लिए कठिन हो जायगा, तात्पर्य यह कि एक निर्लिप्त महात्मा भी जब किसी अप्सरा के हाथों में पड़ जाता है, तो फिर वह उससे छूट नहीं सकता (विश्वामित्र तथा मेनका के समान) उसी प्रकार मैं भी न बच सकूँगा। मोक्ष शब्द श्लिष्ट है, मोक्ष=मुक्ति तथा बचाव, अप्सरा के हाथ में पड़े हुए व्यक्ति के लिए मुक्ति नहीं मिल सकती इसी प्रकार उसके हाथ में पड़े हुए मेरे लिए कोई बचाव का उपाय नहीं हो सकता।

राजा—जाओ, कुशल व्यवहार पूर्वक अथवा वांक् चातुर्य्य से (जैसा कि प्रायः नगर निवासियों में पाया जाता है) समझा देना।

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दा-
न्पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥२॥

विदूषक—और उपाय ही क्या क्योंकि राजाज्ञा अनुल्लंघनीय है। (कहकर निकल जाता है)

राजा—(मन में) यह क्या कारण है कि गीत को सुनकर, प्रिय जन के वियोग के न होते हुए भी, मैं बहुत अधिक उत्कण्ठित हो रहा हूँ। अर्थात् मेरे प्रिय जन सभी मेरे पास हैं, फिर भी न जाने क्यों मैं इतना अधिक अनमना-व्याकुल सा हो उठा हूँ। अथवा ऐसा भी होना सम्भव है :—

श्लोक २ अन्वय—रम्याणि वीक्ष्य मधुरान् शब्दान् च निशम्य यत् सुखित-अपि जन्तुः पर्युत्सुकीभवति तत् नूनं (सः) चेतसा अबोधपूर्वं भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि स्मरति ।

शब्दार्थ—रम्याणि=चन्द्र उद्यान प्रमदा आदि सुन्दर वस्तुओं को (यहाँ विशेषण से ही विशेष्योपलब्धि होने से 'वस्तूनि' इस विशेष्य का उपादान नहीं किया है) वीक्ष्य = देखकर, मधुरान्=श्रुति सुखकर प्रिय, निशम्य=सुनकर, सुखितः अपि जन्तुः=प्रियजनों के सामीप्य में रहने से सुखी-विरहोत्कण्ठा से रहित भी प्राणी, यत्=जिस कारण से पर्युत्सुकीभवति=उत्कण्ठित हो उठता है, तत्=इस कारण से, नूनं=निश्चय ही, चेतसा=मन से, मन के द्वारा, अबोधपूर्वं=बिना समझे बूझे, अकस्मात्=अपने आप (क्रिया विशेषण, भावस्थिराणि=भाव=वासना-संस्कार विशेष अथवा स्वभाव से ही, स्थिराणि=दृढ़ रूप से स्थित अर्थात् वासना रूप में अथवा स्वभावतः ही अविचलित रूप में स्थित, जननान्तरसौहृदानि=पूर्व जन्म में अनुभूत प्रणय आदि विशेष प्रकार के सम्बन्ध, स्मरति=स्वभाव से ही ध्यान करता है।

अनुवाद—जो कि प्राणिमात्र, रमणीक वस्तुओं को देखकर या मधुर शब्दों को अथवा सरस गीतों को सुनकर, प्रियजन के विरह के न होते हुए भी, उत्कण्ठित लगता है। (इससे मैं समझता हूँ) कि निश्चय ही वह अपने चित्त से, जन्मान्तर के अनुभूत अपने प्रणाय आदि सम्बन्धों को, जो कि उसके हृदय में वासना रूप से जमे हुये हैं। बिना समझे बूझे ही स्मरण करता है।

व्याख्या—जो कि प्राणिमात्र, रमणीक वस्तुओं को देखकर अथवा प्रिय शब्दों को या मधुर गीतों को सुनकर, प्रेमी जन के विरह के न होते हुए भी, उत्कण्ठित होने लगता है, इससे मैं यह समझता हूँ कि निश्चय ही वह अपने चित्त के द्वारा जन्मान्तर के अनुभूत प्रणय आदि सम्बन्धों को जो कि स्वभावतः ही उसके हृदय में

(इति पर्याकुलस्तिष्ठति ।)
(ततः प्रविशति कञ्चुकी ।)

वासना रूप से जमे हुए हैं, अपने आप ही ध्यान करता है अतएव सुखी भी वह उत्कण्ठित होने लगता है । तात्पर्य यह कि सुन्दर वस्तुओं को देखकर या मीठे शब्द सुन कर जब सर्वथा सुखी भी व्यक्ति उदास हो जाय तो यह समझना चाहिए कि वह उस समय अपने मन में पूर्व कृतप्रणय आदि जो कि उसके मन में संस्कारवश जमा हुआ है, स्वतः ही स्मरण कर रहा है अतएव चिन्तित हो रहा है । अन्यथा श्रुति सुखकारी शब्दों को सुनकर वह क्यों दुःखी होता ।

सारांश यह कि प्रणयी जन के विरह के न होते हुए भी जो यह मुझे उत्कण्ठा हो रही है इसका कारण पूर्व जन्म के प्रणय की स्मृति ही है । इससे यह सम्भावित होता है कि राजा का शकुन्तला विषयक अनुराग वास्तव में पूर्वजन्मानुभूत था जो कि इस समय शाप के कारण विस्मृत सा हो रहा था । कवि ने इस कथन के द्वारा स्थायी रति का अविच्छिन्न सम्बन्ध ध्वनित किया है ।

विशेष—भाव स्थिराणि—वासना रूप से स्थिर प्रणयादि सम्बन्ध विशेष जो कि सहस्रों जन्मों में भी दूर नहीं किये जा सकते हैं ।

अबोधपूर्वम्=विषय विशेष के परिज्ञान के न होते हुए भी, उस प्रियजन को न देखते हुए भी ।

यहाँ अप्रस्तुत जन सामान्य से प्रस्तुत आत्म रूप (दुष्यन्त रूप) विशेष की प्रतीति होती है अतः **अप्रस्तुत प्रशंसालंकार** है । अनुभव रूप कारण के न होने पर भी स्मृति रूप कार्य की उत्पत्ति होती है अतः **विभावनालंकार है** । **काव्यलिंग,** उत्प्रेक्षा **छेक, वृत्ति, अनुप्रास** । **वसन्ततिलका छन्द है** ।

वि+ईक्ष+क्त्वा-ल्यप्=वीक्ष्य, रम्+यत्=रम्यम्, नि=शम्+क्त्वा-ल्यप् निशम्य, पर्युत्सुकीभवतीत्यत्र भू-धातु योगे पर्युत्सुक शब्दात् च्वि प्रत्ययः, सुख शब्दात् इतच् प्रत्ययः=सुखितः । सुहृदः भावः सौहृदम् अण् प्रत्ययः ।

संस्कृत व्याख्या—रम्याणि चन्द्रोद्यानादिमनोहरवस्तुजातानि वीक्ष्यावलोक्य मधुरान् प्रियान्-श्रुतिसुखकरान् शब्दान् आलापान् गीतिशब्दान्वा निशम्याकर्ण्य यत् यस्मात्कारणात् सुखितः प्रियविरहाभावात्संजातसुखः=अपि जन्तुः प्राणी पर्युत्सुकी भवति-उत्कण्ठितो भवति तत् तस्मात्कारणात् (सः) नूनं निश्चितमेव चेतसा मनसा अबोधपूर्वं अबुद्धिपूर्वकं यथा स्यात्तथा भावैः वासनाभिः स्थिराणि दृढमवस्थितानि भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि जन्मान्तरीयानुभूतान् प्रणयादि-सम्बन्धविशेषान् स्मरति मनसानु ध्यायतीति ।

उक्ता अलंकारादयः । **वसन्ततिलकं वृत्तम्** ।

(यह सोचकर वह व्याकुल हो उठता है)

कंचुकी—अहो नु खल्वीदृशीमवस्थां प्रतिपन्नोऽस्मि ।

आचार इत्यवहितेन मया गृहीता
या वेत्रयष्टिरवरोधगृहेषु राज्ञः ।
काले गते बहुतिथे मम सैव जाता
प्रस्थानविक्लवगतेरवलम्बनार्था ॥ ३ ॥

पर्याकुलस्तिष्ठति इस कथन से राजा का विरही होना सूचित किया गया है अतएव शाप के होने पर भी स्थायी रति के नैरन्तर्य की प्रतीति होती है अन्यथा मध्य में विच्छेद हो जाने से रस दोष हो जाता ।

(तब कञ्चुकी प्रवेश करता है)

(यहाँ कवि ने जो पूर्व सूचना के विना ही कञ्चुकी का प्रवेश कराया है वह विशेष कार्यवश है । कञ्चुकी का लक्षण इस प्रकार है—

"ये नित्यं सत्यसम्पन्नाः कामदोषविवर्जिता;

ज्ञानविज्ञानकुशलाः कंचुकीयास्तु ते स्मृताः (मातृगुप्ताचार्याः) अन्यच्च

"अन्तःपुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वितः,

सर्वकार्यार्थ कुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते ।

अर्थात् ज्ञान विज्ञान में पूर्ण कुशल, कामादि दोषों से रहित, अन्तःपुर चारी, सब प्रकार के काम सिद्ध करने में चतुर, गुणी वृद्ध ब्राह्मण कंचुकी कहलाता है। इसका दूसरा नाम सौविदल्ल भी है ।

शकुन्तला के साथ हस्तिनापुर में पहुँच कर राजा के दर्शन के लिये उत्सुक काश्यप के शिष्यों ने अपनी सूचना देने के लिए कंचुकी से कहा । उस समय कंचुकी कण्वशिष्यों के आगमन की सूचना देने के लिए राजा के पास जाता है और अपनी वृद्धावस्था पर अनुताप करता है-—

कञ्चुकी—बड़े खेद की बात है कि मैं ऐसी अवस्था को प्राप्त हो गया हूँ। अर्थात् अब मेरी दशा ऐसी हो चली है, यह बड़े दुःख की बात है क्योंकि —

श्लोक ३ अन्वय—राज्ञः अवरोधगृहेषु आचारः इति अवहितेन मया या वेत्रयष्टिः गृहीता सा एव बहुतिथे काले गते प्रस्थानविक्लवगतेः मम अवलम्बनार्था जाता ।

शब्दार्थ—अवरोधगृहेषु=अन्तःपुर में, आचारः इतिः=अन्तःपुरचारी कञ्चुकी के लिये वेत्रयष्टि धारण करना, नियम है अर्थात् अन्तःपुरचारी कंचुकी राजनियमानुसार वेत्रयष्टि धारण करते ही हैं जिससे कि वे साधारण पुरुषों को अन्तःपुर प्रवेश आदि से रोकते हैं इसलिये नहीं कि अशक्त होने के कारण वे अपने सहारे के लिये धारण करते हों अतः आचारः का अर्थ है कि अन्तःपुरचारी कंचु-

भोः । कामं धर्मकार्यमनतिपात्यं देवस्य । तथापीदानीमेव धर्मासनादुत्थिताय पुनरुपरोधकारि कण्वशिष्यागमनमस्मै नोत्सहे निवेदितुम् । अथवाऽविश्रमोऽयं लोकतन्त्राधिकारः । कुतः ?

कियों के व्यवहारानुसार न कि अशक्त होने के कारण । "**रक्षाधिकारिणा वेत्रयष्टिः गृहीतव्या**" इस वचन के अनुसार । अवहितेन=सावधान अप्रमत्त, बहुतिथे काले गते=बहुत समय बीत जाने पर, प्रस्थान-विक्लवगतेः=प्रस्थानकाल में अर्थात् एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने के समय जिसकी गति-चाल, विक्लवा=विवश अर्थात् चलते समय जिसके पैर लड़खड़ा जाते हैं (वृद्धावस्था में चलते समय जब पैर लड़खड़ाते हैं तो लकड़ी का सहारा लेकर चलते हैं ।)

अनुवाद—राजा के अन्तःपुर में, (यह समझ कर कि वेत्रयष्टि धारण करना कञ्चुकियों के लिए राजनियम है) सावधान मैंने जिस वेत्रयष्टि को धारण किया था वह अब लम्बे समय के बीतने पर, प्रस्थान काल में जिसकी चाल लड़खड़ा उठती है ऐसे मेरे लिए अब वह (शरीर का) सहारा बन गई है ।

व्याख्या—राजा के अन्तःपुर में यह समझ कर कि वेत्रयष्टि (वेंत की छड़ी) धारण करना कंचुकियों के लिये राज नियम है, सावधान मैंने (न कि अशक्त होने के कारण) जिस वेत्रयष्टि को धारण किया था वही वेत्रयष्टि अब लम्बे समय बीतने के बाद मेरे चलने के समय शरीर का सहारा बन गई है क्योंकि चलते समय जब पैर लड़खड़ाने लगते हैं तब मैं इस छड़ी के सहारे अपने को साध लेता हूँ। तात्पर्य यह कि जिस छड़ी को, मैं राज दरबार का नियम समझ कर (अशक्त होने के कारण नहीं) लिये रहता था वही अब बुढ़ापे में मेरा सहारा बन गई है।

विशेष—अवलम्बनार्था=शरीर धारण का सहारा "(अर्थेन सह नित्य समासः परवल्लिङ्गता च) इस नियमानुसार यहाँ अर्थ के साथ नित्य समास है तथा विशेष्यानुसार स्त्रीलिङ्ग है । बहुतिथे काले गते=बहुत समय बीतने पर अर्थात् पूर्ण वृद्धावस्था प्राप्त होने पर । बहुतिथे शब्द में बहु शब्द से डट् प्रत्यय है और तब "बहुपूगगण संघस्य तिथुक" इस सूत्र के अनुसार तिथुक प्रत्यय होने पर सप्तमी विभक्ति एक वचन में बहुतिथे शब्द बनता है । प्रस्थानेत्यादि=गमनारम्भ काल में जिसकी गति अर्थात् गमन क्रिया—पाद-विन्यास विक्लवा=लड़खड़ाने वाली है।

प्रस्थान विक्लवगतेः इस पद में प्रस्थान और गति शब्दों में अर्थगत पौन-**रुक्त दोष** की आशंका न करनी चाहिए क्योंकि दोनों का ग्रहण न करने पर विह्व-लता तो मनोगत भी हो सकती है अतः दोनों का ग्रहण किया है अथवा गति शब्द ज्ञानार्थवाची है अतः पुनरुक्ति दोष का परिहार हो जायेगा अथवा उपयुक्त पद के स्थान पर "**वृद्धस्य विक्लवगतेः** यह पाठ कर देने पर परिहार हो सकता है।

गति के वैक्लव्य से यष्टि अवलम्बनार्था हो गई है अतः **पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग**

भानुः सकृद्युक्ततुरङ्ग एव
रात्रिंदिवं गन्धवहः प्रयाति ।
शेषः सदैवाहितभूमिभारः
षष्ठांशवत्तेरपि धर्म एषः ॥ ४ ॥

है, यष्टि पहिले तो आचारार्थ गृहीत होती है फिर वही अवलम्बनार्थं हो जाती है अतः एक ही यष्टि के अनेक गोचर होने से **विशेषालंकार है**। उत्तरार्ध में वृद्ध के गमन रूप कार्य में सहायक रूप से वेत्रयष्टि का उपादान किया गया है अतः **समाहित है**, "**कार्यारम्भे सहायताप्तिः**" समाहित का लक्षण है। पूर्वार्ध में उक्तनिमित्ता **विभावना है**। त्यतायेति हित हीतेति गृही गृहेति गते गत इनमें **छेक वृत्ति** तथा श्रुति अनुप्रास है। **वसन्ततिलका छन्द**।

संस्कृत व्याख्या—राज्ञः दुष्यन्तस्य अवरोधगृहेषु अन्तःपुरगृहेषु आचारः इति सौविदल्लानामियं परम्परागता मर्यादेति हेतोः अवहितेन सावधानेन शक्तेन नतु अशक्तेन मया या वेत्रस्य यष्टिः वेत्रलता गृहीता धृता सा—एव वेत्रयष्टिः बहुतिथे बहुसंख्ये काले गते समये व्यतीते (सति) प्रस्थाने गमनारम्भे विक्लवा विवशा गतिः गमनक्रिया यस्य तस्य प्रस्थानविक्लवगतेः मम कञ्चुकिनः अवलम्बनार्था अवलम्बनाय शरीर-धारणाय जाता, यष्टिं बिना पदमपि चलितुं न समर्थ इदानीमिति भावः। उक्ता अलंकारादयः। वसन्ततिलकं वृत्तम्।

कञ्चुकी कहता है कि यह तो ठीक है कि राजा दुष्यन्त धर्म कार्य का उल्लंघन नहीं कर सकते, धर्म कार्य तो उन्हें करना ही है। तात्पर्य यह कि राजा को मुनिजन सन्दर्शन प्रजारक्षणादि धर्म कर्म करना आवश्यक ही हैं अतः कण्वशिष्यों के आगमन की सूचना अभी ही दे देनी उचित है राजा उसे अवश्य सुनेगा तथापि महाराज को, जो कि अभी ही धर्मासन से उठे हैं, पुनः उन्हें धर्मासन पर ही रोक लेने वाली इस कण्व शिष्यों के आगमन की सूचना को देने के लिए मेरा जी नहीं चाहता (क्योंकि सूचना पाकर धर्मात्मा महाराज फिर रुक जायेंगे और इस प्रकार उन्हें बड़ा कष्ट होगा) अथवा ऐसा सोचना बेकार है क्योंकि लोकतन्त्र के अधिकार में विश्राम कहाँ, तात्पर्य यह कि जिनके कन्धों पर लोक की रक्षा का भार है उन्हें आराम कहाँ मिल सकता है तो जब कि उनके लिये विश्राम है ही नहीं तो फिर कण्व शिष्यों के आगमन की सूचना दे ही देनी चाहिये। विश्रमः इस शब्द में "नादात्तोपदेशस्यमान्तस्थानाचमेः" इस सूत्रानुसार वृद्धि नहीं होगी। क्योंकि—

श्लोक ४ अन्वय—भानुः सकृत् युक्ततुरङ्गः एव, गन्धवहः रात्रिंदिवं प्रयाति शेषः सदैव आहितभूमिभारः (वर्तते) षष्ठांशवृत्तेः अपि एष धर्मः (अस्ति)।

शब्दार्थ—सकृत्=एक बार ही, युक्ततुरङ्गः=जो संसार भर में भ्रमण करने

के लिये अश्वों को रथ में जोतता है (नहता है) अर्थात् निरन्तर चलता हुआ जो कभी भी अश्वों को मुक्त कर विश्राम नहीं करता है। इससे सूर्य देव को अश्व योजना काल में भी विश्रान्ति नहीं मिलती यह ध्वनित होता है, अर्थात् जब कि उन्हें तरङ्ग योजना में भी विश्रान्ति नहीं तो उन्हें अन्य कार्य में विश्रान्ति मिलती होगी ऐसा सोचना ही असम्भव है। इससे सूर्य का निरन्तर गमन द्योतित होता है। गन्धवहः=वायु, रात्रिन्दिवम्=रात और दिन अर्थात् सर्वदा (समासान्त अच् प्रत्यय) प्रयाति=चलता रहता, बहता रहता है। कभी विश्रान्ति नहीं लेता। यहाँ गन्धवह प्रयोग से कवि का तात्पर्य है कि जो वायु न केवल बहता ही है प्रत्युत गन्ध को भी लेकर चलता है अतः वह भारवाही भी है। अतः इस वाक्य से वायु के भार वहन पूर्वक गमन की सूचना मिलती है तथा रात्रिन्दिवम से उसका निरन्तर अविश्रान्त गमन सूचित होता है, याति=चलता है, इतना ही नहीं प्रत्युत वह प्रयाति-वेग से चलता है, वास्तव में भारवाही होकर भी वायु के सर्वदा ही वेग से चलते रहना उसके अत्यन्त पराक्रम तथा उत्कर्ष एवं अद्भुत लोकोपकारिता का द्योतक है "सच है—सन्तः सदा परहिते विहिताभियोगाः"।

शेषः=अनन्त-शेषनाग, सदैव, आहितभूमिभारः=पृथिवी का भार धारण किये रहते हैं अर्थात् निरन्तर भूमि के भार को धारण किये रहते हैं, कभी क्षण मात्र को विश्राम नहीं लेते। षष्ठांश वृत्तेः=कृषि आदि से छठा भाग लेने वाले राजा का, प्राचीन नियमानुसार राजा कर के रूप में कृषि आदि से तथान्य लाभकारी कार्यों से छठा भाग ही ग्रहण करता था यही उसकी वृत्ति (जीविका) का साधन था अतएव राजा को षष्ठांश वृत्ति कहा जाता था। इस प्रकार षष्ठांश जीवी राजा का यह अविरत परिश्रम रूप धर्म अर्थात् नियम है, राजा के लिये षष्ठांश वृत्ति होने का कारण प्रजा रक्षा में निरन्तर दत्तचित्त रहना—विश्राम न लेना एक नियम है।

अनुवाद—सूर्य एक ही बार (रथ में अपने) अश्वों को जोतता है, अर्थात निरन्तर चलता हुआ जो कभी भी अश्वों को मुक्त कर विश्राम नहीं करता, वायु भी रात दिन बहता रहता है और शेष नाग सदा ही पृथिवी का भार धारण किये रहते हैं। उपज के षष्ठाँश से जीविका चलाने वाले राजा का भी यही धर्म है।

व्याख्या—लोक रक्षा तत्पर राजा के लिये विश्रान्ति की आवश्यकता नहीं क्योंकि सूर्य एक ही बार अपने घोड़े जोत कर निरन्तर चलता रहता है, वायु भी रात दिन बहता रहता है और शेष नाग सदा पृथिवी का भार लादे रहते हैं, ठीक यही नियम अथवा ऐसी ही दशा उपज का छठा भाग लेने वाले राजा की भी है अर्थात सूर्य, वायु, तथा शेष के समान राजा को विश्रान्ति नहीं मिल सकती।

तात्पर्य यह कि जब राजा के लिये विश्राम है ही नहीं तो मुझे

यावन्नियोगमनुतिष्ठामि । (परिक्रम्यावलोक्य च ।) एष देवः

प्रजाः प्रजाः स्वा इव तन्त्रयित्वा
निषेवतेऽशान्तमना विविक्तम् ।

अनिवार्यतः बिना किसी संकोच कण्व शिष्यों के आगमन की सूचना दे देनी चाहिये, इसमें कोई दोष नहीं ।

विशेष—यहाँ अविश्राम रूप सामान्य धर्म का भिन्न-भिन्न शब्दों से पृथक् पृथक् निर्देश किया गया है अतः **मालाप्रतिवस्तूपमालंकार** है । 'दुष्यन्तस्य' इस विशेष का उपादान न करके जो षष्ठांशवृत्तेः इस सामान्य का निर्देश किया गया है इससे **अप्रस्तुतप्रशंसालंकार** है । यहाँ एव शब्द से कादाचित्क भी तुरङ्गमोक्षणादि धर्म का निषेध किया गया है अतः **परिसंख्यालंकार भी** है । यहाँ सकृत् आदि शब्दों के विच्छित्ति विशेष के जनक होने के कारण अनवीकृतत्व दोष की आशंका न करनी चाहिये क्योंकि दर्पणकार के अनुसार अनवीकृतत्व का उदाहरण है—

"सदा चरति खे भानुः, सदा वहति मारुतः, सदा धत्ते भुवं शेषः, सदा धीरोऽविकत्थनः" ।

यहाँ राजा के उपमान सूर्यादि हैं इससे राजगत तेजस्विता लोकोपकारिता तथा स्थिरता द्योतित होती है । **श्रुत्यनुप्रास । इन्द्रवज्रा छन्द है "स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः"** अर्थात् जिसमें क्रमशः तगण तगण जगण अन्त में दो गुरु वर्ण हों वह इन्द्रवज्रा छन्द होता है—

ऽ ऽ । । ऽ । । ऽ । गु० गु०
भा नुः स, कृद् यु क्त, तु र ङ्ग, ए, व

सकृत् इति अव्ययम् । युजिर् योगे+क्त=युक्तः । आ+धा+क्तः=आहितः ।

संस्कृत व्याख्या—भानुः सूर्यः सकृदेकबारं युक्ताः रथे नियमिताः तुरङ्गाः अश्वा येन स युक्ततुरङ्ग एव (अस्ति) एकबारमेव रथनियुक्ततुरङ्गमो दिवाकरोऽपि यावल्लोकरक्षार्थं परिभ्रमत्येव, न कदापि क्षणमपि विश्राम्यतीत्याशयः, गन्धवहो वायुः रात्रिश्च दिवा च तयोः समाहारः रात्रिन्दिवम् अहोरात्रिम् (समासान्तोऽचट् प्रत्ययः) प्रयाति प्रकर्षेण वहति । शेषोऽनन्तः सदैव आहितः शिरसि धृतः भूमेः भूमण्डलस्य भारो येन स आहितभूमिभारः (अस्तीति शेषः) सतत मेव भूमिभारं शिरसा धारयति न कदापि तमपास्य. विश्रान्ति लभत इति भावः । षष्ठांशः प्रजाजनोपपादितवस्तुजातानां षष्ठो भागः स एव वृत्तिः जीविका यस्य स तस्य षष्ठाँशवृत्तेः राज्ञोऽपि एषः अविश्रान्तपरिश्रमरूपो धर्म आचारो नियमो वेति यावत् अस्तीति । अतः कण्वशिष्यागमनसूचनानिवेदने न कापि क्षतिस्तस्य विश्रामाभावादित्याशयः । उक्ता अलंकारादयः । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ।

यूथानि संचार्य रविप्रतप्तः
शीतं दिवा स्थानमिव द्विपेन्द्रः ॥ ५ ॥

इसलिये चलूँ मैं अपना कर्त्तव्य पूरा करूँ। इधर उधर घूम कर देख कर यह महाराज हैं—

श्लोक ५ अन्वय—स्वाः प्रजाः प्रजा इव तन्त्रयित्वा अशान्तमनाः विविक्तम् निषेवते, यूथानि संचार्य रविप्रतप्तः द्विपेन्द्रः दिवा शीतं स्थानं इव।

शब्दार्थ—स्वाः प्रजाः=अपनी प्रजाओं को, प्रजा=स्वकीय सन्तान की भाँति, तन्त्रयित्वा=शासन के द्वारा सन्मार्ग पर लगा कर, विविक्तं=एकान्त स्थान, यूथानि=झुण्ड, संचार्य=आहार विहारादिकों में यथा स्थान नियुक्त कर, रविप्रतप्तः=सूर्य किरणों से संतप्त होकर, निषेवते=विश्राम के लिए रहता है।

अनुवाद—अपनी प्रजाओं को अपनी संतान की भाँति ही शासन द्वारा यथा योग्य मार्ग पर लगा कर (परिश्रम के कारण) उद्विग्न चित्त होकर, यहाँ एकान्त में उसी प्रकार विश्राम कर रहे हैं जिस प्रकार सूर्य की (प्रखर किरणों से) संतप्त गजपति, अपने गजों के झुण्ड चरने के लिए यथा स्थान छोड़कर दिन में शीतल स्थान में विश्राम करता है।

व्याख्या—राजा की तत्कालीन अवस्था का वर्णन करता हुआ कञ्चुकी कहता है कि—यह महाराज अपनी प्रजाओं को अपनी सन्तान की भाँति ही शासन के द्वारा साधु पथ पर लगाकर अब परिश्रम के कारण उद्विग्न चित्त होकर यहाँ एकान्त में उसी प्रकार विश्राम कर रहे हैं जैसे सूर्य की प्रखर किरणों से तपा हुआ गजपति अपने हाथियों के झुण्ड को चरने के लिए यथा स्थान छोड़कर दिन में ठंडे स्थान में पर्वतीय गुफा आदि में विश्राम करता है।

विशेष—प्रजा—"प्रजा स्यात् सन्ततौ जने" इस कोश के अनुसार प्रजा का अर्थ सन्तान भी है। 'दिवा' का अर्थ दिन में, यहाँ मध्याह्न काल में।

यहाँ राजा का उपमान द्विपेन्द्र है अतः राजगत अघृष्यता एवं दर्शनीयता सूचित होती है, "प्रजा इव" इसके द्वारा राजा की प्रजा पालन तत्परता और फलतः प्रजाओं की राजा में भक्ति सूचित होती है। इस अवस्था में राजा को देखने से कञ्चुकी का हर्ष व्यञ्जित होता है अतः कञ्चुकी की राजविषयिका रति प्रधानतया ध्वनित होती है।

उपमा, छेकानुप्रास, वृत्यनप्रास यमक श्रुत्यनुप्रास आदि अलंकार हैं 'दिवा' पद से रात्रि का निराकरण करने से सूर्यतापाधिक्य द्योतित होता है। 'अशान्तमनाः' पद में कोई आचार्य शान्तमनाः ऐसा पदच्छेद करते हैं परन्तु ऐसा करने से उपमान-भूत द्विपेन्द्र के विशेषण 'रविप्रतप्तः' इसका विरोध होगा अतः अशान्तमनाः ही ठीक

(उपगम्य) जयतु जयतु देवः । एते खलु हिमगिरेरुपत्यकारण्यवासिनः काश्यपसंदेशमादाय सस्त्रीकास्तपस्विनः संप्राप्ताः । श्रुत्वा देवः प्रमाणम् ।

राजा—(सादरम् ।) किं काश्यपसंदेशहारिणः ? ।

कंचुकी—अथ किम् ? ।

राजा—तेन हि मद्वचनाद्विज्ञाप्यतामुपाध्यायः सोमरातः—अमूनाश्रमवासिनः श्रौतेन विधिना सत्कृत्य स्वयमेव प्रवेशयितुमर्हति-इति । अहमप्यत्र तपस्विदर्शनोचिते प्रदेशे स्थितः प्रतिपालामि ।

कंचुकी—यदाज्ञापयति देवः । (इति निष्क्रान्तः ।)

राजा—(उत्थाय ।) वेत्रवति ! अग्निशरणमार्गमादेशय ।

ठीक है। दूसरी बात यह है कि शान्तमनाः छेद करने से राजा द्वारा स्वयं आगे कहे हुए "एते क्लान्तमनसः इत्यादि वचन से विरोध भी होगा । **उपेन्द्र वज्रा छन्द है— "उपेन्द्र वज्रा प्रथमे लघौ सा"** अर्थात् जिस छन्द में क्रमशः जगण तगण जगण गुरु गुरु वर्णों के क्रम से ११ वर्ण होते हैं वह उपेन्द्रवज्रा छन्द होता है अथवा इन्द्रवज्रा छन्द के प्रथमाक्षर को लघु कर देने से उपेन्द्रवज्रा छन्द होता है—

जगण	तगण	जगण	गु०	गु०
।ऽ।	ऽऽ।	।ऽ।	ऽ	ऽ
प्र जाः प्र,	जा स्वा इ,	व त न्त्र,	यि	त्वा

संस्कृत व्याख्या—यूथानि स्वहस्तिवृन्दानि संचार्य आहारविहारादिकार्येषु यथास्थानं नियुज्य रविणा प्रतप्तः रविप्रतप्तः सूर्यकिरणसंतप्तः दिवा मध्याह्ने शीतलं स्थानं पर्वतगुहादिस्थानं द्विपेन्द्रः गजपतिः इव (एष देवः) दुष्यन्तः स्वाः प्रजाः स्वलोकान् प्रजाः सन् इव स्वापत्यानीव तन्त्रयित्वा स्वशासनेन नियम्य अशान्तमनाः उद्विग्नचित्तः विविक्तमेकान्तस्थानं निषेधते श्रमापनोदायाश्रयते ।

उक्ता अलंकाराः । उपेन्द्रवज्रा वृत्तम् ।

(पास जाकर) महाराज की जय हो । ये हिमालय की तराई के जंगल में बसने वाले तपस्वी, काश्यप का सन्देश लेकर स्त्रियों के साथ आए हैं, यह निवेदन सुनकर जैसा आप समझें, करें ।

राजा—क्या काश्यप का सन्देश लेकर आने वाले तपस्वी हैं ?

कंचुकी—जी हाँ, और क्या ।

राजा—तो मेरी आज्ञा से कुल पुरोहित सोमरात को सूचित करो कि इन आश्रमवासी तपवस्यिों की वेदोक्त विधि से पूजा कर स्वयं ही इन्हें प्रवेश-

प्रतीहारी—इदो इदो देवो। [इत इतो देवः।]

राजा—(परिक्रामति। अधिकारखेदं निरूप्य।) सर्वः प्रार्थितमर्थ-मधिगम्यसुखी संपद्यते जन्तुः। राज्ञां तु चरितार्थता दुःखान्तरैव।

औत्सुक्यपात्रमवसाययति प्रतिष्ठा
क्लिश्नाति लब्धपरिपालनवृत्तिरेनम्।
नातिश्रमापनयनाय न च श्रमाय
राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम् ॥६॥

करायें। मैं भी यहाँ तपस्वियों के दर्शन के लिए उचित स्थान पर बैठा प्रतीक्षा कर रहा हूँ।

कंचुकी--जैसी आज्ञा (कहकर निकल जाता है)

राजा—(उठकर) वेत्रवती! हमें यज्ञशाला का मार्ग बतलाओ। अग्निशरणं=यज्ञशाला "शरणं गृहरक्षित्रोः" इस कोष के अनुसार (वेत्रवती प्रतीहारी का नाम है, वह द्वार पर थी और राजा भी वहीं बैठा था अतः समीपवर्ती होने के कारण कवि ने प्रतीहारी का प्रवेश नहीं दिखलाया है। प्रतीहारी का लक्षण इस प्रकार है—

"सन्धिविग्रहसम्बद्धं नानाकार्यसमुत्थितम्।
निवेदयन्ति याः कार्यं प्रतीहार्यस्तु ताः स्मृताः।

अर्थात् सन्धि विग्रह आदि से सम्बद्ध भिन्न-भिन्न कार्यों की सूचना देने वाली प्रतीहारी कहलाती हैं।

प्रतीहारी—इधर से आइये महाराजा इधर से।

राजा—(घूमता है। अधिकारजन्य खेद का निरूपण करता हुआ।) अपनी इच्छानुकूल इष्ट वस्तु प्राप्त कर और सभी प्राणियों को तो सुख मिलता है परन्तु राजाओं की राज्यप्राप्ति की साध जब पूरी हो जाती है तो उन्हें फिर दुःख ही दुःख मिलता है, सुख नहीं। क्योंकि—

श्लोक ६ अन्वय—प्रतिष्ठा औत्सुक्यमात्रं अवसाययति, लब्धपरिपालन वृत्तिः एनं क्लिश्नाति, स्वहस्तधृतदण्डं आतपत्रं इव राज्यं न अतिश्रमापनयनाय न च श्रमाय (वा भवति)।

शब्दार्थ—प्रतिष्ठा = अलब्ध वस्तु की प्राप्तिजन्य प्रसिद्धि, सर्वोत्कृष्ट गौरव, औत्सुक्यमात्रं=अभिलषित वस्तु की प्राप्ति से उत्पन्न उत्कण्ठा मात्र को, अवसाययति=समाप्त करती हैं अर्थात् इष्ट वस्तु की अप्राप्ति से जो उत्सुकता उत्पन्न होती है उसी को केवल शान्त कर देती है, इष्ट वस्तु-राज्यादि पाकर लोगों की मन की उमंग तो पूरी हो जाती है। लब्धेत्यादि=प्राप्त वस्तु-राज्यादि का पालन करना,

(नेपथ्ये ।)

वैतालिकौ—विजयतां देवः ।

क्लिश्नाति = दुःख देता है । स्वहस्तेत्यादि = अपने हाथ से जिसका छत्र दण्ड पकड़ा गया है, अतिश्रमापनयनाय = अधिक थकावट को दूर करने के लिए ।

अनुवाद—राज्यादि प्राप्तिजन्य गौरव, (केवल राजा की) राष्ट्रवस्तु प्राप्तिजन्य उत्कण्ठा को शान्त करता है । (परन्तु) प्राप्त राज्यादि का रक्षा व्यापार इसे दुःख देता है । अतः राज्यप्राप्ति उस छतरी के समान ही होती है जिसका दण्ड स्वयं अपने हाथ से पकड़ा गया हो, अतः राज्यप्राप्ति न तो अधिक थकावट दूर करने के ही लिए होती है और न अधिक थकावट के लिए ही ।

व्याख्या—नवीन राज्यादिप्राप्तिजन्य प्रसिद्धि (गौरव) केवल (राजा की) उत्कण्ठा को दूर करती है । परन्तु प्राप्त राज्यादि की रक्षा करना राजा को कष्टदायक होता है तात्पर्य यह कि राजा बन कर उत्कृष्ट गौरव पा लेना मन की उमंग को तो अवश्य पूरा कर देता है परन्तु उस प्राप्त राज्य की रक्षा का जब उत्तरदायित्व सम्भालना पड़ता है तो बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है अतः राज्य प्राप्ति उस छतरी के समान ही होती है जिसका दण्ड स्वयं अपने हाथ से पकड़ा गया हो अर्थात् जिस प्रकार स्वयं अपने हाथ से छतरी का दण्ड पकड़ने से थकावट ही अधिक होती है, विश्राम कम मिलता है, उसी प्रकार राज्य प्राप्ति से दुःख ही अधिक मिलता है, सुख उस अनुपात से कम मिलता है ।

विशेष—औत्सुक्येत्यादि :—अर्थात् साधारण मनुष्य की तो किसी वस्तु विशेष के लिए उत्पन्न हुई उत्कण्ठा वैसी ही बनी रहती है क्योंकि उसे साधन हीन होने के कारण अपनी अभिलाषित वस्तु नहीं मिल पाती है परन्तु साधन सम्पन्न राजादि लोगों की यह उत्कण्ठा पूर्ण हो जाती है क्योंकि उनकी इष्ट वस्तु उन्हें मिल जाती है । इसी हेतु राजादि लोगों को इष्ट-वस्तु प्राप्त निमित्तक सुख का अनुभव होने लगता है क्लिश्नातीत्यादि : अर्थात् प्राप्त वस्तु जिसका सर्वतोभावेन पालन करना है राजाओं के लिए अत्यन्त कष्ट कर होती है तात्पर्य यह कि राजाओं के लिए राजादि प्राप्त जितनी सरल है उसकी रक्षा उतनी ही कठिन है । अनेक कष्ट साध्य कार्यों में व्यस्त रहने के कारण कभी भी शान्ति नहीं मिलती है ।

नातीत्यादि—अतएव राज्य उस छतरी के समान है जिसका दण्ड अपने आप धारण करना पड़ता है अतएव ऐसा राज्य तो न अधिक थकावट को ही दूर करने वाला होता है और न विश्रान्ति देने वाला ही होता है (अपनयन = दूर करना, न अति श्रमापनयनाय न = अधिक थकावट को दूर करने के लिए नहीं होता अर्थात् अधिक थकावट देने वाला ही ऐसा होता है अर्थात् ऐसे राज्य से थकावट ही अधिक होती है ।

प्रथम :—

स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः
प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविधैव ।
अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं
शमयति परितापं छायया संश्रितानाम् ॥ ७ ॥

उत्तरार्ध वाक्यार्थ के प्रति पूर्वार्धवाक्यार्थ हेतु रूप से उपन्यस्त है अतः **काव्यलिङ्ग, उपमा,** चतुर्थ चरण में **दृष्टान्त** श्रमापनयनाय श्रमाय यह **विरोधाभास** है तथा **यथासंख्यालंकार** भी है । **अतिशयोक्ति** भी क्योंकि सम्बन्ध में कल्पना असम्बन्ध की कल्पना तथा असम्वन्ध में सम्बन्ध की कल्पना है ।
श्रमाश्रयेति, नयनायेति, यनायनेति आदि में **छेक वृत्ति तथा श्रुति अनुप्रास** है । **वसन्त तिलका छन्द है ।**

उत्सुकस्य भाव ष्यञ् प्रत्यये औत्सुक्यम् । लभ् + क्त = लब्धम् ।

संस्कृत व्याख्या—प्रतिष्ठा राज्यलाभादिजन्य **गौरवप्रसूता प्रसिद्धिः** अस्य राज्ञः (एनम् इत्यग्रे वक्ष्यमाणात्वात् अस्येति विपरिणम्यते) औत्सुक्यमेव—औत्सुक्य मात्रं विविधपदार्थ सम्भोगेच्छामात्रं अवसाययति = समाप्ति नयति, लब्धस्य प्राप्तस्य राज्यादेः परिपालनाय सर्वतोभावेव रक्षणय या वृत्ति :—व्यापारः लब्धपरिपालनवृत्ति एनं राजानं क्लिश्नाति पीडयति । राज्यलाभेनेच्छाविनोदमात्रमेव भवति परन्तु तद्रक्षणवर्धनादौ च महान् क्लेशो जायते-अतो न तादृशं सुखं यादृशं दुःखं भवति । स्वहस्तेन धृतो गृहीतो दण्डो यस्य तत् स्वहस्तधृतदण्डं स्वकर गृहीत-दण्डं आतपत्रम् (आतपात्त्रायत इत्यातपत्रम्) छत्रं इव राज्यं न अतिश्रमापनयनाय अत्यधिकं श्रमदूरीकरणाय न च श्रमाय श्रमकरणाय वा भवति । राज्ये यथा श्रमो भवति न तादृशः श्रमापनोदो जायते । उक्ता अलंकारादयः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ।

(नेपथ्य में दो वैतालिक कहते हैं)

महाराज की जय हो । (वैतालिकं = स्तुति पाठक, रात्रि व्यतीत होने पर स्तुति द्वारा राजा को जगाने वाले **"वैतालिका बोधकरा"** यह कोश है ।

वैतालिक का लक्षण—"तत्तत्प्रहरकयोग्यै रागैस्तत्तत्कालवाचिभिः श्लोकैः, सरभसमेव वितालं गायन वैतालिको भवति "भाव प्रकाश" अर्थात् प्रत्येक प्रहरोचित रागों से तथा भिन्न-भिन्न काल निर्देशक श्लोकों से जो तालादिक्रम रहित समयानुसार गाते हैं, वे वैतालिक कहे जाते हैं । प्रथम वैतालिक, राजाओं का खेद, वास्तव में उनको खेद नहीं होता, वे निःस्वार्थ होते हैं अतः उनका खेद परोपकार के लिए होता है अतः उसे खेद न करना चाहिए, इस रूप में राजा की स्तुति करता हुआ कहता है:—

श्लोक ७ अन्वय—प्रतिदिनं (त्वं) स्वसुखनिरभिलाषः सन् लोकहेतोः खिद्यसे,

द्वितीय :—

नियमयसि-कुमार्गप्रस्थितानात्तदण्डः
प्रशमयसि विवादं कल्पसे रक्षणाय।

अथवा ते वृत्तिः एवम्विधा एव, हि पादपः मूर्ध्ना तीव्रं उष्णं अनुभवति, छायया संश्रितानां परितापं शमयति।

अनुवाद—आप, अपने सुख की इच्छा से रहित होकर जन साधारण के कल्याण के लिए प्रतिदिन खद का अनुभव करते हैं। अथवा आपका आचरण ही ऐसा है (कि आप सदा जनहित में तत्पर रहें) क्यों कि वृक्ष अपने सिर पर तो कड़ी धूप सहता है पर अपने आश्रित जीवों की छाया से संताप दूर करता है।

शब्दार्थ—खिद्यसे=खेद का अनुभव करते हैं, अर्थात् लोक कल्याण के लिए सतत परिश्रमजन्य खेद का अनुभव करते हैं। संश्रितानां=अपने आश्रम में आये हुए लोगों का, परितापं=सन्ताप।

व्याख्या—आप अपने सुख की इच्छा से रहित होकर जन साधारण के कल्याण के लिए प्रतिदिन उद्योग करते हुए खेद का अनुभव करते हैं। अथवा (यह कोई आप के विषय में अद्भुत बात नहीं, इस बात से आपकी कोई प्रशंसा नहीं) भगवान् ने आपको इसलिए बनाया ही है अर्थात् आपका आचरण ही ऐसा है कि आप सदा जन-कल्याण में तत्पर रहें। क्योंकि वृक्ष अपने मस्तक पर तो दुःसह धूप सहता है पर अपने आश्रित (तले बैठे हुए) जीवधारियों को छाया देकर उनका सन्ताप दूर करता ही है।

विशेष :—प्रतिदिन अर्थात् एक दो दिन नहीं, प्रतिदिन—निरन्तर, स्वसुखेत्यादि—अर्थात् अपने सुख से निःस्पृह अर्थात् प्रासाङ्गिक सुख की अभिलाषा न करने वाले। एवम्विधा=परिसुखोत्पादनरूप, वृतिः=वर्ताव—आचरण—व्यवहार।

सारांश यह है कि जिस प्रकार वृक्ष अपने ऊपर दुःसह धूप को सहन करता हुआ भी अपने नीचे बैठे हुए आश्रितों को छाया देकर उनका आतपजन्य सन्ताप दूर करता है उसी प्रकार प्रजाजनों के हित में तत्पर रहने के कारण खिन्न भी आप, पर खेद को दूर करते हैं।

यहाँ वृक्ष पर सज्जनों के व्यवहार के समारोपण से **समासोक्ति** अलंकार है, उपमान के धर्म का प्रतिबिम्ब होने से **दृष्टान्त**, पूर्वार्ध में **काव्यलिङ्ग**, अथवा यहाँ पर स्वोक्ति का प्रतिषेध किया गया है अतः अक्षेपालंकार, **वृत्यनुप्रास**, **श्रुत्यनुप्रास**; वैतालिक निष्ठ राज विषयक **रति भाव है**। **मालिनी छन्द है** :—

न न म य य युतेयं मालिनी भोगि लोकैः अर्थात् जिसमें दो नगण एक मगण पुनः दो यगण हों इस क्रम से १५ वर्ण हों वह मालिनी छन्द है।

अतनुषु विभवेषु ज्ञातयः सन्तु नाम
त्वयि तु परिसमाप्तं बन्धुकृत्यं प्रजानाम् ॥ ८ ॥

नगण नगण मगण यगण यगण
। । । । । । S S S । S S । S S
स्व सु ख, नि र भि, ला षः खि, द्य से लो, क हे तोः ।
खिद् धातोः भावे लटि खिद्यसे । पाद + पा + क = पादपः ।

संस्कृत व्याख्या :—प्रतिदिनं प्रत्यहं निरन्तरं-इति यावत् स्वस्य यत्सुखं तत्र निरभिलाषः स्वसुखनिरभिलाषः आत्मसुखेच्छारहितः सन् (त्वं) लोकस्य प्रजाजनस्य हेतोः लोकहेतोः प्रजाजनसुखसाधनार्थं खिद्यसे खेद मनुभवसि, अथवा नात्रकिमप्यद्भुतं कर्तव्यमेवेदं भवतः, ते तव वृत्तिः आचार एवम्बिधा एव स्वसुखनिव्यपेक्षारुपा परसुखोत्पादनरुपा एव (अस्ति) हि यतः पादपः = वृक्षः मूर्ध्ना स्वोत्तमाङ्गेनाग्रभागेन वा तीव्रं दुःसहं उष्णं आततं अनुभवति, छायया शीतलच्छायादानेन संश्रितानां आत्माश्रितानां तलोपविष्टानां जनानां परितापं आतपजन्यसंतापं शमयति दूरी करोतीति । उक्ता अलंकाराः मालिनी वृत्तम् ।

द्वितीय :—द्वितीय वैतालिक कहता है :—

श्लोक ८ अन्वय :—(त्वं) आत्तदण्डः (सन्) कुमार्गप्रस्थितान् नियमयसि, विवादं प्रशमयसि, रक्षणाय कल्पसे, अतनुषु विभवेषु ज्ञातयः संन्तु नाम तु प्रजानां बन्धुकृत्यं त्वयि परिसमान्तम् ।

शब्दार्थं :—आत्तदण्डः = दण्ड धारण कर अर्थात् राजोचित् दण्ड विधि का आश्रय खेकर, कुमार्गप्रस्थितान् = कुमार्ग गामियों-उद्धतों-निषिद्ध कर्म करने वालों को नियमयसि = कुपथ से दूर करते हो । विवादं = विरोध अर्थात् जो लोग भूमि द्रव्य आदि के विषय में परस्पर झगड़ा करते हैं उनके विरोध को, प्रशमयसि = दूर करते हो । रक्षणाय कल्पसे = दैवी तथा मानुषी आपत्तियों से प्रजा की रक्षा करने के लिये समर्थ हो । ज्ञातयः = स्वजन-कुटुम्बी-प्रजाओं के भाई बन्धु आदि दायाद, अतुनुषु विभवेषु = प्रभूत धन धान्यादि विषयों में, संन्तु नाम = अर्थात् सम्भव है कि हों । वन्धुकृत्यं = वन्धुजनों का उचित कर्म ।

अनुवाद :—आप, राजदण्ड धारी (होकर) कुमार्ग गामियों को सन्मार्ग पर लगाते हैं । उसके (पारस्परिक) विवाद को शान्त करते हैं, उनकी रक्षा करते हैं (यह सम्भव हो) कि प्रभूत धन धान्यादि के होने पर स्वजन कुटुम्बी हों, पर (साधारण) प्रजाजनों का वन्धुजनों द्वारा वरणीय कार्य आप में ही समाप्त होता है ।

व्याख्या—आप राजदण्ड धारण कर कुमार्ग गामियों को सन्मार्ग पर लगाते हैं, उनके पारस्परिक विवाद को दूर करते हैं और उनकी रक्षा करते हैं यह सम्भव

राजा—एते क्लान्तमनसः पुनर्नवीकृताः स्मः । (इति परिक्रामति ।)

प्रतीहारी—अहिणवसम्मज्जणसस्सिरीओ सण्णिहिदहोमधेणु अग्गिसरणालिंदो । आरुहदु देवो । [अभिनवसंमार्जनसश्रीकः संनिहितहोमधेनुरग्निशरणालिंद आरोहतु देवः ।]

राजा—(आरुह्य परिजनांसावलम्बी तिष्ठति ।) वेत्रवति ! किमुद्दिश्य भगवता काश्यपेन मत्सकाशमृषयः प्रेषिताः स्युः ? ।

है कि विशेष धनवान् लोगों के बहुत से अपने स्वजन कुटुम्बी हों परन्तु साधारण प्रजाजनों के लिए तो आप ही भाई बन्धु माता पिता हैं अर्थात् साधारण जनों की आप ही उसी प्रकार रक्षा करते हैं जैसे उनके सगे सम्बन्धी बन्धुजन करते हैं ।

विशेष—राजा को समयानुसार दण्ड भी देना पड़ता है, यह दण्ड देना अपराध नहीं है, दण्ड विधान भी शास्त्र सम्मत है, जन रक्षा का साधन है, राजा को क्षमाशील दयालु धर्मात्मा नीतिवान् होना चाहिए यह ठीक है पर आवश्यकता होने पर उसे दण्ड भी देना चाहिए "**समये यश्च तनोति तिग्मताम्**" दण्ड के स्वरूप के विषय में भृगु संहिता में कहा गया है :—

'**तदर्थं सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम्, ब्रह्मतेजोमयं दण्ड मसृजत्परमेश्वरः**'

दण्ड प्रयोग के विषय में भी कहा गया है :—

"**स्वराष्ट्रे न्यायवृत्तिः स्यादुग्रदण्डश्च शत्रुषु, ब्राह्मणेषु सुहृत्सु तिलस्निग्धेषु ब्राह्मणेषु क्षमान्वितः**" राजा में इसी प्रकार का व्यवहार होना चाहिये ।

आत्तदण्डः कुमार्गप्रस्थितान् नियमयसि :— इस वाक्य से राजा का प्रजाजनों के कार्यों में अत्यधिक जागरूक होना सूचित होता है । तथा इससे राजा की गोपालवृत्ति भी व्यञ्जित होती है अर्थात् जैसे कोई गोपाल डंडे को लेकर निषिद्धसस्यादिभक्षण के लिये इधर उधर भागने वाली गायों को रोकता है उसी प्रकार राजा भी दण्ड धारण कर कुमार्ग गामी प्रजाओं को रोकता है ।

प्रशमयसि = अर्थात् प्रजाजनों के विरोध को दण्ड द्वारा, स्वेच्छा मात्र से नहीं, दूर करता प्रत्युत धर्मशास्त्रवेत्ताओं के साथ परामर्श कर शास्त्र विधानानुसार सद विचार से दूर करता है । नाम = का अर्थ यहाँ सम्भावनासूचक है । तु = किन्तु ।

रक्षणाय कल्पसे = अर्थात् शत्रुओं को धन आदि देकर सन्तुष्ट करके रक्षा करने में समर्थ होते हो ।

अतनुष्वित्यादि = अर्थात् अत्यधिक सम्पत्ति होने पर तो प्रजाजनों के बन्धुकृत्य करने वाले बहुत से स्वजन हो सकते हैं परन्तु धन होने अथवा न होने पर सर्वविधि प्रजाजनों के सन्मार्ग प्रदर्शन, विवाद शमन, तथा रक्षणादि, बन्धु जनों द्वारा करने योग्य कामों की पूर्णता तो आप ही द्वारा होती है अन्य के द्वारा नहीं ।

किं तावद्व्रतिनामुपोढतपसां विघ्नैस्तपो दूषितं
धर्मारण्यचरेषु केनचिदुत प्राणिष्वसच्चेष्टितम्।
आहोस्वित्प्रसवो ममापचरितैर्विष्टम्भितो वीरुधा
मित्यारूढ़बहुप्रतर्कमपरिच्छेदाकुलं मे मनः ॥ ९ ॥

अन्तिम चरण के प्रति पूर्व वाक्यार्थ हेतु है अतः वाक्यार्थ हेतुक काव्यलिङ्ग नियमयसि इत्यादि तीन क्रियाओं का 'त्वं' यह एक ही कर्ता है अतः दीपिकालङ्कार बन्धुजनों की अपेक्षा राजा में आधिक्य कथन है अतः व्यतिरेकालङ्कार, अनुप्रास वैतालिकनिष्ठ राजविषयक रतिभाव, मालिनी छन्द, है।

संस्कृत व्याख्या :—आत्तो दण्डो येन स आत्तदण्डः=धृतराजनियमदण्ड कुमार्गप्रस्थितान् निषिद्धपथपथिकान् नियमयसि स्वशासनेन सन्मार्गस्थान् करोषीत्यर्थः विवादं धनादिविषयजन्यपारस्परिकविरोधं प्रशमयसि दूरग्नयसि, रक्षणाय प्रजाजनरक्षणाय कल्पसे प्रभवसि (क्लृपि सम्पश्रमाने चेति चतुर्थी) अतनुषु प्रभूतेषु विभवेषु धनधान्यादिषु ज्ञातयाः स्वजनाः सन्तु नाम नामेति सम्भाववनायाम् तु किन्तु प्रजानां बन्धुकृत्यं बन्धुजनकरणीयकार्यं त्वयि दुष्यन्त एव परिसमाप्तं पर्यवसितम् सर्वतोभावेन तेषां हितकरणादिति। उक्ता अलंकारादयः। मालिनी व्रत्तम्।

राजा—इस (स्तुति पाठ से शासन कार्य से खिन्न मन वाले हम लोग पुनः उत्साहित हो गये हैं अर्थात् शासन कार्य में तत्पर रहने के कारण जो हम लोगों में थकावट आई थी वह वैतालिकों के इस स्तुति पाठ के सुनने से दूर हो गई और हम में फिर नया जोश उत्पन्न हो गया—मेरा उदास मन फिर हरा हो गया है। (यह कह कर फिर घूमने लगता है।)

प्रतीहारी :—यह है अग्निशाला का बहिर्द्वार प्रकोष्ठ (देहली, प्रवेशद्वार) जो कि अभी हाल ही में झाड़ बुहार कर सुन्दर बनाया गया है और जिसके पास ही में हवन के लिए दूध देने वाली गाय बँधी हुई है, महाराज इस पर चढ़ें।

राजा :—(चढ़कर परिजनों के कन्धे पर सहारा लेकर खड़ा हो जाता है) हे वेत्रवती ! भगवान काश्यप ने किस उद्देश्य से मेरे पास ऋषियों को भेजा होगा ?

श्लोक ९ अन्वय—विघ्नैः उपोढतपसां व्रतिनां तपः किं तावत् दूषितम्, उत धर्मारण्यचरेषु प्राणिषु केन चित् असत् चेष्टितम्, आहोस्वित् ममापचरितैः वीरुधां प्रसवः विष्टम्भितः, इति आरूढ़बहुप्रतर्कं मे मनः अपरिच्छेदाकुलं (अस्ति)

शब्दार्थ—विघ्नैः=विघ्न करने वाले, यज्ञानुष्ठान विघातक राक्षसादिकों के द्वारा (यहाँ पर साध्यवसाना लक्षणा है जिसका फल विघ्नातिशय द्योतन है) उपोढतपसाम्=उपोढ=धारण किया हुआ अर्थात् यज्ञानुष्ठानादि उत्कृष्ट तप धारण करने वाले अथवा उपोढ का अर्थ है अत्यधिक "उपोढः कथितोऽत्यूढे समासन्ने

प्रतीहारी—सुचरिदणन्दिणो इसीओ देवं सभाजइदुं आअदेत्ति तक्केमि ।
[सुचरिततनन्दिन ऋषियो देवं सभाजयितुमागता इति तर्कयामि ।]

(ततः प्रविशन्ति गौतमीसहिताः शकुन्तलां पुरस्कृत्य मुनयः पुरश्चैषां कंचुकी पुरोहितश्च ।)

कंचुकी—इत इतो भवन्तः ।

शारंगरवः—शारद्वत !

विद्याहिते" इस कोषानुसार । अत्यधिक तपस्वी, व्रतिनां=यज्ञयागादि करने वालों का । तपः=याज्ञादि, किं तावत्=क्या दूषितम्=आरब्ध तप को विनिष्ट कर दिया है ? इससे राजा का तपोविनाश के कारण विषाद व्यञ्जित होता है । अतः क्या उन विघ्नकारियों को रोकने के लिए ही काश्यप ने ऋषियों को मेरे पास भेजा है । उत=अथवा, धर्मारण्यचरेषु=तपोवन में रहने वाले, प्राणिषु=मृग आदि जीवों के विषय में, केनचित्=किसी शिकारी-लुब्धक आदि के द्वारा, असत्=हिंसादि कर्म, चेष्टितम्=किया है अतः उसके प्रतीकार के लिए ऋषि भेजे गये हैं । यहाँ धर्म पद से ऋषियों का महत्व सूचित होता है तथा ऐसे धर्मारण्यचारियों पर हिंसादि कर्म करना सर्वथा अनुचित ही नहीं प्रत्युत ऐसे असदाचरण की सम्भावना भी नहीं करना चाहिए, यह सूचित होता है । अहोस्वित्—अथवा, ममापचरितैः=मेरे असदाचरणों से, वीरुधा=लताओं का "लता प्रतानिनी वीरुत्" कोश, प्रसवः=पल्लव पुष्प फल आदि "पुष्पं फलं च पत्रं च वृक्षाणां प्रसवं विदुः" कोश । विष्टम्भितः=प्रतिबद्ध हो गया है, निकलना बन्द हो गया है ! अतः उसके प्रतीकार के लिए काश्यप ने ऋषियों को मेरे पास भेजा है (राजा के दुराचार से लता वृक्षादिकों का फलना फूलना बन्द हो जाता है) इस सम्बन्ध में निम्नलिखित वचन प्रमाण है :—

"राज्ञोऽपचारात्पृथिवी स्वल्पसस्या भवेत् किल ।
अल्पायुषः प्रजाः सर्वा दरिद्रा व्याधिपीड़िता ॥"

इति=इस प्रकार, इस आरुढवहुप्रतर्कम् = जिसमें बहुत से तर्क वितर्क संशय उत्पन्न हो गये हैं, मे मनः = ऐसा मेरा मन, अपरिच्छेदाकुलम्=अपरिच्छेद = विभिन्न तर्क वितर्क में किसी एक निश्चय पर न पहुँचना अर्थात् किसी एक निश्चित निर्णय पर पहुँचने के कारण व्याकुल ।

अनुवाद—क्या, उत्कृष्ट तपस्वी व्रती ऋषियों को यज्ञानुष्ठान (राक्षसादि कृत) विघ्नों द्वारा नष्ट कर दिया गया है ? अथवा तपोवनवासी जीवों पर किसी के द्वारा हिंसादि दुश्चेष्टा तो नहीं की गई है अथवा कहीं मेरे दुराचारों के कारण लताओं का फलना फूलना तो नहीं रुक गया है । इस प्रकार बहुत से तर्क वितर्कों से भरा हुआ और किसी निश्चित निर्णय पर न पहुंचने के कारण व्याकुल मेरा मन हो गया है ।

व्याख्या—ऋषियों के आगमन के विविध कारणों की सम्भावना करता हुआ राजा चिन्तित होकर कहता है :—

क्या विविध प्रकार के उत्कृष्ट तप करने वाले ऋषियों के यज्ञादि अनुष्ठान में राक्षसादिकों ने बाधा तो नहीं डाल दी है, अथवा क्या तपोवनवासी जीवधारियों पर कोई हिंसादि का प्रयोग तो नहीं कर बैठा है अर्थात् उनके साथ कोई दुर्व्यवहार तो नहीं किया गया है। या कहीं मेरे दुराचारों के कारण वन की लताओं का फलना फूलना तो नहीं रुक गया है। इस प्रकार मेरे मन में विविध प्रकार के संशय उत्पन्न हो गये हैं और मैं किसी भी निश्चय पर नहीं पहुँच पा रहा हूँ अतः मेरे मन में बड़ी खलबली (व्याकुलता) मच गई है।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में चिन्ता विषाद आवेग आदि भाव धर्मवीर रस के परिपोषक हैं। तप तपस्वि आदि में **छेक वृत्ति श्रुति** अनुप्रास हैं, चतुर्थ चरण में पदार्थ हेतुक **काव्यलिङ्ग अलंकार है। शार्दूल विक्रीडित छन्द है।**

उप+वह+क्त=उपोढम्, धर्मारण्येषु चरन्तीति तेषु अत्र चरधातोः ट प्रत्ययः। प्र+सू+अप्=प्रसवः, वि+स्तम्भु+क्त=विष्टम्भितः।

संस्कृत व्याख्या—उपोढमत्यधिकं तपो येषान्ते तेषामुपोढ़तपसां व्रतिनां-मारब्धयागानाम् "आदेष्टात्वध्वरे व्रती इत्यमरः" तपः यगादिकर्म विघ्नैः विघ्नकारिभिः राक्षसादिभिः (साध्यवसाना लक्षणा फलञ्च विघ्नतिशयद्योतनम्, कि, तावत्-दूषितं च व्याहतम् किम्, उत अथवा धर्मारण्येषु तपोवनेषु चरन्ति ये ते तेषु धर्मारण्यवरेषु तपोवनवासिषु प्राणिषु मृगादिजीव-धारिषु असत्—हिंसादिकर्म चेष्टितम्—आचरितम् आहोस्वित किम्वा मम दुष्यन्तस्य अपचरितैः पूर्वोपार्जितैः पापैः, अथवा असदाचरणैः, वीरुधां लतानां प्रसवः पुष्पफलादिसमुत्पत्तिः "प्रसवोजननानुज्ञा पुत्रेषु फलपुष्पयोः इति यादवः। प्रसवस्तु फले पुष्पे वृक्षाणां गर्भमोचने" इति विश्वः। विष्टम्भितः=प्रतिरुद्धः, इति=अनेन प्रकारेण, आरुढाः समुद्गताः बहवः प्रतर्काः संशयाः यस्मिन् तत् आरुढबहुप्रतर्कम् मे दुष्यन्तस्य मनोऽन्तःकरणं अपरिच्छेदेन—अनेकसंशयेष्वेकतरनिश्चयाभावेनाकुलं विह्वलं अपरिच्छेदाकुलं भवतीति उक्ता अलंकारादयः। शार्दूल विक्रीडितं वृत्तम्।

प्रतीहारी—(राजा की व्याकुलता को दूर करने के लिए प्रतीहारी चाटुकारिता करती है) मैं तो समझती हूँ कि ये ऋषि आपके सदाचार से प्रसन्न होकर आपको अभिनन्दित करने के लिए, बधाई देने के लिए आए हैं। अतः आपको अन्य किसी बात का संशय न होना चाहिए, आपके सुचरित्र के लिए बधाई देना इनका काम है।

(तदन्तर गौतमी सहित शकुन्तला को आगे करके मुनिजन प्रवेश करते हैं। और इनके आगे सामने कञ्चुकी तथा पुरोहित चलते हैं।

महाभागः कामं नरपतिरभिन्नस्थितिरहो
न कश्चिद्वर्णानामपथमपकृष्टोऽपि भजते ।
तथापीदं शश्वत्परिचितविविक्तेन मनसा
जनाकीर्णं मन्ये हुतवहपरीतं गृहमिव ॥ १० ॥

कंचुकी :—इधर से आइये आप लोग इधर से ।

शाङ्गरव :—शारद्वत से कहता है कि :—

श्लोक १० अन्वय :—अहो अभिन्नस्थितिः नरपतिः कामं महाभागः वर्णानां अपकृष्टः अपि कश्चित् अपथं न भजते तथापि इदं जनाकीर्णं (स्थानं) शश्वत् परिचितविविक्तेन मनसा (अहं) हुतवहपरीतं गृहं इव मन्ये ।

शब्दार्थ :—अहो=यह आश्चर्य की बात है, अभिन्नस्थितिः=जिसने लोक-मर्यादा को कभी नहीं तोड़ा है, महाभागः=बड़ा भाग्यशाली ।

महाभाग का लक्षण—

"आरभ्योत्पत्ति मामृत्योः कलङ्को यस्य नो भवेत्, स्याच्चैवोत्तमा कीर्ति-महाभागः स उच्यते ।

अर्थात् जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त जो कलङ्कित न हुआ हो, जिसकी कीर्ति उत्तम हो वह महाभाग कहलाता है । कामं=अत्यधिक । अपकृष्टः=हीन, पतितः । जनाकीर्ण=लोगों से भरा हुआ, शश्वत=सदा, निरन्तर । परिचितविविक्तेन=जो सदा निर्जन एकान्त स्थानों में रखने का आदी है, हुतवह=अग्नि, परीतं=व्याप्त अर्थात् अग्नि से व्याप्त ।

अनुवाद :—आश्चर्य की बात है कि लोक मर्यादा को न तोड़ने वाला यह राजा बड़ा भाग्यवान् है । ब्राह्मणादि वर्णों में हीन पतित भी कोई व्यक्ति कुपथ की ओर नहीं जाता, तथापि लोगों से भरे हुए इस स्थान को मैं, अपने उस चित्त से जो कि निरन्तर एकान्त निर्जन स्थान से परिचित रहा है, अग्नि से घिरा हुआ सा मानता हूं ।

व्याख्या—इस राजा नेकभी मर्यादा का उल्लंघन नहीं किया है, अतएव यह बड़ा भाग्यवान है, वास्तव में यह आश्चर्य की बात है कि इसके राज्य में ब्राह्मणादि वर्णों के मध्य हीन पतित भी व्यक्ति कभी कुपथ की ओर नहीं जाता अर्थात् जब नीच से भी नीच व्यक्ति अधर्माचरण नहीं करता तो उच्च वर्ण वालों के लिये तो कहना ही क्या है, यद्यपि यह सब बात है तथापि इतने लोगों से भरा हुआ यह प्राङ्गण देखकर मुझे ऐसा ज्ञात होता है कि मानों यह अग्नि ज्वालाओं से घिरा हुआ है क्योंकि मेरा मन एकान्त वास का आदी है । तात्पर्य यह है कि बहुत दिनों से एकान्त स्थान में रहने के आदी होने के कारण मुझे यह भीड़ भाड़ से युक्त स्थान अग्नि ज्वालाओं से आवेष्टित घर की तरह दीख पड़ता है ।

विशेष :—"अभिन्नस्थितः" कहने का तात्पर्य यह है कि राजा लोक मर्यादा पालक है अतः हम लोगों को इससे किसी भी प्रकार का भय न होना चाहिये। अपकृष्टोऽपि कश्चित् अपथं न भजते से तात्पर्य है कि इसके राज्य में सब ही सदाचारी हैं अतः राजा के अनुचरों से भी कोई भय नहीं है।

तथापि :—अर्थात् यद्यपि राजा और प्रजा का ऐसा शिष्टाचार है तथापि मन्ये—ऐसी सम्भावना होती है कि राजसदन में प्रवेश करता हुआ मैं अग्नि में प्रवेश कर रहा हूँ। इससे वक्ता का वैराग्य ध्वनित होता है।

सारांश यह है कि स्थान अग्नि ज्वालाक्रान्त सा दिखाई पड़ता है अतः यह त्याज्य है। **वास्तव में इस सम्पूर्ण कथन से शकुन्तला के भावी प्रत्याख्यान रूप अमङ्गल की सूचना मिलती है। अन्यथा सुन्दर राजसदन शाङ्गरव को क्यों हुतवहपरीत दिखलाई पड़ता।** जिसे उसने पहिले ही त्याज्य मान लिया वह अन्त में त्याज्य ही रहा।

चतुर्थ चरण में हुतवहपरीतत्वरूप कार्य के कारण का पूर्वार्ध में विरुद्ध मुख से वर्णन किया गया है अतः कारणाभाव में कार्योत्पत्ति का वर्णन है अतः **विभावना** पूर्वार्ध में कारणों के होते हुए भी अर्थात् सद्गुणी राजा के रहते हुए भी तदनुकूल कार्योत्पत्ति नहीं है अतः **विशेषोक्ति** है दोनों ही का निमित्त उक्त है परन्तु दोनों में साधक या बाधक प्रमाण नहीं है अतः **सन्देह संकार** है। इव मन्ये यहां पर **उपमालंकार है** उत्प्रेक्षा नहीं। यद्यपि "**मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनं मित्येवमादिभिः उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिव शब्दोऽपि तादृशः**" इस लक्षणानुसार यहां 'मन्ये' शब्द के प्रयोग से उत्प्रेक्षा जान पड़ता है तथापि उत्प्रेक्षा की अन्य सामग्री के अभाव में यहाँ **उपमा** ही है। **अनुप्रास शिखरिणी छन्द है "रसै रुद्रैश्छिन्ना यमन समलागः शिखरिणी"** अर्थात् जिसमें क्रमशः यगण, मगण, नगण, सगण, भगण, लघु गुरु इस क्रम से १७ वर्ण हों और ६ तथा ११ वर्णों पर यति हो वह शिखरिणी छन्द होता है।

य०	म०	नगण	स०	भगण	ल० गु०
। S S	S S	।।।	।।S	S।।	
महाभा,	गः कामं,,	नरप,	तिरभि,	न्नस्थिति,	रहो

स्थितिः—स्था+क्तिन्। अपथम अत्र समासान्तः अ प्रत्ययः टिलोपः। परि+इ+क्त=परीतम्।

संस्कृत व्याख्या—अभिन्ना स्थितिर्येनासौ अभिन्नस्थितिः=मर्यादा-पालकः नरपतिः, दुष्यन्तः काममतिशयेन महान् विपुलो भागो भागधेयो यस्य स महाभागः-महानुभावः, किञ्च, अहो=आश्चर्य, वर्णानां ब्राह्मणादिवर्णानां मध्ये, अपकृष्टः—नीचोऽपि कश्चित् अपथं कुमार्गं न भजते सेवते, तथापि इदं जनै राकीर्णं जनकीर्णं लोक-

शारद्वतः—जाने भवान्पुरप्रवेशादित्थंभूतः संवृत्तः। अहमपि,

अभ्यक्तमिव स्नातः शुचिरशुचिमिव प्रबुद्ध इव सुप्तम्।
बद्धमिव स्वैरगतिर्जनमिह सुखसङ्गिनमवैमि ॥ ११ ॥

संकुलं राजगृहं शश्वन्निरन्तरं परिचितं विविक्तं येन तेन परिचितविविक्तेन—एकान्तवास—प्रणवेन मनसा चित्तेन (गृहं) हुतवहपरीतं—अग्निज्वालाक्रान्तं गृहं स्थानं इव मन्ये = तर्कयामि। अतो दूरत एव परिहरणीयमिदं स्थानमिति भावः।

उक्ता अलंकारादयः। शिखरिणी वृत्तम्।

शारद्वत – मैं समझता हूँ नगर में प्रविष्ट होने से आप इस प्रकार उद्विग्न हो उठे हैं (क्योंकि चित्त परिचित वस्तुओं में ही रमता है अपरिचित वातावरण में नहीं, आप जैसे एकान्तवासी को यह जनाकीर्ण स्थान ऐसा लगना ही चाहिये। मैं भी तो—

श्लोक ११ अन्वय—सुखसङ्गिनं जनं इह (ईदृशं) अवैमि, स्नातः अभ्यक्तम् इव, शुचिः अशुचिम् इव, प्रबुद्धः सुप्तम् इव, स्वैरगतिः बद्धम् इव।

शब्दार्थ—अभ्यक्तम् = तेल से अनुलिप्त, अवैमि = जानता हूँ, समझता हूँ। शुचिः = हरिस्मरण कीर्तनादि से पवित्र, स्वैरगतिः = स्वच्छन्द गमनशील, बद्धम् = जिसके हाथ पैर बांध दिये गये हों, सुखसङ्गिनम् = ऐश्वर्यादिक का उपभोग करने वाले।

अनुवाद—(मैं भी तो) सांसारिक ऐश्वर्य भोगों में पड़े हुये यहाँ के लोगों को वैसा ही (पतित) समझता हूँ जैसा कि शुद्ध स्नान किया हुआ व्यक्ति तैलानुलिप्त मनुष्य को समझता है, पवित्र व्यक्ति अपवित्र को, जगा हुआ व्यक्ति सोये हुए को, और स्वच्छन्द गामी व्यक्ति बंधे हुये व्यक्ति को समझता है।

व्याख्या—मैं भी तो सांसारिक ऐश्वर्य भोगों में पड़े हुये यहाँ के लोगों को वैसा ही पतित समझता हूँ जैसा कि कोई शुद्ध स्नान किया हुआ व्यक्ति तैलानुलिप्त मनुष्य को समझता है, पवित्र व्यक्ति अपवित्र को, जगा हुआ सोये हुए को और स्वच्छन्द गामी बँधे हुए व्यक्ति को समझता है।

विशेष—'अभ्यक्तम्' से तात्पर्य है कि जैसे माङ्गलिक यात्रादि समय तैलाभ्यक्त व्यक्ति का दर्शन अपशकुन अशुभ फलकारी माना जाता है वैसे ही यहाँ के लोगों को देखकर मुझे अमङ्गल की आशंका होती है।

अशुचिम्—अपवित्र, अशुचि व्यक्ति अन्याय्य कार्य का प्रतिवाद करने में कभी समर्थ नहीं होता।

सुप्तम्—सोया हुआ मनुष्य विवेक शून्य होने से न्याय्य और अन्याय्य बात का निर्णय नहीं कर सकता।

शकुन्तला—(निमित्तं सूचयित्वा ।) अम्महे, किं मे वामेदरं णअणं विप्फुरदि ? [अहो किं मे वामेतरं नयनं विस्फुरति ? ।]

गौतमी—जादे ! पडिहदं अमंगलं । सुहाइं दे भत्तुकुलवदाओ वितरंदु [जाते ! प्रतिहतमङ्गलम् । सुखानि ते भर्तृकुलदेवता वितरन्तु ।] (इति परिक्रामति ।)

पुरोहित—(राजानं निर्दिश्य ।) भो भोस्तपस्विनः ! असावत्रभवान्वर्णाश्रमाणां रक्षिता प्रागेव मुक्तासनो वः प्रतिपालयति । पश्यतैनम् ।

बद्धम्—जिसके हाथ पैर बाँध दिये जाते हैं वह व्यक्ति किसी अन्याय्य कार्य करने वाले को या उचित कार्य में वाधा उपस्थित करने वाले को हाथ पैरों से जाकर रोक नहीं सकता है ।

सुख सङ्गिनम्—सांसारिक सुखों में अनुरक्त व्यक्ति को कर्तव्याकर्तव्य उचितानुचित का ज्ञान नहीं रह जाता है ।

इस प्रकार शारद्वत के कथन से दुष्यन्त के द्वारा किये जाने वाला शकुन्तला **का प्रत्याख्यानरूपी अमंगल सूचित होता है** अन्यथा राजा सदन निवासियों के विषय में शारद्वत ऐसी विरुद्ध कल्पना क्यों करता, ऋषी प्रभाव से भावी प्रत्याख्यान रूप अमङ्गल की भावना उसके मन में उत्पन्न हो गई थी अतएव उसे ऐसा प्रतीत हो रहा था और वास्तव में ऐसा हुआ भी, जैसा कि कधि आगे कहता है । इस सम्पूर्ण कथन से यह स्पष्ट है कि शार्ङ्गरव की अपेक्षा शारद्वत अधिक ज्ञान तथा स्वभाव से गम्भीर है । शार्ङ्गरव के लिए तो राजसदन हुतपहपरीत सा था परन्तु इसके लिए राजसदन निवासी अमङ्गल सूचक था । यद्यपि फल दोनों का समान ही है तथापि विचारधारा में गम्भीरता की विशेषता है ।

मालोपमा, अनुप्रास, आर्याजातिः है ।

मात्रिक छन्द जाति कहलाते हैं, इनमें मात्राओं की गणना होती है लघु गुरु का नियम वार्णिक वृत्तों की ही भाँति होता है ।

आर्याजाति का लक्षण है :—

यस्याः प्रथमे पादे द्वादशमात्रास्तया तृतीयेऽपि ।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पंचदश सार्या ॥

अर्थात् जिस छन्द के प्रथम चरण में तथा तृतीय में १२-१२ मात्रायें हों, द्वितीय में १८ तथा चतुर्थ में १५ मात्रायें हों वह आर्याजाति छन्द कहलाता है ।

S S I I S S S I I I I I I S I S I I S S
अ भ्य क्त मि व स्ना तः, शु चि र शु चि मि व प्र बु द्ध इ व सु प्त म्

S I I S S I I S I I I I I I S I I I S I
व द्ध मि व स्वै र ग तिः, ज न मि ह सु ख स ङ्गि न म वै मि

शारंगरवः—भो महाब्राह्मण ! काममेतदभिनन्दनीयं तथापि वयमत्र मध्यस्थाः। कुतः ?

भवन्ति न म्रास्तरवः फलागमै-
र्नवाम्बुभिर्दूरविलम्बिनो घनाः।

गुरु वर्णों की दो मात्रायें तथा ह्रस्व वर्णों की १ मात्रा, पद के अन्त में लघु गुरु का विचार विकल्प से किया जाता है, पद के अन्त में आवश्यकतानुसार लघु गुरु हो सकता है और गुरु लघु हो सकता है जैसा कि यहाँ चतुर्थ चरण में दिखलाया गया है।

संस्कृत व्याख्या :—इह राजसदने (अहं) सुखे सङ्गोऽस्त्यस्य तं सुखसङ्गिनं सांसारिक भोगविलासानुरक्तं जनं (ईदृशम्) अवैमि जानामि यथा स्नातः कृतस्नानो जनः, अभ्यक्तं तैलानुलिप्तदेहं जनं (जानाति) शुचिः पवित्रो जनः, अशुचिमपवित्र-मिव, प्रबुद्धो जागरितः सुप्तमिव स्वैरगित स्वच्छन्दगतिः, बद्धं निगड़िर्ता मवेति।

उक्तालंकारादयः। आर्याजातिः।

शकुन्तला—(अपशकुन सूचित कर) ओह ! यह मेरी दाहिनी आँख क्यों फड़कने लगी (स्त्रियों की दाहिनी और पुरुषों की बाँई आँख का फड़कना अपशकुन सूचक होता है) "**वामभागस्तु नारीणां पुसां श्रेष्ठस्तु दक्षिणः**"।

गौतमी—तेरा अमङ्गल नष्ट हो, हे पुत्री ! तेरे पतिकुल के देवता तुझे सुख दें, अर्थात् तेरा भला करें (प्रतिहतं = विध्वस्त हों) (घूमती है)

पुरोहित—(राजा को दिखा कर) हे तपस्वियो ! देखो ! वर्ण और आश्रम की रक्षा करने वाले महाराज पहिले से ही आसन छोड़ कर आप लोगों की प्रतीक्षा कर रहे हैं, इनसे मिलिये।

शार्ङ्गरव—हे राजपुरोहित ! (महाब्राह्मण सम्बोधन से पुरोहित होने के कारण उसका निन्दित होना तथा उपहास सूचित होता है तथा पक्ष में इसका अर्थ आदरणीय राजपुरोहित भी है।) माना कि महाराज का यह कार्य प्रशंसनीय है तथापि हम लोग तो इस अभिनन्दन के विषय में तटस्थ हैं। तात्पर्य यह है कि हम लोगों के उपस्थित होने के पूर्व ही राजा का आसन छोड़कर खड़ा होना और इस प्रकार हमारी प्रतीक्षा करना यद्यपि प्रशंसा की बात है—राजा का इस प्रकार विनीत भाव दिखलाना स्तुत्य है तथापि हम लोग तो इस विषय में मध्यस्थ—तटस्थ उदासीन हैं, हमें न इसकी निन्दा करना है और न इसकी स्तुति, क्योंकि अग्नि की उष्णता की भाँति ही राजा का विनीतत्व भी स्वाभाविक होने के कारण विशेषतया हम लोग जैसे निःस्पृह जनों की प्रशंसा का विषय नहीं है। यह तो राजा के लिए स्वभाव सिद्ध बात है। क्योंकि :—

अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः
स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ॥ १२ ॥

श्लोक १२ अन्वय—तरवः फलागमैः नम्राः भवन्ति, धना नवाम्बुभिः दूरविलम्बिनः (भवन्ति) सत्पुरषाः समृद्धिभिः (भवन्ति) परोपकारिणां एष स्वभाव एव (अस्ति)

शब्दार्थ—फलागमैः=फलों की सर्वतः प्राप्ति से, दूरविलम्बिनः=दूर से लटक आते हैं, अनुद्धताः—गर्वशून्य-विनीत ।

अनुवाद—फलों के आगमन से वृक्ष झुक जाते हैं, **नवीन** जलों से (भरित-होने के कारण) मेघ दूर नीचे की ओर लटक आते हैं । सज्जन सम्पत्तियों से विनम्र होते हैं । क्योंकि परोपकारकारियों का स्वभाव ही ऐसा होता है ।

व्याख्या—शार्ङ्गरव कहता है कि विनीत होना राजा का स्वभाव ही होता है ।
क्योंकि :—फल आने पर वृक्ष झुक जाते हैं, नवीन जल भर लेने से मेघ नीचे की ओर लटक आते हैं और सज्जन समृद्धिशाली होने से विनीत-नम्र हो जाते हैं क्योंकि परोपकारियों का स्वभाव ही ऐसा होता है ।

विशेष—तरवः—सामान्य वृक्ष वाचक तरु शब्द की फलवद् वृक्ष विशेष में लक्षणा है, क्योंकि सभी वनस्पति मात्र का वाचक मानने से तो फलागमैः पद व्यर्थ हो जायगा अतः तरु शब्द से सामान्य विशेष सम्बन्ध से लक्षणा द्वारा आम्रादि विशेष वृक्षों का ही ग्रहण है और दूसरी बात यह हैं कि सत्पुरुषों के उपमान विशिष्ट वृक्ष ह होते हैं वनस्पतमिात्र नहीं अतएव यहाँ लक्षणा मानना आवश्यक है अन्यथा अर्थ सङ्गति न होगी । उत्तर वाक्य में यह दोष नहीं है क्योंकि कवि ने वहाँ मेघ आदि पद का प्रयोग न करके निविड़ मेघ वाचक घन शब्द का प्रयोग किया है । नम्राः का अर्थ है फलों के भार से नम्र अर्थात् विनीत हो जाते हैं ।

नवाम्बुभिः—पद से वर्षाकालारम्भ् ध्वनित होता है क्योंकि उसी समय मेघों का दूर से नीचे की ओर लटक आना सम्भव है ।

एषः—नम्र होना, **स्वभावः** = **प्रकृति** ।

तात्पर्य यह कि फलित वृक्ष जल पूर्ण मेघ तथा समृद्धिशाली सज्जन और परोपकारी जन सदा नम्र ही होते हैं यह उनका स्वाभाविक गुण है, इस प्रकार समृद्धिशाली तथा परोपकारी दुष्यन्त का, नम्र होना मेघ व वृक्षों की भाँति स्वाभाविक गुण ही है इसमें प्रशंसा की क्या बात है ।

यहाँ स्वभाव इत्यादि में हि के प्रयोग के बिना भी सामान्य से विशेष का समर्थन रूप **अर्थान्तर है** । अप्रस्तुत सत्पुरुष सामान्य से प्रस्तुत दुष्यन्त रूप विशेष की प्रतीति होती है अतः **अप्रस्तुतप्रशंसा**, इन दोनों का **अङ्गाङ्गिभाव संकर** है । अप्र-

प्रतीहारी—देव ! पसण्णमुहवण्णा दीसंति । जाणामि विस्सद्धकज्जा इसीओ । [देव प्रसन्नमुखवर्णा दृश्यन्ते । जानामि विश्रब्धकार्या ऋषयः ।]

राजा—(शकुन्तलां दृष्ट्वा ।) अथात्रभवती,

का स्विदवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या ।
मध्ये तपोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम् ॥ १३ ॥

स्तुत तरु, धन, तथा सत्पुरुषाः का 'भवन्ति' इस क्रियारूप एक धर्म से अभिसम्बन्ध होने से **तुल्ययोगिता**, अचेतन तरु और धनों का वस्तुतः नम्रत्व तथा दूरविलम्बित्व से कोई तादात्म्य नहीं है फिर भी यहाँ ये अभेदेन अध्यवसित हैं अतएव **अतिशयोक्ति** है, नम्रत्व रूप एक साधारण धर्म का नम्र, दूरविलम्बी, अनुद्धत पदों द्वारा पृथक पृथक निर्देश किया गया है अतः **मालाप्रतिवस्तूपमा, हेतु, अनुप्रास**, अलंकार हैं **वंशस्थ** छन्द है "**वदन्ति वंशस्थविलं जतौ जरौ**" अर्थात् जिसमें जगण, तगण, रगण इस क्रम से १२ वर्ण हों वह वंशस्थ छन्द होता है ।

। ऽ । ऽ ऽ । । ऽ । ऽ । ऽ
भ व न्ति, न म्रा स्त, र वः फ, ला ग मैः ।

संस्कृत व्याख्या—तरवो वृक्षाः फलानामासमन्तादगमो गमनं प्राप्तिस्तैः फलागमैः नम्रा अधोमुखा विनीताश्च भवन्ति, घना निविड़मेघवाचका घना नवैरम्बुभिःनवाम्बुभिः-नवजलसंचयैः दूरात् विलम्बन्त इति दूरविलम्बिनोऽल्य-तलम्बिताः (भवन्ति) सन्तः साधवश्च ते पुरुषाश्चेति सत्पुरुषाः सज्जनाः समृद्धिभिः=धन सम्पत्तिभिः अनुद्धता गर्वशून्या विनीता इत्यर्थः (भवन्ति) परानुपकर्तुं शीलं येषां तेषां परोपकारिणां जनानां-एष नम्रत्व मेव स्वभावः प्रकृतिरिति, अलंकारा उक्ताः । वंशस्थविलं वृत्तम् ।

प्रतीहारी—महाराज ! ऋषिजन प्रसन्न दिखलाई पड़ रहे हैं, अतः मैं समझती हूँ कि ये किसी भले काम के लिए ही आये हैं ।

राजा—(शकुन्तला को देखकर) यह देवी कौन हैं—(अथ=प्रश्न सूचक)

श्लोक १३ अन्वय—पाण्डुपत्राणां मध्ये किसलयं इव तपोधनानां (मध्ये) अवगुण्ठनवती (अतएव) नाति परिस्फुटशरीरलावण्या कास्वित् (अस्ति)

शब्दार्थ—पाण्डुपत्राणां=पक जाने के कारण पाण्डुर (पीले) वर्ण के पत्तों के, किसलयम्=कोमल पल्लव, अवगुण्ठनती=शिर से मुख तक ढकी हुई घूँघट वाली, नातिपरिस्फुटेत्यादि=वस्त्रावृत होने के कारण जिसका शारीरिक सौन्दर्य विशेष व्यक्त नहीं हो रहा है । कास्वित्—स्वित् का अर्थ है **प्रश्न या वितर्क** ।

प्रतीहारी—देव ! कुतूहलगब्भोपहिदो ण मे तक्को पसरदि। णं दंसणीआ उण से आकिदी लक्खीअदि । [देव कुतूहलगर्भोपहितो न मे तर्कः प्रसरति । ननु दर्शनीया पुनरस्या आकृतिर्लक्ष्यते ।]

अनुवाद—(पक जाने के कारण) पीले पत्तों के बीच को मल पल्लव के समान, तपस्वियों के बीच घूँघट वाली, जिसका कि (वस्त्रावृत होने के कारण) शारीरिक सौन्दर्य विशेष व्यक्त नहीं हो रहा है । कौन स्त्री है ।

व्याख्या—पीले पत्तों के बीच नवीन कोमल पल्लव के समान तपस्वियों के बीच यह घूँघट वाली स्त्री कौन है जिसका शरीर सौन्दर्य वस्त्रावृत होने के कारण विशेष (अधिक) प्रकट नहीं हो रहा है ।

विशेष—पाण्डुपत्राणाम्—इससे यह सूचित होता है कि ढली हुई अवस्था के कारण ऋषि पाण्डुवर्ण के दिखाई पड़ रहे थे ।

किसलयमिव—यहाँ उपमा हैं । उपमान है किसलय, परन्तु भिन्नलिङ्ग होने से यहाँ अनौचित्य दोष नहीं है क्योंकि कोमलत्व रूप साधारण धर्म को लेकर यह उपमा है जो कि सहृदय-हृदयनुरंजक होने से लिङ्गव्यत्य. जन्य औचित्य दोष कारक नहीं है, अतएव महाकवि दण्डि ने कहा है **''न लिङ्गवचने भिन्ने न हीनाधिकपाति वा, उपमा दोषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम्** । अर्थात् उपमा का वहीं अनौचित्य होता है जहाँ वह सहृदयों को अनुरंजित नहीं करती, लिङ्ग वचन भेद से वह दूषित नहीं होती (और यह आशंका भी न करनी चाहिए कि पाण्डुपत्रों के बीच किसलय कहाँ से हो सकता है क्योंकि यहाँ तो पाण्डुपत्रों के बीच अन्तर्हित जो किसलय उसकी अस्फुटता की विवक्षा है । अथवा यहाँ पर उपमा न मानकर उत्प्रेक्षा माननी चाहिए जिससे तपोवनों के बीच में उसका असम्भाव्यत्व सूचित होता है। किसलय की सम्यता से शकुन्तलागत सौकुमार्य तथा लावण्य द्योतित होता है जिससे कि उसकी दर्शनीयता सिद्ध होती है ।

अवगुण्ठनवती—अर्थात् जो शकुन्तला उस समय घूँघट काढ़े हुई थी ।

कवि के इस प्रयोग से यह स्पष्ट है कि परदा प्रथा अत्यन्त प्राचीन है जैसा कि महर्षि अङ्गिरा ने स्वयं कहा है :—

''श्वशुरस्याग्रतो यस्माच्छिरः प्रच्छादनाक्रिया, पुत्रैर्दर्भेण सा कार्या भ्रातुरभ्युदयार्थिभिः'' इससे यह प्रमाणित है कि परदा प्रथा भारतवर्ष में यवन काल से नहीं आई वरन् वह भारतवर्ष में कालिदास के समय से भी अति प्राचीन है ।

लावण्यम्—का लक्षण **''मुक्ताफलेषु च्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते ।** सुधाकरः । नाति परिस्फुटेत्यादि :—इस पद में शरीर और लावण्य इन दोनों के ग्रहण में पुनरुक्ति दोष जान पड़ता है क्योंकि एक के ही ग्रहण करने से दोनों का ग्रहण हो सकता था, केवल शरीर मात्र के ग्रहण करने से

राजा—भवतु; अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम्।

शकुन्तला—(हस्तमुरसि कृत्वा। आत्मगतम्।) हिअअ! किं एव्वं वेवसिअज्जउत्तस्स भावं ओहारिअ धीरं दाव होहि। [हृदय! किमेवं वेपसे ?। आर्यपुत्रस्य भावमवधार्य धीरं तावद्भव।]

पुरोहितः—(पुरो गत्वा।) एते विधिवदर्चितास्तपस्विनः। कश्चिदेषामुपाध्यायसंदेशः। तं देवः श्रोतुमर्हति।

राजा—अवहितोऽस्मि।

ऋषयः—(हस्तनानुद्यम्य) विजयस्व राजन्!।

राजा—सर्वानभिवादये।

ऋषयः—इष्टेन युज्यस्व।

राजा—अपि निर्विघ्नतपसो मुनय.।

लावण्य का तो ग्रहण हो ही जाता। परन्तु यहाँ पुनरुक्ति दोष नहीं है क्योंकि यहाँ निषेध मात्र में तात्पर्य न होकर विधि में तात्पर्य है, दोनों ही विधेय हैं इसीलिए तो अति और परि का भी उपादान किया है अतएव इसका (नातिपरिस्फुट) का अर्थ ईषत् व्यक्त (कुछ कुछ प्रकट) है अप्रकट नहीं। यदि यहाँ दोनों का ग्रहण न करते तो विवक्षित अर्थ का लाभ न होता। **उपमा, काव्यलिङ्ग, अनुप्रास। औत्सुक्य, विस्मय भाव** हैं जिससे कि रति का ईर्षादि उद्बोध होता है। **अर्याजातिः** छन्द है।

संस्कृत व्याख्या—पाण्डूनि च तानि पत्राणि तेषां पाण्डुपत्राणां विपरिणामेन पीतवर्णाना पत्राणां मध्ये किसलयं कामलपल्लवमिव तपोधनानां तपस्विनां (मध्ये) अवगुण्ठनवती पटप्रावृतमुखी अतएव न अतिपरिस्फुटे शरीरलावण्ये यस्याः सा, नाति परिस्फुटं शरीरस्य लावण्यं वेति समासः, नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या=ईषद्व्यक्ताङ्गलावण्या कास्वित्, स्वदिति प्रश्ने वितर्के वेति।

उक्ता अलंकारादयः। आर्या जातिः।

प्रतीहारी—महाराज! कुतूहल में कारण अर्थात् यह जानने की उत्कट इच्छा से कि यह कौन है, अवरुद्ध मेरी तर्क बुद्धि काम नहीं दे रही है अर्थात् मैं स्वयं भी यह जानने के लिए उतावली हो रही हूँ कि यह कौन है पर ठीक ठीक समझ पाने में समर्थ हो रही हूँ पर इसकी आकृति बहुत सुन्दर जँचती है। (कुतूहल = उतावलापन, गर्भ = मध्य, उपहित = उलझा हुआ, अर्थात् उतावलेपन के कारण बीच ही में उलझी हुई मेरी तर्कबुद्धि, न प्रसरति = कुछ काम नहीं दे रही है, आगे नहीं बढ़ रही है। अथवा कुतूहल का अर्थ है आश्चर्य, अर्थात् आश्चर्य इस बात का है कि इन वनवासियों के बीच इतनी सुन्दर स्त्री कहाँ से आ गई। इस आश्चर्य में निमग्न उसका तर्क काम नहीं दे रहा था इसलिए वह राजा के प्रश्न का "यह

ऋषयः—

कुतो धर्मक्रियाविघ्नः सतां रक्षितरि त्वयि ।
तपस्तपति धर्मांशौ कथमाविर्भविष्यति ? ।। १४ ।।

कौन स्त्री है" उत्तर देने में असमर्थ थी परन्तु राजा ने जो "नातिपरिस्फुटेत्यादि पद द्वारा उसको लावण्यवती कहा था इसी का वह अनुमोदन करती है "ननु दर्शनीयेत्यादि" ।

राजा—जँचती रहे, अथवा जो कोई भी हो, पराई स्त्री पर दृष्टि न डालना चाहिए ।

(अनिर्वर्णनीयम् = न देखने योग्य)

शकुन्तला—(हृदय पर हाथ रख कर मन ही मन) इस प्रकार काँप क्यों रहे हो, मेरे हृदय ! आर्यपुत्र के अटूट प्रेम का स्मरण करके थोड़ा धीरज तो धरो। (हृदय पर हाथ रखने का तात्पर्य यह है कि राजा के ये हृदयविदारक शब्द "अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम्" सुनकर उसका हृदय व्याकुल हो उठा था उसे सान्त्वना देने के ही लिये उसने उस पर हाथ रखा था क्योंकि लोक व्यवहार में भी ऐसा देखा जाता है कि जब कोई किसी को धीरज बँधाता है तो प्रायः उसके ऊपर हाथ रखकर ही ऐसा करता है) ।

पुरोहित—आगे जाकर, महाराज ! इन तपस्वियों का भली विधि आदर सत्कार किया जा चुका है, इनके पास इनके गुरुजी का कोई सन्देश है, उसे महाराज सुन लें ।

राजा—हाँ, हाँ, मैं सुनने के लिए सावधान हूँ ।

ऋषिजन—हाथों को उठा कर, महाराज ! आपकी जय हो (हाथ उठा कर आशीर्वाद देना लोकाचार सम्मत है)

राजा—हम आप सब को प्रणाम करते हैं ।

ऋषि—आपका मनोरथ पूरा हो ।

राजा—कहिये (अपि–इति प्रश्ने) मुनि जनों का तप तो निर्विघ्न चल रहा है अर्थात् आपकी तपस्या में तो कोई विघ्न नहीं है ।

ऋषि—श्लोक १४ अन्वय—त्वयि रक्षितरि (सति) सतां धर्मक्रियाविघ्नः कुतः, धर्मांशौ तपति तमः कथं आविर्भविष्यति ।

शब्दार्थ—धर्मांशौ तपति=सूर्य के पूर्ण रूप से प्रकाशमान रहने पर ।

अनुवाद—तुम्हारे रक्षक रहने पर सज्जनों की धार्मिक क्रियाओं में विघ्न कहाँ से हो सकता है । सूर्य के दे दीप्यमान रहते, अन्धकार किस तरह प्रकट हो सकेगा ।

राजा—अर्थवान्खलु मे राजशब्दः । अथ भगवांल्लोकानुग्रहाय कुशली काश्यपः ।

ऋषयः—स्वाधीनकुशलाः सिद्धिमन्तः । स भवन्तमनामयप्रश्नपूर्वक-मिदमाह ।

राजा—किमाज्ञापयति भगवान् ? ।

शार्ङ्गरव—यन्मिथःसमयादिमां मदीयां दुहितरं भवानुपायंस्त तन्मया प्रीतिमता युवयोरनुज्ञातम् कुतः ?

व्याख्या—आप जैसे रक्षक रहने पर सज्जनों की धार्मिक क्रियाओं में भला विघ्न कहाँ से हो सकता है ? सूर्य के पूर्णतया देदीप्यमान रहने पर अन्धकार किस तरह प्रकट हो सकता है अर्थात् किसी भी तरह नहीं ।

विशेष—कुत इत्यादिः—शिष्य राजा की प्रशंसा करते हुए तप की निर्विघ्नता प्रतिपादित करते हैं तात्पर्य यह है कि इस राज्य में तुम ही रक्षक हो, तुम्हारे रक्षक रहने पर सब ही सज्जन हैं अतः उनकी क्रियामात्र में विघ्नों की सम्भावना नहीं हो सकती, धर्मक्रियाओं में तो स्वत एव विघ्नाभाव रहेगा ही। इसी प्रकार ज्योंही सूर्य उदयाचल पर प्रकट होता है त्योंही अन्धकार नष्ट हो जाता है और जबकि वह पूर्णरूप से देदीप्यमान होने लगता है तब तो अपने आप ही अन्धकार की सम्भावना न हो सकेगी अतः स्पष्ट है कि हमारा तप निर्विघ्नतापूर्वक चल रहा है ।

कवि का यही भाव रघुवंश में भी है—

नाथे कुतस्त्वय्यशुभं प्रजानां, सूर्ये तपत्यावरणाय दृष्टेः,
कल्पेत् लोकस्य कथं तमिस्रेत्यादि ।

इसमें सूर्य की उपमा से राजगत प्रतापातिशय एवं उसका क्रियाप्रवर्तकत्व द्योतित होता है ।

सूर्योदय के द्वारा अन्धकाराभाव वत् तुम्हारे रक्षक होने पर धर्म क्रिया में विघ्नाभाव है इस प्रकार बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव होने के कारण **दृष्टान्तालंकार** है । जब कि तुम्हारे रक्षक होने से क्रिया मात्र में विघ्नाभाव सम्भव है तो धर्मक्रियाओं में तो स्वत एव विघ्नाभाव रहेगा । यह **अर्थापत्ति अलंकार** है ।

अनुप्रास, पथ्यावक्त्र नामक छन्द है ।

वक्त्रं युग्म्यां मगौ स्याता मब्धे योऽनुष्टुभिख्यातम्

अर्थात् अनुष्टुप् नामक अष्टवर्णात्मक समवृत्त में चतुर्थ वर्ण से आगे यदि यगण हो तथा द्वितीय व चतुर्थ पाद में मगण तथा एक गुरु हो तो वक्त्र नाम छन्द होता है । **"युजोश्चतुर्थतो जेन, पथ्या वक्त्रं प्रकीर्तितम्"**

और यदि सम चरणों में अर्थात् द्वितीय व चतुर्थ चरणों में चतुर्थ वर्ण के

त्मर्हतां प्राग्रसरः स्मृतोऽसि य-
च्छकुन्तला मूर्तिमती च सत्क्रिया ।

आगे जगण हो एवं एक लघुवर्ण हो तथा प्रथम व तृतीय चरणों में चतुर्थ वर्ण के आगे यगण हो एवं एक गुरु वर्ण तो पथ्यावक्त्रं छन्द होता है । यथा—

यगण । ऽ ऽ कुतो धर्म, क्रि या वि, घ्नः,	जगण । ऽ । सतां रक्षि, त रि त्व, यि
यगण । ऽ ऽ त म स्तप, ति ध र्मा, शौ,	जगण । ऽ । क थ मा वि, र्भ वि ष्य, ति

यह विषम छन्द है जिसके चारों ही चरण भिन्न होते हैं ।

रक्ष धातोः तृचि रक्षिता, सप्तम्येकवचने रक्षितरि । तप्+शतृ तपति सप्तम्येक वचने रुपम् ।

संस्कृत व्याख्या—त्वयि दुष्यन्ते रक्षतरि पालयितरि (सति) सतां सन्मार्गस्थानां जनानां धर्मस्य क्रियास्तासु विघ्ना धर्मक्रियाविघ्नाः=धर्मानुष्ठानप्रत्यवायाः कुतः कुतो भवेयुः । धर्मा उष्णा अंशवः किरणा यस्य तस्मिन् धर्मांशौ सूर्ये तपति पूर्णतया देदीप्यमाने सति तमस्तिमिरं कथं केन प्रकारेण आविर्भविष्यति प्रसरिष्यति न कथमपीत्यर्थः । अलंकारा उक्ताः, पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ।

राजा—मेरा राजा कहलाना सत्य हुआ (अर्थवान्=सार्थक, राजा का अर्थ है राजते-दीप्यते, रंजयतीति चेति राजा, प्रजा का अनुरंजन, पालन करने वाला राजा कहलाता है, प्रजा मुझसे सन्तुष्ट है अतः मेरा राजा होना सार्थक है) **"ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्"** इस शास्त्र मर्यादानुसार राजा काश्यप की कुशल पूँछता है कि अथ =अच्छा यह तो बतलाइये कि संसार का कल्याण चाहने वाले भगवान् काश्यप तो कुशल से है ।

ऋषिजन—महाराज ! सिद्ध पुरुषों की कुशलता तो सदा उनके अधीन रहती है (अणिमा आदि सिद्धियों से सम्पन्न पुरुष अपनी कुशलता के लिए किसी से याचना नहीं करते, कुशलता तो स्वयं उनके हाथ में रहती है अतः काश्यप सिद्ध पुरुष होने के कारण कुशल से तो होंगे ही उन पर विपत्ति कैसी ?) शास्त्रमर्यादानुसार **"क्षत्रबन्धुमनामयम्"** अर्थात क्षत्रिय से अनामय—आरोग्य प्रश्न पूँछना चाहिए अतः कण्व-शिष्य आरोग्य प्रश्न पूर्वक कहता है :—उन्होंने आपका आरोग्य पूँछते हुये यह कहलाया है ।

राजा :—हाँ भगवान् काश्यप ने क्या आज्ञा दी है ?

समानयंस्तुल्यगुणं वधूवरं
चिरस्य वाच्यं न गतः प्रजापतिः ॥ १५ ॥

शाङ्गरव :—कि आपने जो मेरी इस कन्या से गान्धर्व विवाह कर लिया है, उसे मैंने प्रसन्न मन होकर अनुमोदित किया (मिथः समयात्) का अर्थ है गान्धर्व विवाह जो कि आपस में प्रतिज्ञा पूर्वक वर और कन्या कर लिया करते थे जिसमें गुरुजनों की आज्ञा की आवश्यकता नहीं होती थी)—क्योंकि

श्लोक १५ अन्वय— यत् त्वं अर्हतां प्राग्रसरः स्मृतः असि, (यत्) शकुन्तला च मूर्तिमती सत्क्रिया, तुल्यगुणं वधूवरं समानयन् चिरस्य प्रजापतिः वाच्यं न गतः।

शब्दार्थ—यत्=क्योंकि, अर्हताम्=पूज्य आदरणीय लोगों में, प्राग्रसरः= अग्र गण्य, प्रधान, स्मृतः=अभिमत हो, माने गये हो, मूर्तिमती=शरीरधारिणी, सत्क्रिया=प्रशंसा-अखिलजन पूज्या। समानयन्=एक करते हुए, जोड़ते हुये, विवाह विधि से मिलते हुए, चिरस्य=बहुत समय से, वाच्यम्=निन्दा, न गतः=प्राप्त नहीं हुए हैं।

अनुवाद :—चूँकि आप आदरास्पद लोगों में सबसे प्रधान माने गये हैं, और शकुन्तला साक्षात् शरीरिणी सत्क्रिया अर्थात् प्रशंसा, अधिक जन पूज्या (है) (अतः आज मानो) समान गुण वाले वर वधू को (विवाह विधि से) मिलाते हुए ब्रह्मा बहुत समय से निन्दा को प्राप्त नहीं हुए हैं।

व्याख्या—क्योंकि आप आदरास्पद लोगों में सबसे प्रधान माने गये हैं। शकुन्तला साक्षात् शरीरिणी मानो प्रशंसा ही है अर्थात् मानों वह पुण्य क्रियाओं की साक्षात् मूर्ति ही है अतः आज मानो ब्रह्मा ने समान गुण वाले वर वधू की जोड़ी रचकर बहुत दिनों के बाद अपने को दोषी ठहराये जाने से बचा लिया है। तात्पर्य यह कि ब्रह्मा पर सदा यह दोष लगाया जाता रहा है कि वह कभी भी समान गुण वाले वर कन्या का विवाह नहीं करता परन्तु आज उसकी यह कालिमा बहुत समय के बाद धुल गई है क्योंकि उसने समान गुण वाले तुम दोनों का विवाह करा दिया है।

विशेष—मूर्तिमती सत्क्रिया—साक्षात् प्रशंसा की मूर्ति है अतः प्रशंसा प्रशंसनीय को प्राप्त हुई है। (किसी पुस्तक में 'मूर्तिमतीव' पाठ है अतः इव यहाँ पर वाच्योत्प्रेक्षा है जहाँ 'मूर्तिमती' पाठ है वहाँ गम्योत्प्रेक्षा है। इससे शकुन्तला का सकल जन पूज्यत्व ध्वनित होता है जोकि दोनों की समान गुणता का द्योतक है क्यों कि राजा भी तो प्राग्रसर है।

ब्रह्मा पर जो सदा से यह दोषारोपण किया जा रहा था कि वह कभी भी समान वाले वर-वधू का संयोग नहीं कराता है मानो इस अपवाद को न सह कर ही ब्रह्मा ने आज इन दोनों का संयोग करा कर अपने इस अपवाद को धो डाला

तदिदानीमापन्नसत्त्वा प्रतिगृह्यतां सहधर्मचरणायेति ।

गौतमी—अज्ज ! किंपि वत्तुकाम म्हि । ण मे वअणावसरो अत्थि। कहंत्ति । [आर्य ! किमपि वक्तुकामास्मि । न मे वचनावसरोऽस्ति । कथमिति ।

नापेक्षितो गुरुजनोऽयना न खलु पृष्टश्च बन्धुजनः ।
परस्परस्मिन्नेव चरिते भणामि किमेकैकम् ।।

है । इससे यह भी द्योतित होता है कि इससे पूर्व समान गुण वाले वर वधू थे ही नहीं ब्रह्मा बेचारा करता भी क्या, लाता कहाँ से, यह तो पहिला ही ऐसा संयोग है जिससे ब्रह्मा भी निर्दोष हो गए ।

यहाँ पर वरवधू की एक तो प्रशंसा की गई है अतः समालंकार है, गम्योत्प्रेक्षा पूर्व वाक्यार्थ तुल्यगुणत्व का उपपादक है अतः काव्यलिङ्ग है, और समानयन् अतएव वाच्यं न गतः इस प्रकार भी है । अनुप्रास, वंशस्थ छन्द है ।

संस्कृत व्याख्या :—यत् यस्मात कारणात् एवं (दुष्यन्तः) अर्हतां पूज्यानां (अर्हः प्रशंसायामिति शतृप्रत्ययः) प्रकर्षेण अग्रे सरतीति प्राग्रसरः मुख्यतमः (पचादेराकृतिगणत्वादच् प्रत्ययः) पार्ष्याग्र्ययाः प्राग्रसरः इत्यमरः स्मृतोऽभिमतोऽसि सतां मुख्यतमं त्वां जानीमो वयमिति भावः । यात् यस्मात् शकुन्तला च मूर्तिमती शरीरधारिणी सती पूज्या चासौ क्रिया चेति सत्क्रिया सत्कारभूता—इवेत्युत्प्रेक्षा। अनेनास्याः सकलजनपूज्यत्वं ध्वनितम् । अतएव च तुल्यगुणत्वमनयोः तुल्या अन्यूनातिरिक्ता गुणा यस्य तत् तुल्यगुणं समानगुणशालिनं वधूश्च वरश्चानयोः समाहारः वधूवरं समानयन् सम्यक् प्रकारेण योजयन् गान्धर्वविवाहविधिनंकीकुर्वन् प्रजापतिस्स्रष्टा चिरस्य चिरकालादरम्य प्रवृत्तमि त्वर्थः वाच्यं निन्दां "वाच्यं वक्तव्य मित्येते वर्तते प्रतिपादने, वचोऽर्हे कुत्सिते हीने दूषणेऽमिधयोदित इति धरणिः । न गतो न प्राप्तः, शकुन्तलादुष्यन्तं वधूवरं संघटयन् प्रजापतिश्चिर प्ररुढं स्वापवादं मार्जितवानिति भावः । उक्ता अलंकाराः । वंशस्थवृत्तम् ।

तो अब आप इस गर्भवती को अपना धर्म कार्य सम्पादन करने के लिये स्वीकार करें । (अपन्नसत्वा, गुर्विणी, अन्तर्वत्नी, ये गर्भिणी के पर्यायवाची शब्द हैं, "सहधर्म चरणाय" का अर्थ है कि आप इसके साथ यथादि धर्मानुष्ठान करने के लिए इसे स्वीकार करें क्योंकि "सपत्नीको धर्ममाचरेत्" वचन के अनुसार यज्ञादि कर्म पत्नी के साथ ही करने चाहिए । 'धर्माचरणाय' इस कथन से यह व्यञ्जित होता है कि इसका तुम्हारे साथ विधिवत् परिणय हुआ है अतः यह तुम्हारे साथ धर्माचरण करने योग्य है ।

गौमती—सज्जनों में अग्रगण्य महाराज मैं कुछ कहना चाहती हूँ । यद्यपि मुझे बोलने का कोई अवसर नहीं है । तात्पर्य यह है कि तुम दोनों में इतना गाढ़ानुराग है कि अब कुछ करने की आवश्यकता नहीं, माता यही चाहती है कि

णावेक्खिओ गुरुअणो इमाइ ण हु पुच्छिदो अ बंधुअणो।
एक्कक्कमे व्व चरिए भणामि किं एक्कमेक्कस्स ॥ १६ ॥

उसकी कन्या पर पति का प्रगाढ़ अनुराग रहे और कन्या भी पति पर वैसी ही प्रगाढ़ श्रद्धा रखे। यह तो तुम दोनों के अब तक के व्यवहार से स्पष्ट ही है अतः मुझे कहने की आवश्यकता नहीं। अथवा शिष्यों ने ही सब कुछ कह दिया है मुझे कहने की आवश्यकता नहीं। अथवा तुम दोनों ही सब कुछ कहने योग्य कह रहे हो, मुझे कहने की आवश्यकता नहीं। क्योंकि :—

श्लोक १६ अन्वय—अनया गुरुजनः न अपेक्षितः, (त्वया) च बन्धुजनः न पृष्टः खलु परस्परस्मिन् एव चरिते एकैकं किम् भणामि।

शब्दार्थ—न अपेक्षितः दुष्यन्त को आत्मसमपर्ण करते समय पत्रादि गुरुजनों की अपेक्षा नहीं रखी, स्वेच्छा मात्र से तुम्हें वरण कर लिया। न पृष्ट :— और तुमने भी इसके बन्धुजनों से नहीं पूछा अर्थात् तुमने भी यह जिज्ञासा न की कि मैं इसके साथ विवाह कर सकता हूँ या नहीं। परस्परस्मिन् एव चरिते=तुम्हारे और शकुन्तला के एक ऐसे कार्य के विषय में जिनमें कि दोनों के द्वारा गुरुजनों की अनुमति की उपेक्षा की गई है! भणामीत्यादि = मैं तुम दोनों से क्या कहूँ। तात्पर्य यह है कि यदि गुरुजनों की उपेक्षा करना अपराध है तो तुम दोनों ही उसके दोषी हो अतः एक से क्या कहा जाय, तुम दोनों ने अपने परस्पर प्रेमवश विवाह किया है अतः मुझे कुछ कहने का अवसर ही नहीं रह जाता है कि मैं तुम दोनों से ही कुछ कहूँ। अतः जैसे अनुरागवश गुरुजनों की उपेक्षा करके तुम दोनों ने विवाह कर लिया है वैसे ही अब एक दूसरे को स्वीकार करो, मुझे कहने की आवश्यकता ही नहीं है। कहने की आवश्यकता तो तब होती यदि यह कार्य हम लोगों की अनुमति के अनुसार किया गया होता अथवा तुम दोनों में से किसी एक की इच्छा से ही ऐसा हुआ होता। अतः सारांश यह कि इस सम्बन्ध में मुझे तुम दोनों से परस्पर कुछ नहीं कहना है। यह केवल तुम ही दोनों का काम है, तुम ही दोनों जानो। (एकैकम् = परस्पर)

अनुवाद—न तो इस शकुन्तला ने ही अपने गुरुजनों की कुछ अपेक्षा की अर्थात् उनसे कुछ पूछा और न आपने ही (इसके) बन्धुजनों से पूछा। अतः तुम दोनों के इस पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में तुम दोनों में से एक एक से अर्थात् परस्पर क्या कहूँ।

व्याख्या—न तो इसने ही अपने गुरुजनों से पूछा और न आपने ही इसके बन्धुजनों से कुछ पूँछ ताछ की अतः जब तुम दोनों ने ही अपने आप यह काम कर ही डाला है तो फिर मैं तुम दोनों से क्या कहूँ। आशय यह है कि गुरुजनों की उपेक्षा करके तुमने अच्छा नहीं किया।

शकुन्तला—(आत्मगतम् ।) किं ण खु अज्जउत्तो भणादि ? [किं नु खल्वार्यपुत्रो भणति ? ।]

राजा—किमिदमुपन्यस्तम् ? ।

शकुन्तला—(आत्मगतम्) पावओ खु वअणोवण्णासो । [पावकः खलु वचनोपन्यासः ।]

शार्ङ्गरवः—कथमिदं नाम । भवन्त एव सुतरां लोकवृत्तान्तनिष्णाताः ।

सतीमपि ज्ञातिकुलैकसंश्रयां
जनोऽन्यथा भर्तृमती विशङ्कते ।
अतः समीपे परिणेतुरिष्यते
प्रियाप्रिया वा प्रमदा स्वबन्धुभिः ॥१७॥

विशेष—किं भणामि अर्थात् न किमपि = कुछ नहीं, यह अर्थापत्ति अलंकार है, गाथा छन्द है ।

संस्कृत व्याख्या—अनया शकुन्तलया गुरुजनः काश्यपादिः न अपेक्षितः पृष्टो न (त्वयापि) च (अस्याः) बन्धुजनो न पृष्टः परस्परस्मिन् चरितेऽनुष्ठिते कार्ये, (अहं) एकैकम् = परस्परं किं भणामि न किमपीत्यर्थः, उभयोरपराधे नैक एवोपालभ्यः इति । नोचितं त्वया कृतमिति ध्वन्यते । गाथेयम् ।

शकुन्तला—(मन ही मन) देखें, आर्यपुत्र क्या कहते हैं ?

राजा—आप लोग यह क्या कह रहे हैं ? (उपन्यस्तम् = कहना आरम्भ किया, उपन्यासस्तु वाङ्मुखम्" इदम् = शकुन्तला का मुझसे विवाह रूप कथन ।) यह कैसी उलझन खड़ी कर दी है ।)

शकुन्तला—इनका यह कथनारम्भ तो अग्नि के सामने दाहक है, अर्थात् कहना क्या आरम्भ किया मानो आग उगलने लगे हैं ।

शार्ङ्गरव—आप लोग तो लोक व्यवहार में बड़े कुशल हैं फिर यह क्या कह रहे हैं । तात्पर्य यह है कि आप लोग तो गृहस्थाश्रमी होने के कारण हम वनवासियों की अपेक्षा अधिक लोकाचार में कुशल हैं । वर्णाश्रम के गुरु होने के कारण स्वत एव आप लोग हमारी अपेक्षा लोकाचार में अधिक कुशल हैं तो फिर क्यों ऐसा कह रहे हैं, क्या आप नहीं जानते कि एक विवाहिता युवती और गर्भवती कन्या का यज्ञानुष्ठान तपादि के साधन भूत वनाश्रम में रहना लोकाचार विरुद्ध है ?

श्लोक १७ अन्वय—ज्ञातिकुलैकसंश्रयां भर्तृमतीं सतीं अपि जनः अन्यथा विशङ्कते, अतः स्वबन्धुभिः प्रिया अप्रिया वा प्रमदा परिणेतुः समीपे-इष्यते ।

राजा—किं चात्रभवती मया परिणीतपूर्वा ?।

शकुन्तला—(सविषादम्; आत्मगतम् ।) हिअअ ! संपदं दे आसङ्का । [हृदय ! सांप्रतं ते आशङ्का ।]

शार्ङ्गरवः—

किं कृतकार्यद्वेषो धर्मं प्रति विमुखता कृतावज्ञा ?।

शब्दार्थ—ज्ञातिकुलैकसंश्रयाम्=पिता के घर में ही सर्वदा (एक मात्र) रहने वाली, (ज्ञातिकुल=पितृ कुल, एकसंश्रयां+एकमात्र (सर्वदा) रहने वाली, भर्तृमतीम्=जिसका पति जीवित है, प्रिया अप्रिया वा=चाहे वह पति की प्रिय हो अथवा न हो, प्रमदा=युवती- परिणेतुः=पति के, इष्यते=उचित समझा जाता है ।

अनुवाद—एक मात्र पितृकुल में ही सदा रहने वाली, जीवित पालिका, सदा चारिणी युवती पर लोग गलत आशंका करने लगते हैं । अतः कन्या के बन्धु-जनों द्वारा, अपने पति की प्रिया अथवा अप्रिया युवती को पति के समीप ही (रहना) अच्छा माना जाता है ।

व्याख्या—सधवा युवती यदि सदा ही अपने पिता के घर बनी रहे तो वह चाहे जितनी भी सदाचारिणी क्यों न हो पर लोग उसको दूसरे ही रूप में देखने लगते हैं अथवा उसके सम्बन्ध में विविध प्रकार की उल्टी सीधी बातें उड़ाने लगते हैं। अतः कन्या के बन्धुजन उस युवती को चाहे उसका पति उसे चाहता हो, अथवा न चाहता हो, पति के पास ही रखना उचित समझते हैं ।

विशेष—अन्यथा—कवि ने अनौचित्य परिहारार्थ दोषादि पद न रख कर अन्यथा का प्रयोग किया है । अन्यथा=असतीम् । विशङ्कते=विशेष रूप से आशंका करते हैं ।

प्रमदा—प्रकृष्टः मद=तारुण्यमदः यस्याः सा अर्थात् जिसमें बहुत अधिक तारुण्य का मद हो अर्थात् युवती; इससे उसकी स्वाभाविक चंचलता सूचित होती है क्योंकि वृद्धावस्था में यदि स्त्रियां पितृगृह में बनी भी रहें तो दोष नहीं माना जाता अतएव कवि ने स्त्री शब्द का प्रयोग न कर प्रमदा का प्रयोग किया है ।

यहाँ अप्रस्तुत प्रमदा सामान्य से प्रस्तुत शकुन्तला रूप प्रमदा विशेष की प्रतीति होती है अतः **अप्रस्तुतप्रशंसा**, परिणेतुः यहाँ भी यही बात है । सतीमपि से "असती यदि हो तो तब तो कहना ही क्या है यह अर्थ अर्थात् प्रतीत होता है अतः **अर्थापत्ति अलंकार** है । **काव्यलिङ्ग, अनुप्रास । वंशस्थ छन्द** है । इससे अर्थ विशेषण नामक नाट्यालंकार उक्त होता है ।

"उक्तस्यार्थस्य यत्तु स्यादुत्कीर्तनमनेकधा ।
उपालम्भनस्वरूपेण तत्स्यादर्थविशेषणम् ॥"

राजा—कुतोऽयमसत्कल्पनाप्रश्नः ?।

शार्ंगरवः—

मूर्च्छन्त्यमी विकाराः प्रायेणैश्वर्यमत्तेषु ॥ १८ ॥

सम्+श्रि=अच्=संश्रयः स्त्री लिङ्गे द्वितीयैक वचने संश्रयाम्। परि+नी+तृच् षष्ठयेक वचने परिणेतुः। इष् कर्मणि लटि रुपम् इष्यते।

संस्कृत व्याख्या—जनो लोकः ज्ञातिकुलं-पितृकुलं एकं-केवलं संश्रयते तत्रावस्थातुमवलम्बते या सा तां ज्ञातिकुलैकसंश्रयां पितृगृहमात्र-संश्रयणशीलां, भर्तृमतीम्—सधवां, सतीम्-पतिव्रतामपि अन्यथा असतीत्वेन विशङ्कते विशेषरूपेणा-शंकते। अतोऽस्मात्कारणात् स्वबन्धुभिः कन्याबन्धुजनैः प्रिया-पतिप्रिया, अप्रिया वा प्रकृष्टो मदो यस्याः सा प्रमदा युवती परिणेतुः भर्तुरेव समीपे-इष्यते वाञ्छयते।

उक्ता अलंकारादयः। वंशस्थविलं वृत्तम्।

राजा—क्या इस मान्या नायिका से मैंने कभी पहले विवाह किया है? (अत्र भवती=पूज्या मान्या, शापवश विस्मृत राजा शकुन्तला को मुनि कन्या समझ कर ही अत्रभवती कहता है।

शकुन्तला—(विषाद पूर्वक, मन ही मन) हृदय ! तुम्हारी आशङ्का सत्य निकली, अर्थात् तुमको दुष्यन्त से अपने प्रत्याख्यान की पहिले आशङ्का हुई थी, जिससे कि तुम काँपने लगे थे, (हृदय ! किमेवं वेपसे) वह सत्य प्रमाणित हो रही है।

शाङ्र्गरव—श्लोक १८-कृतकार्यद्वेषः किम्, धर्मं प्रति विमुखता किम्, कृतावज्ञा किम्।

अनुवाद—अपने किये हुए कार्य के प्रति द्वेष अर्थात् पश्चाताप क्यों, धर्माचरण के प्रति पराङ्मुखता क्यों, किये हुये कार्य के प्रति करुणा या अनादर क्यों? प्रायः ऐश्वर्य यह मतजनों में ऐसे ये विचार वृद्धि पाते हैं।

व्याख्या—राजा के उपर्युक्त वचनों से यह जानकर कि राजा शकुन्तला के प्रति विमुख है, उसे धमकाता हुआ शाङ्र्गरव क्रोध पूर्वक कहता है—क्या अब अपने किये हुए काम पर पश्चात्ताप हो रहा है ? (अर्थात् जो तुमने गुरुजनों की उपेक्षा कर इसके साथ विवाह किया था, उसे अब अनुचित समझ कर पश्चाताप कर रहे हो) या धर्माचारण के प्रति यह आपकी पराङ्मुखता है ? (अर्थात् जो आपने गान्धर्व विवाह रूप धर्म कार्य किया है उसके प्रति अब आप विमुख हो रहे हैं अर्थात् कर्तव्य पालन से भाग रहे हैं ?) अथवा आप जान बूझ कर भी किये हुए काम को भुला देना चाहते हैं ? (अर्थात् जो आपने समझ बूझ कर प्रतिज्ञा पूर्वक इसके साथ विवाह किया था उसे अब भूल जाना चाहते हैं ?).

(आधा श्लोक राजा की उक्ति के बाद है)

राजा—विशेषणाधिक्षिप्तोऽस्मि ।

गौतमी—जादे मुहुत्तअं मा लज्ज । अवणइस्सं दाव दे ओउंठणं । तदो तुमं भट्टा अहिजाणिस्सदि । [जाते । मुहुर्तं मा लज्जस्व । अपनेष्यामि तावत् ऽवगुण्ठनम् ततस्त्वां भर्ताभिज्ञास्यति ।] (इति यथोक्तं करोति) ।

राजा—इस दूषित कल्पना का प्रश्न ही कैसे हुआ ? (अर्थात् काश्यप शिष्य के इतने ही कथन को न सहता हुआ राजा उससे श्लोकार्ध पर ही पूँछने लगता है कि यह तो बताओ कि यह दूषित कल्पना तुमने कैसे कर ली ?

शार्ङ्गरव—(क्रोध से उत्तर देता है) अमी विकाराः ऐश्वर्यमत्तेषु प्रायेण मूर्च्छन्ति । कि यह मेरी अति कल्पना नहीं, क्योंकि ऐश्वर्य मदान्ध लोगों के हृदय में प्राय: ऐसे विचार हुआ करते हैं, अर्थात् ऐश्वर्य शाली जनों के मन में कृतावज्ञा कृत-कार्यद्वेष आदि विकृत भावनायें प्रायः वृद्धि पाती ही रहती हैं, उनसे वे प्रायः मुक्त नहीं हो पाते । (अमी—ये, मूर्च्छन्ति=बढ़ते हैं, विकारा=असद्विचार, दोष)

पूर्वार्ध में संदेहलंकार, हेतु, अर्थान्तरन्यास (सामान्य से पूर्वार्धगत विशेष का समर्थन) अनुप्रास, अप्रस्तुत ऐश्वर्यमत्त सामान्य से प्रस्तुत ऐश्वर्यमदविशिष्ट दुष्यन्त की प्रतीति हो रही है अत: अप्रस्तुतप्रशंसालंकार है । आर्या जाति छन्द है ।

संस्कृत व्याख्या—कृते कार्ये सम्पादिते गान्धर्वविवाहे द्वेषोऽरुचिः किम् धर्मं प्रति धर्माचरणं प्रति यज्ञानुष्ठानादिधर्मसम्पादनाय परिणीतां शकुन्तलां प्रति विमुखता पराङ्मुखता किम्=धर्मकर्मसम्पादनार्थ न केवलं परिभोगाय विधिवत् परिणीतामिमां परित्यक्तुकामस्य भवतो धर्मार्जनवैमुख्यं जातं किम् । कृतस्य पूर्वविहितस्य विवाह रूपकार्यस्याधुना पश्चात्तापेनावज्ञा किम् अवधीरणा क्रियते किम् । (इत उत्तरार्धेन राज्ञः कथनस्योत्तरमाह :—अमी कृतकार्यद्वेषादयः विकारा दोषाः प्रायेण ऐश्वर्यमत्तेषु ऐश्वर्यजन्यमदमत्तेषु भवादृशेषु नृपेषु मूर्च्छन्ति वृद्धि गच्छन्ति । उक्ता अलंकाराः, आर्या जातिः । इससे तोटक नामक अंग उपक्षिप्त होता है ।

"संरम्भवचनं प्रायं तोटकं त्विह संज्ञितम्" ।।

राजा—मैं तो बहुत अधिक तिरस्कृत हुआ हूँ अर्थात् इस प्रकार फटकार कर तो इन लोगों ने मेरा बड़ा तिरस्कार किया है ।

गौतमी—पुत्री ! अब थोड़ी देर के लिए लज्जा छोड़ दो, मैं तुम्हारे अव-गुण्ठन-घूँघट को हटा देती हूँ जिससे तुम्हारा पति तुम्हें पहचान लेगा। (इस प्रकार कह कर वह उसका घूँघट उठा देती है) यहाँ से लेकर षष्ठ अंक समाप्तिपर्यन्त अवमर्श सन्धि चलती है ।"

यत्रप्रलोभनक्रोधव्यसनाद्यैर्विमृश्यते ।
बीजादौ गर्भनिर्भिन्नः सोऽवमर्श इतीर्यते

राजा—(शकुन्तलां निर्वर्ण्य । आत्मगतम् ।)

इदमुपनतमेवं रूपमक्लिष्टकान्ति
प्रथमपरिगृहीतं स्यान्न वेति व्यवस्यन् ।

यहाँ शाप रूप व्यसन से अवमर्श है । अथवा "क्रोधेनामृशेद्यत्र व्यसनाद्वा विलोभनात्, गर्भनिर्भिन्नबीजार्थः सोऽवमर्श इति स्मृतः" । अर्थात् जहाँ पर क्रोध व्यसन या लोभ से फल प्राप्ति के विषय में पर्यालोचन या विचार किया जाता है तथा जहाँ पर गर्भ सन्धि द्वारा बीज को प्रकट कर दिया गया हो वहाँ अवमर्श सन्धि होती है अर्थात् 'यह चीज जरूर होगी' इस प्रकार फल प्राप्ति के निश्चय का निर्धारण जहाँ पाया जाय तथा गर्भसन्धि से प्रकटित बीज से जहाँ सम्बन्ध हो । यहाँ प्रकरी अर्थप्रकृति तथा नियताप्ति रूप कार्यावस्था चलती है । प्रकरी का लक्षण है

"शोभार्थं वैदिकावीनां यथा पुष्पाक्षतादयः
अथर्तु वर्णनादिस्तु प्रसंगे प्रकरी भवेत् ।"

प्रसंगतः ऋतुवर्णनाधिदप्रकरी के अन्तर्गत हैं यथा षष्ठाङ्क में "ततः प्रविशति चूताङ्कुरम् से लेकर नेपथ्ये" यहाँ तक प्रकरी चलती है "फलन्तु कल्पयते यस्याः परार्थायैव केवलम् अनुबन्धविहीनाना प्रकरी श्रूयते यथा । इस लक्षण के अनुसार कोई यहाँ मातलि प्रसंग को प्रकरी मानते हैं यह उचित नहीं क्योंकि सन्धि समाप्ति के विशेष में उसके उद्देश्य के होने से सध्यङ्ग उसके साथ नहीं चलते हैं ।

नियताप्ति—"नियतां तु फलप्राप्तिं यदा भावेन् पश्यति ।
अर्थात् जहाँ प्राप्ति का निश्चित निर्धारण हो ।

अवमर्श सन्धि के १३ अंग—

तत्रापवादसंफेटौ विद्रवद्रवशक्तयः
द्युतिः प्रसंगश्छलनं व्यवसायो विरोधनम्
प्ररोचना विचलन मादानञ्च त्रयोदश ।

इनका यथा स्थान वर्णन किया जायेगा ।

वास्तव में इस प्रकार गौतमी द्वारा शकुन्तला का, ऐसे अवसर पर जबकि उसका पति उसे पहिचान नहीं रहा है, घूँघट हटाना, जिससे कि उसका पति उसके सौंदर्य को फिर अपनी उन्हीं आँखों से, जिनसे कि उसने पहिले उसे देखा था, देख ले और पहिचान ले, उसकी स्त्री-जनोचित बुद्धि कुशलता की चरम सीमा का परिचायक है और इसके साथ ही कवि का रचनाकौशल, मनोवैज्ञानिक, अवसर प्राप्त सूक्ष्म निरीक्षण भी प्रकट होता है ।

राजा—(शकुन्तला को भली भाँति देखकर मन ही मन)

भ्रमर इव विभाते कुन्दमन्तस्तुषारं
न च खलु परिभोक्तुं नैव शक्नोमि हातुम् ॥ १९ ॥

श्लोक १९ अन्वय—एवं उपनतं अक्लिष्टकान्ति इदं रूपं प्रथम-परिगृहीतं स्यात् न वा इति व्यवस्यन् विभाते अन्तस्तुषारं कुन्दं भ्रमर इव न च खलु परिभोक्तुं नैव हातुं शक्नोमि ।

शब्दार्थ—एवं=इस प्रकार विना किसी उद्योग विशेष के, उपनतम्=उपस्थित—प्राप्त, अक्लिष्टकान्ति=अक्लिष्ट=अम्लान—विकसित कान्ति=शोभा अर्थात् जिसकी शोभा मुरझाई हुई नहीं है, जो अपने प्रथमोद्गततारुण्य से देदीप्यमान है, प्रथम परिगृहीतम्=पहिले कभी विवाह विधि से स्वीकार किया था या नहीं, इन दो बातों से किसी एक निश्चय पर पहुँचने का प्रयत्न करता हुआ विभाते =प्रातःकाल, अन्तस्तुषारं=जिसके अन्दर ओस भरी हुई है। कुन्द=कुन्दनामक पुष्प विशेष, परिभोक्तुम्=पूर्ण रूप से उपभोग करने के लिये, हातुम्=छोड़ने के लिए।

अनुवाद—यह इस प्रकार अर्थात् अनादर है स्वयं उपस्थित हुआ, अम्लान कान्ति वाला रूप उर्थात् यह स्वयं उपस्थित हुई अम्लान कान्ति शान्ति की नायिका मेरे द्वारा पहिले कभी विवाह रूप में स्वीकार की गई थी अथवा नहीं, इस बात पर निश्चय कर सकता हुआ मैं, प्रातः काल अन्तर्गत तुषार वाले कुन्द पुष्प को भ्रमर की भांति, न तो छोड़ने में समर्थ हूँ और न उसका परिभोग करने में ही समर्थ हूँ।

व्याख्या—राजा ने शकुन्तला को भली भाँति देखा, फलतः तुरन्त ही उसके नेत्र उसके त्रिलोकाभिराम सौन्दर्य सागर में परिप्लावित हो गये और वासना रूप में स्थित उसके रति स्थायी भाव के तुरन्त ही क्षण मात्र के लिये जागृत हो जाने से उसमें मनोविकार भी उठा परन्तु शाप वश राजा यह नहीं निश्चय कर सका कि उसे उसको स्वीकर करना चाहिए अथवा नहीं, इसी द्विविधा दोला में इतस्ततः झूलता हुआ वह कहता है :—यह अम्लानकान्तिशालिनी सुन्दरी यहां मेरे पास अपने आप आ पहुँची है परन्तु ठीक-ठीक निश्चय नहीं कर पा रहा हूँ कि मैंने कभी पहिले इसके साथ विवाह भी किया था या नहीं, अतः इस समय मेरी दशा वैसी ही है जैसी कि उस मधुप की होती है जो कि प्रातः काल उस कुन्द पुष्प का जिसमें कि अभी ओस-कण भरे हुये है, रस ले भो सकता और न उसे छोड़ ही सकता है अर्थात् द्विविधादोलान्दोलित मैं न तो इसका उपभोग ही करता हूँ और न इसे छोड़ ही पा रहा हूँ।

विशेष—अक्लिष्ट क्रान्ति पद से शकुन्तला की प्रथम यौवन विकासशालिता एवं अपूर्वलावण्यशालिता द्योतित होती है और यही राजा के त्याग न कर सकने में कारण भी है।

(इति विचारयन्स्थितः)

प्रतीहारी—अहो धम्मावेक्खिआ भट्टिणो ! ईदिसं णाम सुहोवणाव रुवं देक्खिअ को अण्णो विआरेदि ! अहो धर्मापेक्षिता भर्तुः। ईदृशं नाम सुखोपनतं रूपं दृष्टवा कोऽन्यो विचारयति ?]

शारंगरव—भो राजन् ! किमिति जोषमास्यते ? ।

राजा—भोस्तपोधनाः चिन्तयन्नपि न खलु स्वीकरणमत्रभवत्याः स्मरामि। तत्कथमिमामभिव्यक्तसत्त्वलक्षणां प्रत्यात्मानं क्षेत्रि णमाशङ्कमानः प्रतिपत्स्ये ? ।

अन्तस्तुषारम् =से यह ध्वनित होता है कि जिस प्रकार प्रातः कालीन तुषार से आच्छादित होने के कारण कुन्द पुष्प के रस को भ्रमर नहीं ग्रहण कर पा रहा है उसी प्रकार शाप से आवृत शकुन्तला के भी सौन्दर्य रस का पान राजा नहीं कर पा रहा है। और वृन्द पुष्प जिस प्रकार अन्तस्तुषारावृत है उसी प्रकार शकुन्तला भी आपन्नसत्वा है। तुषार से आच्छादित कुसुम पर भ्रमर नहीं बैठता क्योंकि तुषार का स्पर्श उसके लिये असह्य होता, है इसी प्रकार धर्मात्मा राजा के लिये भी आपन्न-सत्वा रमणी का ग्रहण करना असम्भव है।

विभाते—पद के उपादान से कवि का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार प्रातः काल होने के बाद सूर्य किरणों से शीघ्र ही जब तुषार नष्ट हो जायेगा तो भ्रमर के लिये उसका रस भोग अवश्य प्राप्त होगा ठीक उसी प्रकार जब अभिज्ञान दर्शन द्वारा शाप दूर हो जायेगा तो राजा के लिये शकुन्तला का उपभोग अवश्य प्राप्त होगा।

इस प्रकार के कथन द्वारा स्थायीभाव रति की दृढ़ता ध्वनित होती है।

कुन्दम्=पद प्रयोग से कवि का तात्पर्य विशिष्ट परागशाली कुसुम से है अतएव यहाँ अर्थान्तर संक्रमित वाच्यध्वनि है। परिभोक्तुम्=भ्रमर के पक्ष में इसका अर्थ है कि भ्रमर के लिये तुषार स्पर्श के असह्य होने के कारण, अन्तस्तुषार होने के कारण कुन्द पुष्प के स्पष्टतया परिलक्षित न होने के कारण, वह उसके रस ग्रहण में असमर्थ है—राजा के पक्ष में इसका अर्थ है कि परकीय अथापि आपन्नसत्वा होने के कारण उसके ग्रहण में राजा के लिये अधर्मापवाद होने के कारण वह उसके उपभोग में असमर्थ है। हातुम्—पद से भ्रमर पक्ष में अर्थ है कि भ्रमर कुन्द पुष्प के रस का ग्रहण करने के लिये स्वभावतः अत्यधिक लालयाति रहता है अतः वह उसे छोड़ने में असमर्थ है और राजा भी उसे इसलिये छोड़ने में असमर्थ है क्योंकि वह अपूर्वलावण्यवती है, और यदि वह उसके द्वारा विवाहित है तो उसके छोड़ने में पाप भी है। रुपम् इस पद से शब्द शक्ति द्वारा रमणी ग्रहण है। क्योंकि रूप

शकुन्तला—(अपवार्य ।) अज्जस्स परिणए एव्व सहो । कुदेदो दाणि मे दूराहिरोहिणी आसा ? । [आर्यस्य परिणय एव संदेहः । कुत इदानीं मे दूराधिरोहिण्यशा ? ।]

शारंगरवः—मा तावत्—

परिगृहीत नहीं होता, रमणी ही परिगृहीत होती है अतः रूप का लक्षण से अर्थ है रमणी मूर्ति ।

यहाँ उपमा और स-सन्देहलंकार का संकर है, अनुप्रास, मालिनी छन्द है। इससे संशय नामक भूषण उपक्षिप्त किया गया है "अनिश्चयान्तं यद्वाक्यं संशयः स निगद्यते" ।

संस्कृत व्याख्या:—एवं दैवयोगात्-उपनतं प्रयत्नं विनैव समुपस्थितं अक्लिष्टा अम्लाना कान्तिर्यस्य तत् अक्लिष्टकान्ति समुज्ज्वलं इदं पुरोवर्ति रूपं, आकृतिः प्रथम् परिगृहीतं प्रथमं गान्धर्वेण विवाहेन स्वीकृतं स्यात् न वा-इति इथं व्यवस्यन् वितर्क कुर्वन् (अहं) अन्तः तुषारो यस्य तत् अन्तस्तुषारं—अन्तर्गतनीहारं कुन्दं-कुन्द नामकं पुष्पविशेषं विभाते प्रातः काले भ्रमरो मधुप इव न च परिभोक्तुम् स्वीकर्तुं शक्नोमि नैव हातुं, परित्यक्तुम् शक्नोमि समर्थो भवामि ।

उक्ता अलंकारादयः । मालिनी वृत्तम् ।

(राजा इस प्रकार सोचता रह जाता है)

प्रतीहारी—राजा को इस अवस्था में देखकर आश्चर्यचकित प्रतीहारी मन में कहती है :—

ओहं, महाराज कितने धर्मनिष्ट हैं, इन्हें धर्म का कितना ध्यान है, यदि ऐसा न होता तो कौन दूसरा व्यक्ति इस प्रकार से अपने आप प्राप्त रूप को देखकर, स्वीकार करने में आगा पीछा सोचता, अर्थात् यह राजा की धर्मापेक्ष ही है कि जो वे ऐसी सौन्दर्यशालिनी अनायास प्राप्त रमणी को स्वीकार करने में आनाकानी कर रहे हैं दूसरा कोई व्यक्ति ऐसी रमणी को तुरन्त स्वीकार कर लेता ।

(कवि ने यहाँ पर प्रतीहारी की भावना का अच्छा निर्देश किया है प्रतीहारी जैसी बुद्धिमती होती हैं वैसी उनकी भावनायें भी होती हैं अतएव इस स्थल पर उसने इस प्रकार सोचा है) ।

शाङ्गरव—महाराज ! अब आप चुप क्यों बैठे हैं ?

राजा—हे तपस्वियों ! बार-बार सोच कर भी मैं इस बात का स्मरण नहीं कर पा रहा हूँ कि मैंने कभी इस देवी के साथ विवाह किया था । तो फिर मैं किस प्रकार अपने को क्षेत्री मान कर इस अभिव्यक्त गर्भ लक्षणों वाली रमणी को स्वीकार करूँ । पर पत्नी में गर्भाधान करने वाला व्यक्ति क्षेत्री कहलाता है । बीजी

कृताभिमर्शामनुमन्यमानः
सुतां त्वया नाम मुनिर्विमान्यः ।

नहीं, और इस प्रकार की संतान **क्षेत्रज** कहलाती है **औरस नहीं**, और यह क्षेत्रज सन्तान औरस की अपेक्षा नीच मानी जाती हैं । यहाँ दुष्यन्त के कहने का तात्पर्य यह है कि यह दूसरे की विवाहिता पत्नी है यदि इसको मैं ग्रहण करता हूँ तो यह मेरी क्षेत्रा पत्नी ही होगी धर्म पत्नी नहीं और इससे उत्पन्न सन्तान क्षेत्रज ही कहलायेगी **औरस नहीं** । अतः फिर "प्रतिगृह्यतां सह धर्मचरणाय" यह आप लोगों का कथन क्या अर्थ रख सकेगा ? और यदि यह कहा जाय कि राजाओं के यहाँ तो अविवाहिता भी बहुत सी स्त्रियाँ रहती हैं तो इसी रूप में इसे रख लिया जाय तो यह भी सम्भव नहीं, क्योंकि इसमें तो अब गर्भवती के सभी लक्षण स्पष्ट व्यक्त हो रहे हैं अतः स्पष्ट है कि पुरुषान्तर से इसका सहयोग भी हो चुका है अतः निःसन्देह कहा जा सकता है कि यह दूसरे की पत्नी है, इस प्रकार पर-पत्नी सिद्ध हो जाने पर इसका स्वपत्नी रूप में राजप्रासाद में रखना कहाँ तक धर्म सम्मत बात होगी ? ।)

किसी पुस्तक में अक्षत्रियं पाठ है वहाँ इसका अर्थ है अपने को क्षत्रिय जाति विरुद्ध आचरण करने वाला मान कर । किसी पुस्तक में क्षेत्रियम् पाठ है वहाँ उसका अर्थ है अपने को पर स्त्री में आसक्त मानकर **"क्षेत्रियं क्षेत्र जतृणे परदाररतेऽपि च"** विश्वकोष ।

इस कथन से राजा का धर्मभीरु होना ध्वनित होता है ।

(अभिव्यक्त=प्रकट, सत्वलक्षण=गर्भ चिन्ह, प्रतिपत्स्ये=स्वीकार करूँगा) ।

शकुन्तला :—(अलग, दूसरी ओर मुड़कर अपवार्य—**"रहस्यं कथ्यतेऽन्यस्य परावृत्यापचारितम्"** अर्थात् जहाँ पर घूमकर दूसरे से रहस्यमय बात कही जाती है ।) आर्य पुत्र को तो जब विवाह में ही सन्देह हो रहा है, तो मैंने जो इनसे अन्य महत्वाकाङ्क्षायें बाँध रखीं थीं । उनका तो अब ठिकाना ही क्या रहा ? तात्पर्य यह है कि "मैं वहाँ पहुँचकर राजमहिषी बनूँगी" यह जो मेरी दूराधिरोहिणी अर्थात् दूर तक पहुंचने वाली महत्वशालिनी आशा थी वह अब कहाँ, अर्थात् सर्वथा असम्भव है । शकुन्तला को इस प्रकार की आशा का कारण था "परिग्रह बहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य नः" इत्यादि राजा का वचन)

शाङ्गरव—मा तावत्=तुम्हारा ऐसा कहना अनुचित है, प्रस्तुत प्रसंग के विपरीत है, अथवा इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि "अच्छा ठीक है मत स्वीकार करो ।"

मुष्टं प्रतिग्राहयता स्वमर्थं
पात्रीकृतो दस्युरिवासि येन ॥२०॥

श्लोक २० अन्वय—कृताभिमर्शाम् सुतां अनुमन्यमानः मुनिः त्वया विमान्यः नाम, मुष्टं स्वं अर्थं प्रति ग्राहयता येन (त्वं) दस्युः इव पात्रीकृतः असि।

शब्दार्थ—कृताभिमर्शाम्=तुम्हारे द्वारा ही जिसका अवमर्श=बलात्कार से घर्षण या स्पर्शादि जन्य सुरत भोग किया गया है, अनुमन्यमान;=अनुमोदित करता हुआ, क्रोधादि न करके समर्थन करता हुआ, विमान्यः तिरस्करणीय, मुष्टं स्वं अर्थम्=चुराई हुई अपनी वस्तु को, प्रतिग्राहयता=चोर को ही लौटा देने वाले, दस्युः=लुटेरा, पात्रीकृतः सुपात्र माने गये हों।

अनुवाद—जिसका (तुम्हारे द्वारा) अभिमर्श अर्थात् बलात्कार से घर्षण अथवा सुरतोपभोग किया गया है ऐसी अपनी पुत्री शकुन्तला को अनुमोदित और करता हुआ वह मुनि क्या तुम्हारे द्वारा विमान्य अर्थात् तिरस्करणीय है? अर्थात् नहीं है) चुराये गये धन को भी चुराने वाले को लौटा देने वाले मुनि द्वारा (तुम) दस्यु की भांति ही सुपात्र माने गये हों।

व्याख्या—राजा का कथन सुनकर क्रोधाविष्ट हो शार्ङ्गरव कहता हैः—ठीक है तुमको तो उस ऋषि का तिरस्कार करना ही चाहिए जिसने तुम्हारे द्वारा बलात्कार से घर्षित भी अपनी पुत्रि का अनुमोदन कर अर्थात् तुम्हारे साथ उसका विधिवत विवाह हुआ है इसमें तुम्हारा कोई अपराव नहीं यह मानकर तुम्हारे पास भेजा है। भला जिसने तुम्हारे साथ यह भलमनसाहत की है कि अपनी तुम्हारे द्वारा छल पूर्वक दूषित की गई भी कन्या को तुम्हें योग्य पात्र समझ कर उसी प्रकार प्रत्यर्पित कर दिया है जैसे कि कोई व्यक्ति अपनी चुराई गई वस्तु के मिल जाने पर भी उसे चोर को ही लोटा देता है" उसका तिरस्कार न करोगे तो और क्या करोगे? तात्पर्य यह है कि वास्तव में जो तुमने छलपूर्वक, बिना मुनि की आज्ञा के, उनकी कन्या को दूषित किया था, यह तुमने बहुत बड़ा अपराध किया था पर शान्तिप्रिय मुनि ने फिर भी इसका अनुमोदन किया और अपनी कन्या को तुम्हारे पास भेज दिया है अतः इसका अकारण अस्वीकार कर मुनि का तिरस्कार न करो।

विशेष—कृतेत्यादि पद से राजा का महापराधी होना सूचित होता है। मुनि-रिति:—इस पद से यह द्योतित होता है कि यद्यपि तुमने इतना बड़ा अक्षम्य अपराध किया था फिर भी वह मुनि सहज कृपालु हैं अतएव तुम्हारा अपराध क्षमा कर दिया है यदि और कोई होता तो तुम्हें इसका दण्ड भोगना पड़ता।

अनुमन्यमानः—से तात्पर्य है कि तुम्हारे अपराध पर मुनि होने के कारण ही भगवान् काश्यप को क्रोध नहीं आया तुम्हें शापादि नहीं दिया प्रत्युत् अनुमोदन ही किया और तुम्हारे पास भेज दिया।

त्वया=ऐसा अपराध करके भी उसे भूल जाने वाले तुम्हारे द्वारा। **विमान्यः**—अवमाननीय, नाम=असम्भावना सूचक अव्यय। इससे मुनि की अवमानना का असम्भाव्यत्व सूचित किया गया है। अर्थात् तुम्हारे द्वारा मुनि की अवमानना की तो कभी सम्भावना ही न होनी चाहिए, भले ही मुनि द्वारा तुम्हारी अवमानना हो। अथवा 'नाम' यह क्रोध सूचक है अर्थात् शार्ङ्गरव कह रहा है मुनि का तो हमारे द्वारा अपमान होना ही चाहिए और तुमसे क्या आशा की जा सकती है? अथवा उपर्युक्त "मा तावत्" को यहाँ लगाकर यह अर्थ किया जा सकता है कि "मुनिः त्वया मा तावत् विमान्यः" अर्थात् तुम्हें मुनि का तो अपमान नहीं करना चाहिये। अथवा काकु द्वारा इसका यह भी अर्थ किया जा सकता है कि 'क्या मुनि का अपमान न करना चाहिए अर्थात् करना ही चाहिए। अथवा 'नाम यह क्रोध सूचक है अतएव वह कहता है कि तुमने जो मुनि की कन्या को दूषित करने का अपराध किया था वह तो मुनि ने सहन कर लिया परन्तु अब यदि तुम इसका प्रत्याख्यान करके मुनि का तिरस्कार करोगे तो दण्ड पाओगे क्योंकि मुनि जहाँ अनुग्रह करने में समर्थ होते हैं वहाँ वह निग्रह (दण्ड) देने में भी समर्थ होते हैं। इस प्रकार यहाँ **सूक्ष्मालंकार है।**

वास्तव में 'विमान्यः नाम' के उपर्युक्त अन्य सभी अर्थ तो उचित प्रतीत होते हैं परन्तु प्रथम अर्थ "मुनि की अवमानना तुम्हारे द्वारा असम्भाव्य है अर्थात् तुम्हें न करना चाहिए" अधिक उचित नहीं जँचता यह कथन मुनि शिष्यों द्वारा शोभा नहीं देता यदि अन्य कोई राजकीय व्यक्ति कहता तो ठीक था।

मुष्टमित्यादि:—अर्थात् अपमान तो किसी का भी न करना चाहिए परन्तु उसका तो अपमान करना सर्वथा अनुचित है जिसने स्वयं तुम्हारे ऊपर उसी प्रकार कृपा की हो जैसे कि कोई व्यक्ति अपनी चुराई हुई वस्तु को, मिल जाने पर भी, चोर के पकड़ लिए जाने पर भी उसे ही लौटा देता है और उसे निरपराध घोषित ही नहीं करता वरन् कृपा भी करता है। मुनि ने भी तुम्हारा अपराध ही क्षमा नहीं किया वरन् अपनी सहज दयालुता के फलस्वरूप शकुन्तला को भी तुम्हारे पास भेज दिया है अतः ऐसे कृपालु महात्मा का तिरस्कार करना सर्वथा अनुचित है, तुम शकुन्तला को स्वीकार कर मुनि का सम्मान करो।

यहाँ दस्यु की उपमा से दुष्यन्त की अत्यन्त निकृष्टता व्यञ्जित होती है अतः यहाँ **अलंकार से वस्तु ध्वनि है। सूक्ष्मालंकार, उपमा,** तथा अपराधी भी दुष्यन्त को अपने सन्तोष के लिए कन्यादान देकर भी सन्तोष तो प्राप्त हुआ नहीं प्रत्युत विमानना रूप अनर्थ और उत्पन्न हो गया अतः इस अर्थ में **विषमालंकार** है। सूक्ष्म व अन्य अलङ्कारों का सङ्कर है। **छेक वृत्ति अनुप्रास, उपजाति छन्द है।**

उपजाति छन्द इन्द्रवज्रा तथा उपेन्द्रवज्रा इन दो छन्दों से मिल कर बनता है, इन्द्रवज्रा मे तगण, जगण दो गुरु वर्ण, इस क्रम से ११ वर्ण होते हैं। तथा यदि

शारद्वत :—शार्ङ्गरव ! विरम त्वमिदानीम्; शकुन्तले ! वक्तव्यमुक्तमस्माभिः। सोऽयमत्रभवानेवमाह। दीयतामस्मै प्रत्ययप्रतिवचनम्।

शकुन्तला—(अपवार्य) इमं अवत्थंतरं गदे तारिसे अणुराए किं वा सुमराविदेण ? अत्ता दाणि मे सोअणीओ त्ति ववसिदं एद। (प्रकाशम्) अज्जउत्त (इत्यर्धोक्ते—) संसइदे दाणि ण एसो समुदाहारो। पोरव ! ण जुत्तं णाम दे तह पुरा अस्समपदे सहावुत्ताणहिअअं इमं जणं समअपुव्वं पच्चाचविखदुं अक्खरेहि पच्चाचविखदुं। [इदमस्थान्तरं गते तादृशेऽनुरागे किं वा स्मारितेन ?। आत्मेदानीं मे शोचनीय इति व्यवसितमेतत्। आर्यपुत्र !— संशयित इदानीं नैष समुदाचारः। पौरवः ! न युक्तं नाम ते तथा पुराश्रमपदे स्वभावोत्तानहृदमिमं जनं समयपूर्वं प्रत्यार्येदृशैरक्षरैः प्रत्याख्यातुम्।]

इन्द्रवज्रा छन्द का प्रथमाक्षर लघु कर दिया जाता है तो वही उपेन्द्रवज्रा छन्द बन जाता है। जहाँ इस प्रकार उपेन्द्रवज्रा और इन्द्रवज्रा छन्द मिले हुए एक वृत्त में प्रयुक्त होते है वहाँ उपजाति छन्द होता है। प्रस्तुत पद्य में पूर्वार्ध में उपेन्द्रवज्रा और उत्तरार्ध में इन्द्रवज्रा है। अतः यह उपजाति छन्द है।

अनु+मन् कर्मणि शानच् अनुमन्यमानः, मुष् स्तेये क्त=मुष्टम्, प्रति+ण्यन्त ग्राहि+तृच्=प्रतिग्राहयिता।

संस्कृत व्याख्या :—कृतः—विहितोऽभिमर्शो बलात्कारेण घर्षण यस्याः सा ताम् कृताभिमर्शा सुतां सुपुत्री अनुमन्यमान :—अनुमोदमानः, 'नामेति क्रोधे' मुनिः काश्यपः, त्वया (मा तावत्) विमान्यः=अवमाननीयस्तिरस्कणीयो वा, मुष्टं चोरितं स्वं निजं अर्थं वस्तु प्रतिग्राहयता आत्मनैव दत्त्वा तदधीनं कारयता पुरुषेणेव येन मुनिना (त्वं) दस्युः चौर इव पात्रीकृतः सुपात्रतां नीतोऽसि। त्वत्कृतापराधं विस्मृत्य येन मुनिना स्वकन्या त्वत्समीपमेव प्रेषिता तस्यावमानना न त्वया कार्येति भावः। उक्ता अलंकारादयः, उपजातिः वृत्तम्।

शारद्वत :—शार्ङ्गरव ! तुम तो अब चुप रहो, शकुन्तले ! देखो ! हम लोगों को तो जो कुछ कहना था कह चुके; और (उसे सुन कर) यह महाराज भी इस प्रकार कह रहे हैं (जैसा कि तुमने भी अभी सुना ही है) अतः अब तुम्हीं इनको विश्वास जनक उत्तर दो। तात्पर्य यह है कि अब और कोई साधन नहीं रह गया है केवल तुम्हारा कहना ही शेष है अतः अब तुम्हीं कहो जिससे इनको विश्वास हो सके।

शकुन्तला :—(मन ही मन) जब वैसा प्रगाढ़ अनुराग इस विपरीत दशा तक पहुँच चुका है अर्थात् जब बात इतनी दूर तक पहुँच चुकी है तो स्मरण दिलाने से भी क्या लाभ है ?, (तात्पर्य यह कि जब वह परिणय-कालीन पूर्वानुभूत अनिर्वचनीय अटूट अनुराग ही पूर्णतया विस्मृत हो चुका है) तो अब उसकी याद दिलाने से भी

राजा—(कर्णौ पिधाय ।) शान्तं पापम् ।

क्या लाभ है । (कहने का तात्पर्य यह है कि यदि मैं विश्वासजनक वस्तु दिखलाकर या उत्तर देकर इन्हें उस गान्धर्व विवाह कालीन घटना को याद भी दिलादूं तो भी प्रेम के अभाव में उस स्मरण का भी क्या फल होगा, विश्वासजनक मेरे उत्तर से या अभिज्ञान वस्तु से उस घटना की याद भले ही आ जाय पर इससे प्रेम तो उत्पन्न नहीं हो सकता अतः याद दिलाना भी व्यर्थ है) अब तो मुझे अपने भाग्य को ही कोसना पड़ेगा बस यह निश्चय है इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं ।

फिर भी वह, यह सोच कर, कि जो होना है, वह तो होगा ही, लोक व्यवहार दृष्टि से मुझे तो अपने को निष्कलंक प्रमाणित करना ही चाहिये, और मुनि शिष्य का भी ऐसा ही आदेश है अतः मुझे कहना ही चाहिए प्रकट रूप से कहना आरम्भ करती है और शिष्टाचारानुरोध से राजा के लिए :—

हे आर्यपुत्र ! इस प्रकार सम्बोधन करती है परन्तु आधा कह कर रुक जाती है और फिर यह कह कर कि जब विवाह में ही सन्देह है तो फिर आर्यपुत्र सम्बोधन ही उचित नहीं, पौरव ! (पुरुवंशी राजन्) इस प्रकार सम्बोधित करती हुई कहती है :—

उस समय आश्रम में शपथ पूर्वक (अथवा गान्धर्व विवाह द्वारा, अथवा समय पूर्व=काल नियम पूर्वक अर्थात् यह कह कर कि तीन चार दिनों में मेरा कोई आत्मीय जन तुम्हें लेने आयेगा अथवा समय पूर्व=ज्ञान पूर्वक अर्थात् जान बूझ कर) जन्मजात सरलता एवं निष्कपटता से पूर्ण (अति गाम्भीर्य एवं प्रतारणा से रहित) हृदय वाले इस व्यक्ति को उस प्रकार धोखे में डाल कर अब इस प्रकार के "न खलु चिन्तयन्नपि स्वीकरणमत्र भवत्याः स्मरामीति" कठोर वचनों द्वारा प्रत्याख्यान करना आपको शोभा नहीं देता । तात्पर्य वह है कि पहले आश्रम में मुझ भोली-भाली सरल हृदय वाली को शपथ पूर्वक ठग कर अब इस प्रकार कह कर मेरा तिरस्कार करना आपको शोभा नहीं देता । (स्वभावोत्तानेत्यादि पद से उसने अपना अत्यन्त मुग्धता अतएव परवञ्चना की अनभिज्ञता तथा अपने पराये की विवेक शून्यता सूचित की है । समय के ज्ञान, आचार, काल, शपथ, सिद्धान्त, आदि पर्यायवाची शब्द हैं । प्रतार्य=ठग कर-धोखा देकर, स्वभावोत्तान=स्वभाव से ही गाम्भीर्य रहित—अति मुग्ध—सरल—निष्कपट; प्रत्याख्यानम्=अस्वीकार करना)

राजा—(कान बन्द करके) नहीं, नहीं ऐसा मत कहो, झूठ कहना है । पाप है (पापं=मिथ्यावचन, शान्तम्=शान्त हों, रुक जांय अर्थात् असत्य मत कहो। 'शान्तं' निषेधार्थक अव्यय है । असत्य वचन बोलने में तो पाप होता ही है, पर सुनने में भी पाप होता है इसीलिए तो राजा कान बन्द कर लेता है । अथवा असत्य भाषण-जन्य पाप की शान्ति हो)

व्यपदेशमाविलयितुं किमीहसे जनमिमं च पातयितुम्।
कूलंकषेव सिन्धुः प्रसन्नमम्भस्तटतरुं च ॥२१॥

श्लोक २१ अन्वय—कूलंकषा सिन्धुः प्रसन्नं अम्भः तटतरुं च इव, व्यपदेशं आविलयितुं इमं जनं च पातयितुं किम् ईहसे।

शब्दार्थ—कूलंकषा=किनारों को तोड़ने वाली, सिन्धु=नदी, प्रसन्नं अम्भः=स्वच्छ जल, व्यपदेशम्=कुल को, अविलयितुम्=कलङ्कित करने के लिए, पातयितुम्=पतित करने के लिए, भ्रष्ट करने के लिए, किम् ईहसे=क्यों चेष्टा करती हो।

अनुवाद—अपने किनारों को तोड़ने वाली नदी जिस प्रकार अपने स्वच्छ जल को गन्दा करने की तथा तट पर खड़े वृक्ष को गिरा देने की चेष्टा करती है। उसी प्रकार तुम मेरे कुल को कलंकित करने की और मुझे पतित बनाने की क्यों चेष्टा करती हो।

व्याख्या—जिस प्रकार एक तट को ढाह देने वाली नदी, अपने स्वच्छ पानी को गन्दा करने की और किनारे पर खड़े हुए वृक्ष को गिरा देने की चेष्टा करती है, उसी प्रकार तुम क्यों मेरे कुल को कलङ्कित करने के लिए तथा मुझे पतित करने के लिए चेष्टा कर रही हो ?

विशेष—कूलंकषा पद से शकुन्तला का कुलवनिताओं के विरुद्ध आचरण ध्वनित होता है।

आविलयितुम्=राजा के पक्ष में इसका अर्थ है परस्त्री स्वीकार द्वारा कलङ्कित करने के लिए जल के पक्ष में 'तोड़े गये किनारे की मिट्टी गिराने से गन्दा करने के लिए।

पातयितुम्—राजपक्षे "पर स्त्री संसर्ग से यतित बनाने के लिए" तरु पक्षे "जड़ों की मिट्टी घुल जाने के कारण जल में गिराने के लिए" इसमें जो णिच प्रत्यय है इससे यह ध्वनित होता है कि तुम तो पतित होकर यहाँ आई ही हो अथवा तुम्हारा आना ही पतित होने का सूचक है और मुझे भी अब पतित करना चाहती हो, इसीलिए तो इसका उपमान कूलंकषा है अर्थात् कुलाङ्गनाओं की मर्यादा को तोड़ने वाली।

सारांश यह है कि यदि मैं तुम्हें स्वीकार करती हूं तो मैं नरक में पड़ता ही हूँ और मेरा यह प्रसिद्ध पुरु वंश भी कलङ्कित है अतः ऐसा करना सर्वथा अनुचित है। **उपमा, समुच्चय, यथासंख्य, अनुप्रास। आर्या जाति छन्द।** असूया, मति भाव है।

संस्कृत व्याख्या:—कुलं कषतीति कूलंकषा=तटपाननशीला सिन्धुः—नदी, प्रसन्नं=स्वच्छं, अम्भः=जलं आविलयितु=मलिनीकर्तुं, तटतरुं=तटस्थं वृक्षं

शकुन्तला—होदु; जइ परमत्थतो परपरिग्गहसंकिणा तुए एव्वं वत्तुं पउत्तं ता अहिण्णाणेण इमिणा तुह आसकं अवणइस्सं। [भवतु; यदि परमार्थतः परपरिग्रहशङ्किना त्वयैवं वक्तुं प्रवृत्तं तदभिज्ञानेनानेन तवाशङ्कमपनेष्यामि।]

राजा—उदारः कल्पः।

शकुन्तला—(मुद्रास्थानं परामृश्य।) हद्धी। अंगुलीअअसुण्णा मे अंगुली। [हा धिक्। अंङ्गुलीयकशून्या मेऽङ्गुलिः।] (इति सविषादं गौतमीमवेक्षते।)

गौतमी—णूणं दे सक्कावदारब्भतरे सचीतित्थसलिलं वदमाणाए पब्भट्टं अंगुलीअअं। [नूनं ते शक्रावताराभ्यन्तरे शचीतीर्थसलिलं वन्दमानायाः प्रभ्रष्ट मङ्गुलीयकम्।]

राजा—(सस्मितम्।) इदं तत्प्रत्युतत्पन्नम ति स्त्रैणमिति यदुच्यते।

शकुन्तला—(एत्थ दाव विहिणा दंसिदं पहुत्तणं। अवरं दे कहिस्सं [अत्र तावद्विधिना दर्शितं प्रभुत्वम्। अपरं ते कथयिष्यामि।)

च पातयितुम=उन्मूलयितुम् (यथा ईहते) (तथैव त्वं) व्यपदिश्यते लोके कीर्त्यतेऽनेनेति व्यपदेशस्तम् व्यपदेशं कुलं पुरुवंशमिति यावत् आविलयितुं दूषयितुं, इमं जनं मल्ल क्षणं जनम् दुष्यन्तमित्यर्थः पातयितुं पतितं कर्तुं किम् कथं, ईहसे वाञ्छसीति। अतस्त्वया तेत्थं वाच्यम् नाहं पापाचरणायोत्सहे, कुलञ्चास्माकं प्रसिद्धं पवित्रञ्चेति भावः।

शकुन्तला :—अच्छा, यदि मुझे परस्त्री समझ कर आपने ऐसा कहना आरम्भ किया है तो मैं इस परिचायक चिन्ह के द्वारा तुम्हारी आशंका को दूर करूंगी। (भवतु=अच्छा, मेरा कहना, थोड़ी देर के लिए असत्य ही मान लो, अभिज्ञानेन=परिचायक चिन्ह के द्वारा जो कि प्रस्थान काल में तुमने मुझे दिया था अर्थात् स्वनामाङ्कित अंगूठी से।)

राजा :—बहुत अच्छा न्याय (अर्थात् अभिज्ञान प्रदर्शन मेरे सन्देह को दूर करने के लिए सबसे अच्छा निर्णय है, कल्पः=न्याय, उदार :=उपयुक्त।)

शकुन्तला :—(मुद्रा स्थानम् = अँगूठी पहनने की जगह अर्थात् उँगली टटोल कर) हाय ! हाय ! मेरी उँगली तो अँगूठी से खाली है, अर्थात् न जाने अंगूठी कहां गिर गई (ऐसा कह कर विषाद पूर्वक गौतमी की ओर देखने लगती है।)

गौतमी :—जान पड़ता है कि शक्रावतार प्रदेश में जब तुमने शचीतीर्थ के जल की वन्दना की थी तभी तुम्हारी अंगूठी गिर गई थी। (शक्रावतार नाम से प्रसिद्ध एक गंगावतरण घाट है अतः इस प्रदेश का भी शक्रावतार है। शचीतीर्थ जलम्=इन्द्राणी के द्वारा एक स्थान पर आवाहित किया गया सभी तीर्थों का जल।

राजा—श्रोतव्यमिदानीं संवृत्तम् ।

शकुन्तला—णं एक्कस्सिं दिअहे णोमालिआमंडवे णलिणीपत्तभाअणगअं उअअं तुह हत्थे संणिहिदं आसि । [नन्वेकस्मिन्दिवसे नवमालिकामण्डपे नलिनीपत्र-भाजनगतमुदकं तव हस्ते संनिहितमासीत् ।]

राजा—शृणुमस्तावत् ।

ऐसा कहा जाता है कि एक बार जब इन्द्राणी इन्द्र के साथ कहीं जा रही थीं तो मार्ग में शक्रावतार प्रदेश में उन्होंने सभी तीर्थों का आवाहन कर स्नान किया था; उनके आवाहन का मन्त्र था :—

"गङ्गे च यमुने चैव, गोदावरि सरस्वति
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु"

तभी से उस प्रदेश के गंगाघाट के जल को शचीतीर्थ जल कहा जाने लगा है, वह जल शची द्वारा आवाहित सब तीर्थों का जल था अतएव वन्दनीय था ।

राजा :—(मुस्करा कर) यही तो स्त्री जाति की तुरत बुद्धि है । अर्थात् यह कहा जाता है कि स्त्रियाँ स्वभावतः प्रत्युत्पन्नमति होती हैं, प्रत्येक विषय में उनका बुद्धि कौशल-वाग्वैदग्ध्य देखा जाता है, प्रत्युत्पन्नमति=उपस्थितबुद्धित्व, अर्थात् स्त्रियों को मौके पर बात बनाने में देर नहीं लगती । यहाँ पर राजा का तात्पर्य यह है कि तुम्हारा तो यह बहाना बनाकर कि अँगूठी कहीं गिर गई है, इधर-उधर टटोलने लगना और तुरन्त ही गौतमी द्वारा गिरने का स्थान व कारण भी बताकर उसकी पुष्टि कर देना, स्त्रीजाति प्रत्युत्पन्नमतित्व प्रमाणित करता है । अतः जो यह कहा जाता है कि स्त्री जाति प्रत्युत्पन्नमति होती है, वह यह है अर्थात् तुम्हारे द्वारा दिखला दिया गया है । इसमें सत्यता किञ्चिनमात्र भी नहीं **"तात्कालिकी तु प्रतिभा प्रत्युत्पन्नमतिः स्मृता" प्रज्ञानवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता"** इति ।

शकुन्तला :—अच्छा, प्रत्याभिज्ञान दर्शन में तो मेरे दुर्भाग्य ने अपनी प्रभुता दिखा ही दी ? अब मैं आप से दूसरी बात कहूँगी । तात्पर्य यह है कि मेरे प्रतिकूल दैव ने उँगली से अँगूठी अपहरण कर, मुझे आपके सामने असत्यभाषिणी प्रमाणित कर अपनी सामर्थ्य तो दिखा दी—अँगूठी न मिलने से आपका कहना ही सत्य रहा, मैं झूँठी बनी सही परन्तु यह दूसरी बात कह कर में आपके सन्देह को दूर करती हूँ ।

राजा :—अच्छा, तो अब तो मुझे सुनना ही पड़ेगा (तात्पर्य यह कि अब तो अपने को सत्य प्रमाणित करने के लिए, आप लोग हजारों झूँठी कल्पनायें करके अपनी विविध प्रकार की वाग्विदग्धता को एवं बुद्धि कौशल को दिखलायेगी ही और यदि उसे मैं न सुनूँगा तो किसी की बात न सुनने का मैं अपराधी ठहराया जाऊँगा अतः यह जानते हुए भी तुम्हारा कथन बनावटी ही है अतः सुनना व्यर्थ है, मुझे सुनना ही पड़ेगा । (मूल के 'संवृत्तम्' पद का यह व्यङ्ग्यार्थ है) अथवा इसका यह अर्थ

शकुन्तला—तक्खणं सो मे पुत्तकिदओ दीहापंगो णाम मिअपोदओ उवट्ठिओ। तुए अअं दाव पढमं पिअउ त्ति अणुअंपिणा उवच्छंदिदो उअएण। ण उण दे अपरिचआदो हत्थब्भासं उवगदो। पच्छा तस्सि एव्व नए गहिधे सलिले णेण किदो पणओ! तदा तुमं पहसिदो सि एत्थं एव्वो सगंधेसु विस्ससिदि दुवेवि एत्थ आरण्णआ-त्ति। [तत्क्षणे स मे पुत्रकृतको दीर्घापाङ्गो नाम मृगपोतक उपस्थितः। त्वयायं तावत्प्रथमं पिबत्वित्यनुकम्पिनोपच्छन्दित उदकेन। न पुनस्तेऽपरिचयाद्धस्താभ्याशमुपगतः। पश्चात्तस्मिन्नेव मया गृहीते सलिलेऽनेन कृतः प्रणयः। तदा त्वामत्थं प्रहसितोऽसि—सर्वः सगन्धेषु विश्वसिति। द्वावप्यत्रारण्यकौ-इति।]

राजा—एवमा दिभिरात्मकार्यनिर्वर्तिनीनाम मृतमयवाङ् मधुभिराकृष्यन्ते विषयिणः।

गौतमी—महाभाअ! ण अरुहिस एव्वं मंतिदुं। तवोवणसंवड्ढिदो अण-भिण्णो अअं जणो कइदवस्स। [महाभाग! नार्हस्येवं मन्त्रयितुम्। तपोवन-संवर्धितो-ऽनभिज्ञोऽयं जनः कैतवस्य।]

और भी अधिक सुन्दर है—राजा कहता है—अच्छा तो अब क्या सुनाने पर उत्तर आई हो? अर्थात् पहिले तो दिखाने की बात थी, अब सुनाने की बारी है, अस्तु कुछ भी हो, चाहे दिखाइये, चाहे सुनाइये, मैं प्रस्तुत हूं। (सच बात तो यह है, कि सुनने की अपेक्षा देखने में अधिक प्रमाण माना जाता है, जब दिखाना ही असत्य रहा तो सुनना वो सत्य कैसे कहा जा सकता है, इस प्रकार राजा की यह उल्लुण्ठन पूर्ण उक्ति है)

शकुन्तला—एक दिन नवमालिका के कुञ्ज में कमलिनी-पत्र के दोने में भरा हुआ जल आपके हाथ पर रखा हुआ था, इस बात का स्मरण तो आपको होगा ही। अर्थात् अतिथि सत्कार के समय वेतसलता कुञ्ज में जब मैं कमल-पत्र के दोने में आपके पाद प्रक्षालन के लिए जल लाई थी और आपके हाथ पर रखा था, यह तो आपको ज्ञात होगा ही?

राजा—सुन तो रहा हूँ, कहती चलिये। अर्थात् जो कुछ तुम्हें कहना है सब कह डालो, मुझे तो कुछ याद है नहीं, केवल सुन रहा हूँ।

शकुन्तला—अच्छा तो फिर उसी समय, वह मेरा पुत्रवत् पाला हुआ, दीर्घापाङ्ग नामक मृग-छौना भी आ पहुँचा था। आपने उस पर दया करते हुए यह कहा था "कि अच्छा पहले इसी को जल पीने दो, और यह कर फिर आप जल पिलाने के लिए उसे राजी करने लगे थे परन्तु परिचित न होने के कारण वह आपके हाथ के पास नहीं आया था, परन्तु जब बाद में उसी जल को मैंने ले लिया था तो वह पीने के लिए आग्रह करने लगा था, उस समय आपने हँस कर इस प्रकार कहा था कि

राजा—तापसवृद्ध ।

स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीषु
संदृश्यते किमुत याः प्रतिबोधवत्यः ।
प्रागन्तरिक्षगमनात्स्वमपत्यजात-
मन्यैर्द्विजैः परभृताः खलु पोषयन्ति ॥ २२ ॥

सभी अपने सगे सम्बन्धियों पर विश्वास करते हैं। तुम दोनों ही वनवासी हो न। (पुत्र कृतकः—जल दिखा कर आदर पूर्वक बुलाया, अभ्याशं=समीप। प्रणयः कृतः=पीने के लिए प्रेम प्रदर्शन पूर्वक आग्रह किया, सगन्धेषु "सगन्धो बन्धुरुच्यते" इस कोश के अनुसार सगन्ध का अर्थ है आत्मीय जन-बन्धुजन, आरण्यक=वनवासी।

राजा—अपना काम बनाने वाली स्त्रियों की. इस प्रकार की, असत्य, पर अमृतमय मधुर बातों से तो कामी लोग ही आकर्षित होते हैं। अर्थात् अपना उल्लू सीधा करने वाली स्त्रियों की ऐसी मीठी-मीठी बातों के जाल में तो कामी पुरुष ही फंसते हैं, मुझ जैसे नहीं। समझीं ?

गौतमी—महाभाग ! आपको ऐसी बात तो नहीं कहनी चाहिए। यह कन्या तो तपोवन में पली है, यह भला छल कपट की बात क्या जाने। (कर्तवस्य=कपट व्यवहार की बात को, कैतवशून्य तपोवन में पली हुई इस कन्या ने जो कुछ कहा है वह सत्य ही है, बनावटी नहीं)

राजा—वृद्धा तपस्विनी !

श्लोक २२ अन्वय—स्त्रीणाम् (मध्ये) अमानुषीषु अशिक्षितपटुत्वम् संदृश्यते याः प्रतिबोधवत्यः किमुत, खलु परभृताः अन्तरिक्षगमनात् प्राक् स्वं अपत्यजातं अन्यैः द्विजैः पोषयन्ति ।

शब्दार्थ—अमानुषीषु=मानुष व्यतिरिक्त अर्थात् वञ्चकवागादिव्यवहारशून्य अर्थात् मनुष्ययोनि से भिन्न पशु पक्षी आदि की योनि में उत्पन्न स्त्रियों में भी जो कि वञ्चनादि व्यवहार से रहित होती हैं। स्त्रीणाम्=स्त्री जाति के बीच में। अशिक्षितपटुत्वम्=बिना सिखाये पढ़ाये ही नैसर्गिक चातुर्य वाञ्चनादि व्यवहार कुशलता=प्रत्युत्पन्नमित्व, संदृश्यते=देखा जाता है, प्रतिबोधवत्यः=वे स्त्रियाँ जो कि वाग्व्यवहार में तथा क्रिया कुशलता में पूर्ण रूप से चतुर होती है; किमुत=कहना ही क्या, खलु=क्योंकि परभृताः=कोकिलायें, अन्तरिक्षगमनात् प्राक्=आकाश में उड़ने से पूर्व, स्वं अपत्यजातं=अपनी सन्तान को, अन्यैः द्विजैः=अन्य पक्षियों से (यहाँ कौवों से तात्पर्य है) पोषयन्ति=पालन कराती हैं।

अनुवाद—स्त्री जाति के मध्य, अमानवी अर्थात् मानव योनि से भिन्न पशु-पक्षी आदि की योनि में अत्यन्त स्त्रियों में भी बिना सिखाये पढ़ाये ही नैसर्गिक चातुर्य वञ्चनादि व्यवहार कुशलता देखी जाती है। पर जो लोक व्यवहार में कुशल मानवी

स्त्रियाँ हैं उनके विषय में तो कहना ही क्या ? आकाश में उड़ने के पूर्व तक कोकिलायें अपने बच्चों का पालन पोषण अन्य पक्षियों अर्थात् कौवों से कराती हैं।

व्याख्या—स्त्री जाति के बीच में जो मानवी स्त्रियां नहीं हैं अर्थात् जो पशु पक्षियों की स्त्री योनि से उत्पन्न हुई हैं उनमें भी स्वाभाविक चतुरता (चालाकी) देखी जाती है फिर सभी विषयों में तुरत बुद्धि रखने वाली मानवी स्त्रियों के विषय में तो कहना ही क्या है ? (तुम जानती हो ? कि कोकिलायें, जब तक उनके बच्चे उडना नहीं सीख जाते, कौवों से उनका पालन पोषण कराती हैं (और फिर अपना) बना लेती हैं)

विशेष--परभृताः—परैः=काकैः भ्रियन्ते= बाल्यकाले पोष्यन्ते – इति परभृता अर्थात् कोकिल, यह प्रसिद्ध है कि कोकिलों के बच्चों का पालन पोषण कौवों द्वारा ही होता है, काक और कोयल का रंग एक ही होता है अतः कोयलें अपने बच्चों को कौवों के घोंसलों में रख आती है, कौवे एक रंग होने के कारण भ्रमवश उन्हें अपना बच्चा समझ कर पालते रहते हैं, और जब वे उड़ने योग्य हो जाते हैं तब अपनी जाति में मिल जाते हैं।

परभृता—से यहाँ स्त्री जाति की कोकिल का अर्थ है, यह साभिप्राय कथन है, क्योंकि स्त्री जाति की चालाकी दिखाना ही तो कवि का तात्पर्य है।

सारांश यह है कि पक्षियोनि-समुत्पन्न भी अब कोयल में ऐसी चतुरता होती है तो मानवी जाति में उत्पन्न शकुन्तला में तो, भले ही वह तपोवन में रही हो, नैसर्गिक पटुत्व, असत्य वञ्चनादि बाग् व्यवहार होना ही चाहिए अतः इसमें सन्देह नहीं कि इसका उपर्युक्त कथन सर्वथा असत्य है—एक षड़यन्त्र है।

यहाँ परभृत पद से शकुन्तला की 'स्वमपत्यजात' पद से अपनी सन्तान अर्थात् शकुन्तला पुत्र भरत की, अन्यैः द्विजैः पद से मारीचाश्रमवासी मुनि जनों की, प्रागन्तरिक्षगमनात् पद से मातलि के साथ दुष्यन्त के मारीचाश्रम में आने के पूर्व की प्रतीति होती है अतः इस कथन के द्वारा कवि ने यहाँ पर, कश्यपाश्रम में मुनियों द्वारा संरक्षित पुत्र सहित शकुन्तला का निवास तथा इन्द्र लोक के लौटने के समय राजा का वहाँ जाना और शकुन्तला एवं भरत से मिलना, इस भावी कथा भाग की सूचना दी है।

यहाँ पर उत्तरार्ध गत विशेष से सामान्य का समर्थन किया गया है अतः **अर्थान्तरन्यास अलंकार है** यहाँ शकुन्तला रूप विशेष के प्रस्तुत होने पर भी जो स्त्री सामान्य का कथन किया गया है अतः **अप्रस्तुत प्रशंसालंकार है**। किमुत इस कथन से **व्यतिरेक अलंकार** है। **छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास**। बसन्त **तिलका** छन्द है। यहाँ हेत्ववधारणा नामक सन्ध्यन्तराङ्ग उपक्षिप्त किया गया है। "**निश्चयो हेतुनार्थस्य मत हेत्ववधारणम्**" हेतु से जहाँ प्रयोजन का निश्चय किया जाय।

शकुन्तला—(सरोषम् ।) अणज्ज ? अत्तणो हिअआणुमाणेण पेक्खसि । को दाणि अण्णो धम्मकंचुअप्पवेसिणो तिणच्छण्णकूवोवमस्स तव अणुकिदिं पडिवदिस्सदि ? [अनार्य । आत्मनो हृदयानुमानेन पश्यसि । क इदानीमन्यो धर्मकंचुकप्रवे-शिनस्तृणच्छन्न कूपोपमस्य तवानुकृतिं प्रतिपत्स्यते ? ।]

राजा—(आत्मगतम्) संदिग्धबुद्धिं मां कुर्वन्नकैतव इवास्याः कोपो लक्ष्यते ! तथा ह्यनया,—

संस्कृत व्याख्या—स्त्रीणां=स्त्रीजातिमध्य इत्यर्थः, अमानुषीषु=मनुष्यजाति-व्यतिरिक्तासु तिर्यग्योनिषु-अपि अशिक्षितञ्च तत् पटुत्वञ्चेत्यशिक्षितपटुत्वम् बिनाप्युपदेशशिक्षणादिकं नैसर्गिकगूढ़प्रतारणादिचातुर्यं, संदृश्यते=विलोक्यते, याः स्त्रियः प्रतिबोधोऽस्त्यासामिति प्रतिबोधवत्यः=समुचितवाग्व्यापारादिव्यवहारकुशलाः (सन्ति ताः) किमुत=तासान्तु कौशलविषये किम् वक्तव्यं, न किमपीत्यर्थः खलु=यतः परैः काकैः भ्रियन्ते बाल्यकाले पोष्यन्त इति परभृताः कोकिलाः अर्थात् कोकिलस्त्रियः (यद्यप्ययं जातिवाची तथापि अजादि पठितत्वान्न ङीष् प्रत्ययः) "वनप्रियः परभृतः कोकिलः पिक इत्यादि" इत्यमरः । अन्तरिक्षगमनात्=आकाशमार्गोड्डयनशक्तिलाभात् प्राक् पूर्वं स्वं=आत्मीयं, अपत्यजातं सन्तानसामान्यं अन्यैः द्विजैः=इतरैः पक्षिभिः काकैरिति यावत् पोषयन्ति=पालयन्ति । कोकिलाः स्वापत्यानि काककुलायेषु निक्षिपन्ति काकाश्च स्वापत्यभ्रमेण तदपत्यानि शिशुकालं यावत्पालयन्तीति प्रसिद्धिः । यदा कोकिलस्त्रिय एतादृश्यः कपटव्यवहारचतुरास्तदा किम् वक्तव्यं तासां मानुषीणां विषये या बुद्धिमत्यः सन्तीति कवेराशयः । उक्ता अलङ्कारादयः वसन्ततिलकं वृत्तम् ।

शकुन्तला—(क्रोधपूर्वक) अनार्य ! अभद्र ! अधम तू अपने (कपट पूर्ण) हृदय के समान ही सबका हृदय समझता है । अर्थात् जैसा तू वञ्चक है वैसा ही तू शुद्ध हृदय वाली भी मुझ को वञ्चक समझ रहा है जैसा कि कहा है :—"स्वयमशुद्धः पराना-शङ्कते" तेरे अतिरिक्त और कौन, घास-फूस से ढके हुये कूप के समान, धर्म का कञ्चुक (वाह्य आवरण, ढोंग, पाखण्ड) धारण करने वाले तुम्हारा अनुकरण करेगा ? अर्थात् कोई नहीं। तात्पर्य यह है कि जैसे तृणावृत्त कूप लोगों को स्थल बुद्धि भ्रम से अपने अन्दर गिरा कर नष्ट कर देता है । उसी प्रकार तुम भी छिपे हुये नृशंस हो, और तुमने यह कपट का कंचु धारण कर रखा है जिससे तुमको धर्मात्मा समझ कर लोग तुम्हारे चंगुल में फँस सकें इस प्रकार का तुम्हारा जैसा कपटी, पाखण्डी अन्तर्नृशंस और कौन हो सकता है ? यह तो तुम्हारा ही काम है, दूसरा कोई तुम्हारा जैसा नीच नहीं हो सकता । यद्यपि यह सत्य है कि श्रेष्ठ जन जैसा करते हैं इतर जन भी वैसा ही अनुकरण करते हैं "यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः, स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते" तथापि तुम्हारे जैसे गुप्तनृशंस पाखण्डी कपटी

मय्येव विस्मरणदारुणचित्तवृत्तौ
वृत्तं रहः प्रणयमप्रतिपद्यमाने !
भेदाद्भ्रुवोः कुटिलयोरतिलोहिताक्ष्या
भग्नं शरसनमिवातिरुषा स्मरस्य ॥ २३ ॥

व्यक्ति का कोई अनुकरण न करेगा विश्वास न करेगा, भले ही राजा का आचरण अनुकरणीय हो। धर्मकञ्चुकप्रवेशिनः=धर्म के नाम पर पाखण्ड करने वाले, कञ्चुक =वाह्य आवरण।

शकुन्तला के अनार्य इस सम्बोधन द्वारा प्रगल्भ भाव प्रदर्शन रूप उसके मुग्धात्व के व्याघात की तथा चरित्र आशंका न करनी चाहिए, क्योंकि वह तो पतिव्रता है यहाँ पर इस अवसर पर उसके सतीत्व पर ही दोषारोपण किया जा रहा है अतः उसके निराकरण के लिए और अपने सतीत्व के स्थापन के लिए उसका यह आचरण उचित ही है इससे "सरोषं रे. यहाँ तक संफेट नामक अवमर्श सन्धि का अंग बताया गया है। "रोषप्रथितवाक्यन्तु संफेटः परिकीर्तितः" रोषयुक्त वचन संफेट कहलाता है।

राजा—(मन ही मन) इसका क्रोध तो वास्तविक जैसा दिखाई पड़ता है, जोकि मुझे और भी सन्देह में डालता है। तात्पर्य यह है कि इसका यह क्रोध बनावटी नहीं वास्तविक सा दिखाई पड़ रहा है अतएव मेरा सन्देह और भी बढ़ता जा रहा है—हो सकता है कि मैं ही भ्रम में हूँ अन्यथा इसके क्रोध में सच्चाई नहीं होती। अकैतवः=निष्कपट-वास्तविक-सत्य-अकृत्रिम। जैसा कि :—

श्लोक २३ अन्वय—(उपर्युक्त अनया पद का श्लोक के साथ सम्बन्ध है) अतिरुषा (अतएव) अतिलोहिताक्ष्या अनया विस्मरणदारुणचित्तवृत्तौ (अतएव) रहः वृत्तं प्रणयं अप्रतिपद्यमाने मयि एव कुटिलयोः भ्रुवोः भेदात् स्मरस्य शरासनं भग्नं इव।

शब्दार्थ—अतिरुषा=अत्यन्त क्रोध पूर्ण अथवा अत्यन्त क्रोध से, अतिलोहिताक्ष्या=अत्यन्त रक्त नेत्रों वाली इसने, विस्मरणेत्यादि=विस्मरण के कारण जिसकी चित्तवृत्ति (हृदय) कठोर हो गई है, रहः=एकान्त में, वृत्तं=हुये या किये गये, प्रणय=प्रेम अर्थात् प्रेमवश किये गये परिणयादि कार्य को, अप्रतिपद्यमाने=धर्मध्वंस भय से न स्वीकृत करने वाले, कुटिलयोः=कुञ्चित टेढी, भेदात्=टेढी करने से, स्मरस्य=कामदेव का शरासनं=धनुष, भग्नं=तोड़ दिया है।

अनुवाद—अत्यन्त क्रोधपूर्ण (अतएव) अत्यधिक लाल नेत्रों वाला इस शकुन्तला के द्वारा, विस्मृति के कारण जिसकी चित्त वृत्ति (हृदय) कठोर हो गई है (अतएव) एकान्त में हुए प्रेम को अर्थात् एकान्त में किये गए प्रेमवश परिणाम आदि को न

(प्रकाशम् ।) भद्रे ! प्रथितं दुष्यन्तस्य चरितम् । तथापीदं न लक्षये ।

शकुन्तला—सुट्ठु दाव अत्त सच्छंदचारिणी किदम्हि । जा अहं इमस्स पुरुवंसप्पच्चएण मुहमहुणों हिअअट्ठिअविमस्स हत्थब्भासं उवगदा । (सुष्ठु तावदत्र स्वच्छन्दचारिणी कृतास्मि, याहमस्य पुरुवंशप्रत्ययेन मुखमधोर्हृदयस्थितविषस्य हस्ताभ्याशमुपगता ।] (इति पटान्तेन मुखमावृत्य रोदिति ।)

स्वीकार करने वाले मुझ पर ही कुञ्चित भौंहों के टेढी करने से मानो कामदेव का धनुष ही तोड़ दिया गया है ।

व्याख्या—ठीक-ठीक स्मरण न आने के कारण मेरा हृदय इसके प्रति इतना निष्ठुर हो रहा है अतएव में निर्जन तपोवन में एकान्त में इसके साथ किए गये प्रणय जन्य विवाहादि कार्य को स्वीकार नहीं कर रहा हूं अतएव मेरे ही ऊपर अत्यन्त क्रोधवश लाल-लाल नेत्रों वाली इस शकुन्तला ने जो अपनी कुटिल भौंहों को चढ़ा लिया है इससे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि मानो इसने कामदेव के धनुष को तोड़ डाला है ।

विशेष—**विस्मरणेत्यादि**—अर्थात् आश्रम के एकान्त स्थान में जो इसके साथ मेरे परिणयादि कार्य हुए थे उनके भूल जाने के ही कारण मैं इसके प्रति इतनी निष्ठुरता दिखा रहा हूँ अन्यथा इस अपूर्व सुन्दरी के लिये निष्ठुर होना सर्वथा असम्भव था । **स्मरस्य शरासनं भग्नमिव**=इससे तात्पर्य है, कि मेरे ऊपर प्रहार करने वाले कामदेव के धनुष को तो इसने तोड़ ही डाला है अतः वह मुझ पर अब प्रहार तो कर ही नहीं सकेगा । अतः अब इसके अनुनय की भी मुझे कोई आवश्यकता नहीं रह गई है । इससे यह भी ध्वनित होता है कि इसका क्रोध इतना बढ़ गया है कि सैकड़ों प्रकार के अनुनयों से भी अब वह क्रोध दूर नहीं किया जा सकता है, अतः स्पष्ट है कि इसका क्रोध तात्विक ही है, कृत्रिम नहीं । यह अलंकार से **वस्तुध्वनि है । और स्थायिनी रति का इससे अनुसन्धान भी होता है** । अतिरुषा पद में हेतु में तृतीया विभक्ति है अथवा यह अनया का विशेषण भी है । रण रुणेत, वृत्तो वृत्त मिति प्रप्रीति, स्मरस्येति **छेकानुप्रास और वृत्यनुप्रास**, भग्नमिव यहाँ पर **सापह्नव उत्प्रेक्षालंकार** है, पदार्थ हेतुक **काव्यलिंग**, **उत्प्रेक्षा** से क्रोध को अतिशयिता एवं तात्विकता **व्यंज्जित होती है** और **अलंकार से वस्तु भी ध्वनित होती है** । तथा इसी उत्प्रेक्षा से शकुन्तला के भ्रू गत संस्थान सौष्ठव की अतिशयिता एवं उसकी सकल लोक हृदयोन्मादकारिता भी व्यञ्जित होती है, क्योंकि उसके भ्रू संस्थान ने काम धनुष को भी तिरस्कृत ही नहीं कर दिया प्रत्युत तोड़ भी डाला है, सदा के लिये व्यर्थ कर दिया है । वास्तव में कवि का **यह उत्प्रेक्षा का प्रयोग बहुत ही सुन्दर एवं मार्मिक तथा गम्भीर** एवं **उसके रचना कौशल से वैशिष्टय का परिचायक** है । **बसन्त तिलका छन्द है** ।

संस्कृत व्याख्या—अतिरुषा = अत्यधिक क्रोधेनाधिकक्रोधया वा, अत एवातिलोहिताक्ष्या = अत्यारक्तनेत्रयानया विगतं स्मरणं यस्य तत् विस्मरणं तस्मात्-दारुणा चित्तस्य वृत्तिर्यस्य तस्मिन्—विस्मरणदारुणचित्तवृत्तौ = स्मरणाभावनिष्ठुरहृदये, अतएव रहः = एकान्ते वृत्तं = सम्पन्नं प्रणयं = स्नेहं प्रणयफलभूतपरिणयादिकार्यजातं, अप्रतिपद्यमाने धर्मध्वंसभियास्वीक्रियमाणे मयि-एव, कुटिलयोः = स्वभावकुञ्चित तयोः भ्रुवोः भेदात् भ्रूभङ्गच्छलाद व्याजाद्वेति स्मरस्य मनोभवस्य शरासनं कार्मुकं भग्नं खण्डितमिवेति । कामधनूरूपयोः सहजवक्रयो स्तस्या भ्रुवोर्भङ्गव्याजेन कामधनुरपि व्यर्थतान्नीतम् इवेति भावः । उक्ता अलंकारादयः, वसन्त तिलकं वृत्तम् ।

(राजा ने इतना तो मन में सोचा अब वह प्रकट रूप से शकुन्तला से कहता है :—

कल्याणी ! दुष्यन्त का चरित्र तो प्रसिद्ध है अर्थात् उसके कामों को तो सारा संसार जानता है, तात्पर्य यह है कि दुष्यन्त कभी भी भ्रम से भी पर स्त्री स्पर्श नहीं कर सकता तथा वञ्चना नहीं कर सकता यह बात मेरे चरित्र के सम्बन्ध में विश्व विदित है अतः परकीया रमणी आपको ग्रहण करने में तो मैं सर्वथा असमर्थ हूं। तथापि अर्थात् यद्यपि तुमने इस प्रकार के प्रमाण मेरे परिचय के लिये उपस्थित किये हैं तथापि मैं इदं अर्थात् तुम्हारे परिणय की बात, न लक्षये अर्थात् स्मरण नहीं कर पा रहा हूं । कहने का तात्पर्य यह कि तुम्हारे द्वारा उपस्थित प्रमाणों से भी मुझे इतना तो सब स्मरण हो रहा है कि मैं मृगया प्रसंग से मुनिजनों के यज्ञ की रक्षा के लिये काश्यप के आश्रम में गया था और वहाँ कुछ काल तक निवास किया था परन्तु वहीं मैंने तुमसे विवाह किया था इस बात का तो मुझे बिल्कुल स्मरण नहीं है अतः मैं तुम्हें ग्रहण करने में असमर्थ हूँ ।

शकुन्तला—अच्छा, तो तुमने यह ठीक ही किया जो मुझे स्वच्छन्द विहारिणी दुश्चरित्रा (वेश्या) प्रमाणित कर दिया, (क्रोधावेश में शकुन्तला ने यह वाक्य कहा है, यहाँ विपरीत लक्षणा है) "उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते" इत्यादि उदाहरण के समान यहाँ लक्षणा सहकार से **स्वच्छन्दचारिणी का अर्थ है गुरुजनमतानुचारिणी** परम पतिव्रता न कि स्वच्छन्द विहारिणी गणिका) क्योंकि मैं पुरुवंश जैसे उच्चकुल के विश्वास में आकर तुम जैसे नीच प्रतारणापटु पुरुष के हाथ में जा पड़ी थी जिसकी कि मुख में तो मधु है और हृदय में विष भरा हुआ है । तात्पर्य यह कि तुम जैसे वञ्चक, अतिनृशंस पुरुष से मुझ जैसी सती के लिये स्वच्छन्द चारिणी द्योतित होने के अतिरिक्त और क्या मिलना था, यह तो मेरा ही अपराध था जो कि मैं तुम्हारे वश में तथा तुम्हारी ऊपरी मीठी मीठी बातों में आकर तुम्हारे जाल में फंस गई, और उसका फल भी पाया । (ऐसा कर कह कर वह आँचल से मुख ढक कर रोने लगती है) ।

शाङ्गरव—जो काम बिना समझे बूझे मन की चंचलतावश कर डाला

शार्ङ्गरवः—इत्थमात्मकृतं प्रतिहतं चापलं दहति ।
अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात्संगतं रहः ।
अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरीभवति सौहृदम् ॥ २४ ॥

जाता है और जब भविष्य में उसमें बाधा पड़ती है। तो वह इसी प्रकार दुःखदायी होता है।

श्लोक २४ अन्वय अतः संगतं परीक्ष्य कर्तव्यं रहः (संगतं तु) विशेषात् (परीक्ष्य) कर्तव्यम्, अज्ञातहृदयेषु सौहृदं एवं वैरीभवति।

शब्दार्थ—संगतम् = मेल, मित्रता, प्रेम। रहः सङ्गतं = एकान्त प्रेम अर्थात् एकान्त में किया गया गान्धर्वादि विवाह—फलस्वरूप पुरुष संगमन, परीक्ष्य = शील कुलाचारादि साधुता का पूर्णरूप से निर्धारण कर, विशेषात् = विशेष रूप से, अज्ञातहृदयेषु = जिसके हृदय का कुछ पता न हो, सौहृदं = प्रणय, वैरीभवति = विद्वेष का कारण होता है।

अनुवाद—अतः प्रेम, शीलकुलाचारादि साधुता की परीक्षा करके करना चाहिए, किन्तु एकान्त प्रेम अर्थात् परिणायादि फलस्वरूप पुरुष संगमन तो विशेष रूप से परीक्षा करके (ही) करना चाहिए, जिसके हृदय का पता न हो ऐसे व्यक्तियों पर (किया गया) प्रणय इसी प्रकार विद्वेष का अर्थात् पश्चाताप का कारण होता है।

व्याख्या—प्रेम जान बूझ कर करना चाहिए परन्तु एकान्त पुरुषसंगमनादि तो विशेष रूप से उसके कुल शीलादि का पूर्ण निश्चय करने के बाद ही करना उचित है क्योंकि यदि ऐसे पुरुष से प्रणय किया जाता है जिसके हृदय का कुछ पता न हो तो वह प्रणय, इसी तरह जैसा कि अब तुम्हारे सम्बन्ध में घटित हो रहा है, विद्वेष का कारण होता है। अर्थात् ऐसा प्रेम शत्रुता में परिणत हो जाता है।

विशेष—यहाँ प्रस्तुत विशेष शकुन्तला के संगमन को न बता कर जो अप्रस्तुत सामान्य संगमन मात्र का कथन किया गया है अतः **अप्रस्तुतप्रशंसालंकार** है तथा उत्तरार्ध में वैधर्म्य रूप से सामान्य के द्वारा विशेष का समर्थन किया गया है अतः **अर्थान्तरन्यासालंकार** है। पूर्वार्ध के प्रति परार्धगत वाक्यार्थ हेतु है अतः **वाक्यार्थ हेतुक काव्यलिङ्ग** अलंकार है। **पथ्यावक्त्रं छन्द है।**

एतद् शब्दात् तसिल् अतः, परि + ईक्ष + क्त्वा—ल्यप् = परीक्ष्य, सम् + गम् + भावे क्त = संगतम्।

संस्कृत व्याख्या—अतोऽस्माद्धेतोः संगतं मैत्र्यं परीक्ष्य = कुलशीलादिकं परिज्ञाय कर्तव्यं रहः = एकान्ते संगतं विशेषात् विशेषरूपेण परीक्ष्य कर्तव्यमित्यनुषज्यते। अज्ञातं = अपरीक्षितं हृदयं मनो येषां तेषु—अज्ञातहृदयेषु = व्यवहारादिनाज्ञातकुल-

राजा—अयि भोः किमत्रभवतीप्रत्ययादेवास्मान्संयुतदोषाक्षरैः क्षिणुथ।

शाङ्‌र्गरव—(सासूयम्।) श्रुतं भवद्भि रधरोत्तरम्।

आ जन्मनः शाठ्यमशिक्षितो य-
स्तस्याप्रमाणं वचनं जनस्य।
परातिसंधानमधीयते यै-
र्विद्येति ते सन्तु किलाप्तवाचः॥ २५॥

शीलसदाचारादिषु जनेषु सौहृयं संगमनम् एवमित्थं त्वद्वृत्तान्तवत् वैरीभवति विद्वेषायैव कल्पते। उक्ता अलंकारादयः। पथ्यान्त्रं वृत्तम्।

राजा—सुनिये, तो महानुभाव ! आप इन देवी के ही वचनों का विश्वास करके क्यों इन दोषाधायक (सदोष) क्रूर वचनों से हम पर दोष लगा रहे हैं। अत्रभवती—पूजार्हा शकुन्तला, यह शब्द गम्भीर **आक्षेपसूचक** है, तात्पर्य यह कि तुम्हारे लिये भले ही यह पूजार्हा हो पर मेरे लिए तो नहीं, अर्थात् जिसे आप पवित्र मानते हैं उसी के विश्वास मात्र से, **एवं शब्द से** कवि का तात्पर्य है कि जो हम लोग इतने सत्यवादी प्रसिद्ध पुरुवंशोत्पन्न, धर्मनिष्ठ, देवराज से भी उपचार प्राप्त करने वाले हैं उसका तो विश्वास न करके केवल इसका ही विश्वास करके, संयुक्त दोषाक्षरैः—अर्थात् ऐसे वचनों द्वारा जो कि पूर्णरूप से दोष संयुक्त है ; क्षिणुथ—हिंसा करते हो, व्यथित करते हो। सारांश यह कि यह रमणी ही जिसे तुम पवित्र मानते हो, अन्य पुरुष संसर्ग से गर्भ प्राप्त कर, यहाँ आकर बातें बना कर, इस दोष को मेरे सिर मढना चाहती है अतः प्रतारिका यही है मैं नहीं, आप मुझ पर व्यर्थ ही दोषारोपण क्यों कर रहे हैं।

शाङ्‌र्गरव—(सासूयम्—गुणों पर दोषारोपण करना असूया कहलाता है, वास्तव में शापवश ही राजा भूल गया था इसमें कोई उसका कोई अपराध नहीं था परन्तु इस बात को न जान कर शाङ्‌र्गरव गुणवान् भी राजा पर दोषारोपण करता हुआ कह रहा है अतएव यहाँ पर 'सासूयम्' का कवि ने प्रयोग किया है) अर्थात् असूया पूर्वक पुरोहितादि सभ्यजनों को उद्देश्य करके कहता है—सुनी ! आप लोगों ने इनकी नीच बातें ! इन्होंने इस कन्या को कैसा हीन उत्तर दिया है क्योंकि :—

श्लोक २५ अन्वय—यः आजन्मनः शाठ्यं अशिक्षितः तस्य जनस्य वचनं अप्रमाणं यैः परातिसन्धानं विद्या इति अधीयते ते किल आप्तवाचः सन्तु।

शब्दार्थ—आजन्मनः—जन्म से लेकर, शाठ्यं—धूर्तता—बञ्चना, परातिसन्धानं—**परवञ्चना** विद्येति—विद्यारूप से अर्थात् जो राजा लोग, सत्सम्प्रदायावलम्बी **सद्गुरु से सुदिन** में सुमङ्गलाचार पूर्वक नियतात्मा बन कर सद् विद्या ही मान कर निरन्तर परप्रतारणा का सम्यक् अध्ययन करते हैं, शिक्षा मात्र ही नहीं लेते। ते किल आप्तवाचः—वे सत्यवादी हैं, उनके वचन विश्वसनीय हैं।

अनुवाद—जिस व्यक्ति ने (शकुन्तला ने) जन्म से लेकर अब तक शठता करना नहीं सीखा उस व्यक्ति के वचन तो अप्रमाण हैं असत्य हैं पर प्रतारण का विद्या की भाँति अध्ययन करते हैं उसका वचन सत्य माना जाय।

व्याख्या—जिस व्यक्ति ने (शकुन्तला ने) जन्म से लेकर अब तक शठता करना न जाना हो उस व्यक्ति के वचन तो अप्रमाण है, असत्य हैं, अविश्वसनीय हैं, परन्तु यहाँ वे ही सत्यवादी तथा विश्वासपात्र हैं जिन्होंने परप्रतारण का विद्या की भाँति निरन्तर अध्ययन किया है। अर्थात् जिसने कभी छल प्रपञ्च का नाम भी न सुना हो उसका कथन को मिथ्या माना जाय, और जिसने सदा परप्रतारणा का ही अभ्यास किया हो वह सत्यवादी माना जाय। केवल प्रामाणिक ही नहीं प्रत्युत ऐसे प्रतारणापटु व्यास गौतम की भाँति आप्त वचन भी माने जाय। इससे अधिक अन्याय और क्या हो सकता है।

शार्ङ्गरव की यह सोल्लुण्ठनोक्ति है जिसका तात्पर्य यह है कि वास्तव में सभी छल प्रपंचों से रहित शकुन्तला के ही वचन सत्य हैं न कि इस राजा के जिसने जन्म भर परवञ्चना का ही अभ्यास किया है।

यहाँ प्रस्तुत विशेष शकुन्तला दुष्यन्त न कह कर जो जनः आदि सामान्य अप्रस्तुत का कथन किया गया है इससे वैधर्म्यप्रयुक्त **अप्रस्तुत प्रशंसा** है। परातिसन्धान पर तादात्म्येन विद्यात्व का आरोप किया गया है अतः **रूपकालंकार** है। अथवा काकु द्वारा '**तस्य वचनं अप्रमाणं** ? अपि तु न, ते आप्तवाचः ? अपि न, इस प्रकार साधर्म्य प्रयुक्त भी अप्रस्तुत-प्रशंसालंकार हो सकता है। **अनुप्रास**। यहाँ असूयादि भाव हैं, **उपजाति छन्द** है।

तृतीय चरण में उपेन्द्रवज्रा तथा शेष चरणों में इन्द्रवज्रा के मेल से यह चतुर्थ प्रकार की उपजाति है। "सुष्ठु तावदत्र से यहाँ तक **द्रव** नामक **सन्ध्यङ्ग** निर्दिष्ट किया गया है। गुरु **व्यतिक्रमो यस्तु विज्ञेयोऽथ द्रवस्तु सः**" अर्थात् जहाँ वस्तु में बहुत बड़ा व्यतिक्रम देखा जाय।

"भोः सत्यवादिन् से न श्रद्धेयम् तक **अक्षमा नाम नाट्यालंकार** है **अक्षमा सा परिभवः स्वल्पोऽपि न विषह्यते**"

जन्म अभिव्याप्य अत्रा व्ययीभावः, शठस्य भावः शाठ्यम्। अति+सम्+धा+ल्युट्=अतिसन्धानम्। अधि+इङ् अध्ययने यकि लटिरूपम् अधीयते। आप्+क्त=आप्तम्।

संस्कृत व्याख्या—यो जनः (शकुन्तला रूपः) आजन्मनः=जन्मनः आरभ्य शाठ्यं परप्रतारणचातुर्यं, अशिक्षितः=दुर्जनसम्पर्काभावात् वन-निवासत्वाच्चानुपदिष्टः तस्य जनस्य शकुन्तलाया इत्यर्थः वचनं अप्रमाणं प्रमाणरहितत्वादश्रद्धेयम् यैः पुनः नृपादिभिः परातिसन्धानं परवञ्चनं विद्येति=विद्यारुपत्वेन, अधीयते पठ्यते ते—आप्ता वाग् येषां ते—आप्तवाचः प्रामाणिकाः सन्तु नाम—इति सम्भा-

राजा—भोः सत्यवादिन् ! अभ्युपगतं तावदस्माभिरेवम् । किं पुनरिमामतिसंधाय लभ्यते ? !

शार्ङ्गरव—विनिपातः ।

राजा—विनिपातः पौरवैः प्रार्थ्यत इति न श्रद्धेयम् ।

शारद्वत—शार्ङ्गरव ! किमुत्तरेण; अनूष्ठितो गुरोः संदेशः । प्रतिनिवर्तामहे वयम् । (राजानं प्रति ।)—

तदेषा भवतः कान्ता त्यज वैनां गृहाण वा ।
उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी ॥ २६ ॥

गौतमि ! गच्छाग्रतः ।

(इति प्रस्थिताः ।)

शकुन्तला—कहं इमिणा किदवेण विप्पलद्ध म्हि । तुम्हे वि मं परिच्चअह ? ।

वनायाम् । कन्यावचनमप्रमाणं राजवचनन्तु प्रमाणमित्याश्चर्यमिति भावः । अलंकारादय उक्ताः, चतुर्थीउपजातिः ।

राजा—(मुनि जनों द्वारा इस प्रकार तिरस्कृत होकर राजा उपहास पूर्वक कहता है :—अच्छा सत्यवादी महाशय ! माना कि हम लोग ऐसे ही हैं अर्थात् धोकेबाज हैं, पर (जरा यह तो बताइये कि) इस (बेचारी) को धोखा देकर मुझे मिल ही क्या जायगा ? । तात्पर्य यह कि "स्वार्थं बिना मन्दोऽपि न प्रवर्तते" इस न्याय के अनुसार प्रतारणा भी तो किसी न किसी फलाकाङ्क्षा ही से की जाती है परन्तु इस बेचारी वनवासिनी तपस्विनी शकुन्तला को वञ्चित कर मुझे क्या मिल जायगा अतः इसके लिये तो कम से कम प्रतारणा मैं नहीं करूंगा । अतः स्पष्ट है कि आप जितने सत्यवादी हैं । अभ्युपगतं=स्वीकृतम् ।

शार्ङ्गरव—अधोगति, विध्वंस, सर्वनाश । तात्पर्य यह कि यदि आप प्रतारणा का फल पूँछते हैं तो मैं यह कहूंगा कि ऐसी सती रमणी की प्रतारणा का फल है नरक पतन ।

राजा—पुरुवंशी पतन की ओर जाना चाहेंगे, इस बात पर किसी को विश्वास ही नहीं हो सकता ।

शारद्वत—शार्ङ्गरव ! अब उत्तर प्रत्युत्तर से क्या लाभ अथवा अब इस शुष्क कलह से कोई लाभ नहीं । हम लोगों ने अपने गुरु का सन्देश पूरा कर दिया—हम लोग गुरु की आज्ञानुसार जो सन्देश लेकर आये थे वह हम इनको दे चुके, और अब वापस जा रहे हैं । (राजा को उद्देश्य करके कहता है)

श्लोक २६ अन्वय—तद् एषा भवतः कान्ता एनां त्यज गृहाण वा, दारेषु सर्वतोमुखी प्रभुता उपपन्ना ।

[कथमनेन कितवेन विप्रलब्धास्मि ? यूयमपि मा परित्यजथ ? ।]
(इत्यनुप्रतिष्ठते ।)

गौतमी—(स्थित्वा ।) वच्छ संगरव ! अणुगच्छदि इअं खु णो करुण परिदेविणी सउंदला । पच्चादेसपरुसे भत्तुणि किं वा मे पुत्तिआ करेदु ?
[वत्स शार्ङ्गरव ! अनुगच्छतीयं खलु नः करुणपरिदेविनी शकुन्तला । प्रत्यादेशपरुषे भर्तरि किं वा मे पुत्रिका करोतु ?]

शार्ङ्गरवः—(सरोषं निवृत्य ।) किं पुरोभागे ! स्वातन्त्र्यमवलम्बसे ?
(शकुन्तला भीता वेपते ।)

शार्ङ्गरवः—शकुन्तले !

शब्दार्थ—कान्ता=पत्नी, प्रभुता=अधिकार, उपपन्ना= प्राप्त है ।

अनुवाद—यह (पुरः स्थित) शकुन्तला, आपकी पत्नी है, आप चाहे इसे ग्रहण करें या त्याग दें, क्यों कि पत्नियों पर (पतिजनों की) पूर्ण प्रभुता (अधिकार) होती है ।

व्याख्या—यह (पुरः स्थित) शकुन्तला आपकी पत्नी है (आपने ही गान्धर्व विधि से इसके साथ विवाह किया था, आपको पर पत्नी की आशङ्का न करनी चाहिए) आप चाहे इसे गृहण करें या त्याग दें, क्योंकि स्त्रियों पर पति का पूरा अधिकार होता है । अर्थात् पति उसे त्याग सकता है, दण्ड दे सकता है, स्वीकार कर सकता है, स्वेच्छानुसार बर्ताव कर सकता है मुझे कुछ भी कहने का अवसर नहीं । सामान्य से विशेष समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है । पथ्या वक्त्र नामक छन्द है ।

संस्कृत व्याख्या—एषा पुरोवर्तमाना शकुन्तला भवतः (दुष्यन्त) पत्नी, एनां गृहाण=स्वीकुरुष्व, त्यज=परित्यज वा हि यतः दारेषु पत्नीषु (पत्युः) सर्वतोमुखी सर्वतोभावेन त्यागे दाने स्वीकारे ताडने वा प्रभुता=पूर्णाधिकारः उपपन्ना—समुपयुक्ता । तेन यथेच्छ समाचर, नास्माकमत्र वचनावसर इत्याशयः । अर्थान्तरन्यासः, पथ्यावक्त्रम् वृत्तम् ।

(चलो गौतमी ! आगे आगे चलो ।)
(यह कह कर सब प्रस्थान करते हैं ।)

शकुन्तला—इस धूर्त ने मुझे कैसा धोखा दिया है ? अर्थात् इस वञ्चक ने तो मुझे छला ही है तो क्या आप लोग भी छोड़ रहे हैं ? (यह कह कर पीछे-पीछे चलने लगती है)

गौतमी—(रुक कर) पुत्र शार्ङ्गरव ! यह करुणा पूर्वक विलाप करती हुई शकुन्तला हम लोगों के पीछे-पीछे ही आ रही है । बताओ ! इस प्रकार पति

यदि यथा वदति क्षितिपस्तथा
त्वमसि किं पितुरुत्कुलया त्वया ।
अथ तु वेत्सि शुचि व्रतमात्मनः
पतिकुले तव दास्यमपि क्षमम् ।। २७ ।।

द्वार' निर्दयता पूर्वक ठुकराई हुई मेरी बच्ची अब और क्या करे **अर्थात्** सिवा हम लोगों के पीछे-पीछे आने के लिये और साधन ही क्या है ?

शार्ङ्गरव—(क्रोध पूर्वक मुड़कर) अरी दुष्टे ! अब तू क्या स्वच्छन्दता का अवलम्बन करना चाहती है ? तात्पर्य यह कि हम लोगों की अनुमति के बिना ही हमारे पीछे-पीछे आकर तू इस प्रकार मनमानी क्यों कर रही है अर्थात् तुझे पति के आश्रय में रहना चाहिए, मेरे साथ न आना चाहिए क्योंकि **"पिता रक्षित कौमारे भर्ता रक्षित यौवने, पुत्रश्च स्थविरे भावे, न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति"** इस वचन के अनुसार युवती कन्या का रक्षक उसका पति होता है तुझे वहीं रहना चाहिए। पुरोभागे =दोषदर्शिनी अर्थात् **अनुचित मार्ग का अवलम्बन करने वाली ।**

(शकुन्तला डर कर कांपने लगती है)

शार्ङ्गरव—शकुन्तले !

श्लोक २७ अन्वय—क्षितिपः यथा वदति यदि त्वं तथा असि (तदा) पितुः उत्कुलया त्वया किम्; अथ तु आत्मनः व्रतं शुचि वेत्सि पतिकुले तव दास्यं अपि क्षमम् ।

शब्दार्थ—पितुः उत्कुलया त्वया किम्=पिता काश्यप की कुलाचार पद्धति का उल्लंघन करने वाली पांसुला तुझ से क्या अर्थात् यदि तू राजा के कथनानुसार दुष्यन्त द्वारा परिणीत नहीं है, और किसी दूसरे को तूने पति रूप में वरण किया हो ऐसा भी नहीं सुना गया है और फिर भी तू गर्भवती है इस प्रकार यदि तू पांसुला दुश्चरित्रा व्यभिचारिणी है, अपने पितृ कुल के आचार का उल्लंघन करने वाली है तो तुझ से हम लोगों को कोई प्रयोजन नहीं, तू अपनी इच्छानुसार जो चाहे कर, हमारे पीछे-पीछे मत आ । व्रतम्=नियमाचरण, शुचि=पवित्र, वेत्सि=समझती है, क्षमं=योग्य ।

अनुवाद—राजा दुष्यन्त जैसा करते हैं यदि तू वैसी ही है तो पिता की कुलाचार पद्धति का उल्लंघन करने वाली अर्थात् पांसुला दुश्चरित्रा तुझ से क्या, अर्थात् हम लोगों को कोई प्रयोजन नहीं, और यदि तू अपने आचरण को पवित्र जानती है तो पतिकुल में तेरी दासता भी उचित है ।

व्याख्या—जैसा कि महाराज दुष्यन्त कहते हैं यदि तू वास्तव में वैसी ही है अर्थात् दुष्यन्त द्वारा परिणीत नहीं है, तो पिता की कुल मर्यादा का उल्लंघन करने वाली तुझ से हमें क्या प्रयोजन ? और यदि तू अपने नियमाचरण को शुद्ध समझती

तिष्ठ; साधयामो वयम् ।

राजा—भोस्तपस्विन् ! किमत्रभवतीं विप्रलभसे ? ।

कुमुदान्येव शशाङ्कः सविता बोधयति पङ्कजान्येव ।
वशिनां हि परपरिग्रहसंश्लेषपराङ् मुखी वृत्तिः ॥ २८ ॥

शार्ङ्गरवः—यदा तु पूर्ववृत्तमन्यसंगाद्विस्मृतो भवाँस्तदा कथमधर्मभीरुः ? ।

है अर्थात् अन्य पुरुष के संसर्ग से दूर, निष्पाप है तो पति के गृह में तेरी दासता भी उचित है अर्थात् परिणय में सन्देह होने से पत्नी रूप में स्वीकृत न होने पर भी, दासी भाव से ही तेरा पति गृह में रहना सर्वथा उचित है, क्योंकि इससे लोकापवाद तो न होगा अतः तुझे यहीं रहना चाहिए ।

विशेष—पितुः उत्कुलया=का यह भी अर्थ है कि कुलमर्यादा का अतिक्रमण करने वाली तेरा पिता के घर में क्या काम, अथवा तुम उत्कुला से पिता का क्या प्रयोजन। काव्यलिङ्ग, अनुप्रास, द्रुतविलम्बित छन्द है **"द्रुतविलम्बित माह न भौ भरौ"** इस लक्षणानुसार इस छन्द में नगण भगण-भगण रगण क्रम से १२ वर्ण होते हैं:=

नगण	भगण	भगण	रगण
। । ।	ऽ । ।	ऽ । ।	ऽ । ऽ
यदि य,	था व द,	ति क्षि ति,	पस्त दा।

संस्कृत व्याख्या—क्षितिपः राजा दुष्यन्तः, यथा वदति—कथयति, यदि त्वं तथा=दुष्यन्तेनापरिणीता स्वैरिणी संवृत्तासि तदा कुलादुद्गता उत्कुला तया—उत्कुलया कुलटया—स्वैरिण्या त्वया शकुन्तलया पितुः काश्यपस्य किं न किमपि प्रयोजनमित्यर्थः । अथ तु यदि वा आत्मनः स्वकीयस्य व्रतं=नियमाचरणं शुचि पवित्रं वेत्सि जानासि यदि याथार्थ्येन दुष्यन्तमेव स्वपतिं प्रमाणी करोसि नान्यमिति भावः तदा पतिकुले स्वपत्युः दुष्यन्तस्य गृहे तव दास्यं दासभावेनावस्थानमपि क्षमं युक्त मुचितमिति । अतएव त्वया अत्रैव स्थातव्यम् नास्माननुसरेति भावः । उक्ता अलङ्कारादयः । द्रुतिविलम्बितं वृत्तम् ।

(तू यहीं ठहर, हम चलते हैं)

राजा—हे तपस्वी ! आप इस देवी को क्यों धोखे में डाल रहे हैं ? अर्थात् आप इसे छोड़ कर क्यों जा रहे हैं, मैं इसे ग्रहण नहीं करूँगा । क्योंकि :—

श्लोक २८ अन्वय : —शशांकः कुमुदानि एव, सविता पङ्कजानि एव बोधयति, हि वशिनां वृत्तिः परपरिग्रहसंश्लेषपराङ्मुखी ।

शब्दार्थ—बोधयति=उन्मीलित करता है—विकसित करता है, वशिनां=जितेन्द्रियों की, वृत्तिः=मनोवृत्ति, परपरिग्रहसंश्लेषपराङ्मुखी=पर स्त्री संस्पर्श से विमुख ।

अनुवाद—चन्द्रमा कुमुदिनियों को ही (और) सूर्य कमलों को ही विकसित करता है। क्योंकि जितेन्द्रिय पुरुषों की मनोवृत्ति परस्त्री के संस्पर्श से पराङ्मुखी होती है।

व्याख्या—चन्द्रमा कुमुदिनियों को ही विकसित करता है कमलों को नहीं सूर्य कमलों को ही विकसित करता है कुमुदिनियों को नहीं, क्योंकि जितेन्द्रिय पुरुषों की मनोवृत्ति सदा परकलत्र के स्पर्श से विमुख रहती है अर्थात् जितेन्द्रिय पुरुष पराई स्त्री को छूनें तक की इच्छा नहीं करते। अतएव मैं भी उस तपस्वी शकुन्तला का स्पर्श तक नहीं कर सकता।

विशेष :—परपरिग्रहेत्यादि :—जितेन्द्रिय पुरुष परकलत्र पराङ्मुख ही नहीं प्रत्युत पर कलत्र श्लेष पराङ्मुख भी होते हैं, श्लेष मात्र नहीं अपितु परकलत्र संश्लेष पराङ्मुख होते हैं।

यहाँ दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला के अङ्गीकार रूप विशेष के प्रस्तुत होने पर भी जो अप्रस्तुत सामान्य का कथन है अतः **अप्रस्तुत प्रशंसालंकार है**, पूर्वार्ध में वैधर्म्य प्रयुक्त **मालादृष्टान्तालंकार**, बोधयति इस एक क्रिया से अप्रस्तुत शशाङ्क सविता दोनों कर्तृत्वेन सम्बद्ध है अतः **तुल्ययोगितालंकार** है, सामान्य से विशेष समर्थन रूप **अर्थान्तरन्यास है, छेक वृत्ति अनुप्रास**। आर्या जाति।

संस्कृत व्याख्या:—शशाङ्कः चन्द्रः कुमुदानि=कैरवसमूहानि, एव, न तु कमलानि, सविता पङ्कजानि कमलानि एव न तु कुमुदानि बोधयति उन्मीलयति हि यतः वशिनां=जितेन्द्रियाणां वृत्तिः=मनोवृत्तिः परेषां अन्येषां परिग्रहाणां पत्नीनां संश्लेषे संस्पृष्टे पराङ्मुखी विमुखा परपरिग्रहसंश्लेषपराङ्मुखी भवति अतो नाह मेनां स्वीकरिष्यामीति भावः। उक्ताः अलंकाराः, आर्या जातिः।

शाङ्र्गरव :—जब आप अपनी अन्य रानियों के संसर्ग से अपनी पहली बात को (शकुन्तला के साथ परिणय को) भूल गये हों, तो आपको अधर्म से डर ही क्या अर्थात् जब अपनी परिणीता पत्नी को ही भूल गये और उसका परित्याग कर दिया जो कि सबसे बड़ा अधर्म है तब आपको अधर्म का डर कैसा ? अगर अधर्म ही से डरते तो पत्नी का परित्याग कभी न करते अतः क्यों व्यर्थ ही धर्म की दुहाई दे रहे हो। अन्य सङ्गात् का अर्थ है अन्य = अलौकिक शाप आदि के सङ्ग, अथवा अन्य पत्नियों के सङ्ग से, अथवा अन्य अर्थात् राजलक्ष्मी के सङ्ग से। वास्तव में शाङ्र्गरव का आशय है कि पत्नी का त्याग बड़ा अधर्म है तुम्हें इसका त्याग न करना चाहिए।

राजा—(पुरोहित से) अब मैं इस सम्बन्ध में आप से ही गुरुलाघव की बात पूँछता हूँ अर्थात् इसके अस्वीकार करने या न करने में क्या बलाबल है कौन सा काम उचित और कौन सा अनुचित है।

राजा—(पुरोहितं प्रति ।) भवन्तमेवात्र गुरुलाघवं पृच्छामि :

मूढः स्यामहमेषा वा वदेन्मिथ्येति संशये ।
दारत्यागी भवाम्याहो परस्त्रीस्पर्शपांसुल ॥ २९ ॥

पुरोहित :—(विचार्य ।) यदि तावदेवं क्रियताम् ।

राजा—अनुशास्तु मां भवान् ।

पुरोहितः—अत्रभवती तावदा प्रसवादस्मद्गृहे तिष्ठतु । कुत इदमुच्यत इति चेत् । त्वं साधुभिरुद्दिष्टः प्रथममेव चक्रवर्तिनं पुत्रम् जनयिष्यसीति । स चेन्मुनिदौहित्रस्तल्लक्षणोपपन्नो भविष्यति, अभिनन्द्य शुद्धान्तमेनां प्रवेशयिष्यसि । विपर्यये तु पितुरस्याः समीपनयन मवस्थितमेव ।

श्लोक २९ अन्वय—अहं मूढः स्याम् वा एषा मिथ्या वदेत् इति संशये अहं दारत्यागी भवामि आहो परस्त्रीस्पर्शपांसुलः ।

शब्दार्थ—मूढः=मोहग्रस्त अर्थात् बहुतर राज्य कार्य में व्यस्त रहने के कारण विवाह वृत्तान्त को भूल गया हूँ । आहो=अथवा । परस्त्रीस्पर्शपांसुलः=परदार संसर्ग से कलंकित ।

अनुवाद :—मैं ही मूढ अर्थात् गत बात भूल जाने वाला हूँ अथवा यह शकुन्तला झूँठ बोलती है । इस बात के संशय में मैं पत्नी त्यागी बनूँ अथवा परस्त्री के स्पर्श से कलंकित बनूँ ।

व्याख्या—मैं ही राज्य कार्य में व्यस्त रहने के कारण पिछली बात भूल गया हूँ या यह शकुन्तला ही झूंठ बोल रही है इस प्रकार की द्विविधा में मैं पत्नी का त्याग करूं अथवा परकलत्रस्पर्श के पाप से कलंकित बनूँ अर्थात् अपनी विधिवत् परिणीता भार्या के परित्याग का पाप लेकर अपने को कलङ्कित करूँ अथवा पराई स्त्री के स्पर्श का पाप सिर पर लूँ, क्या करना चाहिए । राजा का वास्तव में इस कथन से यह अभिप्राय है कि द्विविधा की दशा में तो परस्त्री के ग्रहण करने की अपेक्षा पत्नी त्याग ही श्रेष्ठ है क्योंकि ऐसा करने से अपेक्षाकृत कम पाप होगा ।

वितर्क—मति भाव हैं । **पथ्यावक्त्र छन्द है** । भोः सत्यवादिन् से यहाँ तक विरोधन नामक अंग **है उत्तरोत्तरवाक्यं तु विरोध इति सञ्ज्ञितः ।**

संस्कृत व्याख्या—अहं मूढः—मोहग्रस्तः स्यां भवेयम्, वा अथवा एषा शकुन्तला मिथ्या वदेत् कथयेत् इति संशये, इयं मिथ्याभाषिणी, अहं वा मूढ इति संशये दारत्यागी=स्वपत्नीपरित्यागपापकलङ्कितः (भवामि) आहो—उताहो परस्य स्त्रियः स्पर्शेन पांसुलः कलङ्कितः परस्त्रीस्पर्शपांसुलः परदारसंसर्गदूषितो वा स्याम् इति । पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ।

पुरोहित—(सोचकर) यदि ऐसा है तो इस प्रकार कीजिए ।

राजा—यथा गुरुभ्यो रोचते ।

पुरोहित—वत्से ? अनुगच्छ माम् ।

शकुन्तला—भअवदि वसुहे । देहि मे विवरं [भगवति वसुधे ! देहि मे विवरम्] (इति रुदती प्रस्थिता । निष्क्रान्ता सह पुरोधसा तपस्विभिश्च ।)

(राजा शापव्यवहितस्मृतिः शकुन्तलागतमेव चिन्तयति ।)

(नेपथ्ये ।)

आश्चर्यम् ।

राजा—(आकर्ण्य ।) किं नु खलु स्यात् ? ।

(प्रविश्य ।)

राजा—आप मुझे आज्ञा दें ।

पुरोहित—देवी शकुन्तला सन्तानोत्पत्ति काल पर्यन्त मेरे घर में रहें, यदि आप पूछें ऐसा क्यों तो इसलिए कि ऋषि मुनियों ने यह आपको आशीर्वाद दिया था कि आप पहिले ही चक्रवर्ती पुत्र को जन्म देंगे अर्थात् आपका प्रथम पुत्र चक्रवर्ती होगा ।

चक्रवर्ती का लक्षण है :—

"यस्य पादतले पद्मं चक्रं वाप्यथ तोरणाम्,
अङ्कुशं कुलिशं वापि स राजा भवति ध्रुवम् ।
आजानुलम्बिनौ वाहू वृत्तौ पीनौ नृपेश्वरे"।।

अतः यदि वह कण्व मुनि का पौत्र (जो कि मुनि कन्या शकुन्तला से उत्पन्न होगा) चक्रवर्ती के लक्षणों से युक्त होगा तब तो आप इनको आदर के साथ रनिवास में रख लीजियेगा और यदि इसके विपरीत हुआ तब तो इनका इनके पिता के पास भेज देना निश्चित ही है ।

राजा—जैसा गुरूजी को उचित जान पड़े, वैसा करें ।

पुरोहित—पुत्री ! मेरे पीछे आओ ।

शकुन्तला—भगवती वसुन्धरा । मुझे स्थान दे अर्थात् तू फट जा जिससे उसके छेद में मैं प्रविष्ट हो जाऊं । (यह कह कर रोती हुई प्रस्थान करती है । तपस्वियों और पुरोहित के साथ बाहर जाती है ।)

(शापवश तिरोहित स्मृति वाला राजा शकुन्तला विषयक वृत्तान्त को ही सोचता रह जाता है ।

(नेपथ्य में)

आश्चर्य है, आश्चर्य है ?

पुरोहितः—(सविस्मयम् ।) देव ! अद्भुतं खलु संवृत्तम् ।

राजा—किमिव ? ।

पुरोहित : । देव । परावृत्तेषु कण्वशिष्येषु

सा निन्दन्ती स्वानि भाग्यानि बाला
बाहूत्क्षेपं क्रन्दितुं च प्रवृत्ताः ।

राजाः—किं च ?

पुरोहितः—

स्त्रीसंस्थानं चाप्सरस्तीर्थमारा-
दुत्क्षिप्यैनां ज्योतिरेकं जगाम ॥ ३० ॥

राजा—(सुन कर) अरे, क्या हुआ ?

(प्रवेश करके)

पुरोहित—(बड़े विस्मय पूर्वक) महाराज ! बड़ी अदभुत बात हो गई ।

राजा—कैसी ?

पुरोहित—महाराजा ! कण्व के शिष्यों के लौट जाने पर

श्लोक ३० अन्वय—सा बाला स्वानि भाग्यानि निन्दन्ती (सती) वाहूत्क्षेपं क्रन्दितुं प्रवृत्ता च । (श्लोक का पूर्वार्ध मात्र)

शब्दार्थ—सा बाला=पति तथा बन्धु जनों से परित्यक्त अतएव अशरण वय च बाला अर्थात् स्व कर्तव्य को न समझने वाली । स्वानि भाग्यानि=अपने अदृष्टों की, अर्थात् परिणय काल में दुष्यन्त द्वारा प्रति ज्ञात राजमहिषी पद प्राप्त आदि, पितृ कुल वात्सल्य एवं आशीर्वादादि अदृष्ट । वाहूत्क्षेपं=बाहें उठा-उठा कर, रोदितुं प्रवृत्ता=रोना आरम्भ किया ।

अर्थ—अशरण उस बाला शकुन्तला ने अपने अदृष्टों को कोसती हुई, भुजायें उठा उठा कर रोना आरम्भ किया ।

बाला होने ही के कारण भुजायें फलाकर रोती थी अथवा शोकावस्था में इस प्रकार रोदन की एक पद्धति विशेष है ।

राजा—और !

पुरोहित—उत्तरार्ध का अन्वय :—स्त्रीसंस्थानं एकं ज्योतिः एनां (अङ्के-) उत्क्षिप्य अप्सरस्तीर्थं आरात् जगाम च ।

शब्दार्थ—संस्थानं = शरीरावयव, स्त्रीसंस्थानं—स्त्री जैसे शरीरावयवों को धारण करने वाली एकं=कोई, ज्योतिः=तेजः पुञ्ज, उत्क्षिप्य उठा कर, अप्सरतीर्थम्=गंगा में जिस स्थान पर अप्सरायें आकर स्नान करती हैं वह स्थान अप्सरतीर्थ कहलाता है, आरात्=दूर से अथवा समीप से ही ।

(सर्वे विस्मयं रूपयन्ति)

राजा—भगवन् ! प्रागपि सोऽस्माभिरर्थः प्रत्यादिष्ट एव । किं वृथा तर्केणान्विष्यते ? । विश्राम्यतु भवान् ।

अनुवाद—अपने भाग्यों को कोसती हुई उस बाला ने भुजायें उठा उठा कर रोना आरम्भ किया स्त्री जैसे शरीरावयवों वाली कोई ज्योति दूर से आकर इसको उठाकर अप्सरस्तीर्थ की ओर चली गई ।

व्याख्या—उसी समय स्त्री जैसे शरीरावयवों वाली कोई ज्योति दूर से आकर इसको गोदी में उठाकर अप्सरस्तीर्थ की ओर चली गई ।

विशेष—स्त्री न कहकर स्त्री संस्थान कहने का तात्पर्य यह है कि तेज की प्रखरता के कारण वह स्पष्ट रूप से नहीं देखी जा सकती थी, अस्पष्ट रूप से कुछ कुछ स्त्री जैसी ज्ञात होती थी ।

अप्सरस्तीर्थम् यह पद ज्योतिः का भी विशेषण हो सकता है अतः अर्थ होगा अप्सरायें ही जिसका **तीर्थ अर्थात् उत्पत्ति स्थान** अथवा **योनि** हो अर्थात् अप्सरा से उत्पन्न कोई अप्सरा अथवा अप्सराओं के समान जिसका **तीर्थ=दर्शन** हो अर्थात् जो कि अप्सरा के समान दिखाई पड़ रही हो ।

स्त्री संस्थानम्=से यह ध्वनित होता कि उसे ले जाने वाली कोई स्त्री ही थी पुरुष नहीं अतः वह पर पुरुष स्पर्श से बची रही ।

क्रिया समुच्चयालंकार, स्त्री सस्थानम् में **उपमा, हेतु, अनुप्रास**, शालिनी छन्द है **"मात्तौ गौ चेच्छालिनी वेदलोकै"** अर्थात् जिस छन्द में मगण, दो तगण तथा दो गुरुवर्णों के क्रम से ११ वर्ण हों चौथे और सातवें वर्ण पर यति हो वह शालिनी छन्द होता है ।

म०	त०	त०	गु० गु०
ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ।	ऽ ऽ ।	ऽ ऽ
सा नि न्द	न्ती स्वा नि,	भा ग्या नि,	बा ला

नेपथ्ये से यहाँ तक **शक्ति नामक** अंगनिर्दिष्ट किया गया है **"विरोधप्रशमो यस्तु सा शक्तिरिति कीर्तिता"** इससे **अदभुत रस** भी **ध्वनित** होता है :—

दुर्लभाभीष्टसंप्राप्तिः खेचराणां विलोकनम्
एते यत्र विभावाः स्यु रनु संचारिणस्त्वमी
स्तम्भः स्वदेश्च रोमाञ्चः प्रलयो गद्गदं वचः
आवेगसंभ्रमौ जाडयमिति यत्रार्द्वविस्मयः
स्थायी तमद्भुतं प्राह ।

अर्थात् अदभुत रस का स्थायी भाव विस्मय है, खेचरों का दर्शनादि विभाव, आवेगादि भाव होते हैं ।

पुरोहितः—(विलोक्य) विजयस्व । (इति निष्क्रान्तः ।)

राजा—वेत्रवति ! पर्याकुलोऽस्मि । शयनभूमिमार्गमादेशय ।

प्रतीहारी—इदो इदो देवो । [इत इतो देवः ।] (इति प्रस्थिता)

राजा—

कामं प्रत्यादिष्टां स्मरामि न परिग्रहं मुनेस्तनयाम् ।
बलवत्तु दूयमानं प्रत्याययतीव मे हृदयम् ॥ ३१ ॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

पंचमोऽङ्कः

संस्कृत व्याख्या—सा बाला शकुन्तला स्वानि स्वकीयानि भाग्यानि=अदृष्टानि निन्दन्ती=अधिक्षिपन्ती सती बाहू=भुजद्वयं उत्=ऊर्ध्वं, क्षिप्त्वा-इति बाहूत्क्षेपम् णमुल प्रत्ययः) क्रन्दितुं रोदितुं च प्रवृत्ता प्रारब्धवती यतो बाला सा, अतएव (बाहूत्क्षेतं रोदितुं प्रवृत्ता—इति बालस्वभावोक्तिः । तदैव स्त्रियः संस्थानमाकृतिरिव संस्थानं यस्य तदिति स्त्रीसंस्थानं ललनाकारं, एकं केवलं ज्योतिः=तेजः पुञ्जः आरात्=दूरादागत्य एनां शकुन्तलां (अङ्के क्रोड़े,) उत्क्षिप्य निधाय, अप्सरस्तीर्थं=एतन्नामकम् प्रदेशविशेषम् लक्ष्यीकृत्य जगाम तिरोदधे । उक्ता अलंकाराः । शालिनी वृत्तम् ।

(सब आश्चर्य प्रकट करते हैं ।)

राजा—भगवान्, हमने तो उस वस्तु का पहिले से ही प्रत्याख्यान कर दिया है तो अब उस विषय में व्यर्थ तर्क-वितर्क करने से क्या लाभ होगा, अब आप विश्राम करें। तात्पर्य यह है कि जब मैंने शकुन्तला का प्रत्याख्यान ही कर दिया है तो वह अब कहाँ गई, कौन ले गया, कब और कैसे ले गया इत्यादि तर्क से क्या लाभ ?

पुरोहित—(देख कर) महाराज की जय हो (कह कर निकल जाता है)

राजा—वेत्रवती ! मैं उद्विग्न सा हो रहा हूँ । मुझे शयन घर का रास्ता बताओ ।

प्रतीहारी=इधर से आइये महाराज इधर से (चलने लगती है)

राजा—श्लोक ३१ अन्वय—कामं प्रत्यादिष्टां मुनेः तनयां परिग्रहं न स्मरामि, तु बलवत् दूयमानं में हृदयं प्रत्याययति इव ।

शब्दार्थ—कामं=अत्यधिक, प्रत्यादिष्टां = तिरस्कृत, परिग्रह=पत्नीरूप से स्वीकार करना, बलवत् = अत्यधिक, दूयमानं = पीड्यमान व्यथित, प्रत्याययति = विश्वास सा करा रहा है ।

अनुवाद—अत्यन्त तिरस्कृत मुनितनया शकुन्तला (कैसा) विवाह की याद मुझे नहीं आ रही है । किन्तु बहुत अधिक व्यथित मेरा हृदय इस बात का विश्वास सा करा रहा है कि मैंने उनसे विवाह किया था ।

व्याख्या—मेरे द्वारा इस अत्यन्त तिरस्कृत, मुनिकन्या शकुन्तला के साथ मैंने कभी विवाह किया था यह बात तो मुझे याद नहीं आ रही है परन्तु बहुत अधिक व्यथित मेरा हृदय "मैंने उसके साथ विवाह किया है" इस बात का विश्वास सा उत्पन्न करा रहा है। न जाने क्यों ऐसा है!

विशेष—प्रत्याययतीव यहाँ पर **उत्प्रेक्षा** है और इससे स्थायिनी रति का अनुसन्धान ध्वनित होता है स्मरण रूप कारण के अभाव में भी दूयमानत्व रूप कार्योत्पत्ति से **विभावनालंकार** है, हृदयपीडा रूप हेतु से प्रत्यायन साध्य है अतः **अनुमानालंकार** है। **आर्या जाति छन्द**।

संस्कृत व्याख्या—कामं = अतिशयेन प्रत्यादिष्टां = तिरस्कृतां मुनेः काश्यपस्य तनयां पुत्रीं शकुन्तलां परिग्रहं = पत्नीत्वेन परिग्रहीतां न स्मरामि, तु = किन्तु बलवत् अधिकं दूयमानं पीड़यमानं ये मम हृदयं मनः प्रत्याययतीव विश्वासमुत्पादयतीवे ति।

उक्ता अलंकाराः आर्या जातिः।

इससे **प्रसंग** नामक अङ्ग निर्दिष्ट किया गया है।

"**प्रसंगश्चैव विज्ञेयो गुरुणां कीर्तनं हि यत्**"।

(सब चले जाते हैं।)

इस पूरे अङ्क में प्रायः धर्मवीर रस है क्योंकि सर्वत्र राजा की स्थिरता का वर्णन है **सात्वती वृति है**। जैसा कि धनंजय ने कहा है—

शृङ्गारे कैशिकी, वीरे सात्त्वत्यारभटी पुनः
रसे रौद्रे च बीभत्से वृत्तिः सर्वत्र भारती।

अर्थात् शृङ्गार रस में कैशिकी, वीर रस में सात्वती तथा रौद्र एवं वीभत्स में आरभटी वृत्तिः रहती है परन्तु भारती वृत्ति का शब्दवृत्ति होने के कारण सभी रसों में प्रयोग होता है। वृत्ति का सम्बन्ध नायक के व्यापार से रहता है। यहाँ शृङ्गार से हास्य, वीर से अद्भुत, रौद्र से करुण तथा वीभत्स से भयानक रस को भी ग्रहण किया जा सकता है।

षष्ठोऽकः ।

(ततः प्रविशति नागरिकः श्यालः पश्चाद्बद्धपुरुषमादाय रक्षिणौ च ।)

रक्षिणौ—(ताडयित्वा ।) अले कुंभीलआ ! कहेहि कहिं तुए एशे मणिबंधणुक्किण्णणामहेए लाअकीए अंगुलीअए शमाशादिए [अरे कुम्भीरक ! कथय कुत्र त्वयैतन्मणिबन्धनोत्कीर्णनामधेयं राजकीयमङ्गुलीयकं समासादितम् ।]

पुरुषः—(भीतिनाटितकेन ।) पशीदंतु भावमिश्शे । हगे ण ईदिशकम्मकाली । [प्रसीदन्तु भावमिश्राः । अहं नेदृशकर्मकारी ।]

प्रथमः—किं सोहणे बम्हणेत्ति कलिअ रज्जा पडिग्गहे दिण्णे । [किं शोभनो ब्राह्मण इति कलयित्वा राज्ञा प्रतिग्रहो दत्तः ।]

पुरुषः—सुणध दाणिं । हगे शक्कावदालब्भंतरालवाशी धीवले । [शृणुतेदानीम् । अहं शक्रावताराभ्यन्तरालवासी धीवरः ।]

षष्ठ अंक

(इसके बाद नगर रक्षाधिकारी राजश्यालक और उसके पीछे-पीछे दो अन्य रक्षक (सिपाही) एक पुरुष को बांधे हुए प्रवेश करते हैं)

"श्यालः=साला अर्थात् राजा का साला—प्रकरणवश यहाँ श्याल शब्द से राजश्यालक अर्थ लिया जायगा, राजाओं के बहुत सी पत्नियाँ हुआ करती थीं, इन्हीं में से किसी एक राजपत्नी का यह भाई था और राजा के द्वारा यह नगर की रक्षा के लिए नियुक्त किया गया था अतएव यहाँ पर 'नागरिकः श्यालः' का अर्थ नगर-रक्षाधिकारी राजश्यालक—कोतवाल" ।

रक्षक—(पीट कर) अरे चोर ! बोल, यह राजनामाङ्कित, रत्नजटित, राजा की अंगूठी तुझे कहाँ मिली ? (कुम्भीरक=चोर—कुम्भीरक, गण्डपद, चौर, तस्कर, मलिम्लुच आदि कुम्भीरक के पर्यायवाची शब्द हैं) मणिबन्धनोत्कीर्णनामधेयम्=मणिबन्धन=सुवर्ण द्वारा प्रत्युप्तीकरण । उत्कीर्ण=व्यक्तीकृत—खचित—अङ्कित । नामधेयं=नाम । राजकीय=राजा की । समासादितम्=प्राप्त की ।

पुरुष—(भय (प्रदर्शन का अभिनय करता हुआ) श्रेष्ठ जन ! दया करिये, मैं ऐसा काम नहीं करता । भीति=डर, नाटितकेन=अभिनय करके

द्वितीयः—पाडच्चला ! किं अम्हेहिं जादी पुच्छिदा ?। पाटच्चर। किमस्माभिर्जातिः पृष्टा ?।]

श्यालः—सूअअ ! कहेदु शव्वं अणुक्कमेश । मा णं अंतरा पडिबंधह। [सूचक ! कथयतु सर्वमनुक्रमेण । मैनमन्तरे प्रतिबन्धय ।]

उभौ—जं आवुत्तो आणवेदि कहेहि । [यदावुत्त आज्ञापयति कथय।]

पुरुषः—अहके जालुग्गालादिहिं मच्छबंधणोवाएहिं कुडुंबभलणं कलेमि । [अहं जालोद्गालादिभिर्मत्स्यबन्धनोपायैः कुटुम्बभरणं करोमि ।

श्यालः—(विहस्य) विसुद्धो दाणि आजीवो । [विशुद्ध इदानीमाजीवः।]

पुरुषः—

शहजे किल जे विणिंदिए ण हु दे कम्म विवज्जणीअए।
पशुमालणकम्मदालुणे अणुकंपामिदुजेव्व शोत्तिए ॥ १ ॥
[सहजं किल यद्विनिन्दितं न खलु तत्कर्म विवर्जनीयम् ।
पशुमारणकर्मदारुणोऽनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रियः ॥]

अर्थात् डर का अभिनय करता हुआ, भावमिश्राः=भाव=विद्वान्, श्रेष्ठ, मान्य गौरवशाली । मिश्राः=श्रेष्ठ अर्थात् माननीय, महामान्य । "भावो विद्वान्" अमर कोश, "मान्यो भावस्तु वक्तव्यः" इस नाट्यशास्त्र के वचन के अनुसार मान्य व्यक्ति के लिए भाव शब्द का प्रयोग किया जाता है । ईदृशकर्मकारी=ऐसा अर्थात् चोरी का काम करने वाला ।

प्रथम रक्षक—तो क्या तुझे कोई सुयोग्य ब्राह्मण समझ कर राजा ने तुझे दान में दी है ? (श्रो[illegible]नः = सुपात्र । कलयित्वा=जान कर, मान कर। प्रतिग्रहः =दान ।)

पुरुष—आप सुनिये तो अब ! मैं (गंगा तीर स्थित) शक्रावतार नामक ग्राम का रहने वाला मछुआ हूँ । (शक्रावतार=गंगा तट पर बसा हुआ इस नाम का एक गाँव । अन्तराल्=मध्य, में, अन्दर ।)

द्वितीय रक्षक—रे चोर क्या हम लोगों ने तेरी जाति पूँछी थी ? (पाटच्चर=चोर "दस्युः पाटच्चरस्स्तेनः" कोश, दस्यु, पाटच्चर, स्तेन पर्यायवाची शब्द ... श्चरतीति पाटच्चरः ऐसा विग्रह करके उसका अर्थ 'पटुचोर' भी किया जा सकता अर्थात् बड़ा छिपा हुआ, चालाक चोर ।

श्याल—सूचक ! इसको क्रम से सब बात कह लेने दो, बीच में टोको मत रक्षक का नाम था । अनुक्रमेण=क्रम से । मा=मत । अन्तरे= =रोको ।

दोनों—जैसी आवुत्त की (आप की) आज्ञा । हाँ, बतारे। ("भगिनी पति-

राबुत्त" अमर कोश । अर्थात् राजश्याल को जो कि प्रायः कोतवाल हुआ करता था प्रायः नागरिक आवृत्त कहकर सम्बोधित किया करते हैं ।

पुरुष—मैं जाल, उद्गाल (कँटिया, बंसी) आदि मछलियों के फँसाने के साधनों से अपने कुटुम्ब का पालन करता हूँ (उद्गाल, वडिश, कँटिया, काँटा, वंशी आदि मछली पकड़ने के साधन प्रचलित हैं)

श्याल—(हंस कर) तब तो बड़ी जीविका ले रखी है (आजीवः=जीविका जीवन के आलम्बन का उपाय-साधन । विशुद्धः=पवित्र, यहाँ पर विपरीत लक्षणा के द्वारा इसका अर्थ अत्यन्त जघन्य जीविका)

पुरुष— —**श्लोक १ अन्वय**—विनिन्दितं यत् (कर्म) सहजं किल तत् कर्म न विवर्जनीयं खलु, अनुकम्पामृदुः एव श्रोत्रियः पशुमारण-कर्म-दारुणः (भवतीति शेषः) ।

शब्दार्थ—विनिन्दितम्=लोक निन्दित । सहजं=स्वाभाविक—कुलक्रमागत—पूर्व पुरुषों द्वारा समाचरित । विवर्जनीयं=न छोड़ने योग्य अर्थात् अत्याज्य=अवश्य करणीय । अनुकम्पा=-मृदुः=अनुकम्पा=दया । मृदुः=कोमल अर्थात् सब प्राणियों पर दया भाव रखने के कारण सुकुमार स्वभाव वाला । श्रोत्रियः=वेदज्ञ ब्राह्मण । पशुमारणेत्यादि=यज्ञ कर्म में पशु बध करने से कठोर ।

अनुवाद—लोकविनिन्दित भी जो कर्म स्वाभाविक कुलक्रमागत हो वह न छोड़ा जाना चाहिए । (प्राणियों पर) दयाभाव के कारण कोमल चित्त भी वेद पाठी (यज्ञ कर्म में) पशुबध करने से कठोर ही होता है ।

व्याख्या—राजाश्याल का, अपनी सहज जीविका के विषय में उपहास सुनकर बन्दी पुरुष कहता है; मान्यवर ! ऐसा न कहिए, क्योंकि :—जिसका जो स्वाभाविक कर्म है, उसे कभी भी नहीं छोड़ना चाहिए चाहे भले ही लोग उस कर्म की निन्दा करें, देखिये ! सब जीवों पर दयालु होने के कारण स्वभाव से मृदु भी वेदज्ञ ब्राह्मण जैसे यज्ञ कर्म में पशुवध करके कठोर हो जाता है । तात्पर्य यह कि दया से कोमल हृदय होते हुये भी श्रोत्रिय ब्राह्मण यज्ञों में पशु बध करते ही हैं क्योंकि यह उनका कुलक्रमागत कर्म है और उनकी वंशपरम्परागत आजीविका का साधन है भले ही बौद्ध तथा जैन आदि अहिंसावादी लोगों की दृष्टि में यह कर्म निन्दित हो । अतः स्पष्ट है कि किसी को भी अपना वंश परम्परा से प्राप्त कर्म न छोड़ना चाहिये भले वह कर्म लोक में निन्दित समझा जाय अतः आपको मेरी आजीविका के साधन की हँसी न उड़ाना चाहिये ।

विशेष—कुल क्रमागत जीविका के साधन को न छोड़ने के सम्बन्ध में अभियुक्तों का वचन है ।

"येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः,
तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न दुष्यति ।

श्यालः—तदो तदो । [ततस्ततः ।]

सहजं कर्म कौन्तेय ! सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ।। गीता ।।
देशानुशिष्टं कुलधर्ममग्रयं स्वगोत्रधर्मं न हि सत्यजेत् ।। स्मृतिः ।।
व्यास मुनि द्वारा श्रोत्रिय का लक्षण
एकां शाखां सकल्पां वा षड्भिरङ्गैरधीत्य वा ।
षट् कर्म निरतो विप्रः श्रोत्रियो नाम धर्मवित् ।।
यज्ञ में पशु बध के सम्बन्ध में श्रुतिः—"**अग्निषोमीयं पशुमालभेत ।**

यहाँ विशेष के द्वारा सामान्य का समर्थन रूप **अर्थान्तरन्यास**, मृदुरेव दारुणः—यह **विरोधाभास** है, मृदु श्रोत्रिय से दारुणत्व रूप विरुद्ध गुणोत्पत्ति का कथन है अतः **विषमालंकार** है। यहाँ धीवर इस प्रस्तुत विशेष के होते हुए भी अप्रस्तुत सामान्य का कथन है अतः **अप्रस्तुतप्रशंसालंकार** भी है। "मृदु श्रोत्रिय जिस प्रकार पशुवध रूप दारुण कर्म को नहीं छोड़ता है उसी प्रकार मुझे भी लोक-निन्दित भी अपना सहज कर्म न छोड़ना चााहिए" इस प्रकार यहाँ वैधर्म्य प्रयुक्त **दृष्टान्त** भी है, श्लोकगत एव, इव के अर्थ में है अतः **उपमालंकार** है। **सुन्दरी नामक** छन्द है—"**अयुजोर्यदि सौ जगौ, युजोःसभरा लगौ यदि सुन्दरी माता**" अर्थात् जिस छन्द में प्रथम तथा तृतीय पाद में दो सगण, एक जगण तथा एक गुरु वर्ण हो, और द्वितीय व चतुर्थ चरणों में सगण, भगण, रगण तथा एक लघु और एक गुरुवर्ण हो, वह सुन्दरी कहलाता है। यह **अर्धसम् छन्द है**।

सगण	सगण	जगण	गु०	नगण	तगण	जगण	गु०	गु०
।।ऽ	।।ऽ	।ऽ।	ऽ	।।।	ऽऽ।	।ऽ।		
सहजं,	किलय,	द्विनिन्दि,	तं	न खलु	तत्क र्म,	विवर्ज,		नीयम्।

इस प्रकार उपर्युक्त लक्षण का इसमें समन्वय नहीं होता अतः यह पाठ ठीक नहीं जँचता, अतः द्वितीय चरण को इस प्रकार रखना चाहिए

सगण	भ०	र०	ल०	गु०
।।ऽ	ऽ।।	ऽ।ऽ		

"न तु त त्कर्मवि वर्जनी, यकम्" जैसा कि अन्यत्र पाठ है भी।

संस्कृत व्याख्या—यत् किल सहजं=स्वाभाविकं कुलक्रमादागतं (कर्म) तत् (कर्म) विनिन्दितं (अपि) न तु विवर्जनीयकम्=न कदापि परित्याज्यं, अनुकम्पया दयया मृदुः कोमलः, अनुकम्पामृदुः=कृपापरिप्लावितहृदयः, एव, श्रोत्रियः=षट्-कर्मनिरतो वेदज्ञो विप्रः। पशूनां यज्ञीयजन्तूनां मारणं वधरूपं एव कर्म तेन दारुणः कठोरः इति पशुमारणकर्मदारुणः=यज्ञीयजीवहिंसाकर्मनिष्ठुरः, भवतीति शेषः। स्वभावदयालुरपि श्रोत्रियो यज्ञकर्मणि दयाविरहितः सन् पशूनां वधे प्रवर्तत एवातो

पुरुषः—एक्कर्शिश दिग्रशे खंडशो लोहिग्रमच्छे मए कप्पिदे जाव। तश्शउदलब्भंतले एदं लदणभाशुलं अंगुलीग्रग्रं देक्खिग्रं पच्छां ग्रहके शे विक्कग्राग्र दंशग्रंते गहिदे भावमिश्शेहिं। मालेह वा मुंचेह वा। ग्रग्रं शे ग्राग्रवुत्तं त्ते। [एकस्मिन्दिवसे खण्डशो रोहितमत्स्यो मया कल्पितो यावत्। तस्योदराभ्यन्तर इदं रत्नभासुरमङ्गुलीयकं दृष्ट्वा पश्चादहं तस्य विक्रयाय दर्शयन्गृहीतो भावमिश्रैः। मारयत वा मुञ्चत वा। अयमस्यागमवृत्तान्तः।]

श्यालः—जाणुग्र ! विस्सगंधी गोहादी मक्छबंधो एव्व णिस्संसग्रं। ग्रंगुलीग्रग्रदंसणं शे विमरिसिदव्वं। राग्रउलं एव्व गच्छामो। [जानुक ! विस्रगन्धी गोधादी मत्स्यबन्ध एव निःसंशयम्। अङ्गुलीयकदर्शनमस्य विमर्शयितव्यम्। राजकुलमेव गच्छामः।

रक्षिणौ:—तह। गच्छ ग्रले गंडभेदग्र !। [तथा। गच्छ अरे गण्डभेदक !।]

(सर्वे परिक्रामन्ति।)

श्यालः—इमं गोपुरदुग्रारे ग्रप्पमा पडिबाल जाव इमं ग्रंगुलीग्रग्रं जहागमणं भट्टिणो णिवेदिग्र तदो सासणं पडिच्छिग्र णिक्कमामि। [सूचक ! इमं गोपुरद्वारेऽप्रमत्तौ प्रतिपालयतं यावदिदमङ्गुलीयकं यथागमनं भर्तुर्निवेद्य ततः शासनं प्रतीक्ष्य निष्क्रमामि।

उभौ:—पविसदु ग्रावुत्ते शामिपशादश्श। [प्रविशत्वावुत्तः स्वामिप्रसादाय।]

(इति निष्क्रान्तः श्यालः।)

प्रथमः—जाणग्र ! चिलाग्रदि खु ग्रावत्ते। (जानुक ! चिरायते खल्वावुत्तः।

न त्याज्यं लोकविरुद्ध मपि सहजं कर्मेत्यभिप्रायः। उक्ता अलंकारादयः। सुन्दरी वृत्तम्।

श्याल—अच्छा, आगे चल, क्या हुआ।

पुरुष—एक दिन ज्यों ही मैंने एक रोहू मछली खण्ड-खण्ड करके काटी, त्योंही उसके पेट के भीतर यह रत्नों से देदीप्यमान अंगूठी देख कर और फिर मैं इसे बेचने के लिए दिखाता हुआ आप मान्यवरों द्वारा पकड़ लिया गया, (बस इसके प्राप्त होने की यही कथा है) अब चाहें आप मुझे मारें या छोड़ दें (खण्डशः = खण्ड-खण्ड करके टुकड़ों-टुकड़ों में। कल्पितः = काटा। दर्शयन् = बेचने के लिये लोगों को इधर उधर दिखलाता हुआ)

श्याल—जानुक ! इसमें सन्देह नहीं कि यह गोह खाने वाला मछुआ ही है (क्योंकि इसके शरीर से) कच्चे मांस की गन्ध आ रही है। (जानुक एक रक्षक का नाम। मत्स्यबन्ध = मछुआ। विस्रगन्धी = "विस्रं स्यादामगन्धि यत्" अमरकोश

द्वितीय—णं अवशलोवशप्पणी आ लाआणो। [नन्ववसरोपसर्पणीया राजानः]

प्रथम : जाण‌ुअ ! फुल्लति मे हत्या इमश्श वहस्स शुमणा पिणद्धुं। [जानुक ! प्रस्फुरतो मम हस्तवास्य वधार्थं सुमनसः पिनद्धुम्।] (इति पुरुषं निर्दिशति।]

पुरुषः—ण अलुहदि भावे अकालणमालाणं भाविदुं [नार्हति भावोऽकारणं भावयितुम्।]

द्वितीय—(विलोक्य) एशे अम्हाणं शामी पत्तहत्थ लाअशाशणं पडिच्छिअ इदोमुहें देखीअदि। गिद्धबली भविश्शशि, शुणो मुहं वा देक्खिश्शशि। [एष नः स्वामी पत्रहस्तो राजशासनं प्रतीक्ष्येतोमुखो दृश्यते। गृध्रबलिर्भविष्यसि शुनो मुख वा द्रक्ष्यसि।]

के अनुसार विस्त्रगन्धी=कच्चे मांस की गन्ध वाला। गोदाधी=गोह खाने वाला।) परन्तु जो अंगूठी मिलने की बात इसने बतलाई हैं उसकी ठीक-ठीक जांच कर लेनी चाहिये, तो चलो राजदरबार में ही चलें। (अंगुलीयकदर्शनम्=अंगूठी पाने का वृत्तान्त विमर्शणितव्यम्=जो कुछ यह कहता है वह ठीक है या नहीं इस बात को ठीक-ठीक विचार कर देख लेना चाहिए।)

दोनों रक्षक—अच्छा चल रे चोर ! चल। (गण्ड भेदक=गँठ काटा चोर कहीं-कहीं इसलिए ग्रन्थिच्छेदक भी पाठ है। चोर आदि जनों के लिए 'रे' यह सम्बोधन प्रयुक्त होता है "सम्बोधनेऽङ्ग भोः पाप्याट् हे है होऽरे रेऽपि च" हेमचन्द्र।

(सब घूमने लगते हैं)

श्याल—सूचक ! तब तक तुम दोनों सावधान होकर नगर के फाटक पर इसकी (बन्दी पुरुष की) चौकसी रखना जब तक कि मैं, यह अँगूठी जैसे मिली है वैसे ही महाराज से निवेदित कर, और उनकी आज्ञा लेकर (दरबार से) निकल न आऊँ—लौट न आऊँ। (गोपुरद्वारे+नगर के द्वार पर "पुरद्वारन्तु गोपुरम्" अमरकोश। पुर=नगर, पुरद्वार ही गोपुरद्वार कहलाता है अथवा गोपुर नामक द्वार पर।

प्रतिपालयतम्=यहाँ इसका अर्थ निगरानी करना या चौकसी करना है। भर्तुः=राजा—राजा के लिए नागरिक या अधिकारी जन भर्ता (पालन करने वाला) शब्द का प्रयोग करते हैं।

दोनों रक्षक—अच्छा ! आवुत्त ! आप (राज दरबार में) प्रवेश करें और राजकृपा प्राप्त करें (स्वामिप्रसादाय=चोर को पकड़ने का वृत्तान्त सुनकर राजा की कृपा प्राप्त करें क्योंकि इस कार्य से राजा को प्रसन्नता होगी और वह तुम पर कृपा करेंगे "प्रसादस्तु प्रसन्नता"।

(तब श्याल चला जाता है)

(प्रविश्य)

श्यालः—सुअअ ! मुंचेदु एसो जालोअजीवी उववण्णो खु अंगुलीअअस्स आअमो। [सूचक ! मुच्यतामेष जालोपजीवी। उपपन्नः खल्वङ्गलीयकस्यागमः।]

सूचकः—जह आवत्ते भणादि [यथावुत्तो भणति।]

द्वितीयः—एशे जमशदणं पविशिअ पडिणिवुत्ते। [एष यमसदनं प्रविश्य प्रतिनिवृत्तः।] (इति पुरुषं परिमुक्तबन्धनं करोति।)

पुरुषः—(श्यालं प्रणम्य।) भट्टा ! अह कीलिशे मे आजीवे ? [भर्तः ! कीदृशो म आजीवः ? ।]

श्यालः—एसो भट्टिणा अंगुलीअअमुल्लसम्मिदो पसादो वि दाविदो ? [एष भर्त्राङ्गुलीयकमूल्यसमितः प्रसादोऽपि दापितः।] (इति पुरुषाय स्वं प्रयच्छति।]

पुरुष—(सप्रणामं प्रतिगृह्य।) भट्टा ! अणुग्गहीद म्हि। [भर्तः ! अनुगृहीतोऽस्मि।]

प्रथम रक्षक—जानुक ! आवुत्त ने तो बड़ी देर लगा दी। (चिरायते=देर करना)।

द्वितीय रक्षक—अरे भाई ! अवसर पाकर ही तो राजाओं के पास पहुँचा जाता है। (उपसर्पतीयाः=पास जाने योग्य।)

प्रथम रक्षक—जानुक। इसका बध करने के लिए इसे फूलों की माला पहनाने के लिये मेरे हाथ फडक रहे हैं। (सुमनस=फूल, यहाँ इसका अर्थ फूल माला है। पिनद्धुम्=पहनाने के लिये "आमुक्तः प्रतिमुक्तश्च पिनद्धश्चापिनद्धवत्" अमरकोश। "तत्कालीन राज नियमानुसार चोर को लाल फूलों की माला पहना कर फाँसी पर लटका दिया जाता था" इस कथन से यह प्रतीत होता है। (यह कह कर मछये की ओर संकेत करता है)।

पुरुष—माननीय आपको, बिना किसी कारण के मुझे मार डालने की बात नहीं सोचनी चाहिये।

द्वितीय रक्षक—(देखकर) यह लो, हमारे मालिक (श्याल) हाथ में राजा का आज्ञा पत्र लिये इधर ही आ रहे हैं। (इतोमुखो दृश्यते=इधर ही आते दिखलाई पड़ते हैं।) अब तो तू गीधों का भोजन बनेगा अथवा कुत्तों का मुख देखेगा, अर्थात् या तो तुझे गीध खायेंगे या कुत्ते नोचेंगे (बलि=भक्ष्य भोजन-उपहार) कुत्तों व गीधों द्वारा मांस नुचवा कर मार डालना भी तत्कालीन, चोर के लिये राज दण्ड था।)

(श्यालक प्रवेश करके)

सूचकः—एशे णाम अणुग्गहे जे शूलादो अवदालिअ हत्थिक्कंधे पडिट्ठाविदे। (एष नामानुग्रहो यच्छूलादवतार्य हस्तिस्कन्धे प्रतिष्ठापितः।]

जानुकः—आवुत्त ! पलिदोशं कहेहि। तेण अंगुलिअएण भट्टिणो शम्मदेण होदव्वं। [आवुत्त ! परितोषं कथय। तेनाङ्गुलीयकेन भर्तुः संमतेन भवितव्यम्]

श्यालः—ण तस्सिं महारुहं रदणं भट्टिणो बहुमदं त्ति तिक्केमि। तस्स दंसणेण अनिमदो जणो सुमराविदो। मुहुत्तअं पकिदिगंभीरो वि पज्जुस्सुअणअणो आसी। [न तस्मिन्महार्हं रत्नं भर्तुर्बहुमतमिति तर्कयामि। तस्य दर्शनेन भर्तुरभिमतो जनः स्मारितः। मुहुर्तं प्रकृतिगम्भीरोऽपि पर्युत्सुकनयन आसीत्।]

सूचकः—शेविदं णाम आवृत्तेण। [सेवितं नामावुत्तेन।]

जानुकः—णं भणाहि इमश्श कए वुच्छिआभत्तुणोत्ति। [ननु भण। अस्य कृते मात्स्यिकभर्तुरिति। (इति पुरुषमसूयया पश्यति।)

पुरुषः—भट्टालक ! इदो अद्धं तुम्हाणं शुमणोमूल्लं होदु। [भट्टारक ! इतोऽर्म युष्माकं सुमनोमूल्यं भवतु।]

जानुकः—एत्तके जुज्जइ। (एतावद्युज्यते।)

श्यालः—धीवर ! महत्तरो तुमं पिअवअस्सओ दाणि मे संवुत्तो। कादंबरीः

श्याल—सूचक ! इस मछुवे को छोड़ दो, अँगूठी के मिलने का ठीक-ठीक पता चल गया। (जालोपजीवी=जाल के सहारे जीने वाला। उपपन्नः=प्राप्त हो गया।)

सूचक—जैसी आवुत्त की आज्ञा।

द्वि० रक्षक—अरे ! यह यमराज के घर पहुँच कर लौट आया।

(इस प्रकार पुरुष का बन्धन खोल देता है)

पुरुष—(श्याल को प्रणाम करके) कहिये, मालिक ! अब मेरी आजीविका कैसी है ? (आप तो इसे जघन्य कहते थे न)।

श्याल—यह ले, महाराज ने अँगूठी के मूल्य के बराबर धन भी प्रसाद रूप में तुझे दिलवाया है। (मूल्यसंमित=अँगूठी के मूल्य के बराबर धन)

(यह कह कर उस बन्दी पुरुष को धन (स्वं) देता है)

पुरुष—(प्रणामपूर्वक धन लेकर) मालिक ! आपकी बड़ी दया है।

सूचक—वास्तव में कृपा तो इसी का नाम है, जो कि शूली से उतार कर हाथी के स्कन्ध पर बैठा दिया है।

तक्खिअं अम्हाणं पढमसोहिमदं इच्छीअदि । ता सोंडिआपणं ऐव्व गच्छामो। [धीवर ! महत्तरस्त्वं प्रियवयस्यक इदानीं मे संवृत्तः । कादम्बरीसखित्वमस्माकं प्रथमशोऽभिमतमिष्यते । तच्छौण्डिकापणमेव गच्छामः ।]

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

प्रवेशकः ।

(ततः प्रविशत्याकाशयानेन सानुमती नामाप्सराः ।)

सानुमती—णिव्वट्टिदं मए पज्जाअणिव्वत्तणिज्जं अच्छरातित्थसण्णिज्झं जाव साहुजणस्य अभिसेअकालो त्ति संपदं इमस्स राएसिणो उदंतं पच्चक्खीकरिस्सं मेणआसंबंधेण शरीरभूदा मे सउंदला । ताए अ दुहिदुणिमित्तं आदिट्टपुव्व म्हि । (समन्तादवलोक्य ।) किं ण खु उदुच्छवे वि णिरुच्छवारंभं विअ राअउबं दीसइ । अत्थि वे विहवो पणिधाणेण सव्वं परिण्णादु । किं दु सहीए आदरो माणइदव्य । होदुः इमाणं एव्व; उज्जाणपालिआणं तिरक्खरिणीपडिच्छण्णा पस्सवत्तिणी भविअ उवलहिस्सं । (निर्वर्तितं मया पर्यायनिर्वर्तनीयमप्सरस्तीर्थसांनिध्यं यावत्साधुजनस्याभिषेककाल इति । सांप्रतमस्य राजर्षेरुदन्तं प्रत्यक्षीकरिष्यामि । मेनकासंबन्धेनशरीरभूता मे शकुन्तला । तया च दुहितृनिमित्तमादिष्टपूर्वास्मि । किं नु खलु ऋतूत्सवेऽपि निरुत्सवारम्भमिव राजकुलं दृश्यते । अस्ति मे विभवः प्रणिधानेन सर्वं परिज्ञातुम् । किं तु सख्या आदरो

जानुक—मालिक इसे ! पारितोषिक कहिये । क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि वह अँगूठी राजा को बहुत अच्छी लगी होगी ।

स्याल—मैं तो समझता हूँ कि उस अँगूठी में (लगा हुआ) रत्न तो स्वामी को बहुत अच्छा नहीं लगा प्रत्युत उस अँगूठी के देखने से स्वामी को (अपने किसी) प्रिय जन का स्मरण हो आया था । क्योंकि (अँगूठी को देखकर) स्वभाव से ही गम्भीर भी महाराज थोड़ी देर के लिये उत्कण्ठित हो उठे थे । तात्पर्य यह कि अँगूठी में लगा हुआ रत्न स्वामी को इतना अच्छा नहीं लगा था जिसके कारण उन्होंने यह पारितोषिक दिलवाया है प्रत्युत उस अँगूठी को देखकर उन्हें अपने प्रियजन की याद आ गई थी अतएव कुछ अनमने भी हो गये थे, अतः राजा द्वारा अँगूठी के आदृत होने का कारण उसका रत्न न समझो प्रत्युत इसका कारण यह था कि उसने उनके प्रियजन की याद दिला दी ।

सूचक—तब तो आपने (राजा की) बड़ी अच्छी सेवा की ।

जानुक—नहीं, नहीं यों कहो, कि मछुओं के स्वामी इस धीवर के लिये (आवुत्त ने राजा की बहुत बड़ी सेवा की) तात्पर्य यह कि राजा की सेवा क्या इन्होंने अपने लिये की ? नहीं, इस धीवर के लिये ही की, क्योंकि इस धन की प्राप्ति तो इसी के लिये हुई, न कि हम लोगों के लिये अतः सेवा भी इसी के लिये की गई,

भया मानयितव्यः। भवतु; अनयोरेवोद्यानपालिकयोस्तिरस्करिणीप्रतिच्छन्ना पार्श्ववर्तिनी भूत्वोपलप्स्ये।) (इति नाट्येन नावतीर्य स्थिता।)

(ततः प्रविशति चूताङ्कुरमवलोकयन्ती चेटी। अपरा च पृष्ठतस्तस्याः)

न कि अपने लिये। अतएव (यह कह कर धीवर को ईर्ष्या की दृष्टि से देखने लगता है।

पुरुष—स्वामिन्! इसमें से आधा (धन) आप लोगों के पान फूल के व्यय के लिये हो, अर्थात् इस धन का आधा भाग आप लोग अपने पान फूल के खर्च के लिये ले लें। (पान-फूल के मूल्य के लिये कह कर धीवर ने अपना विनय दिखलाई है)

जानुक—इतना तो ठीक ही है अर्थात् इतना लेना तो इनका पद ही है।

श्याल—मछुये! अब तो तुम मेरे बहुत बड़े प्यारे मित्र हो गये हो। तो चलो अब मदिरा के समक्ष अपनी मैत्री पुष्ट कर लें, तो चलो अब मदिरालय में ही चलें। (कादम्बरी सखित्वं=एक साथ मदिरा पान से होने वाली मित्रता। प्रथमशोऽभिमतम्=अर्थात् एक साथ बैठकर मदिरा पान से जो मित्रता होती है वह पक्की प्रथम् कोटि की मानी जाती है वह अभी तक नहीं हो पाई है अतः चलो उसे मदिरालय में पक्की कर लें।

(सब जाते हैं)

प्रवेशक

(विमान पर चढ़ी हुई सानुमती अप्सरा का प्रवेश।)

सानुमती—अप्सरातीर्थ के पास में रह कर, साधुजनों के स्नान के समय तक देखभाल करने की जो आज की मेरी बारी थी वह मैंने पूरी कर दी। तो अब अपनी आँखों से राजर्षि (दुष्यन्त) का हाल देख लूँ। (क्योंकि मेरी मातृष्वसा मेनका के सम्बन्ध में शकुन्तला भी मेरी शरीरवत्प्रेमास्पद-प्रिय है। और उस मेनका के द्वारा अपनी पुत्री शकुन्तला के (आश्वासन) के लिए मुझे पहिले ही आज्ञा दी गई थी। (चारों ओर देखकर) अरे, यह क्या बात है कि वसन्तोत्सव के समय भी राज भवन में कोई उत्सव नहीं हो रहा है, एक दम सन्नाटा सा छाया हुआ दिखलाई पड़ता है। वैसे तो ध्यान से (दिव्य दृष्टि से) मैं सब कुछ जानने की सामर्थ्य रखती हूँ, फिर भी सखी के उस सादर अनुरोध की भी रक्षा तो करनी ही है। अच्छा, जो हो, तिरस्करिणी विद्या से अपने को छिपाकर इन्हीं दोनों उद्यान रक्षक मालियों के पास रह कर (राजा का हाल) मालूम करूँगी। (अप्सरस्तीर्थसान्निध्यं=गङ्गा नदी में एक अप्सरातीर्थ नामक तीर्थ है उसके पास उपस्थित रहना, यावत्साधुजनस्याभिषेककालः, पर्यायनिर्वर्तनीयम्=जितने समय तक कहीं साधुजन स्नान कर उतने समय तक, बारी बारी से पूरा करने योग्य कार्य अर्थात् उस अप्सरातीर्थ पर रह कर, मैं

प्रथमा—

आतम्महरिअपंडुर जीविद सत्तं वसंतमासस्स ।
दिट्ठो सि चूदकोरअ ! उदुमङ्गल ! तुमं पसाएमि ॥२॥
[आताम्रहरितपाण्डुर जीवित ! सत्यं वसन्तमासस्य ।
दृष्टोऽसि चूतकोरक । ऋतुमंगल ! त्वां प्रसादयामि ॥]

द्वितीया—परहुदिए ! किं एहाइणी मंतेसि ?। (परभृतिके ! किमेकाकिनी मन्त्रयसे ।)

प्रथमा—महुअरिए ! चूदकलिअं देक्खिअ उम्मत्तिआ परहुदिआ होदि। [मधुकरिके ! चूतकलिकां दृष्ट्वा उन्मत्ता परभृतिका भवति ।

द्वितीया—(सहर्ष त्वरयोपगम्य ।) कहं उवट्ठिदो महुमासो ? । [कथमुपस्थितो मधुमासः ।]

नियम था कि प्रतिदिन एक अप्सरा उस समय तक इसकी देखभाल किया करेगी जब तक साधुजन स्नान न कर लें उस दिन सानुमती की बारी थी । अतः उसने अपनी बारी पूरी को थी ।

मेनका सम्बन्धेनेत्यादि=मेनका सानुमती की मातृष्वसा थी और शकुन्तला की माता अतः शकुन्तला इस मेनका के सम्बन्ध से, सानुमती की बहिन और प्रियसखी थी, अतएव वह, सानुमती को अपने शरीर ही की भाँति प्यारी थी। दुहितृनिमित्तमादिष्टपूर्वा=मेनका ने पहिले ही सानुमती को यह आज्ञा दे रखी थी कि वह, शकुन्तला का प्रत्याख्यान करने के बाद दुष्यन्त शकुन्तला के लिए जो कुछ करे, उसकी सूचना देती रहे और शकुन्तला को भी धीरज बँधाती रहे। प्रणिधानेन =समाधि के द्वारा यहाँ तात्पर्य ध्यान से अथवा दिव्य दृष्टि से है। सख्याआदरः =शकुन्तला के सम्बन्ध में मेनका द्वारा, राजा का वृत्तान्त जानने के लिये, किया गया आदर आग्रह ।

इस प्रकार विमान से उतरने का अभिनय कर खड़ी हो जाती है। आम का बौर देखती हुई एक परिचारिका और उसके पीछे एक दूसरी प्रवेश करती है।

प्रथमा—श्लोक २ अन्वय—आताम्रहरितपाण्डुर ! वसन्तमासस्य सत्यं जीवित ! चूत कोरक ! दृष्टः असि, ऋतु मङ्गल ! त्वां प्रसादयामि ।

शब्दार्थ—आताम्रेत्यादि=ईषद् रक्त, हरित तथा पाण्डुर रंग वाले, आम्र मञ्जरी, अग्रभाग में कुछ लाल तथा अन्यत्र कुछ हरी एवं पाण्डर वर्ण की होती है, अतएव यह सम्बोधन स्वभावोक्ति प्रकट करता है ! सत्यं जीवित=बसन्त मास के वास्तविक जीवित रूप—जीवन सर्वस्व अर्थात् अन्य तमाम पुष्पों के रहते हुए भी बसन्त में आम्र मञ्जरी ही सर्वोत्तम मानी जाती है अतएव वह वसन्त मास की जीवन सर्वस्व—उच्छ्वसति या जीवित रूप ही है। चूतकोरक=आम्र कलिका,

प्रथमा—महुअरिए ! तव दाणिं कालो ऐसो मदविब्भमगीदाणं। [मधुकरिके ! तवेदानीं काल एष मदविभ्रमगीतनाम् ।]

द्वितीया—सहि ! अवलम्ब मं जाव अग्गपादट्ठिआ भविअ चूदकलिअं गेण्हिअ कामदेवच्चणं करेमि । [सखि ! अवलम्बस्व मां यावदग्रपादस्थिता भूत्वा चूतकलिकां गृहीत्वा कामदेवार्चनं करोमि ।]

प्रथमा—जइ मम वि खु अद्धं अच्चणफलस्स । [यदि ममापि खल्वर्धमर्चनफलस्य ।]

द्वितीया—अकहिदे वि एदं संपज्जइ । जदो एक्कं एव्व णो जीविदं दुधा ट्ठिद सरीरं । (सखीमवलम्ब्य स्थिता चूताङ्कुरं गृह्णाति ।) अए अप्पडिवुद्धो वि चूदप्पसवो एत्थ बंधणभंगसुरभी होदि । [अकथितेऽप्येतत्संपद्यते । यत एकमेव नौ जीवितं द्विधा स्थितं शरीरम् । अये, अप्रतिबुद्धोऽपि चूतप्रसवोऽत्र बन्धनभङ्गसुरभिर्भवति ।] (इति कपोतहस्तकं कृत्वा ।)

लक्षणा से आम्र मञ्जरी । ऋतुमङ्गल=वसन्त ऋतु में मङ्गल रूप अर्थात् सब से प्रथम दिखलाई पड़ने के करण अन्य सब वासन्तिक मङ्गलों में श्रेष्ठ मङ्गल रूप अथवा ऋतु के मङ्गल रूप अर्थात् तुम्हारे ही विकसित होने के कारण वसन्त ऋतु सब ऋतुओं में श्रेष्ठ माना जाता है ।

अनुवाद—हे वसन्त मास के जीवन सर्वस्व, हे (वसन्त) ऋतु मंगल रूप, हे लाल, हरे, पीले रंग वाले आम्र के बौर ! तुम आज, दृग्गोचर हुए हो, मैं तुमको मना रही हूँ, प्रसन्न कर रही हूँ ।

व्याख्या—प्रथम परिचारिका कहती है :—हे वसन्तमास के जीवन सर्वस्व, हे वसन्त ऋतु के मङ्गल रूप, हे लाल हरे पीले रंग वाले आम के बौर ! तुम्हारा आज प्रथमबार दर्शन हो रहा है, हम पर कृपा करो, मैं तुमको प्रसन्न कर रही हूँ—विनय पूर्वक तुमको अनुकूल बना रही हूँ !

विशेष—स्वभावोक्ति, रूपक (द्वितीय व चतुर्थ सम्बोधनवाची शब्दों में) हर्ष भाव है । **आर्या जाति है** ।

संस्कृत व्याख्या—आताम्रश्चासौ हरितश्च पाण्डुरश्च तत्सम्बोधने आताम्रहरितपाण्डुर, वसन्त मासस्य सत्यं जीवित !=जीवन सर्वस्वं प्राणभूत, चूतकोरक=आम्राङ्कुर, हे ऋतुमङ्गल=ऋतोः—वसन्तस्य मंगलभूत (चूताङ्कुर) त्व मया दृष्टोऽसि दृष्टिपथमागतोऽसि, अहं त्वां प्रसादयामि=प्रणम्यानुकूलयामि । अलङ्कारा उक्ता । आर्या जातिः ।

द्वितीय परिचारिका—अरी परभृतिके ! (कोकिल) अकेले-अकेले (मन ही मन) क्या कह रही है (मन्त्रयसे=धीरे-धीरे गा रही है, कूक रही है—वसन्त ऋतु

तुमं सि मए चूदंकुर दिण्णो कामस्स गहीदधणुअस्स ।
पहिअजणजुवइलक्खो पंचाब्भहिओ सरो होहि ॥ ३ ॥
[त्वमसि मया चूतांङ्कुर दत्तः कामाय गृहीतधनुषे ।
पथिकजनयुवतिलक्ष्यः पञ्चाध्यादिकः शरो भव ॥]
(इति चूताङ्कुरं क्षिपति ।)

में कोयल गाती ही है । परभृतिका दूसरी परिचायिका का नाम है, और यहां इससे कोकिल अर्थ भी गृहीत है क्योंकि परभृत का अर्थ कोयल भी है ।

प्रथमा—अरी मधुरिके ! (भ्रमरी) आम्रमञ्जरी को देखकर परभृतिका (मैं, कोकिल) मतवाली होती ही है । (द्वितीया परिचायिका का नाम है मधुरिका जिसका अर्थ भ्रमरी भी होता है अतएव वह श्लेष वक्रोक्ति के द्वारा उसे (मधुरिका —भ्रमरी) को उत्तर देती है । अर्थात् जैसे वसन्त में कोकिला मस्त हो जाती है उसी प्रकार मैं भी हो रही हूँ ।

द्वितीया—(उल्लास पूर्वक शीघ्रता से पास जाकर) क्या वसन्त आ गया !

प्रथमा—मधुरिके (भ्रमरी तेरे भी तो मस्ती से भरे गीतों के गाने का यही समय है (भ्रमरी वसन्त ऋतु में मधुर गुञ्जार करती है, राजभवन में परिचारिकायें भी मस्ती और विलास से भरे गीत गाती हैं)

द्वितीया—सखी ! मुझे जरा सहारा तो दो जिससे कि मैं पञ्जों के बल खड़ी हो कर आम्रमञ्जरी को उतार कर कामदेव का पूजन कर लूँ ।

प्रथमा—यदि मुझे भी पूजन का आधा मिले (तो सहारा दूँ)

द्वितीया—यह तो तुम्हारे बिना कहे ही हो जाता (अर्थात् यदि तुम न भी मांगती तब भी तुम्हें पूजा का आधा फल मिल गया होता) क्योंकि हम दोनों का जीवन तो एक ही है केवल शरीर द्विधा विभक्त हैं । (सखी के सहारे खड़ी होकर आम्रमञ्जरी उतारती है) ओह ! यद्यपि अभी यह आम्रमञ्जरी विकसित नहीं है तथापि अपने वृन्त से टूटते ही कैसी सुगन्धि फैला रही है (फिर अंजलि बांध कर)

श्लोक ३ अन्वय—हे चूताङ्कुर ! गृहीत धनुषे कामाय त्वं मया दत्तः असि, (अतः) पथिकजनयुवतिलक्ष्यः पञ्चाभ्यदिकः शरः भव ।

शब्दार्थ—पथिकेत्यादि = प्रोषितपतिका विरहिणी युवतियां जिसका लक्ष्य हो, पञ्चाभ्यधिकः = कामदेव के पांच कुसुम बाण होते हैं अतः तुम षष्ठ बाण हो जाओ ।

अनुवाद—हे आम्र मुकुल ! मैंने तुम्हें धनुर्धारी कामदेव के लिए अर्पित कर दिया है अतः अब तुम पथिक जनों की (विरहिणी) युवतियों के लक्ष्य बनाने वाले (कामदेव के) पांच बाणों से अधिक षष्ठ बाण बनो ।

(प्रविश्यापटीक्षेपेण कुपितः ।)

कञ्चुकी—मा तावत् । अनात्मज्ञे । देवेन प्रतिषिद्धवसन्तोत्सवे त्वमाम्रकलिकाभङ्गं किमारभसे ? ।

उभे—(भीते ।) पसीददु अज्जो । अग्गहीदत्थाओ वअं । [प्रसीदत्वार्यः । अगृहीतार्थे आवाम् ।]

कञ्चुकी—न किल श्रुतं युवाभ्यां यद्वासन्तिकैस्तरुभिरपि देवस्य शासनं प्रमाणीकृतं तदाश्रयिभिः पत्त्रिभिश्च । तथा हि,—

व्याख्या—हे आम्र मुकुल ! मैंने तुम्हें धनुर्धारी कामदेव के लिए अर्पित कर दिया है अतः अब तुम (कामदेव के) पञ्चवाणों से अधिक छठा वाण बन जाओ। और प्रोषितपतिका विरहिणी युवतियाँ ही तुम्हारा लक्ष्य बनें अर्थात् विरहिणी युवतियों को कामपीड़ा पहुँचा कर तुम उनके हृदय विदारक बनो। (आम्रमञ्जरी विरहिणी के लिए उद्दीपक होती है। पञ्चाभ्यधिकः का अर्थ कोई आचार्य पंचवाणों में श्रेष्ठवाण, करते हैं, अभ्यधिकः=श्रेष्ठ। कामदेव के पंचवाणों की गणना—

"सम्मोहनोन्मादौ च शोषणस्तापनस्तथा,
स्तम्भनश्चेति कामस्य पञ्चबाणाः प्रकीर्तिताः

इसी क्रम के अनुसार पञ्चवाणों का प्रभाव भी पड़ता है अपने-अपने नाम के अनुसार ही ये प्रभाव डालने वाले होते हैं। कामदेव के पञ्च कुसुम वाणों के नाम—

अरविन्द मशोकञ्च चूतञ्च नवमल्लिका, (शिरीष कुसुम)
रक्तोत्पलञ्च पञ्चैते पञ्चबाणस्य सायकाः ।।

विशेष—गृहीत धनुषे—इससे तात्पर्य यह है कि कामदेव तैयार खड़ा है, परन्तु उसके अन्य पाँचों वाण कुण्ठित हो चुके हैं अतः वह अब हे चूताङ्कुर ! तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है अतः तुम अब मानिनी नायिकाओं के मान भङ्ग करने के कार्य में उसकी सहायता करो जिससे कि वह न केवल मानिनी मान भङ्ग ही कर सके वरन् विरहिणियों के हृदय को भी काम पीड़ित कर सके।

कामदेव के पाँच ही वाण होते हैं पर यहाँ छठा वाण भी बना दिया गया है अतः असम्बन्ध में सम्बन्धलक्षणा अतिशयोक्ति है। वसन्त का उद्दीपिकातिशय ध्वनित होता है। आर्याजाति छन्द है।

संस्कृत व्याख्या :—हे चूताङ्कुर ! चूतमञ्जरि ! गृहीतं धनुर्येन तस्मै गृहीतधनुषे धृतचापाय कामाय मानिनीमानदलनशीलाय मदनाय त्वं मया दत्तः—अर्पितः—असि, पथिकजनानां युवतयः लक्ष्यं यस्यासौ पथिकजनयुवतिलक्ष्यः—विरहिणीहृदयविदारकः, पञ्चभ्यः अरविन्दादिपञ्चसंख्यकेभ्यः शरेभ्यः अभ्यधिकः अतिरिक्तः पञ्चाभ्यधिकः षष्ठ इत्यर्थः शरो वाणः भवेति। अतिशयोक्तिः, आर्या जातिः।

चूतानां चिरनिर्गतापि कलिका बध्नाति न स्वं रजः
संनद्धं यदपि स्थितं कुरवकं तत्कोरकावस्थया।
कण्ठेषु स्खलितं गतेऽपि शिशिरे पुंस्कोकिलानां रुतं
शङ्के संहरति स्मरोऽपि चकितस्तूणार्धकृष्टं शरम् ॥ ४।

(यह कह कर आम्रमञ्जरी डाल देती है)

परदा झटक कर कुपित कञ्चुकी का प्रवेश (अपटीक्षेपेण=परदा हटाकर। वास्तव में "नासूचितस्य पात्रस्य प्रवेशो निर्गमोऽपि च" इस वचन के अनुसार बिना पूर्व सूचना के किसी पात्र का प्रवेश या निष्क्रमण नहीं कराया जाता पर यहाँ पर असूचित कञ्चुकी के प्रवेश का कारण उसका राजाज्ञाभङ्गजन्यकोप व सम्भ्रम है! अंगूठी के देखने से शकुन्तला की याद आ जाने के कारण उदास हुए राजा ने वसन्तोत्सव बन्द करवा दिया था, परिचारिकायें उत्सव मना रही थीं यह देखकर कञ्चुकी क्रुद्ध हो जाता है और उन्हें ऐसा करने से रोकता है।

कञ्चुकी :—अरी नासमझ ! ऐसा न कर। जब महाराज ने वसन्तोत्सव रोक दिया है तब तू आम्रमञ्जरी तोड़ना क्यों आरम्भ कर रही है ? अथवा अनात्मज्ञे यह सम्बोधन द्विवचन का रूप है इस प्रकार वह कञ्चुकी दोनों ही परिचारिकाओं को मञ्जरी तोड़ने से रोक रहा है, अतएव आगे दोनों ही उत्तर दे रही हैं।

दोनों :—(भयभीत सी हुई) कृपा कीजिए आर्य ? हम लोगों को इस बात का पता न था।

कञ्चुकी—क्या तुम लोगों ने यह नहीं सुना है कि वसन्त ऋतु में फूलने फलने वाले वृक्षों तथा उन पर बसने वाले पक्षियों तक ने भी महाराज की आज्ञा का पालन किया है। देखो :—

श्लोक ४ अन्वय :—चूतानां कलिका चिरनिर्गता अपि स्वं रजः न बध्नाति, संनद्धं अपि यत् कुवरकं तत् कोरकावस्थया स्थितम्, शिशिरे गते अपि पुंस्कोकिलानां रुतं कण्ठेषु स्खलितम्, चकितः स्मरः अपि तूणार्धकृष्टं शरं संहरति (इति) शङ्के।

शब्दार्थ—चूतानां कलिकां=आमों की मञ्जरी (मञ्जरी में जात्यभिप्राय से एक वचन का प्रयोग है, कलिका शब्द की अभिनवोद्‌गत साधर्म्य से मञ्जरी अर्थ में लक्षणा है।) चिरनिर्गता अपि=शिशिर समाप्त होते ही जो प्रस्फुटित हो चुकी थी अर्थात् वह बहुत दिनों से निकली हुई भी, स्वं रजः न बध्नाति=अपना स्वाभाविक पराग धारण नहीं कर रही है। तात्पर्य यह है कि सर्वत्र कलिकायें निकलने के बाद ही पराग धारण कर लेती है परन्तु यहाँ से चिर निर्गत होकर भी राजा की आज्ञा के कारण ही पराग धारण नहीं कर रही हैं। रजः का अर्थ रजो दर्शन भी है अतः समासोक्ति अलंकार के द्वारा इसका अर्थ है कि जैसे कोई बाला प्रौढ़ा होकर भी रजो दर्शन को प्राप्त न हो रही हो। सन्नद्धं अपि=वन्त से बाहर निकला हुआ भी।

यत्कुवरकम् = जो शोण कुवरक पुष्प । तत् कोरकावस्थया स्थितम्=वह कली के रूप में ही बना हुआ है अर्थात् राजा की आज्ञा से खिला नहीं है। यहाँ भी जात्यभिप्राय से एक वचन का प्रयोग है। शिशिरे गते अपि=शीतकाल के बीत जाने पर अर्थात् वसन्त के आरम्भ हो जाने पर भी। पुंस्कोकिलानां=पुरुष जाति के कोकिल समूह का। रुतं=ध्वनि—कूक। कण्ठेषु स्खलितम् = निकलने के समय गले में ही पड़ी रह गई है अर्थात् निकलना चाहती हुई भी, राजाज्ञा मान कर, गले में ही रुकी रह गई है, तात्पर्य यह है कि कोकिल की कूक भी अस्फुट हो गई है। चकितः=राजाज्ञा से भयभीत सा होकर, स्मरः अपि=सर्व विजयी कामदेव भी, औरों की तो बात ही क्या। तूणार्धं कृष्टं=तरकस से आधे निकाले हुए, संहरति=राजाज्ञा मान कर फिर तूणीर में ही रख लेता है। शङ्के=मैं ऐसी सम्भावना करता हूँ।

अनुवाद :—बहुत पहिले निकली हुई भी आमों की मञ्जरी अपना पराग धारण नहीं करतीं। अपने वृन्त से बाहर निकला हुआ भी जो कुवरक पुष्प वह कली के रूप में ही बना हुआ है। शीतकाल के बीत जाने पर भी अर्थात् वसन्त के आरम्भ हो जाने पर भी पुरुष जाति के कोकिलों की ध्वनि उनके गले में ही पड़ी रह गई है, अर्थात् उसकी कूक बाहर न निकल सकी है। चकित हुआ कामदेव भी तरकस से आधे निकले हुए शर को फिर तूणीर में ही रखे रहा है, ऐसा मैं समझता हूँ।

व्याख्या—आम के बौर यद्यपि बहुत पहिले निकल आये थे फिर भी वे अपना पराग नहीं धारण करते अर्थात् उनमें अब भी पराग नहीं आ पाया है। जो कुवरक कलियाँ खिलने के लिए ही बाहर निकली थीं वे कली के रुप में ही रह गई हैं, खिल नहीं पाईं। तथा शीतलकाल के बीत जाने पर भी पुरुष जाति के कोयलों की कूक गले तक आकर ही रुक गई है अर्थात् वे स्फुट रूप से नहीं कूक रहे हैं, इसलिए मेरी समझ से तो कामदेव भी अपने तूणीर में से आधा वाण निकलता है और फिर डर के मारे उसी में रख लेता है, वाण चढ़ाता है पर चलाता नहीं। तात्पर्य यह है कि जहाँ अचेतन वृक्षादिक चेतन पक्षी आदि तथा महत्वशाली कामदेव भी राजा की आज्ञा का पालन करते हैं वहाँ तुम लोगों ने राजा की आज्ञा न सुनी हो ऐसा सम्भव नहीं है।

विशेष—सन्नद्ध का अर्थ है युद्ध के लिए प्रस्तुत अतः यह शब्द यहाँ बाधित मुख्यार्थ है, जो सन्नद्ध होता है वह बाहर निकलता है। अतः सन्नद्ध शब्द बहिर्निर्गमन साम्य से कुवरक को लक्षित करता है और लक्षण का फल है अति शोभाशालित्व ध्वनित करना। पुंस्कोकिलानाम्=पुरुष जाति के कोकिल को प्रयोग करने से कवि का तात्पर्य है कोकिल युवक, कोकिल सामान्य नहीं, क्योंकि कोकिल युवतियों का तो स्वतः एव स्वरस्खलन सम्भव है, पुंस्कोकिल की ही कूक अत्यधिक स्फुट होती है। अथवा पुल्लिंग कोकिल के प्रयोग से कवि का तात्पर्य है कि वसन्त में स्वभावतः स्त्री जाति की अपेक्षा पुरुष जाति में ही अधिक मद होता है अतएव कोकिल युवकों के ही रुत का राजाज्ञा से वारण बतलाया गया है।

उभे—णत्थि संदेहो। महाप्पहाओ राएसी। [नास्ति संदेहः। महाप्रभावो राजर्षिः।]

प्रथमा :—अज्ज ! कति दिअहाइं मित्तावसुणा रट्ठिएण भट्टिणी-पाअमूलं पेसिदाणां ? । इत्थं अ णो पमदवणस्य पालणकम्म समप्पिदं। ता आअंतुअदाए अस्सुतपुव्वो अम्हेहिं एमो वुत्तंतो। [आर्य ! कति दिवसान्यावयो-र्मित्रावसुना राष्ट्रियेण भट्टिनीपादमूलं प्रेषितयोः ? । इत्थं च नौ प्रमदवनस्य पालन-कर्म समर्पितम्। तदागन्तुकतयाऽश्रुतपूर्व आवाभ्यामेष वृत्तान्तः।]

रजः न वध्नाति में चेतनव्यवहारसमारोपण से (जैसा कि ऊपर दिखलाया गया है) समासोक्ति अलंकार है। चिरनिर्गतादि कारणों के रहते हुए भी परागादि कार्यों का निषेध किया गया है अतः मालाविशेषोक्ति अलंकार है। यहाँ पर अपि शब्द श्रवण से विरोधाभासालंकार की आशंका न करनी चाहिए क्योंकि क्वचित् अपि शब्द के प्रयुक्त रहते हुए भी विरोधाभास अलंकार नहीं होता 'कर्पूर इव दग्धोऽपि' इत्यादि उदाहरण में अपि शब्द के रहते हुए भी विशेषोक्ति अलंकार माना गया है विरोधाभास नहीं। 'शंङ्के' शब्द प्रयोग वाच्या उत्प्रेक्षा का द्योतक है। वैसे यहाँ भीतत्व और शरसंहरणत्व दोनों ही उत्प्रेक्षित हैं, काम के वाण कुसुम ही होते हैं पर उनके अर्धविकसित होने से वाण का संहरण होता है अतः चतुर्थ वाक्यार्थ के प्रति पूर्ववाक्य-पदार्थ हेतु है अतः वाक्यार्थ हेतुक काव्यलिंग भी है। स्थिरस्थेति कुरकोरेति रेपुंरोपीति इत्यादि में छेक वृत्ति श्रुति अनुप्रास हैं। शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

सम् + नह् वन्धने + क्त = सन्नद्धम्, रुपशब्दे + क्त = रुतम्।

संस्कृत व्याख्या—चूतानां = आम्राणां कलिका लक्षणया मंजरी चिरनिर्गतापि चिरादुद्भिन्नापि स्वं रजः = स्वकीयं स्वभाविकं परागं न बध्नाति प्रकटमति, यथा काचन बाला प्रढ़ावस्थाङ्गतापि रजोदर्शनं न प्राप्नोति तथैवाम्रमंजरी परागं न धत्ते। सन्नद्धं वहिर्निर्गतमपि यत् कुवरकं कुवरकपुष्पं तत् कोरकावस्थया कलिकावस्थया स्थितम्, शिशिरे गतेऽपि वसन्तारम्भे जातेऽपि पुमांसश्च ते कोकिलाश्च तेषां पुस्को-किलानां रुतं = शब्दितं, कण्ठेषु गलविलभागेषु स्खलितं विस्रस्तं अतएव चकितः = भयभीतः स्मरः कामेऽपि तूणार्धकृष्टं = निषङ्गादर्धमाकृष्टमपि शरं = सायकं संहरति स्वनिषङ्ग एव स्थापयतीत्यहं शंङ्के = मन्ये राजाज्ञाभयादित्यर्थः।

उक्ता अलंङ्कारादयः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्।

दोनों—इसमें क्या सन्देह ! राजर्षि का प्रभाव महान् है।

प्रथमा—आर्य ! राजश्यालक मित्रावसु द्वारा महारानी के चरणों में भेजी गई हम लोगों को अभी दिन ही कितने हुए हैं ? (अर्थात् अभी थोड़े ही दिन तो हुए राजश्यालक ने हम लोगों को महारानी के चरणों में उनकी सेवा के लिए भेजा है) और इस प्रकार हम लोगों को प्रमदवन की रक्षा का काम सौंपा गया है, अतएव

कंचुकी—भवतु। न पुनरेवं प्रवर्तितव्यम्।

उभे—अज्ज! कोदूहलं णो। जइ इमिणा जणेण सोदव्वं कहेदु अज्जो किणिमित्तं भट्टिणा वसन्तुस्सवो पडिसिद्धो। [आर्य! कौतूहलं नौ। यद्यनेन जनेन श्रोतव्यं कथयत्वयं किंनिमित्तं भर्त्रा वसन्तोत्सवः प्रतिषिद्धः।]

सानुमती—ऊस्सवप्पिआ खु मणुस्सा। गुरुणा कारणेण होदव्वं। [उत्सव प्रियाः खलु मनुष्याः। गुरुणा कारणेन भवितव्यम्।]

कंचुकी—बहुलीभूतमेतत्किं न कथ्यते?। किमत्रभवत्योः कर्णपथं नायातं शकुन्तलाप्रत्यादेशकौलीनम्?।

उभे—सुदं रट्ठिअमुहादो जाव अंगुलीअअदंसणं। [श्रुतं राष्ट्रियमुखाद्यावदङ्गुलीयकदर्शनम्।]

कंचुकी—(आत्मगतम्।) तेन ह्यल्पं कथयितव्यम्। (प्रकाशम्) यदैव खलु स्वांगुलीयकदर्शनादनुस्मृतं देवेन सत्यमूढपूर्वा मे तत्रभवती रहसि शकुन्तला मोहात्प्रत्यादिष्टेति। तदाप्रभृत्येव पश्चात्तापमुपगतो देवः। तथाहि,—

नवागन्तुक होने के कारण इस वृत्तान्त को पहिले नहीं सुना था। "(राजश्यालस्तु राष्ट्रियः" राष्ट्रियः=राजश्यालक)।

कंचुकी—अच्छा, जो हुआ सो हुआ अब फिर कभी ऐसा न करना।

दोनों—आर्य! हम लोगों को बड़ी उत्सुकता है, यदि हम लोगों के सुनने योग्य है तो कृपा कर बता दीजिए कि महाराज ने यह वसन्तोत्सव किस लिए रोक दिया है?

सानुमती—मनुष्यों को तो उत्सवों का बड़ा चाव होता है, इसलिए (उत्सव के प्रतिबन्ध का) कोई बहुत बड़ा कारण होना चाहिए।

कंचुकी—जब यह (बात) फैल ही चुकी है तो कह ही क्यों न दी जाय? क्या शकुन्तला के प्रतिख्यान का लोकापवाद तुम लोगों ने नहीं सुना है? (कौलीनम् =लोकापवाद अर्थात् अपनी परिणीता पत्नी शकुन्तला के परित्याग से लोकापवाद हुआ है)

उभे—हाँ! (राजा को) अँगूठी मिलने तक की बात तो हम लोगों ने राजश्यालक के मुख से सुनी है।

कंचुकी—(मन ही मन) तब तो थोड़ा ही बताना शेष रह गया है। (प्रकट) अपनी अँगूठी के देखने से ज्योंही महाराज को स्मरण हुआ कि मैंने सचमुच ही एकान्त में पहले देवी शकुन्तला से विवाह किया था और फिर अज्ञानवश उसका प्रत्याख्यान कर दिया है, तभी से महाराज को बड़ा पछतावा हो रहा है। देखो:—

रम्यं द्वेष्टि यथा पुरा प्रकृतिभि र्न प्रत्यहं सेव्यते
शय्याप्रान्तविवर्तनैर्विगमयत्युन्निद्र एव क्षपाः ।
दाक्षिण्येन ददाति वाचमुचितामन्तःपुरेभ्यो यदा
गोत्रेषु स्खलितस्तदा भवति च व्रीडाविलक्षश्चिरम् ॥ ५ ॥

श्लोक ५ अन्वय—रम्यं द्वेष्टि, प्रकृतिभिः यथा पुरा तथा प्रत्यहं न सेव्यते, शय्याप्रान्तविवर्तनैः, उन्निद्रः एव क्षपाः विगमयति, अन्तः पुरेभ्यः दाक्षिण्येन उचितां वाचं ददाति, यदा गोत्रेषु स्खलितः तदा चिरं व्रीडाविलक्षः च भवति ।

शब्दार्थ—रम्यं द्वेष्टि=रमणीक वस्तुओं—स्रक् चन्दन चन्द्रपादादिकों से द्वेष रखता है अर्थात् इनको आंखों से भी नहीं देखता—शकुन्तला के विरह के कारण ये वस्तुयें उसके नेत्रों को सुखदायी नहीं होतीं प्रत्युत और उद्वेजक ही होती हैं अतः वह इनका आदर नहीं करता । यथेत्यादि=जैसे पहिले उसी प्रकार अब मन्त्रिगण राजकार्य के लिए उसके पास प्रतिदिन उपस्थित नहीं होते अर्थात् पहिले तो काम पड़ने पर प्रायः सभी मन्त्री प्रतिदिन राजा के पास उपस्थित होते थे पर अब अवसर की अपेक्षा से कार्य की अपेक्षा से नहीं, पहिले तो प्रायः मन्त्री आदि सभी वस्तु आदि एक ही दो, पहिले तो प्रतिदिन, पर अब कदाचित् ही उपस्थित होते हैं अर्थात् राजा अब राजकार्य को भली भांति नहीं देखता । इन दो वाक्यों से राजगत अरति द्योतित की गई है । शय्येत्यादि=शय्या के प्रान्त भागों पर करवटें बदलते रहने से, शय्याओं पर नहीं प्रत्युत एक ही शय्या पर, बीच में नहीं प्रत्युत उसके किनारों पर ही निरंतर करवटें बदलते रहने के कारण, न कि भली भांति सोने के कारण, उन्नद्रिः=निद्रा रहित होकर । क्षपाः=रात्रियां, एक दो रात्रि नहीं बहुत सी रातें । विगमयति= व्यतीत करता है, वि उपसर्ग की विशेषता से अर्थ है, व्यतीत नहीं करता प्रत्युत रातें काटता है, रातें अपने आप व्यतीत नहीं होतीं अतः उन्हें काटना पड़ता है । इससे राजा की विरह दशा की असह्यता प्रकट होती है । अन्तःपुरेभ्यः=अन्तपुर की रानियों से । दाक्षिण्येन उचितां वाचं ददाति=बड़ा आग्रह करने पर तत्कालोचित बात करता है । दाक्षिण्येन=बहुत अधिक अनुरोध करने पर उदारता दिखाकर—शिष्टाचारानुरोध से ही, प्रमवश नहीं, उचिताम्=तत्कालोचित ही आवश्यक ही, अभ्यस्त ही बात—इधर उधर की बातें नहीं, मीठी मीठी बातें नहीं । इससे यह ध्वनित होता है कि राजा अपनी रानियों के अनुरोध पर ही बहुत थोड़ी सी अत्यन्त आवश्यक बात ही करता था, उसका रानियों के लिए कोई अनुराग नहीं रह गया था, उनमें उसके लिए कोई मनोरंजन न था, उनसे वह प्राण बचाने का उद्योग किया करता था जिससे कि उन्हें उसकी विरहावस्था का पता न लग सके । यदा गोत्रेषु स्खलितः=जब कभी किसी नायिका का नाम लेते समय अन्तर्भावनाप्राबल्य से उसके मुंह से शकुन्तला का नाम निकल जाता था (गोत्र=नाम, स्खलितः=भूल से निकल जाता था अर्थात् जब वह नामों का उच्चारण गलती से कर बैठता था । व्रीडाविलक्षः=व्रीडा=

सानुमती—पिअ्र मे । [प्रियं मे ।]

कंचुकी—अस्मात्प्रभवतो वैमनस्यादुत्सवः प्रत्याख्यातः ।

लज्जा, विलक्षः विस्मित आश्चर्यचकित अर्थात् लज्जा के कारण विस्मित। अर्थात् मैं राजा दुष्यन्त हूँ फिर भी मेरी यह दशा है । विलक्ष, पारिभाषिक शब्द है जिसका लक्षण है "**आत्मनः स्खलिते सम्यक् ज्ञातेऽन्यैर्यस्य जायते, अपत्रपातिमहती स विलक्ष इति स्मृतः**" अपत्रपा = लज्जा ।

अनुवाद—(राजा अब) सुन्दर वस्तुओं से द्वेष करता है अर्थात् सुन्दर वस्तुयें अब उसे अच्छी नहीं लगतीं । और न अब वह पहिले की तरह मन्त्री आदिकों की सेवा ही प्रतिदिन स्वीकार करता है । शयन के किनारों पर करवटें बदलते-बदलते जागता हुआ ही रात्रियाँ व्यतीत कर देता है जब अन्तःपुर की रानियों से, शिष्टाचारानुरोध से ही, तत्कालोचित आवश्यक ही बात करता है और जब कभी किसी नायिका का नाम लेते समय शकुन्तला का नाम ले जाता है तब वह—देर तक लज्जा से विस्मत बना रहता है ।

व्याख्या—राजा को अब कोई भी सुन्दर वस्तु नहीं भाती, और न वे अब पहिले की तरह प्रतिदिन मन्त्रियों आदि की सेवा ही स्वीकार करते हैं, एक पलंग पर पड़े करवटें बदल-बदल कर जागते हुए ही रातें काट देते हैं । अन्तःपुर की रानियों से जब कभी कुछ बात करते हैं और उस समय यदि भूल से शकुन्तला का नाम मुँह से निकल जाता है तो बहुत देर तक लज्जा के मारे विस्मित से बने रहते हैं। तात्पर्य यह है कि शकुन्तला के परित्याग से उत्पन्न अनुताप के कारण राजा की ऐसी दशा हो रही है । इससे कवि ने राजा की काम दशाओं का भी संकेत किया है । रम्यंद्वेष्टि से अरुचि, गोत्रस्खलनादि से तन्मयीभाव तथा दाक्षिण्य से अरुचि निर्दिष्ट की है ।

विशेष—यहाँ पश्चात्ताप आदि का कारण न बताकर जो उनके कार्यभूत रम्य द्वेष आदि का कथन किया गया है अतः **पर्यायोक्ति** अलंकार है । अथवा अनुतापप्राप्ति प्रतिपादन रूप कार्य के प्रति रम्य द्वेषादि रूप बहुविधि कारणों का कथन है अतः **समुच्चयालंकार** है **काव्यलिङ्ग, छेक, वृत्ति, अनुप्रास** शार्दूलविक्रीडित छन्द है। शकुन्तलागत भावना प्राबल्य से ही राजा में उक्त विविध अनुभाव उत्पन्न हो रहे हैं, और इन अनुभावों से तथा व्यज्यमान चिन्ता विषादादिभावों से विप्रलम्भ शृङ्गार व्यंजित होता है ।

द्विष् लटि = द्वेष्टि, वि + वृत + ल्युट् = विवर्तनम् ।

संस्कृत व्याख्या—रम्यं = मनोहारि—स्रक्चन्दनगीतवादित्रादिकं द्वेष्टि = विरहदुःखातिरेकाच्चक्षुषापि द्रष्टुं नेच्छति । यथा पुरा = पूर्ववत् प्रकृतिभिः = अमात्यादिभिः प्रत्यहं = प्रतिदिनं न सेव्यते राजकार्यसम्पादनाय नोपास्यते । शय्यायाः

उभे—जुज्जइ । [युज्यते ।]

(नेपथ्ये ।)

एदु एदु भवं । [एतु एतु भवान् ।]

कञ्चुकी—(कर्णं दत्त्वा ।) अये ! इत एवाभिवर्तते देवः । स्वकर्मानुष्ठीयताम् ।

उभे—तह । [तथा] (इति निष्क्रान्ते ।)

(ततः प्रविशति पश्चात्तापसदृशवेशो राजा विदूषकः प्रतीहारी च ।)

कञ्चुकी—(राजानमवलोक्य ।) अहो सर्वास्ववस्थासु रमणीयत्वमाकृति- विशेषाणाम् । एवमुत्सुकोऽपि प्रियदर्शनो देवः । तथा हि,—

शयनीयस्य प्रान्तेषु—उपान्तभागेषु यानि विवर्तनानि परिलुण्ठनानि तैः शय्याप्रान्तः विवर्तनैः उत्सृष्टा निद्रा येन स उन्निद्रः निद्राशून्यः—जागरित एव क्षपाः=रात्रीः= विगमयति=विरुद्धं यथा स्यात्तयातिवाहयति । अन्तःपुरेभ्यः=अवरोधनायिकाभ्यः दाक्षिण्येन=स्वावस्थागोपनार्थं चातुर्येण उचितां=तत्कालोचितां—अभ्यस्तां वा वाचं वचनं ददाति प्रयच्छति यदा गोत्रेषु नामसु स्खलितः=विपर्यस्तः अन्यस्या नायिकाया नामोच्चारणकाले शकुन्तलानामोच्चारयति तदा चिरं बहु क्षणं व्याप्य व्रीडया विलक्षः व्रीडाविलक्षः=लज्जाविस्मयान्वितः=भवति । स्वावस्थाप्रकाशनाद तिलज्जितोऽत एव च विस्मयान्वितश्च भवतीति । उक्ता अलंकारादयः । शार्दूल विक्रीडितं वृत्तम् ।

सानुमती—बहुत अच्छा ! बहुत अच्छा (यह बात मुझे बहुत अच्छी लगी, मैं तो यही सुनना चाहती थी--क्योंकि शकुन्तला के प्रति यह कथन अनुराग सूचक था ।)

कंचुकी—बस, मन की इस महती उदासीनता के कारण ही उत्सव रोक दिया गया है ।

उभे—तब तो उचित ही है ।

(नेपथ्य में)

(आइये महाराज आइये)

कंचुकी—(कान लगाकर) अरे ! महाराज तो इधर ही आ रहे हैं ? तुम लोग अपना-अपना काम करो ।

उभे—बहुत अच्छा (जाती हैं)

(पश्चात्ताप के सदृश्य हो वेष धारण किए हुए राजा का विदूषक व प्रतीहारी के साथ प्रवेश)

कंचुकी—(राजा को देखकर) अहो ! जिनकी आकृति में कुछ विशेष प्रकार

प्रत्यादिष्टविशेषमण्डनविधिर्वामप्रकोष्ठार्पितं
बिभ्रत्कांचनमेकमेव वलयं श्वासोपरक्ताधरः।
चिन्ताजागरणप्रतान्तनयनस्तेजोगुणादात्मनः
संस्कारोल्लिखितो महामणिरिव क्षीणोऽपि नालक्ष्यते॥ ६॥

का सौन्दर्य होता है अर्थात् जो विशेष सुन्दर होते हैं वे सभी दशाओं में सुन्दर ही लगते हैं। इस प्रकार उदासीन भी महाराज दर्शनीय ही हैं। क्योंकि—

श्लोक ६ अन्वय—प्रत्यादिष्टविशेषमण्डनविधिः, वामप्रकोष्ठार्पितं एकं एव कांचनं वयलं बिभ्रत्, श्वासोपरक्ताधरः चिन्ताजागरणप्रतान्तनयनः, आत्मनः तेजोगुणात् क्षीणः अपि संस्कारोल्लिखितः महामाणिः इव न आलक्ष्यते।

शब्दार्थ—प्रत्यादिष्टेत्यादि=जिसने विरहजन्य कृशता अथवा अरति वश हार अङ्गुलीयक आदि विशेष प्रकार के अलंकरणों को धारण करना बन्द कर दिया है। अर्थात् कुछ ही वलय आदि आभूषण, जो राजचिन्ह माने जाते हैं, वह धारण किये हुए था क्योंकि उनका त्याग अनुचित था परन्तु अन्य विशेष प्रकार के आभूषणों को उसने अरुचि वश त्याग दिया था। वामेत्यादि=दाईं भुजा पर केवल एक स्वर्ण कंकण डाले हुए। श्वासेत्यादि=विरहजन्य उष्ण श्वास से जिसका अधरोष्ठ लाल वर्ण का हो रहा था। चिन्तेत्यादि=शकुन्तलागत चिन्ता से जागते रहने के कारण जिसके नेत्र अत्यन्त म्लान—अलसाये हुए थे। (प्रताम्त=अत्यन्त म्लान) आत्मनः तेजोगुणात्=अपने विशेष प्रकार के तेज की दीप्ति से, संस्कारेत्यादि=अधिक चमक लाने के लिये खराद पर काट छांट कर घिस कर प्रस्तुत की गई महामणि के समान, क्षीणोऽपीत्यादि=दुर्बल होता हुआ भी, दुर्बल दिखाई नहीं पड़ता था।

अनुवाद—विशेष प्रकार के अलंकारण धारण को छोड़े हुए, बायें प्रकोष्ठ पर केवल एक स्वर्णवलय को धारण किये हुए, (विरह जन्य उष्ण) श्वासों से जिसका अधरोष्ठ लाल हो रहा है। (शकुन्तलागत) चिन्ता से जागते रहने के कारण जिसके नेत्र अलसाये हुए हैं। अपने विशेष प्रकार के तेज से, खराद पर घिस कर प्रस्तुत की गई महा मणि के समान, दुर्बल होता हुआ भी दुर्बल जैसा दिखाई नहीं पड़ता।

व्याख्या—सभी विशेष प्रकार के अलंकरण धारण को छोड़े हुए, बायें प्रकोष्ठ पर केवल एक स्वर्ण वलय को धारण किये हुये विरहजन्य उष्ण श्वासों से जिसका अधरोष्ठ लाल हो रहा है, और शकुन्तलागत चिन्तावश जागते रहने के कारण जिसके नेत्र बहुत ही अलसाये हुए हैं ऐसे दुर्बल भी महाराज, अपने विशेष प्रकार के तेज के प्रभाव से उसी प्रकार दुर्बल लक्षित नहीं होते जैसे खराद पर घिस कर, काट छांट कर भी प्रस्तुत किया गया अतएव छोटा भी महामणि क्षीण लक्षित नहीं होता।

सानुमती—(राजानं दृष्ट्वा) ठाणे खु पच्चादेसविमाणिदा वि इमस्स किदे सउंदला किलम्मदि त्त। (स्थाने खलु प्रत्यादेशविमानिताप्यस्य कृते शकुन्तला क्लाम्यतीति।)

राजा—(ध्यानमंदं परिक्रम्य।)

अर्थात् यद्यपि महाराज के हृदय में बहुत बड़ा शोक है फिर भी तेज के उत्कर्ष से वह लक्षित नहीं होता।

विशेष—वामेत्यादिः—राजाओं को विरुदावली के निमित्त वाम हाथ में वलय धारण करना आवश्यक होता है, उसके स्वर्ण के होने से अति शीतलता ध्वनित होती हैं, एक होने से अत्यधिक विरह कृशता प्रतीत होती है अतएव वह दूसरा वलय धारण करने में असमर्थ था। एक शब्द मुख्यता का भी द्योतक है। 'अर्पितं इस भूतकाल के प्रयोग से कवि ने उस प्रधान वलय के सदा धारण किये रहने का भाव दिखलाया है। श्वासेत्यादि—विरह जन्य उष्ण भी श्वासों से उसका अधर रुक्ष नहीं है प्रत्युत वह लाल है इससे उसका शोभातिशयत्व प्रकट होता है, क्योंकि अधर लाल ही शोभाधायक माना गया है। इन विशेषणों में स्वाभावोक्ति अलंकार है तथा इनके साभिप्राय होने से परिकर अलंकार है। महामणिरिव यहाँ उपमा है। और इस उपमान से क्षीण होने पर भी राजा की अन्तः सारता तथा सर्वदा देखे जाने पर भी अवितृप्तता ध्वनित होती है। प्रप्रेति, ष्ठष्ठेति तान्तेति क्षीक्ष्येति में छेक, श्रुति, वृत्ति, अनुप्रास। शार्दूल विक्रीडित छन्द है। इस श्लोक द्वारा कवि ने पांच काम दशाओं का भी निर्देश किया है :—चिंता से संकल्प, जागरण, क्षीण से तनुता, प्रत्यादिष्ट से विषय विनिवृति अथवा आङ्गसौष्ठवं, वामहस्त कटक धारण से उन्माद।

दस काम दशायें :—

"दृङ् मनः सङ्गसंकल्पो जागरः कृशतारतिः।
ह्रीत्यागोन्माद मूर्च्छान्ता इत्यनङ्गदशा दश" ॥

अथवा अङ्गेष्वसौष्ठवं चैत पांडुता कृशतप्ऽरुचिः अधृतिः स्याद नालम्बस्तन्मयोन्माद मूर्च्छना, मृतश्चेति क्रमाज्ज्ञेया दश स्मरदशा इह,

इनमें ह्रीत्याग उन्माद आदि कुछ काम दशाओं का कवि, गत श्लोक में भी वर्णन कर चुका है। राजगत चिन्ता ग्लानि आदि भाव है किन्तु कञ्चुकीगत हर्ष विस्मय आदि भाव हैं।

प्रति+आ+दिश्+क्त=प्रत्यादिष्टम्, वि+धा+कि=विधिः। वि+शिष्+घञ्=विशेषः वि+भृ+शतृ=विभ्रत्। उप+रञ्ज+क्त=उपरक्तः।

संस्कृत व्याख्या—प्रत्यादिष्टः=कृशतया अरत्या वा निराकृतः विशेषस्य मण्डनस्य विधिः=धारणनियमः प्रसाधनविधि र्वा येन स प्रत्यादिष्टविशेषमण्डनविधिः, वामश्चासौ प्रकोष्ठश्च तस्मिन् अर्तिम् समर्पितं परिघृतम् वा वामप्रकोष्ठार्पितम्

प्रथमं सारङ्गाक्ष्या प्रियया प्रतिबोध्यमानमपि सुप्तम्।
अनुशयदुःखायेदं हतहृदयं संप्रति विबुद्धम् ॥ ७ ॥

एकं मुख्यं कांचनं कनकमयं वलयं हस्तकटकं बिभ्रत्—दधत्, व्यवहारविरुद्धेन वामहस्तकटकधारणेनास्योन्मादावस्था सूच्यते, श्वासेन विरहजन्यदीर्घ-निःश्वासेनोपरक्तः पाटलितोऽधरः अधरोष्ठो यस्य स श्वासोपरक्ताधरः, चिन्तया—शकुन्तलागतया चिन्तया यज्जागरणं तेन प्रकर्षेण तान्ते म्लाने नयने यस्य स चिन्ता जागरणप्रतान्त-नयनः=शकुन्तलागतचिन्तनजागरणपरिम्लाननेत्रः, क्षीणः कृशोऽपि आत्मनः स्वकीयस्य तेजोगुणैः स्वसहजशरीरकान्तिप्रभाप्रवाहैः संस्कारार्थं—उल्लिखित उद्घृष्टः संस्कारोल्लिखितः—तेजोविशेषप्राप्तये शाणोलीढः महामणिः—महानामिव न आलक्ष्यते-कृशोऽपि कृशतया ज्ञातुं न शक्यते। स्वप्रभाविशेषोद्भासितदिगन्तरालस्य कृशाङ्गस्यापि राज्ञः कार्श्यं तेजोमण्डलाच्छादितं सत्, शाणोल्लीढस्यातएव प्रभाविद्योतमानस्य महारत्नस्य तनुत्वमिव सहसा नावबुध्यत इति भावः। उक्ता अलंकारादय। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्।

इससे नायक के सात्विक गुणों के अन्तर्गत माधुर्य नामक गुण की ओर भी निर्देश किया गया है। "**तन्माधुर्यं यत्र गात्रदृष्ट्यादेः स्पृहणीयता, सर्वावस्थासु सर्वत्र**"

सानुमती—(राजा को देखकर) (इनके द्वारा किये गये) परित्याग से अपमानित भी शकुन्तला यदि इनके लिए विलखती है तो यह उचित ही है, तात्पर्य यह कि यद्यपि इन्होंने अकारण ही शकुन्तला का त्याग कर उसका बड़ा भारी अपमान किया है तो भी वह जो इनकी सुन्दरता एवं सहृदयता पर मुग्ध हो अपमान को भी भूलकर इनके लिए तड़फती रहती है, वह ठीक ही है। (स्थाने खलु= उचित ही है।) क्लाम्यति = तड़फती है—विलखती है। अस्य कृते=इनके लिए।)

राजा—चिन्तावश धीरे-धीरे चलकर (इससे राजा की अनावलम्बनता नामक काम दशा प्रकट होती है "**अनावलम्बनता वापि शून्यता मनसः स्मृताः**"।

श्लोक ७ अन्वय—सारंगाक्ष्या प्रियया प्रथमं प्रतिबोध्यामानं अपि सुप्तं अतएव इदं हतहृदयं सम्प्रति अनुशयदुःखाय विबुद्धम्।

शब्दार्थ—सारंगाक्ष्या=हिरण के समान नेत्र वाली (इस विशेषण से राजा द्वारा मृग को पानी पिलाने के समय किये गये परिहास का अनुस्मरण सूचित किया गया है) प्रियया=सारंगाक्षी ही नहीं अत्यन्त मनोहर भी शकुन्तला के द्वारा (इससे यह ध्वनित किया गया है कि उसके दर्शन मात्र से प्रतिबोध हो जाना उचित था) प्रतिबोध्यमानमपि सुप्तम्=उसके दर्शन मात्र से ही जाग जाना चाहिए था परन्तु न जागा फिर प्रयत्नपूर्वक पूर्वकृत परिणय आदि की बात याद दिलाने पर भी, समझाए जाने पर भी सोता रहने वाला, अर्थात् निद्रिवत् अखिलवृत्तान्त को न

एकैकमत्र दिवसे दिवसे मदीयं
नामाक्षरं गणय गच्छति यावदन्तम् ।
तावत्प्रिये ! मदवरोधगृहप्रवेशं
नेता जनस्तव समीपमुपैष्यतीति ॥ १२ ॥

तच्च दारुणात्मना मया मोहान्नानुष्ठितम् ।

सानुमती—रमणीओ खु अवही विहिणा बिसंवादिदो । [रमणीयः खल्ववधि विधिना विसंवादितः ।]

विदूषकः—कहं धीवलकप्पिअस्स लोहिअमच्छस्स उदलब्भंते आसि । ? [कथं धीवरकल्पितस्य रोहितमत्स्योदराभ्यान्तर आसीत् ? ।]

है। अतः मालूम होता है कि मेरे मन में अँगूठी देने के कारण को जानने की जितनी इच्छा है—या चाव है उतनी ही इसके मन में भी है, इसीलिये तो इसने पूछा है। आकारितः—मानो मेरी ही इच्छा से यह पूँछने के लिये प्रवृत्त कराया गया है यहाँ गम्योत्प्रेक्षा है।

राजा—सुनिये, जब मैं तपोवन से अपनी राजधानी के लिये प्रस्थान करने लगा था तब प्रिया शकुन्तला ने आँखों में आँसू भर कर पूँछा था कि अब कितने दिनों में आर्य पुत्र (आप) समाचार भेजेंगे अर्थात् अब कब तक आप मेरी सुध लेंगे।

विदूषक—अच्छा, तब ।

राजा—इसके बाद यह अँगूठी उसकी उँगली में पहनाते हुये मैंने उत्तर दिया था कि :—

श्लोक १२ अन्वय—अत्र दिवसे दिवसे मदीयं एकैकं नामाक्षरं गणय यावत् अन्तं गच्छति तावत् प्रिये मदवरोधगृहप्रवेशं नेता जनः तव समीपं उपैष्यति इति ।

शब्दार्थ—अत्र=इस नाम मुद्रा में, यावत् अन्तं गच्छति=जब तक गणना समाप्त होगी अर्थात् तीन चार दिन में। मदवरोधेत्यादि=मेरे अन्तःपुर में प्रवेश कराने वाला, नेता=पहुँचाने वाला, प्रवेशं नेता=प्रवेश कराने वाला अर्थात् अन्तःपुर में पहुँचाने वाला। उपैष्यति=आयेगा।

अनुवाद :—इस अँगूठी पर (लिखे हुए) मेरे नाम के अक्षरों की प्रति दिन एक एक करके गिनना, जब तक अन्ताक्षर पर पहुँचोगी तब तक हे प्रिये मेरे अन्तःपुर में पहुँचाने वाला कोई व्यक्ति तुम्हारे पास आयेगा।

व्याख्या—इस अँगूठी पर (लिखे हुये) मेरे नाम के अक्षर को प्रति दिन गिनती जाना और जब ही गणना समाप्त होगी अर्थात् जब तुम सभी अक्षर गिन चुकोगी तभी हे प्रिये अन्तःपुर में पहुँचाने वाला कोई व्यक्ति अर्थात् तुम को वहाँ से

राजा—शचीतीर्थं वन्दमानायाः सख्यास्ते हस्ताद् गङ्गास्रोतसि परिभ्रष्टम्।

विदूषक—जुज्जइ। [युज्यते]

सानुमती—अदो एव्व तवस्सिणीए सउंदमाह अधम्मभीरुणो इमस्स राएसिणो परिणाए संदेहो आसि। अपवा, ईदिसो अणुराओ अहिण्णाणं अवेक्खदि। कह विअ एदं ?। [अतएव तपस्विन्याः शकुन्तलाया अधर्मभीरोरस्य राजर्षेः परिणये संदेह आसीत्। अथवेदृशोऽनुरागोऽभिज्ञानमपेक्षते कथमिवैतत् ?]

लेकर मेरे अन्तःपुर में पहुँचाने के लिए कोई मेरा सेवक तुम्हारे पास आयेगा। यह मैंने उत्तर दिया था।

विशेष—अत्र—इस अँगूठी में अथवा यहाँ इस वन में। यहाँ तीन चार दिन में कोई लेने आयेगा इस प्रकार न कह कर जो नामाक्षर गणना व्यपदेश भङ्गी से कहा गया है अतः पर्यायोक्त अलंकार है "पर्यायोक्त यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते" अर्थात् जहाँ गम्यार्थ को ही वचन भङ्गी से कहा जाय। कोई आचार्य यहाँ काव्य-लिङ्ग भी मानते हैं, छेकवृत्ति अनुप्रास। वसन्ततिलका छन्द "ज्ञेया वसन्ततिलका तभजा जगौ गः"

अस्मत् शब्दात् छप्रत्ययः छस्य ईयादेशः प्रत्योत्तर पदयोश्चेति मपर्यन्तस्य मादेशः मदीयः। नी+तृच्=नेता। उप+इ धातोः लृटि रुपम् उपैष्यति।

संस्कृत व्याख्या—अत्र माम मुद्रायां दिवसे दिवसे प्रतिदिनं मदीयं एकैकं एकमेकं नाम्नोऽक्षरं 'दुष्यन्त' इति यथाश्रुतं वर्णं गणय गणितं कुरु यावत् यदा अन्तं गणनायाः अन्तं गच्छति यावदगणनसमाप्तिरित्यर्थः। त्रिभिश्चतुर्भिवा दिनैरिति भावः तावत् प्रिये—शकुन्तले मदवरोधगृहं ममान्तःपुरं तत्र प्रवेशः तं मदवरोधगृहप्रवेशं नेता प्रापकः जनः सेवकादिः तव समीपं-उपैष्यति, इति मया सा प्रत्यभिहिता।

उक्ता अलंकाराः। वसन्ततिलकं वृत्तम्।

पर मुझे कठोर हृदय वाले ने मोहवश वह नहीं किया। अर्थात् मैं भूल गया और उसे नहीं बुलाया।

सानुमती—बुलाने की अवधि तो बड़ी सुन्दर थी पर विधाता ने सब विपरीत कर डाला, चौपट कर दिया।

विदूषक :—अच्छा तो धीवर के द्वारा काटी गई उस रोहित मछली के पेट में यह अँगूठी कैसे पहुँच गई थी ?

राजा—जब तुम्हारी सखी शकुन्तला शचीतीर्थ को (हाथ जोड़ कर) प्रणाम कर रही थी तभी यह उसके हाथ से (निकल कर) गङ्गा की धारा में गिर पड़ी थी।

राजा—उपालप्स्ये तावदिदमङ्गुलीयकम् ।

विदूषक :—(आत्मगतम् ।) गहीदो णेण पंथा उम्मत्तआणं । (गृहीतोऽनेन पन्था उन्मत्तानाम् ।)

राजा—(अङ्गुलीयकं विलोक्य ।) मुद्रिके !

कथं नु तं बन्धुरकोमलाङ्गुलिं
करं विहायासि निमग्नमम्भसि ? ।

अथवा—

अचेतनं नाम गुणं न लक्षये-
न्मयैव कस्मादवधीरिता प्रिया ॥ १३ ॥

विदूषक—अच्छा, ठीक है ।

सानुमती—अतएव (जान पड़ता है कि) अधर्म से डरने वाले इन राजर्षि ने बेचारी शकुन्तला के साथ विवाह (होने की बात पर) सन्देह किया था, नहीं तो भला ऐसे (प्रगाढ़) अनुराग के लिए क्या कभी किसी पहचान की आवश्यकता होती है ? तो फिर यह हुआ कैसे । अर्थात् राजा के इस विस्मरण का क्या कारण था ।

राजा—अच्छा तो मैं इस अँगूठी ही को डाँटता हूँ अर्थात् इस सब अनर्थ का मूल यह अँगूठी ही रही अतः मैं इसी से पूछूँगा कि इसने ऐसा क्यों किया । (इससे राजा की उन्माद अवस्था सूचित होती है ।)

विदूषक :—(मन ही मन) अरे, इन्होंने तो अब पागलों का रास्ता अपनाया अर्थात् पागल हो चले ।

राजा—(अङ्गुलीयक को देख कर) अरी अँगूठी !

श्लोक १३ अन्वय—बन्धुरकोमलांगुलिं तं करं विहाय कथं नु अम्भसि निमग्नं असि । अथवा नाम अचेतनं गुणं न लक्षयेत् मया एव प्रिया कस्मात् अवधीरता ।

शब्दार्थ—बन्धुरेत्यादि = नतोन्नत (जैसा कि पूर्व पद्य में बतलाई गई हैं) और कोमल उँगलियों वाले । तं करं = उस हाथ को । अम्भसि = जल में । अचेतनं = अचेतन वस्तु । अवधीरिता = तिरस्कृत की ।

अनुवाद :—नतोन्नत एवं कोमल अंगुलियों वाले (उसके) हाथ को छोड़ कर तू क्यों जल में डूब गई थी । अथवा यदि अचेतन अँगूठी ने (उसके हाथ के) गुण को नहीं पहचाना (तो ठीक है) पर (सचेतन होकर भी) मैंने ही उसे क्यों तिरस्कृत कर दिया ? ।

व्याख्या—तू उस नत उन्नत एवं कोमल उँगलियों वाले (शकुन्तला) के हाथ को छोड़ कर क्यों जल में कूदने गई पर अँगूठी ने निर्जीव वस्तु होने के कारण यदि

विदूषक :—(आत्मगतम्) कहं बुभुक्खाए खादिदव्वो म्हि । [कथं बुभुक्षया खादितव्योऽस्मि ।]

(शकुन्तला के हाथ के) गुण को नहीं पहचाना हो तो ठीक है पर मैंने (मनुष्य) होकर भी) उसका क्यों अपमान किया ।

विशेष—तं करम्=जिसको मैंने बार बार अपने हृदय पर रखा, जिसने अत्यन्त प्रेम से तुझे धारण किया और इस समय भी मानों सामने ही स्फुरित हो रहा है, रक्तोत्पल सदृश अतिमृदुल शकुन्तला के अङ्गभूत हाथ को छोड़ कर । इस कथन से यह ध्वनित होता है कि जान बूझ कर हाथ छोड़ गया था अज्ञान वश नहीं ।

अम्भसि निमग्नम्=अर्थात् तू यो अलंकरण आभूषण थी न, तेरी तो दिखलाई पड़ते रहने ही में शोभा थी और दिखलाई पड़ना ही तेरे जीवन का प्रयोजन भी है, उसके हाथ में रह कर ही तू अपने जीवन का प्रयोजन साफल्य पा सकती थी फिर भी न जाने क्यों तू जल मग्न ही नहीं वरन् नितरां मग्न हो गई, अदृश्य हो गई यह क्यों ? इस प्रकार राजा ने उसको दो उपालम्भ दिये एक तो यह कि उसने उसका हाथ ही क्यों छोड़ा, दूसरा यह कि अदृश्य क्यों हो गई ।

गुणम्—सौन्दर्य कोमलत्वादि गुण ।

अचेतनम्=अर्थात् तुमने तो अचेतन होकर ऐसा किया पर मैंने तो चेतन होकर ऐसा किया अतः तुमसे क्या कहूँ क्योंकि मैं तो तुमसे भी अधिक अपराधी हूँ। प्रिया अवधीरिता=अर्थात् स्त्रीमात्र नहीं वरन् प्रिया, अवधीरिता तिरस्कृता न तु त्यक्ता क्योंकि यदि त्याग दी होती तो फिर महा-पुरुष के लिए उसके पुनः ग्रहण करने में बहुत बड़ा दोष होता है ।

यहाँ तृतीय चरण में सामान्य से विशेष का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास है, चतुर्थ चरण में अङ्गुलीयक की अपेक्षा अपना अधिक अधमत्व स्वीकार किया गया है अतः वस्तु से व्यतिरेकालंकार ध्वनि है । अवधीरण के कारण न होने पर भी अवधीरण रूप कार्योत्पत्ति है अतः विभावना है । पूर्वार्ध में अङ्गुलीयक पर चेतन-व्यवहार का समारोप किया गया है अतः समासोक्ति है जैसे कि कोई व्यक्ति किसी कारणवश अपने हिताहित की चिन्ता न कर सुन्दर स्थान को छोड़ कर चला जाय वैसा ही कार्य अँगूठी का भी बताया गया है । यहाँ समासोक्ति अतिशयोक्ति गर्भा है क्योंकि भारी होने के कारण अँगूठी का जल में डूबना स्वाभाविक है पर यहाँ उसको कर्ता के रूप में दिखाया गया है अर्थात् मानो वह जान बूझ कर हाथ को छोड़ कर डूबने गई हो अतः स्वाभाविक और कृत्रिम इन दोनों का अभेद किया गया है । अथवा यह आक्षेपालंकार है । श्रुत्यनुप्रास, वृत्यनुप्रास । वंशस्थ छन्द है ।

राजा—अकारणपरित्यागानुशयतप्तहृदयस्तावदनुकम्प्यतामयं जनः पुन र्दर्शनेन

(प्रविश्यापटीक्षेपेण चित्रफलकहस्ता ।)

चतुरिका—इअ वित्तगदा भट्टिणी । [इयं चित्रगता भट्टिनी ।] (इति चित्रफलकं दर्शयति ।)

विदूषकः—साहु वअस्स ! महुरावत्थाणदंसणिज्जो भावणुप्पवेसो । क्खलदि विअ मे दिट्ठी णिण्णुण्णअप्पदेसेसु । [साधु वयस्स ! मधुरावस्थानदर्शनीयो भावानुप्रवेशः । स्खलतीव मे दृष्टिनिम्नोन्नतप्रदेशेषु ।]

"जतौ तु वंशस्थ मुदीरितं जरौ" ।

पूर्वार्ध में मति तथा उत्तरार्ध में निर्वेदादि भाव हैं।

संस्कृत व्याख्या—मुद्रिके ! बन्धुरा नतोन्नता कोमला मृदुलाः अङ्गुलयो यस्मिन् तमिति बन्धुरकोमलाङ्गुलि तं शकुन्तलाङ्गभूतं करं हस्तं विहाय त्यक्त्वा कथं नु=प्रश्ने अम्भसि जले निमग्नं, असि=अदृश्यत्वं गतम् । अथवा अचेतनं चेतनाशून्यं वस्तु गुणं सौन्दर्यकोमलत्वादिकं प्रेमादिकम्वा न लक्षयेत व पश्येत् किन्तु मया एव सचेतनेनापि सता कस्मात् केन निमित्तेन प्रिया हृदयसर्वस्वभूता शकुन्तला अवधीरता परित्यक्ता । अचेतनस्याङ्गलीयकस्य को दोषः सचेतनस्य ममैवायं दोषं इति भावः । उक्ता अलङ्कारादयः, वंशस्थ वृत्तम् ।

विदूषक—(मन ही मन) अरे यह भूख तो मुझे खाये डालती है अर्थात् यदि इनकी ये बातें और कुछ देर चलती रहीं तब तो मैं भूख से मर ही जाऊँगा । तात्पर्य यह कि विदूषक समझता है यह तो प्रिया की स्मृति में पागल बन रहे हैं अतः दूसरा विषय तो अर्थात् खाने पीने की बात चीत तो अब आ ही न सकेगी अतः खाने को भी न जा सकूँगा । दूसरा इसका भाव यह है कि प्रिया और वुभुक्षा दोनों शब्द स्त्रीलिङ्ग हैं, एक ने तो इसे पागल बना दिया है और दूसरी मुझे मारे डालती है। अब कैसे छुटकारा मिले । भूख मारे डालती है इस कथन से वुभुक्षा का अतिशयत्व सूचित होता है अर्थात् प्रियासमालोचन की अपेक्षा भोजन समालोचन अधिक आवश्यक है ।

राजा—(राजा यहाँ उन्माद वश शकुन्तला को सम्बोधित करता हुआ कह रहा है) बिना तुम्हारे किसी अपराध के मत्कृत तुम्हारे परित्याग जन्य पश्चात्ताप से मेरा हृदय जल रहा है तुम फिर दर्शन देकर इस व्यक्ति पर कृपा करो ।

(परदे को झटक कर चित्रफलक को हाथ में लिए हुए चतुरिका का प्रवेश) अपटीक्षेप से प्रवेश का कारण शीघ्रता है । अपटी=जवनिका ।

चतुरिका—महाराज ! यह चित्रस्थ महारानी हैं (यह कह कर चित्र दिख-

सानुमती—अंमो, एसा राएसिणो णिउणदा। जाणे सही अग्गदो मे वट्टदि त्ति। [अहो, एषा राजर्षेनिपुणता। जाने सख्यग्रतो मे वर्तत इति।]

राजा—

यद्यत्साधु न चित्रे स्यात्क्रियते तत्तदन्यथा।
तथापि तस्या लावण्यं रेखया किंचिदन्वितम्॥ १४॥

लाती हैं) (देवी कृताभिषेकायामितरास्तु भट्टिनी) अर्थात् जिसका अभिषेक होता है उसे तो देवी कहा जाता है शेष राजपत्नियाँ भट्टिनी कहलाती हैं) राजा ने ज्योंही उसके दर्शन की याचना की त्योंही तुरन्त चतुरिका के द्वारा कवि ने उसे चित्रफलक में बैठा दिखा दिया है अतएव यहाँ चतुरिका का प्रवेश सूचित कर दिया गया है क्योंकि बिना पूर्व सूचना किसी पात्र का प्रवेश नहीं कराया जाता है।

विदूषक—यह वयस्य, वाह, इसके मन के प्रत्येक भाव के अनुकूल ही इसके अंग-अंग आपने सुन्दर बना दिये हैं अर्थात् इसके प्रत्येक अंग के चित्रण में इतनी मधुरता एवं स्पष्टता है कि इसके मन का एक एक भाव अंकित किया जा सकता है (मधुर=सुन्दर, अवस्थान=आकृति, दर्शनीय=मनोहर, भावानुप्रवेश=भावों का अभ्यन्तरीकरण अर्थात् सुन्दरी आकृति के कारण भावानुप्रवेश बड़ा ही रमणीक है। अतएव मेरे नेत्र इस चित्र के ऊँचे नीचे स्थलों पर मानों ठोकरें खाने लगते हैं अर्थात् प्रत्यक्ष स्थित इस प्रकार के निम्न एवं उन्नत भागों पर (शरीर के ऊँचे नीचे अवयवों पर) दृष्टि लड़खड़ाने सी लगती है (शरीरावयव—स्तन नाभि आदि ऊँचे नीचे स्थलों पर जैसे दृष्टि रुक रुक चलती है) वैसे ही इस चित्र में भी, तात्पर्य यह कि चित्रकला की इतनी अद्भुत शकुन्तला दिखलाई गई है कि चित्र में भी शरीरावयवों की आकृति ही नहीं प्रत्युत उनकी उच्चता एवं निम्नता भी परिलक्षित हो रही है।

सानुमती—अरे, राजर्षि की चित्रकला निपुणता तो बड़ी ही आश्चर्यजनक है अर्थात् यह राजा तो बड़े अच्छे चित्रकार हैं। (चित्र को देख कर) ऐसा जान पड़ता है कि सखी शकुन्तला मानो मेरे आगे ही खड़ी है।

राजा—श्लोक १४ अन्वय—चित्रे यत् यत् साधु न स्यात् तत् तत् अन्यथा क्रियते (यद्यपि) तथापि तस्या लावण्यं रेखया किञ्चित् अन्वितम्।

शब्दार्थ—यदित्यादि-प्रथमार्ध=चित्रकार के चित्र निर्माण की पद्धति यह होती है कि जब वह किसी का अविकल चित्र बनाने चलता है तो यदि उस व्यक्ति के किसी अङ्ग विशेष में जिसका कि वह चित्र बना रहा है, कोई असुन्दरता भी होती है तो चित्रकार उसे चित्र में सम्भाल देता है अर्थात् चित्र में उस दोष को ढक कर उस अंग को सुन्दर बना देता है।

तथापीत्यादि=परन्तु शकुन्तला के चित्र निर्माण के विषय में तो इस साधारण पद्धति के विरुद्ध ही कार्य हुआ है अर्थात् शकुन्तला का अपूर्व लावण्य तो चित्र

सानुमती—सरिसं एदं पच्छादावगुरुणो सिणेहस्स अणवलेवस्स अ
[सदृशमेतत्पश्चात्तापगुरोः स्नेहस्यानवलेपस्य च ।]

विदूषकः—भो ! दाणिं तिहिण्णो तत्तहोदीओ दीसंति । सव्वाओ अ दंसणीआओ । कदमा इत्थ तत्तहोदी सउंदला ? । [भोः ! इदानीं तिस्रस्तत्र-भवत्यो दृश्यन्ते । सर्वाश्च दर्शनीयाः । कतमात्र तत्रभवती शकुन्तला ? ।]

रेखाओं द्वारा कुछ थोड़ा ही सा आ पाया है, उसको सम्भालना, सुन्दर बनाना तो दूर रहा, उसकी ही पूरी सुन्दरता नहीं उतर पाई है । साधु न स्यात् =सुन्दर न हो, अन्यथा क्रियते =चित्रार्थ तूलिकाकृत रेखाओं द्वारा विपरीत कर दिया जाता है अर्थात् ऐसा बना दिया जाता है कि जिससे वह असुन्दर भी सुन्दर ही लगे । रेखया किञ्चित् अन्वितम् =चित्र निर्माण के लिए तूलिका से बनाई गई चित्र रेखायें, उनसे कुछ ही जुड़ पाया है अर्थात उसका लावण्य बहुत ही कम आ पाया है ।

अनुवाद—चित्र में जो जो शरीरावयव साधु नहीं होता (चित्रकार द्वारा) वह वह सुन्दर बना दिया जाता है । पर उसका सौन्दर्य तो चित्र रेखाओं द्वारा कुछ ही जुड़ पाया है ।

व्याख्या—किसी व्यक्ति का अविकल चित्र निर्माण करते समय जो-जो उसके अङ्ग सुन्दर नहीं होते चित्रकार उसे सुन्दर बना कर यद्यपि दिखलाते हैं तथापि शकुन्तला का लावण्य तो (इस चित्र में) तूलिका कृत रेखाओं द्वारा कुछ ही आ पाया है अर्थात् उसका अपूर्ण लावण्य इन चित्र रेखाओं में पूरा नहीं उतर पाया है । तात्पर्य यह है कि अलौकिक लावण्यवती उसके स्वरूप का सम्पूर्णतया चित्रगत होना सर्वथा असम्भव है अतः इसमें मेरी क्या निपुणता जबकि उसका पूरा चित्र भी नहीं उतार सका (विशेषता तो चित्रकार की वहाँ होती है जब कि वह असुन्दर को भी सुन्दर करके दिखादे, यहाँ तो उसका पूरा चित्र भी नहीं उतरा, सुन्दर बनाना तो दूर ही रहा अतः वास्तव में मैंने तो उसे बिगाड़ा ही है बनाया नहीं । यद्यपि मैंने पूरा लावण्य उतारने का प्रयत्न किया तो भी असफल ही रहा । अतएव इसमें कोई निपुणता नहीं । रेखा का लक्षण :—

"शिरोनेत्रकरादीनामङ्गानां मेलने सति ।
कार्यस्थितिर्यतो नेत्रहरा रेखा प्रकीर्तिता ॥"

विशेष—राजा के कहने का तात्पर्य यह कि जिसे स्वयं ब्रह्मा ने चित्र फलक पर अपनी तूलिका से बनाया है अथवा मन से ही त्रिलोक का सौन्दर्य एकत्र कर जिसका निर्माण किया है—

जैसा कि ऊपर कहा है—

"चित्रे निवेश्य परकल्पितसत्त्वयोगा,
रूपोच्चयेन विधिना मनसा कृता नु"

सानुमती—अणभिण्णो खु ईदिसस्स रूवस्स मोहदिट्ठी अअं जणो। [अनभिज्ञः खल्वीदृशस्य रूपस्य मोहदृष्टिरयं जनः ।]

राजा—त्वं तावत्कतमा तर्कयसि ?।

विदूषकः—तक्केमि जा एसा सिढिलकेसबंधणुब्बंतकुसुमेण केसंतेण उब्भिण्णस्सेअबिंदुणा वअणेण विसेसदो ओसरिआहिंबाहाहिं अवसेअसिणिद्धतरुणपल्लवस्स चूअपाअवस्स पासे ईसिसरिस्संता विअ आलिहिदा सा सउंदला । इदराओ सहिओ त्ति । [तर्कयामि यैषा शिथिलकेशबन्धनोद्वान्तकुसुमेन केशान्तेनोद्भिन्नस्वेदबिन्दुना वदनेन विशेषतोऽपसृताभ्यां बाहुभ्यामवसेकस्निग्धतरुणपल्लवस्य चूतपादपस्य पार्श्वे ईषत्परिश्रान्तेवालिखिता सा शकुन्तला। इतरे सख्याविति ।]

तो फिर तुझ मनुष्य के द्वारा उसका पूरा लावण्य कैसे चित्रित किया जा सकता था, अतः चित्रदृष्टि लावण्य की अपेक्षा उसकी प्रकृति मूर्ति में कहीं अधिक लावण्य है, जिसका कि चित्र में प्रदर्शन करना असम्भव था अतएव तुम्हारा यह कथन "साधु वयस्य ! मधुरावस्थानदर्शनीयो भावानुप्रवेश" सर्वथा गलत है, यह तुम्हारी झूठी प्रशंसा है । अनुष्टुप् छन्द ।

संस्कृत व्याख्या—चित्रे आलेख्ये यत् यदङ्गं—अवस्थानं साधु—सम्यक् न स्यत्—न भवेत् तत्-तत् संस्थानं अन्यथा—सौन्दर्यविधानाय प्रकृतिमूर्तितो विकलं-विपरीतं क्रियते-विधीयते परावृत्य चित्रे विलिख्यते चित्र्यते चित्रकारैरितिशेषः तथापि एवं चित्रकारपद्धतौ सत्यामपि तस्याः शकुन्तलायाः लावण्यं=सर्वाङ्गव्यापि सौन्दर्यं रेखया मत्कृतया तूलिकाविहितया रेखया किञ्चित्-अल्पमेव न तु साकल्येन, अन्वितम्=सम्बद्धम् । अर्थात् मया तस्या लावण्यं न साकल्येन चित्रे सम्बद्धम् । अतोऽत्र नास्ति मे कौशलमिति भावः ।

सानुमती—पश्चात्ताप से वृद्धि को प्राप्त करते हुये निर्दोष एवं स्वाभाविक अनुराग के लिए तो ऐसा (उचित-उपयुक्त ही है । पश्चात्तापगुरोः=पश्चात्ताप के कारण और अधिक बढ़ा हुआ, अनवलेपस्य च=और अवलेप = अभिमान-घमण्ड, अनवलेपस्य=गर्व रहित—नम्र—विनयशील—स्वाभाविक अतएव निर्दोष अर्थात् उस अनुराग में पश्चात्ताप करने से और अधिक बढ़ गया है तथा जो स्वाभाविक एवं दोष रहित है, ऐसा कहना जैसा कि राजा ने उपर्युक्त श्लोक में कहा है, उपयुक्त अर्थात् अपने पछतावे एवं नम्रता से भरे प्रेमी के लिए अपनी प्रेमिका के लिए ऐसा कहना स्वाभाविक ही है । स्वाभाविक प्रेम में उस समय जब कि मनुष्य अपने अपराध के लिए पछतावा करता हैं, ऐसा कहना उचित ही है ।

विदूषक—क्यों जी ? इस चित्र में तो इस समय तीन देवियाँ दिखलाई पड़ती

राजा—निपुणो भवान् अस्त्यत्र मे भावचिह्नम् ।
स्विन्नाङ्गुलिविनिवेशो रेखाप्रान्तेषु दृश्यते मलिनः ।
अश्रु च कपोलपतितं दृश्यमिदं वर्तिकोच्छ्वासात् ।। १५ ।।
चतुरिके ! अर्धलिखितमेतद्विनोदस्थानम् । गच्छ, वर्तिकां तावदानय ।

हैं और सभी (एक से एक बढ़ कर) दर्शनीय हैं । तो बताओ इनमें से देवी शकुन्तला कौन सी हैं ।

सानुमती—मुग्ध दृष्टि वाले इस व्यक्ति को (विदूषक को) ऐसे सौन्दर्य की तनिक भी पहचान (परख) नहीं है (मोघ=निरर्थक अर्थात् शकुन्तला को प्रत्यक्षतया न देखने से वास्तव में इसके नेत्र निरर्थक ही हैं अतएव ऐसे लोकातीत सौन्दर्य को देखकर भी यह उसे पहचान नहीं रहा है, अतः सिद्ध है कि इस नासमझ को सौन्दर्य की परख ही नहीं, नहीं तो यह इस बात को क्यों पूँछता कि इन तीनों में शकुन्तला कौन है । तात्पर्य यह है कि वह तो त्रिलोक की सुन्दरियों में भी अपने सर्वातिगामी सौन्दर्य के कारण पहचानी जा सकती है फिर इन तीन में उसका पहचानना कौन सी कठिन बात थी, पर यह नहीं पहचान पाया अतः यही कहना पड़ेगा कि यह इतना ना समझ है कि सौन्दर्य की विशेषता को परख ही नहीं सकता ।

राजा—अच्छा, तुम इनमें से किसको शकुन्तला समझ रहे हो ।

विदूषक—मैं तो समझता हूँ कि यह जो, जल सेचन से चिकने नवोद्गत पल्लवों वाले आम्र वृक्ष के पास कुछ थकी हुई सी चित्रित है, तथा जिसके केशपाश के (जूड़े के) ढीले पड़ जाने से (उसमें लगे हुये) फूल गिर रहे हैं और जिसके मुख पर पसीने की बूँदें झलक आई हैं तथा जिनकी भुजायें विशेष रूप से झुकी हुई हैं वही शकुन्तला है । और दूसरी दो उसकी सखियाँ है (केशबन्धन=चोटी या जूड़ा । उद्वान्त=गिरना । केशान्त=केशपाश । उद्भेदस्वेदबिन्दुना=पसीने की बूँदों का झलकना । विशेषतोऽपसृताभ्याम्=विशेष रूप से झुकी हुई, सुन्दरी स्त्रियों की भुजायें स्वभावतः स्कन्धों के झुके होने से कुछ झुकी सी रहती हैं पर परिश्रम करने से वे और अधिक झुक जाती हैं यहाँ वे 'घटोत्क्षेपण के कारण अधिक झुक गई हैं । सेकस्निग्धतरुणपल्लवस्य=जल सिंचन से चिकने एवं हाल ही में निकले हुए पत्तों वाले । ईषत=कुछ । आलिखिता=चित्रिता) ।

राजा—सचमुच आप चतुर हैं । यहाँ इस चित्र पर मेरे सात्विक भावों (स्वेद तथा अश्रु) के चिह्न भी बने हैं ।

श्लोक १५ अन्वय—स्विन्नाङ्गुलिविनिवेशः रेखाप्रान्तेषु मलिनः दृश्यते वर्तिकोच्छ्वासात् कपोलपतितं इदं अश्रु च दृश्यम् (अस्ति) ।

चतुरिका—अज्ज माढव्व । अवलंब चित्तफलं जाव आअच्छेमि ।
[आर्य माढव्य ! अवलम्ब चित्रफलकं यावदागच्छामि ।]

राजा—अहमेवैतदवलम्बे । (इति यथोक्तम् करोति ।

(निष्क्रान्ता चेटी ।)

राज—अहं हि,—

शब्दार्थ—स्विन्नेत्यादि=(प्रिया के चित्र बनाते समय काम विकार के उत्पन्न होने से निःसृत) स्वेद से आर्द्र अंगुलि को स्थिति अर्थात् स्वेदार्द्र अंगुली की वहां पर स्थिति । रेखाप्रान्तेषु=चित्रगत रेखाओं के किनारों पर । मलिनः= गन्दा—काला धव्बा । कपोलपतितं=चित्रित शकुन्तला के कपोल पर गिरा हुआ। र्वातकोच्छ्वासात्=र्वातका=चित्रगत लेख विशेष, चित्र पर बनी रचना विशेष, उच्छ्वासात्=चारों ओर को कुछ कुछ फैल जाने से । अश्रु—सात्विक भावोदय के कारण निकला हुआ आँसू । दृश्यम्=दर्शनीय ।

अनुवाद—स्वेदार्द्र अंगुलि स्थिति, चित्र के किनारों पर मलिन दिखलाई पड़ रही है । और चित्र के रचना विशेष के इधर उधर दिये जाने से कपोल पर पड़ा हुआ मेरा यह आँसू भी दृष्टव्य है ।

व्याख्या—चित्र के किनारों पर मेरी (सात्विक भावोदय के कारण) स्वेदार्द्र अङ्गुलि की स्थिति मलिन दिखलाई पड़ रही है अर्थात् पसीजी अङ्गुली से काले धव्बे पड़ गये हैं । और चित्र पर के लेख विशेष (रचना विशेष) के कुछ इधर उधर फैल जाने के कारण चित्रगत शकुन्तला के कपोल पर (सात्विक भावोदय के कारण विनिःसृत) मेरा आंसू भी देखा जा सकता है ।

विशेष—चित्र की रेखाओं पर पसीने की बूँद गिर जाने से उसका मलिन होना स्वाभाविक ही है तथा आँसू के गिरने से रचना विशेष के रङ्ग का फैल जाना भी स्वाभाविक ही है और कामविकाराविर्भाव के कारण स्वेद सात्विक तथा अश्रु सात्विक भी स्वाभाविक है अतः **स्वभावोक्ति** अलंकार है । र्वातका का अर्थ तूलिका अथवा रचनाविशेष है जो चित्रित की जाती है । "पटलेपे पक्षिभेदे तूलिकायां च र्वातका" कोश ।

स्विद+क्त=स्विन्नः धातोः दकारस्य प्रत्ययस्य च नकारादेशः । दृश् कर्मणि लटि दृश्यते । वि+नि+विश्+घञ्=विनिवेशः, दृष्टुम् योग्यं दृश्यम्-यत् प्रत्ययः ।

संस्कृत व्याख्या—स्विन्नाः स्वेदसात्विकभावोदयात् स्वेदार्द्रा या अङ्गुलय स्तासाँ विनिवेशः स्थितिः स्विन्नाङ्गुलिविनिवेशः रेखाप्रान्तेषु चित्रकर्मसमये रेखोपान्तभागेषु मलिनः—आविलो दृश्यते । (तथा) र्वातकोछ्वसात्=र्वातका— चित्रपटगतलेखविशेष स्तस्या उच्छ्वासः—उच्छूनता तस्मात् र्वातकोच्छ्वासा

साक्षात्प्रियामुपगतामपहाय पूर्वं
चित्रार्पितां पुनरिमां बहुमन्यमानः ।
स्रोतोवहां पथि निकामजलामतीत्य
जातः सखे ! प्रणयवान्मृगतृष्णिकायाम् ॥ १६ ॥

चित्रस्यलेखविशेषप्रसरणात् कपोलपतितं चित्रगतशकुन्तलाकपोलच्युतं—अश्रु=सात्विकभावेनोद्गतं नेत्रजलं च, इदं दृश्यं दर्शनीयम् अस्तीति शेषः । उक्ता अलंकाराः, आर्या जातिः ।

साहित्यदर्पणाकार ने सात्विक भावों की इस प्रकार गणना की है:—

"स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमांचः स्वरभंगोऽथ वेपथुः !
वैवर्ण्यं मश्रु प्रलया इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः ॥

यही आठ सात्त्विक भाव हैं । आर्या जाति छन्द है ।

अरी चतुरिके ! यह मेरे विनोद की वस्तु (अर्थात् चित्र) अभी अधूरी ही है—इससे तू जाकर तूलिका तो ले आ । विनोद स्थानम्=विरह यापन का स्थान अर्थात् चित्र । वर्तिका=तूलिका इससे चित्रलेप के अन्यद्रव्य भी लक्षित होते हैं क्योंकि चित्र निर्माण में इन सभी की आवश्यकता होती है ।

चतुरिका—आर्य माढव्य । इस चित्रपट को थोड़ा लिये तो रहिये मैं अभी आती हूँ ।

राजा—मैं ही इसे लिये रहता हूँ (यह कहकर उसे ले लेता है)

(चेटी चली जाती है)

राजा—क्योंकि मैं—

श्लोक १६ अन्वय— सखे ! पूर्वं प्रियां साक्षात् उपगतां अपहाय पुनः चित्रार्पितां इमां बहुमन्यमानः, पथि निकामजलां स्त्रोतोवहां अतीत्य मृगतृष्णिकायां प्रणयवान् जातः अस्मि ।

शब्दार्थ—पूर्वम्=अभी थोड़े समय पहिले । प्रियाम्=नारी मात्र नहीं प्रत्युत हृदयवल्लभा शकुन्तला को, साक्षात्=प्रत्यक्षरूप से । उपगतां=समीप में उपस्थित हुई अर्थात् आभास मात्र से नहीं, अपितु सामने । उपस्थित । अपहाय=उपेक्षित करके—छोड़कर नहीं अन्यथा पुनः उसके स्वीकार में महापुरुष के आचरण के विरुद्ध कार्य होता । पुनः=इसके बाद । चित्रार्पितम्=चित्र लिखित । इमाम्=पुरतः दृश्यमानां बहुमन्यमानः=आदर पूर्वक देखता हुआ । निकामजलाम् जल से पूर्ण-पर्याप्त जल वाली । स्रोतोवहां=नदी को । अतीत्य=उल्लंघित करके । मृगतृष्णिकायाम्=नदी के समान आभासित होने वाली मरुमरीचिका में । प्रणयवान्=अभिलाषा करने वाला अर्थात् जल पान की याचना करने वाला । जातः अस्मि=हो गया हूँ ।

विदूषक—(आत्मगतम् ।) एसो अत्तभवं णदिं अदिक्कमिअ मिअ-तिण्हिआं संकंतो। (प्रकाशम्) भो अवरं किं एत्थ लिहिदव्वं ?। [एषोऽत्रभवान्नदीमतिक्रम्य मृगतृष्णिकां संक्रान्तः । भोः ! अपरं किमत्र लिखितव्यम् ? ।]

सानुमती—जो जो पदेसो सहीए मे अहिरूवो तं तं आलिहिदुकामो भवे। [यो यः प्रदेशः सख्या मेऽभिरूपस्तं तमालिखितुकामो भवेत् ।]

राजा—श्रूयताम्—

अनुवाद—अभी थोड़े समय पहिले प्रत्यक्ष रूप से समीप में उपस्थित हुई प्रिया शकुन्तला को उपेक्षित करके मित्र । फिर इस चित्रलिखित शकुन्तला को ही आदर पूर्वक देखता हुआ मैं जल से पूर्ण अर्थात् पर्याप्त जल वाली नदी को उल्लंघित करके मरुमरीचिका में अभिलाषा करने वाला बन गया हूँ ।

व्याख्या—मित्र ! अभी प्रत्यक्षरूप में मेरे समीप ही आई हुई प्रिया शकुन्तला का परित्याग कर, अब फिर चित्रलिखित शकुन्तला को बड़े आदर पूर्वक देखने लगा हूँ अर्थात् साक्षात् शकुन्तला को तो निरादर पूर्वक लौटा दिया और अब उसके चित्र पर इतना प्रेम दिखलाने चला हूँ । यह मेरा कार्य तो ऐसा ही है जैसे कोई व्यक्ति जल से भरी नदी को मार्ग में छोड़कर (पिपासार्त होकर) मरुमरीचिका से जल माँगने चले ।

विशेष—तात्पर्य यह है कि जैसे पहिले मार्ग में उपस्थित महानदी को छोड़ कर आगे बढ़ जाने वाले प्यासे व्यक्ति को मरुमरीचिका से जल की प्राप्ति तो नहीं होती परन्तु पिपासा और अधिक बढ़ जाती है उसी प्रकार पहिले स्वयं साक्षात् उपस्थित प्रिया का त्याग कर देने वाले मेरा चित्र लिखित प्रिया से प्रेम करना मनः शान्तिदायक तो नहीं होता परन्तु काम व्यथामात्र को और अधिक बढ़ा ही देता है । अतएव यहाँ पर असम्भवद्वस्तु सम्बन्ध रूपा **निदर्शना** है, हेतु अथवा काव्यलिंग श्रुति, वृत्ति अनुप्रास । **वसन्ततिलका छन्द है** । नदी निकाम जल वाली है अतएव स्रोतोवहा है अर्थात् प्रवहमान प्रवाह वाली । यह हेतुगर्भ विशेषण है ।

प्रीङ् धातोः क प्रत्ययः ईकारस्य इयङ् स्त्रीत्वविवक्षायाँ टापि प्रिया । उप+गम्+क्त=स्त्रीत्वे उपगताम् । अप्+ओहाक्-त्यागे क्त्वा-ल्यप्=अपहाय । मन्+शानच्=मन्यमानः । अति+इ+क्त्वा-ल्यप् तुगागमे अतीत्य, जन प्रादुर्भावे क्त आत्वे जातः । प्रणयः अस्यास्तीति मतुप् वकारादेशे प्रणयवान् ।

संस्कृत व्याख्या—सखे=वयस्य विदूषक ! पूर्वं=अव्यवहितसमये न तु कालान्तरे साक्षात्=प्रत्यक्षरूपेण—उपगतां=उप समीपे गतां प्राप्तां नत्वाभासमात्रेण, न चाश्रुतागमनां । प्रियाँ, केवलं नारीमात्र न, अपितु हृदयवल्लभां—अपहाय=अवगणय्य न तु त्यक्त्वा, त्यक्तस्य पुनरुपादाने महापुरुषस्यानौचित्यप्रसंगात् पुनः=अनन्तरं चित्रार्पितां चित्रलिखितां, इमां पुरोदृश्यमानां (शकुन्तलाम्)

कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः ।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः
शृंगे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमाना मृगीम् ॥ १७ ॥

बहुमन्यमानः—आत्यादरेण प्रेम्णा च अवलोकमानः पथि मार्गे निकामं जलं यस्यां तां निकामजलां=परिपूर्णोदकां स्रोतोवहां प्रवहद्रूपां नदीमित्यर्थः अतीत्य=उल्लङ्घ्य मृगतृष्णिकायां=मरुमरीचिकायां प्रणयवान्=सतृष्णः अभिलाषुकः—जलप्रार्थी वेत्यर्थः जातः सम्वृतोऽस्मि । प्रियां विहाय कृत्रिमे चित्रे मनो योजयन्यमूर्ख एवाहमिति भावः । उक्ता अलङ्काराः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ।

विदूषक—(मन ही मन) ओह, यह महाराज तो नदी को उल्लंघित कर मृगतृष्णा में उलझे गये हैं। (प्रकट) कहिये, अब और इस चित्र में क्या बनाना है ?

सानुमती—सम्भव है कि महाराज अब इसमें वे स्थान चित्रित करना चाहते हैं जो कि मेरी सखी को बहुत प्रिय थे ।

राजा—सुनिये ।

श्लोक १७ अन्वय—सैकतलीनहंसमिथुना मालिनी स्रोतोवहा कार्या, ताम् अभितः निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः पादाः कार्याः शाखालम्बितवल्कलस्य तरोः अधः कृष्णमृगस्य शृङ्गे वामनयनं कण्डूयमानां मृगीं च निर्मातुम् इच्छमि ।

शब्दार्थ—सैकतेत्यादि=जिसके पुलिन प्रदेश (तट) पर हंसों के जोड़े बैठे हों। तामभितः=मालिनी नदी के पास । निषण्णहरिणाः=हरिणा बैठे हुये हैं। गौरीगुरोः पावनाः पादाः=हिमालय के पवित्र प्रत्यन्त पर्वत, तराई या तलहटी के भाग। शाखेत्यादि=जिसकी शाखाओं में वल्कलवस्त्र लटके हुये हैं। अधः=नीचे। कण्डूयमानां=खुजलातीं हुई ।

अनुवाद—जिसके पुलिन प्रदेश पर हंसों के जोड़े बैठे हुए हों (ऐसी) नदी बनानी है। उस नदी के पास जहाँ पर हरिण बैठे हुए हों (ऐसे) हिमालय पर्वत की पवित्र तराई के भाग अंकित करने हैं। तथा जिसकी शाखाओं से वल्कल लटक रहे हों (ऐसे) वृक्ष के नीचे कृष्णसार मृग के सींग पर अपने वाम नयन को खुजलाती हुई मृगी को चित्रित करना चाहता हूं।

व्याख्या—जिसके तट पर हंस दम्पती बैठे हुए हों ऐसी मालिनी नदी चित्रित करना है, उस मालिनी नदी के पास जहाँ पर हरिण बैठे हुए हों ऐसे हिमालय पर्वत के पवित्र प्रत्यन्त पर्वत अर्थात् पादप्रदेश तराई के भाग अङ्कित करने हैं तथा जिसकी शाखाओं से वल्कल लटक रहे हों ऐसे वृक्ष के नीचे, कृष्णसार मृग के सींग पर अपने बायें नेत्र को खुजलाते हुए मृगी को भी बनाना चाहता हूँ।

विदूषक—(आत्मगतम् ।) जह ग्रहं देक्खामि पूरिदव्वं र्णेण चित्त-फलग्रं लंबकुच्चाणं तावसाणं कदंबेहिं । [यथाहं पश्यामि पूरितव्यमनेन चित्र-फलकं लम्बकूर्चानां तापसानां कदम्बैः ।)

राजा—वयस्य ! ग्रन्यच्च शकुन्तलायाः प्रसाधनमभिप्रेतमस्माभिः ।

विशेष—इस पद्य से राजा आश्रमस्थ पूर्वानुभूत तत्कालीन सभी उद्दीपन विभावों का स्मरण करता है, स्मरण किये जाने पर वे सब उद्दीपक पदार्थ सम्भ्रम-प्रवास हेतुक विरह को ही पुष्टी करते हैं ।

सैकतेत्यादि—सैकत=बालुकामय पुलिन (तट) प्रदेश, इससे उद्दीपका-तिशय व्यंजित होता है ।

स्त्रोतोवहा—इससे नदी की प्रवाहशालिता ध्वनित होती है, जिससे कि अपने स्वभाव के न छोड़ने के कारण उसकी परमरमणीयता प्रकट होती है । जो कि उद्दीपन को सूचित करने वाली है ।

गौरीगुरो—इससे कन्या जनकत्व बोधन से, कन्या के विरह के दुःख का अनुभव होने से उस प्रदेश में निर्विघ्नतापूर्वक विहार किया जा सकता है यह सूचित किया गया है ।

निषण्णहरिणाः—से उस प्रदेश की अत्यन्त निर्जनता सूचित होती है तथा इससे अधिक उद्दीपकत्व तथा उससे-सुरतक्षमता ध्वनित होती है ।

पादा :—प्रत्यन्त पर्वत—तलहटी ।

पावना :—से शुचित्व तथा रम्यत्व ध्वनित होता है ।

शाखेत्यादि—से आश्रम के समीपवर्ती होने से उसकी शालीनता सूचित होती है ।

रिरंसा यत्र जायेत कण्डूतिस्तत्र जायते ।
मृगीणां वामनयने योषितां मदनालये ।। कामशास्त्र

वामेत्यादि—वामनेत्र खुजलाना मृगियों का स्वभाव होता है । इससे भी उद्दीपकत्व ध्वनित होता है ।

कार्या—यहाँ पर लिंग व वचन का विपरिमाण कर मालिनी कार्या तथा पादाः कार्याः इस प्रकार दोनों में अन्वय किया जा सकता है । यहाँ पहिले तो 'कार्या' इसका प्रयोग करके तब निर्मातमिच्छामि कहा है इससे तात्पर्य यह है कि वामनयन-घर्षण का चित्रण नहीं हो सकता है अतः राजा का तात्पर्य है कि दिखाना तो यह भी चाहता हूँ पर वह वास्तव में चित्रित नहीं किया है अतएव कवि ने एक ही बात के लिये कार्या तथा निर्मातुमिच्छामि इन दो भिन्न शब्दों का प्रयोग किया है ।

(श्लोकः)

विदूषक—किं विअ्र। [किमिव ? ।]

सानुमती—वणवासस्स सोउमारस्स अविणअस्स अ जं सरिसं भविस्सदि

[वनवासस्य सौकुमार्यस्याविनयस्य च यत्सदृशं भविष्यति]

यहाँ कार्या इस एक क्रिया के साथ स्रोतोवहा तथा पादाः इन दो अप्रस्तुत ही पदार्थों का कर्म रूप से सम्बन्ध है अतः तुल्ययोगितालङ्कार है। स्वभावोक्ति, गौरीगुरोः में प्रसंगोपादान से उदात्तालंकार है। छेक, वृत्ति, श्रुति, अनुप्रास हैं। शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

कृधातोः ण्यत् प्रत्यये कार्या, ली+क्त तस्य नादेशे लीनः, तामित्यत्र अभितः योगे द्वितीया, नि+षद+क्त=निषण्णाः, तरोरित्यत्र अधः योगेऽपि षष्ठी। कण्डू+शानच्=कण्डूयमाना।

संस्कृत व्याख्या—सैकतेषु—बालुकामयपुलिनप्रदेशेषु लीनानि अवस्थितानि हंसमिथुनानि हंसद्वन्द्वानि यस्याः सा सैकतलीनहंसमिथुना मालिनी—मालिनीतिनाम्नी स्रोतोवहा नदी कार्या चित्रयितव्या, ताम् मालिनीं—अभितः पार्श्वतः (अभितःयोगे द्वितीया। निषण्णा उपविष्टा हरिणा मृगा येषु ते निषण्णहरिणा, गौर्याः शिवायाः गुरुः पिता तस्य गौरीगुरोः—हिमालस्य पावनाः पवित्राः पादाः प्रत्यन्तपर्वताः कार्याः (तथा) शाखासु लम्बितानि अवसक्तानि वकलानि मुनीनां परिधान-भूतानि वल्कलानि यस्य तस्य शाखालम्बितवल्कलस्य तरोः वृक्षस्याधः कृष्णमृगस्य=कृष्णसाराख्यमृगविशेषस्य शृंगे—विषाणे वामनयनं=स्वकीयं दक्षिणेतरत्रं कण्डूयमानां=खर्जनं कुर्वतीं मृगीं काञ्चित् मृगीम् निर्मातुं चित्रयितुं इच्छामि। उक्ता अलङ्काराः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्।

विदूषक—जैसा कि मैं सोचता हूँ अब यह (महाराज) इस चित्र फलक को लम्बी-लम्बी दाढ़ी वाले तपस्वियों के समूह से भर देने चाहते हैं। (कदम्ब=समूह। कूर्च—दाढ़ी।)

राजा—वयस्य ! एक बात और है कि मैं शकुन्तला को आभूषण भी पहनाना चाहता था (प्रसाधान=वेश रचना—आभूषण पहनाना) अभिप्रेतम्=चाहता था, मुझे इष्ट था।)

विदूषक—कैसे अर्थात् कैसे-कैसे कौन-कौन से और कहाँ-कहाँ ?

सानुमती—वे ही जो कि वन में रहने के योग्य उसकी सुकुमारता के योग्य तथा उसके अविनयशीलता के योग्य होंगे। अर्थात् उसके वही आभूषण होंगे जो उसके जैसी वनवासिनी सुकुमारी कन्यायें पहना करती हैं। वनवासिनी से पुष्पादिक, सौकुमार्य से कुसुमों से भी जो अधिक कोमल हों वही एक दो फूल मात्र। अविनय से सीमान्त सिन्दूरादि को छोड़ कर शेष अलंकरण।

राजा—

कृतं न कर्णार्पितबन्धनं सखे !
शिरीषमागण्डविलम्बिकेसरम् ।
न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं
मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे ॥१८॥

राजा—श्लोक १८ अन्वय—सखे कर्णार्पितबन्धनं आगण्डविलम्बिकेसरं शिरीषं न कृतम् । शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं मृणालसूत्रं स्तनान्तरे न वा रचितम् ।

शब्दार्थ—कर्णार्पितबन्धनम्=जिसका वृन्त (डंठल—मूलभाग) उसने अपने कानों पर धारण किया था; बन्धन—मूल भाग—वृन्त,कर्णार्पित=कान पर रखा या । आगण्डेत्यादि=जिसके केसर (पराग,किञ्जल्क) उसके कपोलों पर फैले हुए थे, आगण्ड=कपोल स्थल पर्यन्त, विलम्बित=लटकने वाले—फैलने वाले या झूलने या हिलने वाले, केसर=किञ्जल्क । शिरीषं=शिरीष पुष्प । शरच्चन्द्रेति=शरत्कालीन चन्द्रकिरणों के समान स्वच्छ एवं कोमल तथा शीतल । मृणालसूत्रम्=कमल के तन्तुओं की माला । स्तनान्तरे=स्तनों के बीच में ।

अनुवाद—हे मित्र ! (इस चित्र में मैंने अभी) उस शिरीष कुसुम को नहीं बनाया था जिसका वृन्त उसने अपने कानों पर धारण किया था और जिसके केसर उसके कपोलस्थल पर्यन्त फैले हुये थे । तथा न अभी मैंने उसके स्तनों के बीच चन्द्र किरण के समान कान्ति मत स्वच्छ शीतल एवं कोमल कमल तन्तुओं की माला ही चित्रित की थी ।

व्याख्या—मित्र ? (इस चित्र में अभी मैंने) उस शिरीषकुसुम को नहीं बनाया है (चित्रित किया है) जिसके वृन्त को उसने अपने कानों पर धारण कर रखा था (पहिन रखा था) और जिस कुसुम के किञ्जल्क उसके कपोलों पर फैल रहे थे । तथा अभी न मैंने उसके स्तनों के बीच चन्द्रकिरण के समान स्वच्छ, शीतल कोमल एवं पतली कमल तन्तुओं की माला ही चित्रित की है । (अतः इस दृष्टि से अभी यह चित्र अधूरा ही है । इन दोनों बातों को मैं पहिले ही भूल गया था अतः अब उन्हें चित्रित करना चाहता हूँ ।

विशेष—आगण्डविलम्बि केशरम्—यहाँ पर गण्ड और केशर दोनों का परस्पर भूष्यभूषणभाव है जिससे यह व्यञ्जित होता है कि वह केवल कर्ण को ही नहीं अपि तु गण्डस्थल को भी सुशोभित करता है । शिरीष पद से कोमलता ध्वनित होती है और इससे शकुन्तला का अत्यन्त सकुमारी होना सूचित होता है अर्थात् सौकुमार्याधिक्य के कारण वह शिरीष जैसे अति कोमल पुष्प को ही धारण कर सकती थी अन्य को नहीं ।

मृणालसूत्रम्—इस पद से तन्तुओं का अति सूक्ष्म होना सूचित होता है तथा

विदूषक—भो ! किं णु तत्तहोदी रत्तकुवलअपल्लवसोहिणा अग्गहत्थेण मुहं ओवारिअ चइदचइदा विअ ठिआ। [भोः। किं नु तत्रभवती रक्तकुवलयपल्लवशोभिनाग्रहस्तेन मुखमपवार्य चकितचकितेव स्थिता।] (सावधानं निरूप्य दृष्ट्वा।) आ, एसो दासीएपुत्तो कुसुमरसपाडच्चरो तत्तहोदीए वअणं अहिलंघेदि महुअरो। [आः, एष दास्याःपुत्रः कुसुमरसपाटच्चरस्तत्रभवत्या वदनमभिलघंति मधुकरः।]

राजा—ननु वार्यतामेष धृष्टः।

विदूषक—भवं एव्वं अविणीदाणं सासिदा इमस्स वारणे पहविस्सदि। [भवानेवाविनीतानां शासितास्य वारणे प्रभविष्यति]

यह भी प्रतीत होता है कि नायिका के स्तनों की अतिपीवरता के कारण स्तनों का परस्पर में उत्पीडन भी होता होगा अतएव वे आलिङ्गन करने योग्य थे, तात्पर्य यह कि स्तनों की पीवरता के कारण केवल विषतन्तु ही उनके अन्तराल में आ सकता था। और इससे राजा की अन्यता भी प्रकट होती है क्योंकि उसे उनका आलिङ्गन नहीं मिल रहा था। इस प्रकार यहाँ मृणातन्तु व स्तनों के परस्पर शोभाकारी होने के कारण **समुच्चयालंकार व्यङ्ग्य है**। यहाँ पर कृतं व रचितन् क्रियाओं के समुच्चित होने के कारण **समुच्यालङ्कार** है। शरच्चन्द्रमरीचिकोमलम् यहां पर लुप्तोपमालंकार है। **श्रुत्यनुप्रास तथा वृत्यनुप्रासों का संकर** है। शिरीषरेति रीचिरचीति त्रंतरे इत्यादि में **छेकानुप्रास** है। **वंशस्थ छन्द** है "**जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरा**"।

संस्कृत व्याख्या—कर्णयोः अर्पितं न्यस्तं निवेशितम्वा वन्धनं वृन्तं यस्य तत् कर्णार्पितबन्धनं गण्डमभिव्याप्य **विलम्बितुं शीलाः** केशराः यस्य तत् आगण्डविलम्बिकेशरं=कपोलस्थलपर्यन्तम्बमानकिञ्जल्कं **शिरीषं** शिरीषकुसुमं न कृतम् न चित्रितम् वा=किञ्च स्तनयोरन्तरेऽभ्यन्तरे **स्तनान्तरे** पयोधरोत्सङ्गे शरच्चन्द्रस्य शरदिन्दोः मरीचिवत् कोमलं सुकुमारं **शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं** मृणालसूत्रम्=विसतन्तुघटितो हारः न रचितम् न चित्रे **लिखितम्**। एतदुभयमपि विस्मरणकारणान्न चित्रितमतः सम्प्रति तत्कर्तुमिच्छामि। **उक्ता अलंकारादयः**। वंशस्थविलं वृत्तम्।

विदूषक=मित्र ! यह देवी, रक्तकमल के पल्लवों के समान शोभाशाली अर्थात् कोमल एवं आरक्त अपनी हथेलियों से मुँह ढक कर बहुत डरी हुई सी क्यों खड़ी है (ध्यान से देखकर) अरे, यह नीच, फूलों के रस का चोर भ्रमर इनके मुखमण्डल पर मँडरा रहा है, अर्थात् इसे कमल समझ कर इसका रस पान करना चाहता है (इससे **भ्रान्तिमान् अलंकार व्यंजित होता है**)। आः=क्रोध सूचक। रक्तकुवलय=लाल कमल, अग्रहस्त=हथेली, अपवार्य=ढक कर, चकितचकिता=अधिक भयभीत, दास्याः पुत्रः=नीच, दुष्ट (यह एक प्रकार की गाली या

राजा—युज्यते । अयि भोः कुसुमलताप्रियातिथे ! किमत्र परिपतनखेद मनुभवसि ?

एषा कुसुमनिषण्णा तृषितापि सती भवन्तमनुरक्ता ।
प्रतिपालयति मधुकरी न खलु मधु विना त्वया पिवति ॥१९॥

सानुमती—अज्ज अभिजादं खु एसो वारिदो । [अद्याभिजातं खल्वेष वारितः ।

कोसना है) पाटच्चर=चोर । अतः दास्याः पुत्रः मधुकरः—धृष्ट भ्रमर, तवभवत्याः—पूजनीय (कोई साधारण स्त्री नहीं) इससे अत्यन्ताभिलाषाक्षमता द्योतित होती है । मधुकर शब्द यहाँ पर साभिप्राय प्रयुक्त हुआ है । तात्पर्य यह है कि इस प्रकार की माननीय ऋषिकन्या के साथ धृष्टतापूर्वक व्यवहार करने वाला दण्डनीय है ।

राज—तो फिर इस ढीठ भौंरे को रोको, भगा दो ।

विदूषक—दुष्टों को दण्ड देने वाले तो आप ही हैं (अतः आप ही) इसे रोकने में समर्थ होंगे ।

राजा—ठीक है । ओ रे ! फूल और लताओं के प्रिय अतिथि ! तू क्यों यहाँ (इसके मुख पर) मंडराने का कष्ट उठा रहा है । ('कुसुमलताप्रियातिथे' अर्थात् तुम फलों व लताओं के प्रिय अतिथि हो अतः तुम्हें वे अपने पास उपस्थित पाकर तुम्हारा सत्कार करेंगी, अतः तुम उन्हीं के पास जाओ, इसके पीछे क्यों पड़े हो, यहाँ तुम्हें क्या मिलेगा, अथवा कुसुमलता का अर्थ है कुसुमों वाली लता अर्थात् पुष्पितलतायें अर्थात् पुष्पि लता-नायिकायें—उनके प्रिय अतिथि । अतिथि भी जो कोई नहीं अपितु प्रिय अतिथि अतः सत्कार प्राप्त करना निश्चित ही है, भला प्रिय का सत्कार क्यों न होगा, और प्रिय भी जो अतिथि हो कभी-कभी ही आता हो वह तो अवश्य ही सत्करणीय होगा, फिर तुम ऐसे अनायास लभ्य आदर को छोड़ कर यहाँ व्यर्थ ही क्यों चक्कर काटते हुए कष्ट उठा रहे हो, इस कार्य से तो तुम्हें केवल कष्ट ही मिलेगा मधु नहीं, क्योंकि न तो तुम इसके अतिथि हो और न प्रिय हो ।

श्लोक १९ अन्वय—कुसुमनिषण्णा भवन्तं अनुरक्ता एषा मधुकरी तृषिता सती अपि प्रतिपालयति, खलु त्वया बिना मधु न पिवति ।

शब्दार्थ—कुसुमनिषण्णा=फूल पर बैठी हुई, भवन्तं अनुरक्ता=तुमसे अनुराग रखने वाली । एषा=आगे स्थित । मधुकरी=भ्रमरी । प्रतिपालयति=प्रतीक्षा कर रही है । खलु=क्योंकि ।

अनुवाद—फूल पर बैठी हुई, तुम से अनुराग रखने वाली, यह भ्रमरी प्यासी

विदूषक—पडिसिद्धा वि वामा एसा जादी। [प्रतिषिद्धापि वामैषा जातिः।

राजा—एवं भोः, न मे शासने तिष्ठसि श्रूयतां तर्हि संप्रति,—

कर भी (तुम्हारी) प्रतीक्षा कर रही है क्योंकि वह तेरे बिना मधुपान भी नहीं कर रही है।

व्याख्या—राजा ने प्रथम तो यह दिखाकर कि भ्रमर का शकुन्तला के मुख पर मंडराना व्यर्थ है, उसे रोक दिया और अब इस श्लोक द्वारा वह उसके साफल्य को दिखाने के लिए भ्रमरी के उद्देश्य से कहता है। यह भ्रमरी या तो चित्रगत किसी पुष्प पर ही चित्रित थी अथवा उपवन में ही वह उसी के समीप किसी लता पर बैठी थी। राजा भ्रमरी को दिखाकर उस चित्रित भ्रमर से कहता है:—

देख ! यह सामने पुष्प पर बैठी हुई तेरे पर पूर्णतया अनुरक्त, भ्रमरी प्यासी होकर भी तेरी प्रतीक्षा कर रही है, क्योंकि वह तेरे बिना अकेली मधुपान भी नहीं कर रही है। तात्पर्य यह है कि तेरे प्रेम की प्यासी तेरी ही ओर आँख लगाये हुए पुष्प पर बैठी हुई है यह यह भ्रमरी तेरे बिना मधुपान नहीं कर रही है। अतः तुझे उसके ही पास जाना चाहिए, इधर उधर घूमने से क्या।

विशेष—यहाँ कुसुमनिषण्णा पद से यह द्योतित होता है कि तुम्हारे लिये यह स्थान अत्यन्त साध्य है, अनुरक्ता पद से "तुम्हारा वहां ही जाना उचित है" यह सूचित होता है। तृषिता अर्थात् भ्रमरी का तृषित होना फूल पर बैठने ही से प्रतीत होता है। प्रतिपालयति" से प्रेमातिशय सूचित होता है। तृषितापि सती त्वया बिना न पिबति' इससे उसका पतिव्रता होना और उस पर विशेष अनुराग रखना प्रतीत होता है। यहां भ्रमर और भ्रमरी पर नायक नायिका व्यवहार के समारोप करने से समासोक्ति अलंकार है चित्रस्थ भ्रमरी का मधुपान न करना स्वाभाविक है और यह कथन कि वह तुम्हारे बिना नहीं पीती है कृत्रिम है, दोनों में अभेदाध्यवसाय होने से अतिशयोक्ति है। छेक, वृत्ति अनुप्रास। आर्या जातिः।

संस्कृत व्याख्या—कुसुमनिषण्णा पुष्पोपविष्टा भवन्तम् त्वां (भ्रमरमित्यर्थः) अनुरक्ता—अनुरागवती तृषिता पिपासिता सती अपि एषा पुरः स्थिता मधुकरी भ्रमरी प्रतिपालयति-त्वां प्रतीक्षते खलु=यतः त्वां बिना मनु=पुष्परसं न पिबति। अतस्त्वया तत्रैव गन्तव्यमिति भावः। उक्ता अलङ्काराः, आर्या जातिः।

सानुमती—आज भी बड़े न्याय पूर्वक यह भ्रमर रोका गया है, तात्पर्य यह है कि अब भी अर्थात् इस अवस्था को प्राप्त होकर भी राजा कितनी कोमलता न्यायप्रियता सद्भावना एवं सतर्कता तथा नम्रता के साथ भ्रमर से चले जाने के लिये कह रहे हैं, जब कि कोई विरह से व्याकुल साधारण व्यक्ति ऐसी अवस्था में ऐसा नहीं कह सकता था। अभिजातम्=न्याय पूर्वक "अभिजातः स्मृत न्याय्ये" कोश।

अक्लिष्टबालतरुपल्लवलोभनीयं
पीतं मया सदयमेव रतोत्सवेषु ।
बिम्बाधरं स्पृशसि चेद्भ्रमर ! प्रियाया-
स्त्वां कारयामि कमलोदरबन्धनस्थम् ।। २० ।।

विदूषक—यह भ्रमर जाति बड़ी हठी होती है रोकने पर भी वही काम करती है ।

राजा—क्यों, रे ! तू मेरा शासन नहीं मानता, तो अब तू सुन ।

श्लोक २० अन्वय—अक्लिष्टबालतरुपल्लवलोभनीयं प्रियायाः (यत्) बिम्बाधरं रतोत्सवेषु मया सदयं एव पीतं तद् चेत् भ्रमर ? (त्वं) स्पृशसि, त्वां कमलोदरबन्धनस्थं कारयामि ।

शब्दार्थ—अक्लिष्टेत्यादि=अम्लान नवोद्गत तरु पल्लव के समान लुभाने वाले । अथवा बाल=नूतन जो तरु=वृक्ष उसका पल्लव जो कि किसी के द्वारा स्पृष्ट या मर्दित न किया गया हो । इससे कोमलता तथा अत्यधिक रक्तता ध्वनित होती है । यहाँ पल्लव से तरु शब्द का अर्थ लिया जा सकता था क्योंकि पल्लव तो तरु का ही होगा अतः तरु शब्द का अर्थ है ऐसी आशंका न करना चाहिये क्योंकि कवि ने यहाँ तरु में लगा हुआ पल्लव इस तात्पर्य से तरु का प्रयोग किया है क्योंकि वृक्ष से अलग हुए पल्लव में स्वाभाविक कोमलता नहीं रह जाती । बिम्बाधरं=बिम्बाफल के समान रक्तिम अधरोष्ठ । रतोत्सवेषु=उत्सव रूप सुरत क्रीड़ाओं में। सदयम्=अत्यन्त उत्कण्ठित हुये भी मेरे द्वारा जो धीरे-धीरे स्वाद,स्वाद से। पीतम्=पिया गया—जिसका रस लिया गया था, चुम्बित किया गया था, न कि दष्ट किया गया था, क्योंकि वह इतना कोमल था । स्पृशसि=स्पर्श करते हो, तात्पर्य यह है कि यदि उस पर द्न्तक्षतं करते हो । कमलेत्यादि=तो मैं तुमको कमल के भीतर कारागार में बन्द करा दूँगा (उदर=भीतर, बन्धन=कारागार अर्थात् कमलोदर रूप कारागार में ।

अनुवाद—अम्लान नवोद्गत तरु किसलय के समान लुभाने वाले, जिस बिम्बाफल सदृश अधरोष्ठ का मैंने भी उत्सव रूप सुरत कीडा में धीरे धीरे ही—पान किया था या रस लिया था, हे भ्रमर ! यदि तुम प्रिया के उस अधरोष्ठ का स्पर्श करोगे तो मैं तुमको कमल के भीतर कारागार में बन्द करा दूँगा ।

व्याख्या—अम्लान एवं नूतन तरु किसलय के समान लुभाने वाले प्रिया के जिस बिम्बाफल के सदृश अधरोष्ठ का मैंने भी रति काल में धीरे-धीरे स्वाद-स्वाद से पान किया था हे भ्रमर यदि तुम उसका स्पर्श करोगे अर्थात् निर्दयता पूर्वक उस पर दन्त क्षत करोगे तो (याद रक्खो मैं) तुमको कमलकोश के कारागार में बन्द करा दूँगा, अर्थात् जिस अत्यन्त कोमल अधर का स्वयं मैंने ही, रतिकाल में भी, बड़ा

विदूषक—एव्वं तिक्खणदंडस्स किं ण भाइस्सदि ? । (प्रहस्य, आत्मगतम् ।) एदो दाव उम्मती । अहं पि एदस्स संगेण ईदिसवण्णो विअ संवुत्तो । (प्रकाशम्) भो ! चित्तं खु एदं । [एवं तीक्ष्णदण्डस्य किं न भेष्यति ? । एष तावदुन्मत्तः । अहमप्येतस्य सङ्गेनेदृशवर्ण इव संवृत्तः । भोः ! चित्रं खल्वेतत् ।]

राजा—कथं चित्रम् ? ।

सानुमती—अहं पि दाणिं अवगदत्था, किं उण जहालिहिदाणुभावी एसो । [अहमपीदानीमवगतार्था, किं पुनर्यथालिखितानुभाव्येषः ।]

राजा—वयस्य ! किमिदमनुष्ठितं पौरोभाग्यम् ? ।

...कर पान किया था यदि तू उसे काटने का प्रयत्न करेगा तो तुझ भी पर-स्त्री लम्पट पुरुष की भाँति मेरी आज्ञानुसार मेरे सेवक जेल में, बन्द कर देगें । राजा का ...य लम्पटों को दण्ड देना है वह तू भी पायेगा, इसलिये ऐसा मत कर ।

विशेष—कमलेत्यादि पद से सूर्य का भी राजा का आज्ञाकारी होना ध्वनित होता है । कमलोदरबन्धनस्थम् में कमल शब्द जल वाची भी है अतः इसका अर्थ जल के भीतर भी है अतः श्लेष है । यद्यपि भ्रमर के लिये कमलोदर बन्धन स्वाभाविक है तथापि यहाँ स्वप्रयोजन विषय का उस पर अध्यवसाय किया गया है अतः अतिशयोक्ति है । पीतं=अपि—अक्लिष्टबालतरुपल्लवलोभनीयम् यह विधेय विशेषण है अतः भ्रमर के स्पर्श में हेतु होने के कारण यहाँ **भ्रान्तिम् अलंकार** व्यङ्ग्य है ।

विम्बाधरम् में विम्बफल सदृश अधर यह मध्यमपदलोपी समास है और इससे रक्तिमातिशय द्योतित होता है ।

भ्रमर पर प्रति नायक व्यवहार समारोपण से **समासोक्ति** है । विम्बाधरं तथा अक्लिष्टेत्यादि पद में **समासगतलुप्तोपमा** है । कमलोदरेत्यादि पद में **रूपक अलंकार** है । कमल शब्द का जल अर्थ करने में श्लेषालंकार भी है ।

यहाँ नायक की उन्मादावस्था का वर्णन हैं अतः इस प्रकार के वर्णन में कोई अनौचित्य दोष नहीं है । **हेतु तथा अनुप्रास ।**

यहाँ इस प्रकार के कर्तव्य का निर्देश करने से और उसके कारण के होने से व्यवसाय नामक **अवमर्श सन्धि का अंग है "व्यवसायश्च विज्ञेयः प्रतिज्ञाहेतुसम्भवः"** वसन्ततिलका छन्द है **"ज्ञेया वसन्ततिलका त भ जा ज गौ गः"**

लुभ्+अनीयर्=लोभनीयम् । पा+क्त, ईत्वे=पीतम् । दयया सह सदयम् अव्ययीभावः सहस्य सादेश । ण्यन्तात् कृधातोः लटि कारयामि । बन्धन+स्था+क=बन्धनस्थः ।

संस्कृत व्याख्याः—अक्लिष्टः=अमर्दित अम्लानो वा बालः=नूतनः यः तरोः=वृक्षस्य पल्लवः किसलयः, तम् इव लोभनीयं=आकर्षकं, इति—अक्लिष्टबाल-

तरुपल्लवलोभनीयं प्रियायाः हृदयवल्लभायाः विम्बाधरं=पक्वविम्वफलसदृशाधरोष्ठं मया (दुष्यन्तेन अपि) रत मेवोत्सवस्तेषु रतोत्सवेषु सुरतक्रीडामहोत्सवेषु सदयं= कोमलातिशयत्वात् सानुकम्पं स्वादं स्वादञ्च पीतं=आस्वादितं चेत् भ्रमर ! त्वं स्पृशसि=दशसि तदा त्वा महं कमलस्य उदरं अभ्यन्तरमेव बन्धनं कारागृहं तत्र तिष्ठतीति तं कमलोदरबन्धनस्थं कारयामि त्वां केनापि मदीयेन कर्मचारिणा कारागारं प्रापयामि । उक्ता अलङ्कारादरः । बसन्ततिलकं वृत्तम् ।

विदूषकः—अरे क्या ऐसे कठोर दण्ड देने वाले से भी नहीं डरेगा । (हंसकर आप ही आप) यह तो पागल हो ही गये हैं और इनके संग के कारण अर्थात् इनके साथ रहने के कारण मैं भी कुछ ऐसा ही हो गया हूँ (प्रकट) अरे महाराज ! यह तो चित्र है ।

राजाः—अरे क्या चित्र है ? "राजा—**युज्येत से लेकर यहां तक भ्रान्ति नामक संध्यन्तराङ्ग निर्दिष्ट किया है "भ्रान्ति विपर्ययज्ञानं प्रसंग स्याविनिश्चयात्"** अर्थात् प्रसङ्ग के निश्चित ज्ञान न होने से विपरीत बुद्धि होना ही भ्रान्ति है ।

सानुमती—स्वयं मैं भी अब समझ पाई हूँ कि यह चित्र है तो फिर भला उसका तो पूँछना ही क्या जो कि इसे जैसा इसने चित्रित किया था, वैसा ही अनुभव कर रहा है । अर्थात् शकुन्तला को इसने चित्रित किया है वैसा ही वह, उसे चित्र में देख रहा है, वास्तविक शकुन्तला समझ रहा है । तात्पर्य यह है कि जब मैं ही जो कि शकुन्तला के विषय में राजा जैसी ही चिन्तित तथा तन्मय नहीं हूँ, अब तक भूली रही थी और चित्र को ही शकुन्तला समझती रही थी तो फिर यह राजा जिसने कि इतनी तल्लीनता के साथ अपनी प्राणधिका प्रिया का चित्र बनाया है, यदि चित्र को ही वास्तविक शकुन्तला समझ बैठा है तो आश्चर्य ही क्या क्योंकि यह तो इस समय प्रमोन्मत्त हो रहा है । अवगतार्था= वस्तुतः निश्चित बात पर पहुंची हूँ कि यह चित्र है, वस्तुगत्या शकुंतला नहीं ।)

"ननु वार्यता मेष धृष्टः" से लेकर यहाँ तक **तन्मयत्वप्रवास-विप्रलम्भकाम-दशावस्था** सूचित की गई है **"तन्मयं तत्प्रकाशो हि वाह्याभ्यन्तरस्तथा"** अर्थात् भीतर बाहर सभी ओर जब सारा संसार तन्मय ही दिखाई पड़े वहाँ तन्मय प्रवास विप्रलम्भ होता है । **"विरहे तन्मयं जगत् सर्वम्"** विप्रलम्भ चार प्रकार का होता है ।

"स च पूर्वरागमानप्रवासकरुणात्मकश्चतुर्धा स्यात्"

राजा—यह तुमने क्या दुष्कर्म कर डाला मित्र ! अर्थात् यह तुमने बड़ा मूर्खतापूर्ण कार्य कर डाला । (पौरोभाग्यम् = दोष मात्र देखना 'पौरोभाग्यं दोष-दर्शित्वम्=दोषैकहक पुरोभागी—कोश' अर्थात् जिस काम को करने से केवल दोष ही उत्पन्न हो न कि कोई गुण, वह काम पौरोभाग्य कहलाता है, यहाँ तात्पर्य है कि तुमने यह कह कर कि यह वास्तविक शकुन्तला नहीं केवल उसका यह चित्र है, मेरा

दर्शनसुखमनु भवतः साक्षादिव तन्मयेन हृदयेन ।
स्मृतिकारिणा त्वया मे पुनरपि चित्रीकृता कान्ता ॥२१॥

(इति बाष्पं विहरति ।)

विरह दुःख ही बढ़ाया है और कुछ इससे लाभ नहीं हुआ अतः तुम्हारा यह काम सर्वथा मूर्खतापूर्ण है—दोष युक्त है ।

श्लोक २१ अन्वय—तन्मयेन हृदयेन हृदयेन साक्षात् इव दर्शनसुखं अनुभवतः मे स्मृतिकारिणा त्वया पुनः अपि कान्ता चित्रीकृता ।

शब्दार्थः—साक्षात् इव=प्रत्यक्ष जैसा ही । स्मृतिकारिणा=याद दिलाने वाले । कान्ता=प्रिया शकुन्तला । चित्रीकृत+चित्रित कर दी ।

अनुवाद—तन्मय हृदय से मानो साक्षात् शकुन्तला के दर्शन का सुख अनुभव करने वाले मेरे लिये, स्मृति दिला देने वाले तूने फिर भी प्रिया शकुन्तला को चित्रित कर दिया है ।

व्याख्या—मैं तन्मय हृदय से मानो साक्षात् शकुन्तला के दर्शन का सुख अनुभव कर रहा था पर तूने मुझे स्मरण दिला कर फिर मेरी प्रिया शकुन्तला को चित्र ही बना डाला, अर्थात मैं तो बड़ी तन्मयता के साथ सामने खड़ी हुई शकुन्तला के दर्शन का आनन्द ले रहा था तूने यह बता कर कि यह शकुन्तला नहीं, मेरे सब आनन्द को नष्ट कर दिया फलतः अब यह चित्रमात्र रह गया, साक्षात् शकुन्तला नहीं ।

विशेष—तन्येन हृदयेनः—अर्थात् यह साक्षाद प्रत्यक्ष खड़ी हुई शकुन्तला ही है इस बुद्धि से । स्मृतिकारिणी;—यह शकुन्तला का चित्र है शकुन्तला नही इस बात की याद दिलाने वाले । चित्रीकृताः—अर्थात अनुभववश जो चित्रित नही थी वह चित्रित कर दी अथवा चित्रीकृता का अर्थ है आश्चर्यरूप कर दी "आलेख्याश्चर्य-योश्चित्रम्" अमर कोश । तात्पर्य यह कि चित्रगत शकुन्तला को प्रकृत शकुन्तला ही समझ कर उसके दर्शन का आनन्द लेते हुए मुझे, तूने स्मरण दिला कर, भ्रम को दूर कर देने से और यह निश्चय करा देने से कि तत्वतः यह चित्र है, बहुत बड़ा दुःख दिया है, यह तूने बहुत बड़ी मूर्खता की है ।

'साक्षादिव' में **वाच्या उत्प्रेक्षा है**, चित्रीकृता में वही **गम्या उत्प्रेक्षा है**, स्मृतिकारिणा चित्रीकृता यहाँ पर **शब्दशक्ति मूलक विरोधाभास व्यंग्य है** ।

भोजराज ने तो दूसरे के द्वारा कराये गये स्मरण में भी **स्मरणालंकार** माना है और यही श्लोक उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है, केवल दर्शन सुखमनुभवतः के स्थान पर दर्शन पथ मायाता ऐसा पाठ कर दिया है । कोई आचार्य यहाँ **भ्रान्तिमान् अलंकार** भी मानते है क्योंकि अविकल समानता के कारण चित्र में राजा को शकुन्तला का भ्रम हो रहा था । यहाँ पर विप्रलम्भ **शृङ्गार की अङ्ग**

सानुमती—पुव्वावरविरोही अपुव्वो एसो विरहमग्गो। पूर्वापरविरोध्यपूर्व एष विरहमार्गः।

राजा—वयस्य ! कथमेवमविश्रान्तदुःखमनुभवामि ?।

प्रजागरात्खिलीभूतस्तस्याः स्वप्ने समागमः।
बाष्पस्तु न ददात्येनां द्रष्टुं चित्रगतामपि ॥ २२ ॥

भून भाव सन्धि भी है क्योंकि श्लोक के पूर्वार्ध में हर्ष तथा उत्तरार्ध में विषाद भाव इन दोनों की सन्धि है। वततर्वेति येन येनेति कृताकान्तेति **छेक श्रुति वृत्ति अनुप्रास हैं। आर्या जाति** छन्द है।

"**राजा**—अकारण परित्याग" से यहाँ तक चित्र नामक सन्ध्यन्तराङ्ग निर्दिष्ट किया गया है ! "**चित्रं त्वाकारस्य विलेखनम्**"

अनु+भू+शतृ षष्ठ्येक वचने अनुभवतः, चित्र+क्त, क्तयोगे च्वि प्रत्यये रूपम् चित्रीकृता,

संस्कृत व्याख्या—तन्मयेन प्रियामयेन हृदयेन चित्तेन साक्षात् प्रत्यक्षत इव दर्शनस्य प्रियावलोकनस्य सुखमानन्दं—इति दर्शनसुखं—अनुभवतः—अनुभवं कुर्वतः मे मम (दुष्यन्तस्य) स्मृतिं कारयति तेन स्मृतिकारिणा चित्रितोप्रियेयमिति स्मृति कारितवता त्वया माढव्येन पुनरपि भूयोऽपि कान्ता प्रिया चित्रीकृता-आलेख्यसम पिता अथवा साश्चर्यीकृता। आर्या जातिः। अलंकारादय उक्ताः।

ऐसा कह कर आँसू बहाने लगता है।

सानुमती—वियोगी राजा की यह अवस्था भूत एवं वर्तमान कालों के परस्पर विपरीत है अतएव निराली ही है। तात्पर्य यह कि इस राजा का यह विरह का ढंग वास्तव में निराला ही है जिसमें पहिले तो कुछ और था और अब कुछ और ही है। क्योंकि पहिले तो बड़ी आस्था के साथ इसने उसके साथ विवाह किया फिर उसे व्यभिचारिणी होने की सम्भावना से अनास्था पूर्वक छोड़ दिया और अब फिर, यह जान कर कि वह तो बड़ी पतिव्रता थी उसके लिये पश्चाताप कर रहा है इसका यह काम परस्पर विरुद्ध है अतएव वह निराला ही है। अथवा पहिले इसने चित्र को चित्र समझा फिर उन्मादावस्था में उसे ही साक्षात् शकुन्तला समझ लिया और अब फिर चित्र को चित्र समझ रहा है अतएव यह पूर्वापर विरोध है उन्माद के बाद मूर्च्छादि अवस्था नहीं हुई अतएव यह आश्चर्यकारी भी है।

राजा—वयस्य ! मैं इस प्रकार निरन्तर दुःख क्यों पा रहा हूँ।

श्लोक २२ अन्वय—प्रजागरात् स्वप्ने तस्याः समागमः खिलीभूतः तु बाष्पः चित्रगतां अपि एनां द्रष्टुं न ददाति।

शब्दार्थ—**प्रजागरात्** = अत्यधिक जागते रहने के कारण। खिलीभूतः=

सानुमती—सव्वहा पमज्जिदं तुए पच्चादेसदुक्खं सउंदलाए। [सर्वथा प्रमार्जितं त्वया प्रत्यादेशदुःखं शकुन्तलायाः।]

(प्रविश्य।)

चतुरिका—जेदु जेदु भट्टा। वट्टिग्राकरंडग्रं गेण्हिग्र इदोमुह पत्थिदम्हि। [जयतु जयतु भर्ता। वर्तिकाकरण्डकं गृहीत्वेतोमुखं प्रस्थितास्मि।]

राजा—किं च ?।

चतुरिका—सा मे हत्थादो अन्तरा तरलिग्रादुदीग्राए देवीए वसुमदी ग्रहं एव्व ग्रज्जउत्तस्य उवणइस्सं त्ति सबलक्कारं गहीदो। [स मे हस्तादन्तरा तरलिकाद्वितीयया देव्या वसुमत्याऽहमेवार्यपुत्रस्योपनेष्यामीति सबालत्कारं गृहीतः।

विदूषक :—दिट्ठिया तुमं मुक्का। [दिष्टया त्वं मुक्ता।]

विरुद्ध हो गया, रुक गया। द्रष्टुं न ददाति=आँसू दृष्टि व्यापार को रोक कर देखने में नहीं देता।

अनुवाद—अत्यधिक जागरण के कारण उसका समागम स्वप्न में भी तो प्रतिरुद्ध हो गया है पर (जाग्रत अवस्था में भी) यह आँसू चित्रलिखित भी उसे देखने नहीं देता।

व्याख्या—रात्रि भर जागते रहने के कारण—नींद न आने के कारण स्वप्न में भी उसका मिलना नहीं होता है और यह आँसू चित्रलिखित भी उसे नहीं देखने देते; अर्थात् अश्रुप्रवाह के कारण दृष्टिप्रसार रुक जाने से में देख नहीं पाता। तात्पर्य यह दिन में, रात में, सोते समय अथवा जागते समय प्रत्येक अवस्था में मेरे लिए उसका दर्शन दुर्लभ हो गया है।

विशेष—प्रजागरात्:—इससे यह प्रतीत होता है कि प्रिया स्मरणवश उसे रात को निद्रा आती ही न थी। चित्रगतामपीतिः—इसमें अपि का अर्थ यह है कि साक्षात् दर्शन तो फिर और भी दुर्लभ है अर्थात् जब चित्रगत भी इसे नहीं देख पाते तो साक्षात् दर्शन तो और भी दुर्लभ है। यहाँ वाष्प और जागरण रूप हेतुओं से अदर्शन और अनिद्रा रूप हेतुमानों का अभेद बतलाया गया है अतः हेतु अलंकार है:—

"अभेदेनाभिधा हेतु हेतों र्हेतोंमता सह" हेतु का लक्षण है।

यहाँ **"दर्शनसुखम्"** से लेकर **यहाँ तक विरोधन नामक अवमर्श सन्धि का** अंग है क्योंकि सुखानुभव कार्य के प्रति विघ्न पड़ना बतलाया गया है **'कार्यात्ययोपशमनं विरोधन मिति स्मृतम्"। पथ्यावक्त्र छन्द है।**

संस्कृत व्याख्या—प्रजागरात् प्रकर्षेण जागरणाद्धे तो तस्याः शकुन्तलायाः स्वप्ने स्वाप्नावस्थायां (अपि) समागमः=सङ्गमः खिलीभूतः=प्रतिषिद्धः। निरुद्धः तु=किन्तु

चतुरिका—जाव देवीए विडवलग्गं उतरीअ तरलिआ मोचेदि ताव मए णिव्वाहिदो अत्ता [यावद् देव्या विपलग्नमुत्तीयं तरलिका मोचयति तावन्मया निर्वाहित आत्मा ।

राजा—वयस्य ! उपस्थिता देवी बहुमानगर्विता च । भवानिमां प्रतिकृतिं रक्षतु ।

विदूषक—अत्ताणं त्ति भणाहि ! (चित्रफलकमादायोत्थाय च।) जइ भवं अंतेउरकालूडादो मुंचीअदि तदो मं मेहृत्पडिच्छदे प्पासादे सद्दावेहि। [आत्मानमिति भण । यदि भवानन्तःपुरकालकूटान्मोक्ष्यते तदा माँ मेघप्रतिच्छन्दे प्रासादे शब्दापय । [(इति द्रुतपदं निष्क्रान्तः ।)

सानुमतो—अण्णासंकन्तहिअओ वि पढमसंभावणं अवेक्खदि सिढिलसोहदो दाणि एसो । [अन्यसंक्रान्तहृदयोऽपि प्रथमसंभावनामपेक्षते शिथिलसौहार्द इदानीमेषः ।

वाष्प=नयनजलं चित्रगतां=आलेख्यार्पितां—अपि एनां शकुन्तलां दृष्टुं न ददाति नयनावरणात् तस्या दर्शनं वारयति । अतः साक्षाद्दर्शनन्तु तस्याः सुतरामेव दुर्लभमिति भावः । पथ्यावक्त्रं वृतम् । अलंकारा उक्ताः ।

सानुमती—तुमने (इस प्रकार) शकुन्तला के अपमान का दुख सर्वथा धो डाला । अर्थात शकुन्तला के निराकरण से जो हम लोगों के मन में दुःख था उसको आज तुमने अपने इन वचनों तथा कायिक एवं मानसिक व्यापारों से धो डाला है अथवा शकुन्तला के मन में जो दुःख था उसको तुमने धो डाला है क्योंकि जब मैं अभी जाकर उससे इस वृत्तान्त को कहूँगी तो वह तुम्हारे प्रेमातिशय को जान कर अपने निराकरण का सब दुःख भूल जायेगी ।

(प्रवेश कर)

चतुरिका—महाराज की जय हो । मैं तो तूलिका की पेटी लेकर इधर ही आ रही थी । (वर्तिकाकरण्डम्=चित्र रचना के समान का डिब्बा)

राजा—तो क्या हुआ ।

चतुरिका—उसे मेरे हाथ से, तरलिका के साथ देवी वसुमती ने यह कह कर कि मैं ही आर्यपुत्र के पास पहुँचा आऊँगी, बीच ही में बलपूर्वक छीन लिया । अन्तरा=बीच में ।

विदूषक—अच्छा हुआ तू बच गई अर्थात् यह बड़े सौभाग्य की बात हुई कि तू उनके हाथ से बच कर निकल आई, पिटी नहीं ।

चतुरिका—जब तक वृक्ष की डाल में उलझे हुए महारानी के डुपट्टे को तरलिका छुड़ावे, तब तक मैंने अपने को छिपा लिया । अर्थात् उधर तो तरलिका

(प्रविश्य पत्रहस्ता ।)

प्रतिहारी—जेदु जेदु तेवो [जयतु जयतु देवः ।]

राजा—वेत्रवति ! न खल्वन्तरा दृष्टा त्वया देवी ।

प्रतीहारी—ग्रह इम् ? पत्तपत्थं मं देक्खिग्र पडिरिणउत्ता । [अथ किम् ? पत्रहस्तां मां प्रेक्ष्य प्रतिनिवृत्ता ।]

राजा—कार्यज्ञा कार्योपरोधं मे परिहरति ।

प्रतिहारी—देव ! ग्रमच्यो विष्णवेदि—ग्रत्थजादस्स गणणावहुलदाए एक एण्व पोरकज्जं ग्रवेक्खिदं तं देवो . पत्तारूढं पच्चक्खीकरेदु-त्ति । [देव !

डाली में उलझे हुए महारानी के दुपट्टे को छुड़ाने में लगी और इधर मैं चुपचाप निकल भागी । निर्वाहितः=आत्मा—भाग निकली ।

राजा—वयस्य ! महारानी अधिक सत्कार पाने से गर्विता है और अब आने ही वाली हैं अतः आप इस चित्र की रक्षा करें । अर्थात् इसे छिपा कर रखो महारानी के हाथ में कहीं न पड़ जाय ।

विदूषक—यह कहो कि अपनी रक्षा करो तात्पर्य यह है कि आप साफ-साफ यह क्यों नहीं कहते कि (रानी के हाथ से) मेरी भी रक्षा करो, केवल चित्र की ही नहीं । अच्छा यदि आप अन्तःपुर के कालकुट से (कालवत् कूट=माया अर्थात् कठिन माया जाल से, चक्र से या चङ्गुल से) बच जाँय—छूट सकें तो फिर मुझे मेघप्रतिच्छन्द नामक राजप्रासाद विशेष पर से पुकार लिजियेगा अर्थात् मैं वहीं रहूँगा आप मुझे बुला लें (मेघप्रतिच्छन्द नाम का एक विशेष प्रकार का राजप्रासाद जो कि दिग्दर्शनार्थ बहुत ऊँचा होता है । (यह कह कर झट से निकल जाता है)

सानुमती—यद्यपि इनका हृदय अब अन्य नायिका अर्थात् शकुन्तला पर आसक्त है तथापि ये अब भी अपने प्रथम आदर की अपेक्षा रखते हैं अर्थात अपनी पहिली रानी के प्रेम को ठेस नहीं पहुंचाना चाहते परन्तु (सच बात तो यह है कि) अब इनका प्रेम रानी के लिए शेष नहीं रह गया है । संक्रान्त=आसक्त । अपेक्षते=आदर करता है—उपेक्षा नहीं करता । प्रथमसम्भावनाम्=प्रथम प्रेम—पूर्वस्त्री का प्रेम) इससे राजा के दाक्षिण्य की प्रतीति होती है । सौहार्द=प्रेम ।)

(हाथ में पत्र लिये हुए प्रतीहारी का प्रवेश)

प्रतीहारी—जय हो महाराज की जय हो ।

राजा—वेत्रवती ! तुमने बीच में (कहीं) महारानी को तो नहीं देखा ?

प्रतीहारी—हाँ मिलीं थीं । पर मेरे हाथ में पत्र देखकर लौट गई ।

राजा—महारानी काम को समझती हैं अतएव वे मेरे काम में बाधा डालने से दूर रहती हैं । अर्थात् महारानी समय असमय एवं कार्याकार्य को भली भाँति

अमात्यो विज्ञापयति-अर्थजातस्य गणनाबहुलतयैकमेव पौरकार्यमवेक्षितं तद्देवः पत्रारूढं प्रत्यक्षीकरोतु इति ।]

राजा—इतः पत्रिकां दर्शय ।

(प्रतीहार्युपनयति ।)

राजा—(अनुवाच्य ।) कथम् ? समुद्रव्यवहारी सार्थवाहो धनमित्रो नाम नौव्यसने विपन्नः । अनपत्यश्च किल तपस्वी । राजगामी तस्यार्थसंचय इत्येदमात्येन लिखितम् । कष्ट खलवनपत्यता । बहुधनत्वाद् बहुपत्नीकेन तत्रभवता भवितव्यम् । विचार्यतां यदि काचिदापन्नसत्वा तस्य भार्यासु स्यात् ।

प्रतिहारी—देव ! दाणिं एव्व साकेदअस्स सेट्ठिणो दुहिआ णिव्वुत्तपुंसवणा जाआ से सुणीअदि । [देव ? इदानीमेव साकेतस्य श्रेष्ठिनो दुहिता निर्वृत्तपुंसवना जायाऽस्य श्रूयते ।

राजा—ननु गर्भः पित्र्यं रिक्थमर्हति । गच्छ एवममात्यं ब्रूहि ।

समझती हैं अतएव पत्र को देखकर उन्होंने समझ लिया होगा कि यह कोई प्रजा के कार्य की सूचना है अतः अवश्य एवं शीघ्रकरणीय है । अतएव मुझे वहाँ पहुँच कर विघ्न न डालना चाहिये यह सोच कर वह लौट गई होगीं ।

प्रतीहारी—महाराज ! अमात्य ने कहलवाया है कि (कई विभागों के) रुपयों पैसों की गणना की अधिकता के कारण आज प्रजा का केवल एक ही काम मैं देख पाया हूँ, उसे पत्र में लिखा हुआ आप देख लें ।

राजा—लाओ, पत्र इधर दिखलाओ ।

(प्रतीहारी पत्र ले जाकर देती है)

राजा—(पढ़ कर) अरे क्या समुद्र द्वारा व्यापार करने वाला सेठ धनमित्र नाव के डूब जाने से मर गया ? और वह बेचारा निःसन्तान था और मन्त्री ने लिखा है कि उसका सब धन राज कोष में जाना चाहिए । निस्सन्तान होना कितना कष्टप्रद होता है अर्थात् अनपत्यता बड़ी ही कष्टदायिनी होती है । अच्छा अधिक धनवान होने के कारण उसकी तो बहुत सी पत्नियाँ होगीं । देखो, पता तो लगाओ, यदि उसकी पत्नियों में से कोई गर्भवती हो । विपन्न=मृत । नौव्यसने=नौ=नाव, विपत्ति अर्थात् नाव का डूबना या टूटना । "**न पतति वंशो येन जातेन तदपत्यम्**" अर्थात् जिसके उत्पन्न होने से वंश क्षय न हो वह अपत्य कहलाता है ।

प्रतीहारी—महाराज ! सुना जाता है कि अयोध्यावासी सेठ की पुत्री उसकी पत्नी है उसने अभी ही (कुछ ही समय हुआ) पुंसवन संस्कार कराया है, अर्थात् वह गर्भवती ही नहीं अपितु गर्भकाल के तृतीय मास में किया जाने वाला पुंसवन नाम का संस्कार भी हो चुका है ।

प्रतीहारी—जं देवो आणवेदि। [यद्देव आज्ञापयति।] (इति प्रस्थिता।)

राजा—एहि तावत्।

प्रतीहारी—इअम्हि। [इयमस्मि।]

राजा—किमनेन संततिरस्ति नास्तीति।

येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना।
स स पपादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम् ॥ २३ ॥

सन्तान रहित व्यक्ति का धन राजगामी होता है इस सम्बन्ध में मनु का वचन है :—

"अनन्तरः सपिण्डाद्यस्तस्य तस्य धनं भवेत्
तदभावे सकुल्यः स्यादाचार्यः शिष्या एव वा
सर्वेषामप्यभावे तु ब्राह्मणा रिक्थभागिनः
अहार्यं ब्राह्मणधनं राज्ञा नित्यमिति स्थितिः
इतरेषान्तु वर्णनां सर्वाभावे हरेन्नृपः"।

आपन्नसत्त्वा=आपन्नम् उदरे प्राप्तं सत्त्वं जन्तुः यया सा आपन्नसत्त्वा= गर्भिणी।

उपर्युक्त राजा के कथन से प्रतीत होता है कि उस काल में, धनवान् लोग प्राय. कोई विवाह करते थे परन्तु पति के मरने के बाद पत्नी या पत्नियों को मृत पति की सम्पत्ति पाने का अधिकार न था। इसलिए राजा उसकी पत्नियों का अधिकार न समझ कर उनमें से किसी के गर्भवती होने का पता लगाता है।

मनु के निम्नलिखित वचन के अनुसार गर्भस्थ सन्तान को भी पिता की सम्पत्ति पाने का अधिकार था।

"ये जाता येऽप्यजाता वा ये च गर्भे व्यवस्थिताः
वृत्तिं तेऽपि हि काङ्क्षन्ति वृत्तिलोपो विगर्हितः।

राजा—अच्छा, तो आओ, अमात्य से कहना कि वह गर्भस्थ बालक ही पिता की सम्पत्ति का अधिकारी है। रिक्थं=धन।

प्रतीहारी—महाराज की जैसी आज्ञा (कहकर जाती है।)

राजा—अच्छा इधर तो आओ।

प्रतीहारी—अच्छा, आ गई।

राजा—किसी को सन्तान होने अथवा न होने से क्या ?

श्लोक २३ अन्वय :—प्रजाः येन येन स्निग्धेन बन्धुना वियुज्यन्ते, पपात् ऋते तासां स स (बन्धुः) दुष्यन्त इति घुष्यताम्।

प्रतीहारी—एवं णाम घोसइदव्वं । (निष्क्रम्य । पुनः प्रविश्य ।) काले पवुट्ठं विअ अहिणंदिदं देवस्स सासणं । [एवं नाम घोषयितव्यम् । काले प्रवृष्टमिवाभिनन्दितं देवस्य शासनम् ।]

राजा—(दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य ।) एवं भोः, संततिच्छेदनिरवलम्बानां कुलानां मूलपुरुषावसाने संपदः परमुपतिष्ठन्ति । ममाप्यन्ते पुरुवंशश्रीरकाल इवोप्तबीजा भूरेवंवृजा ।

शब्दार्थ :—वियुज्यन्ते=भाग्यवश रहित हो जाती है—मर जाने के कारण रहित हो जाती हैं । पापादृते+पाप को छोड़कर अर्थात् स्त्रियों के पति बनने के अतिरिक्त । घुष्यताम्=भेरी बजाकर घोषणा कर दो ।

अनुवाद—प्रजाजन अपने जिस-जिस प्रिय बन्धु से (उसके मर जाने के कारण) रहित हो जाय । पाप कर्म के अतिरिक्त उसका वह बन्धु दुष्यन्त को समझा जाय, यह घोषणा कर दो ।

व्याख्या—हमारे प्रजा जनों में जो अपने जिस-जिस प्रिय बन्धु से (उसके मर जाने के कारण) रहित हो जाय उसका वह वह बन्धु दुष्यन्त समझा जाय परन्तु पाप को छोड़ कर अर्थात् प्रत्येक प्रियबन्धु के स्थान पर दुष्यन्त को बन्धु समझा जाय, उसका वह कार्य दुष्यन्त करेगा जो उसका प्रिय बन्धु करता, परन्तु वह अपनी प्रजा की प्रियबन्धुवियुक्त स्त्रियों का पति न बन सकेगा क्योंकि वह पाप कर्म होगा । अथवा पापादृते का अर्थ है उन लोगों का दुष्यन्त बन्धु न होगा जो पापी हैं पाप कर्म करने वाले हैं ।

विशेष—राजा के कथन का तात्पर्य यह है कि यद्यपि धनमित्र के सन्तान होने वाली है तथापि इस समय उसकी सब सम्पत्ति मेरे ही अधीन रहेगी जिससे कि कोई दूसरा उसका अपहरण न कर सके और अन्त में तो वह उसकी सन्तान ही को जब वह समर्थ हो जायेगी, मिलेगी ।

बालदायादिकं रिक्थं तावद्राजानुपालयेत्
यावत्स स्यात् समावृत्तो यावच्चातीतशैशवः ।

यहाँ **साहाय्य नामक नाट्यालंकार है "साहाय्यं संकटे यत्स्या दानुकूल्यं परस्य च"** । इससे नायकगत उत्कर्षातिशय व्यञ्जित होता है । दुष्यन्त का उस बन्धु के साथ अभेद दिखलाया गया है । अतः **रूपकालंकार है, पथ्यावक्त्र छन्द** है ।

स्निह्+क्त,= स्निग्धः, + वि + युज् + यकि लटि वियुज्यन्ते, पातात् अत्र ऋते इत्यस्य **योगे पञ्चमी** । घुष् यकि लोटि रूपम् घुष्यताम् ।

संस्कृत व्याख्या :—प्रजा :—राज्यस्था लोका येन येन स्निग्धेन प्रियेण **बन्धुना पुत्रा**दिबान्धवजनेन वियुज्यन्ते वियुक्ता भवन्ति, पपात् ऋते=पापं बिना

प्रतीहारी—पडिहदं अमंगलं। [प्रतिहतममङ्गलम्]

राजा—धिङ् मामुपस्थितश्रेयोऽवमानिनम्।

सानुमती—असंसअं सहिं एव्व हिअए करिअ णिंदिदो णेण अप्पा।]
असंशयं सखीमेव हृदये कृत्वा निन्दितोऽनेनात्मा।]

राजा—

संरोपितेऽप्यात्मनि धर्मपत्नी
त्यक्ता मया नाम कुलप्रतिष्ठा।

स्त्रीणां भर्तृत्वेन विना तेषां जनानां स स बन्धुः दुष्यन्त इति घुष्यताम्, भेरीवादनपूर्वकं राज्ये सर्वत्र उच्चैः निवेद्यतामिति।

प्रतीहारी :—हाँ ऐसी ही घोषणा की जायेगी (यह कहकर निकल कर पुनः प्रवेश करके कहती है) महाराज की आज्ञा (घोषणा) सुनकर प्रजा जनों ने उसी प्रकार उसे स्वीकार किया है, आनन्दित हुए हैं जैसे समय पर वर्षा होने से (आनन्दित हो रहे हैं।)

राजा :—(लम्बी साँस लेकर) ठीक इसी प्रकार निस्संतान होने से आश्रयहीन कुलों की सम्पत्तियाँ मूल पुरुष के मर जाने पर अन्य व्यक्ति को प्राप्त होती हैं। मेरे भी अन्त होने के बाद पुरुवंश की राज्यलक्ष्मी, असमय में जिसमें बीज बोया गया है ऐसी भूमि के समान, ऐसी ही होगी अर्थात् मेरे मरने के बाद मेरी राज्य लक्ष्मी अन्य को प्राप्त होगी। मूल पुरुष=धनोपार्जन करने वाला वंशधर। उप्तबीजा=जिसमें बीज बोया गया है। सन्ततिच्छेद=सन्तान का अभाव—विलोप।

अर्थात् जिस प्रकार आज निःसन्तान होने के कारण धनमित्र की सम्पत्ति दूसरे को अर्थात् मुझे मिल रही है उसी प्रकार निःसन्तान मेरी भी मृत्यु के बाद मेरी सम्पत्ति भी अन्य किसी पुरुष को प्राप्त होगी।

प्रतीहारी :=प्रतिहतममङ्गलम् अर्थात् अमङ्गल=आपके द्वारा आशंकित अपना अन्त, सन्तिविच्छेद तथा पुरुवंश की राज्य लक्ष्मी का पराश्रित होना रूप अमंगल सूचक विचार, प्रतिहतं=देवताओं की कृपा से नष्ट हों। भगवान ऐसे बुरे दिन न दिखावें।

राजा :—घर आई लक्ष्मी का तिरस्कार करने वाले मुझे धिक्कार है। तात्पर्य यह कि अपनी विवाहिता प्रिया पत्नी जो कि गर्भवती भी थी अपने आप आई तब मैंने उसका अपमान कर लौटा दिया और आज उसी सन्तान के लिए रो रहा हूँ, अतः मेरे जैसा मूर्ख कौन होगा, मुझे धिक्कार है (अवमानिनम्=तिरस्कार करने वाले। उपस्थितश्रेय =अपने आप अनायास प्राप्त कल्याण रूप शकुन्तला तथा उसकी सन्तान)

कल्पिष्यमाणा महते फलाय
वसुंधरा काल इवोप्तबीजा ।। २४ ।।

सानुमती—अपरिच्छिण्णा दाणिं दे संददी भविस्सदि। [अपरिच्छिन्नेदानीं ते संततिर्भविष्यति ।]

चतुरिका—(जनान्तिकम्) अए ! इमिणा सत्थवाहवुत्तंतेण द्विउणुव्वेओ भट्टा। णं अस्सासिदुं मेहप्पडिच्छदादो अज्ज माढव्वं गिह्णिअ आअच्छामि । [अयि ! अनेन सार्थवाहवृत्तान्तेन द्विगुणोद्वेगो भर्ता एनमाश्वसयितुं मेघप्रतिच्छन्दादार्यं माढव्यं गृहीत्वागच्छामि ।

प्रतीहारी—सुट्ठु, भणसि । [सुष्ठु भणसि ।](इति निष्कान्ता ।)

सानुमती :—इसमें सन्देह नहीं कि इसने (राजा ने) सखी शकुन्तला की बात को ही मन में सोच कर अपने को धिक्कारा है ।

राजा :—**श्लोक २४ अन्वय** :—मया संरोपिते अपि आत्मनि नाम काले उप्तबीजा (अतएव) महते फलाय कल्पिष्यमाणा वसुन्धरा इव कुलप्रतिष्ठा धर्मपत्नी त्यक्ता ।

शब्दार्थ :—मया=मैंने अर्थात् जो कि इतना बड़ा धार्मिक था तथा सावधान था। संरोपितेऽपि आत्मानि=अपनी आत्मा के आरोपित कर देने पर भी अर्थात् अपनी ही आत्मा को गर्भ रूप में शकुन्तला के उदर में स्थापित कर देने पर भी, बीज निषिक्त कर देने पर भी "**आत्मा वै जायते पुत्रः । आत्मा प्रविश्य जायायां, पुत्ररूपेण जायते**" इस श्रुति और स्मृति के अनुसार पुत्र अपनी आत्मा ही होता है, पुरुष की आत्मा ही पत्नी में प्रवेश कर पुत्र रूप से उत्पन्न होती है। काले=उचित समय पर। उप्तबीजा=जिसमें बीज बोया गया है। महते फलाय=अत्यधिक **सस्यादि धान्यादि** रूप फल की उत्पत्ति के लिए। कल्पिष्यमाणा=सामर्थ्य रखती हुई अर्थात् बहुत अधिक धन्यादि उत्पन्न करने की सामर्थ्य रखती हुई। कुलप्रतिष्ठा=वंश परम्परा का कारण, स्थिति हेतभूत—सन्तान धारण करने से वंश की रक्षा का आश्रय स्वरूप। धर्मपत्नी=धर्मपूर्वक विवाहिता पत्नी शकुन्तला ।

अनुवाद—मैंने, अपनी आत्मा के (अपनी पत्नी शकुन्तला से) आरोपित कर देने पर भी, अर्थात् अपनी आत्मा को गर्भरूप में शकुन्तला में आरोपित कर देने पर भी, उचित समय पर जिसमें बीज बोया गया है अतएव अत्यधिक धान्यादि रूप फलोत्पत्ति के लिए सामर्थ्य रखती हुई जो पृथिवी के समान, वंश परम्परा का कारणभूत धर्मपूर्वक विवाहिता पत्नी शकुन्तला को परित्याग कर दिया है।

व्याख्या—मैंने अपनी धर्म पत्नी शकुन्तला को उसमें गर्भधारण कर देने पर भी अतएव जब कि वह मेरे वंश को चलाने वाली थी, इसी प्रकार त्याग दिया जैसे कि कोई उस पृथ्वी को त्याग देता है जिसमें कि उसने उचित समय पर बीज बोया

श्लोकः

राजा—अहो दुष्यन्तस्य संशयमारूढाः पिण्डभाजः। कुतः?

अस्मात्परं बत यथाश्रुतिसंभृतानि
को नः कुले निवपनानि नियच्छतीति

है और फलतः जबकि वह अधिक धन्यादि उत्पन्न करने जा रही है। तात्पर्य यह कि मैंने यह बड़ा दुष्कर्म कर डाला है अतः मुझे धिक्कार है।

विशेष :—वसूनि रत्नानि धरतीति वसुन्धरा अर्थात् रत्नगर्भा रत्नों को धारण करने वाली पृथिवी। रत्न स्वतः अनुपम एवं मूल्यवान होते हैं, और रत्नों को धारण करने वाला भी सुन्दर अनुपम और विशिष्ट माना जाता है। यहाँ वसुन्धरा पद शकुन्तला का उपमान है और अन्वर्थ वैशिष्टय द्योतित करता है अर्थात् सादृश्य सम्बन्ध से उपमेय भूत शकुन्तलागत रत्नोपम विनय औदार्य धैर्य सौन्दर्य आदि श्रेष्ठ स्त्रियों के गुणों को सूचित करता है तथा शकुन्तला गर्भस्थित रत्नोपम सन्तान भी सूचित करता है।

यहाँ, धर्मपत्नी परित्याग का ही अपराध नहीं किया अपि तु सन्तान विच्छेद का भी मैं ही कारण हूँ, इस प्रकार राजगत शोकातिशय सूचित होता।

कुल प्रतिष्ठा तथा धर्मपत्नी ये दो विशेषण यहाँ सूचित करते हैं कि शकुन्तला का त्याग करना सर्वथा अनुचित था। काले उप्तबीजा अतएव महते फलाय कल्पिष्य-माणा इस प्रकार के अर्थ में तृतीया पदार्थ हेतुक **काव्यलिङ्ग** है। वसुन्धरा इव यहाँ **श्रोतोपमालंकर है, श्रुत्यनुप्रास, उपजाति छन्द है।**

वप्+क्त=उप्तम्। फलायेत्यत्र कल्पिष्यमाणा योगे चतुर्थी।

संस्कृत व्याख्या—मया दुष्यन्तेन आत्मनि संरोपितेऽपि पुत्रगर्भोत्पादितेऽपि काले=यथोचितसमये, उप्तं निक्षिप्तं संरोपितं बीजं यस्यां सा उप्तबीजा कृत-बीजवपना अतएवे महते फलाय=सस्यादिरूपाय विपुलाय कल्पिष्यमाणा जनयितुं शक्ष्यन्ती वसुन्धरा भूमिः इव कुलप्रतिष्ठा कुलस्थितिकारणभूता धर्मपत्नी-धर्मपूर्वकं परिणीता भार्या शकुन्तला त्यक्ता परित्यक्ता। अतो निन्दितमाचरितं मयेत्यतो मां धिगितति। उक्ता अलंकारादयः। उपजाति वृत्तम्।

सानुमती—तुम्हारी सन्तान अब तुम्हारा वंश चलाने वाली होगी अर्थात् वह तुम्हें अब मिलेगी, प्रकट होगी और तुम्हारे वंश को चलायेगी।

चतुरिका—(अलग, प्रतीहारी से) अरे प्रतीहारी! इस सेठ वाले वृत्तान्त से तो महाराज का दुःख दूना बढ़ गया है। तो मैं इनको सान्त्वना देने के लिए मेघ प्रतिच्छन्द प्रासाद से आर्य माढव्य को लेकर आती हूँ।

प्रतीहारी—ठीक कहती हो (चली जाती है।)

राजा—ओह! दुष्यन्त के तो पितरों को भी सन्देह हो गया होगा क्योंकि—
(पिण्डभाजः=श्रद्धादि में पिण्ड पाने वाले पितर)

नूनं प्रसूतिविकलेन मया प्रसिक्तं
धौताश्रुशेषमुदकं पितरः पिबन्ति ॥ २५ ॥
(इति मोहमुपगतः ।)

श्लोक २५ अन्वय—अस्मात् परं नः कुले कः यथाश्रुतिसम्भृतानि निवपनानि नियच्छित इति पितरः प्रसूतिविकलेन मया प्रसिक्तं उदकं नूनं धौताश्रुशेषं (यथा स्यात् तथा) पिबन्ति वत ।

शब्दार्थ—अस्मात् परं=इसके अनन्तर अर्थात् इस दुष्यन्त के मरने के बाद। नः=हमारे। यथाश्रुति=वेदोक्त विधिपूर्वक। सम्भृतानि=दिये गये—आयोजित किये, अथवा बहुत से अन्य उपकरणों से पूर्ण। निवपनानि=पितरों के लिए दान रूप। पिण्ड, श्राद्ध तर्पण आदि, नियच्छति=देता है, यहाँ तात्पर्य यह है, देगा। इति= इस कारण से, नूनं=निश्चय ही। वत=खेदार्थक अव्यय है। प्रसूतिविकलेन=सन्तान रहित=प्रसिक्तं=दिया गया। धौताश्रुशेषं=आँसू धोने के बाद बचा हुआ। उदकं=तर्पण का पानी।

अनुवाद—इसके अनन्तर अर्थात् दुष्यन्त के मरने के बाद, हमारे कुल में, कौन, वेदाविहित विधि के अनुसार दिये गए, पितरों के लिए श्रद्धा तपण पिण्ड आदि को देगा। इस कारण से निश्चय ही, सन्तानहीन मेरे द्वारा दिये गये तर्पण जल को, आँसू धोने के बाद शेष जल को पितर पीते हैं।

व्याख्या—दुष्यन्त के बाद हमारे वंश में कौन वेदविहित विधि के अनुसार समस्त उपकरणों सहित पिण्डदान श्राद्ध तर्पण आदि करेगा यह सोचकर ही मानो मेरे पितर निःसन्तान मेरे द्वारा दिये हुये तपण जल को खेदपूर्वक पीते हैं सही, पर उसे धोये हुये आँसुओं का शेष जल समझते हैं। तात्पर्य यह है कि तर्पण काल में जो जल देता हूँ, मेरे पितर यह जानकर कि अब दुष्यन्त के बाद हमें यह जल न मिल सकेगा, रोने लगते होंगे जिससे उनके नेत्रों से निकल कर आँसू उस मेरे तर्पण जल में मिल जाते होंगे, ऐसे उस जल को वे पीते होंगे अथवा पहिले वे तर्पण के जल से अश्रुपूर्ण अपनी आँखों को धोते होंगे और इस प्रकार धोने से जो जल बच रहता होगा उसे ही पीते होंगे।

विशेष—निवपनानि—पितृदानं निवापः स्यात् अमरकोश अर्थात् पितरों के निमित्त जो कुछ दिया जाता है जल, पिण्ड आदि वह निवाप कहलाता है।

इसी आशय का श्लोक कालिदास कृत रघुवंश में है—

मत्परं दुर्लभं मत्वा नूनमावर्जितं मय
पयः पूर्वं सनिःश्वासैः कवोष्णमुपभुज्यते ।

नूनं, यहाँ **क्रियोत्प्रेक्षा** है। वाक्यार्थ हेतुक काव्यलिङ्ग। **अनुप्रास।**

चतुरिका—(ससंभ्रममवलोक्य ।) समस्सदु भट्टा । [समाश्वसितु भर्ता ।]

सानुमती—हद्धी हद्धी । सदि खु दीवे ववधाणदोसेण एसो अंधआरदोसं अणुहोदि । अहं दाणि एव्वणिव्वदं करेमि । अहवा सुदं मए सउ दलं सउंलं समस्स अंतीए महेंदजणणीए मुहादो जण्णभाओस्सुआ देवा एव्व तह अणु चिट्टिस्संति जइअइरेण धम्मपदिणिभट्टा अहिणदिस्सदित्ति । ता ण जुत्तं कालं पडिपालिदुं । जाव इमिणा वुत्ततेण पिअसहि समास्ससेमि । [हा धिक् हा धिक् सति खलु दीपे व्यवधानदोषेणै-षोऽन्धकारदोषमनुभवति । अहमिदानीमेव निर्वृतं करोमि । अथवा श्रुतं मया शकुन्तलां समाश्वासयन्त्वा महेन्द्रजनन्या मुखाद्यज्ञभागोत्सुका देवा एव तथानुष्ठास्यन्ति यथाचिरेण धर्मपत्नीं भर्ताभिनन्दिष्यतीति । तन्न युक्तं कालं प्रतिपालयितुम् । यावदनेन वृत्तान्तेन प्रियसखीं समाश्वासयामि ।] (इत्युदभ्रान्तकेन निष्क्रान्ता ।)

यहाँ, श्लोक में इति का अर्थ है यह सोचकर अतः इति के आगे विचिन्त्य आदि का प्रयोग नहीं किया गया है जो कि आवश्यक था अतः यह न्यूनपदता दोष है ऐसी आशंका न करनी चाहिए क्योंकि यहाँ वह वक्ता के विषाद में निमग्न हो जाने से प्रयुक्त नहीं हुआ है । जैसा कि साहित्य दर्पण कार ने कहा है "**उक्तावानन्दमग्नादेः स्यान्न्यूनपदता गुणः**" ऐसे स्थल पर न्यूनपदता गुण है दोष नहीं । **वसन्ततिलका नामक छन्द है ।**

श्रुतिमनतिक्रम्य यथाश्रुति यथा योगे अव्ययीभावः । सम्+भृ+क्त= सम्भृतम् । प्र+सूञ्+क्तिन्=प्रसूतिः, प्र+सिच्+क्त=प्रसिक्तम् ।

संस्कृत व्याख्या--वत् इति खेदे, अस्मात् दुष्यन्तादित्यर्थं परं=अनन्तरं, दुष्यन्तावसान इत्यर्थः नः=अस्माकं कुले पुरुवंशे कः—जनः श्रुतिं वेद मनतिक्रम्येति यथाश्रुपि, श्रुतिविहितविधिपूर्वकम् सम्भृतानि सोपकरणसंयोजितानि निवपनानि पितृदानिरूपाणि पिण्डतर्पणादीनि नियच्छति ददाति-दास्यतीत्यर्थः "वर्तमान सामीप्ये-वर्तमानवद्वेति लट्" इति कारणात् अथवा इति विचिन्त्य पितरः, प्रसूत्य सन्तत्या विकलः रहित स्तेन प्रसूतिविकलेन मया प्रसिक्तं दत्तं उदकं तर्पणजलं धौतं-अश्रु येन तत् तच्च तत्, शेषंच धौताश्रुशेषं यथा स्यात् तथा क्षालितवाष्पशेषं पिबन्ति । उक्ता अलंकाराः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ।

(इस प्रकार यह कर वह मूर्छित होता है ।)

"राजा दीर्घमुष्णंच निःश्वस्य से यहाँ तक **छलन नामक अवमर्श सन्धि** का अङ्ग उपक्षिप्त किया गया है ।

"**आत्मावसादनं यत्तु छलनं तदुदाहृतम्**" अर्थात् जहाँ आत्मनिन्दा की जाती है ।

(नेपथ्ये ।)

अव्बम्हण्णं [अब्रह्मण्यम् ।]

राजा—(प्रत्यागतचेतनः कर्णं दत्त्वा) अये, माढव्यस्येवार्तस्वरः । कः कोऽत्र ? ।

(प्रविश्य ।)

प्रतीहारी—(ससंभ्रम्) परित्ताअदु देवो संसअगदं वअस्सं । [परित्रायतां देवः संशयगतं वयस्यम् ।]

राजा—केनात्तगंधो माणवकः ? ।

"**राजा**—संरोपिते" से लेकर 'मोहमुपगतः' यहाँ तक मूर्च्छना नामक काम दशा का निर्देश किया गया है ।

चतुरिका —(घबराहट के साथ देखकर) धैर्य धारण कीजिये महाराज।

सानुमती—हाय हाय ! दीपक के रहते हुए भी व्यवधान दोष के कारण ही, बीच में परदा पड़ जाने के कारण यह राजर्षि ही, अन्धकार दोष का अनुभव कर रहे हैं अर्थात् जैसे दीपक रहने पर भी बीच में परदा या दीवाल आदि की ओट पड़ जाने से कोई व्यक्ति अन्धकार का अनुभव करता है वैसे ही यह महाराज, पुत्र के रहते हुए भी उसके दूर होने के कारण तथा उसका पता न होने के कारण मोह (मूर्च्छा) को प्राप्त होकर दुःखी हो रहे हैं । तात्पर्य यह है कि अन्धकार दोषवश जैसे वस्तु का अदर्शन रहता है उसी प्रकार पुत्र के रहते हुए भी अज्ञान दोषवश राजा को पुत्राभाव का अनुभव हो रहा है ।

यह बहुत ही सुन्दर कथन है, यहाँ प्रस्तुत शकुन्तला गर्भस्थ सन्तान रूप विशेष का कथन न कर अप्रस्तुत दीपक से उसका कथन किया गया है अतः अप्रस्तुतप्रशंसालंकार है, असम्भवद्वस्तु सम्बन्ध रूप निदर्शना है, और किन्हीं आचार्यों के मत में यहाँ ललितालंकार है ।

अहमित्यादि :—मैं इन्हें अभी ही सुखी कर देती (निर्वृतं=सुखी) अर्थात् इनकी पत्नी तथा पुत्र का पता बताकर इन्हें निश्चिन्त कर देती परन्तु शकुन्तला को सान्त्वना देती हुई इन्द्र की माता अदिति (कश्यप पत्नी) के मुख से मैंने यह सुना है कि यज्ञ में भाग पाने के लिए उत्सुक देवता लोग ही ऐसा कुछ करेंगे जिससे शीघ्र ही तुम्हारा पति अपनी धर्म पत्नी (तुमको) आदर पूर्वक स्वीकार करेगा। इसलिए अब हमको यहाँ देर करना उचित नहीं है । तो चलकर इस वृत्तान्त से प्रिय सखी शकुन्तला को सान्त्वना दूँ (यह कहकर झटके के साथ निकल जाती है ऊपर को उड़ जाती है)

यहाँ श्रुतं मया इत्यादि से आगे होने वाले मातलि के प्रवेश की भी सूचना दी गई है । और इससे अवमर्श सन्धि के आदान नामक अङ्ग का निर्देश भी किया

प्रतीहारी—अदिट्ठरूवेण केण वि सत्तेण अदिक्कमिअ मेहप्पडिच्छं-दस्स प्पासा-दस्स अग्गभूमिं आरोविदो। [अस्पष्टरूपेण केनापि सत्त्वेनातिक्रम्य मेघप्रतिच्छन्दस्य प्रासादस्याग्रभूमिमारोपितः।]

गया है "**बीजकार्योपगमनं आदानमिति संज्ञितम्**" अर्थात् यहाँ बीज भूत कार्य की प्राप्ति बतलाई जाय। यहाँ "**अचिरेण धर्मपत्नी भर्तानन्दिष्यति**" इससे बीज कार्य का उपगमन बतलाया गया है।

उद्भ्रान्तक एक विशेष प्रकार की गति होती है जिसमें दाहिने पैर का शीघ्र ही बाईं ओर घुमाया जाता है, इस प्रकार के गति विशेष को उद्भ्रान्तक कहते हैं "**पूर्वं दक्षिणमङ्घ्रि मुत्थापयित्वात्र कुञ्चयेत। वामं शीघ्रं भ्रमेद्वामावर्त मुद्भ्रान्तकं विदुः**"।

(नेपथ्य में)

अब्रह्मण्यम् = ब्रह्मणे साधु ब्रह्मण्यं न ब्रह्मण्यं अब्रह्मण्यं अर्थात् यह कार्य मुझ ब्राह्मण के विषय में अनुचित है, ब्राह्मण का वध पाप जनक होता है अतः मैं ब्राह्मण होने से अवध्य हूँ "**अब्रह्मण्य मवध्योक्तौ**" अमर कोश। यहाँ इसका तात्पर्य यह है कि नेपथ्य से "अरे मार डाला ब्राह्मण को मार डाला" यह ध्वनि आ रही थी। यहाँ कवि ने राजा को रसान्तर में शृङ्गार एवं करुणा से अन्य रस में—वीर रस में प्रवेश कराने के लिए यह प्रकरणान्तर आरम्भ किया है।

राजा :—(होश में आकर सजग होकर और कान लगाकर) अरे यह तो माढव्य का जैसा आर्त स्वर—(दुःख भारी आवाज) सुनाई पड़ता है। अरे, कोई है।

प्रतीहारी :—(प्रवेश करके, घबराहट के साथ) महाराज ! संकट में फँसे हुए अपने मित्र माढव्य को बचाइए।

इस कथन से **भय नामक संध्यन्तराङ्ग निर्दिष्ट किया गया है "भयन्त्वाक-स्मिकस्त्रासः**" आकस्मिक त्रास भय कहलाता है जैसा कि यहाँ माढव्य के विषय में है।

राजा—माढव्य पर किसने आक्रमण किया है ? (**आत्तगन्धः=अभिभूत** करना, दबाना, सताना, माणवक से विदूषक का तात्पर्य है।)

प्रतीहारी—किसी अदृष्ट रूप (जो देखा न जा सके) जन्तु-भूत प्रेतादि ने उसे पकड़ कर मेघ प्रतिच्छन्द नामक प्रसाद के ऊपरी भाग पर (मुँडेरे पर) रख दिया है अर्थात् टाँग दिया है।

राजा—(उठ कर) नहीं-नहीं यह कैसे हो सकता है। क्या मेरे घर पर भी भूत प्रेतादि आक्रमण करने लगे हैं अर्थात् ऐसे तुच्छ जीव भी क्या यज्ञानुष्ठान से पवित्र मेरे गृह में भी जमने लगे हैं ?

राजा—(उत्थाय ।) माँ तावत् । ममापि सत्वैरभिभूयन्ते गृहाः ?।
अथवा,—

अहन्यहन्यात्मन एव ताव-
ज्ज्ञातुं प्रमादस्खलितं न शक्यम् ।
प्रजासु कः केन पथा प्रयाती-
त्यशेषतो वेदितुमस्ति शक्तिः ॥ २६ ॥

(नेपथ्ये ।)

भो वअस्स ! अविहा अविहा । [भो वयस्य ! अविहा अविहा ।]

राजा—(गतिभेदेन परिक्रामन् ।) सखे ! न भेतव्यम् न भेतव्यम् ।

(नेपथ्ये ।)

अथवा=अर्थात् ऐसा भी हो सकता है, क्योंकि :—

श्लोक २६ अन्वय—अहनि अहनि आत्मनः एव तावत् प्रमादस्खलितं ज्ञातुं न शक्यम्, प्रजासु कः केन पथा प्रयाति इति अशेषतः वेदितुं शक्तिः अस्ति ।

शब्दार्थ—अहनि अहनि=प्रतिदिन । आत्मनः एव=अपनी ही, प्रमादस्खलितम्=अनवधानता से की गई गलती—अपराध—दुराचार—त्रुटि आदि ।

अशेषतः—पूर्ण रूप से । वेदितुम्=जानने के लिए ।

अनुवाद—(जबकि मनुष्य) अपनी ही, प्रति दिन की गई गलती को नहीं समझ सकता है तो वह प्रजा जनों में कौन किस मार्ग से चलता है इस बात को पूर्णतया जानने के लिए उसकी सामर्थ्य हो सकती है ? अर्थात् नहीं ।

व्याख्या—जब कि मनुष्य अपनी ही प्रमादवश दिनप्रति दिन की गई सभी त्रुटियों को नहीं समझ पाता है—जानने के लिए असमर्थ रहता है तो वह प्रजाजनों में कौन किस मार्ग से जाता है अर्थात् कौन क्या अथवा अन्याय करता है इस बात को पूर्ण रूप से जानने के लिए उसकी सामर्थ्य हो सकती है ? (काकु द्वारा यह कथन है अर्थात् नहीं जान सकता है) तात्पर्य यह है कि जब मनुष्य आत्मकृत हो अनेकों प्रतिदिन की त्रुटियों को नहीं समझ पाता है तो फिर भला वह अन्य लोगों की त्रुटियों को कैसे जान सकेगा ? ।

यहाँ शकुन्तला की बात को अर्थात् उसके परित्याग रूप अपने दुराचरण को मन में रख कर ही राजा ऐसा कहता है कि अपने प्रमादवश किये गये शकुन्तला के परित्याग रूप अपराध के कारण अथवा मेरे प्रमादी होने से ही प्रजाजनों द्वारा किये गये किसी अन्याय से ही अति धार्मिक भी मेरा पवित्र प्रासाद भूत प्रेतादिकों का अड्डा बन रहा है अन्यथा ऐसा कैसे होता, इसके लिए मैं ही अपराधी हूँ ।

वास्तव में यथा राजा तथा प्रजाः—प्रजा जन राजा का ही अनुसरण करते

(पुनस्तदेव पठित्वा ।) कहं ण भाइस्सं ? । एस मं को वि पच्चवणद-सिरोहरं मिच्छं विअ तिण्णभंगं करेदि । [कथं न भेष्यामि ? । एष मां कोऽपि प्रत्यवनतशिरोधभिक्षुमिव त्रिभङ्गं करोति ।]

राजा--(सदृष्टिक्षेपम् ।) धनुस्तावत् ।

(प्रविश्य शार्ङ्गहस्ता ।)

यवनी—भट्टा ! एवं हत्थाबावसहिदं सराहणं । । भर्तः एतद्धस्तावाप-सहितं शरासनम् ।]

(राजा सशरं धनुरादत्ते ।)

(नेपथ्ये ।)

है राजा जैसा न्यायी अथवा अन्यायी होगा प्रजा जन भी वैसा करेंगे, जैसा कि मनु भगवान् ने कहा है—

"सर्वतो धर्मषड्भागो राज्ञो भवति रक्षतः ।
अधर्मादपि षड्भागो भवत्यस्त ह्यरक्षतः ॥

अतः **काव्यार्थापत्ति** तथा **अप्रस्तुतप्रशंसालंकार** हैं, 'ज्ञातुं वेदितुम्' यहाँ अर्था-लंकार निर्दिष्ट किया गया है, **छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास, उपजाति छन्द** हैं ।

संस्कृत व्याख्या—अहिन--अहिन प्रतिदिनं, आत्मनः स्वस्यैव तावत्= साकल्येन प्रमादेन अथवधानजन्येन स्खलितं=कार्यवैपरीत्यं—दुराचरणं, इति प्रमाद-स्खलितं ज्ञातुं न शक्यम् यथार्थ्येन जनो वेदितु मशक्यो भवतीत्यर्थः । ततः प्रजासु= प्रजाजनेषु लोकेषु मध्ये को जनः केन पथा केन मार्गेण धर्मेण अन्यायेन वा प्रयाति—गच्छति, न्याय्यमन्याय्यम्वा विदधातीत्यर्थः । इति अशेषतः पूर्णरूपेण ज्ञातुं शक्तिः अस्ति ? परिज्ञातु निर्णेतु वा प्रभुत्वं अस्ति किम् नास्तीत्यर्थः । यत्रा स्वस्यैव स्खलितं ज्ञातुं न शक्यते तदा सकलस्य जनस्याचरणज्ञानं कथं सम्भवतीत्यर्थः । अतः स्पष्टं प्रतीयते यत् मत्कृतेन केनापि पापेनैव अदृष्टसत्त्वकृता बाधेयमिति भावः । उपजातिवृत्तम् ।

(नेपथ्य में)

अमिण अत्रिधा—वह कोई का निर्देश सूचक नियम है अर्थात् दुहाई है मित्र ! दुहाई, बचाओ ।

राजा—(क्रोध जन्य वेग के साथ घूमता हुआ) मत डरो मित्र ! मत डरो ।

(नेपथ्य में)

हाय हाय, दुहाई मित्र ! बचाओ । डरूँ कैसे नहीं, यहाँ तो यह कोई मरी गरदन को ईख के समान मरोड़ कर तीन टुकड़े किये डालता है । (प्रत्यवनत= मरोड़ी हुई, शिरोधरा=गरदन)

एष त्वामभिनवकण्ठशोणितार्थी
शार्दूलः पशुमिव हन्मि चेष्टमानम् ।
आर्तानां भयमपनेतुमात्त धन्वा
दुष्यन्तस्तव शरणं भवत्विदानीम् ॥ २७ ॥

राजा—(दृष्टि घुमा कर) अरे, धनुष तो लाओ ।

(हाथ में धनुष लिये हुये प्रवेश करके)

यावनी—यह लीजिए महाराज ज्याघातवारक और धनुष । (हस्तावाप= प्रत्यञ्चा के आघात से रोकने वाला हस्तावरण)

(राजा धनुष और वाण लेता है)

(नेपथ्य में)

श्लोक १७ अन्वय—अभिनवकण्ठशोणितार्थी एषः शार्दूलः पशुं इव चेष्टमानं त्वां हन्मि । आर्त्तानां भयं अपनेतुं आत्तधन्वा दुष्यन्तः इदानीं तव शरणं भवतु ।

शब्दार्थ—अभिनवेत्यादि=गले के ताजे ताजे खून को पीने के लिए इच्छुक। एष शार्दूलः=यह व्याघ्र की तरह मैं । पशुम् इव चेष्टमानं त्वाम्=मृग आदि पशु की भाँति भाग जाने के लिये—मुझसे छूट कर भाग जाने के लिये, प्रयत्न करने वाले तुझे । आर्तानामित्यादि=दुखियों- पीड़ितों के भय को दूर करने के लिये । आत्तधन्वा=धनुर्धारी दुष्यन्त । इदानीं तव शरणं भवतु=अब तुम्हें शरण दें अर्थात् अब तेरी रक्षा करें ।

अनुवाद—गले के ताजे ताजे रक्त का इच्छुक यह व्याघ्र की ताह में पशु-मृगादि की भाँति (छूट जाने के लिए) प्रयत्न करने वाले तुझे मारता हूँ । दुःखियों के भय को दूर करने के लिए धनुष् धारण करने वाले दुष्यन्त अब तुम्हें शरण दें ।

व्याख्या—तेरे गले के ताजे खून का प्यासा मैं, मुझसे छूटने के लिये छटपटाते हुये तुझे उसी प्रकार अभी मारे डालता हूँ जैसे शोणितार्थी व्याघ्र मृग आदि पशु को पकड़ कर, उसके छटपाने पर भी उसे मार डालता है । दुखियों के भय दूर करने के लिये धनुष् धारण करने वाले दुष्यन्त तुझे अब बचावें अर्थात् यदि सामर्थ्य हो तो आकर तेरी रक्षा करें ।

विशेष—चेष्टमानं त्वामेष हन्मि—से यह द्योतित होता है कि तेरे मारने में मुझे कुछ भी प्रयास न होगा । यहाँ अभिनवेत्यादि तथा चेष्टमानं ये दोनों विशेषण क्रमशः शार्दूल तथा पशु के साथ भी प्रयुक्त हुये हैं ।

यहाँ इस श्लोक से **वीभत्स रस** ध्वनित होता है :—

जिसका लक्षण **"हृद्यानां तु पदार्थानां दर्शनश्रवणादयः ।
स्वभावाद्धातुदोषाद्वा वस्त्वन्ताद्विकारकम् ।"**

राजा—(सरोषम्) कथं मामेवोद्दिशति ?। तिष्ठ कुणपाशन ! त्वमिदानीं न भविष्यसि । शाङ्‌र्गमारोप्य ।) वेत्रवति । सोपानमार्गमादेशय ।

प्रतीहारी—इदो इदो देवो ।[इत इतो देवः]

(सर्वे सत्वरमुपसर्पन्ति ।)

राजा—(समन्ताद्विलोक्य ।) शून्यं खल्विदम् ।

(नेपथ्ये ।)

अविहा अविहा । अहं अत्तभवंतं पेक्खामि । तुमं मं ण पेक्खसि ? । विडालग्गहीदो मूसओ विअ णिरासो म्हि जीविदे सावुत्तो । [अविहा

स्याद्विभावोऽथानुभावाद्धृतकम्पो गात्रधूननम्
अथ संचारिणो मोहावेगापस्मारमृत्यवः ।
व्याधिश्च यत्र वीभत्सः स स्थायिन्या जुगप्सया
शुद्धोऽशुद्धोऽत्यन्तशुद्धो वीभत्सस्तु त्रिधा मतः
आद्यौ रुधिरविष्ठादिशुद्धाशुद्ध विभाजौ ॥ इति ॥

दश रूपक—"रुधिकरान्त्रकीकसवसास्नाय्वादिभिः क्षोभणः ॥ इति ॥ अतः यहाँ द्वितीय वीभत्स का भेद है ।

आर्त्तानामित्यादि कथन से यहाँ राजा के स्वाभाविक क्रोधावेग को सूचित किया गया है ।

उपमालंकार, श्रुति, वृत्ति, अनुप्रास । प्रहर्षिणी छन्द है "म्नाशाभिर्मनजरगा प्रहर्षिणीयम्" अर्थात् जिस छन्द में क्रम से मगण नगण जगण रगण और एक गुरु वर्ण इस प्रकार १३ वर्ण होते हैं तथा तीसरे और दशवें वर्ण पर यति होती है वह प्रहर्षिणी छन्द कहलाता है ।

म०	न०	ज०	र०	गु०
ऽ ऽ ऽ	। । ।	। ऽ ।	ऽ । ऽ	
ए ष त्वा,	म भि न,	व क ण्ठ,	शो णि ता,	र्थी

यहाँ पर अहं हन्मि होगा पर शार्दूलः हन्ति होगा इस प्रकार पुरुष भेद करके हन्मि को लगाना पड़ेगा अतः यह भग्न प्रक्रमता दोष है इसका निराकरण कुछ पाठ भेद कर करके ही किया जा सकता है ।

इस श्लोक द्वारा **ओज नामक सन्ध्यन्तराङ्ग** का निर्देश किया गया है **"ओजस्तु वागुपन्यासो निजशक्तिप्रकाशकः"** अर्थात् आत्म शक्ति प्रकाशक वचन का जहाँ उपन्यास किया जाय, जैसा कि यहाँ मातलि ने राजा के लिये कहा है ।

संस्कृत व्याख्या—अभिनवं=नूतन सद्योविन सृतं कण्ठस्य शोणितं रुधिरं अर्थः प्रयोजनं यस्य स इति, **अभिनवकण्ठशोणितार्थी**=उष्णोष्णकण्ठरक्तपानाभिलाषी

अविहा । अहमत्रभवन्तं पश्यामि । त्वं मां न पश्यसि ? । विडालगृहीतो मूषिक इव निराशोऽस्मि जीविते संवृत्तः ।]

राजा—भोस्तिरस्करिणीगर्वित ! मदीयं शस्त्रं त्वां द्रक्ष्यति । एष तमिषु संदधे,—

यो हनिष्यति वध्यं त्वां रक्ष्यं रक्षति च द्विजम् ।
हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यपः ॥ २८ ॥

एषोऽहं शार्दूलो व्याघ्रः पशुं मृगादिकमिव चेष्टमानंस्वरक्षायै सर्वतः स्फुरन्तं आत्मसंरक्षणाय पलायितुं प्रयतमानमित्यर्थः त्वाँ माढव्यं हन्मि । आर्त्तानां पीडितानां भयं भीतिं अपनेतुं दूरीकर्तुं आत्तं धृतं धनु र्येन स आत्तधन्वा धनुर्धरः, दुष्यन्तः, इदानीं-अधुना तव माढव्यस्य शरणं भवतु रक्षतु, यद्यस्ति सामर्थ्यं तस्मिन् तव रक्षण तर्ह्या-=गच्छतु रक्षतु त्वामिति भावः । उक्ता अलंकाराः प्रहर्षिणी वृत्तम् ।

राजा—(क्रोध पूर्वक) अरे क्या यह मुझे ही लक्ष्य करके कह रहा है। अर्थात् क्या यह मुझे चुनौती दे रहा है ? आः शवभक्षक राक्षस ? ठहर ठहर ! तू अब न होगा अर्थात् मैं तुझे अभी मारे डालता हूँ । (धनुष चढ़ा कर) वेत्रवती ! चल, सीढ़ियों का मार्ग तो बता । (कुणप=शव, अशन = खाना अर्थात् मुर्दो का खाने वाला ।)

राजा के इस कथन के द्वारा **क्रोध नामक सन्ध्यन्तराङ्ग** उपक्षिप्त किया गया है । "**क्रोधस्तु चेतसो दीप्तिरपराधादिदर्शनात्**" जहाँ अपराधादि के देखने से चित्त में उत्तेजना उत्पन्न हो, जैसी कि यहाँ राजा के चित्त में क्रोध के कारण उत्पन्न हुई है ।

प्रतीहारी—इधर से आइये महाराज ! इधर से ।

(सबका वेग पूर्वक प्रस्थान ।)

राजा—(चारों ओर देखकर) यहाँ तो सब सूना है अर्थात् कोई कहीं नहीं दिखलाई पड़ रहा है ।

(नेपथ्य में)

हाय, हाय । मैं तो आपको देख रहा हूँ । पर आप मुझे नहीं देख रहे हैं। मैं तो बिल्ली के द्वारा पकड़े हुये चूहे की भाँति अपने प्राणों से निराश हो चुका हूँ अर्थात् जीवन से हाथ धो बैठा हूँ ।

राजा—अच्छा रे तिरस्करिणी (अपने को छिपा लेने वाली) विद्या से गर्वित व्यक्ति ! अब मेरा अस्त्र ही तुझे देखेगा देख ! मैं अब यह वाण चढ़ाता हूँ :—

श्लोक २८ अन्वय—यः वध्यं त्वां हनिष्यति, रक्ष्यं द्विजं च रक्षति । हि हंसः क्षीरं आदत्ते तन्मिश्राः अपः वर्जयति ।

(इत्यस्त्रं संधत्ते ।)

(ततः प्रविशति विदूषकमुत्सृज्य मातलिः ।)

मातलि—राजन् !

कृताः शरव्यं हरिणा तवासुराः
शरासनं तेषु विकृष्यतामिदम् ।

शब्दार्थ—वध्यम्=वध करने योग्य । रक्ष्यं=रक्षा करने योग्य । आदत्ते=ग्रहण करता है, तन्मिश्राः=उसमें मिले हुए । अपः=पानी को । वर्जयति=छोड़ देता है ।

अनुवाद—यह मेरा बाण तुझे मारने योग्य को मारेगा और रक्षणीय ब्राह्मण को रक्षित करेगा । जैसे कि हंस दूध पी लेता है पर उसमें मिले हुये पानी को छोड़ देता है ।

व्याख्या—जैसे हंस पानी में मिले हुये दूध से दूध दूध पी लेता है और उसमें मिले हुये पानी को छोड़ देता है उसी प्रकार यह मेरा बाण तुझ वध्य को मार डालेगा और रक्षणी ब्राह्मण की रक्षा करेगा ।

विशेष—दृष्टान्त अथवा उपमा अलंकार है, वस्तुगत्या यहाँ दृष्टान्त हो स्पष्ट है। रक्षति यहां पर भविष्यत्सामीप्य अर्थ में वर्तमान का प्रयोग है रक्षति अर्थात् रक्षिष्य । **पथ्यावक्त्र छन्द है** ।

यहाँ पर नेपथ्ये से लेकर यहाँ तक **रौद्ररस ध्वनित किया** गया है । जिसका लक्षण है:—

"हन्तृ प्रकृतयो रक्षो दैत्याद्यन्याय कारिणः ।
जिघांसाद्याश्च यत्र स्युर्विभावः परिकीर्तिताः ।
भृकुटी रक्तनेत्रत्वं कपोलस्फुरणं तथा
दन्तौष्ठपीडनं हस्तनिष्पेषोऽथान्यविग्रहे
तलाद्यैस्ताडनं छेदो मर्दः पाटनमोटने
शस्त्राणां ग्रहणं घातः प्रहारो रुधिरस्रुतिः
ऐतेऽनुभावावमर्शावेगाश्च चापलम्
स्वेदवेपथुरोमाञ्चगद्गद्स्वरतादय.
भावाः संचारिणः स्थायी क्रोधो रौद्रोऽभिधायि सः ।

अर्थात् इसका स्थायी भाव क्रोध है घातक अपकारी दैत्य राक्षसादि विभाव भृकुटी नेत्र आदि का चाञ्चल्य दांत एवं ओंठ काटना हाथ मलना आदि अनुभाव, रोमाञ्च वेपथु आदि भाव होते हैं ।

संस्कृत व्याख्या—मया धृतो वाणोऽयम् वध्यं वधार्हं त्वां हनिष्याति मारयिष्यति रक्ष्यं रक्षायोग्यं द्विजं माढव्यं रक्षति=पालयिष्यतीत्यर्थः च हि यतः हंसः=

प्रसादसौम्यानि सतां सुहृज्जने
पतन्ति चक्षूंषि न दारुणाः शराः ॥ २९ ॥

एतदाख्यः पक्षिविशेष क्षीरं दुग्धं आदत्ते गृह्णाति तेन मिश्रा इति तन्मिश्रा पयोमिलिताः अपः—जलानि वर्जयति—त्यजति । दृष्टान्तालंकारः । पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ।

राजा—भोः से लेकर यहाँ तक **व्यवसाय नामक अवमर्श सन्धि** का अंग उपक्षिप्त किया गया है । "**व्यवसायः स्वशक्त्युक्तिः**" अर्थात् जहाँ आत्म शक्ति का कथन हो । यहाँ राजा ने आत्मबल का प्रकाश किया है ।

(यह कह कर वाण सन्धान करता है ।)

(विदूषक को छोड़ कर मातलि का प्रवेश ।)

मातलि—राजन् !

श्लोक २९ अन्वय—हरिणा असुराः तव शरव्यं कृताः, तेषु इदं शरासनं विकृष्यताम् (मतः) सुहृज्जने सतां प्रसादसौम्यानि चक्षूंषि पतन्ति, दारुणाः शराः न पतन्ति ।

शब्दार्थ—हरिणा=इन्द्र ने । शरव्यं कृताः=वाण मोक्षण के लक्ष्य बनाये हैं । विकृष्यताम् =खींचिये । सुहृज्जने=मित्रवर्ग पर, प्रसादसौम्यानि=प्रसन्नता से सुन्दर ।

अनुवाद—इन्द्र ने असुरों को आपके वाण को लक्ष्य निर्दिष्ट किया है । अतः आप उन पर ही यह अपना धनुष चढ़ायें । क्योंकि अपने वन्धुजनों पर तो सज्जनों के प्रसाद सुन्दर दृष्टिपात ही पड़ते हैं कठोर वाण नहीं ।

व्याख्या—इन्द्र ने दैत्यों को आपके बाण का लक्ष्य निर्दिष्ट किया है अतः आप उन असुरों के ऊपर ही अपना यह धनुष चढ़ायें । क्योंकि अपने बन्धुजनों पर तो सज्जनों का प्रसाद-सुन्दर दृष्टिपात ही होता है, कठोर बाणों का प्रयोग नहीं । तात्पर्य यह कि देवराज इंद्र ने असुरों को मारने का काम आपको सौंपा है । अतः आप यहाँ चल कर उन्हीं पर मपना धनुष चढ़ायें, आपके वाण का लक्ष्य वही असुर हैं । सज्जन लोग अपने मित्रों पर कठोर वाण नहीं चलाते प्रत्युत उन पर तो वे सदा कृपादृष्टि रखते हैं । इन्द्र तो आपके मित्र हैं, मैं उनका सेवक हूँ अतः मुझ पर यह वाण न चलाइये, चल कर असुरों को मारिये ।

विशेष—"यम, अनिल, इन्द्र, अर्क, विष्णु, सिंह, अंशु बाजि, शुक, अहि, कपि, भेक, आदि अर्थों में हरि शब्द का प्रयोग होता है, यहाँ हरि इन्द्र के लिए प्रयुक्त हुआ है । शरव्यं=वाण का लक्ष्य । एक ही वाण से सम्पूर्ण असुरों का विनाश सूचित करने के लिए ही **शरव्यम्** यह एक वचन निर्देश है । "तेषु विकृष्यताम्" से मैं इसीलिये आया हूँ यह सूचित किया गया है । "सतां प्रसादसौम्यानि चक्षूंषि" से सुहृज्जन-

राजा—(अस्त्रमुपसंहरन् ।) अये, मातलिः । स्वागतं महेन्द्रसारथे ! ।

(प्रविश्य ।)

विदूषकः—अहं जेण इट्ठिपसुमारं मारिदो सो इमिणा साअदेण अहिणन्दीअदि । [अहं येनेष्टिपशुमारं मारितः सोऽनेन स्वागतेनाभिनन्द्यते ।]

मातलि :—(सस्मितम् ।) आयुष्मन् ! श्रूयतां यदस्मि हरिणा भवत्सकाश प्रेषितः ।

राजा—अवहितोऽस्मि ।

मातलि :—अस्ति कालनेमिप्रसूतिर्दुर्जयो नाम दानवगणः ।

राजा—अस्ति । श्रुतपूर्व.मया नारदात् ।

सम्बन्ध की प्रतीति होती है अतः **समालंकार व्यङ्ग्य है**। 'चक्षूंषि पतन्ति, न दारुणाः शराः' इसमें **व्यतिरेकालंकार है**। सामान्य से विशेष समर्थन रूप **अर्थान्तरन्यास अलंकार** है। कोई आश्चर्य यहां "तव मयि" इस विशेष के प्रस्तुत रहने पर भी उसका कथन कर "सतां सुहृज्जन" यह सामान्य निर्देश किया है। अत **अप्रस्तुतप्रशंसा** तथा पूर्वार्ध में प्रथम पाद गत वाक्य के प्रति द्वितीय चरण गत वाक्य हेतुत्वेन उपन्यस्त किया गया है अतः **काव्यलिंग अलंकार है** ऐसा मानते हैं। **वृत्यनुप्रास । वंशस्थ** छन्द है।

संस्कृत व्याख्या—हरिणा=इन्द्रेण असुराः—राक्षसाः, तव शरव्यं=वाणलक्ष्यं कृताः निर्दिष्टाः "**लक्षं लक्ष्यं शरव्यञ्चेत्यमरः**" तेषु असुरेषु इदं शरासनं=पुरो दृश्यमानं धनुः विकृष्यताम्—सन्धीयताम् । सतां=सज्जनानां सुहृज्जने प्रियजने—बन्धुजने प्रसादने प्रसन्नतया सौम्यानि मधुराणि—इति प्रसादसौम्यानि चक्षूंषि नेत्राणि पतन्ति, दारुणाः कठोराः शराः=वाणाः, न पतन्ति । सज्जनाः स्वमित्राणि कृपादृष्ट्या पश्यन्ति न तु तेषु शरान् निपातयन्ति, इन्द्रस्तव मित्रम्, अहञ्च तत्सेवकः, अतोऽहं न तव शरलक्ष्यं, असुरा एव ते शरव्यं देवराजेन निर्दिष्टाः । अतः कृपादृष्टया मां पश्यतु भवान्, न तु मयि बाणो निपात्य इति भावः । उक्ता अलंकारादयः । वशंस्थविलं वृत्तम् ।

राजा—(वाण उतारता हुआ) अरे कौन मातलि ! स्वागत है, इन्द्र के सारथी ।

(प्रवेश करके ।)

विदूषक—अरे ! जो मुझे वलिपशु की भाँति मारे डाले रहा था उसका यहं स्वागत के द्वारा अभिनन्दन हो रहा है ।

मातलि—(मुस्करा कर) आयुष्मन् ! सुनिये, जिस लिये अर्थात् जिस काम के लिए मैं इन्द्र के द्वारा आपके पास भेजा गया हूँ ।

मातलि :—

सख्युस्ते स किल शतक्रतोरजय्य
स्तस्य त्वं रणशिरसि स्मृतो निहन्ता ।
उच्छेत्तु प्रभवति यन्न सप्तसप्ति-
स्तन्नैशं तिमिरमपाकरोति चन्द्रः ॥ ३० ॥

राजा—हाँ कहिये, मैं सावधान हूँ, सुन रहा हूँ।

मातलि—कालनेमि के वंशज दानवों का एक बड़ा दल है, जो कि बड़ा दुर्जय हो रहा है, हराये नहीं हारता !

राजा– हां है, नारद जी से मैंने पहिले ही सुना था।

मातलि :—श्लोक ३० अन्वय :—स ते सख्युः शतक्रतोः अजय्यः रणशिरसि तस्य निहन्ता त्वं स्मृतः (असि) यत् सप्तसप्तिः उच्छेत्तुं न प्रभवति तत् नैशं तिमिरं चन्द्रः अपाकरोति।

शब्दार्थ—स=वह दानवगण। अजय्यः=अजेय हैं। रणशिरसि=संग्राम की अग्रभूमि में। स्मृतः=इन्द्र के द्वारा निर्णीत हुए हो। सप्तसप्तिः—सप्त अश्व-वाहन सूर्य। उच्छेत्तम्=नाश करने के लिए। न प्रभवति=समर्थ नहीं होता। तन्नैशं तिमिरं=उस रात्रि के अन्धकार को। अपाकरोति=दूर करता है।

अनुवाद—वह दानवों का समूह तुम्हारे मित्र इन्द्र के द्वारा नहीं जीता जा सकता, अतएव संग्राम की अग्रभूमि में आप ही उसके मारने वाले निर्णीत हुए हैं। क्योंकि सूर्य जिस अन्धकार को दूर नहीं कर सकता उस निशान्धकार को चन्द्रमा दूर करता है।

व्याख्या—वह दानवों का समूह तुम्हारे मित्र इन्द्र (शत=सौ, क्रतुः=यज्ञ अर्थात् सौ यज्ञ करने वाला अर्थात् इन्द्र) के द्वारा नहीं जीता जा सकता अतएव संग्राम के आगे आप ही उसके बध करने वाले माने गये हैं अर्थात् उसके निहन्ता आप ही निर्णीत हुये हैं। क्योंकि सूर्य जिस अन्धकार को नष्ट नहीं कर सकता, उस रात्रि के अन्धकार को चन्द्रमा ही दूर करता है।

तात्पर्य यह कि जैसे रात्रि के अन्धकार को सूर्य दूर नहीं कर सकता तो चन्द्र दूर करता है उसी प्रकार नियामक विधि निर्दिष्ट उन दानवों के समूह का वध इन्द्र के द्वारा नहीं हो सकता है अतएव इस कार्य के लिये तुम निर्णीत हुये हो।

विशेष—सख्युः पद से यह सूचित किया गया है कि इन्द्र तुम्हारे जन्म से ही मित्र हैं अतः तुमको उनका यह आदेश मानना चाहिये।

अजय्य—से तात्पर्य है कि वह दानवगण हजारों प्रयत्न करने पर भी इन्द्र द्वारा नहीं जीता जा सकता।

आत्तशस्त्र एव इदानीं तमैन्द्ररथमारुह्य विजयाय प्रतिष्ठताम् ।

राजा—अनुगृहीतोऽहमनया मघवपः संभावनया । अथ माढव्यं प्रति भवता कथमेवं प्रयुक्तम् ? ।

मातलिः—तदपि कथ्यते । किंचिन्निमित्तादपि मनःसंतापादायुष्मान्मया विक्लवो दृष्टः । पश्चात्कोपयितुमायुष्मन्तं तथा कृतवानस्मि । कुतः ?

यहां मातलि ने अपने स्वामी इन्द्र की उपमा सूर्य से देकर उनमें तेजस्विता को द्योतित किया है और दानव गण विजय में उनको अशक्त बतलाकर दुष्यन्त की चन्द्र से उपमा देकर उसमें अपूर्व शक्तिमता को द्योतित किया है। (सप्त = सात, सप्ति = अश्व अर्थात् सात घोड़ों वाले रथ पर चलने वाले । नैशम् = निशा का, रात्रि सम्बन्धी । यहाँ दृष्टान्तालंकार है। प्रहर्षिणी छन्द है "म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम् ।

जिघातोः शक्यार्थे निपातः जय्यः । नि+हन्+तृच्=निहन्ता, उत्+छिदिर् +तुमुन्=उच्छेत्तुम् । निशा शब्दात् अणि नैशम् ।

संस्कृत व्याख्या—स दुर्जयः दानवगणः ते तव दुष्यन्तस्य सख्युः=मित्रस्य शतं क्रतवो यस्य तस्य शतक्रतोः—इन्द्रस्य, किल—इति प्रसिद्धौ, अजय्यः=जेतुमशक्यः "क्षय्य जय्यौ शक्यार्थे निपातः" अतः तस्य दानवगणस्य रणशिरसि युद्धाग्रभूमौ निहन्ता विजेता त्वं स्मृतः=दैवै निर्णीतः (असि) यत् (तिमिरं) सप्त सप्तयो यस्यासौ सप्तसप्तिः सप्ताश्ववाहनः सूर्यः उच्छेत्तु दूरीकर्तु न प्रभवतिसमर्थो न भवति तत् नैशं रात्रि सम्बन्धि तिमिरं—अन्धकारं चन्द्रः—अपाकरोति दूरीकरोति । यथा रात्रितिमिरनाशे न सूर्यस्य सामर्थ्यमत चन्द्र एवोचितस्तत्र तिमिरविनाशकः तथैव दानवगणवधे न सामर्थ्यमिन्द्रस्य-तस्त्व मेवाभिमतस्तद्दानवगणविघातक इति भावः । दृष्टान्तालंकारः । प्रहर्षिणी वृत्तम् ।

अतः वह आप अब यह धनुष वाण लिये हुये ही उसी इन्द्र के रथ पर चलकर विजय के लिये प्रस्थान करें ।

राजा—भगवान इन्द्र के इस आदर से मैं बड़ा अनुगृहीत हूँ। अर्थात् यह उनकी ही मेरे ऊपर विशेष कृपा है कि जो उन्होंने मुझे बुलाकर यह आदर दिया है। पर यह तो बताइये कि आपने माढव्य के साथ ऐसा व्यवहार क्यों किया । (प्रयुक्तम् = व्यवहृतम्—व्यवहार किया)

मातलि—यह भी बतलाता हूँ। किसी अज्ञात कारणवश मनः-सन्ताप के कारण मैंने आपको बड़ा खिन्न पाया था, आकर देखा था । (किञ्चिन्निमित्तात् = किसी अज्ञात कारण वश) अतः फिर आपका क्रोध जगाने के लिये मैंने ऐसा काम किया था अर्थात् आपको क्रोध आ जाय जिससे कि आपकी खिन्नता दूर हो जाय मैंने माढव्य को पकड़ा था । क्योंकि :—

ज्वलति चलितेन्धनोऽग्निर्विप्रकृतः पन्नगः फणां कुरुते ।
प्रायः स्वं महिमानं क्षोभात्प्रतिपद्यते हि जनः ॥ ३१ ॥

श्लोक ३१ अन्वय—चलितेन्धनः अग्निः ज्वलति, विप्रकृतः पन्नगः फणां कुरुते । हि जनः क्षोभात् स्वं महिमानं प्रायः प्रतिपद्यते ।

शब्दार्थ—चलितेन्धनः = चलित + इन्धन अर्थात् सञ्चालित इन्धन काष्ठ वाली अग्नि तात्पर्य यह है कि जब इन्धन इधर उधर को खसका दिया जाता है तभी अग्नि जलती है । विप्रकृतः=छेड़ा गया सर्प, फणां कुरुते=अपना फन उठा कर फुसकारता है । पन्नगः=सर्प । क्षोभात्=भड़काये जाने से, उत्तेजना दिलाने से । महिमानं=प्रभाव—महत्व । प्रतिपद्यते=प्राप्त करता है ।

अनुवाद—इतस्ततः सञ्चालित इन्धन काष्ठ वाली अग्नि जलती है । छेड़ा गया सर्प अपना फन उठाता है । क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति उत्तेजना दिलाने से ही अपने महत्व को प्राप्त करता है ।

व्याख्या—इन्धन काष्ठ के इधर उधर खसकाने पर ही अग्नि जलती है । अर्थात् जलते जलते जब अग्नि बुझने लगती है तो यदि उस समय उसके ईन्धन को थोड़ा सा इधर उधर हिला डुला दिया जाय तो वह फिर जलने लगती है । सर्प भी तभी अपना फन उठा कर फुसकारता है जब कि उसे छेड़ा जाय । यह निश्चय है कि प्रत्येक व्यक्ति कहीं से उत्तेजना प्राप्त करके ही अपने स्वाभाविक प्रभाव, शक्ति, तेज या पराक्रम को प्राप्त करता है । तात्पर्य यह है कि मनुष्य को जब तक उकसा कर उत्तेजित न कर दिया जाय तब तक वह अपना तेज नहीं दिखलाता ।

मैंने तुम्हारे वयस्य माढव्य को इसीलिए कष्ट दिया कि जिससे आप संक्षुब्ध हों और उत्तेजना प्राप्त कर क्रोधित हो जांय और ऐसा ही हुआ भी, अपने मित्र की दुर्दशा देखकर आपकी सारी खिन्नता जाती रही और आपने उत्तेजित हो धनुष वाण सम्भाल लिया, यही मेरा उद्देश्य था ।

यहाँ अग्नि पन्नग रूप दो उपमानों के साधर्म्य का प्रतिबिम्बन दिखलाया गया है । अतः सधर्म वस्तु प्रतिबिम्बन से **मालादृष्टान्तालंकार** है । यहाँ भवान् इस विशेष के प्रस्तुत रहने पर भी जो "जनः" यह सामान्योक्ति निर्देश है अतः अप्रस्तुत-**प्रशंसालंकार है** । अतः कोई आचार्य यहाँ पर, "तेज" प्रतिपत्ति रूप एक ही क्रिया का पृथक् पृथक निर्देश किया गया है, अतः प्रतिवस्तूपमालंकार मानते हैं क्योंकि यहाँ फणाँ कुरुते, ज्वलति, महिमानं प्रतिपद्यते इन सब क्रियाओं का अर्थ प्रायः एक ही है परन्तु पृथक् पृथक् शब्दों द्वारा उनका कथन किया गया है । जैसा कि साहित्य दर्पण कार ने कहा है :—

(श्लोऽङ्कः

राजा—(जनान्तिकम् ।) वयस्य ! अनतिक्रमणीया दिवस्पतेराज्ञा । तदत्र परिगतार्थं कृत्वा मद्वचनादमात्यपिशुनं ब्रूहि,—

त्वन्मतिः केवला तावत्परिपालयतु प्रजाः ।
अधिज्यमिदमन्यस्मिन्कर्मणि व्यापृतं धनुः ॥ ३२ ॥

इति

विदूषक—जं भवं आणवेदि [यद्भवानाज्ञापयति ।]

(इति निष्क्रान्तः ।)

मातलि—आयुष्मान् रथमारोहतु ।

(राजा रथाधिरोहणं नाटयति ।)

प्रतिवस्तूपमा सा स्यात् वाक्ययोर्गम्यसाम्ययोः
एकोऽपि धर्मः सामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथक् ।
छेक, वृत्ति, अनुप्रास । आर्या जाति छन्द है ।

संस्कृत व्याख्या—चलितं इन्धनं यस्यासौ चलितेन्धनः=इतस्ततो विपर्यस्तेन्धनकाष्ठः अग्निः ज्वलति दीप्यते । विप्रकृतः=केनाप्युद्वेजितः पन्नगः सर्पः फणां कुरुते, फटाटोपं दर्शयति हि=निश्चितमेव जनः सर्वो लोकः क्षोभात् कुतश्चित् संक्षोभमुत्तेजनाम्वा प्राप्य स्वं स्वकीयं महिमानं प्रभावं प्रायो बाहुल्येन प्रतिपद्यते लभते । आर्या जातिः ।

यहां मातलिकृत माठव्य के परिपीडन रूप विरोध के शमन हो जाने से विमर्श सन्धि का शक्ति नामक अंग उपक्षिप्त किया गया है ।

राजा—(अलग विदूषक से) वयस्य ! देवराज इन्द्र की आज्ञा तो टाली नहीं जा सकती इसलिये यह सब समाचार सुना कर अमात्य पिशुन से मेरी आज्ञानुसार यह कह देना कि:—

श्लोक २३ अन्वय—(यावत्) अधिज्यं इदं धनुः अन्यस्मिन् कर्मणि व्यापृतं तावत् केवला त्वन्मतिः (एव) प्रजाः पालयतु ।

शब्दार्थ—यावत्=जब तक, अधिज्यं=खिंची हुई प्रत्यञ्चा वाला व्यापृतम्=लगा हुआ है ।

अनुवाद—जब तक यह मेरा प्रत्या चारुढ धनुष अन्य कार्य में संलग्न है तब तक केवल तुम्हारी ही बुद्धि प्रजाओं का पालन करे ।

व्याख्या—जब तक मेरा यह गुणयुक्त—प्रत्यञ्चारूढ़ धनुष् दूसरे काम में लगा हुआ है अर्थात् जब तक मैं अपने इस धनुष से दैत्यों का वध करने में लगा हुआ हूँ तब तक अकेली आपकी बुद्धि ही प्रजा का पालन करे । तात्पर्य यह है कि अब तुम तब तक अकेले ही, मेरे बिना केवल अपनी बुद्धि के सहारे ही, प्रजा का पालन करो

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

षष्ठोऽङ्कः

जब तक कि मैं देव कार्य पूरा करने में लगा हुआ हूँ । राज्य रक्षा के लिए बुद्धिमान् मन्त्री तथा शक्ति सम्पन्न धनुर्धारी दोनों की आवश्यकता होती है और अभी ये दोनों ही, मन्त्री की बुद्धि और राजा का धनुष, प्रजा पालन कर रहे थे पर अब केवल मन्त्री की बुद्धि ही प्रजापालन करेगी जब तक कि राजा न आ जाये ।

विशेष—"केवला त्वन्मतिः" से यह सूचित किया गया है कि राजा का दोनों पर समान अधिकार था ।

"अन्यस्मिन् कर्मणि" से राजा का लोक द्वय रक्षकत्व ध्वनित होता है। अधिज्यम् से यह ध्वनित किया कि अब से लेकर जब तक असुरों का विनाश होगा तब तक यह धनुष् चढ़ा ही रहेगा । इससे वीर रस का परिपोषण होता है। काव्य-**लिङ्ग अलंकर है ! अनुष्टुप् छन्द है ।**

संस्कृत व्याख्या—यावत् ज्यामधिगतं अधिज्यं-ओरीपितमौर्वीकं इदं मम धनुः शरासनं अन्यस्मिन् कर्मणि-असुरविजयरूपे कर्मणि व्यापृत्तम्—योजितम्, केवला—एकाकिनी—धनुष्साहाय्यविहीना त्वन्मतिः तव बुद्धिरेव प्रजाः राज्यस्थान् जनान् परिपालयतु रक्षतु । दानववधरूपकर्मणि व्यापृतेन मया प्रजारक्षाभारस्त्वयेव समर्पितः इत्यर्थः ।

विदूषक—जैसी आपकी आज्ञा ।

(यह कह कर चला जाता है ।)

मातलि—आयुष्मन् ! रथ पर बैठिये ।

राजा रथ पर चढ़ने का अभिनय करता है ।

(सब का प्रस्थान)

इस अङ्क में चेटियों का अभय लाभ, सानुमती को राजा का शकुन्तला के प्रति प्रेम देखकर सन्तोष लाभ, राजा को अँगूठी मिलने से शकुन्तला की स्मृति का लाभ हुआ है तथा चित्र दर्शनादि से प्रधान रस श्रृंगार का परिपोषण तथा मातलि के प्रवेश से राजगत वीरता का सन्धुक्षण निर्दिष्ट किया गया है ।

और यह भी स्पष्ट है कि तत्कालीन राजा इसी देह से स्वर्ग जाते थे और लौट आते थे । देवराज इन्द्र भी मर्त्यलोक के राजाओं से दानववध में सहायता लेते थें । इत्यादि ।

सप्तमोऽङ्कः ।

(ततः प्रविशत्याकाशयानेन रथाधिरूढो राजा मातलिश्च ।)

राजा—मातले ! अनुष्ठितनिदेशोऽपि मघवतः सत्क्रियाविशेषादनुपयुक्तमिवात्मानं समर्थये ।

सप्तमः अङ्कः

(षष्ठाङ्क समाप्ति के अनन्तर आकाशमार्गगामी रथ पर आरूढ राजा तथा मातलि का प्रवेश)

राजा—हे मातलि ! यद्यपि मैंने देवराज की आज्ञा का पालन मात्र किया है (अर्थात् आज्ञा पालन के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य नहीं किया है) तथापि जो उन्होंने मेरा इतना बड़ा सम्मान किया है, उसके लिए मैं अपने को योग्य नहीं समझता हूँ अर्थात् मैं यह समझता हूँ कि मैं इतने बड़े सम्मान का पात्र नहीं था ।

आकाशयानेन इत्यादि से मरीच्याश्रमगमन सूचित किया गया है । अनुष्ठितनिदेशः = जिसने आज्ञा का पालन किया है । मघवतः पद दोनों ही में लगता है अर्थात् मघवतः अनुष्ठितनिदेशः और मघवतः सत्क्रियाविशेषात् = सत्काराधिक्य से । अनुपयुक्तमिव अर्थात् इन्द्र के लिये जो मैंने कार्य किया है वह इन्द्रकृत सम्मान की तुलना में सहस्रांश भी होने योग्य नहीं है । इससे इन्द्र की प्रत्युपकारशीलता विनयशीलता तथा गुणग्राहिता द्योतित होनी है और राजा की परमशौर्यशालिता विनयशीलता तथा इन्द्रकृतसत्कार से सौभाग्यशालिता ध्वनित होती है ।

अनुष्ठितनिदेशः—से राजा ने यह प्रकट किया है कि मैंने दुर्जयदानवगणों का वध कर इन्द्र की आज्ञा का पालन किया है । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इन्द्र की आज्ञा से दानव वध के लिये नियुक्त राजा ने दानवों से लड़कर उनका वध किया और विजय प्राप्त कर लौटा है इस प्रकार पूर्व अङ्क में सूचित युद्ध का तथा विजय का संकेत राजा द्वारा कराया गया है क्योंकि **"दूराध्वानं वधो युद्धम्"** इत्यादि कथनानुसार अङ्क में युद्ध वध आदि दिखाना वर्जित है अतः युद्ध तथा वध का अङ्क में वर्णन न करके राजा द्वारा ही उसकी सूचना दिला दी गई है और इस प्रकार पूर्व कथा से इसे जोड़ दिया गया है । दूसरी बात यह है कि युद्ध वध आदि की कथा प्रकृत

मातलिः—(सस्मितम्) आयुष्मन् ! उभयमप्यपरितोषं समर्थये।

में उपयोगी भी नहीं है अतएव कवि ने अन्य पात्रों द्वारा उसके वाचिकाभिनय की भी आवश्यकता नहीं समझी है अतएव कृतकार्य राजा तथा मातलि का प्रवेश करा कर तथा उनके पारस्परिक वार्तालाप द्वारा ही युद्धादि सम्बन्धी कथा की सूचना दे दी है। तीसरी बात यह है कि यदि युद्ध का भी अङ्क के अन्तर्गत वर्णन किया जाता तो रस दोष भी हो जाता क्योंकि उस दशा में शृङ्गार रस अङ्ग बन जाता और वीर ही अङ्गी हो जाता जबकि श्रृङ्गार प्रधान नाटक में अन्य रसों को अङ्गभूत होना चाहिये अङ्गी नहीं। प्रस्तुत नाटक शृङ्गार प्रधान है अतः वीरादिक का प्रशस्त वर्णन अनुचित था।

यहाँ से लेकर ग्रन्थ समाप्ति पर्यन्त निर्वहण सन्धि हैं

"बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम्
एकार्थमुपनीयन्ते यत्र निर्वहण हि तत् ॥
अथवा—मुखसन्ध्यादयो यत्र विकीर्णा बीजसयुताः
यदा प्रयोजनं यान्ति तन्निर्वहणमुच्यते ॥

अर्थात् रूपक की कथावस्तु के बीज से युक्त मुख आदि अर्थ जो अभी तक इधर उधर बिखरे रहे हैं जब एक अर्थ के लिये एक साथ समेट लिये जाते हैं अथवा उन सबको एकत्र कर लिया जाता है तब वह निर्वहण सन्धि होती है। इस सन्धि के १४ अंग होते हैं :—

सन्धिर्विबोधो ग्रथनं निर्णयः परिभाषणम्।
प्रसादान दसमयाः कृतिभाषोपगूहना
पूर्वभावोपसंहारौ प्रशस्तिश्च चतुर्दश।,

अर्थात् सन्धि, विबोध, ग्रथन, निर्णय, परिभाषण, प्रसाद, आनन्द, समय, कृति, भाषा, उपगूहन, पूर्वभाव, उपसंहार, तथा प्रशस्ति। इन सब लक्षणों व उदाहरणों का यथास्थान वर्णन किया जायेगा।

यहाँ शकुन्तला की प्राप्ति रूप कार्य अर्थ प्रकृति है—

"यदाधिकारक वस्तु सम्यक् प्राज्ञैः प्रयुज्यते
तदर्थो यः समारम्भः तत्कार्यं कथ्यते इति।

दुष्यन्त को पुत्र के साथ पत्नी की प्राप्ति होती है अतः फलागम नामक कार्यावस्था है—

अभिप्रेतं समग्रं च प्रतिरूपं क्रियाफलम्
इतिवृत्त भवेद्यस्मिन् फलयोगः स कथ्यते ॥

साहित्य दर्पणकार ने कार्य नामक अर्थप्रकृति का लक्षण इस प्रकार लिखा है—

अपेक्षितन्तु यत्साध्यमारम्भो यन्निबन्धनः।

प्रथमोपकृतं मरुत्वता
प्रतिपत्त्या लघु मन्यते भवान् :
गणयत्यवदानविस्मितो
भवतः सोऽपि न सत्क्रियागुणान् ॥ १ ॥

समापयन्तु यत्सिद्धयै तत्कार्यमिति सम्मतम् ॥

अर्थात् जिस उद्देश्य प्राप्ति के लिये कार्यारम्भ किया गया था उसकी जहाँ पूर्णसिद्धि के लिये कार्य समाप्त होता है ।

तथा—**सावस्था फलयोगः स्याद् यः समग्रफलोदयः ।**

अर्थात् वह अवस्था फलागमावस्था होती है जहाँ सम्पूर्ण फल की प्राप्ति हो । इस प्रकार फलागम नामक अवस्था, कार्य नामक अर्थ प्रकृति से मिल कर इस अङ्क में निर्वहण सन्धि है जिसके अंगों का यथास्थान वर्णन किया जायेगा ।

परन्तु साहित्य दर्पण कार आचार्य विश्वनाथ ने शकुन्तला के अभिज्ञान के उपरान्त अङ्क समाप्ति पर्यन्त निर्वहण सन्धि मानी है ।

मातलि—(मुस्कराते हुये) मैं तो समझता हूँ कि असन्तोष दोनों ही ओर है। अर्थात् आपको असन्तोष तो इस बात से है कि इन्द्र कृत सत्कार के अनुरूप मैंने उनका उपकार नहीं किया और इन्द्र को असन्तोष इस बात से है कि आपके द्वारा किए गये उपकार के अनुरूप वे आपका सत्कार न कर सके । अथवा आपके असन्तोष का तो यह कारण है कि आप मानव हैं अतएव देवराज कृत सत्कार के योग्य नहीं हैं । इन्द्र के असन्तोष का कारण है कि वे समझते हैं कि दुर्जय दानवों के मारने वाले आपका वे उचित सत्कार न कर सके । तात्पर्य यह है कि आप दोनों का ही मन एक दूसरे का सत्कार करके भी भर न सका है ।

श्लोक १ अन्वय—भवान् मरुत्वतः प्रतिपत्त्या प्रथमोपकृतं लघु मन्यते । अवदानविस्मितः सः अपि भवतः सत्क्रियागुणान् न गणयति ।

शब्दार्थ—प्रथमोपकृतम=दुर्जय असुरों के वध रूप कार्य साधन के द्वारा जो आपने पहिले इन्द्र का उपकार किया । मरुत्वतः=इन्द्र के । प्रतिपत्त्या=गौरव से अर्थात् इन्द्र को गौरव देने के कारण । लघु मन्यते=तुच्छ समझते हैं । अवदान-विस्मितः=अवदान=शुद्ध कर्म-निःस्वार्थ सेवा रूपी कार्य व्यापार से आश्चर्यान्वित । सत्क्रियागुणान्=अपने द्वारा किये गये सत्कार में यत्न विनय आदि गुणों को ।

(दुर्जयासुर वध रूप) पहिले किये गये इन्द्र के उपकार को आप इन्द्र को गौरव देने के कारण तुच्छ समझते हैं । (उधर आप द्वारा किये गये) निःस्वार्थ कार्य से विस्मित हुये इन्द्र भी स्वकृत सत्कारादि गुणों को कुछ नहीं गिनते हैं ।

व्याख्या—**दुर्जय** असुरों के वध रूप कार्य साधन द्वारा इन्द्र का इतना बड़ा पहिले ही उपकार करके भी आप इन्द्र को गौरव देने के लिए ही उस उपकार को तुच्छ समझते हैं अर्थात् यद्यपि आपने इन्द्र का इतना बड़ा उपकार किया फिर भी आप उसे इसलिए तुच्छ समझते हैं कि आप इन्द्र को गौरव देना चाहते हैं अन्यथा इतना बड़ा उपकार, और वह भी इन्द्र से सत्कार पाने के पहिले किया गया, न लौकिक व्यवहार की भाँति सत्कार पाने के बाद किया गया, तुच्छ नहीं माना जाना चाहिए था। यह आपकी विनयशीलता एवं निरभिमानता का उत्कृष्ट उदाहरण है जो कि आप इतने बड़े अपने उपकार को भी तुच्छ समझते हैं और इन्द्र के लिए इस प्रकार गौरव प्रदर्शित करते हैं। अथवा इसका अर्थ इस प्रकार भी लगाया जा सकता है कि आप इन्द्र के गौरव (सत्कार) की अपेक्षा पूर्वकृत अपने उपकार को तुच्छ समझते हैं, तात्पर्य यह कि यद्यपि आपने उपकार पहले किया और इन्द्र ने सत्कार इसके बाद किया फिर भी आप अपने उपकार को तुच्छ समझते हैं अतएव आपको असन्तोष है।

उधर आपके विशुद्ध कर्म से विस्मित हुआ इन्द्र भी स्वकृत सत्कार में प्रदर्शित अपने आदरातिशय विनय यत्नातिशयादि गुणों को कुछ नहीं गिनता तात्पर्य यह कि आपकी निःस्वार्थ सेवा देख कर इन्द्र इतना विस्मित हो गया है कि उसने जो आपके सत्कार में आदर यत्न विनयादि गुणों को प्रदर्शित किया है उन्हें अति तुच्छ समझता है। तात्पर्य यह कि यद्यपि इन्द्र ने आपका यथोचित सत्कार किया है तथापि आपकी निःस्वार्थ सेवा के सामने वह उसे कुछ नहीं गिनता है अतएव इन्द्र को असन्तोष है कि वह आपकी सेवा के अनुरूप सत्कार न कर सका इस प्रकार दोनों ही ओर असन्तोष है केवल आपको ही नहीं।

विशेष—क्रिया चेत् कथं गुणा अर्थात् गुण और क्रिया दोनों भिन्न हैं यदि क्रिया है तो गुण कैसे अतः **विरोधाभास व्यङ्ग्य है** जो कि यहाँ शब्द शक्ति मूलक है। सत्क्रिया रूप कारण के रहते हुए भी गणना रूप कार्य की अनुत्पत्ति है अतः **विशेषोक्ति अलंकार** है और गणना भाव रूप कार्य की उत्पत्ति है पर इस अभाव का **कारण** नहीं है अर्थात् कारणाभावे कार्योत्पत्ति है अतः **विभावनालंकार** है। और **इन दोनों का सन्देह संकर है, हेतु, श्रुत्यनुप्रास। सुन्दरी नामक छन्द है "अयुजोर्यदि सौ जगौ युजोः सभराल्गौ यदि सुन्दरी मता"** अर्थात् जिस छन्द के विषम चरणों में सगण, सगण, जगण तथा एक गुरु वर्ण हो, तथा सम चरणों में सगण, भगण, रगण, एक लघु एकगुरु वर्ण हो वह सुन्दरी नामक **अर्ध सम छन्द** होता है।

स०	स०	ज०	गु०	|	स०	भ०	र०	ल०	गु०
।।S	।।S	।S।	S	|	।।S	S।।	S।S	।	S
प थ मो,	प क्र तं,	म रु त्व,	तः	|	प्रतिप,	स्याल्लघु,	मन्यते,	भ,	वान्।

राजा—मातले ! मा मैवम्; स खलु मनोरथानामप्यभूमिर्विसर्जनावसरसत्कारः। मम हि दिवौकसां समक्षमर्धासनोपवेशितस्य

अन्तर्गतप्रार्थनमन्तिकस्थं
जयन्तमुद्वीक्ष्य कृतस्मितेन।
आमृष्टवक्षोहरिचन्दनाङ्का
मन्दारमाला हरिणा पिनद्धा ॥२॥

संस्कृत व्याख्या—भवान् (दुष्यन्तः) प्रथमोपकृतं=दानववधरूपकार्यसाधनद्वारा प्रथमं कृतं उपकारं मरुत्वतः=इन्द्रस्य प्रतिपत्त्या गौरवेण लघु तुच्छं मन्यते जानाति। भवतः=तव अवदानेन शुद्धकर्मणा विस्मितः विस्मयं प्राप्तः इति—अवदानविस्मितः इन्द्रोऽपि सत्क्रियायां सत्कारे गुणान्=आदरातिशयविनय यत्नातिशयादीन् इति सत्क्रियागुणान् न गणयति न मन्यते इत्थमुभयोरपि पक्षेऽसन्तोष एवास्तीत्यहं मन्ये। सुन्दरी वृत्तम्।

राजा—नहीं-नहीं मातलि ! यह बात नहीं है। वहाँ से विदा होते समय जो मेरा सत्कार किया गया था, (इतना बड़ा सत्कार मुझ जैसे व्यक्ति को मिलेगा) ऐसी तो कोई कल्पना भी नहीं कर सकता है (मनोरथानामप्यभूमिः=जहाँ तक कोई कल्पना भी न कर सके—जो मनोरथों का भी अविषय हो। (क्योंकि देवताओं के समक्ष ही उन्होंने मुझे अपने आधे आसन पर बैठा लिया था।

श्लोक २ अन्वय—अन्तिकस्थं अन्तर्गतप्रार्थनं जयन्तं उद्वीक्ष्य कृतस्मितेन हरिणा आमृष्टवक्षोहरिचन्दनाङ्का मन्दारमाला पिनद्धा।

शब्दार्थ—अन्तिकस्थं = समीपस्थ, अन्तर्गतप्रार्थनं = मन्दारमाला को प्राप्त करने के लिये जो मन ही मन याचना कर रहा था पर उस याचना को वाणी द्वारा प्रकट नहीं कर रहा था, जयन्तं = जयन्त नामक अपने पुत्र को। उद्वीक्ष्य = उत् = अधिक, वीक्ष्य = देखकर अर्थात् देर तक भली भाँति देखकर, कृतस्मितेन = जयन्त की मनोगत याचना को जान कर मन्द स्मित करके। आमृष्टेत्यादि = (इन्द्र के) वक्षःस्थल पर लिप्त श्री खण्ड चन्दन से चिन्हित। मन्दारमाला = मन्दार = देव वृक्ष के फूलों से बनी माला पिनद्धा = पहना दी।

अनुवाद—समीपस्थ, (मन्दार माला प्राप्ति के लिये) मन ही मन याचना करने वाले जयन्त नामक स्वपुत्र को भली भांति देखकर, मन्द स्मित करते हुये इन्द्र ने, अपने वक्षःस्थल पर अनुलिप्त श्री चन्दन से चिन्हित मन्दारमाला को (मुझे) पहना दी।

व्याख्या—(जब इन्द्र ने सभी देवताओं के सामने ही मुझे अपने आसन पर बैठाया) तो वहीं जयन्त भी पास ही में बैठा हुआ था। और इन्द्र के वक्षःस्थल पर

मातलिः—किमिव नामायुष्मानमरेश्वरान्नार्हति ? । पश्य,—

सुखपरस्य हरेरुभयैः कृत
त्रिदिवमुद्धृतदानवकण्टकम् ।
तव शरैरधुना नतपर्वभिः
पुरुषकेशरिणश्च पुरा नखैः ॥३॥

पड़ी हुई मन्दार माला की मन ही मन याचना कर रहा था। तब इन्द्र ने उसे गौर से देखा (और यह जान कर भी कि वह इस मन्दारमाला को पाने की अभिलाषा कर रहा है) कुछ मुस्कराये तथा वह अपने वक्षःस्थल पर अनुलिप्त श्रीखण्ड चन्दन से अंकित मन्दार फूलों की माला मुझे पहना दी—मेरे गले में डाल दी।

विशेष—कृतस्मितेन—अर्थात् जयन्त की मनोगत प्रार्थना को जान कर वह मन्द स्मित करने लगे थे। इससे यह ध्वनित होता है कि जयन्त से भी अधिक दुष्यन्त स्नेहपात्र थे। आमृष्टेत्यादि पद में अङ्क से यह ध्वनित होता है कि माला को तत्काल ही धारण किया गया था और उसमें तत्काल ही वक्षःस्थल पर अनुलिप्त चन्दन लग गया था। इससे उसका इन्द्र के कण्ठ के योग्य होना अत्यन्त सुगन्धित होना और अत्यन्त मनोहर होना आदि ध्वनित होता है।

पिनद्धा—माला दी नहीं प्रत्युत अपने हाथों से मेरे गले में पहना दी। इस प्रकार सभी देवताओं के सामने पुत्र की भी उपेक्षा कर इस प्रकार का सम्मान करना वास्तव में कल्पनातीत है।

इससे राजा का इन्द्र के लिए, इन्द्र का राजा के लिए रतिभाव प्रकट होता है। यहाँ गौरवाधिक्य का वर्णन किया है अतः उदात्तालंकार है। तथा कई विशेषण साभिप्राय हैं अतः परिकरालंकार है। न्त न्तीति, न्द न्देति, छेक, वृति अनुप्रास। उपजाति छन्द है। यहाँ द्वितीय प्रकार की उपजाति है।

अन्तिकम् तिष्ठति इत्यत्र स्थाधातोः क प्रत्ययः। उत् + वि + ईक्ष + क्त्वा-ल्यप् = उद्वीक्ष्य।

अपि + नह क्त = पिनद्धा, अकारस्य वैकल्पिको लोपः।

संस्कृत व्याख्या—अन्तिकं समीपं तिष्ठतीति अन्तिकस्थस्तम् अन्तिकस्थं अन्तर्गता प्रार्थना यस्य तमिति = अन्तर्गतप्रार्थनम् = मनोगतमन्दारमालाभिलाषशालिनम् जयन्तं—एतन्नामकं स्वपुत्रं उत् = अधिकं, वीक्ष्य = अवलोक्य—इति—उद्वीक्ष्य तदभिलाषां सम्यक् ज्ञात्वापीत्यर्थः कृतं स्मितं येन तेन कृतस्मितेन मन्दहास्यं कुर्वता हरिणा = इन्द्रेण, आमृष्टं संश्लिष्टं यद्वक्षसि हरिचन्दनं तेनाङ्को यस्यां सा इति आमृष्टवक्षोहरिचन्दनाङ्का = महेन्द्रवक्षःस्थलानुलिप्तचन्दनाङ्किता मन्दारमाला = देवतरुविशेषसुमनोमाला पिनद्धा स्वहस्ताभ्यामेव मदुरसि परिधापिता। अनुप्रासपरिकरोदात्तास्य अलंकाराः। द्वितीयोपजातिः।

मातलि—आप देवराज से क्या पाने योग्य नहीं हैं ? अर्थात् सब कुछ पाने योग्य हैं अर्थात् जो सर्वाधिक प्रिय, सर्वोत्कृष्ट तथा सर्वातिरमणीय भी वस्तु है वह भी आपको मिल सकती है तो यह माला ही क्या (अमरेश्वरात् पद से देवराज की, मनोरथातीत भी वस्तु देने की सामथ्य ध्वनित होती है) देखो :—

श्लोक ३ अन्वय—अधुना नतपर्वभिः तव शरैः पूरा नतपर्वभिः पुरुषकेशरिणः नखैः च इत्युभयैः सुखपरस्य हरेः त्रिविवं उद्धृतदानवकण्टकं कृतम् ।

शब्दार्थ—नतपर्वभिः = जिनका ग्रन्थिस्थल कुछ झुका हुआ है, नखों के साथ इसका अर्थ है जिसकी अँगुलियों के पर्वभाग कुछ झुके हुये हैं । पुरुषकेशरिणः— नृसिंह के, सुखपरस्थ = सुख मे लिप्त । त्रिदिवं = स्वर्ग, उद्धतेत्यादि = जिसमे से कण्टक रूपी दानव उखाड़ दिये गये हैं ।

अनुवाद—इस समय तो झुके हुये ग्रन्थिस्थलों वाले तुम्हारे वाणों के द्वारा पूर्व समय में, झुके हुये पर्व भागों वाले नृसिंह के नखों द्वारा, इन दोनों के द्वारा, सुख लिप्त इन्द्र का स्वर्ग दानव सभी कण्टकों से रहित कर दिया गया अर्थात् दानव रूपी काँटों को उखाड़ कर समाप्त कर दिया गया है ।

व्याख्या—इस समय तो झुके हुये ग्रन्थि स्थलों वाले आपके वाणों द्वारा और पूर्व समय में नृसिंह रूपधारी भगवान् के पर्व भागों पर कुछ झुके हुए नखों द्वारा, बस इन दो के द्वारा ही भोगविलास में आसक्त रहने वाले इन्द्र के स्वर्ग के दानव रूपी कण्टकों को दूर कर दिया गया है अर्थात् आपके वाणों व नृसिंह के नखों द्वारा विलासी इन्द्र का स्वर्ग दानव रूपी कण्टकों को झाड़कर साफ कर दिया गया है ।

विशेष—सुखपरस्य=सुख में तत्पर—संलग्न अथवा केवल सुखभोग में ही आसक्त रहने वाला उसी को परम वस्तु समझने वाला, स्वर्ग की रक्षा के लिए युद्धादि कठिन कर्मों से विमुख रहने वाला । **त्रिदिवम्=त्रयो ब्रह्मविष्णुमहेशा दीव्यन्ति यस्मिन् तत्त्रिदिवम्** अर्थात् ब्रह्मा विष्णु महेश जहाँ पर शोभा पाते हैं **अथवा त्रिदिवं सुखं विद्यते यस्मिन् तत् त्रिदिवं** अर्थात् जहाँ सुख ही सुख रहता है जहाँ दुःख कभी होता ही नहीं अर्थात् स्वर्गधाम "त्रिदिवं सुखे स्वर्गे च त्रिदिवा नद्याम्" यह कोश प्रमाण है । उद्धृत शब्द प्रयोग से दानवों का समूल नाश ध्वनित होता है । कण्टक व दानवों में दुःखदत्व रूप साधारण धर्म गम्य है । यहाँ प्रस्तुत दुष्यन्त तथा उनके शर तथा अप्रस्तुत पुरुष केशरी एवं उनके नख इन दोनों का कृतम् इस एक क्रिया के साथ अन्वय है अतः **दीपकालंकार** है ।

यहाँ यह अर्थ भी व्यञ्जित होता है :—सुखपरस्य अर्थात् विलासी—सिंही के विलास के लिए लालायित हरेः=सिंह के, त्रिदिव=सुखकर स्थान को उद्धृतदानवकण्टकम् अर्थात् दानं मदं वान्ति ये ते दानवाः मदस्रावीगज रूपी कण्टक अर्थात् जिस सिंह के सुखकर स्थान के गज रूपी कण्टक दूर कर दिये गये हैं । इस समय तो

राजा—अत्र खलु शतक्रतोरेव महिमा स्तुत्यः ।

सिध्यन्ति कर्मसु महत्स्वपि यन्नियोज्याः
संभावनागुणमवेहि तमीश्वराणाम् ।
किंवाऽभविष्यदरुणस्तमसां विभेत्ता
तं चेत्सहस्रकिरणो धुरि नाकरिष्यत् ॥४॥

मातलि—सदृशमेवैतत् । (स्तोकमन्तरमतीत्य ।) आयुष्मन् ! इतः पश्य नाकपृष्ठप्रतिष्ठितस्य सौभाग्यमात्मयशसः ।

तुम्हारे वाणों से और पूर्व समय में पुरुष सम्भूत सिंह के नखों से । सारांश यह कि तुम्हारे वाणों से तथा सिंह के नखों से सिंही के विलास के प्रिय सिंह के सुखकर स्थान को वहाँ के गज रूपी कण्टकों को उखाड़ कर साफ कर दिया गया है । द्रुत विलम्बित छन्द है "द्रुतविलम्वितमाह न भौ भरौ" अर्थात् जिसके प्रत्येक चरण में नगण भगण भगण तथा रगण के क्रम से १२ वर्ण हों वह द्रुतविलम्बित छन्द होता है ।

संस्कृत व्याख्या—सुखमेव परं यस्यासौ तस्य सुखपरस्य सुखोपभोग परायणस्य हरेः—इन्द्रस्य त्रिदिवं स्वर्गः अधुना=सम्प्रति नतानि कुञ्चितानि पर्वाणि ग्रन्थिस्थलानि येषान्ते तैः नतपर्वभिः तव दुष्यन्तस्य शरैः वाणैः पुरा पूर्वस्मिन् समये नतानि किञ्चित् कुञ्चितानि पर्वाणि—अंगुलिपर्व भागा येषान्ते तैः नतपर्वभिः पुरुषश्चासौ केशरी चेति तस्य पुरुषकेशरिणः—नृसिंहस्य नखैः—च—इत्युभयैरेव उद्धृता उन्मूलिता दानवाः कण्टका इव यस्मात्तत्—इति—उद्धृतदानवकण्टकम्=समूलोन्मूलितदानवकण्टक कृतम् । नृसिंहनखैः पुरा, अधुना च त्वच्छरैः स्वर्गस्य कण्टकस्थानीयाः राक्षसा हता अतो वर्ततेऽधुना स्वर्गे सर्वथा स्वास्थ्यम्. देवराजस्तु निरन्तर सुखोपभोगनिरत एवं तिष्ठतीति भावः । द्रुतविलम्वितं वृत्तम् । अलकारादयश्चोक्ताः।

राजा—यह सब भगवान् इन्द्र की ही महिमा का फल है अतः वही प्रशंसनीय हैं ।

श्लोक ४ अन्वय—महत्सु अपि कर्मसु नियोज्या यत् सिद्धयन्ति तं ईश्वराणां सम्भावनागुणं अवेहि । अरुणः तमसां विभेत्ता किम्वा अभविष्यत् चेत् सहस्रकिरणः तं धुरि न अकरिष्यत् ।

शब्दार्थ—नियोज्याः=सेवक । यत्सिद्धयन्ति=जो सफल होते हैं । ईश्वराणां =प्रभावशाली शक्ति सम्पन्न जनों का । सम्भावनागुणं=बहुमान का गुण अर्थात् प्रभुजन जो अपने सेवकों को आदर देते हैं इसी का यह माहात्म्य अथवा प्रभाव है । अरुणः=सूर्यसारथी, तमसां विभेत्ता=अन्धकार नाशक, किम्वाभविष्यत्=क्या कभी हुआ होता । चेत्=यदि । सहस्रकिरणः—सूर्य, धुरि=आगे ।

अनुवाद—सेवक यदि गुरुतर कार्यों में भी सफल होते हैं, उसे प्रभावशाली जनों का बहुमान गुण अर्थात् माहात्म्य अथवा प्रभाव ही जानो। क्या अरुण—सूर्य सारथी, अन्धकारों का नाश करने वाला हुआ होता यदि सूर्य उसे आगे न करते ? अर्थात् कभी नहीं।

व्याख्या—सेवक यदि गुरुतर कार्यों में भी सफल होते हैं तो इसे उनके स्वामियों के आदर का गुण समझो अर्थात् सेवकों पर जो उनके स्वामी आदर दृष्टि रखते हैं, इसी का फल है कि वे सेवक जन भी बड़े कामों में सफल हो जाते हैं। यदि सूर्य ने अरुण (अपने सारथी) को आगे न किया होता तो क्या अरुण कभी अन्धकार का नाशक हो सकता था अर्थात् नहीं। यदि अरुण अन्धकार का नाश करता है तो यह सूर्य की उस पर कृपा दृष्टि का फल है। सूर्य अरुण को आगे आगे लेकर चलता है और इस प्रकार उसे बड़ा आदर देता है इसीलिए अरुण अन्धकार का नाश करन में समर्थ होता है अन्यथा ऐसा होना सम्भव नहीं था।

विशेष :—सिद्धयन्ति :—अर्थात् प्रभु के प्रताप से ही उनके सेवकों के कार्य की सिद्धि होती है, इसमें सेवक का गुण कोई स्थान नहीं रखता। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अरुण सूर्य के प्रभाव से अन्धकार का नाश करने में समर्थ होता है उसी प्रकार मैंने भी इन्द्र के ही प्रभाव से दानवों का नाश किया है इसमें मेरा अपना कोई महत्व नहीं। सब कुछ इन्द्र की कृपा का ही फल है।

यहाँ अप्रस्तुत नियोज्यसामान्य से प्रस्तुत राजा रूप नियोज्याविशेष की प्रतीति होती है अतः **अप्रस्तुतप्रशंसालंकार** है। तथा सामान्य से विशेष समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है। उक्त अप्रस्तुतप्रशंसा से राजगत भृत्यत्व तथा इन्द्रगत प्रभुत्व सूचित होता है। एवं विनयातिशय द्योतन से यहाँ **उदात्तालंकार व्यङ्ग्य** है। उत्तरार्ध में दृष्टान्तालंकार भी माना गया है, **अनुप्रास। इन्द्र विषयक रति भाव। वसन्ततिलका छन्द** है।

नियोक्तुं योज्याः नि+युज्+यत्=नियोज्याः। अव+इ+लोटि मध्यम पुरुषैक वचने अवेहि। वि+भिद्+तृच्=विभेत्ता।

संस्कृत व्याख्या :—महत्सु गुरुतरेषु-अपि कार्येषु नियोक्तुं योग्या नियोज्याः सेवकाः यत् सिद्धयन्ति सफलमनोरथा भवन्ति। ईश्वराणां प्रभूणां तं सम्भावना-गुणं=आदरदानमहत्त्वम् अवेहि जानीहि।" सम्भावना वासनायां गौरवध्यानकर्मणोत्ति कोशः। सेवकानां दुस्तरकायषु साफल्यं स्वामिप्रसादेनैव जायते न हि तत्र तेषां कश्चिद् गुणः कारणमित्यर्थः। अरुणः—सूर्यसारथिः, तमसां अन्धकारणां विभेत्ता-विनाशकः किम्बा=कथं अभविष्यत् चेद्यदि तं सहस्रकिरणः सूर्यः, धुरि=अग्रे न अकरिष्यत्। अरुणस्यान्धकारविभेदे न शक्तिःसा तु स्वामिप्रदत्तादरेणैव जायते इति भावः। प्रकृते दानवविजयलाभो देवराजकृतसम्भावनयैव न तु दुष्यन्तकृतपरिश्रमेणेति भावः। उक्ता अलंकारादयः। वसन्ततिलकं वृत्तम्।

विच्छित्तिशेषैः सुरसुन्दरीणां
वर्णैरमी कल्पलतांशुकेषु ॥
विचिन्त्य गीतक्षममर्थजातं
दिवौकसस्त्वच्चरितं लिखन्ति ॥ ५ ॥

मातलि—आप जैसे महान् व्यक्ति के लिये ऐसा कहना उचित ही है। (कुछ ही दूर चल कर) आयुष्मन्! इधर देखिए स्वर्ग पर फैला हुआ आपका यश कितना सुन्दर प्रतीत होता है। (सौभाग्यम्=समधिक व्याप्त सौभाग्यजन्य यश) क्योंकि स्वर्ग में प्रतिष्ठा पाना भाग्याधीन वस्तु है. सौभाग्यशालियों को ही स्वर्ग मिलता है, और वहाँ यश मिलना तो बड़े भाग्य की बात है। नाकपृष्ठ=स्वर्ग, प्रतिष्ठतं=स्थापित)

श्लोक ५ अन्वय—अमी दिवौकसः गीतक्षमं अर्थजातं सञ्चिन्त्य सुरसुन्दरीणां विच्छित्तिशेषैः वर्णैः कल्पलतांशुकेषु त्वच्चरितं लिखन्ति।

शब्दार्थ—अमी=पुरःस्थित, सामने दिखलाई पड़ने वाले ये। दिवौकसः=देवता। गीतक्षमं=गाने योग्य। अर्थजातं=अर्थ समूह—सार्थपदावली को। सुरसुन्दरीणां=देवाङ्गनाओं के—सुरयोषिताओं के नहीं अपितु सुरसुन्दरियों के विच्छित्तिशेषैः=अंगराग, तिलक आदि करने से बचे हुए। वर्णैः=रञ्जन के साधन भूत रक्त पीतादि वर्णकों से अर्थात् देवता लोग पहिले अपनी सुन्दरियों के, अपने ही हाथों से, अङ्गरागादि लगा करके उससे बचे हुए रंगों से। त्वच्चरितं=तुम्हारे परोपकारादि रूप प्रशस्त कार्यों को। कल्पलतांशुकेषु=कल्पलता से उत्पन्न वस्त्रों पर अथवा कल्पलता के अंशुक (वस्त्र) रूप पल्लवों पर।

अनुवाद—ये पुरः स्थित देवता लोग, गाने योग्य सार्थक पदावली सोच कर, देवाङ्गनाओं के अंगरागादि से अवशिष्ठ रक्तपीतादि वर्णकों से कल्पलता के वस्त्र रूप पल्लवों पर तुम्हारे चरित्र को लिखते हैं।

व्याख्या—ये आगे स्थित देवता लोग गाने योग्य सार्थक पदावली रच कर देवाङ्गनाओं के अनुरञ्जक शृङ्गार से बचे हुए अंगरागादि द्वारा कल्पलता के वस्त्रों पर तुम्हारे पराक्रम पूर्ण चरित्र को लिखते हैं।

विशेष - विच्छित्तिशेषैः से राजा के चरित्रों की अतिप्रियता ध्वनित होती है। कल्पलतांशुकेषु—से यह सूचित किया गया है कि उनके लिखने योग्य वही आधार था।

यहाँ विशिष्ट लिखने वाले, विशिष्ट चरित्र, विशिष्ट आधार और विशिष्ट प्रकार का ही लिखने का साधन भी है अतः उदात्तालंकार है और इससे अर्थात उदात्तालंकार से देवताओं की सदा इस प्रकार शृङ्गार रसोपभोग योग्य स्थिति तुम्हारे ही चरित्र के कारण रहती है यह वस्तु ध्वनित होती है। अतः अलंकार से

राजा—मातले ! असुरसंप्रहारोत्सुकेन पूर्वेद्युर्दिवमधिरोहता न लक्षितः स्वर्गमार्गः । कतरस्मिन्मरुतां पथि वर्तामहे ? ।

वस्तु ध्वनि है और विच्छित्ति विशेष से अगरागादि का वर्णक रूप से निरूपण किया गया है और प्रकृत मे उसका उपयोग दिखाया गया है अतः परिणामालंकार है। कोई आचार्य यहाँ अन्तदीपकालंकार मानते हैं क्योंकि यहाँ राजा के यश विस्तार-वर्णन के प्रस्तुत होने पर भी अप्रस्तुत गीत रचना का वर्णन किया गया है और उसका अन्तर्विनिविष्ट लिखन्ति क्रिया से अन्वय है। यहाँ पर वीररस से उपस्कृत मातलि का विस्मय भाव राजभाव का अङ्ग है। **श्रुत्यनुप्रास वृत्यनुप्रास अष्टम उपजाति छन्द है।**

संस्कृत व्याख्या—अमी पुरोदृश्यमाना दिवौकसः—देवाः, गीतक्षमं गीतियोग्यं अर्थजातं—अर्थसमूह सञ्चिन्त्य विचार्य सुरसुन्दरीणां देवाङ्गनानां विच्छित्तिशेषैः शृङ्गाररचनाविशेषावशिष्टैः वर्णैः—अंगरागादिपीतरक्तादिवर्णकैः कल्पलतांशुकेषु कल्पलतोत्पन्नवसनेषु त्वच्चरितं त्वदीयं परोपकारादिप्रशस्त चरित्र लिखन्ति। दानव—विजयादिपराक्रमकार्यं समुल्लिखन्तीति। उदात्त-परिणामदीपकानुप्रासादयोऽलकाराः। अष्टमी उपजातिः।

राजा—मातलि ! गत दिवस असुरों पर सम्प्रहार करने की उत्सुकता के कारण स्वर्ग पर चढ़ते हुए मैंने स्वर्ग का मार्ग देख न पाया था अर्थात् उस दिन जब मैं स्वर्ग आ रहा था तो असुरों से युद्ध करने के ध्यान में इतना मग्न था कि मैंने स्वग का मार्ग भली भाँति देख न पाया था। अतः अब बतलाइये कि हम लोग इस समय वायु के किस मार्ग में चल रहे हैं।

मातलि—श्लोक ६ अन्वय—यः गगनप्रतिष्ठां त्रिस्रोतसं वहति प्रविभक्त-रश्मिः सन् ज्योतींषि वर्तयति च तस्य परिवहस्य वायोः इमं द्वितीयहरिविक्रमनिस्त-मस्कं मार्गं वदन्ति।

शब्दार्थ—गगनप्रतिष्ठाम् अन्तरिक्षमार्गगामिनी। त्रिस्रोतसं=गंगा को, वहति=धारण करता है। प्रविभक्तरश्मिः=जो कि नक्षत्र मण्डल की किरणों को पृथक् पृथक् रूप से विन्यस्त किये हुऐ हैं। ज्योतींषि=ध्रुवादि नक्षत्रों को। वर्तयति=घुमाता है। द्वितीयेत्यादि=जो कि हरि=वामन भगवान्, विक्रम=पादनिक्षेप—पैर रखना, निस्तमस्कं=पाप रहित अर्थात् जो वायुमार्ग वामन भगवान् के द्वितीय चरण निक्षेप से पाप एवं शोक रहित हो गया है!

अनुवाद :—जो वायु मार्ग आकाश वाहिनी गंगा को धारण करता है, तथा जो नक्षत्र मण्डल के किरण समूह को यथोचित यथा स्थान विभक्त करने वाला (होकर) ध्रुवादि नक्षत्रों को चलाता है। यह उस परिवह नामक वायु का मार्ग कहा जाता है

मातलिः—

त्रिस्रोतसं बहति यो गगनप्रतिष्ठाँ
ज्योतींषि वर्तयति च प्रविभक्तरश्मिः ।
तस्य द्वितीयहरिविक्रमनिस्तमस्कं
वायोरिमं परिवहस्य वदन्ति मार्गम् ॥ ६ ॥

जो कि वामन भगवान् के द्वितीय चरण के निक्षेप से पाप एवं शोक रहित कर दिया गया है ।

व्याख्या :—जो वायु मार्ग आकाश वाहिनी गंगा को धारण करता है अर्थात् जिस मार्ग से गंगा बहती है, तथा जो नक्षत्र मण्डल के किरण समूह को यथोचित यथास्थान विभक्त कर एवं बिन्यस्त कर ध्रुवादि नक्षत्रों को चलाता है अर्थात् जो अपनी वायु धाराओं से ग्रह नक्षत्रों को ठीक-ठीक चलाया करता है यह उस परिवह नामक वायु का मार्ग कहा जाता है जो कि भगवान वामन के द्वितीय चरण निक्षेप से पवित्र कर दिया गया है । अर्थात् यह वही परिवह नामक वायु का मार्ग है जिसे भगवान् वामन ने अपने दूसरे चरण से नाप कर पवित्र कर दिया था और जो कि गंगा का भी प्रवाह मार्ग है तथा जिसमें ग्रहनक्षत्रादि उचित रीति से चला करते हैं ।

विशेष :—राजा के मातलि से पूछने का तात्पर्य यह था कि आवह आदि सात वायु कहे जाते हैं उनमें से हम लोग किस वायु के मार्ग में इस समय चल रहे हैं :—

सप्तवायु—"आवहः प्रवहश्चैव तथैवानुवहः परः
संवहो विवहश्चैव तदूर्ध्वं स्यात् परावहः
तथा परिवहश्चोर्ध्वं वायोर्वै सप्तनेमयः ॥ महाभारत ॥

यह वायु गंगा को धारण करता है :—

विभज्यमानसलिला तैजसेनानिलेन सा
मेरो रन्तः कूटेषु निपपात चतुर्ष्वपि ॥ वायुपुराण ॥

यह वायु नक्षत्रों को धारण करता है :—

सूर्याचन्द्रमसौ तारा नक्षत्राणि ग्रहैः सह
वातानीकमयैर्बन्धैर्ध्रुवे बद्धानि तानि च ॥ वायु पुराण ॥

ज्योतींषि वर्तयति—अर्थात् जिस प्रकार सारथी प्रग्रह को पकड़ कर अपने रथ को चलाता है उसी प्रकार यह ग्रहनक्षत्रादि-समष्टि रूप भचक्र को उनके रश्मि रूप प्रग्रहों को पकड़ कर नियमित दिशा में चलाता है । जैसा कि सूर्य सिद्धान्त में कहा गया है—

राजा—मातले ! अतः खलु सबाह्यकरणो ममान्तरात्मा प्रसीदति । (रथाङ्गमवलोक्य) मेघपदवीमवतीर्णौ स्वः ।

मातलिः—कथमवगम्यते ? ।

राजा—

अयमरविवरेभ्यश्चातकै र्निष्पतद्भि
र्हरिभिरचिरभासां तेजसा चानुलिप्तैः ।
गतमुपरि घनाना वारिगर्भो दराणां
पिशुनयति रथस्ते सीकरक्लिन्ननेमिः ॥ ७ ॥

मातलिः—क्षणादायुष्मान् स्वाधिकारभूमौ वितष्यते ।

अदृश्यरूपाः कालस्य मूर्त्तयो भगणाश्रिताः ।
शीघ्रमन्दोच्चपाताख्या ग्रहाणां गतिहेतवः ॥
तद्वातरश्मिभिर्वद्धास्तैः सव्येतरपाणिभिः ।
प्राक् पश्चादपकृष्यन्ते यथासन्नं खदिङ् मुखम् ।

यहाँ अङ्गभूत महापुरुष के चरित्र वर्णन करने से **उदात्तालंकार है । अनुप्रास । वसन्ततिलका छन्द है ।**

संस्कृत व्याख्या—यः वायुमार्गः गगने प्रतिष्ठा स्थितिर्यस्याः सा ताम् गगनप्रतिष्ठां आकाशचारिणीं त्रिस्रोतसं=मन्दाकिनी बहति-धारयति, प्रकर्षेण विभक्ता रश्मयो येन स प्रविभक्तरश्मिः संविभक्तकिरणः ज्योतींषि ध्रुवादिनक्षत्राणि वर्तयति-परिभ्रमयति, द्वितीयेन हरेः विक्रमेण पादनिक्षेपेण निस्तमस्कं=निर्दोषं—इति द्वितीयहरिविक्रमनिस्तमस्कं=द्वितीयवामनचरणनिक्षेपपवित्रीकृतं परिवहनामकस्य तस्य प्रसिद्धस्य वायोः इमं मार्गं वदन्ति कथयन्ति ।

ब्रह्माण्ड पुराणे सप्तैते वायव :—

आवहः प्रवहश्चैव संवहश्चोद्वहस्तथा
विवहाख्यः परिवहः परावह इति क्रमात्
सप्तैते मारुतस्कन्धा महर्षिभिरुदीरिताः ॥
सप्तर्षिचक्रं स्वगङ्गा षष्ठः परिवहस्तथा ॥

भगवता वामनेन मार्गोऽयं पवित्रीकृतः यथाह भगवान् वादरायणः—
भुवं सनाकं त्रिदशाधिवासं सोमार्कऋक्षैरभिनन्दितं नभः । देवि द्वितीयेन जगाम वेगात् क्रमेण देवप्रियमीप्सुरीश्वरः ॥

राजा—मातलि ! अतएव वाह्य इन्द्रियों के साथ साथ मेरा अन्तरात्मा भी प्रसन्नता का अनुभव करता है (रथ के पहिये को देखकर) हम अब वायु के उस मार्ग पर आ गये हैं जो कि मेघों का मार्ग है ।

वाह्य करण=वाह्य इन्द्रियाँ जो दश होती हैं ५ ज्ञानेन्द्रिय ५ कर्मेन्द्रिय ।

अन्तःकरण तीन होते हैं मन, बुद्धि, अहंकार। शरीर के भीतर रहने के कारण ही अन्तः इन्द्रिय या अन्तःकरण कहे जाते हैं, वेदान्ती मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार यह अन्तःकरण चतुष्टय मानते हैं।"

मातलि—यह आपको कैसे ज्ञात होता है।

राजा—श्लोक ७ अन्वय :—सीकरक्लिन्ननेमिः ते रथः अरविवरेभ्यः निष्पतद्भिः चातकैः अचिरभासां तेजसा अनुलिप्तैः हरिभिः च वारिगर्भोदराणां घनानां उपरि गतं पिशुनयति।

शब्दार्थ—सीकरेत्यादि=जल कणों से आर्द्रनेमि—चक्र का प्रान्त भाग या धुरा अर्थात् जिसका धुरा जल कणों के द्वारा भीग गया है। अरविवरेभ्यः=रथ के पहियों के अरों के बीच के छेदों से। निष्पतद्भिः=निकलते हुए। अचिरभासां =अचिर- क्षणस्थायी भासः=प्रकाश, चमक अर्थात् जिनकी चमक अत्यल्प काल ही ठहरती है अर्थात् विद्युत् बिजलियों के, अनुलिप्तैः=अनुरञ्जित। हरिभिः= अश्वों से। वारिगर्भोदराणाम्=जिनके गर्भोदर=अन्तस्तल मे जल भरा हुआ है। वारि-गर्भ=जल से भरे हुये-जल पूर्ण, उदर=मध्य भाग अर्थात् जिनके मध्य भाग जल पूर्ण हैं। गतं=गमन। पिशुनयति=सूचित करता है।

अनुवाद :—जल कणों से आर्द्र धुरा वाला यह आपका रथ ही, अरों के छिद्रों से निकलते हुये चातकों के द्वारा, बिजलियों की चमक से अनुरञ्जित अश्वों के द्वारा यह सूचित कर रहा है कि हमारा गमन मार्ग जल पूर्ण मेघों के ऊपर है।

व्याख्या—जल-कणों से आर्द्र धुरा वाला यह आपका रथ ही, अरों के छिद्रों के बीच से निकलने वाले चातकों के द्वारा तथा बिजलियों की चमक से अनुरञ्जित (चमकीले हुए) इन घोड़ों के द्वारा, यह सूचित कर रहा है कि हमारा गमन मार्ग जल पूर्ण मेघों के ऊपर से है।

अर्थात् चक्रनेमि के आर्द्र हो जाने से, घोड़ों के बिजली की चमक से चमकीले हो जाने से तथा चातकों के अरों के छिद्रों से निकलकर उड़ने से प्रतीत होता है कि हम लोग अब वायु के उस स्कन्ध में चल रहे हैं जहाँ कि जलपूर्ण मेघ चलते-फिरते हैं।

विशेष—सीकरेत्यादि से भी मेघ मार्ग सूचित होता है, क्योंकि जल कणों से चक्रनेमि का आर्द्र होना तभी सम्भव था जब कि मेघ मार्ग से रथ चल रहा होता।

चातकैः—से भी मेघ मार्ग सूचित होता है। चातक मेघों का ही जल पीते हैं अतएव वे उस समय जलपान के लिए निकले थे परन्तु शीघ्रगामी रथ के सामने आ पड़ने से वे दिग्भ्रान्त हो दूसरे मार्ग से जाने मे अपने को असमर्थ पाकर अपना मार्ग रथ के चक्र के अरों के बीच से ही बना लेते हैं।

अनुलिप्तैः हरिभिः—यह भी मेघ मार्ग का सूचक है क्योंकि विद्युत तो मेघों के साथ ही रहेगी।

राजा—(अधोऽवलोक्य ।) वेगावतरणादाश्चर्यदर्शनः संलक्ष्यते मनुष्यलोकः ।

तथा हि—

शैलानामवरोहतीव शिखरादुन्मज्जतां मेदिनी
पर्णस्वन्तरलीनतां विजहति स्कन्धोदयात्पादपाः ।
संतानैस्तनुभावनष्टसलिला व्यक्तिं भजन्त्यापगाः
केनाप्युत्क्षिपतेव पश्य भुवनं मत्पार्श्वमानीयते ॥ ८ ॥

यहाँ मेघमार्गगमनसूचन के प्रति पूर्वार्धगत दो कारण हैं अतः **समुच्चयालंकार** है तथा मेघपथगमन सूचन के प्रति सीकरक्लिन्ननेमिः यह भी कारण है, अतः पदार्थ हेतुक काव्यलिङ्ग है । मेघ पथ गमन रूप साध्य के लिये कई हेतुओं का उपन्यास है अतः **अनुमानालंकार है छेकानुप्रास वृत्यनुप्रास । मालिनी छन्द है ।**

न न म य य युते यं मालिनी भोगिलोकैः अर्थात् जिस छन्द में क्रमशः न न म य य गण हों तथा अष्टम व सप्तम् वर्णों पर यति हो वह मालिनी छन्द होता है ।

निर्+पत+शतृ+तृतीया बहुवचने निष्पतद्भिः, भास्+धातोः क्विप्=भाः । अनु+लिम्प+क्त अनुलि-प्तैः । गतमित्यत्र भावे क्त ।

पिशुनयतीत्यत्र नामधातुः । क्लिद् धातोः क्त—तस्य नादेशे क्लिन्न : ।

संस्कृत व्याख्या—सीकरैः जलविन्दुभिः क्लिन्ना आर्द्रा नेमिः=चक्र प्रान्तभागो यस्य स सीकरक्लिन्ननेमिः अयं पुरो वर्तमानः—अस्मदधिष्ठितः ते रथः अराणां विवराणि तेभ्यः—अरविवरेभ्यः चक्रावयवारच्छिद्रेभ्यः निष्पतद्भिः=निस्सरद्भिः चातकैः=एतन्नामकैः पक्षिविशेषैः (कृत्वा) अचिरं भासः यासां ताः तासां अचिरभासां विद्युतां तेजसा प्रकाशेन अनुलिप्तैः—अनुरञ्जितैः हरिभिः—रथाश्वैः च (कृत्वा) वारिगर्भाणि जलपूर्णानि उदराणि येषां तेषां वारिगर्भोदराणां घनानां जलपूर्णनां मेघानां उपरि गतं गमनं पिशुनयति=सूचयति ।

आर्द्रचक्रनेमिभिः चातकानां रथचक्रारच्छिद्रेभ्यो निर्गमनेन, विद्युत्प्रकाशेनानुरञ्जितैरश्वैश्च परिज्ञायते यन्मेघसंचरणमार्गेणावां गच्छाव इति भावः । मालिनी वृत्तम् अलंकारदयश्चोक्ता एव ।

मातलि—आयुष्मान् अब क्षण भर में ही अपने राज्य की भूमि पर उतर जायेंगे ।

राजा—(नीचे की ओर देख कर) वेग से उतरने के कारण नीचे का मनुष्य लोक कितना विचित्र सा दिखाई पड़ रहा है । क्योंकि देखो :—

श्लोक ८ अन्वय—मेदिनी उन्मज्जतां शैलानां शिखरात् अवरोहति इव पादपाः स्कन्धोदयात् पर्णस्वन्तरलीनतां विजहति तनुभावनष्टसलिलाः आपगाः संतानैः व्यक्तिं भजन्ति, पश्य उत्क्षिपता केनापि भुवनं मत्पार्श्वं आनीयते इव ।

शब्दार्थ मेदिनी=पृथिवी । उन्मज्जतां=प्रकट होते हुए । अवरोहति

इव=उतर सी रही है, मानो नीचे को जा रही है। स्कन्धोदयात्=शाखाओं के (मूल भागों से शाखा पर्यन्त भागों के) प्रकट होने से। पर्णस्वन्तरलीनतां=पत्तों के अत्यधिक भीतर छिपे रहने को। विजहति=छोड़ रहे हैं। तनुभावनष्टसलिला= तनुभाव=तनुता क्षीणता कमी के कारण जिनका जल पहिले दिखाई नहीं पड़ता था। आपगाः=नदियाँ। सतानैः=विस्तार से। व्यक्ति=प्रकटता को। भजन्ति= प्राप्त कर रही हैं। उत्क्षिपता=ऊपर की ओर उठने वाले। भुवनं=भूलोक।

अनुवाद—पृथिवी प्रकट होते हुये पर्वतों के शिखर से नीचे उतर सी रही है, वृक्ष, शाखाओं के प्रकट हो जाने से पत्तों के अत्यधिक भीतर छिपे रहने को छोड़ रहे हैं, क्षीणता के कारण जिनका जल पहले दिखलाई नहीं पड़ता था (ऐसी) नदियाँ विस्तार से प्रकटता को प्राप्त कर रही हैं, देखो, ऊपर को फेंकने वाले किसी व्यक्ति के द्वारा यह भुवनतल मानो मेरे पास ले आया जा रहा है।

व्याख्या—पृथिवी अब प्रकट होते हुए पर्वतों के शिखर से उतर सी रही है, अर्थात् पहिले वायु मार्ग से चलने के समय, अत्यन्त दूर होने के कारण पर्वतों से पृथिवी की भिन्नता लक्षित नहीं होती थी अर्थात् दूर से देखने के कारण पृथिवी और पर्वत एकाकार दिखाई पड़ते थे परन्तु अब क्रम-क्रम से नीचे आ जाने के कारण समीपता वश पृथिवी और पर्वतों में स्पष्ट भेद लक्षित होने लगा है। पृथ्वी स्वभावतः पर्वतों के नीचे रहती है, पृथिवी पर ही पर्वत दिखाई पड़ते हैं अतः अब ऐसा मालूम होता है कि मानो पृथिवी ऊपर उठते हुए पर्वतों के शिखरों से नीचे उतर रही है अर्थात् अब पर्वत तथा पृथिवी दोनों स्पष्ट दिखलाई पड़ने लगे हैं।

वृक्ष शाखाओं के प्रकट होने से पत्तों के भीतर की अत्यधिक लीनता को छोड़ रहे हैं अर्थात् बड़ी-बडी शाखाओं के स्पष्ट दिखलाई पड़ने लगने के कारण अब ऐसा प्रतीत होता है कि मानो जो वृक्ष अब तक पत्तों के अन्दर छिपे हुए थे वे बाहर निकल आ रहे हैं। तात्पर्य यह कि पहिले तो दूर होने के कारण वृक्ष पत्तों के भीतर छिपे से ज्ञात होते थे अर्थात् पत्तों वृक्षों तथा शाखाओं की एकाकारता सी जान पड़ती थी पर अब कुछ समीप आ जाने से वृक्षों की डालियाँ स्पष्ट दिखाई पड़ने लगी थीं अतएव एसा प्रतीत होता था मानो जो वृक्ष अब तक पत्तों में पूर्ण रूप से छिपे से हुए थे वे अब अपनी अन्तर्लीनता को छोड़ कर बाहर निकल आये हों।

पहिले दूर से पतली दिखाई पड़ने वाली नदियाँ अब चौड़ी होती जा रहीं हैं। तात्पर्य यह कि पहले दूर से देखने के कारण जो नदियाँ चौड़ी तथा जल पूर्ण होते हुए भी पतली, कम जल वाली दिखाई पड़ती थीं अब कुछ समीप आ जाने के कारण वही क्रमशः चौड़ी होती हुई स्पष्ट दिखलाई पड़ने लगी है अर्थात् अब वे क्रमशः विस्तृत होती जा रही हैं।

और यह भूलोक हमारे समीप इस प्रकार उठा चला आ रहा है मानो इसे

कोई ऊपर उठाकर हमारे पास फेंक रहा हो। तात्पर्य यह कि पहले दूर होने के कारण मनुष्य लोक दूर दिखाई पड़ता था पर क्रमशः समीप आते जाने के कारण वह पास ही आता जा रहा है। इतनी शीघ्रता से नीचे की ओर रथ उत्तर रहा था और पृथिवी की ओर बड़े वेग से आ रहा था अतः ऐसा ज्ञात होता था कि मानों पृथिवी को कोई गेंद की भाँति ऊपर उछाल कर हमारे समीप ही भेज रहा हो।

भावार्थ :—जान पड़ता है कि मानो पृथिवी पहाड़ों की ऊँची चोटियों से नीचे उतर रही है, पत्तों से छिपी हुई वृक्षों की शाखायें अब स्पष्ट दिखाई देने लगी हैं। दूर से पतली दिखाई देने वाली नदियाँ अब चौड़ी होती जा रही हैं और यह पृथिवी उसी प्रकार धीरे-धीरे हमारी ओर उठती सी आ रही है जैसे कोई इसे उठाकर हमारे पास फेंक रहा हो अर्थात् अब हम पृथिवी के समीप पहुँच रहे हैं।

यहाँ उन्मज्जन रूप कारण से प्रकटता रूप कार्य लक्षित होता है अतएव यहाँ तद्गत अल्पत्व ध्वनित होता है। क्योंकि जहाँ धर्मी लक्षित होता है वहाँ तद्गत धर्म व्यंग्य होते हैं। क्योंकि प्रयोजन वती लक्षणा का प्रयोजन यह फल ही उसका व्यंग्य होता है जहाँ धर्मी में लक्षणा होती है अर्थात् जहाँ धर्मी लक्षित होता है वहाँ तद्गत धर्म व्यंग्य होते हैं जैसे कि प्रकृत में है। परन्तु जहाँ धर्म ही लक्षित होता है वहाँ पर अन्य धर्मों के अभाव में तद्गत विशेष ही व्यंग्य होता है जैसे विकास से प्रसरण लक्षित होने पर तद्गत अतिशयिता अर्थात् प्रसरणातिशय ही व्यंग्य होता है। शिखरात् में जातिगत एक वचन का प्रयोग है। अर्थात् शिखर जाति अतएव इसका बहुत से शिखर यह अर्थ गृहीत होगा क्योंकि पर्वतानां में बहुवचन होने से शिखरेभ्यः ही होना चाहिए था अतः यहाँ जात्यभिप्राय से एक वचन का प्रयोग है।

अवरोहति इव यहाँ पर इव उत्प्रेक्षा का द्योतक है।

स्कन्धोदयात् में उदय शब्द प्रकटता को लक्षित करता हुआ तद्गत अतिशय को ध्वनित करता है।

पर्णस्वन्तरेत्यादि में स्वन्तर का अर्थ है सु=अतिशय जो अन्तर=मध्य भाग अर्थात् अत्यन्त भीतरी भाग में। लीनता=छिपना अर्थात् पत्तों के अत्यन्त भीतर छिपने के कारण जो तदाकारता को प्राप्त हो गये थे, शाखाओं पत्तों में कोई अन्तर ही लक्षित नहीं होता था, पत्ते पत्ते ही दिखलाई पड़ते थे।

प्रथम व चतुर्थ चरणों में इव शब्द का प्रयोग है अतः वाच्योत्प्रेक्षा है द्वितीय तथा तृतीय में इव का प्रयोग नहीं है अतः प्रतीयमाना क्रियोत्प्रेक्षा है।

चतुर्थ चरणगत वाक्यार्थ के प्रति पूर्व वाक्यत्रयगत वाक्यार्थों का हेतुत्वेन उपन्यास किया गया है अतः काव्यलिंग है। स्वभावोक्ति है। शार्दूलविक्रीडित छन्द है "सूर्याश्वैर्मसजस्ततः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्" अर्थात् जिस छन्द में क्रम से

मातलि :—साधु दृष्टम् (सबहुमानमवलोक्य ।) अहो ! उदाररमणीया-पृथिवी ।

राजा—मातले ! कतमोऽयं पूर्वापरसमुद्रावगाढः कनकरसनिस्यन्दः सांध्य इव मेघपरिघः सानुमानालोक्यते ? ।

मातलि :—आयुष्मन् ! एष खलु हेमकूटो नाम किंपुरुषपर्वतस्तपः संसिद्धिक्षेत्रम् । पश्य,—

स्वायंभवान्मरीचेर्यः प्रबभूव प्रजापतिः ।
सुरासुरगुरुः सोऽत्र सपत्नीकस्तपस्यति ॥ ९ ॥

म० स० ज० स० त० त० तथा एक गुरु हो १२ और ७ पर यति हो वह शार्दूलविक्रीडित छन्द होता है ।

म०	स०	ज०	स०	त०	त०	गु०
ऽऽऽ	।।ऽ	।ऽ।	।।ऽ	ऽऽ।	ऽऽ।	ऽ
शैलाना,	मवरो,	हतीव,	शिखरा,	दुन्मज्ज	तामेदि,	नी

उत्+मस्ज+शतृ षष्ठीबहुवचने उन्मज्जताम् । वि+हा लटि बहुवचने विजहति । नश्+क्त=नष्टः, उत्+क्षिप्+शतृ तृतीयेकवचने उत्क्षिपता ।

संस्कृत व्याख्या—मेदिनी=पृथिवी, उन्मज्जतां=प्रकटीभवतामिव दृश्यमानानां शैलानां—पर्वतानां, शिखरात्=अग्रभागात् अवरोहति अधो यातीव, पूर्वं दूराद् दृश्यमाना पृथिवी पर्वतसंश्लिष्टा लक्षिता सेदानीं सान्निध्यवशात् शैलपृथिव्यो शनैः शनैर्दूरीभावेन ज्ञायत इति भावः । पादपाः=वृक्षाः, स्कन्धानां—उदयः तस्मात् स्कन्धोदयात् प्रकाण्डप्राकट्यात् पर्णानां स्वतिशयेन यदन्तरं मध्यं तत्र लीनतां तदाकारता मित्यर्थः पर्णस्वन्तरलीनतां विजहति परित्यजन्ति—प्रकटीभवन्तीत्यर्थः । पादपाः स्वकीयां पत्रमयतां परित्यज्य प्रकटी भवन्तो लक्ष्यन्त इत्यर्थः । तनुभावेन तनुत्वेन कार्श्येण नष्ट मदृश्यं सलिल मासां ताः तनुभावनष्टसलिला, आपगाः=नद्यः सन्तानैः विस्तारैः व्यक्ति प्रकटतां भजन्ति यान्ति । भुवनं=भूमण्डलं, उत्क्षिपता कन्दुकवदूर्ध्वं नयता केनापि कुतुकिना जनेन मत्पार्श्वं मन्निकटं आनीयते प्राप्यते इवेति त्वं पश्य समवलोकयेति । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तत् । अलंकारादयश्चोक्ता एव ।

मातलि—आपने ठीक देखा । (आदर पूर्वक देखकर) वाह ? पृथिवी कैसी सुन्दर दिखाई पड़ रही है ।

राजा—मातलि ! पूर्व और पश्चिम समुद्र में प्रविष्ट सा, अर्थात् पूर्व तथा पश्चिम समुद्रों तक फैला हुआ, पिघले हुये स्वर्ण की धार जैसा संध्याकालीन मेघों की दीवाल के समान यह कौनसा पर्वत दिखलाई पड़ता है । अर्थात् यह आगे लम्बा चौड़ा, पूर्व पश्चिम समुद्रों तक विस्तीर्ण, स्वर्णद्रव की धार जैसा कौन सा पर्वत

राजा—तेन ह्यनतिक्रमणीयानि श्रेयांसि। प्रदक्षिणीकृत्य भगवन्तं गन्तुमिच्छामि।

दिखाई पड़ता है जो कि सन्ध्याकालीन मेघों की दीवाल जैसा प्रतीत होता है। (सानुमान्=पर्वत, कनकरसनिष्यन्दः=स्वर्णद्रववाही, मेघपरिघः=मेघों की दीवालों से घिरा हुआ सा, सान्ध्यः=संध्याकालीन। अवगाढः=सम्बद्ध।)

मातलि—आयुष्मन्! यह हेमकूट नामक पर्वत है जिस पर किन्नर लोग रहते हैं और जो तप की पूर्ण सिद्धि प्राप्त करने का स्थान है। देखो :—

श्लोक ९ अन्वय—स्वायम्भुवात् मरीचेः यः प्रजापतिः प्रबभूव सुरासुरगुरुः स अत्र सपत्नीकः तपस्यति।

शब्दार्थ—स्वायम्भुवात् मरीचेः=स्वयम्भू=स्वयं उत्पन्न होने वाले अर्थात् ब्रह्मा स्वयम्भू का पुत्र स्वायम्भू अर्थात् ब्रह्मा के मानसिक पुत्र मरीचि नामक देवर्षि से। यः प्रजापतिः प्रबभूव=जो प्रजास्नष्टा कश्यप नाम के महर्षि उत्पन्न हुए। सुरासुरगुरुः=असुर तथा सुरों के पिता (कश्यप की आदति नामक पत्नी से सभी देवताओं की उत्पत्ति हुई है तथा इनकी दिति नामक पत्नी से सभी दैत्यों की उत्पत्ति हुई है अतः कश्यप सुरासुरों के पिता कहे जाते हैं।) सपत्नीक :—अपनी अदिति नामक पत्नी के साथ तपस्यति=तपस्या करते हैं।

अनुवाद—ब्रह्मा के मानस पुत्र मरीचि से जो कश्यप नाम के प्रजापति उत्पन्न हुये थे जो कि सुर और असुरो के जनक रहें, वह यहाँ इस पर्वत पर पत्नी सहित तप कर रहे हैं।

विशेष :—सुरासुरगुरु पद से वे अवश्य नमस्करणीय हैं अतः वहाँ जाना चाहिये यह ध्वनित किया गया है।

सपत्नीक :—पद से तुम्हें भी यहाँ पत्नी योग प्राप्त होगा यह सूचित किया गया है। मरीचि ब्रह्मा के मानस पुत्र हैं इस सम्बन्ध में विष्णु पुराण का वचन है :—

"यदास्य ताः प्रजाः सर्वा नाभ्यवर्धन्तधीमतः।
अथान्यान् मानसान् पुत्रान् सदृशानात्मनोऽसृजत्
भृगुं पुलस्त्यं पुलहं क्रतु मंगिरसं तथा
मरीचिं दक्ष मत्रिञ्च वसिष्ठञ्चैव मानसान् ॥ इति ॥
मरीचेः कश्यपः पुत्रः कश्यपात्तु इमाः प्रजाः
प्रजज्ञिरे महाभागा दक्षकन्याश्चत्तुर्दश। महाभारत।

छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास। पथ्यावक्त्र छन्द है।

युजोश्चतुर्थतोजेन पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम्

अर्थात् अनुष्टुप् नामक अष्टवर्णात्मक छन्द में चतुर्थ वर्ण के अनन्तर यगण

मातलि:—प्रथम: कल्प: ।

(नाट्येनावतीर्णौ ।)

राजा—(सविस्मयम् ।)

उपोढशब्दा न रथाङ्गनेमय:
प्रवर्तमानं न च दृश्यते रज: ।
अभूतलस्पर्शतयानिरुद्धत-
स्तवावतीर्णोऽपि रथो न लक्ष्यते ।। १० ।।

होने से तथा द्वितीय तथा चतुर्थ पाद में भगण तथा एक गुरु होने से वक्त्र नामक छन्द होता है । और यदि इसी छन्द के सम पादों के चतुर्थ वर्ण के बाद जगण हो जाय अर्थात् भगण न हो तो वही पथ्यावक्त्र कहलाता है । इसमें प्रत्येक पाद में अष्टाक्षर ही होते हैं यह अनुष्टुप् का ही एक भेद है अनुष्टुप् में सब चरणों में पाँचवां वर्ण लघु होता है, सम पादों में सप्तम अक्षर लघु होता है तथा सब पादों में षष्ठ अक्षर गुरु होता है अन्य वर्णों के लिए कोई नियम नहीं है । ये सब विषम (जिनके प्रत्येक चरण प्राय: एक दूसरे से भिन्न हों) छन्द कहलाते हैं ।

यगण जगण गु०

S S I S I S S S I I S I I S I S
स्वा य म्भुवा न्म री चे यं:। प्र व भू त प जा प ति: ।

यगण जगण गु०

I S I I I S S I I S S S I S I
सु रा सु र गु रु: सो ऽ त्र । स पत्नी क: त प स्य ति ।

इसके चारों चरणों का पचम सप्तम वर्ण लघु तथा षष्ठ गुरु है विषम पादों में चतुर्थ वर्ण में यगण हैं ।

संस्कृत व्याख्या—स्वयं—आत्मना भवतीति स्वयम्भू:—ब्रह्मा तस्यापत्यमिति स्वायम्भुवस्तस्मात् स्वायम्भुवात् ब्रह्मणो मानसपुत्रादित्यर्थ: मरीचे: एतदाख्याद् देवर्षे य: प्रजापति: प्रजास्त्रष्टा कश्यप इत्यर्थ: प्रवभूव प्रथमं जात: सुराणां असुराणञ्च गुरु: सुरासुरगुरु सुरासुरपिता पत्न्या सह वर्तमान इति सपत्नीक: सन् स अत्र अस्मिन् हेमकूटपर्वते तपस्यति तपस्यां करोति । पथ्यावक्त्रम् ।

राजा—तब तो इस कल्याणकारी आश्रम का परित्याग करना उचित नहीं है, श्रेयस्कर वस्तु का त्याग नहीं करना चाहिये । अत: मैं भगवान् कश्यप की प्रदक्षिणा करके जाना चाहता हूँ अर्थात् पहिले प्रदक्षिणा कर लूँ तब अपने राज्य को जाऊँ ।

अनतिक्रमणीयानि इसमें यह निषेधमुखा उक्ति यह सूचित करती है कि यदि

मातलिः—एतावानेव शतक्रतोरायुष्मतश्च विशेषः ।
राजा—मातले ! कतमस्मिन्प्रदेशे मारीचाश्रमः ।
मातलिः—(हस्तेन दर्शयन् ।)

अतिक्रमण किया जायेगा तो अवश्य प्रत्यवाय होगा। जैसा कि कवि ने रघुवंश में कहा है "प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः"

मातलि—यह तो मुख्य पक्ष है (आपने ठीक सोचा, भगवान् कश्यप की प्रदक्षिणा करने के बाद ही चलना उचित है, यही मुख्य कल्याण साधन है।

दोनों रथ से उतरने का अभिनय करते हुए उतरते हैं।

राजा—(विस्मय पूर्वक)

श्लोक १० अन्वय—अभूतलस्पर्शतया रथाङ्गनेमयः उपोढशब्दा न, रजः प्रवर्तमानं न दृश्यते अनिरुद्धतः तव रथः अवतीर्णः अपि न लक्ष्यते ।

शब्दार्थ—अभूतलस्पर्शतया=आकाश वर्ती होने के कारण जिसका स्पर्श पृथिवी पर नहीं हो रहा है इस कारण से। रथाङ्गनेमयः=रथ के पहियों के प्रान्त भाग। उपोढशब्दाः=शब्दायमानाः शब्दों को धारण करने वाले—ध्वनि करने वाले। रजः=पहियों से उठने वाली धूलि। प्रवर्तमानं=उठती हुई। अनिरुद्धतः=अनिरोध से अर्थात् घोड़ों के बाग (रस्सियां) न खींचने से, पृथिवी पर उतरने पर तो घोड़ों की बाग खींचना आवश्यक था पर यहाँ उसकी आवश्यकता हो न थी। अवतीर्णः=उतरा हुआ भी।

अनुवाद—भूतल का स्पर्श न करने के कारण रथ के पहियों के प्रान्त भाग शब्दायमान नहीं हो रहे हैं (अश्वों की टापों से) उठती हुई धूलि (भी) नहीं दिखाई पड़ती है। अनिरोध से अर्थात् अश्वों की रस्मियों के न खींचने से तुम्हारा उतरा हुआ भी रथ ज्ञात नहीं होता।

व्याख्या—अरे ! यद्यपि आपका रथ-नीचे उतर आया है तथापि यह पता न चला कि यह कब नीचे उतरा क्योंकि भूतल पृष्ठ का स्पर्श न होने के कारण रथ के पहियों के प्रान्त भागों से कोई शब्द नहीं हुआ अर्थात् पहियों की घरघराहट नहीं सुनाई पड़ी, न धूलि ही उड़ती हुई दिखाई पड़ी और न घोड़ों की रास ही तुमने खींची। तात्पर्य यह कि रास न खींचने से, धूलि के न उड़ने से, तथा पहियों की घरघराहट न सुनाई पड़ने से आपका रथ कब नीचे उतर आया यह पता ही न चला।

विशेष—यहाँ रथावतरण रूप कारण के होने पर भी नेमिशब्दादि कार्यों की अनुत्पत्ति है अतः 'सत्यपि कारणे कार्याभावः" **विशेषोक्ति अलंकार** है। अवतरण ज्ञानाभाव के प्रति पूर्व वाक्यार्थ कारण है अतः **काव्यलिंग** है। अवतीर्णोऽपि न लक्ष्यते यह **विरोधाभास** है। **श्रुत्यनुप्रास**। **वंशस्थ छन्द** है। जतौ तु वंशस्थ मुदीरितं

वल्मीकाग्रनिमग्नमूर्तिरुरसा संदष्टसर्पत्वचा
कण्ठे जीर्णलताप्रतानवलयेनात्यर्थसंपीडितः।
असव्यापि शकुन्तनीडनिचितं विभ्रज्जटामण्डलं
यत्र स्थाणुरिवाचलो मुनिरसावभ्यर्कबिम्बं स्थितः ॥११॥

जरा अर्थात् इस छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमशः जगण तगण जगण रगण होते हैं यह १२ वर्णों का सम छन्द है।

संस्कृत व्याख्या—नास्ति भूतले पथिवीपृष्ठे स्पर्शो यस्य तस्य भावस्तया अभूतलस्पर्शतया रथाङ्गनेमयः रथचक्रप्रान्तभागाः उपोढाः धृताः शब्दाः याभिस्ता उपोढशब्दाः कृतघरघरेतिध्वनयो न (अभूतलस्पर्शतयैव) प्रवर्तमानं—उद्गच्छत् रजः=धूलिः न दृश्यते नावलोक्यते (अभूतलस्पर्शतयैव) अनिरुद्धतः=प्रग्रहाणामनिरोधात् तव रथः अवतीर्णः=हेमकूटभूतलमागतोऽपि न लक्ष्यते न विज्ञायते। विशेषोक्तिः काव्यलिङ्गम् अनुप्रासः विरोधाभासः। वंशस्थविलं वृत्तम्।

मातलि—आयुष्मान् (आप) के और इन्द्र के रथ में बस इतना ही तो अन्तर है।

राजा—मातलि! किस प्रदेश में भगवान् कश्यप (मरीच का आश्रम है?

मातलि—(हाथ से संकेत करता हुआ)

श्लोक ११ अन्वयः—वल्मीकाग्रनिमग्नमूर्तिः संदष्टसर्पत्वचा उरसा (उपलक्षितः) कण्ठे जीर्णलताप्रतानवलयेन अत्यर्थसंपीडितः अंसव्यापि शकुन्तनीडनिचितं जटामण्डलं विभ्रत् स्थाणुः इव अचलः यत्र असौ मुनिः अभ्यर्कबिम्बं स्थितः। अस्तीति शेषः।

शब्दार्थ—वल्मीकेत्यादि=वल्मीक=बांबी—चींटियों द्वारा बनाया गया एक प्रकार का मिट्टी का टीला, उसका अग्रभाग निमग्न=डूबी हुई, मूर्ति=शरीर अर्थात् जिसका शरीर वल्मीक के अग्रभाग में समाया हुआ है—जिनके शरीर के चारों ओर मिट्टी का ढेर हो जाने से वह उसी में मानों डूब गये हों अर्थात् मिट्टी के ढेर के किनारे उनका शरीर चारों ओर से आच्छादित था। वल्मीकाग्र से तात्पर्य है कि वह मिट्टी के ढेर के प्रान्त भाग में निमग्न थे, शिर के ऊपर वह ढेर न था, ऊपरी भाग कुछ खुला था शेष अधोभाग ढेर में डूबा हुआ था—स्पष्टतया देखा नहीं जा सकता था। संदष्ट सर्पत्वचा उरसा (उपलक्षितः)=जिनके वृक्षस्थल पर सर्पों की केंचुली पड़ी हुई हैं (संदष्ट=परित्यक्त, सर्वत्वक्=केंचुली, उरसा=वक्षस्थल से। इसके आगे सहित उपलक्षित या युक्त शब्द और जोड़ा जायगा। कण्ठे जीर्णत्यादि=जिनके गले में (बहुत समय तक बैठे रहने के कारण) पुरानी लताओं के तन्तु या रेशे वर्तुलाकार वेष्टन की भाँति चिपटे हुए अत्यन्त कष्ट दे रहे हैं। अंसव्यापि=कन्धों पर फैले हुये। शकुन्तनीडनिचितं=पक्षियों के घोंसलों से भरे हुये (शकुन्त=पक्षी,

नीड़=घोंसला=निचित=व्याप्त परिपूर्ण) जटामण्डलं=जटाओं का समूह। बिभ्रत्=धारण किये हुए। स्थाणुरिवाचलः=पेड़ के ठूँठ के समान निश्चल! अभ्यर्कबिम्बं=सूर्य के बिम्ब की ओर मुँह किये हुए।

अनुवाद—जिनका शरीर वल्मीक (बांबी) के अग्रभाग में समाया हुआ है, जिस पर सर्पों की केंचुली पड़ी हुई है (ऐसे) वक्षः स्थल से (उपलक्षित), कण्ठ में पुरानी लताओं के वर्तुलाकार आवेष्ठित होने से अत्यधिक पीड़ित, और कन्धों पर फैले हुये तथा पक्षियों के घोंसलों से भरे हुये जटासमूह को धारण करते हुये यह मुनि स्थाणु के समान अचल होकर जहाँ सूर्य बिम्ब की ओर मुँह किये हुये स्थित हैं।

व्याख्या—मातलि कहता है कि देखो वह कश्यप का आश्रम है जहाँ कि वे इतनी घोर तपस्या कर रहे हैं कि:—

उनका शरीर वल्मीक के अग्र भाग में निमग्न हो रहा है और वक्षःस्थल सर्पों की केंचुलियों से व्याप्त—भरा हुआ है। उनके गले में सूखी लताओं के रेशे वेष्टन की भाँति लिपटे हुये हैं जिनसे कि वे अधिक पीड़ित हो रहे हैं। वे कन्धों तक फैली हुई जटाओं को धारण किये हुए हैं जो कि पक्षियों के घोंसलों से व्याप्त हैं। इस प्रकार सूखे पेड़ के ठूंठ के समान निश्चल यह मुनि सूर्य के बिम्ब की ओर दृष्टि लगाये बैठे हैं।

विशेष—वल्मीकेत्यादि :—इससे मुनि का सुदीर्घ काल पर्यन्त तप करते रहना सूचित किया गया है। इसीलिये तो बहुत समय तक एक भाव से तथा एकासन से बैठे रहने के कारण पिपीलिकाओं ने उनके शरीर के चारों ओर मिट्टी का ढेर जमा कर दिया था। जिससे कि उनका आधा शरीर ही ढक गया था।

संदष्टेत्यादि :—इससे मुनि का सर्वजन्तुओं पर समान भाव रखना द्योतित किया गया है। इसीलिये तो मुनि के सुदीर्घ काल तक तप करते रहने के कारण सर्पों ने उनके शरीर को मिट्टी का ढ़ेर ही समझकर अपनी केंचुली उनके वक्षःस्थल पर डाल रखी थीं। वक्षःस्थल पर इस लिये, क्योंकि उनके शरीर का अधोभाग तो वल्मीक में निमग्न ही था, वक्षःस्थल से ऊपर का भाग ही खुला था, वल्मीक वक्षःस्थल पर्यन्त ही था। साँप प्रायः वल्मीकों में रहते हैं और वहीं अपनी केंचुली गिराते हैं। उरसा :—उरस् शब्द का तृतीया विभक्ति का रूप है और यह तृतीया उपलक्षणार्थ है अतः अन्वय करते समय उरसा के आगे उपलक्षितः और जोड़ लेना चाहिये। (संदष्ट=निचित-व्याप्त भरा हुआ) तपस्वी मुनियों की दृष्टि में विषैले सर्प भी उसी प्रकार दया पात्र होते हैं जैसे कि अन्य जीव। यही तो तपस्या की पराकाष्ठा है।

जीर्णेत्यादि :—इससे मुनि का अपकारी पर भी उपकारी होना ध्वनित होता है। इसीलिये तो मुनि के गले के आस पास जो लतायें वल्मीक पर उगीं हुई थीं वे

राजा—नमस्ये कष्टतपसे ।

मातलिः—(संयतप्रग्रहं रथं कृत्वा ।) महाराज ! एतावदितिपरिवर्धित-मन्दारवृक्षं प्रजापतेराश्रमं प्रविष्टौ स्वः ।

राजा—स्वर्गादधिकतरं निर्वृत्तिस्थानम् । अमृतह्रदमिवावगाढोऽस्मि

मातलिः—(रथं स्थापयित्वा ।) अवतरत्वायुष्मान् ।

राजा—(अवतीर्य ।) मातले ! भवान्कथमिदानीम् ? ।

जब बहुत दिनों के बाद पक गई तो उनके तन्तु इधर उधर फूट निकले और वे मुनि के कण्ठ में लिपट गये जिससे मुनि का कण्ठ अत्यधिक आबद्ध हो गया, इस प्रकार कण्ठ के फँसे हुए होने से यद्यपि मुनि को कष्ट होता था पर वे फिर भी उन अपकारिणी लताओं को उखाड़ते नहीं अपितु उन्हें उगने देते थे । मुनि जनों की यही तो विशेषता है कि वे अपकारी का भी उपकार करते हैं ।

अंसव्यापि :—इससे मुनि का सुदीर्घ काल तक तपोनिरत रहना तथा महिमा शाली होना सूचित होता है ।

शकुन्तेत्यादि :—इससे यह द्योतित किया है कि मुनि का अपना सब कुछ पर निमित्त ही था, इसीलिये तो उनके निश्चल भाव से तपोनिरत रहने के कारण उनकी जटाओं में पक्षियों ने अपने घोंसले बना रखे थे ।

उपर्युक्त सभी विशेषण स्थाणु के पक्ष मे भी लगा कर इसका अर्थ इस प्रकार किया जाता है । इस पक्ष में स्थाणु भी वल्मीकाग्रनिमग्नकाय तो हो ही सकता है । उरसा का अर्थ इस पक्ष में "मध्य भाग" होगा अर्थात् जो स्थाणु सर्प केंचुली से व्याप्त मध्य भाग वाला था । इसी प्रकार इस पक्ष में कण्ठ का अर्थ उप-कण्ठ समीप है, अंस का अर्थ स्कन्ध वृक्ष स्कन्ध-शाखा तथा जटा का अर्थ प्ररोह लिया जाएगा शेष विशेषण स्वभावतः घटित हो सकते हैं ।

कोई आचार्य स्थाणु का अर्थ शिव लेते हैं इस पक्ष में भी तपोनिष्ठ शिव के साथ सभी विशेषण लगाये जा सकते हैं ।

अभ्यर्कं बिम्बं का अर्थ कोई आचार्य 'पूर्व दिशा की ओर" करते हैं उनके अनुसार अर्कस्य बिम्बं यत्र सा अर्कबिम्बा अर्थात् पूर्व दिशा तां अभिलक्ष्यी कृत्य इत्यर्थे अव्ययीभावसमासे अभ्यर्कबिम्बं = पूर्व दिशा की ओर ।

यहां बहुत से साभिप्राय विशेषण हैं अतः **परिकरालंकार** है । श्लेषोपमा । **अनुप्रास । शार्दूल विक्रीडित छन्द ।**

सम् + दंश् + क्त = संदष्टम्, जॄ + क्त तस्य नादेशे ॠकारस्य ईर् कृते जीर्णं, नि + चित् + क्त = निचितम्, वि + भृ + शतृ = विभ्रत् ।

संस्कृत व्याख्या—वल्मीकस्य अग्रे निमग्ना मूर्तिर्यस्यासौ वल्मीकाग्रनिमग्न-मूर्तिः = वामलूरमृत्कूटप्रान्तभागनिविष्टशरीरः "वामलूरश्च नाकुलश्च वल्मीकं पुन-

मातलिः—संयन्त्रितो मया रथः वयमप्यवतरामः। (तथा कृत्वा।) आयुष्मन्!। (परिक्रम्य।) दृश्यन्तामत्रभवतामृषीणां तपोवनभूमयः।

राजा—ननु विस्मयादवलोकयामि।

प्राणानामनिलेन वृत्तिरुचिता सत्कल्पवृक्षे वने
तोये काञ्चनपद्मरेणुकपिशे धर्माभिषेकक्रिया।
ध्यानं रत्नशिलातलेषु विबुधस्त्रीसंनिधौ संयमो।
यत्काङ्क्षन्ति तपोभिरन्यमुनयस्तस्मिंस्तपस्यन्त्यमी ॥१२॥

पुंसकम्" इत्यमरः 'संदष्टा निचितः सर्पाणां त्वचो यत्र तेन संदष्टसर्पत्वचा निचितसर्पनिर्मोकेन—उरसा वक्षःस्थलेनोपलक्षितः कण्ठे कण्ठस्थले जीर्णानां परिणतानां लतानां वल्लीनां प्रतानः कुटिलतन्तुः स एव वलयं वेष्टनं तेन जीर्णलताप्रतानवलयेन अत्यर्थं पीडितः=अतिशयेन क्लेशं प्रापितः। असंव्यापि स्कन्धपर्यन्तव्यापकं शकुन्तानां पक्षिणां नीडैः कुलायैः निचितं व्याप्तं, शकुन्तनीडनिचितं जटामण्डलं जटासमूहं बिभ्रत् धारयन् स्थाणुः शुष्कवृक्षकाष्ठ इव अचलो—निश्चलः असौ मुनिः महर्षिः कश्यपः अभ्रर्कबिम्बं सूर्यबिम्बं लक्ष्यीकृत्य यत्र यस्मिन् प्रदेशे स्थितः तिष्ठति स मारीचाश्रमोऽस्ति।

परिकरश्लेषोपमानुप्रासाः, शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्।

राजा—ऐसे घोर तप करने वाले महात्मा को प्रणाम करता हूँ।

मातलि—(रास खींचकर और रोक कर) महाराज! हम लोग प्रजापति कश्यप के आश्रम में पहुँच गये जहाँ पर मन्दार के वृक्षों को अदिति ने स्वयं देवी ने अपने हाथों मे जल सेचनादि कर बढ़ाया है।

राजा—यह तो स्वर्ग से भी बढ़ कर शान्तिप्रद स्थान है। जान पड़ता है कि मैं अमृत कुण्ड के भीतर प्रविष्ट हो गया हूँ।

इससे यह सूचित किया गया है कि यहाँ पर पुत्र एवं पत्नी से मिल कर राजा को परम शान्ति प्राप्त होगी।

मातलि—(रथ रोक कर) उतरें आयुष्मान्।

राजा—(उतर कर) मातलि! अब आप क्या करेंगे।

मातलि—मैंने भली भाँति रथ रोक लिया है। मैं भी आपके साथ ही उतर रहा हूँ (उतर कर) इधर से आइये आयुष्मान्। (घूम कर) पूज्य ऋषियों की तपोभूमि देखिये।

राजा—सचमुच मैं बड़े विस्मय से देख रहा हूँ अर्थात् इसे देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है—

श्लोक १२ अन्वय—सत्कल्पवृक्षे वने उचिता प्राणानां वृत्तिः अनिलेन, काञ्चनपद्मरेणुकपिशे तोये धर्माभिषेकक्रिया, रत्नशिलातलेषु ध्यानं विबुधस्त्रीसन्निधौ संयमः, अन्यमुनयः तपोभिः यत् काङ्क्षन्ति अमी तस्मिन् तपस्यन्ति।

शब्दार्थ—सत्कल्पवृक्षे वने=जिसमें अभीष्ट फलदायक कल्पवृक्ष विद्यमान हैं ऐसे वन में। उचिता=अवश्य कर्तव्य। प्राणानां वृत्तिः=प्राणों की स्थिति। अनिलेन=वायु के द्वारा अर्थात् केवल वायुभक्षणमात्र से न कि कल्पवृक्ष द्वारा दी गई मनोवाञ्छितभक्ष्य वस्तुओं से। काञ्चनेत्यादि=स्वर्णकमलों के पराग से पिङ्गल (पीत) वर्ण वाले, धर्मेत्यादि=धर्मस्नान की क्रियायें अर्थात् नियम स्थान कर्म सम्पादन करते हैं न कि विहारादि करते हैं। विबुधस्त्रीसन्निधौ=अप्सराओं के समीप में। संयमः=इन्द्रिय निग्रह।

अनुवाद—विद्यमान कल्पवृक्षों वाले वन-आश्रम में प्राणों की अवश्यकरणीय वृत्ति (जीवन धारणो पाप) वायु के द्वारा (सम्पादित की जाती है), स्वर्ण कमलों से पीतवर्ण वाले जल में धर्म नियम स्नान की क्रियायें (की जाती हैं) रत्नों की शिलाओं पर ध्यान तथा सुराङ्गनाओं के समीप इन्द्रिय निग्रह (किया जाता है) तपस्याओं के द्वारा अन्य मुनिजन जिस स्थान या पदार्थ की अभिलाषा करते हैं उसमें ये मुनिजन तप करते हैं।

व्याख्या—जहाँ सर्वमनोरथ पूर्ण करने वाले कल्पवृक्ष हैं ऐसे वन में ये ऋषिजन अवश्यकरणीय अपने प्राणों की स्थिति वायु से सम्पादित करते हैं अर्थात् केवल वायु भक्षण कर न कि विद्यमान कल्पवृक्ष से मनोवांछित नानाविध चर्व्य, चेष्य, लेह्य, पेयादि द्रव्यों को प्राप्त कर जीवन बिताते हैं। स्वर्ण कमलों से (सुवासित तथा) पराग से पीतवर्ण के जल में तपोनियम साधन के लिये स्थान करते हैं अर्थात् यद्यपि यहाँ का जल स्वर्णकमलों के पराग से पिङ्गल वर्ण का तथा सुवासित रहता है तथापि ये ऋषिजन उसमें धार्मिक कृत्यों के ही सम्पादनार्थ स्थान करते हैं न कि जलविहारादि करते हैं। रत्नों की शिलाओं पर (बैठ कर) ध्यान लगाते हैं न कि उन पर सुन्दरियों के साथ शयन करते हैं। तथा सुराङ्गनाओं के समीप इन्द्रिय निग्रह रखते हैं न कि इन्द्रिय चरितार्थता। अतः यहाँ यह देख कर मुझे बड़ा विस्मय होता है कि यहाँ ये तपस्वी लोग उस आश्रम में बैठ कर तपस्या कर रहे हैं जिसे पाने के लिए अन्य मुनिजन तपस्या करते हैं।

विशेष—प्राणानामित्यादि—से मुनिजनों को निर्लिप्तता तथा निरीहता सूचित की गई है क्योंकि वे इस आश्रम में विद्यमान मनोवाञ्छित नानाविध पदार्थों के देने में समर्थ भी कल्पवृक्ष से कुछ न लेकर केवल वायुभक्षण कर जीवन-धारण करते हैं। क्योंकि तप के लिए जीवन स्थिति अवश्यकरणीय है।

तोये काञ्चनेत्यादिः—से तात्पर्य है कि स्वर्ण कमलों से सुवासित जल में सुर सुन्दरियों के साथ विहार न करके उसमें अपने धार्मिक कृत्यों को पूरा करने के लिए स्नान करते हैं, इससे मुनिजनों की निःस्पृहता सूचित होती है।

ध्यानतिमयादिः—से मुनिजनों की जितेन्द्रियता तथा निःसङ्गता सूचित होती है, वे रत्नों की शिलाओं पर बैठकर योग, समाधि, ध्यानादि करते हैं न कि सुर सुन्दरियों के साथ शयनादि करते हैं क्योंकि वे शुराङ्गनाओं के समीप रहते हुए भी जितेन्द्रिय रहते हैं।

यहाँ के मुनिजनों के ये सब कार्य बड़े ही विस्मयकारी हैं, क्योंकि जिन उपभोग की वस्तुओं को प्राप्त करने के लिये अन्य मुनिजन तपस्या करते हैं ये लोग उन्हीं सब वस्तुओं के बीच रह कर भी तप करते हैं।

यहाँ कल्पवृक्षादि कारणों के रहने पर भी उनसे तदनूकूल कार्यों की उत्पत्ति नहीं होती प्रत्युत तद्विरुद्ध अनिलादि से प्राणवृत्तित्वादि का कथन किया गया है अतः **उक्तनिमित्ता माला विशेषोक्ति** है, इससे यहाँ के निवासी तपस्वियों का धैर्यातिशय व्यञ्जित होता है। **अतः अलङ्कार से वस्तु-ध्वनि है।** चतुर्थचरणगत वाक्यार्थ के प्रति पूर्वचरणत्रय गत वाक्यार्थों का हेतुत्वेन उपन्यास किया गया है अतः **वाक्यार्थ-हेतुक काव्यलिङ्ग** है। अन्य मुनियों की अपेक्षा यहाँ अत्रत्य मुनियों का आधिक्य प्रदर्शित किया गया है अतएव **व्यतिरेक अलङ्कार** है। तपोतप इति न्यनयेति स्तस्तेति छेक, श्रुति, वृत्ति, अनुप्रास, हेतु, अलंकार व्यङ्ग्य है। राजगत विस्मय से उपस्कृत मुन्यावलम्बना रति भाव है। **शार्दूलविक्रीडित छन्द** है। **"सूर्याश्वैर्मसजस्ततः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्"**।

अस् धातोः शतृ प्रत्यये सत्। अभि + सिच् + घञ्=अभिषेकः। सम् + नि + धा + कि=सन्निधिः।

संस्कृत व्याख्या—सन्तः=विद्यमानाः कल्पवृक्षाः सर्वाभीष्टभोगप्रदाः कल्पपादपाः यत्र तस्मिन् सत्कल्पवृक्षे वने—आश्रमे प्राणानां उचिता=अवश्यकरणीया वृत्तिः=प्राणाधारणक्रिया—जीवनोपाय इत्यर्थः अनिलेन वायुना वायुभक्षणमात्रेणेत्यर्थः न तु कल्पवृक्षप्रदत्तभोज्यपेयादिभिः, काञ्चनानां पद्मानां रेणुभिः कपिशं तस्मिन् काञ्चनपद्मरेणुकपिशे=स्वर्णकमलपरागपिंगलवर्णे तोये जले धर्मार्थं—अभिषेकक्रिया=स्नान विधिरिति धर्माभिकेकक्रिया—धर्मकृत्य सम्पादनार्थमेव—स्नानादिकं न तु जलक्रीड़ा कामोपभोगार्थम्! रत्नशिलानां तलेषु—रत्नशिलातलेषु =रत्नशिलाफलकेषु ध्यानं-कुर्वन्ति न तु तेषु देवाङ्नाभिः सह विहारं कुर्वन्ति। विबुधानां स्त्रीणां सन्निधिः तस्मिन् विबुधस्त्रीसन्निधौ देवांगनासमीपेऽपि संयमः इन्द्रिय-निग्रहः न तु सम्भोग इन्द्रियचरितार्थता। अन्ये मुनयः—तपस्विनः, तपोभिः—कृततपस्याफलतया यत्-स्थानं काङ्क्षन्ति—अभिलषन्ति, अप्सरोभिः सह विहाराद्यर्थं यादृशं स्थानमिच्छन्ति तस्मिन् स्थाने अमी एते मुनयः तपस्यन्ति=तपस्यामाचरन्ति। उक्ता अलंकारादयः, शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्।

मातलिः—उत्सर्पिणी खलु महतां प्रार्थना (परिक्रम्य आकाशे ।) अये वृद्धशाकल्य ! किमनुतिष्ठति भगवान्मारीचः ? । किंब्रवीषि ? । दाक्षायण्या प्रतिव्रताधर्ममधिकृत्य पृष्टस्तस्यै महर्षिपत्निसहितायै कथयतीति ।

राजा—(कर्णं दत्त्वा) अये ! प्रतिपाल्यावसरः खलु प्रस्तावः ।

मातलिः—(राजानमवलोक्य ।) अस्मिन्नशोकवृक्षमूले तावदास्तामायुष्मान् , यावत्त्वामिन्द्रगुरवे निवेदयितुमन्तरान्वेषी भवामि ।

राजा—यथा भवान्मन्यते । (इति स्थितः) ।

मातलिः—आयुष्मन् ! साधयाम्यहम् । (इति निष्क्रान्तः ।)

मातलि—महात्माओं की तपश्चर्या तो क्रमशः ऊर्ध्वगामिनी हुआ करती है। तात्पर्य यह है कि उदाराशय महापुरुष यत्किञ्चित् लाभ से ही सन्तुष्ट होकर नहीं बैठे रहते प्रत्युत वे उत्तरोत्तर उन्नति करते जाते हैं अर्थात् अपनी तपश्चर्या से ऊँचे से ऊँचे ब्रह्मलोकादि पद प्राप्त्यर्थ प्रयत्न करते रहते हैं अतः अत्रत्यमुनिजन सम्भवतः ब्रह्मलोक की प्राप्ति के लिए तप करते हैं । (घूमकर आकाश की ओर देखकर) कहिए वृद्ध शाकल्य जी ! इस समय भगवान् कश्यप क्या कर रहे हैं । क्या कहा ? कि दाक्षायणी (दक्षपुत्री अदिति) ने जो पातिव्रत धर्म के सम्बन्ध में प्रश्न किया था उसका उत्तर वे अन्य महर्षि पत्नियों के साथ बैठी हुई उन्हें दे रहे हैं। अर्थात् अन्य महर्षि पत्नियों के साथ दाक्षायणी को पातिव्रत धर्म सुना रहे हैं ।

राजा—(कान लगाकर) अरे तब तो यह (पातिव्रत धर्मोपदेश का) प्रसंग है जिसकी (समाप्ति तक) अवसर की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी अर्थात् जब तक यह प्रसंग समाप्त न हो जाय प्रतीक्षा करनी होगी ।

मातलि—(राजा की ओर देखकर) तबतक आयुष्मान् (आप) इस अशोक वृक्ष के नीचे बैठें, जब तक कि मैं इन्द्र के पिता (भगवान् कश्यप) को आपके आगमन की सूचना देने के लिए कोई अवसर निकालूँ (अन्तर=मध्यस्थ, अवसर)

अशोक वृक्ष कथन से यह ध्वनित किया है कि अशोक वृक्ष के नीचे छाया में बैठने से आपका भी शोक दूर होगा अर्थात् पुत्र व पत्नी पाकर आप भी प्रसन्न होंगे ।

राजा—जैसा आप उचित समझें । (यह कहकर बैठ जाता है)

मातलि—अच्छा तो आयुष्मन् ! मैं जाता हूँ (चला जाता है)

राजा—(निमित्तं सूचयित्वा ।)

मनोरथाय नाशंसे किं वाहो ! स्पन्दसे वृथा ? ।
पूर्वावधीरितं श्रेयो दुःखं हि परिवर्तते ॥ १३ ॥

(नेपथ्ये ।)

मा खु चापलं करेहि । कहं गदो जेब अत्तणो पकिदिं? । [मा खलु चापलं कुरु । कथं गत एवात्मनः प्राकृतिम् ? ।]

राजा—(कर्णं दत्त्वा ।) अभूमिरियमविनयस्य । को नु खल्वेष निषिध्यते । (शब्दानुसारेणावलोक्य । सविस्मयम् ।) अये, को नु खल्वयमनुबध्यमानस्तपस्विनीभ्यामबालसत्त्वो बालः ?

राजा—(अच्छा शकुन सूचित कर)

श्लोक १३ अन्वय—हे वाहो ! मनोरथाय न आशंसे किं वृथा स्पन्दसे । हि पूर्वावधीरितं श्रेयः दुःखं परिवर्तते ।

शब्दार्थ—वाहो = दक्षिण भुजा । मनोरथायेत्यादि = मेरे मनोरथ का विषय जो शकुन्तला समागम है उसके लिए तो । न आशंसे—मैं आशा ही नहीं करता अर्थात् मेरी इच्छा का प्रधान विषय जो शकुन्तला प्राप्ति है उसके लिए तो अब मैं आशा ही नहीं करता क्योंकि उसकी प्राप्ति को तो मैं सर्वथा असम्भव समझ चुका हूं इस प्रकार जब कि उसे असम्भव समझ कर मैं आशा ही नहीं रखता तो उसकी प्राप्ति की बात तो दूर ही है फिर हे दक्षिण वाहु ! क्यों तुम व्यर्थ फड़क रहे हो । (पुरुषों की दक्षिण भुजा का फड़कना प्रिय मिलन का सूचक शुभ शकुन माना गया है जैसा प्रथम भी तपोवन में कवि ने दिखाया था उस बार भी राजा की दक्षिण भुजा का फड़कना दिखाकर उसका शकुन्तला से मिलन कराया था और इस बार भी भावी मिलन की सूचना दक्षिण वाहु का फड़कना दिखा कर दी जा रही है) कि वृथा स्पन्दसे = अर्थात् जब कि मेरे लिए शकुन्तला समागम सर्वथा असम्भव है तो तुम्हारा फड़कना सर्वथा व्यर्थ है । पूर्वेत्यादि—पूर्वावधीरितं = पहिले जिसका तिरस्कार कर दिया गया है ऐसा श्रेयः = कल्याण । दुःखं हि परिवर्तते दुःख में परिणत होता है अर्थात कल्याणकारी वस्तु का परित्याग अन्त में दुःख का कारण बनता है, प्रकृत में राजा का तात्पर्य यह है कि मैंने पहिले जो कुल प्रतिष्ठाभूत शकुन्तला का अपमान किया था उसके परिणामस्वरूप तो दुःख ही मिलना चाहिए न कि सुख अतः दक्षिण वाहु का फड़कना मेरे लिए व्यर्थ है ।

अनुवाद—अपने (शकुन्तला समागम रूप) मनोरथ के लिए तो मैं आशा ही नहीं करता, तो फिर हे वाहु ! तुम व्यर्थ क्यों फड़क रहे हो, क्योंकि पहिले जिसका तिरस्कार कर दिया गया है (ऐसा) कल्याण अथवा कल्याणकर वस्तु, दुःख में परिणत होता है ।

अर्धपीतस्तनं मातुरामर्दक्लिष्टकेसरम् ।
प्रक्रीडितुं सिंहशिशुं बलात्कारेण कर्षति ॥ १४ ॥

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टकर्मा तपस्विनीभ्यां बालः ।)

बालः—जिभ सिंघ ! दंताइं दे गणइस्सं [जृम्भस्व सिंह ! दन्तांस्ते गणयिष्ये ।]

व्याख्या—अपने मनोरथ के लिए तो मैं आशा करता ही नहीं हूँ तो फिर हे बाहु ! तुम क्यों व्यर्थ फड़क रहे हो । क्योंकि जो व्यक्ति पहिले कल्याणकारिणी वस्तु का तिरस्कार कर देता है उसे अन्त में दुःख ही मिलता है, मंगलत्याग का परिणाम दुःख ही होता है ।

विशेष—पूर्वार्ध में "मनोरथाय" प्रयोग से शकुन्तला रूप विषय के निगरण से अतिशयोक्ति है तथा उत्तरार्ध में सामान्य से विशेष समर्थन रूप **अर्थान्तरन्यास** है । **वृत्यनुप्रास । पथ्यावक्त्र छन्द है ।**

संस्कृत व्याख्या—वाहो = हे दक्षिणभुज ! मनोरथाय = मदिच्छाविषयीभूताय शकुन्तलासमागमायेत्यर्थः न आशंसे = प्रार्थये । वृथा = मुधा किम् स्पन्दसे = स्फुरसि । हि = यतः पूर्वावधीरितं = प्रथम तिरस्कृतं श्रेयः—कल्याणं दुःखं सत् परिवर्तते = दुःख रूपेण परिणामं प्राप्नोति । पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ।

(नेपथ्य में)

चञ्चलता (नटखट पन) न कर, फिर तू अपने ही स्वभाव पर उतर आया ।

राजा (कान लगाकर) यह स्थान तो अविनय चंचलता, (नटखट पन) का स्थान नहीं है (क्योंकि यह तो तपोभूमि है) तो फिर यहाँ कौन किसके द्वारा रोका जा रहा है ? (जिधर से शब्द आ रहा था उधर देखकर, विस्मय पूर्वक) अरे ! यह कौन बालोचित स्वभाव विरुद्ध शक्ति सम्पन्न बालक है जिसके पीछे-पीछे दो तपस्विनियाँ चली आ रही हैं (अनुबध्यमानः = अनुगम्यमान)

श्लोक १४ अन्वय—मातुः अर्धपीतस्तनं आमर्दक्लिष्टकेसरं सिंहशिशुं प्रक्रीडितुं बलात्कारेण कर्षति ।

शब्दार्थ – मातुः अर्धपीतस्तनं = जिसने माता का अभी आधा ही स्तन (थन) पी पाया है । आमर्दत्यादि = खींचने के आवेग से जिसके स्कन्ध के बाल इधर उधर फैल गये हैं, प्रक्रीडितुं = मनोविनोद के लिए ।

अनुवाद—जिसने माता का अभी आधा ही स्तन (थन) पी पाया है, खींचने के कारण जिसके स्कन्ध के बाल इधर उधर बिखर गये हैं (ऐसे) सिंह के बच्चे को (अपने साथ) खेलने के लिये, बलात्कार पूर्वक खींच रहा है ।

व्याख्या—राजा विस्मय के साथ कहता है कि यह कौन पराक्रमी बालक है :—जो कि अपने साथ खेलने के लिए सिंह के उस बच्चे को बलात्कार पूर्वक (उसकी इच्छा के न होते हुए भी) घसीट रहा है, जिसने कि अभी अपनी माता

प्रथमा—अविणीद ! किं णो अपच्चणिव्वसेसाणि सत्ताणि विप्प-अरेसि ?। हंत, वड्ढइ दे संरंभो। ठाणे खु इसिजणेण सव्वदमणो त्ति किदणामहेओ सि।

[अवनीत किं नोऽपत्यनिविशेषाणि सत्त्वानि विप्रकरोषि ?। हन्त, वर्धते तव संरम्भः। स्थाने खलु ऋषिजनेन सर्वदमन इति कृतनामधेयोऽसि।

राजा—किं नु खलु बालेऽस्मिन्नौरस इव पुत्रे स्निह्यति मे मनः ?। नूनमनपत्यता मां वत्सलयति।

द्वितीया—एसा खु केसरिणी तुमं लंघेदि जइ से पुत्तअं ण मुंचेसि।
[एषा खलु केसरिणी त्वां लङ्घयिष्यति यदि तस्याः पुत्रकं न मुञ्चसि।]

सिंहनी के स्तन से आधा ही दूध पी पाया है तथा खींचने से जिसके स्कन्ध-बाल तितर बितर हो गये हैं।

विशेष—अर्धपीतस्तनमित्यादि :—पहिले तो बालक किसी दूसरे को खींच ही नहीं सकता, फिर भी सिंह के बच्चे का खींचना, फिर भी दूसरे से खींचना, फिर भी माता की गोदी से खींचना. फिर भी, स्तन्यपान करते हुए बच्चे को खींचना, फिर भी दूर से खींचना, फिर भी डण्डे आदि से नहीं प्रत्युत बाल पकड़ कर खींचना, फिर भी मनोविनोद के लिए खींचना, फिर भी खींचकर भाग न जाना प्रत्युत, खींचते ही रहना आदि से बालक का उत्कर्षाधिक्य ध्वनित होता है।

स्वभावोक्ति, उदात्तालङ्कार, पथ्यावक्त्र छन्द है।

संस्कृत व्याख्या—मातुः स्वमातुः केशरिण्याः अर्धं यथा स्यात्तथा पीतः स्तनः येन तम् अर्धपीतस्तनं=अर्धपीतस्तनविनःसृतदुग्धं, आमर्दन=आकर्षणजनितावेगेन क्लिष्टाः=इतस्ततो विक्षिप्ताः केशराः स्कन्धवाला यस्य तं—इति—आमर्दक्लिष्टकेशरम् सिंहस्य शिशुमिति सिंहशिशुं=सिंहशावकं प्रक्रीडितुं—क्रीडां कर्तुं, मनोविनोदार्थमिति यावत् बलात्कारेण बलपूर्वकं कर्षति=आकर्षति। पथ्यावक्त्रं वृत्तम्।

(ऊपर कही हुई बातों को करते हुए बालक का तपस्विनियों के साथ प्रवेश)

बाल—रे सिंह ! अपना मुँह खोल ! मैं तेरे दांत गिनूंगा।

प्रथमा—ओ नटखट ! हमारी सन्तान के समान (पले हुए) पशुओं को तू क्यों तंग कर रहा है ? ओह ! तेरा क्रोध तो बढ़ता ही जा रहा है। ऋषियों ने जो तेरा नाम सर्वदमन रखा है वह ठीक ही किया है।

बालक एवं शिक्षित तथा उच्चवंशोत्पन्न भी स्त्री जाति को प्राकृत ही का प्रयोग करना चाहिए, इस सम्बन्ध में साहित्य दर्पण कार ने कहा है—

बालः—(सस्मितम्) अम्हहे, बलिअं खु भीदो म्हि । [अहो, बलीयः, खलु भीतोऽस्मि ।] (इत्यधरं दर्शयति)

राजा—

महतस्तेजसो बीजं बालोऽयं प्रतिभाति मे ।
स्फुलिङ्गावस्थया वह्निरेधापेक्ष इव स्थितः ।। १५ ।।

प्रथमा—वच्छ ! एवं बालमिइंदअं मुंच । अवरं दे कीलणअं दाइस्सं । [वत्स ! एनं बालमृगेन्द्रं मुञ्च । अपरं ते क्रीडनकं दास्यामि ।]

बाल—कहिं ! । देहि णं [कुत्र ? देहि तत् ।] (इति हस्तं प्रसारयति ।

राजा—(बालस्य हस्तमवलोक्य) कथं चक्रवर्तिलक्षणमप्यनेन धार्यते !। तथा ह्यस्य,—

बालानां षण्ढकानाञ्च नीचग्रह विचारिणाम्
उत्तमानामातुराणां सैव स्यात् (सैव=शौरसेनी प्राकृत)
शौरसेनी प्रयोक्तव्या तादृशीनाञ्च योषिताम् ।।

राजा—मेरा हृदय इस बालक पर औरस (निजो—आत्मज) पुत्र के समान क्यों स्नेह कर रहा है ? अवश्य ही सन्तान का अभाव मेरे द्वारा ऐसा प्रेम करा रहा है । अर्थात् ऐसा जान पड़ता है कि पुत्र न होने के कारण ही मेरे मन में इसके प्रति यह वात्सल्य प्रेम उमड़ आया है ।

औरसः—परिणीत सवर्ण भार्या में स्वयं उत्पादित सन्तान औरस कहलाती है :—

स्वक्षेत्रे संस्कृतायान्तु स्वयमुत्पादयेद्धि यम्
तमौरसं विजानीयात् पुत्रं प्रथमकल्पिकम् ।। मनुः ।।

द्वितीया—यह सिंहनी तेरे ऊपर झपट पड़ेगी यदि तू उसके बच्चे को न छोड़ेगा ।

बाल—(मुस्कराते हुये) अरे तब तो मैं बड़ा डर गया हूँ ? (ओंठ दिखाता है) (तात्पर्य यह है कि मैं इस सिंहनी से बिलकुल नहीं डरता । अतएव वह तपस्विनी को ओंठ दिखाकर या मुँह बनाकर चिढ़ाना चाहता है ।)

राजा—श्लोक १५ अन्वय—एधापेक्षः स्फुलिङ्गावस्थया स्थितः वह्निः इव अयं बालः महतः तेजसः बीजं मे प्रतिभाति ।

शब्दार्थ—एधापेक्षः=एधः=ईंधन—काष्ठ, अपेक्षः=अपेक्षा रखने वाला। स्फुलिङ्गावस्थया स्थितः=कण मात्र रूप से स्थित—चिनगारी के रूप में वर्तमान। महतः तेजसः बीजं=बहुत बड़े प्रभाव का मूल । प्रतिभाति=ज्ञात होता है ।

ङ्कः

प्रलोभ्यवस्तुप्रणयप्रसारितो
विभाति जालग्रथिताङ्गुलिः करः।
अलक्ष्यपत्रान्तरमिद्धरागया
नवोषसा भिन्नमिवैकपङ्कजम् ॥ १६ ॥

अनुवाद—ईंधन अर्थात् काष्ठ की अपेक्षा रखने वाली (एवं) चिनगारी रूप स्थित अग्नि के समान यह बालक मुझे बहुत बड़े तेज का मूल ज्ञात होता है।

व्याख्या—ईंधन काष्ठ की अपेक्षा रखने वाली, चिनगारी के रूप में वर्तमान ग्नि के समान यह बालक मुझे बहुत बड़े प्रभाव का मूल ज्ञात होता है। तात्पर्य है कि यह बालक बड़ा तेजस्वी होगा। ऐसा ज्ञात होता है कि इस समय यह चिनगारी के रूप में रहने वाली अग्नि के समान है जोकि प्रज्ज्वलित हो उठने लिये ईंधन प्राप्त करने की अपेक्षा रखती हो। जिस प्रकार ईंधन की अपेक्षा रखने वाली अग्नि महादीप्ति का कारण होती है उसी प्रकार शिक्षा की अपेक्षा रखने वाला यह बालक महा प्रभाव का कारण होगा अर्थात् महा प्रभावशाली होगा।

सारांश यह है कि कण रूप में स्थित अग्नि जिस प्रकार ईंधन पाकर प्रज्ज्वलित हो उठती है उसी प्रकार यह बालक भी धनुर्वेदादि की शिक्षा प्राप्त कर एक महा प्रभावशाली तथा शक्ति समन्वित बालक होगा।

विशेष—बीजम् इस प्रतीक को लेकर कोई इसका अर्थ इस प्रकार भी करते हैं कि जैसे एक बीज काल क्रमानुसार बढ़ता हुआ एक वृक्ष बन जाता है उसी प्रकार यह भी किसी दिन बड़ा तेजस्वी होगा। अथवा महतः तेजसो बीजम् का अर्थ है किसी बड़े तेजस्वी पुरुष का पुत्र प्रतीत होता है।

उपमा, अनुप्रास, पथ्यावक्त्र छन्द है।

संस्कृत व्याख्या—एधः काष्ठं अपेक्षते—इति एधापेक्षः स्फुलिङ्गावस्थया = अग्निकणरूपेण स्थितः अग्निः—वन्हिरिव अयं पुरोवर्ती बालः मे महतः तेजसः = महाप्रभावस्य बीजं कारणं प्रतिभाति। यथा वह्निस्फुलिङ्गोऽणुरपि काष्ठसंयोगं प्राप्य प्रज्ज्वलितो भवति तथैवायं बालोऽपि कालेन शिक्षां प्राप्य महान् तेजस्वी भविष्यतीत्याशयः। पथ्यावक्त्र वृत्तम्।

प्रथमा—पुत्र! इस सिंह के बच्चे को छोड़ दे, मैं तुझे दूसरा खिलौना दूंगी।

बाल—दो, कहाँ है? (हाथ फैलाता है)

राजा—(बालक का हाथ देख कर) अरे यह तो चक्रवर्ती के चिन्ह भी धारण कर रहा है अर्थात् इसकी हस्तरेखाओं में तो चक्रवर्ती के लक्षण हैं। क्योंकि :—

द्वितीया—सुवव्दे ! ण सक्को एसो वाओमेत्तेण विरमयिदुं गच्छ तुमं । ममकेरए उडए मक्कंडेअस्स इसिकुमारअस्स वण्णचित्तिदो मित्तिआ-मोरओ चिट्ठदि तं से उवहर । [सुव्रते ! न शक्य एषो वाचामात्रेण विरमयितुम् । गच्छ त्वम् । मदीये उटजे मार्कण्डेयस्यर्षिकुमारस्य वर्णचित्रितो मृत्तिकामयूरस्तिष्ठति तमस्योपहर !]

प्रथमा—तह । [तथा ।] (इति निष्क्रान्ता)

बालः—इमिणा एव्व-दाव कीलिस्सं [अनेनैव तावत्क्रीडिष्यामि ।] (इति तापसीं विलोक्य हसति ।)

श्लोक १६ अन्वय—प्रलोभ्यवस्तुप्रणयप्रसारितः जालग्रथिताङ्गलिः करः इद्धरागया नवोषसा भिन्नं अलक्ष्यपत्रान्तरं एकं पङ्कजं इव विभाति ।

शब्दार्थ—प्रलोभ्येत्यादि = प्रलोभ्य—लुभाने वाली—प्रलोभकारक वस्तु क्रीड़-नक-खिलौना आदि, प्रणय = प्रेम—प्रार्थना, प्रसारितः = फैलाया गया अर्थात् लुभाने वाली वस्तु खिलौना आदि के माँगने के लिये फैलाया गया । जालेत्यादि = जाल के समान परस्पर एक दूसरे से मिली हुईं (अत्यन्त सटी हुई) अंगुलियों वाला। इद्धरागया = इद्ध = समृद्ध राग = रक्तिमा — लालिमा अर्थात् बढ़ी हुई लालिमा वाले —देदीप्यमान एवं लाल वर्ण वाले । नवोषसा = नवीन उषः काल—अभिनवोद्गत-प्रातःकाल । अलक्ष्येत्यादि = (कुछ कुछ अन्धकार के कारण) जिसके दल अलग-अलग नहीं देखे जा सकते हैं । भिन्नं = कुछ विघटित—विकसित । एकपङ्कजं = एक मुख्य कमल । विभाति = शोभा पाता है ।

अनुवाद—लुभाने वाली वस्तु—क्रीडनकादि—की प्रार्थना अर्थात् याचना के लिये फैलाया गया, जाल के समान परस्पर एक दूसरे से सटी हुई अँगुलियों वाला (इसका यह) हाथ, बढ़ी हुई लालिमा वाले, नवीन उषः काल से विकसित, (कुछ कुछ अन्धकार के कारण) जिसके दलों के बीच का अन्तर स्पष्टतया लक्षित न हो रहा हो (ऐसे) एक मुख्य कमल के समान शोभा पाता है।

व्याख्या—लुभाने वाले खिलौने की प्रीति के कारण फैलाया गया, यह जाल के समान अधिक मिली हुईं अँगुलियों वाला (इसका) हाथ उस मुख्य (अकेले) कमल के समान शोभा पा रहा है जो कि प्रवर्धमानरक्तिमाशाली अभिनव प्रभात से कुछ विकसित हो चला हो पर (कुछ कुछ अन्धकार के कारण) जिसकी पंखड़ियों का बीच का अन्तर अभी स्पष्टतया लक्षित न हो रहा हो ।

तात्पर्य यह है कि जैसे उषाः काल की लालिमा से विकास को प्राप्त हो चला भी एक मुख्य कमल कुछ-कुछ अन्धकारवश पूर्णतया परिलक्षित नहीं होता अर्थात्

राजा--स्पृहयामि खलु दुर्ललितायास्मै ।
आलक्ष्यदन्तमुकुलानिमित्तहासै-
रव्यक्तवर्णरमणीयवचःप्रवृत्तोन् ।
अङ्काश्रयप्रणयिनस्तनयान्वहन्तो
धन्यास्तदङ्गरजसा मलिनीभवन्ति ॥ १७ ॥

तापसी--होदु; ण मं अअं गणेदि । (पार्श्वमवलोकयति ।) को एत्थ

...की पखड़ियों के बीच का अन्तर स्पष्ट नहीं दिखलाई पड़ता उसी प्रकार खिलौना ...के लिए हाथ के फैलाने के समय इस बालक के हाथ की अँगुलियाँ यद्यपि दिखाई ...ती हैं पर वे एक दूसरे से इतनी मिली हुई हैं कि उनका एक दूसरे के बीच का ...र स्पष्ट दिखाई नही देता ।

विशेष—चक्रवर्ती का लक्षण :—

अतिरिक्तः करो यस्य ग्रथिताङ्गुलिको मृदुः ।
चापाङ्कु, शाङ्कितः सोऽथ चक्रवर्ती भवेद् ध्रुवम् ॥ सामुद्रिक ॥

काव्यलिङ्ग, उपमा, छेक, वृत्ति, श्रुति, अनुप्रास ।

वंशस्थ छन्द है "जतौ तु वंशस्थ, मुदीरितं जरा"

संस्कृत व्याख्या—प्रकर्षेण लोभ्यं प्रलोभ्यं प्रलोभकर—स्पृहणीयं यद्वस्तु ...डनकादिकं तत्र यः प्रणयः प्रीतिर्याञ्चा वा तेन प्रसारितः विस्तृत इति प्रलोभ्य- ...नुप्रणयप्रसारितः । जालवत् ग्रथिताः परस्परं संश्लिष्टा अङ्गलयो यस्मिन् स इति ...लग्रथिताङ्गुलिः करः—हस्तः, इद्धः—सभृद्धः—रागः—लौहित्यं यस्या स्तया— ...इद्धरागया नवा चासौ—उषाश्च तया नवोषसा नवप्रभातेन भिन्न—किंचित्— ...कसितं अतएव अलक्ष्याणि पत्राणां अन्तराणि यस्य तत् - इति अलक्ष्यपत्रान्तरं = ...कटितपत्रान्तरसन्धिं, एकञ्च तत्पङ्कजं—एकपंकजम्—एकं मुख्यं कमलमिव ...भाति--शोभते । बालस्य ग्रथिताङ्गलिकः सुलोहितोऽग्रहस्तः, अभिनवप्रभातेन ...ञ्चिद्विकसितं संश्लिष्टपत्रान्तरं कमलमिव विशोभत इत्यर्थः । **काव्यलिङ्गम्**, ...मा । **वंशस्थविलं वृत्तम्** ।

द्वितीयाः—सुव्रते ! यह (बालक) वातों मात्र से नहीं रोका जा सकता ...त् यह वातों में फुसलाया नहीं जा सकता, तुम जाओ, मेरी कुटी में ऋषि- ...मार मार्कण्डेय का रंगीन, मिट्टी का मयूर है वह इसके लिए ला दो । (सुव्रता ...म तापसी का नाम है ।)

प्रथमा—अच्छा (जाती है)

बाल—तब तक मैं इसी से (सिह के बच्चे से) खेलूँगा (इस प्रकार ...सी को देखकर हँसता है)

इसिकुमाराणं (राजानमवलोक्य) भद्दमुह ! एहि दाव। मोएहि इमिणा दुम्मोअहत्थग्गहेण डिंभलीसाए बाहीअमाणं बालमिइंदअं। [भवतु; न मामयं गणयति। कोऽत्र ऋषिकुमाराणाम् ?। भद्रमुख ? एहि तावत:। मोचयानेन दुर्मोकहस्तग्रहेण डिम्भलीलया बाध्यमानं बालमृगेन्द्रम्।]

राजा—(उपगम्य। सस्मितम्।) अयि भो महर्षिपुत्र !

एवमाश्रमविरुद्धवृत्तिना
संयम: किमिति जन्मतस्त्वया।
सत्त्वसंश्रयसुखोऽपि दूष्यते
कृष्णसर्पशिशुनेव चन्दनम् ? ॥ १८ ॥

राजा—मुझे यह चञ्चल बालक बड़ा प्रिय लगता है।

श्लोक १७ अन्वय—अनिमित्तहासै: आलक्ष्यरन्तमुकुलान् अव्यक्तवर्णरमणीयवच: प्रवृत्तीन् अङ्काश्रयप्रणयिन: तनयान् वहन्त: धन्या: तदङ्गरजसा मलिनीभवन्ति।

शब्दार्थ—अनिमित्तहासै: = अकारण हास से। आलक्ष्येत्यादि = जिनके नये नये दाँत कुछ कुछ दिखाई पड़ने लगते हैं। अव्यक्तेत्यादि = अस्पष्ट वर्णों (नोतली बोली) में जिनका वाग्व्यापार बड़ा मीठा लगता है। अङ्केत्यादि = गोदी में चढ़ने के लिए जो प्रार्थना कर रहे हैं। वहन्त: = धारण किए हुए। धन्या: = भाग्यवान्। तदङ्गरजसा = उनके शरीर की धूलि से। मलिनी भवन्ति = मलिन होते हैं।

अनुवाद—अकारण हास से, जिनके कली के समान छोटे-छोटे दाँत कुछ कुछ दिखाई पड़ने लगते हैं, अस्फुट अक्षरों वाले, जिनके वाग्व्याहार मनोहर लगते हैं, और जो गोदी में चढ़ने के लिए प्रार्थना कर रहे हैं (ऐसे) पुत्रों को (गोद में) लेने वाले (वे पुरुष) भाग्यवान् हैं जो इनके शरीर को धूलि से मलिन हो जाते हैं।

व्याख्या—अकारण हँसने के कारण जिनके नये नये दाँत कुछ कुछ दिखाई पड़ने लगते हैं, तोतली बोली में जिनके वाक्य बड़े मीठे लगते हैं और जो गोदी में चढ़ने के लिए प्रार्थना कर रहे हैं, ऐसे पुत्रों को (गोद में) लेने वाले (वे पुरुष) ही भाग्यवान् हैं, जो उनके शरीर पर लगी धूलि से मलिन हो जाते हैं—अभागों को बच्चों की धूलि से मलिन होने का सौभाग्य नहीं मिलता। तात्पर्य यह कि वही भाग्यवान् धन्य हैं जो स्वभावत: हँसमुख, कली के समान झलकते हुए छोटे छोटे दाँतों वाले, तुतलाकर बातें करने वाले बच्चों को गोदी में बिठा कर उनके शरीर पर लगी धूलि से अपने को मलिन बनाते हैं। अभागों के लिए यह सौभाग्य कहाँ ?

विशेष – आलक्ष्येत्यादि:—आ = ईषत् – कुछ, कुछ, लक्ष्य = दिखाई पड़ने योग्य; दन्तमुकुलान् = कली के समान छोटे छोटे तथा चमकीले दाँत। इससे बाल-

स्वभाव का कथन है। अव्यक्त = अस्फुट, वर्ण = अक्षर, रमणीय = मनोहर, वचः प्रवृत्तीन् = वाग्व्याहार। अङ्क = गोदी, आश्रय = सहारा—चढ़ना, प्रणयिनः = चाहने वाले—प्रार्थना करने वाले।

यहाँ 'इस बालक' के कार्य न कह कर सामान्य बालकों का कथन है अतः **अप्रस्तुतप्रशंसाशंकार** है। और इससे यह द्योतित किया गया है कि मैं (दुष्यन्त) निःसन्तान होने के कारण अधन्य हूँ। आलक्ष्येत्यादि में दन्ताः मुकुलानीव यह **समासगा लुप्तोपमा है। स्वाभावोक्तिअलंकार** भी है क्योंकि बालस्वभाव का वर्णन है। ऐसे लोग ही धन्य हैं पर मैं अधन्य हूँ इस तात्पर्य से अर्थगत **परिसंख्यालंकार** भी है। **छेक, वृत्ति, श्रुति अनुप्रास।**

वसन्ततिलका छन्द है "ज्ञेया वसन्ततिलका तभजा जगौ गः"

संस्कृत व्याख्या—अनिमित्ताः अकारणाः ये हासास्तैरित्यनिमित्तहासैः कारणं विनैव हास्यकरणैरित्यर्थः, आलक्ष्याणि = ईषदवलोकनीयानि दन्ताः मुकुलानीवेति—आलक्ष्यदन्तमुकुलानि = ईषद्विकसितदन्तकुड्मलान्, अव्यक्ता अपरिस्फुटाः वर्णाः अक्षराणि यासु ताः अव्यक्तवर्णास्तैः रमणीया मनोहराः वाक्यानां प्रवृत्तयः आविर्भावा येषान्ते तान्—अव्यक्तवर्णरमणीयवचःप्रवृत्तीन् इति बहुव्रीहिगर्भो बहुव्रीहिः। अङ्के क्रोडे यः आश्रयः स्थितिस्तस्तत्र प्रणयः प्रार्थना प्रीतिर्वायेषां तानिति—अङ्काश्रयप्रणयिनः तनयान् पुत्रान् वहन्तः क्रोडे धारयन्तः सन्तः धन्या भाग्यवन्तः तेषामङ्गानि तदङ्गानि, तेषां रजसा तदङ्गरजसा बालशरीरधूल्या मलिनी भवन्ति=कलुषी भवन्ति। धन्या एव मलिनी भवन्ति न तु मादृषा अपुत्रकाः पुरुषा इत्यर्थः। उक्ता अलंकाराः। वसन्त तिलकं वृत्तम्।

तापसी :—अरे! यह मुझे तो कुछ गिनता नहीं अर्थात् मेरी बात तो कुछ सुनता ही नहीं। (इधर उधर देख कर) अरे कोई ऋषि कुमार यहाँ है? (राजा को देख कर) भद्र मुख! तनिक इधर आइये। (हम लोगों के द्वारा) कठिनता से छुड़ाये जाने योग्य इसके हाथ से पकड़े हुये बाल क्रीडा के द्वारा विवश किये जाते हुए इस सिंह के बच्चे को छुड़ा दीजिये अर्थात् इस बालक के हाथ से इस सिंह शावक को आप ही छुड़ा दें क्योंकि यह उसे खेलने के लिए विवश कर रहा है हमारे छुड़ाये नहीं छुड़ाया जाता। (दुर्मोक=कठिनता से छुड़ाने योग्य, हस्तग्रह=हाथ से पकड़ना डिम्भ लीलया=डिम्भ=बालक, लीलया=क्रीड़ा से।)

राजा :—(पास जाकर मुस्कराते हुये) ओ महर्षि पुत्र!

श्लोक १= अन्वयः—कृष्णसर्पशिशुना चन्दनम् इव आश्रमविरुद्धवृत्तिना त्वया सत्वसंश्रयसुखः अपि संयमः जन्मतः एवं किमिति दूष्यते।

शब्दार्थ :—कृष्णेत्यादि=काले साँप के बच्चे के द्वारा। आश्रेयमत्यादि =आश्रम मुनिजनाश्रम के विरुद्ध वृत्ति-आचरण करने वाले। सत्वेत्यादि—सत्व

—जीवों के लिये संश्रय—सम्यक् आश्रय—अभय दान, अहिंसादि के द्वारा सुख-कारी। संयम=अहिंसादि। जन्मतः=जन्म से ही। एवं=इस प्रकार-जीवों के साथ उपद्रवादि करके। किमिति=क्यों, किस प्रकार। दूष्यते=दूषित किया जा रहा है।

अनुवाद—काले सर्प के बच्चों के द्वारा चन्दन वृक्ष की तरह, मुनिजनाश्रम के विरुद्ध आचरण करने वाले तुम्हारे द्वारा यह आश्रम का अहिंसादि नियम, (जीवों के लिये सम्यक आश्र्य अर्थात् अभयदानादि के द्वारा सुख कर (है) जन्म से ही इस प्रकार क्यों दूषित किया जा रहा है।

व्याख्या—जिस प्रकार काले साँप का बच्चा चन्दन वृक्ष को दूषित करता है उसी प्रकार मुनिजन आश्रम के विपरीत आचरण करने वाले तुम्हारे द्वारा यह (आश्रम) का अहिंसादि नियम, जोकि तत्रत्य जीवों को सब प्रकार से अभयदानादि के द्वारा सुखकर है, जन्म से ही इस प्रकार (उपद्रव करके) क्यों दूषित किया जा रहा है। तात्पर्य यह कि इस आश्रम में सभी जीव हिंसादि के भय से रहित होकर सुख पूर्वक जीवन बिताते हैं परन्तु तुम अभी से इस आश्रम विरुद्ध आचरण के द्वारा इनको क्यों सता रहे हो और इस प्रकार यहाँ के अहिंसादि नियमों का उसी प्रकार उल्लंघन कर इसे दूषित कर रहे हो जैसे काले सर्प का बच्चा चन्दन वृक्ष को जो सब जीवों को शीतलता देने वाला है, दूषित कर देता है।

विशेष :—आश्रमत्यादिः—तपोवननियमविरोधी इस सिंहशिशु के पीडन रूप व्यवहार को करने वाले। दूष्यतेः—जिस प्रकार कृष्णसर्पशिशु अपने गरल से चन्दन वृक्ष को दूषित कर देता है उसी प्रकार तुम यहाँ के अहिंसादि नियमों को, निरपराध जीवों के उत्पीड़न द्वारा, दूषित कर रहे हो। तुम्हारा यह आचरण सर्वथा अनुचित है, तुम इस बाल मृगेन्द्र को छोड़ दो।

यहाँ चन्दनम् और संयमः का दूष्यते के साथ अन्वय करने में विलिङ्गत्व दोष नहीं है क्योंकि उभयत्र सामान्य धर्म का यथावस्थित रूप से ही अन्वय हो जाता है अथवा "चन्दनोऽस्त्रियाम्" इस कोशवचनानुसार चन्दन शब्द पुल्लिङ्ग भी है अतः चन्दनम् के स्थान पर चन्दनः यह पाठ भी रखा जा सकता है। चन्दनः ऐसा पाठ रखने से सत्त्वसंश्रयंसुखः यह विशेषण भी संयमः की भाँति चन्दनः के साथ भी लगाया जा सकता है उस समय चन्दन का भी विशेषण बनाने से इसका अर्थ होगा "सत्त्व=सत्त्व गुण—शैल्यादिप्रदगुण, संश्रय=ललाटादि पर धारण करना, सुखः =सुखकर अर्थात् चन्दन के शीतलता प्रद होने से ललाट पर धारण करने से जो सुखकारी है। चन्दनम् ऐसा पाठ रखने पर भी विभक्ति विपरिणाम द्वारा इसका अन्वय करने पर भी कोई हानि नहीं है। "बालक का जो कि जात्यादि से प्रकृष्ट-तम है कृष्ण सर्प उपमान उचित नहीं है" ऐसी आशंका न होनी चाहिये क्योंकि यहाँ आश्रम विरुद्ध आचरण करने वाला ही बालक उपमेय है केवल बालक नहीं और

तापसी—भद्दमुहण ! खु अअं इसिकुमारओ। [भद्रमुख ! न खल्वयं ऋषिकुमारः]

राजा—आकारसदृशं चेष्टितमेवास्य कथयति। स्थानप्रत्ययात्तु वयमेवंतर्किणः। (यथाभ्यर्थितमनुतिष्ठन्बालस्पर्शमुपलभ्य। आत्मगतम्।)

इस विशेषण से विशिष्ट बालक का ही कृष्णसर्पशिशु उपमान है अतः अनौचित्य दोष नहीं है।

यहाँ **पूर्णोपमालंकार** है। **रथोद्धता नामक छन्द है "रात्परैर्नरलगै रथोद्धता"** अर्थात् जिस छन्द में रगण से पर नगण रगण तथा ल० गुरु इस क्रम से ११ वर्ण हों वह रथोद्धता छन्द होता है :—

र० न० र०
ऽ।ऽ ।।। ऽ।ऽ ल० गु०
एवमा श्रमवि, रुद्धवृ, त्ति ना। चारों ही चरणों में यही क्रम हैं

संस्कृत व्याख्या—कृष्णश्चासौ सर्पस्तस्य शिशुस्तेन कृष्णसर्पशिशुना = उग्रविषधरविशेषशिशुना चन्दनं चन्दनवृक्षमिव, आश्रमस्यनिजनाश्रमस्य विरुद्धा विपरीता वृत्तिः—आचरणं यस्य तेन—आश्रमविरुद्धवृत्तिना त्वया (बालकेन) सत्त्वानां सत्त्वजीवानां संश्रयेण—अहिंसारूपाभयप्रदानेन सुखयतीति सुखकर इत्यर्थः— (अथवा सत्वानां संश्रयः स चासौ सुखश्चेति वा समासः।) सकलवन्य जीवाभयप्रदानस्पृहणीयः—अपि संयमः—अहिंसादिनियमः जन्मतो बाल्यादेव, एवमनेन प्रकारेण किमिति = कथं दूष्यते—कलुषीक्रियते। इदं महदनुचितम्—अतो मुञ्चैनं सिंहशिशुमिति। उक्ता अलंकारादयः। रथोद्धता वृत्तम्।

तापसी :—भद्रमुख ! यह ऋषि कुमार नहीं है।

राजा—यह तो आकृति के अनुरूप इसकी चेष्टा ही कह रही है (कि यह ऋषिकुमार नहीं है। परन्तु इस स्थान के विश्वास के कारण ही अर्थात् इस बात को ध्यान में रख कर कि यह आश्रम है हम लोगों ने ऐसा अनुमान किया था। (स्थान प्रत्ययात्=स्थान गत विश्वास से।)

(तपस्विनी की प्रार्थना के अनुसार (सिंहशावक को) छुड़ाते हुये, बालक का स्पर्श प्राप्त कर राजा मन ही मन सोचता है) यथाभ्यर्थित मनुतिष्ठन् = प्रार्थनानुसार करता हुआ।)

श्लोक १९ अन्वय—कस्य अपि कुलाङ्कुरेण अनेन गात्रेषु स्पृष्टस्य मम एवं सुखं (भवति) अयं यस्य कृतिनः अङ्कात् प्ररूढः तस्य चेतसि कां निर्वृत्तिं कुर्यात्।

शब्दार्थ—कस्यापि कुलांकुरेण अनेन=किसी—अनिर्दिष्ट—अवर्णनीय व्यक्ति के कुल के अंकुर स्वरूप इस बालक के द्वारा (इससे यह द्योतित किया है कि बालक

अनेन कस्यापि कुलांकुरेण
स्पृष्टस्य गात्रेषु सुखं ममैवम् ।
कां निर्वृतिं चेतसि तस्य कुर्या-
द्यस्यायमङ्कात्कृतिनः प्ररूढः ॥ १९ ॥

तापसी--(उभौ निर्वर्ण्य) अच्छरिअं अच्छरिअं । (आश्चर्यमाश्चर्यम् ।)

राजा—आर्ये ! किमिव ? ।

तापसी--इमस्स बालअस्स दे वि संवादिणी आकिदी त्ति विम्हाविदम्हि । अपरिइदस्स वि दे अप्पडिलोभी संवुत्तो त्ति । (अस्य बालस्य तेऽपि संवादिन्याकृतिरिति विस्मापितास्मि । अपरिचितस्यापि तेऽप्रतिलोमः संवृत्त इति ।)

से अपना कोई सम्बन्ध नहीं वह किसी अज्ञात व्यक्ति के वंश का अंकुर है । अंकुर कथन का तात्पर्य है कि बालक अभी कुछ ही दिनों का है, अतएव कोमल तथा मनोहर भी है जैसा कि अंकुर होता है ।) गात्रेषु स्पृष्टस्य मम = शरीर पर उसके द्वारा स्पर्श किये गये मुझे । एवम् सुखम् = अनिर्वचनीय, अनुभवगम्य, विगलित-वेद्यान्तर परम सुख । कृतिनः = सुकृती पुण्यात्मा के । अङ्कात्=गोदी से । प्ररूढः= वृद्धि को प्राप्त हुआ । कां निर्वृत्तिम्=कितना सुख ।

अनुवाद—किसी भी वंश के अंकुर स्वरूप इस बालक के द्वारा, शरीरावयवों पर स्पर्श प्राप्त करने वाले मुझे (जब) इस प्रकार का अनिर्वचनीय सुख (हो रहा है) (तो फिर) भाग्यशाली के अंक से यह वृद्धिगत हुआ है, उसके मन में (न जाने) यह कितना आनन्द उत्पन्न न करना होगा ।

व्याख्या—किसी भी वंश के अंकुर स्वरूप इस बालक के द्वारा अपने शरीर के (कुछ ही अंगों पर) स्पर्श प्राप्त करके मुझे जब इतना अनिर्वचनीय परम सुख हो रहा है तो फिर जिस परम भाग्यशाली के अंक से यह वुद्धि को प्राप्त हुआ है उसके मन में (न जाने) यह कितना न आनन्द उत्पन्न करता होगा । अर्थात् यह ही पता नहीं कि यह बालक किस भाग्यवान् का है पर इसे एक बार छू लेने से जब मुझे इतना सुख हो रहा है तो न जाने उस भाग्यवान् को कितना सुख प्राप्त होता होगा जिसकी गोदी में पल कर यह इतना बड़ा हुआ है अर्थात् जिसका यह सगा पुत्र है ।

विशेष—गात्रेषु स्पृष्टस्य—से तात्पय है कि शरीर के दो तीन ही अवयवों पर स्पृष्ट न कि सम्पूर्ण अवयवों पर स्पृष्ट हुए मुझे ।

राजा के स्पर्शजन्य सुख के अनुभव से बालक को पिता का सुखातिशय का अनुभव अर्थः लब्ध होता है, अतः **अर्थापत्ति अलङ्कार है** । कुलांकुरेण में रूपक अलङ्कार है । छेक, वृत्ति, श्रुति अनुप्रास । **उपजाति छन्द है** ।

राजा— (बालकमुपलालयन्) न चेन्मुनिकुमारोऽयम् अथ कोऽस्य व्यपदेशः ।

तापसी—पुरुवंसो । [पुरुवंशः ।]

राजा—(आत्मगतम्) कथमेकान्वयो मम ? । अतः खलु मदनुकारिणमेनमत्रभवती मन्यते । अस्त्येतत्पौरवाणामन्त्यं कुलव्रतम् ।

भवनेषु रसाधिकेषु पूर्वं
क्षितिरक्षार्थमुशन्ति ये निवासम् ।

संस्कृत व्याख्या—कस्यापि—वक्तुमशक्यस्य जनस्य कुलांकुरेण = वंशांकुरस्वरूपेण अनेन पुरोदृश्यमानेन बालकेन गात्रेषु द्वित्रेषु शरीरावयवेषु स्पृष्टस्य स्पर्शं प्राप्तस्य मम (दुष्यन्तस्य) एवं सुखं=अनिर्वचनीयं सुखं भवतीति शेषः (तदा) अयं बालः यस्य कृतिनः महाभागस्य अङ्कादुत्सङ्गात् प्ररूढ़ः—वृद्धिं प्राप्तः तस्य चेतसि मनसि कां निर्वृत्तिं=कीदृशं सुखं न कुर्यात्, इति न शक्यते वक्तुमिति भावः । उक्ता अलङ्कारा, प्रथमोप जातिर्वृत्तम् ।

तापसी—(दोनों को देखकर) आश्चर्य है, आश्चर्य है ।

राजा—आर्ये ! आश्चर्य की क्या बात है ?

तापसी—तुम्हारा और इस बालक का स्वरूप बिल्कुल मिलता जुलता हैं, इस बात ने मुझे आश्चर्य में डाल दिया है (सम्वादिनी=बहुत अधिक मिलती जुलती) और अपरिचित भी आपका यह अनुकूलगामी हो गया है अर्थात् यद्यपि यह आपको नहीं जानता फिर भी आपके कथनानुसार ही करता है यह मेरे लिये दूसरी आश्चर्य की बात है । तात्पर्य यह कि आकृति प्रायः पिता पुत्र की मिलती जुलती है, तुम दोनों में पिता पुत्र का सम्बन्ध नहीं फिर भी आकृति सम्वादिनी है यह एक आश्चर्य है । पुत्र पिता के भय से उपद्रव करने से रुक जाता है परन्तु यहाँ तो वह एक अपरिचित के कहने मात्र से उसी के कथनानुसार काम करने लगा यह दूसरा आश्चर्य है । अर्थात् ये दोनों ही बातें आश्चर्यजनक हैं ।

राजा—(बच्चे को प्यार करते हुए) यदि यह मुनि कुमार नहीं है तो फिर किस वंश का है) ।

तापसी—पौरव वंश ।

राजा—(मन में) अरे, क्या यह मेरे ही वंश का है (हम दोनों एक वंश के हैं) अतएव पूज्या तपस्विनी इसे मेरे ही अनुरूप मान रही है, परन्तु पुरुवंशियों का तो यह (वन-वास रूप अन्तिम कुलव्रत है । तात्पर्य यह कि पुरुवंशी राजाओं का तो यह कुल क्रमागत व्रत (रीति) रहा है कि वे वानप्रस्थाश्रम धारण करने के समय ही वन में आकर रहते हैं, गृहस्थाश्रमी हो कर नहीं ।

नियतैकपतिव्रतानि पश्चा-
तरुमूलानि गृहीभवन्ति तेषाम् ।। २० ।।

(प्रकाशम्) न पुनरात्मगत्या मानुषाणामेष विषयः ।

श्लोक २० अन्वय—ये पूर्वं क्षितिरक्षार्थं रसाधिकेषु भवनेषु निवासं उशन्ति, तेषां पश्चात् नियतैकपतिव्रतानि तरुमूलानि गृही भवन्ति ।

शब्दार्थ—ये = जो पुरुवंशी राजा, पूर्वं = पहिले अर्थात् यौवन काल में—युवावस्था में क्षितिरक्षार्थं = पृथिवी पालन के लिए, रसाधिकेषु भवनेषु = रस = शृङ्गारादि तथा मधुरादि रस एव आस्वाद जिनमें अधिक हों अथवा शृङ्गारादि रसों से अधिक अर्थात् उत्तम राज प्रासादों में, निवासम् = अवस्थिति—रहना—निवास करना, उशन्ति = चाहते हैं । तेषाम् = उन पुरुवशी राजाओं के, पश्चात् = वृद्धावस्था में, नियतैकपतिव्रतानि = नियता = नियमयुक्ता—तपः सन्तोषादि युक्ता, एका = केवल एक, पतिव्रतानि = पतिव्रता धर्मपत्नी वाले अर्थात् जिनमें एक ही नियमधारिणी धर्मपत्नी रहती हो । तरुमूलानि = तपोवन के वृक्षों के तल प्रदेश, गृहीभवन्ति = धर बनते हैं या घर होते हैं ।

अनुवाद—जो पुरुवंशी राजा पूर्वं अर्थात् अपनी युवावस्था में पृथिवी की रक्षा के लिये, शृङ्गारादि तथा मधुरादि षडरसों से परिपूर्ण राजप्रासादों में रहना चाहते हैं, उनके पश्चात् अर्थात् वृद्धावस्था में, वे तरातल प्रदेश ही घर बनते हैं जिनमें केवल एक नियम परायणा पतिव्रता पत्नी रहती है ।

व्याख्या— राजा मन में सोचता है कि) जो पुरुवंशी राजा अपनी युवावस्था में पृथिवी की रक्षा के लिए (भोगादि के लिए नहीं) शृङ्गारादि तथा मधुरादि षड्रसों से परिपूर्ण राजप्रासादों में रहना चाहते हैं अर्थात् जो पुरुवंशी राजा यौवन काल में केवल पृथिवी पालन के उद्देश्य मात्र से सभी प्रकार की विलास सामग्रियों से पूर्ण भवनों में रहना चाहते हैं उन राजाओं के वृद्धावस्था में तरुमूल ही घर बनते हैं जिनमें वे केवल अपनी पतिव्रता तपोनियम परायणा धर्मपत्नी को लेकर रहते हैं। तात्पर्य यह कि पुरुवंशी राजा अपनी वृद्धावस्था में ही केवल अपनी पत्नी को लेकर मुनिजन आश्रमों में वृक्षों के नीचे कुटिया बनाकर रहते हैं ।

विशेष—रसाधिकेषु:— में रस शब्द से तात्पर्य शृङ्गारादि रस से तथा मधुर कटुतिक्त कषाय आदि षड्रस से तथा इनके आस्वाद से है, क्योंकि "रसो गन्धरसे स्वादे तिक्तादौ विषरागयो:, शृङ्गारादौ द्रवे वीर्ये देह धात्वम्वु पारदे" इस कोश के अनुसार रस के राग मधुरादि शृङ्गारादि आस्वादादि सभी अर्थ हैं ।

क्षिति रक्षार्थ—अर्थात् केवल पृथ्वी पालनार्थ ही भवनों में रहना चाहते हैं उनमें भोगविलास करने के लिए नहीं, इससे राजा का भोगविलास करना आनुषंगिक

तापसी—यह भद्दमुहो भणादि अच्छरासंबंन्धेण इमस्स जणणी एत्थ देवगुरुणो तवोवण प्पसूदा। [यथा भद्रमुखो भणत्यप्सरःसंबन्धेनास्य जनन्यत्र देवगुरोस्तपोवते प्रसूता।]

राजा—(अपवार्य।) हन्त, द्वितीयमिदमशाजननम्। (प्रकाशम्।) अथ सा तत्रभवती किमाख्यस्य राजर्षेः पत्नी ?।

मात्र है मुख्य उद्देश्य नहीं, पृथ्वी पालन ही मुख्य ध्येय है यह ध्वनित होता है, जैसा कि कवि ने रघुवंश में कहा है "आसक्तः सुखमन्वभूत्" यौवने विषयैषिणाम् "वार्धके मुनिवृत्तीनाम्" उशन्तिः—वश कान्तौ धातु का रूप है, कान्ति का अर्थ है इच्छा। नियतैकपतिव्रतानि—वानप्रस्थाश्रम में प्रविष्ट होकर तत्कालीन राजा वन में वृक्षों के नीचे कुटिया बना कर रहा करते थे वे अपने साथ केवल अपनी धर्मपत्नी को ही रख सकते थे अथवा उसका परित्याग कर अकेले ही रह सकते थे जैसा कि भगवान् याज्ञवल्क्य ने कहा है—

पुत्रेषु दारान् निक्षिप्य वनं गच्छेत् सहैव वा" इति

अतएव कवि ने रघुवंश में सहैव वा के अनुसार "मुनिवन तरुच्छायां देव्यां तया सह शिश्रिये" कहा है।

सारांश यह है कि राजा ने सोचा कि हो सकता है कि कोई पुरुवंशी पत्नी के साथ वानप्रस्थाश्रम में प्रविष्ट हो वन में यहाँ रहने को 'आया हो और नियमों का पालन करते हुए भी उसमें कामवासना उत्पन्न हो गई हो जिसके फलस्वरूप यह पुत्र उत्पन्न हो गया है अन्यथा यहाँ पुरुवंशी बालक कैसे आता। परन्तु फिर वह यह सोचता है कि वानप्रस्थाश्रम में तो पति पत्नी तपोनियम निरत रहते हैं अतः यह पुत्रोत्पत्ति सम्भव नहीं। पुत्र को साथ ला कर भी यहाँ रहना सम्भव नहीं क्योंकि वानप्रस्थाश्रम में केवल एक पत्नी ही साथ रह सकती है पुत्रादि नहीं। तो फिर यह पुरुवंशी बालक कैसा ? इसी सन्देह में पड़ा हुआ राजा फिर तापसी से पूछता है—

(प्रकट) मनुष्यों के लिए तो अपने आप इस प्रदेश में आना सम्भव नहीं फिर यह पुरुवंशी बालक कैसा ? (राजा के पूछने का तात्पर्य यह कि कोई भी मानव इस स्वर्गीय प्रदेश मरीचाश्रम मे देवविमान के बिना पैदल चल कर तो आ नहीं सकता फिर किसी पुरुवंशी का आना यहाँ कैसे हुआ, क्योंकि मैं जो मानव हो कर भी यहाँ आ सका हूँ यह तो इन्द्र की कृपा का फल है और मैं उनके ही रथ में बैठकर आ सका हूँ, अपने आप नहीं तो फिर अन्य किसी पुरुवंशी का यहाँ आगमन कैसे हुआ।

तरुमूलानि गृही भवन्ति में तरु मूलों पर गृहत्व का आरोप प्रकृतोपयोगी है अतः परिणामालंकार है, कोई आचार्य यहाँ **व्यस्त रूपक** भी मानते हैं। **अनुप्रास।** यह **औपच्छन्दसिक नामक छन्द** है, इसका लक्षण है :—

तापसी—को तस्स धम्मदारपरिच्चाइणो णाम संकीतिदुं चितिस्सदिं ?। [कस्तस्य धर्मदारपरित्योगिनो नाम संकीर्तयितुं चिन्तयिष्यति ?।

राजा—(स्वगतम् ।) इयं खलु कथा मामेव लक्ष्यीकरोति। यदि तावदस्य शिशोर्मातरं नामतः पृच्छामि । अथवाऽनार्यः परदारव्यवहारः।

(प्रविश्य मृणमयूरहस्ता ।)

तापसी—सव्वदमण ! सउंदलावण्णं पेक्ख । [सर्वदमन ! शकुन्तलावण्यं प्रेक्षस्व ।]

बालः (सदृष्टिक्षेपम् ।) कहिं वा मे अज्जु ? । [कुत्र वा मम माता ?।]

उभे—णामसारिस्सेण वंचिदो माउवच्छलो । [नामसादृश्येन वञ्चितो मातृवत्सलः ।]

"षड्विषमेऽष्टौ समे कला स्ताश्च समे स्युर्नो निरन्तराः
न समात्र पराश्रिता कला वैतालीये रलौ गुरु
तत्रैवान्तेऽधिके गुरौ स्यादौपच्छदसिक कवीन्द्रहृदयम्

अर्थात् जिस छन्द के विषय चरणों में छः मात्राओं के बाद एक रगण हो तदनन्तर एक लघु तथा दो गुरु वर्ण हों उसे औपच्छन्दसिक छन्द कहते हैं :—यह अर्धसम वृत्त है ।

६ मात्रायें	रगण ल० गु० गु०	८ मात्रायें	रगण ल० गु० गु०
	ऽ। ऽ।		ऽ। ऽ
भवने, षुर	साधि केषु पूर्वं	क्षिति रक्षार्थमु	शन्ति ये निवासम्

संस्कृत व्याख्या :—ये पौरवाः पूर्वं =युवावस्थायामित्यर्थः रसो रागः शृंगारादिश्च मधुरादिश्चास्वादश्च एते अधिका येषु; एतै र्वाधिकान्युत्तमानि तेषु रसाधिकेषु भवनेषु गृहेषु क्षितिरक्षार्थं पृथिवीपालनाय निवासं स्थितिं; उशन्ति वांछन्ति वश कान्तौ इति धातुः कान्तिरिच्छात्रं । तत्र भवनेषु पृथ्वीपालनाय स्थितिवाच्छैव न तु तत्त्वतस्तत्रस्थितिरिति भावः । तेषां पौरवाणां पश्चात्—वार्धके, नियता तपोनियमयुक्ता सन्तोषादिसहिता एका केवला पतिव्रता धर्मपत्नी येषु तानि नियतैकपतिव्रतानि तरुणां मूलानि तरुमूलानि—तपोवनवृक्षतलानि गृहीभवन्ति—गृहाणि भवन्ति—अगृहाण्यपि तानि निवासाश्रयत्वात् गृहाणि भवन्तीत्यर्थः । उक्ता अलंकाराः औपच्छन्दसिकं वृत्तम् ।

तापसी :—भद्रमुख आप ठीक कह रहे हैं । अप्सरा के सम्बन्ध से इसकी माता ने यहीं पर देव गुरु मारीच के आश्रम में इसे उत्पन्न किया है । अप्सरः सम्बन्धेन=अर्थात् इसको माता का सम्बन्ध एक अप्सरा से है उसने इसको यहाँ लाकर रखा है, अतएव इसकी माता ने इसे यहाँ उत्पन्न किया है ।

राजा :—(अपने आप, अलग) अरे, यह तो दूसरी आशा जनक बात निकली। (प्रकट) अच्छा, तो वे देवी किस नाम के राजर्षि की धर्म पत्नी हैं ?

द्वितीया—वच्छ ! इमस्स मित्तिआमोरअस्स रम्मत्तणं देक्ख त्ति भणिदो सि । [वत्स ! अस्य मृत्तिकामयूरस्य रम्यत्वं पश्येति भणितोऽसि ।]

राजा—(आत्मगतम् ।) किंवा शकुन्तलेत्यस्य मातुराख्या । सन्ति पुनर्नामधेयसादृश्यानि । अपि नाम मृगतृष्णिकेव नाममात्रप्रस्तावो मे विषादाय कल्पते ।

बालः—अज्जुए ! रोअदि मे एओ भद्दमोरओ । [मातः ! रोचते म एष भद्रमयूरः] (इति क्रीडनकमादत्ते ।)

प्रथमा—(विलोक्य सोद्वेगम्) अम्हहे, रक्खाकरंडअं से मणि बंधेण दीसदि । [अहो, रक्षाकरण्डकमस्य मणिबन्धे न दृश्यते ।]

राजा अलमलमावेगेन । नन्विदमस्य सिंहशावविमर्दात्परिभ्रष्टम् (इत्यादातुमिच्छति ।)

उभे—मा खु एदं अवलंबअ । कहं गहीदं णंण ? । [मा खल्विदमवलम्ब्य । कथं ग्रहीतमनेन ? ।] (इति विस्मयादूरोनिहितहस्ते परस्परमवलोकयतः ।

राजा—किमर्थं प्रतिषिद्धाः स्मः ? ।

प्रथमा—सुणादु महाराओ । एसा अबराजिदा णाम ओसही इमस्स जातकम्मसमए भअवदा मारीएण दिण्णा । एदं किल मादापिदरो अप्पांण च वज्जिम

तापसी :—अपनी धर्मपत्नी का परित्याग करने वाले का नाम लेने के लिये कौन सोचेगा ? अर्थात् दारपरित्यागी पापी का कौन नाम लेगा ?)

राजा :—(मन में) यह कथा तो पूरी-पूरी मेरे ही ऊपर घटित हो रही है अर्थात् यह बात तो मेरे ही ऊपर लागू होती है । अच्छा तो फिर इस बालक की माता का नाम पूंछूं । अथवा (नाम पूंछना ठीक नहीं क्योंकि) पर स्त्री के विषय में कुछ पूंछ ताँछ करना अनार्य व्यवहार है; उचित नहीं है ।

(मिट्टी का मयूर हाथ में लिये हुये तापसी का प्रवेश ।)

तापसी :—सर्वदमन ! शकुन्त-लावण्य = पक्षी की सुन्दरता तो देखो ।

बाल :—इधर-उधर देखता हुआ) कहाँ है मेरी माता ?

उभे :—माता से अधिक मोह रखने वाले इस बालक को नाम के अक्षरों के सादृश्य से ही (अपनी माता) का धोखा हो गया है अर्थात् शकुन्त-लावण्य इन अक्षरों के सुनने से इसे अपनी माता शकुन्तला का भ्रम हो गया है ।

द्वितीया :—वत्स ! मैंने तो तुमसे यह कहा था कि इस मिट्टी के मोर की सुन्दरता देखो ?

राजा :—(मन में) तो क्या इसकी माता का नाम शकुन्तला है ? पर एक जैसे बहुत से नाम भी तो होते हैं ! कहीं 'शकुन्तला' यह नाम कथन भी मेरे

अवरो भूमिपडिदं ण गेण्हादि । [शृणोतु महाराजः । एषाऽपराजिता नामौषधिरस्य जातकर्मसमये भगवता मारीचेन दत्ता । एतां किल मातापितरावात्मानं च वर्जयित्वाऽपरो भूमिपतितां न गृह्णाति ।]

राजा - अथ गृह्णाति ? ।

प्रथमा—तदो तं सप्पो भविअ दंसइ ।[ततस्त सर्पो भूत्वा दशति ।]

राजा—भवतीभ्यां कदाचिदस्याः प्रत्यक्षीकृता विक्रिया ! ।

उभे—अणेअसो । [अनेकशः ।]

राजा—(सहर्षम्, आत्मगतम्) कथमिव सपूर्णमपि मे मनोरथं नाभिनन्दामि ! । (इति बालं परिष्वजते ।)

हार्दिक सन्ताप के लिये मृग तृष्णा की भाँति न आ गया हो, अर्थात् जिस प्रकार मृगतृष्णा फलतः केवल विषाददायिनी ही होती है उसी प्रकार शकुन्तला यह नाम भी क्या मेरे विषाद को बढ़ाने के लिये ही तो नहीं लिया गया है ?

बाल :—माता यह मोर तो मुझे बड़ा अच्छा लगता है। (खिलौने लेता है)

प्रथमा :—(देखकर घबराहट के साथ) अरे, इसके मणिबन्ध स्थान (पहुँचे पर-कलाई पर बँधी हुई) पर रक्षा की जड़ी नहीं दिखाई दे रही है? (रक्षा करण्डकम्=रक्षा की वीटिका=तावीज, मन्त्रों से आवाहित जड़ी विशेष। कहीं किसी पुस्तक में काण्डकः पाठ है वहाँ उसका अर्थ रक्षा सूत्र है)

"राजा—'यदि तावदस्य' से लेकर 'मातुराख्या' तक अक्षर **संघातक** नामक भूषण निर्दिष्ट किया गया है **"वाक्यमक्षर संघातो भिन्नार्थः श्लिष्ट वर्णकम्"** अथवा **शोभा नामक नाटक लक्षण प्रदर्शित किया गया है "सिद्धैरर्थैः समं यत्राप्रसिद्धोऽर्थः प्रकाशते । श्लिष्टलक्षणचित्रार्था सा शोभेत्यभिधीयते"** ।

"राजा—**किम्वा शकुन्तलेत्यस्य'** से लेकर कल्पते तक **मुखसन्धि निवेशित शकुन्तलानुराग रूप बीज का पुनरुद्गमन** देखा जाता है अतः यहाँ **निर्वहरण सन्धि का सन्धि नामक अग प्रदर्शित** किया गया है **"बीजोपगमनं सन्धिः"** इस साहित्य-दर्पण के लक्षण के अनुसार । ऐसा कोई आचार्य मानते हैं ।

राजा—नहीं नहीं घबड़ाइये नहीं । इसको सिंह के बच्चे से खींचते समय यह गिर गई थी । (यह कह कर उसे उठाना चाहता है)

उभे— नहीं नहीं उसे छूना नहीं ।—अरे क्या इन्होंने उसे उठा ही लिया ? (यह कह कर आश्चर्य के साथ छाती पर हाथ रख कर दोनों एक दूसरे को देखने लगती हैं ।)

छाती पर हाथ रख कर विस्मय प्रकट से **अद्भुत** रस व्यञ्जित होता है और **निर्वहरण सन्धि में** अद्भुत रस का दिखाना आवश्यक माना गया है जैसा कि धनिक

प्रथमा—सुव्वदे ! एहि । इमं वुत्तंतं णिअमव्वावुडाए सउंदलाए णिवे-देह्म । [सुव्रते ! एहि । इमं वृत्तान्तं नियमव्यापृतायै शकुन्तलायै निवेदयावः ।]

(इति निष्क्रान्ते ।)

बालः—मुंच म । जाव अज्जुएसआसं गामिस्सं । [मुञ्च माम् । याव-न्मातुः सकाशं गमिष्यामि ।]

राजा—पुत्रक मया सहैव मारमभिनन्दिष्यसि ।

बालः—मम खु तादो दुस्संदो । ण तुमं [मम खलु तातो दुष्यन्तः । न त्वम् ।]

राजा—(सस्मितम् ।] एवं विवाद एव प्रत्याययति ।

(ततः प्रविशत्येकवेणीधरा शकुन्तला ।)

ने कहा है **कुर्यान्निर्वहणेऽद्भुतम्** अथवा **निर्वहणे कर्तव्यो नित्यं हि रसोऽद्भुतः कविभः**'' यह भरत वचन भी है ।

इससे **उपगूहन** नामक निर्वहण सन्धि के अंग को भी प्रदर्शित किया गया है जैसा कि उसका लक्षण है ''**अद्भुतस्य तु या प्राप्तिर्भवेत्तदुपगूहनम्**'' इति ।

राजा—तो आपने हमें उठाने से क्यों रोका है ?

प्रथमा—महाराज ? सुनिये । इसके जात कर्म संस्कार के समय भगवान् मरीच ने इसे यह अपराजिता नामक औषधि दी थी । पृथिवी पर गिरी हुई इसको माता पिता और स्वयं के अतिरिक्त और कोई अन्य व्यक्ति ग्रहण नहीं करता है । अर्थात् यदि यह गिर पड़े तो कोई दूसरा नहीं उठाता ।)

राजा—और यदि उठा ले तो ?

प्रथमा—तो यह उसे सांप बन कर डस लेती है ।

''जातकर्मसंस्कार नाडीच्छेदन से पूर्व किया जाता है'' **प्राङ्नाभिवर्धनात् पुंसो जातकर्म विधीयते**'' मनुः । यद्यपि जातकर्म संस्कार पिता के द्वारा किया जाना चाहिये तथापि पिता के पास न रहने पर अन्य द्वारा भी करने का विधान है :—

अष्टौसंस्कारकर्माणि गर्भाधानमिव स्वयम् ।
पिता कुर्यात्तदन्यो वा तदभावे तु तत्क्रमात् ।।

राजा—आप लोगों ने क्या कभी इसे विकृत होते (अर्थात् सांप बनते) देखा है ?

उभे—कई बार

''शृणोतु महाराजः यहां से लेकर अनेकशः तक निर्वहण सन्धि का पूर्वभाव नामक अंग प्रदर्शित किया गया है (इसका दूसरा नाम पूर्ववाक्य भी है) जिसका लक्षण है '**पूर्वभावस्तु विज्ञेयो यथार्थोक्तोपदेशकः**''

राजा—(आप ही आप प्रसन्नतापूर्वक) तो अब मैं अपने पूरे हुए भी मनो

शकुन्तला—विआरकाले दि पकिदित्थ सव्वदमणस्स औसहिं सुणिअ ण मे आसा आसि अत्तणो भाअहेएसु । अहवा जह साणुमदीए आचक्खिदं तह संभावीअदि एदं । [विकारआलेऽपि प्रकृतिस्थां सर्वदमनस्यौषधिं श्रुत्वा न म आशासीदात्मनो भागधेयेषु । अथवा यथा संभाव्यते एतत् ।)

राजा—(शकुन्तलां विलोक्य ।) अये ! सेयमत्रभवती शकुन्तला । यैषा,—

वसने परिधूसरे वसाना
नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः ।

रथ को क्यों न अभिनन्दित करूँ अर्थात् अब जब कि मेरा मनोरथ पूरा हो गया है तो मैं आनन्द क्यों न मनाऊँ ? (यह कह कर बालक का आलिङ्गन करने लगता है ।)

प्रथमा—सुव्रते ! आओ, यह समाचार उस (पतिप्राप्ति के लिये) आज भी नियमनिरत तपस्विनी शकुन्तला को तो सुना आवें ।

(यह कह कर चली जाती हैं ।)

बाल—मुझे छोड़ दो, मैं अपनी माता के पास जाऊँगा ।

राजा—वत्स ! मेरे साथ ही (चल कर) माता को आनन्दित करोगे ।

बाल—मेरे पिता तो दुष्यन्त हैं, तुम नहीं ।

राजा—(मुस्करा कर) (बालक का) ऐसा विरुद्ध कथन ही मुझे विश्वास करा रहा है ।

कोई आचार्य "राजा—कथमिव सम्पूर्णमिव इत्यादि वाक्य में **निर्वहण सन्धि का आनन्द नामक अंग मानते हैं** जैसा कि दर्पणकार ने कहा है "आनन्दो वाञ्छितागमः" तथा इसी वाक्य द्वारा **प्रहर्ष नामक नाट्यालंकार** को प्रदर्शित किया गया है जिसका लक्षण है "**प्रहर्ष प्रमदात् वाक्यम्**" इति ।

(तदनन्तर केशों की एक लट बाँधे हुये अर्थात् एक ही लट वाली ग्रथित वेणी धारण किये हुए शकुन्तला का प्रवेश) एक वेणी विरह का चिह्न है ।

शकुन्तला—यह सुनकर भी मुझे अपने भाग्य पर कोई आशा नहीं हुई थी कि सर्वदमन की औषधि जब कि अन्य के छू लेने पर उसे साँप बन जाना चाहिये था, प्रकृतिस्थ ही बनी रही अर्थात् जैसी की तैसी ही बनी रही उसमें कोई विकार नहीं हुआ । या फिर सानुमती ने जैसा कुछ कहा है कौन जाने वह ठीक ही हो। इससे **समय नामक निर्वहण सन्धि** का अंग प्रदर्शित किया गया है जिसका लक्षण है "**दुःखस्यापगमो वस्तु समयः स निगद्यते**" अर्थात् जिससे दुःख का विनाश हो, यहाँ सानुमती का कथन शकुन्तला के दुःख के नाश का हेतु है ।

राजा—(शकुन्तला को देख कर) अरे, यही तो वह देवी शकुन्तला है ? जो कि यह :—

अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला
मम दीर्घं विरहव्रतं विभर्ति ॥ २१ ॥

श्लोक २१ अन्वय—परिधूसरे वसने वसाना, नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः, (अतएवं) शुद्धशीला, अतिनिष्करुणस्य मम दीर्घं विरहव्रतं विभर्ति।

शब्दार्थ—परिधूसरे=पूर्णरूप से मलिन। वसने=ऊपर तथा नीचे के वस्त्रों को। वसाना=धारण किये हुये अर्थात् मैले कुचैले अधरोत्तर वस्त्रों को धारण किये हुये। नियमक्षाममुखी=नियम=व्रतोपवासादिनियमों से, क्षाम=दुबला अर्थात् उपवासादिनियमों के पालन करने से जिसका मुख सूख गया है। धृतैकवेणिः=जिसने अपने शिर पर केवल एक वेणी (बालों की केवल एक ग्रथित लट—बालों के न काढ़ने के कारण वे सब मिलकर एक लट के रूप में हो गये थे) धारण कर रखी थी। शुद्धशीला=इन उपर्युक्त लक्षणों से ही जो शुद्ध स्वभाव वाली थी=सच्चरित्रा एवं पतिव्रता थी। दीर्घं विरहव्रतं विभर्ति=चिरकालीन वियोग नियम को धारण करती है।

अनुवाद—पूर्ण रूप से मलिन (अधरोत्तर) वस्त्रों को धारण किये हुये, व्रतोपवासादिनियमों से दुर्बल मुख वाली, एक वेणी को धारण किये हुये, सच्चरित्रा एवं पतिव्रता (यह) अति कठोर मेरे (कारण) चिरकाल से विरह व्रत को धारण कर रही है।

व्याख्या—यह वही तो देवी शकुन्तला है जो शरीर पर मैले कुचैले दो वस्त्र (अधोवस्त्र तथा उत्तर वस्त्र दुपट्टा आदि) धारण किये हुये है, उपवासादि नियम करते रहने से जिसका मुख सूख गया है और जिसके शिर के बाल एक ही लट में उलझे हुये हैं अतएव शुद्ध चरित्र वाली यह अत्यन्त कठोर पति मेरे बहुत दिनों से विरहव्रत का पालन कर रही है।

विशेष—नियमक्षाममुखी—यद्यपि शकुन्तला का सभी शरीर उपवासादि से कृश हो गया था फिर भी कवि ने केवल क्षाममुखी ही इसलिए बतलाया है क्योंकि उसका शेष शरीर तो वस्त्रों से ढका हुआ था केवल मुख ही खुला होने के कारण देखा जा सकता था अतः राजा ने उसके मुख को देख कर उसे क्षाममुखी कहा है। इससे यह प्रकट होता है कि यद्यपि वह अपने स्वजनों के घर में रहती थी तथापि वह बड़ी लज्जाशीला थी। इस समय के पति के सामने उसका मुख खोलना भी अनौचित्य का द्योतक नहीं क्योंकि आज चिरकाल के बाद उसे पति के दर्शन का अवसर मिला था अतः दर्शनोत्कण्ठावश ही उसने अपना मुखावरण हटा दिया था। यहीं शकुन्तला जब प्रथम बार राजधानी में गौमती आदि के साथ दुष्यन्त के सन्मुख उपस्थित हुई थी तब भी इसका मुख ढका हुआ था "केयमवगुण्ठनवती" इससे स्पष्ट है कि कवि के समय भारतवर्ष में परदा प्रथा थी स्त्रियाँ किसी विशेष अवसर के अतिरिक्त पति के सामने भी मुख नहीं खोलती थीं।

शकुन्तला—(पश्चात्तापविवर्णं राजानं दृष्ट्वा ।) ण ख अज्जउत्तो विअ। तदो को एसो दाणिं किदरक्खामंगलं दारअं मे गत्तसंसग्गेण दूसेदि। [न खल्वार्यपुत्र इव । ततः क एष इदानीं कृतरक्षामङ्गलं दारकं मे गात्रसंसर्गेण दूषयति?]

बालः—(मातरमुपेत्य ।) अज्जए ! एसो कोवि पुरिसो मं पुत्त त्ति आलिंगदि । [मातः एष कोऽपि पुरुषो मां पुत्र इत्यालिङ्गति ।]

राजा—प्रिये ! क्रौर्यमपि मे त्वयि प्रयुक्तमनुकूलपरिणामं संवृत्तम् यदहमिदानीं त्वया प्रत्यभिज्ञातमात्मानं पश्यामि ।

शकुन्तला—(आत्मगतम् ।) हिअअ ! अस्सस अस्सस । परिच्चत्तम-

"अतिनिष्करुणास्य" से वह निर्देश किया गया है कि मेरी ही कठोरता ने इसको दु:ख की इस पराकष्ठा तक पहुँचा दिया है ।

पूर्वोक्त तीन विशेषणों द्वारा कवि ने विरहव्रत का स्वरूप बतलाया है अर्थात् विरहिणी पतिव्रता को किस प्रकार रहना चाहिए, जैसा कि हारीत मुनि का वचन है !

"आर्तार्त्ते मुदिते हृष्टा वियोगे मलिना कृशा ।
मृते म्रियते या पत्यौ, साध्वी ज्ञेया पतिव्रता ।। इति ।।
"मण्डनं वर्जयेन्नारी तथा प्रोषितभर्तृका ।
देवताराधनपरा तिष्ठेद् भर्तृहितेरता ।। इति—विष्णु धर्मोत्तरम्

वियोगिनी पतिव्रता, एक वेणीधरा तथा मलिन वस्त्र धारिणी होती है जैसा कि आचार्य विश्वनाथ ने कहा है ।

"प्रवासो भिन्नदेशत्वं कार्याच्छापाच्च सम्भ्रमात् ।
तत्राङ्गचैलमालिन्यमेकवेणीधरं शिरः ।।

काव्यलिङ्ग एवं **स्वभावोक्ति** अलंकार है । इससे नायिकागत विप्रलम्भ तथा नायकगत विषादादि से उपस्कृत **निर्वेद ध्वनित** होता है । **छेक, वृत्ति अनुप्रास । औपच्छन्दसिक नामक छन्द है ।** (लक्षण ऊपर इसी अंक में लिखा जा चुका है)

श्री राघवाचार्य के मत में यहाँ **निर्वहण सन्धि का सन्धि नामक अंग** प्रदर्शित किया गया है **"मुखबीजोपगमनं सन्धिरित्यभिधीयते"** ।

वस धातोः शानच्=वसाना, क्षि+क्त=क्षायो मः तस्य मादेशः क्षामः ।

संस्कृत व्याख्या :—परितः धूसरे मलिने इति परिधूसरे वसने=अधरोत्तरवस्त्रे, वसाना परिदधाना (वस आच्छादने इत्यस्माद्धातोरत्र शानच् प्रत्ययः) नियमैः—उपवासादितपोनियमैः क्षामं क्षीणं मुखं यस्याः सा नियमक्षाममुखी, धृता शिरसि धृतेत्यर्थं एका वेणिर्यया सा धृतैकवेणिः अतएव शुद्ध पवित्रं शीलं चरित्रं यस्याः सा शुद्धशीला=साध्वी पतिव्रता अतिनिष्करुणस्य=

...मोऽङ्कः

...रेण अणुअप्पिअ म्हि देव्वेण । अज्जउत्तो खु एसो । [हृदय ! आश्वसिहि ...श्वसिहि परित्यक्तमत्सरेणानुकम्पितास्मि दैवेन । आर्यपुत्रः खल्वेषः ।

राजा—प्रिये !

...वस्थायामपि परित्यागात् अत्यन्तं क्रूरस्य मम (दुष्यन्तस्य) दीर्घं = बहुकालव्यापि ...हव्रतं = वियोगनियमं बिभर्ति = धारयति, पालयतीत्यर्थः । औपच्छन्दसिकम् वृत्तम्

शकुन्तला :—(पश्चात्ताप से मलिनाकृति वाले राजा को देखकर) नहीं, यह ...आर्य पुत्र जैसे नहीं जान पड़ते तो फिर अब यह कौन मेरे पुत्र को, जिसकी रक्षा ...लिए मंगल किया जा चुका है अर्थात् जो रक्षार्थ मंगल वीटिका धारण किये हुए ..., अपने शरीर के स्पर्श से दूषित कर रहा है। (यहाँ कृतरक्षामङ्गलं इस विशेषण ...यह द्योतित किया गया है कि वह न केवल पुत्र को प्रत्युत उसकी रक्षावीटिका को ...दूषित कर रहा है, यही कारण है कि यह अपवित्र हो जाने के कारण अब अपना ...भाव नहीं दिखा रही है)

बालः—(माता के पास जाकर) यह कोई पुरुष मुझे पुत्र कह कर प्यार कर ...रहा है।

राजा :—प्रिये ! तुम्हारे ऊपर की गई मेरी क्रूरता भी आज मेरे अनुकूल फल ...देने वाली हुई है (अनुकूल = शुभकारी परिणाम = परिपाकफल, मम = मेरे सम्बन्ध ...) जो कि मैं इस समय अपने को तुम्हारे द्वारा पहचाना हुआ देख रहा हूँ अर्थात् ...कि तुमने मुझे पहचान लिया है ।

"क्रौर्यमपि मे त्वयि प्रयुक्तमनुकूल परिणामं सम्वृत्तम् इस पंक्ति का अर्थ ...विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से लगाया है। कोई इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं ...कि मैंने जो तुम्हारे साथ निष्ठुरता की थी उसका यही दण्ड मुझे मिला कि तुमने ...अभी तक मुझे पहचान न पाया।

और कुछ लोग इस प्रकार अर्थ करते हैं कि मेरी निष्ठुरता का ही यह सुन्दर ...परिणाम हुआ कि तुमने देवलोक मरीचाश्रम में पुत्र उत्पन्न किया और स्वयं देवगुरु ...कश्यप ने इसके जात-कर्मादि संस्कार किये अतः यह पुत्र देवतुल्य गुणशाली तथा ...चिरञ्जीवी होगा, मर्त्य लोक में प्रसव होने से पुत्र इतना तेजस्वी तथा गुणशाली नहीं ...हो सकता था अतः मेरे द्वारा पहिले किया गया तुम्हारा प्रत्याख्यान अन्त में कल्याण ...कारी ही सिद्ध हुआ।

कुछ विद्वान इस प्रकार अर्थ करते हैं कि जब तुम पहिले मेरी राजधानी में ...आई थीं तब तो मोहवश मैंने तुम्हें न पहचान पाया था परन्तु अब जब कि मैं तुम्हारे ...पास आया हूँ तो तुमने मुझे पहचान लिया है अतः यह प्रत्याख्यान अनुकूल फलदायी ...हुआ। और कुछ इस प्रकार व्याख्या करते हैं कि मैंने जो तुम्हें परित्याग कर ...अपराध किया था वह इतने दिनों तक पश्चात्ताप करने से दूर हो गया और इस

स्मृतिभिन्नमोहतमसौ दिष्ट्या प्रमुखे स्थितासि मे सुमुखि ! ।
उपरागान्ते शशिनः समुपगता रोहिणी योगम् ।। २२ ।।

शकुन्तला—जेदु जेदु अज्जउत्तो । [जयतु जयत्वार्यपुत्रः ।] (इत्यर्धोक्ते वाष्पकण्ठी विमरति ।)

राजा—सुन्दरि !

वाष्पेण प्रतिषिद्धेऽपि जयशब्दे जितं मया ।
यत्ते दृष्टमसंस्कारपाटलोष्ठपुटं मुखम् ।। २३ ।।

प्रकार मैं निरपराधी बन गया, और तुमने मुझे पहचान लिया अतः यह क्रूरता भी मेरे लिये अनुकूल फल देने वाली सिद्ध हुई । इत्यादि !

शकुन्तला :—हृदय ! धीरज धरो, धीरज धरो ! दैव ने अपना पूर्व क्रोध या वैर छोड़कर अब मुझ पर दया की है अर्थात् जिस दैव ने पहिले तो मेरे ऊपर क्रूर आघात किया था अब उसी ने द्वेष भाव त्याग कर मुझ पर कृपा की है। (मत्सर =द्वेष या क्रोध) सचमुच यह आर्य पुत्र ही हैं।

इससे आनन्द नामक **निर्वहण सन्धि के अंग** को प्रदर्शित किया गया है जिसका लक्षण है "आनन्दो वाञ्छितागमः" वाञ्छित वस्तु की उपलब्धि ही आनन्द है।

राजा :—प्रिये !

श्लोक २२ अन्वय :—हे सुमुखि ! दिष्ट्या स्मृतिभिन्नमोहतमसः मम प्रमुखे स्थिता असि, रोहिणी उपरागान्ते शशिनः योगं समुपगता ।

शब्दार्थ :—सुमुखि=सुन्दर मुख वाली, यह साभिप्राय सम्बोधन है क्योंकि सुमुख के सामने ही ठहरना सम्भव हो सकता है कुमुख का तो सर्वत्र छिपाना ही उचित होता है। दिष्ट्या=भाग्य से, स्मृतिभिन्नेत्यादि=स्मृति=पूर्ववृत्तान्त के स्मरण से, भिन्न=खण्डित, मोहतमसः=मोह रूपी अन्धकार वाले अथवा तमः =राहु ("तमस्तु राहुः स्वर्भानुः यह कोश है) अर्थात् पूर्ववृत्तान्त स्मरण से जिस मेरा मोहजनित अन्धकार=अज्ञान (अथवा राहु) दूर हो गया है। प्रमुखे=सम्मुख। उपरागान्ते=ग्रहण समाप्त हो जाने पर।

अनुवाद—हे सुमुखि-सुन्दर मुख वाली ! यह सौभाग्य की बात है, कि (पूर्ववृत्तान्त) के स्मरण से जिसका अज्ञानान्धकार दूर कर दिया गया है ऐसे मेरे सामने तुम स्थित हो, (जैसे मानो) ग्रहण समय बीत जाने पर रोहिण (नक्षत्र रूप चन्द्र पत्नी) चन्द्रमा के समीप आकर उपस्थित हो गई हो।

व्याख्या :—हे प्रिये सुमुखि ! भाग्यवश पूर्व समय की घटना के याद आ जाने से मेरा अज्ञानान्धकार दूर हो गया है और फलतः तुम मेरे सम्मुख उपस्थित हो गई हो, यह तुम्हारा मिलना उसी प्रकार का है जैसे ग्रहण बीत जाने पर रोहिणी (चन्द्र पत्नी—एक नक्षत्र विशेष) चन्द्रमा के समीप मिलने आई हो। ग्रहण के दूर ही

बाल—अज्जुए ! को एसो ? । [मातः ! क एषः ?]
शकुन्तला—वच्छ ! दे भाअहेआइं पुच्छेहि । [वत्स ! भागधेयानि पृच्छ ।]
राजा— (शकुन्तलायाः पादयोः प्रणिपत्य ।)

जाने पर जैसे चन्द्ररोहिणी योग होता है वैसे ही यह हमारा तुम्हारा मिलन भी मोहान्धकार के दूर होने पर हुआ है ।

सारांश यह है कि आज हमारा बड़ा सौभाग्य है कि मेरी विस्मृति के मोह का परदा फट गया है, और अब तुम मुझे वैसे ही मिल गई हो जैसे ग्रहण के हटने पर चन्द्रमा को उसकी प्रिया रोहिणी मिलती है ।

विशेष :—उपराग का अर्थ है ग्रहण "उपरागो ग्रहो राहुग्रस्तेत्विन्दौ च पूष्णि च" इस कोशानुसार चन्द्रमा या सूर्य का राहु के द्वारा ग्रस्त होना उपराग है । इससे यह ध्वनित होता है कि मेरा मोह दैवकृत था उसके नष्ट होने पर संयोग होना आवश्यक था अतः तुम्हें प्रत्याख्यान जन्य अपमान का दुःख न होना चाहिए । यहाँ इस प्रकार **दृष्टान्तालंकार है** । और अर्थगत यत् तद् शब्दों से एक वाक्यत्व होने के कारण सम्भवद्वस्तु सम्बन्ध लक्षणा **निदर्शना अलंकार** है और 'वह मोहतम' यहाँ पर राहु रूप अर्थ में उपमा साधिका भी है । परन्तु कोई यहाँ दृष्टान्त अलंकार ही मानते हैं और कोई साधक बाधक प्रमाणों के अभाव में दोनों का **सन्देह संकर** भी मानते हैं ।

यहाँ दुष्यन्त को शकुन्तला की प्राप्ति तथा शकुन्तला को दुष्यन्त की प्राप्ति हुई है । अतः परस्पर दुःख का शमन दिखलाने से **कृति नामक निर्वहण सन्धि का अङ्ग** प्रदर्शित किया गया है "**लब्धार्थशमनं कृतिः**" यह कृति का लक्षण है । **श्रुत्यनुप्रास** आर्या जाति छन्द है ।

संस्कृत व्याख्या :—हे सुमुखि ! (शोभनं मुखं **यस्यास्तत्सम्बोधने**) दिष्ट्या =सौभाग्येन स्मृत्या भिन्नं मोह एव तमः यस्य तस्य इति स्मृतिभिन्नमोहतमसः= पूर्ववृत्तान्त स्मरण खण्डित मोहान्धकारस्य मम (दुष्यन्तस्य) प्रमुखे सम्मुखे (त्वं) स्थितासि=तिष्ठसि । रोहिणी=चन्द्रपत्नी नक्षत्र रूपा दक्षकन्या उपरागस्य अन्ते—अवसाने उपरागन्ते शशिनः—चन्द्रस्य योगं सम्बन्धं समुपगता प्राप्ता । उपरागोपरान्ते चन्द्रेण रोहिण्या मिलन मिवावयोर्मिलनमपि विस्मरणान्ते जातमिति भावः । आर्या जातिः । अलंकारा उक्ता एव ।

शकुन्तला :—आर्य पुत्र की जय हो (इतना आधा कहने पर ही गला भर आने से (कण्ठावरोध हो जाने से) रुक जाती है ।)

राजा :—सुन्दरि !

सुतनु ! हृदयात्प्रत्यादेशण्यलीकमपैतु ते
किमपिमनसः संमोहो मे तदा बलवानभूत् ।

श्लोक २३ अन्वय :—वाष्पेण जयशब्दे प्रतिपिद्धे अपि मया जितम् यत् असंस्कारपाटलोष्ठपुटं ते मुखं दृष्टम् ।

शब्दार्थ—जयशब्दे प्रतिषिद्धेऽपि=अश्रु भार से "आर्यपुत्रः जयतु" इस जयतु शब्द के निरुद्ध होने पर भी अर्थात् पूर्ण उच्चरित न होने पर भी । मया जितम्=मुझे उत्कर्ष मिल गया । यत्=क्योंकि असंस्कारेत्यादि=संस्कार विहीन अर्थात् तपो नियम परायण होने से आलक्तक रसादि से ओष्ठों का रंगना आदि संस्कार न करने पर भी पाटल वर्ण के (स्वभावतः आरक्त) तुम्हारे ओष्ठों वाले मुख को । पाटल=श्वेत रक्त वर्ण "श्वेतरक्तस्तु पाटलः" कोश ।

अनुवाद—अश्रुओं के भार से कण्ठावरोध वश तुम्हारे द्वारा उच्चरित) जय शब्द के रुक जाने पर भी अर्थात् पूर्णतया उच्चरित न होने पर भी मुझे उत्कर्ष मिल हो गया क्योंकि मैंने संस्कार न करने पर भी पाटल अर्थात् स्वभावतः आरक्त ओष्ठ पुटों वाले तुम्हारे मुख को देख लिया है ।

व्याख्या :—हे सुन्दरी ! अश्रु भार से कण्ठावरोध हो जाने के कारण यद्यपि तुम मेरे लिये जय शब्द का पूरा उच्चारण न कर सकी हो तथापि मेरी तो जय हो गई अर्थात् जय के फलस्वरूप मुझे तो उत्कर्ष प्राप्ति हो ही गई क्योंकि मैंने तुम्हारे संस्कार रहित भी स्वभावतः श्वेत रक्त ओष्ठों वाले मुख को देख लिया है । अर्थात् तुम्हारे इस विशिष्ट मुख को देखने से जो मेरा वियोग जन्य दुःख दूर हो गया है। यही मेरी सबसे बड़ी जय है ।

विशेष :—जय शब्दे प्रतिषिद्धेऽपि जितम् यह **विरोधाभास अलकार** है। जितम् के प्रति उत्तरार्ध वाक्यार्थ हेतु है अतः **काव्यलिंग** है । श्रुति, वृत्ति अनुप्रास । अनुष्टुप् छन्द है ।

संस्कृत व्याख्या :— वाष्पेण-अश्रुभिः जयशब्दे जयतु जयतु इति शब्दे प्रतिषिद्धे =अवरुद्धेऽपि मया (दुष्यन्ते) जितम् ममोत्कर्षो जात एवेत्यर्थः यत्—यस्मात् कारणत् असंस्कारेण प्रसाधनरसानुलेपनादि संस्कारविहीनेन पाटलः स्वभावत एव श्वेतरक्तः ओष्ठपुटः यत्र तत्—असंस्कारपाटलोष्ठपुटं ते तव मुखं दृष्टमत्रलोकितम् । तव विशिष्टमुखावलोकनेन मम विरह दुःखस्यापगमनेनैव मया जितमित्याशयः ।

बाल :—क्यों माँ ! यह कौन है ?

शकुन्तला :- पुत्र ! यह तो अपने भाग्य से पूँछ ।

राजा :—(शकुन्तला के चरणों पर गिर कर)

प्रबलतमसामेवंप्राया: शुभेषु प्रवृत्तय:
स्रजमपि शिरस्यन्ध: क्षिप्तां धुनोत्यहिशङ्कया ।। २४ ।।

श्लोक २४ अन्वय— हे सुतनु ! ते हृदयात् प्रत्यादेशव्यलीक अपैतु तदा किमपिमनस: मे बलवान् सम्मोह: अभूत् । प्रबलतमसां शुभेषु एवं प्राया: प्रवृत्तय: भवन्ति । अन्ध: शिरसि क्षिप्तां अपि स्रज अहिशङ्कया धुनोति ।

शब्दार्थ :—सुतनु=शोभनाङ्गी—सुन्दरी । प्रत्यादेशव्यलीकम्=मेरे द्वारा किये गये निरादर की पीड़ा या कसक । अपैतु=दूर हो । किमपिमनस:=किमपि=कुछ अनिर्वचनीय से मन वाले मुझे अथवा किमपि और मनस: दोनों भिन्न-भिन्न पद हैं। बलवान् सम्मोह:=अत्यधिक अज्ञान—भ्रम । प्रबलतमसां=अधिक तपोगुणी लोगों की । एवप्राय: प्रवृत्तय:=इसी प्रकार के व्यवहार । शुभेषु=कल्याणकारी कामों में । क्षिप्तां स्रजम्=डाली गई माला को, अहिशकया=साँप की आशंका से धुनोति=फेंक देता है ।

अनुवाद :—हे सुन्दरी ! तुम्हारे हृदय से (मेरे द्वारा किये गये) प्रत्याख्यान की पीड़ा दूर हो, उस समय वह मेरे मन का कोइ प्रबल भ्रम था, अधिक तमोगुणी लोगों की, कल्याणकारी कामों में इसी प्रकार की प्रवृत्तियां हुआ करती हैं, सिर पर डाली गई माला को भी अन्धा व्यक्ति सर्प की आशंका से फेंक देता है ।

व्याख्या :—हे सुन्दरी ! अब तुम्हारे हृदय से मेरे निरादर की कसक दूर हो जानी चाहिए अर्थात् मैंने जो उस समय तुम्हारा निरादर किया था उसकी कसक अब तुम अपने मन से निकाल डालो, उन बातों को भूल जाओ । उस समय वह मेरे मन का कोई प्रबल भ्रम था अर्थात् मैं नहीं कह सकता कि मेरे मन में उस समय इतना प्रबल भ्रम कैसे उत्पन्न हो गया था । कल्याणकारी कामों में भी अत्यन्त तमोगुणी लोगों का ऐसा ही व्यवहार होता है अर्थात् जो घोर तमोगुणी होते हैं वे अच्छे, अपने लिए लाभदायक भी कामों में ऐसी ही भूल कर बैठते हैं अर्थात् कल्याणकर वस्तु का भी तिरस्कार कर देते हैं देखो ! अन्धा व्यक्ति गले मे डाली गई माला को सांप समझ कर फेंक देता है । अर्थात् जिस प्रकार यदि अन्धे को कोई माला पहना दे और वह देख न सकने के कारण उसे उतार कर फेंक दे उसी प्रकार तमोगुणी व्यक्ति अपने लिए-प्राप्त भी शुभ वस्तु का निरादर कर देता है ।

विशेष—"पीडार्थेऽपि व्यलीकं स्यात्" इस कोशानुसार व्यलीक का अर्थ है पीड़ा या कसक । प्रत्यादेशव्यलीकं अपैतु से राजा का आशय है कि यह तुमसे प्रार्थना है कि वह कसक अब तुम निकाल दो ।

तदा—प्रत्याख्यान करते समय भ्रमवश ही मैंने तुम्हारा अपमान किया था जान बूझ कर नहीं अत: अज्ञानवश किया गया यह मेरा अपराध क्षम्य है । धुनोति का अर्थ है सिर हिलाकर गिरा देता है उसे स्वीकार नहीं करता ।

यहाँ प्रथम चरणगत अर्थ के प्रति द्वितीय पादगत अर्थ हेतु है अत: **वाक्यार्थमूलक काव्यलिंग** है । तृतीय पाद वर्णित सामान्य से पूर्वार्ध वाक्य गत विशेष का समर्थन किया गया है अत: **अर्थान्तरन्यास है** । चतुर्थ चरण में उपमान और उपमेय

गत साधर्म्य प्रतिबिम्बित होता है अतः **दृष्टान्त अलंकार** है। अहिशंकया यहाँ पर **भ्रान्तिमान् अलंकार है। श्रुत्यनुास छेकानुप्रास** ।

यद्यपि निराकरणजन्य व्यलीक (अप्रियता) का त्याग हृदय से ही होता है अतः हृदयात् का अर्थ तो स्वतः सम्भव था फिर भी हृदयपदोपादान यह ध्वनित करता है कि राजा यह चाहता था कि इस निराकरण की अप्रियता का त्याग केवल वाणी मात्र से नहीं अपितु हृदय से भी हो जाना चाहिए उसका संस्कारोन्मूलनपूर्वक सर्वथा त्याग हो जाना चाहिए ऐसा न हो कि हृदय में उसकी कुछ कोर कसर बनी रहे, इसी उद्देश्य से हृदय पद का प्रयोग किया है।

प्रबलतमसाम् में प्रबलतम शब्द से अधिक शोक का कथन है, उससे शोकजन्य सम्मोह लक्षित होता है। और सम्मोहातिशय ध्वनित होता है। "तमः शोक गुणातरे" कोश।

राजा—'शकुन्तलायाः पादयोः पणिपत्य' इत्यादि से **अनुनय नामक** भूषण निर्दिष्ट किया गया है, जिसका लक्षण है **"अभ्यर्थनापरंवाक्यं विज्ञेयोऽनुनयो बुधैः"** अर्थात् प्रार्थना परक वाक्य अनुनय कहलाता है। साहित्य दर्पण में इसी को अनुनय नामक **नाट्य लक्षण** बतलाया गया है "**वाक्यैः स्निग्धैरनुनयो भवेदर्थस्य साधनम्**' इति।

शकुन्तला के चरणों पर गिरना, राजा द्वारा उसके क्रोध की शान्ति के उद्देश्य से दिखलाया गया है, यह पादपतन, नायिकाओं को मनाने के लिए नायकों के द्वारा किये जाने वाले षट् उपायों के अन्तर्गत है, जैसा कि कहा गया है :—

"साम भेदोऽथ दानञ्च नत्युपेक्षे रसान्तरम्।
तद्भङ्गाय पतिः कुर्यात् षदुपायानिति क्रमात्॥

अर्थात् नायिका के क्रोध शमनार्थ पति को साम, भेद, दान, नति, उपेक्षा, रसान्तर इन छः उपायों को काम मे लाना चाहिए, इनके प्रयोग का ढंग :—

तत्र प्रियवचः साम, भेदस्तत्सख्युपार्ज्जनम्।
दानं व्याजेन भूषादेः, पादयोः पतनं नतिः।
सामादौ तु परिक्षीणे, स्यादुपेक्षावधारणम्।
समसत्रासहर्षादिः कोपभ्रंशो रसान्तरम्॥ इति॥

हरिणी छन्द है। "न स म र स ला गः षड् वेदैर्हयैर्हरिणी मता"

अर्थात् जिस छन्द के प्रत्येक चरण में न०, स०, म०, र०, स०, ल०, गु० के क्रम से १७ वर्ण हों तथा ६, ४, ७, वर्णों पर यति हो उसे हरिणी छन्द कहते हैं।

न०	स०	म०	र०	स०	ल० गु०
।।।	।।S	SSS	S।S	।।S	
सु त नु;	हृ द यात्,	प्रत्यादे,	श व्य ली,	क म पैं,	तु ते।

अप+इ धातोः लोटि अपैतु।

शकुन्तला—उट्ठेदु अज्जउत्तो। णूणं मे सुरिअप्पडिबंधअं पुराकिदं तेसु दिअहेतु परिणाममुहं आसी जेण साणुक्कासो वि अज्जउत्तो मइ विरसो संवुत्तो। [उत्तिष्ठत्वार्यपुत्रः। नूनं मे सुचरितप्रतिबन्धक पुराकृतं तेषु दिवसेषु परिणाममुखमासीद्येनसानुक्रोशोऽप्यार्यपुत्रो मयि विरसः संवृत्तः।]

(राजोत्तिष्ठति।)

शकुन्तला—अह कहं अज्जउत्तेण सुमरिदो दुक्खभाई अअं जणो ?। [अथ कथमार्यपुत्रेण स्मृतो दुःखभाग्यय जनः ?।]

राजा—उद्धृतविषादशल्यः कथयिष्यामि,

मोहान्मया सुतनु ! पूर्वमुपेक्षितस्ते
यो बाष्पविन्दुरधरं परिबाधमानः।

संस्कृत व्याख्या—शोभना तनुः यस्याः सा तत्सम्बुद्धौ सुतनु=शोभनाङ्गि ! ते तव हृदयान्मनसः प्रत्यादेश एव व्यलीकं प्रत्यादेशव्यलीकं = निराकरणाप्रियं अपैतु दूरी भवतु "व्यलीकं त्वप्रियेऽनृते" इत्यमरः। ननु किमर्थं त्वयाप्रिय कृतमित्यत आह:— किमपीति। तदा=त्वद्दर्शनसमये प्रत्याख्यानसमये वा किमपि-ईषन्मनो यस्यासौ तस्य किमपिमनसः अथवा मनसः इति भिन्नपदम्-किमपि=अनिर्वचनीयं मे=मम, मनसः =चित्तस्य बलवान्=अधिकः सम्मोहः भ्रमः अभूत्। सम्मोहादेव मया प्रत्याख्यातम् न तु कामतः, अतः तदपराधो मे क्षन्तव्यो भवत्येत्यर्थः। प्रबलं बलवत्तमः सम्मोहः येषां तेषां प्रबलतमसां जननां शुभेषु शुभकरकार्येषु वृत्तयः प्रवृत्तयः एवं प्रायाः—इत्थम्भूता एव (भवन्ति)। अन्धः=नेत्रविहीनो जनःशिरसि क्षिप्तां शिरः परिधापितां स्रजं मालामपि अहिशंकया=सर्पाशंकया धुनोति=शिरः कम्पेनाधः पातयति। हरिणीवृत्तम्।

शकुन्तला—आर्यपुत्र उठिये। उन दिनों निश्चय ही मेरे सुख में व्याघात करने वाला मेरा कोई पूर्वजन्म कृत कर्म फल रहा होगा अर्थात् पिछले कर्मों का फल मिल रहा होगा। जिससे कि ऐसे दयालु भी आर्य पुत्र मुझ पर कठोर बन गये थे।

(सानुक्रोशः=दयालु "कृपा दयानुकम्पा स्यादनुक्रोशः" कोश। विरसः= अनुराग रहित)

(राजा उठता है।)

शकुन्तला— अच्छा यह तो बताइये कि आर्यपुत्र को मुझ अभागिनी का स्मरण कैसे हो आया ?

राजा—विषाद रूप वाण के शल्य के निकल जाने पर बतलाऊँगा।

श्लोक २५ अन्वय—हे सुतनु ! मया अधरं परिबाधमानः ते यः बाष्पविन्दुः पूर्वं मोहात् उपेक्षितः अद्य आकुटिलपक्ष्मविलग्नं तं बाष्पं प्रमृज्य तावत् विगतानुशयः भवेयम्।

तं तावदाकुटिलपक्ष्मविलग्नमद्य
बाष्पं प्रमृज्य विगतानुशयो भवेयम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—सुतनु=शोभनांगी—सुन्दरी। परिवाधमानः=पीड़ित करता हुआ। वाष्पविन्दुः=अश्रु कण। मोहात्=अज्ञानवश। पूर्वं=प्रत्याख्यान के समय। उपेक्षितः=उपेक्षित कर दिया था—पोंछा नहीं था। आकुटिलेत्यादि=ईषत् वक्र—कुछ तिरछे नेत्रलोमों में लगे हुये। प्रमृज्य=पोंछ कर। विगतानुशयः=अनुताप—पश्चात्तापरहित।

अनुवाद—हे सुन्दरी! पहले अर्थात् प्रत्याख्यान के दिन, तुम्हारे अधरोष्ठ को पीड़ित करने वाली तुम्हारी जिन आँसुओं की बूँदों को मैंने अज्ञानवश अनाहत कर दिया था अर्थात् उपेक्षित कर दिया था। आज तुम्हारे तिरछे नेत्र लोमों में लगी हुईं उन्हीं अश्रु बूँदों को पोंछ कर पश्चात्ताप रहित हो जाऊँ।

व्याख्या—हे सुन्दरी! प्रत्याख्यान के दिन (पूर्वम्) अधरोष्ठ को पीड़ित करने वाली तुम्हारी जिन आँसुओं की बूँदों को मैंने अज्ञानवश अनाहत कर दिया था कोई ध्यान नहीं दिया था, उन्हें पोंछा नहीं था। आज तुम्हारे तिरछे नेत्र लोमों में लगी हुईं उन्हीं आँसुओं की बूँदों को पोंछ कर मैं पहिले पश्चात्ताप रहित हो जाऊँ (तब सब बतलाऊँगा)

विशेष—मया—से तात्पर्य है कि मुझ अविवेकी धर्मभीरु परम विदग्ध दुष्यन्त के द्वारा अतः यह **अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि** है। वाष्पविन्दुः—यहाँ पर जात्यभिप्राय से एक वचन है। परिवाधमानः—तात्पर्य है कि सर्वतः पीड़ित करता हुआ, वाष्पविन्दु आँखों से निकल कर, कपोलों पर बह कर अधरोष्ठ पर देर तक ठहरे रहने के कारण उसे पीड़ित करते थे इससे वाष्पविन्दुओं की निरन्तरपातिता उष्णता स्थूलता अधिकता चिरस्थिति आदि ध्वनित होती है अन्यथा परिवाधन सम्भव न था। शोकजनित वाष्पविन्दुओं में ये सब उपयुँक्त गुण स्वभावतः सम्भव हैं अतः अधरोष्ठ का पीड़ित होना भी सम्भव है। इससे अधरोष्ठ की अतिसुकुमारता के साथ-साथ शकुन्तला का सौन्दर्यातिशय भी ध्वनित होता है। अश्रुओं के स्थूल एवं चिरस्थायी होने के कारण उनके मार्जन रूप कारण सामग्री के होते हुए भी मार्जन रूप कार्य की उत्पत्ति नहीं हुई अतः कारणसत्वे कार्याभाव रूप **विशेषोक्ति अलंकार** है।

आकुटिलेत्यादि=आ=ईषत्—कुटिल तिरछे जो पक्ष्म उनमें सम्बद्ध, तं=उस, वाष्प=अश्रु कणों को। इससे वाष्प के विन्दुओं का अभाव तथा इस अभाव से अधर पीड़ा भाव ध्वनित किया गया है। यहाँ यह आशंका न होनी चाहिये कि उस समय का वाष्प तो अब है ही नहीं, ये सब नये आँसू हैं अतः 'तं' इस पद का प्रयोग जो कि पूर्व वाष्प का निर्देश करता है, अनुपयुक्त है, क्योंकि यद्यपि उसी

(इति यथोक्तमनुतिष्ठति ।)

शकुन्तला—(नाममुद्रां दृष्ट्वा ।) अज्जउत्त ! एद ते अंगुलीअअं । (आर्यपुत्र ! इदं तेऽङ्गुलीयकम् ।)

राजा—अस्मादङ्गुलीयोपलम्भात्खलुं स्मृतिरुपलब्धा ।

शकुन्तला—विसम किदं णेण जं तदा अज्जउत्तस्स पच्चअकाले दुल्लहं आसि । (विषमं कृतमनेन यत्तदार्यपुत्रस्य प्रत्ययकाले दुर्लभमासीत् ।)

राजा—तेन ह्यृतुसमवायचिह्नं प्रतिपद्यतां लता कुसुमम् ।

समय का वाष्प तो अब तक अवशिष्ट नहीं है तथापि यह प्रसिद्ध है, कि प्रियजनों के देखने से चिरकालानुभूत भी दुःख नये से हो जाते हैं इसी प्रकार अब जब शकुन्तला ने राजा को देखा तो उसे पूर्वप्रत्याख्यान का स्मरण हो आया फलतः आँसू निकल आयें। राजा को आँसुओं को देख कर फिर उन्हीं प्रत्याख्यान के समय के आँसुओं की याद आ गई, अतः एतत्कालीन भी आँसू उसे तत्कालीन से जान पड़ने लगे, यहाँ तं पद द्वारा राजा उसी वाष्प को सूचित करता है। जो वाष्प उस समय शोकावेग के कारण विन्दु रूप से उत्पन्न हुआ था इस समय वह वैसा नहीं था इसलिए उसे पोंछ कर राजा पश्चात्ताप रहित होना चाहता है और इस प्रकार ही वह अपना विषाद शल्य निकालना चाहता है। **पदार्थ हेतुक काव्यलिंग श्रुत्यनुप्रास वृत्यनुप्रास।** यहाँ पर वाष्पविन्दुओञ्छन रूप कार्य का अन्वेषण किया गया है अतः **निर्वहण सन्धि का विबोध** नामक अंग है जिसका कि लक्षण दर्पणकार ने **"विबोधः कार्यमार्गणम्"** लिखा है, ऐसा कोई आचार्य मानते हैं। **वसन्त तिलका** छन्द है 'ज्ञेया वसन्ततिलका तभजाजगौ गा"

संस्कृत व्याख्या—हे सुतनु-शोभनाङ्गि ! मया दुष्यन्तेन अधरं-अधरोष्ठं परिबाधमानः=परितः पीडयन् यः ते वाष्पविन्दुः अश्रुकणः (जात्यभिप्रायेणैकवचनम्) मोहात्-अज्ञानतः उपेक्षितः, अद्य आकुटिलेषु—ईषद्वक्रेषु पक्ष्मसु नेत्रलोमसु विलग्नं=संसक्तमिति-आकुटिलपक्ष्मविलग्नं तं वाष्पं प्रमृज्य प्रास्य तावत् विगतः विनष्टः अनुशयः-अनुतापो यस्य स विगतानुशयः भवेयम्। उक्ता अलंकारादयः। वसन्ततिलकं वृत्तम्।

(**यह कह कर वैसा ही जैसा** कहा था करता है, अर्थात् आँसू पोंछता है)

इससे प्रसाद नामक निर्वहण सन्धि का अंग भी प्रदर्शित किया गया है जिसका लक्षण है **"शुश्रुषादिः प्रसादः स्यात्"** सा० द०।

शकुन्तला—(नामाङ्कित अँगूठी देख कर) आर्यपुत्र ! यह वही अँगूठी है ? अर्थात् क्या यह वही अँगूठी है।

(जिससे मेरी यह दुर्दशा हुई है)

अथवा जिसको आपने मेरे हाथ में पहनाया था और फिर भी भूल गये थे।

शकुन्तला ण से विस्सामि। अज्जउत्तो एव्व णं धारेदि। (नास्य विश्वसिमि। आर्यपुत्र एवं तद्धारयतु।)

(ततः प्रविशति मातलिः।)

मातलिः—दिष्टया धर्मपत्नीसमागमेन पुत्रमुखदर्शनेन चायुष्मान्वर्धते।

राजा–अभूत्संपादितस्वादुफलो मे मनोरथः। मातले! न खलु विदितोऽयमाखण्डलेन वृत्तान्तः स्यात्?

मातलि:—(सस्मितम्) किमीश्वराणां परोक्षम्। एत्वायुष्मान्; भगवान्मारीचस्ते दर्शनं वितरति।

राजा—इसी अँगूठी की प्राप्ति से ही तो मुझे (सब बातों की) याद आ गई थी। (उपलम्भात् = प्राप्ति से)

शकुन्तला—वास्तव में यह सब उलट फेर इसी ने किया था क्योंकि उस समय आर्यपुत्र को विश्वास दिलाने के समय यह दुर्लभ हो गई थी? न जाने कहाँ चली गई थी अन्यथा ऐसा क्यों होता। (प्रत्यय=विश्वास)

राजा—तो अब यह मिल गई है इसलिये लता ऋतु के समवाय=सम्बन्ध के चिह्नभूत पुष्प को धारण करे, वसन्त ऋतु के सम्बन्ध (मिलन) के चिह्नस्वरूप कुसुम को लता अब धारण कर ले तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार वसन्तादि ऋतु के मिलन के चिह्नरूप अपने फूल को लता धारण करती है उसी प्रकार लता के समान तन्वी सुकुमारी तुम ऋतु के मिलन रूप मेरे मिलन के चिह्न रूप फूल= इस अपने फूल अर्थात् अँगूठी को धारण करो। सारांश यह है कि जैसे लता में फूल लगने से यह पता चल जाता है कि लता का वसन्त से मिलन हो गया है वैसे ही तुम भी अब मुझ से मिलने की पहचान के लिए इस अँगूठी को पहन लो। (ऋतु समवायः=ऋतु का सम्बन्ध, प्रतिपद्यताम्=प्राप्त करे)

यहाँ निर्वहण सन्धि का भाषण नामक अंग प्रदर्शित किया गया है जैसा कि लक्षण है **"सामदानादि भाषणम्"** सा० द०।

शकुन्तला:—मुझे इसका विश्वास नहीं है। इसे आप ही पहने रहें।

"राजा—प्रिये! स्मृतिभिन्न" से लेकर 'नास्य विश्वसिमि' तक **निर्वहण सन्धि का परिभाषण नामक अंग** प्रदर्शित किया गया है जिसका लक्षण है:—**"परिभाषा मिथो जल्पः। अथवा 'मिथः संजल्पनं यत्स्यात् तदाहुः परिभाषणम्"**

(मातलि का प्रवेश)

इस मातलि प्रवेश से **ग्रंथन नामक निर्वहण सन्धि का अंग** प्रदर्शित किया गया है जिसका लक्षण है **"उपक्षेपस्तु कार्याणां ग्रथनं परिकीर्तितम्** अथवा **"ग्रथन तदुपक्षेपः"** कार्याणी—उपक्षेप:—उपन्यासः अतएव **"उपन्यासस्तु कार्याणां ग्रन्थनम्"** सा० द०।

राजा—शकुन्तले ! अवलम्ब्यतां पुत्रः । त्वां पुरस्कृत्य भगवन्तं द्रष्टुमिच्छामि ।

शकुन्तला—हिरिआमि अज्जउत्तेण सह गुरुसमीयं गंतुं । (जिह्वे आर्यपुत्रेण सह गुरुसमीपे गन्तुम् ।)

राजा—अप्याचरितव्यमभ्युदयकालेषु । एह्येहि ।

(सर्वे परिक्रामन्ति ।)

(ततः प्रविशत्यदित्या सार्धमासनस्थो मारीचः ।)

मारीचः— (राजानमवलोक्य ।) दाक्षायणि !

पुत्रस्य ते रणशिरस्ययमग्रयायी
दुष्यन्त इत्यभिहितो भुवनस्य भर्ता ।

मातलि :—भाग्यवश धर्म पत्नी से मिलने और पुत्र के मुख देखने की आयुष्मान् को बधाई है । वर्धते=वृद्धि को प्राप्त होना, "**वृद्धि रभ्युदयोऽस्त्रियाम्**, कोश) अर्थात् वर्धते का अर्थ है अभ्युदय प्राप्त करना, पत्नी के मिलने और पुत्र मुख देखने से जो आपको अभ्युदय लाभ हुआ है यह आनन्द का विषय है अतः आपको बधाई है ।

राजा :—मेरा मनोरथ तो वास्तव में बड़ा मधुर फल देने वाला हुआ है, मातलि ! पर भगवान इन्द्र को तो इस वृत्तान्त का पता होगा नहीं ?

इससे प्रहर्ष नामक **नाट्यालंकार उपक्षिप्त** किया गया है जिसका लक्षण है । "**प्रहर्षः प्रमदाधिक्यम्**" सा० द० । अत्यधिक आनन्दोपलब्धि ही प्रहर्ष होती है ।

मातलि :—(मुस्कराते हुये) ऐश्वर्यशाली सामर्थ्यवानों के लिये तो कोई बात छिपी हुई नहीं रहती है, आइये, आयुष्मान् भगवान् मारीच आपको दर्शन देना चाहते हैं ।

राजा :– शकुन्तले ! बालक को सम्भालो । मैं तुम्हें आगे करके (साथ लेकर) भगवान् के दर्शन करना चाहता हूँ ।

शकुन्तला : - आर्य पुत्र के साथ बड़ों के पास जाने में मुझे लज्जा आ रही है ।

राजा :—मंगल हर्ष, उत्सवादि के समय तो ऐसा करना ही चाहिये अर्थात् हर्ष के समय तो साथ ही चला जाता है, आओ, आओ । (सब चलते हैं)

(अदिति के साथ आसन पर बैठे हुये मारीच का प्रवेश) प्रवेश का यहाँ अर्थ है बैठे हुये दिखाई पड़ते हैं ।

मारीच :—(राजा को देखकर) दक्षपुत्रि ! 'आत्मनाम गुरोर्नाम् नामातिकृपणस्य च, श्रेयस्कामो न गृह्णायात् ज्येष्ठापत्यकलत्रयोः" इस वचनानुसार पत्नी का नाम (अदिति) न लेकर भगवान् कश्यप उसे दक्षपुत्री कहते हैं ।

चापेन यस्य विनिर्वर्तितकर्मजातं
तत्कोटिमत्कुलिशमाभरणं मघोनः ।। २६ ।।

अदिति :—सम्भावणीअणुभावा से आकिदी ।(सम्भावनीयानुभावाऽस्याकृतिः ।)

श्लोक २६ अन्वय :—भुवनस्य भर्ता दुष्यन्त इति अभिहितः अयं ते पुत्रस्य रणशिरसि अग्रयायी (अस्ति) यस्य चापेन विनिर्वर्तितकर्म कोटिमत् तत् मघोनः कुलिशं आभरणं जातम् ।

शब्दार्थ :—भुवनस्य=भूमण्डल—मर्त्य लोक का, भर्ता=पालन करने वाला, इससे राजा का चक्रवर्ती होना तथा प्रजावत्सल होना ध्वनित होता है । दुष्यन्त इत्यभिहितः=दुष्यन्त इस नाम से प्रसिद्ध अर्थात् दुष्यन्त जिसका नाम है । इससे राजा का भुवनविदित होना सूचित होता है । अयं =सामने उपस्थित पुरुष । ते पुत्रस्य=तुम्हारे पुत्र इन्द्र के । इससे राजा का इन्द्र का कृपा पात्र एवं प्रीति पात्र होना सूचित किया गया है । रणशिरिसि=युद्ध भूमि में, अग्रयायी=सब सैन्यों के आगे चलने वाला । इससे राजा का परिक्रमातिशय द्योतित होता है । विनिर्वर्तितकर्म=दानव वधादि विजय रूप कर्म को जिसने पूरा कर दिया है । तत्=प्रसिद्ध । कोटिमत्=तीक्ष्ण धार वाला । कुलिश=इन्द्र का अस्त्र वज्र । मघोन :—इन्द्र का । आभरणं जातम्=अलंकार स्वरूप, केवल शोभा मात्र जनक हो गया है ।

अनुवाद :—हे दक्षपुत्रि ! मर्त्यलोक का पालन करने वाला, दुष्यन्त इस नाम से प्रसिद्ध यह राजा, तुम्हारे पुत्र, इन्द्र की युद्ध भूमि मे आगे चलने वाला है । जिस इसके धनुष से ही, दैत्यवधादि कार्य जिसका पूरा कर दिया गया है, तीक्ष्णाधार वाला इन्द्र का वह वज्र केवल अलंकार मात्र रह गया है ।

व्याख्या :—हे दक्षपुत्री ! संसार का पालन करने वाले दुष्यन्त नाम से प्रसिद्ध यह राजा तुम्हारे पुत्र इन्द्र के युद्ध में सबसे आगे चलते हैं अर्थात् संग्राम भूमि में सबसे आगे आकर युद्ध करते हैं । जिस इनके धनुष से ही वज्र का दैत्यवधादि सभी काम पूरा कर दिया गया है अतः तीक्ष्ण धार वाला इन्द्र का वह वज्र केवल अलंकार मात्र रह गया है अर्थात् जो काम वज्र से होना चाहिये था वह इनके धनुष से कर डाला गया है अतः अब वह वज्र इन्द्र के हाथ का केवल आभूपण मात्र रह गया है, केवल देखने की वस्तु मात्र रह गई है, शत्रु विजय के काम की नहीं, क्योंकि दुष्यन्त के धनुष ने ही सब शत्रुओं का वध कर डाला है ।

विशेष :—यहाँ लोकातिशय वीर्य सम्पत् का वर्णन होने से **उदात्तालंकार** है, आभरण के प्रति विनिर्वतित कर्म पदार्थ हेतु है अत. पदार्थ हेतुक **काव्यलिंग** है। धनुष के द्वारा वज्र का कार्य सम्पादन रूप जो कार्य का कथन किया गया है उससे सम्पूर्ण शत्रु वध रूप कारण की प्रतीति होती है अतः **पर्यायोक्त अलंकार** है। "आभ-

मातलिः—आयुष्मन् ! एतौ पुत्रप्रीतिपिशुनेन चक्षुषा दिवौकसां पितरावायुष्मन्तमवलोकयतः । तावुपसर्प ।

राजा—मातले ! एतौ,—

प्राहुर्द्वादशधा स्थितस्य मुनयो यत्तेजसः कारणं
भर्तारं भुवनत्रयस्य सुषुवे यद्यज्ञभागेश्वरम् ।
यस्मिन्नात्मभवः परोऽपि पुरुषचक्रे भवायास्पदं
द्वन्द्वं दक्षमरीचिसम्भवमिदं तत्स्रष्टुरेकान्तरम् ।। २७ ।।

रण अर्थात् आभरण रूप'' यहाँ **रूपक** अलकार है । वीर रस से उपस्कृत यहाँ राजविषयक रति भाव है । **छेकानुप्रास वृत्यनुप्रास । बसन्ततिलका छन्द** है ।

या धातोः णिनि— यायी, अभि+धा+क्त=अभिहितः,

संस्कृत व्याख्या :—भुवनस्य—मर्त्यलोकस्य भर्ता=पालकः दुष्यन्त इति अभिहित :—दुष्यन्त इति नाम्ना प्रसिद्धः अयं पुरोदृश्यमानः पुरुषः ते तब पुत्रस्य इन्द्रस्य रणशिरसि = संग्रामे—अग्रयायी=अग्रेसरः (अस्ति) यस्य दुष्यन्तस्य चापेन धनुषा विनिर्वर्तितं सम्पादितं कर्म दैत्यहननादिकर्म यस्य तत् इति विनिर्वर्तितकर्मं तत् प्रसिद्धं मघोनः इन्द्रस्य कोटिमत्=तीक्ष्णाग्रं कुलिशं वज्रं आभरणं—अलंकार स्वरूपम् जातम् । करशोभा जनकमेवाधुना मघोनः कुलिशं न तेन विजयादिलाभः, दुष्यन्त धनुषैव तत्सम्पादनादिति भावः ।

अदिति :—इसकी आकृति से ही इसके पराक्रम का अनुमान किया जा सकता है । (अनुभाव = प्रभाव—पराक्रम, सम्भावनीया = सम्भावना करने के योग्य)

मातलि :—आयुष्मन् ! ये देवताओं के माता पिता पुत्र प्रेम सूचक दृष्टि से तुम्हारी ओर देख रहे हैं, अर्थात् अदिति और कश्यप देवताओं के माता पिता हैं ये तुम्हें वैसे ही देख रहे हैं, जैसे माता पिता अपने पुत्र को देखते हैं (पुत्रप्रीतिपिशुनेन =पुत्र के प्रेम की सूचना देने वाले) इसलिये इनके पास चलिये ।

राजा :—मातलि ! ये दोनों :—

श्लोक २७ **अन्वय** :—मुनयः यत् द्वादशधा स्थितस्य तेजसः कारणं प्राहुः, यत् यज्ञभागेश्वरं भुवनत्रयस्य भर्तारं सुषुवे, यस्मिन् आत्मभवः परः पुरुषः अपि भवाय आस्पदं चक्रे, दक्षमरीचिसम्भवं अतः स्रष्टुः एकान्तरं इदं तत् द्वन्द्वं (अस्ति) ।

शब्दार्थ—मुनयः=व्यासादि मुनि । इससे यह द्योतित किया गया है कि इनके वाक्य वेदमूलक होने से प्रामाणिक है अतः इस विषय में भ्रम और प्रमाद न समझना चाहिये । यत्=द्वन्द्व जोड़ा—अदिति कश्यप यह पति पत्नी का जोड़ा । द्वादशधा स्थितस्य=बारह प्रकार से विद्यमान, तेजसः कारणम्=सूय का उत्पत्ति स्थान—प्रभवं, आहुः=कहते हैं अर्थात् जिस अदिति कश्यप रूप जोड़े को व्यासादि मुनि बारह मासों में बारह प्रकार के स्वरूप धारण करने वाले तेज अर्थात् सूर्य का

प्रभव स्थान कहते हैं अर्थात् इसी जोड़े से सूर्य की उत्पत्ति हुई है। यत्=जिस द्वन्द्व ने यज्ञभागेश्वरं=यज्ञभाग=देवता, ईश्वर=अधिपति अर्थात् देवाधिपति, भुवनत्रयस्य=तीनों लोकों के, भर्तारं=रक्षक अर्थात् इन्द्र को, सुषुवे=उत्पन्न किया है जन्म दिया है अर्थात् इसी जोड़े से इन्द्र की उत्पत्ति हुई है। यस्मिन्=जिस जोड़े में। आत्मभवः=स्वयम्भू। परः पुरुषः=परम पुरुष विष्णु ने। भवाय=वामन रूप से जन्म धारण करने के लिये। आस्पदं चक्रे=स्थान ग्रहण किया था। अर्थात् स्वयम्भू परम पुरुष विष्णु ने भी जिस जोड़े में जन्म धारण किया था, अर्थात् वामन भगवान् भी इसी जोड़े से उत्पन्न हुये थे। दक्षमरीचिसम्भवम्=दक्ष और मरीचि से उत्पन्न अर्थात् अदिति दक्ष पुत्री हैं और भगवान् मारीच मरीचि पुत्र है अतः यह जोड़ा दक्ष और मरीचि से उत्पन्न है। अतएव स्रष्टुः एकान्तरम्=स्रष्टुः=ब्रह्मा का, एक अन्तर एक-मरीचि आदि से अन्तर=व्यवधान जिसमें है अर्थात् ब्रह्मा से उत्पन्न होने के कारण दक्ष ब्रह्म पुत्र हैं तथा ब्रह्मा के मन से उत्पन्न होने के कारण मरीचि भी ब्रह्म पुत्र हैं, दक्ष पुत्री अदिति है तथा मरीचि पुत्र कश्यप हैं अतः इस अदिति कश्यप रूप जोड़े में केवल ब्रह्मा का एक मरीचि आदि रूप अन्तर है। सारांश यह है कि जो ब्रह्मा से एक पीढ़ी पीछे दक्ष व मरीचि से उत्पन्न हुये हैं। इदं तत् द्वन्द्वं=यह पुरोदृश्यमान प्रसिद्ध अदिति कश्यप का द्वन्द्व है क्या। यहाँ काकु द्वारा प्रश्न का अनुमान किया जाता है अर्थात् राजा पूँछता है कि क्या वह यही द्वन्द्व है ?

अनुवाद :— क्या यह वही दक्ष मरीचि से उत्पन्न पति पत्नी का जोड़ा है जो कि ब्रह्मा से एक पीढी का अन्तर रखने वाला है, तथा जिस जोड़े को व्यासादि मुनि बारह प्रकार से स्थित आदित्य का उत्पत्ति स्थान कहते हैं, जिस जोड़े ने देवाधिपति तीनों लोकों के रक्षक इन्द्र को उत्पन्न किया है और जिस जोड़े में स्वयम्भू परम पुरुष विष्णु ने जन्म ग्रहण करने के लिये स्थान ग्रहण किया था।

व्याख्या— क्या वे ही यह पति-पत्नी हैं जो कि ब्रह्मा से एक पीढी बाद दक्ष और मरीचि से उत्पन्न हुये हैं, तथा जिन्हें व्यासादि मुनि बारहों आदित्यों के माता पिता कहते हैं और देवाधिपति त्रिभुवन पालक इन्द्र ने भी जिनसे जन्म लिया है तथा स्वयं परम पुरुष विष्णु ने स्वयम्भू होकर भी वामन रूप में जिनसे जन्म लिया था !

विशेष—द्वादशधा स्थितस्य :—द्वादश मूर्तिधर सूर्य अदिति से उत्पन्न होते हैं जैसा कि महाभारत में कहा गया है "अदित्यां द्वादशादित्याः सम्भूता भुवनेश्वराः"

द्वादशादित्यों के नामः—"तत्र विष्णुश्च शक्रश्च जज्ञाते पुनरेव हि।
अर्यमा चैव धाता च त्वष्टा पूषा तथैव च
विवस्वान् सविता चैव मित्रो वरुण एव च
अंशुर्भगश्चादितिजा आदित्या द्वादश स्मृताः।
विष्णु पुराण।

द्वादशधा स्थितस्य का अर्थ कोई आचार्य कलात्मकस्य अर्थात् १२ कलाओं (को) धारण करने वाले, कहते हैं अतः उनके मत में १२ कलायें :—

तपिनी तापिनी धूम्रा मरीचिर्ज्वालिनी रुचिः
सुषुम्ना भोगदा विश्वा बोधिनी धारिणी क्षमा

द्वादशधा स्थितस्य तेजसः कारणम् इससे अदिति कश्यप का अतिशय प्रभाव-(शा)ली होना व्यञ्जित होता है क्योंकि वे तीनों लोकों को प्रकाशित करने वाले सम्पूर्ण (प्रजा) कलाप को प्रगति देने वाले महामहिमशाली सूर्यदेव के भी उत्पादक हैं।

भुवनत्रयस्य भर्तारम् :—भूः भुव स्वः रूप तीनों लोकों की रक्षा करने वाले (अर्था)त् पालन कर उनको धारण करने वाले अतएव तीनों लोकों के स्वामी। इससे (इन्द्र)का प्रभावातिशयशालित्व द्योतित होता है। इसी प्रकार यज्ञ भागेश्वर पद भी (इन्द्र)का प्रभावातिशय द्योतित करता है। ऐसे प्रभावशाली इन्द्र को भी जन्म देने वाले (अदि)ति कश्यप सुतरां महाप्रभावशाली है यह ध्वनित होता है।

इन्द्र अदिति कश्यप से जन्म लेते हैं इस सम्बन्ध में विष्णु पुराण में कहा (गया) है "अदिते कश्याज्जाता देवाश्चेन्द्रादयोऽनघ।" इति। यस्मिन्नित्यादि चरण में (भव)ाय का अर्थ संसार का कल्याण भी है अर्थात् स्वयम्भू परम पुरुष विष्णु भी संसार (के) कल्याण के लिए जिसमें जन्म-धारण करते हैं वामन भगवान् ने अदिति में ही कश्यप (से) जन्म धारण किया था इस सम्बन्ध में भी विष्णुपुराण में कहा गया है :—

मन्वन्तरे च सम्प्राप्ते तथा वैवस्वते द्विज !
वामनः कश्यपाद्विष्णुरदित्यां संबभूव ह ।। इति ।।

स्नष्टुरेकान्तरम्—से अदितिकश्यप का ब्रह्मतुल्यत्व ध्वनित होता है।

द्वन्द्वम् = मिथुनम्—जोड़ा 'स्त्रीपुंसौ मिथुनं द्वन्द्वम्" कोश।

यहाँ "अङ्गभूतमहापुरुषचरितवर्णनमुदात्तम्" इस लक्षणानुरोध से तीन चरणों (में) महापुरुष का चरित वर्णित होने से मालोदात्तालंकार है। कोई आचार्य यहाँ (समु)च्चयालंकार भी मानते हैं क्योंकि यहाँ अदिति कश्यप के महोत्कर्षप्रतिपादनरूप (का)र्य के प्रति बहुविधि कारणों का कथन किया गया है। आत्मभवः भवाय यह (वि)रोधाभासालंकार है। भवो भवेति द्वन्द्वेति छेकानुप्रास तथा वृत्यनुप्रास है। प्रथम (च)रण में कारणं, द्वितीय में सुषुवे, तृतीय में आस्पदं चक्र इस प्रकार एक ही कारण (क)ा पर्यायों से ग्रहण किया गया है अतः अर्थावृत्ति अलंकार है। यहाँ अदित्यादि-(वि)षयक रति से उपस्कृत द्वन्द्व विषयक रति भाव है।

विष्णु पुराण में ब्रह्मपुत्रों एवं उनके द्वारा रचित देव दानवों की सृष्टि के (स)म्बन्ध में इस प्रकार वर्णन है—

"अथान्यान् मानसान् पुत्रान्सदृशानात्मनोऽसृजत्
भृगुं पुलस्त्यं पुलहं क्रतुमङ्गिरसं तथा
मरीचिं दक्ष मत्रिञ्च मानसान्" इति।

मातलि :—अथ किम् ?।

राजा—(उपगम्य ।) उभाभ्यामपि वासवानुयोज्यो दुष्यन्तः प्रणमति।

मारीचः—वत्स ! चिरं जीव; पृथिवीं पालय

अदितिः—वच्छ ! अप्पडिरहो होहि । [वत्स ! अप्रतिरथो भव ।]

शकुन्तला—दारअसहिदा वो पादवंदणं करेमि । [दारकसहिता वां पादवन्दनं करोमि ।]

मारीचः—वत्से !

तथाः—भृगोः ख्यातिर्भवेत् सत्यं संभूतिश्च मरीचयः इति ।

तथाः—षष्टिं दक्षोऽसृजत् कन्या दारिण्यामिति नः श्रुतम्।
ददौ च दश धर्माय कश्यपाय त्रयोदश इति ।

तथाः—मारीचाः कश्यपाज्जातास्ते दैत्याः दक्षकन्ययोः । यह वैवस्वत मन्वन्तर की सृष्टि है । यह शार्दूलविक्रीडित छन्द है । "सूर्याश्वैर्यदि मः स जौसततगाः शार्दूलविक्रीडितम्" अर्थात् जिस छन्द के प्रत्येक चरण में म० स० ज० स० त० त० गण हों तथा अन्त में एक गुरु वर्ण हो इस प्रकार १६ वर्ण हों, १२ एवं ७ पर यति हो वह शार्दूल विक्रीडित छन्द होता है

सूञ् धातोः लिटि सुषुवे । भूधातोः अप् प्रत्यये भवः ।

संस्कृत व्याख्या—मुनयः=व्यासादयः यत् द्वन्द्वं द्वादशधा स्थितस्य=द्वादशसु मासेषु द्वादशमूर्तिधरस्य, तेजसः=सूर्यस्य "द्वादशात्मा दिवाकरः इत्यमरः" कारणं निदानं प्राहुरामनन्ति । यत् द्वन्द्वं भुवनत्रयस्य=भूर्भुवः स्वर्लक्षणस्य त्रैलोक्यस्य भर्तारं=पालकं पोषकत्वेन धारणसमर्थं स्वामिनमिति भावः । यज्ञे भागो येषां ते यज्ञ भागो देवास्तेषामीश्वरस्तमिति यज्ञभागेश्वरं देवाधिपतिं—इन्द्रमित्यर्थः सुषुवे=जनयामास । यस्मिन् द्वन्द्वे आत्मना भवतीत्यात्मभवः स्वयम्भूः, परः=उत्कृष्टः पुरुषः=परमपुरुषो विष्णुरपि भवाय जन्मने—आस्पदं स्थानं चक्रे जन्मतासम्बन्धेन प्रतिष्ठां कृतवानित्यर्थः वामनरूपेणावततारेति यावत् । दक्षमरीचिभ्यां सकाशात् सम्भवतीति दक्षरीचिसम्भवं स्रष्टुः=ब्रह्मणः सकाशात्—एकान्तरम्=एकेन व्यवधानम् अर्थात् ब्रह्मणा कश्यपस्य एकेन मरीचिना व्यवधानं अदितेश्च एकेन दक्षेण व्यवधानं इति भावः एवम्भूतं इद पुरतो दृश्यमानं तत् प्रसिद्धं द्वन्द्वं मिथुनं किम्, अदितिकश्यपात्मकस्त्रीपुंसौ इत्यर्थः । अत्र काक्वा प्रश्नो गम्यते । उक्ता अलंकारादयः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।

मातलि :—और क्या अर्थात् जो तुमने कहा ठीक है ये अदिति कश्यप ही हैं।

राजा :—(पास जाकर) यह इन्द्र का सेवक दुष्यन्त आप दोनों को प्रणाम करता है । वासव=इन्द्र, अनुयोज्यः-सेवक अर्थात् इन्द्र का किङ्कर) "नियोज्यकिङ्कर प्रेष्यभुजिष्य परिचारकाः" कोश । इस कथन से राजा ने अपना अत्यन्त अपकर्ष एवं विनयशीलत्व द्योतित किया है जिससे कि वह देवगुरु का करुणापात्र हो सके ।

आखण्डलसमो भर्ता जयन्तप्रतिमः सुतः ।
आशीरन्या न ते योग्या पौलोमीसदृशी भव ।। २८ ।।

अदितिः जादे ! भत्तुणो अभिमदा होहि । अवस्सं दीहाऊ वच्छओ उभअकुलणंदणो होदु । उवविसह । [जाते ! भर्तुरभिमता भव । अवश्यं दीर्घायुर्वत्स उभयकुलनन्दनो भवतु । उपविशत ।]

(सर्वे प्रजापतिमभित उपविशन्ति ।)

मारीचः—(एकैकं निर्दिशन् ।)

गुरु पत्नी का भी पाद ग्रहण पूर्वक अभिवादन करनाशास्त्र विरुद्ध है अतएव राजा ने पाद ग्रहण न करके दूर से ही प्रणाम किया है—

"गुरुपत्नी तु युवतिर्नाभिवाद्या ह पादयोः ।
पूर्णविंशतिवर्षेण गुणदोषौ विजानता" इति
कामन्तु गुरुपत्नीनां युवतीनां युवा भुवि ।
विधिवद्वन्दनं कुर्यादसावहमिति ब्रुवन् ।। इति ; भगवान् मनुः ।

अभिवादन करते समय अपना नाम उच्चारण करना चाहिये जैसा कि राजा ने "दुष्यन्तः" यह अपना नाम उच्चारण करके प्रणाम किया है :—

"अभिवादनपरो विप्रो ज्यायान् समभिवादयन् ।
असौ नामाहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेत् ।। इति ; मनुः ।

परन्तु स्त्रियों के लिये यह विधान नहीं है अतएव आगे शकुन्तला पादवन्दन करती है । "दारक सहिता वां पादवन्दनं करोमि"

मारीच :—वत्स ! बहुत दिनों तक जीओ, और पृथिवी का पालन करो ।

अदिति :—वत्स ! विपक्षविहीन होओ, अर्थात् तुम इतने बलवान् होओ कि शत्रु तुम्हारे आगे न टिक सके । (अप्रतिरथः=प्रतिरथ=शत्रु, अप्रतिरथः=शत्रु रहित)

इस कथन से ही पृथ्वी पालन एवं इन्द्र की सहायता करना सिद्ध होता है ।

शकुन्तला :—पुत्र सहित मैं आप के चरणों की वन्दना करती हूँ । (दारक =पुत्र)

मारीच :—पुत्री !

श्लोक २८ अन्वय :—भर्ता आखण्डलसमः, सुतः जयन्तप्रतिमः, (अतएव) ते अन्या आशीः न योग्या पौलोमीसदृशी भव ।

शब्दार्थ :—आखण्डलसमः—इन्द्रतुल्यः, जयन्तप्रतिमः=इन्द्र पुत्र जयन्त के समान (प्रतिमा=उपमा अर्थात् जयन्त जिसका उपमान हो)

ते=तुम्हारे सम्बन्ध में । अन्या आशीः योग्या न=इसके अतिरिक्त अन्य

दिष्टचा शकुन्तला साध्वी सदपत्यमिदं भवान् ।
श्रद्धा वित्तं विधिश्चेति त्रितयं तत्समागतम् ॥ २९ ॥

राजा—भगवन् ! प्रागभिप्रेतसिद्धिः । पश्चाद्दर्शनम् । अतोऽपूर्वः खलु वोऽनुग्रहः । कुतः ?

कोई आशीर्वाद उपयुक्त नहीं है। पौलोमीसदृशी=इन्द्राणीतुल्य (पुलोम की पुत्री पौलोमी=इन्द्राणी)

अनुवाद:—तुम्हारा पति इन्द्र तुल्य है पुत्र इन्द्र पुत्र जयन्त के समान है, अतः तुम्हारे लिये अन्य कोई आशीर्वाद उपयुक्त नहीं है, तुम इन्द्राणी सदृशी बनो।

व्याख्या:—वत्से ! तुम्हारा पति इन्द्र के समान है, तुम्हारा पुत्र इन्द्र पुत्र जयन्त के समान है। इसलिये तुम्हारे सम्बन्ध मे और कोई आशीर्वाद उपयुक्त नहीं है केवल यही कि तुम भी इन्द्राणी के समान तेजस्विनी, बनो।

विशेष—भव पद को 'भवतु' इस प्रकार विपरिणाम के द्वारा प्रथम दो वाक्यों में भी लगाने से अर्थात् 'ते भर्ता आखण्डलसमः भवतु, पुत्रश्च जयन्तप्रतिमः भवतु" त्वञ्च पौलोमीसदृशी भव इति" यहाँ तीन आशीर्वाद हैं अथवा अन्त्य वाक्य में ही आशीर्वाद है। आशीर्वाद से तात्पर्य है कि जिस प्रकार इन्द्राणी सदा अपने पति से अवियुक्त तथा सदा सधवा रहती है उसी प्रकार तुम भी होओ।

इस प्रकार यहाँ तृतीय पादगत अर्थ के प्रति पूर्ववाक्यद्वयगतार्थ हेतु है अतः वाक्यार्थ हेतुक काव्यलिंग है। उपमा, अनुप्रास, अनुष्टुप् छन्द है। आशंसा नामक नाट्यालंकार है "आशंसनं स्यादाशंसा" सा० द०। वात्सल्य भाव।

संस्कृत व्याख्या—भर्ता=पतिः दुष्यन्तः, आखण्डलसमः=इन्द्रसदृशः-प्रभावे सम्पत्तौ चेन्द्रसमः, तथा सुतस्ते पुत्रः सर्वदमनः जयन्तः प्रतिमा=उपमा यस्य स जयन्तप्रतिमः=जयन्त नाम इन्द्र पुत्रतुल्यः ते=तव सम्बन्धे, अन्या=एतद् व्यतिरिक्ता, आशीः=शुभाशंसावचनं योग्या=उपयुक्ता न अतः त्वं पलोमासदृशी=पुलोमपुत्री शचीतुल्या भव। चिरमविधवा पत्याविरहिता च भवेत्यर्थः। अनुष्टुप् वृत्तम्।

अदिति—बेटी ! पति का आदर प्राप्त करो अर्थात् अपने पति द्वारा आदरणीय बनो। ऐसा पतिवियोग का दुःख फिर कभी न मिले और तुम्हारा पुत्र अवश्य चिरञ्जीवी होकर मातृकुल एवं पितृकुल दोनों को आनन्द दे। (आओ) बैठ जाओ।

(सब प्रजापति के चारों ओर बैठ जाते हैं) अभितः=चारों ओर।

मारीच—(अलग अलग एक एक को संकेत करते हुये)

श्लोक २९ अन्वय—दिष्ट्या साध्वी शकुन्तला इदं सदपत्यं, तथा भवान् तत् श्रद्धा वित्तं विधिः च इति त्रितयं समागतम्।

शब्दार्थ—दिष्ट्या=सौभाग्यवश, साध्वी=सच्चरित्रा पतिव्रता। इदं

उदेति पूर्वं कुसुमं ततः फलं
घनोदयः प्राक्तदनन्तरं पयः ।
निमित्तनैमित्तिकयोरयं क्रम-
स्तव प्रसादस्य पुरस्तु संपदः ।। ३० ।।

सदपत्यं=यह सत्पुत्र। तथा भवान्=तत्तद्गुणविशिष्ट आप 'अर्थान्तर संक्रमित-वाच्य ध्वनिः' तत्=इस कारण से। श्रद्धा=आस्तिक बुद्धि—भक्ति। वित्तं=धन-सञ्चय। विधिः=यज्ञादिक्रिया। इति त्रितयं=यह तीन वस्तुयें, समागतम्=मिल गई हैं। अर्थात् शकुन्तला श्रद्धारूप, पुत्र वित्त रूप, आप विधि रूप।

अनुवाद—सौभाग्य की बात है कि सच्चरित्रा पतिव्रता शकुन्तला और यह सत्पुत्र और आप, ये तीनों (इस प्रकार मिल गये हैं जैसे) श्रद्धा, धन और विधि एक साथ मिल गये हों।

व्याख्या— आज सौभाग्य वश पतिव्रता शकुन्तला, श्रेष्ठ पुत्र और आप ये तीनों इस प्रकार मिल गये हैं जैसे श्रद्धा, धन तथा यज्ञानुष्ठान एक साथ मिल गये हों।

विशेष—त्रितयं इस पद से यह ध्वनित होता है कि 'समागतम्' के प्रति प्रत्येक कर्ता है न केवल भवान् ही अतः स्त्री एवं बालक की अवज्ञा न करनी चाहिये। यहाँ वस्तुतः उस समय श्रद्धा, वित्त तथा विधि इन तीनों के समागम के न होने पर भी जिस प्रकार उनका समागम कल्पित कर यज्ञादिकर्मानुष्ठान की सम्पन्नता प्रकट की गई है उसी प्रकार पुत्र सहित शकुन्तला का दुष्यन्त के साथ समागम होने पर गार्हस्थ्य धर्मपालन सुसम्पन्न होगा यह प्रकट किया गया है अतएव यहाँ पर असम्भवद्वस्तु सम्बन्ध लक्षणा निदर्शनालंकार है और कोई यहाँ पर सम्भद्वस्तु सम्बन्ध लक्षणा ही निदर्शना मानते हैं क्योंकि श्रद्धावित्तविधि के साथ शकुन्तला तदपत्य तथा दुष्यन्त (भवान्) का बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव प्रकट होता है। कहीं 'त्रितयं वः समागतम्' यह पाठ है अतः अभिरूप समागमबोधित होने से समालंकार है। अनुष्टुप् छन्द है। इस छन्द के प्रत्येक चरण में आठ वर्ण होते हैं।

"पञ्चमं लघु सर्वत्र सप्तमं द्विचतुर्थयोः, षष्ठं गुरु विजानीयाच्छेषेष्वनियमो मतः"। अर्थात् प्रत्येक चरण का पंचम वर्ण लघु तथा षष्ठ वर्ण गुरु होगा, सम-चरणों का सप्तम वर्ण लघु होगा, शेष वर्णों के लिये कोई नियम नहीं है।

संस्कृत व्याख्या—दिष्ट्या=सौभाग्येन साध्वी=सती पतिव्रता शकुन्तला इदं सदपत्यं अयं सत्पुत्रः तथा भवान् तत्तद्गुणविशिष्टः दुष्यन्तः तत्=तस्मात् श्रद्धा=भक्तिः वित्तं=धनं, विधिः यज्ञादि क्रिया च इति त्रितयं समागतं=मिलितम्। श्रद्धया धनेन विधिना च मिलित्वैव स्वर्गादिफलप्रदा याज्ञादि धर्माः क्रियन्ते नान्यथेति भावः। अनुष्टुप् वृत्तम्।

राजा—भगवन्! पहिले तो अभीष्ट सिद्धि हुई, बाद में आपका दर्शन हुआ, अतः यह आपका अनुग्रह अद्भुत ही है अर्थात् यह आपकी कृपा अनोखी है

मातलिः—एवं विधातारः प्रसीदन्ति ।

राजा—भगवन् ! इमामाज्ञाकरी गान्धर्वेण विवाहविधिनोपयम्य कस्यचित्कालस्य बन्धुभिरानीतां स्मृतिशैथिल्यात्प्रत्यादिशन्नपराद्धोऽस्मि तत्रभवतो युष्मत्सगोत्रस्य कण्वस्य । पश्चादंगुलीयकदर्शनादूढपूर्वां तद्दुहितरमवगतोऽहम् तच्चित्रमिव मे प्रतिभाति ।

जिसमें दर्शन से पहिले ही फल की प्राप्ति (पत्नी व पुत्र की प्राप्ति) हो गई है। क्योंकि:—(अभिप्रेत=अभिलषित मनोवाञ्छित पुत्रकलत्र रूप की सिद्धि ।)

"देवानामपि ये देवा महात्मानो महर्षयः ।

भगवन्निति ते वाच्या या स्तेषां योषितस्तथा" । इस भरत बचन के अनुसार 'भगवन्' यह सम्बोधन प्रयुक्त हुआ है । इससे शकुन्तला के दुःख की समाप्ति सूचित की गई है अतः यह **समय नामक निर्वहण सन्धि का अंग** है जिसका लक्षण है **"समयो दुःख निर्याणम्"** अर्थात् दुःखावसान ही समय कहा गया है ।

श्लोक ३० अन्वय—पूर्वं कुसुमं उदेति, ततः फलं (उदेति) (तथा) प्राक् धनोदयः (भवति) तदनन्तरं पयः (भवति) निमित्तनैमित्तकयोः अयं क्रमः तु तव प्रसादस्य पुरः सम्पदः ।

शब्दार्थ—पूर्वं=पहिले अर्थात् फल आने के पहिले, कुसुमं उदेति=फूल निकलता है । ततः=तदनन्तर प्राक्=पहिले अर्थात् जल बरसने से पहिले, घनोदयः=मेघों का उदय, निमित्तनैमित्तिकयोः=कार्यकारण का, तु=किन्तु, प्रसादस्य=कारण रूप अनुग्रह के, पुरः=पहिले, सम्पत्तयः=कार्यभूत पुत्रकलत्र प्राप्तिरूप ऐश्वर्य ।

अनुवाद—(वृक्षादिकों में) पहले पुष्प निकलता है तदनन्तर फल (लगता है) पहिले मेघों का उदय होता है तदनन्तर जल (बरसता है) कार्य कारण का तो यही क्रम देखा जाता है अर्थात् कार्य से पूर्व कारण होता परन्तु आपके अनुग्रह के पूर्व ही ऐश्वर्य प्राप्ति हो गई, अर्थात् कार्यभूत-पुत्र पत्नी की प्राप्ति कारण भूत आपके अनुसार से पूर्व ही हो गई है ।

व्याख्या—राजा कहता है कि भगवन् आपका यह अनुग्रह तो बड़ा ही अनोखा है क्योंकि :—

वृक्षादिकों में फूल पहिले निकलता है तदनन्तर फल लगता है, इसी प्रकार पहिले मेघ उठते हैं तदनन्तर जल बरसता है । सर्वत्र कार्य और कारण का यही क्रम देखा जाता है अर्थात् कारण पहिले होता है कार्य उसके बाद, परन्तु आपके अनुग्रह के तो पहिले ही ऐश्वर्य प्राप्ति हो गई है । अर्थात् कार्य कारण में वैपरीत्य हो गया है कारण रूप आपका अनुग्रह तो बाद में हुआ पर कार्य रूप पुत्र कलत्र प्राप्ति पहिले ही हो गई है । अतएव यह आपका अनुग्रह बड़ा ही अद्भुत है ।

सारांश यह कि सर्वत्र आशीर्वाद के अनन्तर ही सम्पत्ति प्राप्ति का नियम है परन्तु यहाँ तो पुत्रकलत्ररूप सम्पत्ति की प्राप्ति के अनन्तर यह आपका आशीर्वाद प्राप्त हुआ है, यही आपके आशीर्वाद का अनोखापन है।

विशेष :—यहाँ पूर्वार्धगत वाक्यार्थ तृतीय पादगत अर्थ के प्रति हेतु है अतः वाक्यार्थहेतुक **काव्यलिंग** है चतुर्थ पाद में कार्य कारण का पूर्वापर भाव व्यतिक्रम है अतः **अतिशयोक्ति** है, दोनों परस्पर निरपेक्ष हैं। अत; **संसृष्टि** है। उदेति क्रिया का सर्वत्र अन्वय होने से यहाँ **क्रिया दीपकालंकार** है। मुझे शकुन्तला तथा पुत्र का लाभ हुआ इस प्रस्तुत से न कह कर सम्पदः यह सामान्य कथन है अतः **अप्रस्तुतप्रशंसालंकार** है। कोई यहाँ दृष्टान्तालंकार **भी** मानते हैं। प्राकरणिक अर्थापात से **अर्थापत्ति** छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास, **वंशस्थ** छन्द है। **विस्मय भाव** है। इससे मधुर **नामक नाट्य लक्षण** (भूषण) प्रदर्शित किया गया है जिसका लक्षण है।—

"यत्प्रत्ययेन मनसा पूज्यपूजयितुर्वचः स्मृतिप्रकाशनं यत्तत्स्मृत मधुर भाषणम्" सा० द० में इसको प्रियोक्ति नामक नाट्य लक्षण कहा गया है **"स्यात् प्रमाणयितुं पूज्यप्रियोक्तिर्हर्ष** भाषणम्" इति।

संस्कृत व्याख्या :—पूर्वं=फलोदयात् पूर्वं कुसुमं पुष्पं, उदेति=उद्गच्छति ततः पुष्पागमनानन्तरं फलं-उदेति। प्राक् पूर्वं घनानां-उदयः=मेघागमः (भवति) तदन्तर पयः=वृष्टि जलं भवति। निमित नैमितकयो कार्यकारणयो अयं पूर्वोक्तः क्रमः पौर्वाकर्मः भाव नियमः (ग्रस्ति) तु— किन्तु जब प्रसादस्य सम्पत्तिकारणीभूतानुग्रस्य पुरः=पूर्व मेघ सम्पदः=कार्यरूपपुत्रकलत्राप्रप्तिरूपसम्पत्तयः सन्ति, अतः भवदनुहोऽपूर्व एवेति भावः।

मातलि :—जगत्स्रष्टा जन इसी प्रकार प्रसिद्ध होते हैं अर्थात् जो जगत्स्रष्टा है या जो सबके भाग्य विधाता है उनकी ऐसी ही कृपा होती है।

अतः विस्मय नहीं करना चाहिए (विधातारः=जगत बनाने वाले कश्यपान् सकलं जगत्" के अनुसार कश्यप सम्पूर्ण विश्व को बनाने वाले हैं अथवा विधातारः का अर्थ है भाग्य विधाता)

राजा :—भगवन्! आपकी आज्ञाकारिणी इस शकुन्तला के साथ गान्धर्व-विधि से विवाह करके और कुछ समय के बाद अपने स्वजनों द्वारा ले आ गई इसको (अर्थात् जब इसके कुटुम्बी इसे मेरे पास ले आये) पूर्व घटना की स्मृति न रहने के कारण मैंने लौटा दिया था इसको पत्नी रूप में स्वीकार नहीं किया था इस प्रकार मैंने आपके वंशज पूज्य महर्षिकण्व का बड़ा अपराध किया है। फिर उसके बाद अँगूठी देखने से मुझे स्मरण आया कि मैंने तो कण्व की पुत्री से पहिले विवाह किया था। ये सब बातें मुझे बड़ी विचित्र सी लग रहीं हैं।

यथा गजो नेति समक्षरूपे
तस्मिन्नपक्रामति संशयः स्यात् ।
पदानि दृष्टवा तु भवेत्प्रतीति-
स्तथाविधो मे मनसो विकारः ॥ ३१ ॥

यहाँ पर अत्यद्भुत शकुन्तला प्राप्ति का वर्णन है अतः **निर्वहण सन्धि का उपगूहन नामक अंग** प्रदर्शित किया गया है, जिसका लक्षण है :—

"**तद्भवेदुपगूहनं यत्स्याददद्भुतसंप्राप्तिः**" अद्भुत प्राप्ति ही उपगूहन है ।

श्लोक ३१ अन्वय :—समक्ष रूपे (गजे अयं) गजः न (वा) इति संशयः स्यात् तस्मिन् अपक्रामति पदनि दृष्ट्वा तु यथा प्रतीतिः भवेत् तथाविध मे मनसः विकारः (आसीत्)

शब्दार्थ :—समक्ष रूपे=समक्ष=प्रत्यक्षी भूत, रूप=स्वरूप-आकृति अर्थात् जिसकी आकृति प्रत्यक्ष है । अपक्रामति=चले जाने पर, प्रतीति।=विश्वास अर्थात् यह गज ही है ऐसा निश्चय ।

अनुवाद :—(गज की आकृति के प्रत्यक्ष होने पर, यह गज नहीं है, और उसके चले जाने पर सन्देह उत्पन्न हो, और फिर उसके पगों को देखकर उसके अस्तित्व की प्रतीति हो, इसी प्रकार का मनोविकार उस समय मुझे उत्पन्न हो गया था ।

व्याख्या :—राजा कहता है कि जब शकुन्तला मेरे सामने उपस्थित हुई तब तो मुझे यह सन्देह हुआ कि न जाने यह मेरी विवाहिता पत्नी है या नहीं और इसी संशयात्मक ज्ञान के कारण मैंने उसका निरादर किया परन्तु अँगूठी देखकर फिर मुझे उसकी याद आ गई और यह निश्चय हो गया कि वह हमारी पत्नी ही थी । इस प्रकार यह मेरी विस्मृति और तदनन्तर स्मृति ऐसी ही है जैसे कि :—

किसी हाथी के आँखों के सामने उपस्थित होने पर तो यह सन्देह हो जाय कि यह हाथी है या नहीं है. पर उसके चले जाने पर उसके पदचिह्नों को देख कर यह निश्चय हो कि वास्तव में वह हाथी ही था । बस इसी प्रकार का मेरा मनोविकार था अर्थात् यह मेरी विस्मृति ठीक ऐसी ही थी ।

तात्पर्य यह कि जब शकुन्तला मेरे सामने स्वतः उपस्थित हुई तब तो मुझे यह ज्ञात हुआ कि यह मेरी भार्या नहीं है, उसके चले जाने पर फिर यह सन्देह हुआ कि क्या मैंने इससे कभी विवाह किया था ? इसके बाद अँगूठी देखकर यह दृढ़ निश्चय हो गया कि वह वास्तव में मेरी भार्या ही थी ।

विशेष— :—असम्भवद्वस्तु सम्बन्धलक्षण **निदर्शना**, कोई विद्वान् यहाँ उपमा ही मानते हैं **अनुप्रास, उपजाति छन्द है, अद्भुत रस 'कुर्यान्निर्वहणेऽभ्दुतम्" इस कथनानुसार निर्वहण सन्धि में अभ्दुत रस होना चाहिए ।**

संस्कृत व्याख्या :—समक्षं=प्रत्यक्षीभूतं रूपं=आकृतिः यस्य तस्मिन्, समक्ष-रूपे (गजे) (अयं) गजः (अस्ति) न वेति संशयः सन्देहः स्यात् तस्मिन्नम् गजे

मारीच—वत्स ! अलमात्मापराधशङ्कया । संमोहोऽपि त्वय्यनुपपन्नः । श्रूयताम् ।

राजा—अवहितोऽस्मि ।

मारीच :—यदैवाप्सरस्तीर्थावतरणत्प्रत्यक्षवैक्लव्यां शकुन्तलामादाय मेनका दाक्षायणीमुपगता तदैव ध्यानादवगतोऽस्मि दुर्वाससः शापादियं तपस्विनी सहधर्मचारिणी त्वया प्रत्यादिष्टा नान्यथेति । स चायमङ्गुलीयकदर्शनावसानः ।

राजा—(सोच्छ्वासम्) एष वचनीयान्मुक्तोऽस्मि ।

शकुन्तला—(स्वगतम् ।) दिट्ठिआ अकारणपच्चादेसी ण अज्जउत्तो । ण हु सत्तं अत्ताण सुमरेमि । अहवा पत्तो मए स हि सावो विरहसुण्णहिअआए ण विदिदो । अदो सहीहिं संदिट्ठम्हि भत्तुणो अंगुलीअअं दंसइदव्वं त्ति । [दिष्टयाऽकारणप्रत्यादेशी नार्यपुत्रः । न खलु शप्तमात्मानं स्मरामि । अथवा प्राप्तो मया स हि शापो विरहशून्यहृदयया न विदितः । अतः सखीभ्यां संदिष्टास्मि भर्तुरंगुलीयकं दर्शयितव्यमिति ।]

अपक्रामति गच्छति सति (तस्य) पदानि पदचिह्नानि दृष्ट्वा अवलोक्य तु प्रतीति =अयं गज एवेति निश्चयात्मकः प्रत्ययः भवेत्, मे मम (दुष्यन्तस्य) मनसः=चित्तस्य तथाविधः=तादृशः विकारः विभ्रमः (आसीत्) उपजाति वृत्तम् ।

मारीच :—वत्स ! तुम अपने अपराध की शंका न करो अर्थात् शकुन्तला का प्रत्याख्यान कर मैंने शकुन्तला व कण्व का बड़ा अपराध किया है इस बात की आशंका मत करो । क्योंकि ऐसी भूल तुमसे हो ही नहीं सकती—तात्पर्य यह कि अकारण तुम जैसे व्यक्ति से ऐसी भूल कभी सम्भव न थी, इस भूल का कारण था । सुनो । (संमोहः—स्मृति भ्रंश विस्मृति, अनुपपन्नः = अयुक्त)

राजा :—सुन रहा हूँ !

मारीच :—ज्योंहि अप्सरस्तीर्थ नाम से प्रसिद्ध शचीतीर्थ के घाट से, प्रत्यक्ष बिलखती हुई शकुन्तला को लेकर मेनका अदिति के पास आई त्योंहि मैंने ध्यान से जान लिया था कि दुर्वासा के शाप से ही तुमने इस बेचारी साध्वी धर्मपत्नी को छोड़ दिया है और कोई बात नहीं । और वह शाप तक के लिए है जब तक कि अँगूठी न देख लो । (अवतरण=घाट, वैक्लव्यां=कातर—दुःखी-विलाप करती हुई दाक्षायणी=दक्ष पुत्री अदिति, अवसानः=समाप्ति)

यहाँ **मारीच** :—**"अलमात्मापराध शंकया"** से लेकर यहाँ तक निर्वहण सन्धि का **निर्णय नामक अंग प्रदर्शित** किया गया है । जिसका लक्षण है **"अनुभूतार्थकथनं निर्णयः समुदाहृतः"** अनुभूत वस्तु का स्पष्ट कथन ही निर्णय कहा जाता है ।

मारीच :—वत्से ! चरितार्थासि । सहधर्मचारिणं प्रति न त्वया मन्युः कार्यः । पश्य—

शापादसि प्रतिहता स्मृतिरोधरुक्षे
भर्तर्यपेततमसि प्रभुता तवैव ।
छाया न मूर्च्छति मलोपहतप्रसादे
शुद्धे तु दर्पणतले सुलभावकाशा ॥ ३२ ॥

राजा :—(लम्बी साँस लेकर, अर्थात् सन्तोष की साँस लेकर) अच्छा तो मैं लोकापवाद से (मैंने अकारण धर्मपत्नी का त्याग कर दिया है यह जो लोक निन्दा थी उससे) छूट गया अर्थात् अब मुझे लोक निन्दा से तो छुटकारा मिला ।

शकुन्तला :—(मन ही मन) यह बड़े सौभाग्य की बात है कि आर्यपुत्र ने मुझे बिना कारण नहीं त्यागा था, परन्तु मुझे कब शाप दिया गया यह मुझे स्मरण नहीं आ रहा है । अथवा मुझे शाप मिला हो पर विरह के कारण शून्य हृदय होने के कारण मैंने उसे न जाना हो । इसीलिये सखियों ने मुझसे कहा था कि पति को अँगूठी दिखा देना । (प्रत्यादेशी=परित्याग करने वाला ।)

(कोई इस स्थान पर निर्णय नामक अंग मानते हैं ।)

मारीच :—वत्से ! तुम सफल मनोरथ हुईं । अब तुम्हें अपने पति पर क्रोध न करना चाहिये । देखो :—

श्लोक ३२ अन्वय :—भर्तरि शापात् स्मृतिरोधरुक्षे सति प्रतिहता असि, अपेततमसि (भर्तरि) तव एव प्रभुता । छाया मलोपहतप्रसादे दर्पणतले न मूर्च्छति तु शुद्धे (दर्पण तले) सुलभावकाशा (भवति) ।

शब्दार्थ—स्मृतिरोधरुक्षे=स्मृति के रोध=प्रतिषेध—लोप से कठोर अर्थात् विस्मृति के कारण, स्मृति के निरुद्ध हो जाने के कारण जो निष्ठुर हो गया था । प्रतिहता असि=तिरस्कृत हुई थीं । अपेततमसि=अपेत=गत—नष्ट, तमस्=मोह —अज्ञान अर्थात् जिसका मोह दूर हो गया है । प्रभुता=पत्नी के योग्य अधिकार । छाया=प्रतिबिम्ब "छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्ब मनातपः" कोश । मलोपहत-प्रसादे=मल=आन्तुक धूलि आदि से, उपहत=नष्ट, प्रसाद=स्वच्छता अर्थात् इधर-उधर से आने वाली धूलि जनित मलिनता से जिसकी स्वच्छता नष्ट कर दी गई है । दर्पणतले=मुकुर के ऊपर । न मूर्च्छति=नहीं पड़ती है । सुलभावकाशा= प्रवेश प्राप्त होता है, वह स्पष्ट व्यक्त हो जाती है अर्थात् उस पर प्रतिबिम्ब स्पष्ट-तया पड़ने लगता है ।

अनुवाद :—अपने पति के; शापवश, स्मृतिनिरोध के कारण कठोर हो जाने पर तुम तिरस्कृत हुई थीं, अब उस शाप जन्य, अज्ञान के नष्ट होने पर पति पर

राजा—यथाह भगवन्।

मारीचः—वत्स ! कच्चिदभिनन्दितस्त्वया विधिवदस्माभिरनुष्ठित-जातकर्मा पुत्र एष शाकुन्तलेयः।

राजा—भगवन् ! अत्र खलु में वंशप्रतिष्ठा।

मारीचः—तथा भाविनमेनं चक्रवर्तिनमवगच्छतु भवान्। पश्य,—

रथेनानुद्घातस्तिमितगतिना तीर्णजलधिः
पुरा सप्तद्वीपां जयति वसुधामप्रतिरथः।

तुम्हारी ही प्रभुता (पत्नी योग्य अधिकार) रहेगी। धूलि आदि से विनष्ट स्वच्छता वाले दर्पण तल पर प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, पर उसी शुद्ध स्वच्छ दर्पण पर छाया स्पष्ट दिखाई पड़ने लगती है।

व्याख्या—तुम्हारे पति ने शाप के कारण भूल जाने से निष्ठुर होकर तुम्हारा तिरस्कार किया था पर अब उस शाप जन्य विस्मृति के दूर हो जाने पर तुम्हारा ही प्रभुत्व रहेगा अर्थात् तुम्हारे अतिरिक्त अब इन पर किसी अन्य का प्रभाव न होगा। क्योंकि उस दर्पण पर तो जिसकी स्वच्छता धूलि आदि जन्य मल से नष्ट हो गई है प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता परन्तु उसी स्वच्छ दर्पण पर प्रतिबिम्ब भली-भांति दिखाई पड़ने लगता है। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार मैले दर्पण पर प्रतिबिम्ब ठीक दिखाई नहीं पड़ता और वही स्वच्छ दर्पण पर स्पष्ट दिखाई पड़ने लगता है उसी प्रकार शाप के कारण स्मृति नष्ट हो जाने से इन्होंने तुम्हारा त्याग कर दिया था पर अब मोह दूर हो जाने पर इन पर सदा तुम्हारा ही अधिकार रहेगा अन्य का नहीं। यह सब समझ कर तुम्हें इन पर क्रोध न करना चाहिए।

विशेष:—शापात्—से राजा का निरपराधी होना सूचित किया गया है।

भर्तरि—से राजा की भरणपोषणक्षमता भी प्रकट होती है।

"भर्तरि तवैव प्रभुता" यहाँ पर असम्बन्ध म सम्बन्ध लक्षणा **अतिशयोक्ति** है। क्योंकि प्रभुता भर्ता मे ही रहती है पत्नी में नहीं यह बात प्रसिद्ध है पर यहाँ प्रभुता पत्नी में बतलाई गई है अतः असम्बन्ध में सम्बन्ध कल्पना है।

"यो भर्ता स प्रभुः या वनिता सा गुणभूता" अर्थात् पति प्रभु होता है प्रधान एवं प्रभुत्वशाली होता है क्योंकि वह भरणपोषण करने वाला होता है। पर पत्नी गौण होती है क्योंकि वह पति द्वारा ही पालित होती है। उसको प्रभुता नहीं होती यह शास्त्र की मर्यादा है। पर यहाँ भर्ता तो दुष्यन्त है पर प्रभुता शकुन्तला में है जबकि भर्तृत्व और प्रभुत्व नियमानुसार एक ही मे होने चाहिए थे। अतः यहाँ **असंगति अलंकार** भी है और अतिशयोक्ति के साथ उसका अङ्गाङ्गी भाव है। छाया की स्पष्ट अभिव्यक्ति में शुद्धता हेतु है। अतः हेतु तथा **दृष्टान्त अलंकार** भी हैं क्योंकि छाया व शकुन्तला में साधर्म्य का बिम्बप्रतिबिम्ब भाव है, **छेकानुप्रास वृत्यनुप्रास**। **वसन्ततिलका** छन्द है।

इहायं सत्त्वानां प्रसभदमनात्सर्वदमनः
पुनर्यास्यत्याख्यां भरत इति लोकस्य भरणात् ॥३३॥

संस्कृत व्याख्या :—भर्तरि= पतौ दुष्यन्ते शापात् दुर्वाससः शापाद्धेतोः स्मृतेः रोधः भ्रंशः तस्मात् रुक्षः निष्ठुरस्तस्मिन्—स्मृतिरोधरुक्षे सति प्रतिहता तिरस्कृता असि, (अधुना) अपेतं दूरीभूत तमः अज्ञानान्धकारो यस्मात्तस्मिन् अपेततमसि= प्रकृतिस्थे भर्तरि—इत्यर्थः। तब एव प्रभुता=स्वाम्यं प्रभुत्वं नत्वन्यसपत्नीनामिति भावः। छाया—प्रतिबिम्बं, मलेन आगन्तुकेन धूल्यादिजनितमालिन्येन उपहत :— विलुप्तः प्रसादः—स्वच्छता यस्य तस्मिन्—इति मालोपहतप्रसादे=मलिने, दर्पणतले मुकुरोपरि न मूर्च्छति=न पतति। तु किन्तु शुद्धे निर्मले (दर्पणतले) (सा छाया) सुलभः—सुखेन लभ्यः अवकाश :—प्रवेशः यया सा सुलभावकाशा भवतीतिशेषः निर्मले दर्पणे प्रतिबिम्बं अत्यन्तं व्यक्तं दृश्यत इत्यर्थः वसन्ततिलकं वृत्तम्।

राजा :—भगवान् ठीक कहते हैं।

मारीच :—जिसके मैंने विधि पूर्वक जातकर्मादि संस्कार किए है उस शकुन्तला के पुत्र का तुमने अभिनन्दन किया या नहीं, अर्थात् तुमने उसे अपनाया या नहीं।

राजा :—भगवान् इस बालक मे ही तो मेरे कुल की प्रतिष्ठा है, अर्थात् यही तो पुरु वंश का चलाने वाला होगा।

मारीच :—तथा=इसके अतिरिक्त अर्थात् यह कुल चलाने वाला तो होगा ही, आप इसे भावी चक्रवर्ती भी समझें। देखो :—

श्लोक ३३ अन्वय :—अप्रतिरथः अयं अनुद्घातस्तिमितगतिना रथेन तीर्णजलधिः सन् सप्तद्वीपां वसुधां पुरा जयति। इह सत्त्वानां प्रसभदमनात् सर्वदमनः, पुनः लोकस्य भरणात् भरतः इति आख्यां यास्यति।

शब्दार्थ :—प्रतिरथः=शत्रु, अप्रतिरथः=प्रतिद्वन्द्वी शत्रु से रहित, अयं=यह शकुन्तला का पुत्र। अनुद्घातेत्यादि=पृथ्वी का स्पर्श न करने के कारण। प्रतिघात या स्खलन से रहित अतएव स्तिमित=निश्चल स्थिर, गतिः—गमन अर्थात् भूतल स्पर्शवश प्रतिघाताभाव के कारण जिस रथ की गति निश्चल है। तीर्ण जलधिः= समुद्र को पार करता हुआ सप्तद्वीपां=जम्बूप्लक्षकुशक्रौञ्चादि सात द्वीपों वाली, पुरा जयति=आगे—भविष्य में जीतेगा। इह=इस आश्रम में, सत्त्वानाम्=जानवरों के, प्रसभदमनात्=हठ पूर्वक दमन करने से। आख्यां यास्यति=आख्या नाम को प्राप्त होगा।

अनुवाद :—स्वप्रतिद्वन्द्वी शत्रु से रहित यह शकुन्तला पुत्र, (पृथिवी तल का स्पर्श न करने के कारण) प्रतिघात या समतल से रहित अतएव स्थिर गति वाले रथ से अथवा रथाकार आकाशमान से समुद्र को पार करने वाला होकर, सप्त द्वीपों वाली पृथिवी को जीतेगा इस आश्रम में जन्तुओं के हठ पूर्वक दमन करने से यह सर्व

राजा—भगवता कृतसंस्कारे सर्वमस्मिन्वयमाशास्महे ।

दमन कहलाता है, परन्तु संसार के भरण पोषण करने के कारण यह 'भरत' इस नाम को प्राप्त करेगा ।

व्याख्या :—जिसका अन्य कोई प्रतिद्वन्द्वी शत्रु न होगा ऐसा यह (तुम्हारा पुत्र) गम्भीर प्रतिघात रहित निश्चल गति वाले रथ से अर्थात् रथाकार आकाशयान से समुद्र को पार कर सप्त द्वीपों वाली पृथ्वी को जीतेगा । यहाँ आश्रम में वन्य जन्तुओं पर बल पूर्वक शासन करने के कारण इसका नाम सर्वदमन पड़ गया है परन्तु (भविष्य में) संसार के भरण-पोषण करने के कारण इसका नाम 'भरत' पड़ेगा । तात्पर्य यह है कि यह तुम्हारा पुत्र अपने गम्भीर एवं स्थिर रथ पर चढ़ कर सप्त-द्वीप पृथ्वी को अकेला ही इस प्रकार जीतेगा कि कोई शत्रु इसके सामने न टिक सकेगा । यहाँ यह वन्य जीवों को तंग किया करता था इसीलिए इसका नाम सर्वदमन पड़ गया था पर अब आगे चल कर यह संसार का भरण-पोषण करने वाला होगा अतएव इसका नाम भरत पड़ेगा ।

विशेष—रथेन—से तात्पर्य है रथ के आकार का आकाशयान क्योंकि साधारण रथ से समुद्र पार नहीं किया जा सकता ।

अनुद्घातेत्यादि—में स्वभावोक्ति है क्योंकि जब रथ भूतल का स्पर्श न करेगा आकाश मार्ग से चलेगा तो स्वभावतः उसकी गति निश्चल एवं प्रतिघात स्खलनादि से रहित होगी । सप्तद्वीप—

जम्बूप्लक्षाह्वयौ द्वीपौ शाल्मलिश्चापरो द्विज ।
कुशः क्रौञ्चस्तथा शाकः पुष्करश्चैव सप्तमः ।।
सप्तद्वीपम् से तात्पर्य है समस्त भूमण्डल ।

पुरा जयति=पुरा का अर्थ है आगामी काल । जयति में यद्यपि वर्तमान काल है तथापि पुरा के योग से इसका अर्थ भविष्यत् काल से लिया जायेगा क्योंकि "यावत् पुरानिपातयोर्लट्" इस नियम से पुरा के योग में यहाँ भविष्यत् अर्थ में वर्तमान काल सूचक लट् लकार है । अतएव यहाँ **भाविक अलंकार** है "**प्रत्यक्षा इव यत्रार्थाः क्रियन्ते भूतभाविनः, तद्भाविकम्** अर्थात् जहाँ भूत व भावी बात को प्रत्यक्ष सा वर्णित किया जाय वहाँ भाविक अलंकार होता है अतएव जेष्यति न कहकर यहाँ जयति कहा गया है, यद्यपि पृथ्वी का जीतना आगे होगा । **काव्यलिङ्ग, छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास** आदि अलंकार तथा **शिखरिणी छन्द** है ।

रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागःशिखरिणी अर्थात् जिस छन्द के प्रत्येक चरण में य० म० न० स० भ० ल० गु० के क्रम से १७ वर्ण हों तथा ६ तथा ११ वर्णों पर यति हो वह छन्द शिखरिणी कहलाता है ।

अदिति:—भअवं ! इमाए दुहिदुमणोरहसंहपत्तीए कण्णो वि दाव सुदवित्थारो करीअदु। दुहिदुवच्छला मेणआ इह एव्व उपचरन्ती चिट्ठदि। [भगवन् ! अनया दुहितृमनोरथसम्पत्या कण्वोऽपि तावच्छ्रुतविस्तारः क्रियताम्। दुहितृवत्सला मेनकेहैवो पचरन्ती तिष्ठति।]

शकुन्तला—(आत्मगतम्।) मणोरहो खु मे भणिदो भअवदीए। [मनोरथः खलु में भणितो भगवत्या।]

मारीचः—तपःप्रभावात्प्रत्यक्षं सर्वमेव तत्रभवतः।

राजा—अतः खलु मम नातिक्रुद्धो मुनिः।

मारीचः—तथाप्यसौ प्रियमस्माभिः श्रावयितव्यः। कः कोऽत्र भोः ?।

(प्रविश्य)

शिष्यः—भगवन् ! अयमस्मि।

मारीचः—गालव ! इदानीमेव विहायसा गत्वा मम बचनात्तत्रभवते कण्वाय प्रियमावेदय यथा— पुत्रवती शकुन्तला तच्छापनिवृत्तौ स्मृतिमता दुष्यन्तेन प्रतिगृहीता इति।

य०	म०	न०	स०	भ०	ल०	गु०
।ऽऽ	ऽऽऽ	।।।	।।ऽ	ऽ।।		
रथेना,	नुद्घात,	स्तिमित	गतिना,	तीर्णंज,	ल	धिः !

संस्कृत व्याख्या—न विद्यते प्रतिद्वन्द्वी रथः यस्य स अप्रतिरथः शत्रुविहीनः अयं ते पुत्रः न उद्घाता अनुद्घाता अभूतलस्पर्शात् प्रतिघातरहिता अतएव स्तिमिता निश्चला गतिः गमनं यस्य तेन—इति अनुद्घातस्तिमितगतिना स्खलितनिष्कम्पगतिना रथेन=रथाकारेणाकाशयानेन साधारणरथेन जलधितरणानुपपत्तेः। तीर्णा जलधयो येनासौ तीर्णजलधिः=लङ्घितसागरः सन् सप्त कुशक्रौञ्चादीनि द्वीपानि यस्याः सा ताम् सप्तद्वीपां कुशक्रौञ्चादिसप्तद्वीपसमन्वितां वसुन्धरां—पृथिवीं पुरा—आगामिनि काले जयति जेष्यति। इह अत्राश्रमे सत्त्वानां सिंहादिजन्तूनां प्रसभेन हठेन बलेन वा दमनं शासनं तस्मात् प्रसभदमनात् सर्वदमनः—सर्वदमन नामा। पुनः भूयोऽपि लोकस्य भुवनस्य भरणात् पालनात् भरतः इति आख्यां=संज्ञां यास्यति प्राप्स्यति। महाप्रभावशाली भविष्यतीत्याशयः अतस्त्वयायं बालोऽवयं अभिनन्दनीय इति भावः। शिखरिणी वृत्तम्।

राजा—जिसके संस्कार आपने किये हों ऐसे इस पुत्र में मैं इन सब बातों की आशा रखता हूँ।

यहाँ **"मारीचः—वत्से"** से लेकर यहाँ तक निर्वहण सन्धि का प्रसाद लक्षण **अंग प्रदर्शित** किया गया है, जिसका लक्षण है **"शुश्रूषाद्युपसम्पन्ना प्रसादस्तु प्रसन्नता"**

शिष्यः—यदाज्ञापयति भगवान् (इति निष्क्रान्तः ।)

मारीचः—वत्स ! त्वमपि स्वापत्यदारसहितः सख्युराखण्डलस्य रथमारुह्य ते राजधानीं प्रतिष्ठस्व ।

राजा—यदाज्ञापयति भगवान् ।

मारीच—वत्स ! किं ते भुयः प्रियमुपकरोमि ? ।

राजा—अतः परमपि प्रियमस्ति । यदिह भगवान्प्रियं कर्तुमिच्छति तर्हीदमस्तु भरतवाक्यम्,—

प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः
सरस्वती श्रुतिमहतां महीयसाम् :

अदिति—भगवन् ! कन्या की इस मनोरथ सिद्धि का सारा वृत्तान्त कण्व के पास भी भेज देना चाहिए । अपनी पुत्री शकुन्तला पर स्नेहवती इसकी माता मेनका तो हमारी सेवा करती हुई यहाँ ही है अर्थात् वह तो इस वृत्तान्त को जान ही लेगी उसको बताने की आवश्यकता नहीं । (परिचरन्ती=सेवा करती हुई, कहीं उपचरन्ती भी पाठ है वहाँ इसका अर्थ समीप रहने वाली है । सम्पत्त्या=सिद्धि से)

शकुन्तला—(मन में) भगवती अदिति ने तो मेरे ही मन की बात कह दी अर्थात् मैं भी यही चाहती थी कि पिता कण्व को भी यह समाचार मिल जाना चाहिए । यहाँ पर निर्वहण सन्धि का कृति नामक अंग निर्दिष्ट किया गया है "लब्धस्यार्थस्य शमनं कृतिरित्यभिधीयते" इति ।

मारीच—तप के प्रभाव से कण्व सब कुछ जानते हैं उन्हें सब बातें प्रत्यक्ष हैं ।

राजा—इसीलिए उन्होंने मेरे ऊपर क्रोध नहीं किया है ।

मारीच—फिर भी यह प्रिय बात उनको हम लोगों के द्वारा सुनानी ही चाहिए । अरे कोई है ?

(एक शिष्य का प्रवेश)

शिष्य—भगवान् ! मैं हूँ ।

मारीच—गालव ! अभी आकाश मार्ग से जाकर मेरी आज्ञा से कण्व से यह प्रिय समाचार कहना कि शाप की निवृत्ति होने पर स्मरण करके दुष्यन्त ने पुत्रवती शकुन्तला को स्वीकार कर लिया है ।

शिष्य—जैसी भगवान् की आज्ञा (चला जाता है ।)

मारीच—वत्स ! तुम भी अब अपनी पत्नी और पुत्र को साथ लेकर अपने इन्द्र के रथ पर चढ़ कर अपनी राजधानी को प्रस्थान करो ।

राजा—जैसी भगवान की आज्ञा ।

मारीच—वत्स ! तुम्हारा अब और क्या उपकार करूं ?

ममापि च क्षपयतु नीललोहितः
पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः ॥ ३४ ॥

इस कथन से निर्वहण सन्धि का काव्य संहार लक्षण अंग निर्दिष्ट किया गया है, जिसका लक्षण है 'वरप्रदान संप्राप्तिः काव्य संहार उच्यते'' इति ।

राजा :—क्या इससे भी बढ़कर अन्य कोई प्रिय कार्य हो सकता है ? फिर भी यदि भगवान् प्रिय करना चाहते हैं तो यह भरत वाक्य पूरा हो ।

भरतवाक्यं—नट वाक्य इससे नाटकाभिनय समाप्ति पर सामाजिकों के लिए नट के द्वारा आशीर्वाद दिया जाता है ।

यहाँ प्रस्तावना के अन्तर नटों के ही उन-उन पात्रों के रूप में रंगशाला में प्रकट होने के कारण फिर उसी रूप में उनका प्रकट होना सम्भव नहीं है अतः नट वाक्य न कह कर भरत वाक्य कहा जाता है ।

श्लोक ३४—अन्वय :—पार्थिवः प्रकृतिहिताय प्रवर्तताम्, श्रुतिमहतां महीयसाम् सरस्वती (प्रवर्तताम्) परिगतशक्तिः आत्मभूः नीललोहितः मम अपि पुनर्भवं क्षपयतु ।

शब्दार्थ :—पार्थिवः=पृथिवीपति राजा "इससे उसके प्रकृतिहित करने में औचित्य प्रकट होता है । प्रकृतिहिताय=प्रजा का हित करने के लिये (आत्म सन्तुष्टि के लिये नहीं) प्रवर्तताम्=संलग्न रहे । इससे लोक पालन के लिये राजा को आशीर्वाद दिया गया है । श्रुतिमहताम्=शास्त्रादि श्रवण के द्वारा महिमाशाली महीयसाम्=उत्कृष्ट शक्तिशाली कवियों की । सरस्वती=वाग्देवी अथवा कविकृत भारती । प्रवर्तताम्=चलती रहे । इससे कविजनों एवं अन्य विद्वज्जनों को नट द्वारा आशीर्वाद दिया गया है । परिगतशक्तिः—जिसकी सामर्थ्य सर्वत्र परिगत अर्थात् व्याप्त है । आत्मभूः=स्वयम्भू अपने आप उत्पन्न होने वाले । नीललोहित—नील और लोहित (रक्त) वर्ण के, बाईं ओर नीले और दाहिने और लोहित शिवजी । पुनर्भवं=पुनर्जन्म को क्षपयतु=नष्ट करें । तत्त्व ज्ञान देकर मुक्त करें ।

अनुवाद :—राजा प्रजाजनों के हित में लगा रहे; शास्त्रादि श्रवण द्वारा महामहिमशाली उत्कृष्ट कवियों को वा० देवी चलती रहे, जिसकी सामर्थ्य सर्वत्र व्याप्त है ऐसे स्वयम्भू शिवजी मेरे भी पुनर्जन्म को नष्ट करें अर्थात् मुझे भी मुक्ति दें ।

व्याख्या :—राजा सदा अपनी प्रजा की भलाई में लगे रहें बड़े-बड़े प्रतिभा सम्पन्न कवियों की वाणी सदा चलती रहे, समाज में आदर पाती रहे । और सर्वत्र अपनी शक्ति फैलाने वाले स्वयम्भू शम्भु मेरे दुष्यन्त के अथवा नट के अथवा कालिदास के पुनर्जन्म को तत्त्वज्ञान द्वारा फिर न होने दें अर्थात् ऐसी कृपा करें कि हमें फिर जन्म न लेना पड़े, हम मुक्ति प्राप्त करें ।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

सप्तमोऽङ्कः

समाप्तमिदमभिज्ञानशाकुन्तलं नाम नाटकम् ।।

विशेष :—परिगत शक्ति :—का यह भी अर्थ हो सकता है "परिगत शक्ति=जिसके अर्ध शरीर से शिवा मिली हुई हैं अर्थात् जगत् के माता-पिता शिव-पार्वती, शिवा सहित शिव।

भगवान् शिव के नीललोहित होने के विषय में पौराणिक कथा है कि एक बार ब्रह्मा हवन कर रहे थे उस समय उनके ललाट के स्वेद में जो तेज था वह अग्नि में गिर कर नीला होकर फिर लाल हो गया उसी से उत्पन्न होने के कारण शिवजी नीललोहित कहलाते हैं।

प्रवर्तताम् यहाँ आदि **क्रियादीपक अलंकार** है, **श्लेष**, **वृत्यनुप्रास**, **क्रिया समुच्चय** तथा **छेकानुप्रास**।

यहाँ निर्वहण सन्धि का **प्रशस्ति नामक** अङ्ग प्रदर्शित किया गया है जिसका लक्षण है **"प्रशस्तिः शुभशंसनम्"** अथवा **"देवद्विजनृपादीनां प्रशस्तिः स्यात्प्रशंसनम्"** अर्थात् जहाँ देव द्विज, नृपति आदि की मंगलकामना एवं प्रशंसा की जाय।

परमेश्वर विषयक रति भाव। रुचिरा छन्द है।

"**चतुर्ग्रहैरिह रुचिरा जभौस्जगः**" अर्थात् इस छन्द में क्रम से ज० भ० स० ज० गु० १३ वर्ण होते हैं।

ज० भ० स० ज० गु०

।ऽ। ऽ।। ।।ऽ ।ऽ।

प्रवर्तं, तांप्रकृ, तिहिता यपार्थि, वः

संस्कृत व्याख्या :—पार्थिव—पृथिवीपति—राजा प्रकृतीनां प्रजानां हिताय हितं कर्तुम्—प्रकृतिहिताय प्रवर्तताम् प्रवृत्तिमान् भवतु तत्परो वा भवतु। श्रुतेन शास्त्रादिश्रवणेन महतां श्रुत महतां महीयसाम्=उत्कृष्टशक्तिमतां कवीनां सरस्वती कविकृतभारती प्रवर्तताम्। परिगता व्याप्ता शक्तिः सामर्थ्यं यस्य स परिगतशक्तिः आत्मभूः—स्वयम्भूः नीलश्च लोहितश्चेति नीललोहितः शिवः मम दुष्यन्तस्य अपि पुनर्भवं=पुनर्जन्म क्षपयतु=विच्छिनत्तु। मुक्तिं ददात्वित्यर्थः। रुचिरा वृत्तम।

(सब चले जाते हैं।)

सप्तमोऽङ्कः

परिशिष्ट भाग १

नाटकीय सामान्य विशेषतायें

चरित्र-चित्रण :—

सुन्दर नाटकीय सम्बिधानक, कोमल कान्त पदावली, ध्वन्यात्मक उत्कृष्ट वर्णन शैली, रसों का स्वाभाविक परितोष इन गुणों के अतिरिक्त 'शाकुन्तल' की सब से बड़ी विशेषता है उसके चरित्र-चित्रण में। कालिदास का चरित्र-चित्रण यद्यपि आदर्शोन्मुख है तथापि वह सर्वथा स्वाभाविक एवं सजीव है, उसमें कहीं भी कृत्रिमता न मिलेगी। पर चरित्रों का अध्ययन करते समय हमें इस बात का अवश्य ध्यान रखना पड़ेगा कि कालिदास की नाट्यकला का चरम लक्ष्य चरित्र-चित्रण नहीं अपितु रस व्यञ्जना है इसीलिये यदि कालिदास के पात्रों में नाटकीय अन्तर्द्वन्द्व का घोर संघर्ष एवं पात्रों की मनोवैज्ञानिक दशा का विशद चित्रण नहीं मिलता तो कोई विशेष बात नहीं। उनके सभी पात्र इस लोक के ही पात्र हैं, और उनका यथार्थ स्वाभाविक चित्रण है, यह दूसरी बात है कि कवि ने अपने आदर्श प्रेम की मर्यादा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये अर्थात् पार्थिव प्रेम को स्वर्गीय बनाने के लिये तत्कालीन वर्णाश्रम मर्यादा के अनुकूल आदर्श प्रेम के निरुपण के लिये यथार्थ के मर्त्यलोक को आदर्श के स्वर्ग से जोड़ दिया हो जिससे कि कवि गेटे को शाकुन्तल' में Heaven and earth combined दृष्टिगत होने लगे हों। 'शाकुन्तल' के पुरुष पात्रों में दुष्यन्त, विदूषक एवं कण्व तथा स्त्री पात्रों में शकुन्तला, अनुसूया और प्रियम्वदा मुख्य है इनके अतिरिक्त कथानक के विकास के लिये कवि ने गौतमी, शार्ङ्गरव, शारद्वत, मारीच, अदिति, सानुमती, सेनापति, कंचुकी, प्रतिहारी, धीवर, वैखानस, दुर्वासा, राजश्यालक, सिपाही आदि गौण पात्रों की सृष्टि की है। पर कवि ने नायक और नायिका के स्वभाव चित्रण में अपनी नाट्यकला का सर्वस्व समर्पित कर दिया है।

दुष्यन्त :—

दुष्यन्त धीरोदात्त नायक है। दुष्यन्त के चरित्र के दो पक्ष हैं, एक ओर जहाँ वह रसिक शिरोमणि है वहाँ दूसरी ओर वह आदर्श राजा भी है। कवि उसे सहज शृंगारी नायक के रूप में ही चित्रित नहीं करना चाहता, अपितु वह वर्णाश्रम मर्यादा के व्यवस्थापक एक आदर्श राजा के रूप में भी उसे रखना चाहता है। वास्तव में

कवि की दृष्टि में उसका शृंगारी पक्ष उतना महत्व पूर्ण नहीं है जितना कि उसका आदर्श राजा रूप। सम्पूर्ण नाटक में उसका यही आदर्श नृपति रूप हमें मिलता है जहाँ कहीं भी उसका रसिक रूप देखने को मिलता है वह मानव होने के नाते उसके लिये स्वाभाविक ही है क्योंकि वह इसी जगत् का प्राणी है और कवि भी उसे इसी लोक का चित्रित करना चाहता है इस दृष्टि से उसमें मानवोचित्त कमजोरियों का दिखलाना आवश्यक ही था पर कवि ने बड़े कौशल से उसकी सभी तथा-कथित कमजोरियों पर पर्दा डाल दिया है और उसका एक आदर्श भव्य रूप ही अन्ततोगत्वा हमें देखने को मिलता है।

लक्षण ग्रन्थों में वर्णित एक धीरोदात्त नायक के लिये आवश्यक सभी गुण उसमें पाये जाते हैं, उसकी आकृति भव्य मनोहर एवं कोमल है, मन से वह पवित्र, सरस एवं मृदुल है, अपनी गम्भीर, भव्य एवं तेज:पूर्ण आकृति तथा मधुर भाषण से वह सबको अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। उसके प्रथम दर्शन मात्र से शकुन्तला तपोवन विरोधी काम विकारपरवश हो जाती है। प्रियम्वदा भी उसे देखकर बड़ी उत्सुकता से पूछती है, अनुसूये! "को नु खल्वेष चतुरगम्भीराकृतिश्चतुरं प्रियम लपन् प्रभाववान् इव लक्ष्यते।"

प्रभाववान् वीर बलिष्ठ और पराक्रमी तो वह इतना है कि वह "गिरिचर इव नागः प्राणसारं बिभर्ति।" राक्षसों के वध के लिये उसे धनुष पर बाण सन्धान की भी आवश्यकता नहीं पड़ती, वह प्रत्यञ्चा की टङ्कार मात्र से राक्षसों के विघ्नों को दूर कर देता है "का कथा बाणसन्धाने ज्याशब्देनैव दूरतः, हुंकारेणैव धनुषः स हि विघ्नानपोहति" उसे अपनी शक्ति पर पूरा विश्वास है; उसे अपनी सहायता के लिये सेना भी नहीं चाहिये "स्ववीर्यगुप्ता हि मनो:प्रसूति:" के अनुसार वह विदूषक के आग्रह पर सब सैनिकों को उसके साथ राजधानी को भेज देता है और राक्षसों के निवारण के लिये अकेला ही आश्रम को प्रस्थान करता है और दैत्यों से युद्ध करने के लिये स्वयं इन्द्र उसे स्वर्ग में बुलाता है और उसके पराक्रम से प्रसन्न हो अपना अर्धासन देकर स्वयं उसके गले में मंदारमाला पहनाता है "मन्दारमाला हरिणा पिनद्धा"। वह अपने बाहुबल से अकेला ही सम्पूर्ण पृथ्वी का शासन करता है, देवता भी उसकी सहायता की आशा रखते हैं "नैतच्चित्रं यदयमुदधिश्यामसीमां धरित्रीमेकः कृत्स्नां नगर परिघप्रांशुबाहु र्भुनक्ति आशंसन्ते सुरयुवतयो बद्धवैरा हि दैत्यैरस्याधिज्ये धनुषि विजयं पौरहूते च वज्रे। सुखपरस्य हरेरुभयैः कृतं त्रिदिव मुद्धृत दानवकण्टकम्। तव शरैरधुना नतपर्वभिः।" उसकी वीरता से प्रसन्न देवता कल्पलताओं के पत्रों पर उसके चरित्र को लिखते हैं "विच्छित्तिशेषैः सुरसुन्दरीणां वर्णैरमी कल्पलतांशुकेषु, विचिन्त्य गीतक्षममर्थं जातं दिवौकसस्त्वच्चरितं लिखन्ति। सख्युस्ते स किल शतक्रतो रजय्यः, तस्य त्वं रणशिरसि स्मृतो निहन्ता"। स्वयं महर्षि

मारीच उसके पराक्रम की प्रशंसा करते हैं "पुत्रस्य ते रणशिरस्य यमग्रयायी, दुष्यन्त इत्यभिहितो भुवनस्य भर्ता, चापेन यस्य विनिर्वर्तितकर्म जातं, तत्कोटिमत्कुलिश मा भरणं मघोनः।" ये उपर्युक्त उदाहरण उसके शौर्य के प्रमाण हैं। राज्य में उसका विलक्षण प्रभाव है, शार्ङ्गरव कहता है कि उसके अप्रतिम प्रभाव के कारण उसकी प्रजा में अत्यन्त निकृष्ट जन भी कुमार्ग पर नहीं चल सकता, वह स्वयं वर्णाश्रम-मर्यादा का रक्षक है "महाभागः कामं नरपतिरभिन्नस्थितिरहो, न कश्चिद् वर्णानामपथमपकृष्टोऽपि भजते"। मुद्रिका की प्राप्ति होने पर उसे शकुन्तला के प्रत्याख्यान पर अत्यन्त खेद होता है अतः वह बसन्तोत्सव बन्द करा देता है। उस समय न केवल मानव, लता, वृक्ष भी और उन पर रहने वाले पक्षी भी, और स्वयं कामदेव भी उसके प्रभाव वश उसकी आज्ञा का पालन करते हैं। कंचुकी कहता है "वासन्तिकैस्तरुभिरपि देवस्य शासनं प्रमाणी कृतं तदाश्रयिभिः पत्रिभिश्च।"

चूतानां चिरनिर्गतापि कलिका वध्नाति न स्वं रजः
सन्नद्धं यदपि स्थितं कुवरकं तत्कोरकावस्थया।
कण्ठेषु स्खलितं गतेऽपि शिशिरे पुंस्कोकिलानां रुतं
शंके संहरति स्मरोऽपि चकितस्तूणार्धकृष्टं शरम्।

सानुमती भी उसके प्रभाव की प्रशंसा करती है, "अहो महाप्रभावः राजर्षिः!"

पराक्रमी होते हुए भी वह विनयी है। कण्व के आश्रम में प्रवेश करते समय वह सूत से कहता है "विनीतवेषेण प्रवेष्टव्यानि तपोवनानि नाम" और सूत को अपने आभरण तथा धनुष-बाण देकर विनीत भाव से आश्रम में प्रवेश करता है। असुरों पर विजय प्राप्त करके भी वह उसे इन्द्र का अनुग्रह बतलाता है, उसे विजय से बिलकुल गर्व नहीं होता वह मातलि से कहता है "अत्र खलु शतक्रतो रेव महिमा स्तुत्यः।"

"सिद्धयन्ति कर्मसु महत्स्वपि यन्नियोज्याः
सम्भावनागुणमवेहि तमीश्वराणाम्।"

वह दुष्टों के शासन और आर्तजनों की रक्षा के लिये अपने पराक्रम का उपयोग करता है "आर्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि"। वैतालिक कहता है "नियमयसि कुमार्गप्रस्थिता नात्तदण्डः" "कुतो धर्मक्रियाविघ्नः सतां रक्षितरि त्वयि।"

दुष्यन्त प्रजा-पालक, धर्मात्मा और पापभीरु है, ऋषि-मुनियों के प्रति उसे अपार श्रद्धा है, प्रजा का स्वसन्ततिवत् पालन करता है। वह कर के रूप में प्रजा से उपज का षष्ठांश मात्र लेता है और इसके बदले सदा उनकी रक्षा में तत्पर रहता है, अपने सुख की चिन्ता न कर प्रजा के सुख के लिये ही सदा तत्पर रहता है। जैसा कि कंचुकी कहता है :—

"प्रजाः प्रजाः स्वा इव तन्त्रयित्वा
निषेवतेऽशान्तमना विविक्तम्।"

शेष: सदैवाहितभूमिभार:
षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एष।
स्वसुख निरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः
प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवं विधैव।

प्रजा जनों को कुमार्ग से हटाता, उनके लड़ाई झगड़े शान्त करता यहाँ तक कि वह यह घोषणा करा देता है कि प्रजा जन, केवल दुष्कृत्य को छोड़कर, अपने मृत सम्बन्धी के स्थान पर मुझे ही समझें।

प्रशमयसि विवादं कल्पसे रक्षणाय
अतनुषु विभवेषु ज्ञातयः सन्तु नाम
त्वयि तु परिसमाप्तं बन्धुकृत्यं जनानाम्।
येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना
स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम्।

यद्यपि अभी ही वह धर्मासन से उठा ही है पर ज्योंही उस कण्वशिष्यों के आगमन की सूचना मिलती है त्योंही वह उनके स्वागत के लिये, बिना अपने विश्राम की चिन्ता किये ही चल देता है। अपनी विनयशीलता और ऋषियों के प्रति आदर भावना के कारण वह सोचने लगता है और प्रतिहारी से पूछता है कि—

"किमुद्दिश्य भगवता काश्यपेन मत्सकाशमृषयः प्रेषिताः स्युः"
किं तावद्व्रतिनामुपोढ तपसां विघ्नैस्तपो दूषितम्
धर्मारण्यचरेषु केनचिदुत प्राणिष्वसच्चेष्टितम्।

इतना ही नहीं वह लता वृक्षादिकों में यदि पुष्प, फल नहीं उगते तो वह इसे अपना अपराध समझता है, प्रजा जनों के दुष्कर्म को अपना पाप समझता है। ऋषियों के सामने पहुँचने पर वह सानुनय अभिवादन करता है और कुशल प्रश्न पूछता है। शाप वश स्मृति भ्रंश के कारण जब वह शकुन्तला को स्वीकार नहीं करता तो शाङ्र्गरव क्रोधित होकर उसे फटकारता भी है धिक्कारता भी है, इधर शकुन्तला भी उसे "अनार्य !आत्मनो हृदयानुमानेन पश्यसि, क इदानीमन्यो धर्मकञ्चुक प्रवेशिनस्तृणच्छन्न कूपोपमस्य तवानुकृति प्रतिपत्स्यते" कह कर क्रोध प्रकट करती है पर राजा विचलित नहीं होता, इस कटुता पर भी वह क्रुद्ध नहीं होता, सब कुछ सुन लेता है। एक चक्रवर्ती सम्राट् को उसके दरबार में ऋषिकुमार मानी, धूर्त, शठ, दस्यु दम्भी आदि अपशब्द कहता है पर धैर्यधनी, गम्भीर प्रकृति राजा किञ्चिन्मात्र भी अपने लक्ष्य से विचलित नहीं होता. अप्रतिम सुन्दरी, अपने आप उपस्थित हुई, पत्नीभाव से आश्रय की याचना करने वाली भी मुनि कन्या, पर वह आँख उठाकर भी नहीं देखता और कहता है, 'भवतु अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम्' मुनिकुमारों द्वारा आग्रह करने पर भी जब राजा ने शकुन्तला को स्वीकार नहीं किया तब मुनिकुमार इस आशा से कि

राजा स्यात् इसे अपने पास रखले, उसे छोड़कर चल देते हैं पर राजा कहता है "भोस्तपस्विन् किमत्र-भवतीं विप्रलभसे"।

कुमुदान्येव शशाङ्कः सविता बोधयति पङ्कजान्येव।
वशिनां हि परपरिग्रहसंश्लेषपराङ्मुखी वृत्तिः॥

वास्तव में यह अवसर राजा के धीरज और धर्म की परीक्षा के लिये था। एक ओर असाधारण रूपवती युवती उससे शुद्धान्त दुर्लभ पत्नीभाव की भिक्षा माँग रही है, ऋषि का क्रोध भी बढ़ रहा है, वृद्धा तापसी की अनुनय विनय भी है पर दूसरी ओर पाप का भय है और धर्म का आदर्श, राजा का संकल्प दृढ़ है, कोई भी शक्ति उसे धर्म मार्ग से विचलित नहीं कर सकती, कठिन से कठिन स्थिति में वह अधीर नहीं हो सकता। परस्त्रीस्पर्श को वह महापाप समझता है, उसके ऐसे दृढ़व्रत को देखकर विस्मित प्रतीहारी कहने लगती है "अहो धर्मापेक्षिता भर्त्तुः, ईदृशं नाम सुखोपनतं रूपं प्रेक्ष्य कोऽन्यो विचारयति" शकुन्तला की स्मृति के जागृत होने पर यद्यपि वह उसके प्रत्याख्यान के पश्चात्ताप से रात-दिन संतप्त रहता है, तथापि "प्रत्यादिष्टविशेषमण्डनविधि भी होकर वह अपने कर्तव्य पर परायण है, राज कार्य का प्रतिदिन निरीक्षण करता है।

उसे सम्पत्ति का लोभ नहीं, प्रधानामात्य के परामर्श द्वारा यद्यपि मृत धनमित्र की सम्पत्ति न्यायतः राजा को मिलनी चाहिये थी फिर भी वह उसके भावी अपत्य को दे देता है। ऋषियों मे षष्ठांश भी नहीं लेता।

दुष्यन्त ललित कलाओं का प्रेमी है। हंस पदिका के संगीत को सुनकर वह सहसा कहने लगता है "अहो रागपरिवाहिनी गीतिः" प्रकृति के दृश्यों को वह सूक्ष्म दृष्टि से देखता है, स्वर्ग मे लौटते समय वह मार्ग में मातलि से वार्तालाप करता हुआ कहता है "शैलानामवरोहतीव शिखरादुन्मज्जतां मेदिनी" इत्यादि। वह एक कुशल चित्रकार भी है। कण्व आश्रम में शकुन्तला को देखकर उसने उसका जो चित्र बनाया था वह अभी अधूरा था उसे पूरा करने के लिए वह फिर चित्र को मंगवाता है, क्योंकि उसमें यद्यपि उद्दामयौवना शकुन्तला का, कौतुकाकुला सखियों का, पुष्पित वनज्योत्स्ना का सौरभ सम्भ्रान्त भ्रमर का चित्र अंकित था तथापि उसमें इन-इन बातों की कमी रह गई थी

"कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी,
पादस्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः,
शृङ्गे कृष्णमृगस्य वाम नयनं कण्डूयमानां मृगीम्॥

उसके चित्रकला नैपुण्य को देखकर, मधुर स्थानों में उसके भावानुप्रवेश को समझ कर न केवल विदूषक की दृष्टि स्खलित होती है अपितु सानुमती को भी राजा के चित्रकला

नैपुण्य पर आश्चर्य होता है "अहो, एषा राजर्षेः निपुणता, जाने सख्यग्रतो में वर्तते"। यद्यपि शकुन्तला का चित्र सानुमती की दृष्टि में उसकी साक्षात् अनुकृति है, जिसमें राजा का भाव चिन्ह तक स्पष्ट है फिर भी अभी शकुन्तला के प्रसाधन तो शेष ही हैं जिन्हें वह अब पूरा करना चाहता है :—

कृतं न कर्णार्पितबन्धनं सखे,
शिरीष मागण्ड बिलम्बि सरम्।
नवा शरच्चन्द्र मरीचिकोमलं,
मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे ॥

राजा का जैसा मनोरम वाह्य रूप है, जिसके कि उसके सकृद्दर्शन मात्र से ही तापस कन्या भी आकृष्ट हो गई थी, वैसा ही उसका स्निग्ध कोमल सुसंस्कृत एवं सरल तथा सरस स्वभाव भी है, शकुन्तला तथा उसकी सखियों के साथ उसका वार्तालाप उसकी सरसता का परिचायक है। आश्रमललामभूता अद्भुत स्त्रीरत्नसृष्टि, अक्लिष्टकान्ति शकुन्तला के अनुपम रूप-लावण्य को देखकर उसकी ओर राजा का आकृष्ट होना स्वाभाविक था, पर इसके पहिले वह उसे अपनी पत्नी बनाने की इच्छा करे, यह जान लेना आवश्यक था कि वह विवाहिता है या अविवाहिता और उसके साथ उसका प्रेम करना संगत है या नहीं, इसीलिये पहिले वह इन सब बातों की जानकारी प्राप्त करता है, बिना इस तत्व का पता लगाये और उसे क्षत्रिय द्वारा परिग्रहण योग्य जाने वह उस ओर आकृष्ट नहीं हो सकता, तभी तो वह कहता है 'वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकरहतास्त्व खलु कृती' भले ही मधुकर बिना उचित अनुचित का ध्यानकर तापस कन्या का अंग स्पर्श कर सफल मनोरथ हो जाय पर पुरुवंशी क्षत्रिय तो तत्त्वान्वेषण के पश्चात् ही उस ओर प्रवृत्त हो सकता था, जबकि वह मधुकर वृत्ति वालों से दूसरों की रक्षा करने वाला है, तो स्वयं मधुकर वृत्ति कैसे अपना सकता था, ऐसे अपराध के लिये तो वह स्वयं मधुकर को भी कारागार का दण्ड दे सकता है तो फिर स्वयं वह ऐसा कार्य कैसे कर सकता था। अतः जब उसे इस बात का पूरा पता लग गया कि वह अविवाहिता है, विवाह भी करेगी और वह क्षत्रिय कन्या भी है तभी वह उसकी प्राप्ति की अभिलाषा कर हृदय से कहता है "भव हृदय ! साभिलाषं सम्प्रति सन्देह-निर्णयो जातः" पर तत्त्वान्वेषण के पूर्व तो वह उसके लिये अग्नि ही थी।

इसमें सन्देह नहीं कि कालिदास के अन्य नाटकों के नायकों की भाँति दुष्यन्त भी बहुपत्नीक है, उसके अन्तःपुर में अनेक स्त्रियाँ हैं, जिनमें से कुछ के साथ उसका प्रेम है, कुछ के साथ कम और कुछ उपेक्षिता भी हैं। बहु-पत्नीक के लिये ऐसा होना स्वाभाविक ही है। इसीलिये तो हंसपदिका उसे ताना मारती है और उसे रसलोलुप मधुकर कहती है पर किसी भी सुन्दरी को देखकर उस पर मोहित हो जाना जैसी मधुकर-वृत्ति उसमें नहीं है अन्यथा वह शकुन्तला जैसी स्वयं उपस्थित सुन्दरी का परि-

त्याग न करता। वह परस्त्री की ओर देखना भी पाप समझता है। यदि मुनि-कन्या ब्राह्मण-कन्या ही होती, जैसा कि उसने पहिले सोचा था तो वह अवश्य इन्द्रिय निग्रह करता। उसे अपने मन पर पूरा विश्वास है वह जानता है कि उसका आर्य मन कभी अनुचित स्थान पर नहीं जा सकता है। चित्त की दृढ़ता पर अटूट विश्वास होने के ही कारण तो वह कहता है :—

"असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्य मस्यामभिलाषि मे मनः"

फिर भी लोक-दृष्टि में यह कार्य निन्द्य न हो अतः 'तत्तवत एनामुपलप्स्ये' वस्तुगत्या इसका पता लगाकर ही इसे प्राप्त करूँगा, ऐसा वह निश्चय करता है। शकुन्तला एवं उसकी सखियों के सम्भाषण से तथा जीवन-वृत्तान्त सुन लेने के बाद ही वह उसको अपने परिग्रह योग्य मानकर ही उस पर प्रेम प्रकट करता है, इसके पूर्व नहीं। शकुन्तला के दृष्टिराग एवं उसके मनोगत भावों को जान कर ही यह उस ओर बढ़ता है जैसा कि वह विदूषक से कहता है 'इसके पूर्व नहीं'। यदि कण्व महर्षि शीघ्र ही लौटने वाले होते तो वह तब तक अवश्य ही अपने को रोकता। उधर अपने पर आसक्त शकुन्तला की भी दशा काम जनित विकार के कारण खराब हो रही थी, सखियाँ एवं गौतमी उसके लिये चिन्तित थीं, उसने स्वयं शकुन्तला का इस सम्बन्ध में सखियों के साथ निराशापूर्ण वार्तालाप सुना था—"सखि ! यतः प्रभृति मम दर्शनपथमागतः स तपोवनरक्षिता राजर्षिः तत आरभ्य तद्गतेनाभिलाषेणैतद वस्यास्मि संवृत्ता, तद् यदि वामनुमतं तदा तथा वर्तेथां तथा तस्य राजर्षेरनुकम्पनीया भवामि अन्यथाऽवश्यं सिञ्चितं मे तिलोदकम्" इसे सुनकर प्रियम्वदा राजा से स्वयं प्रार्थना करती है "आपन्नस्य विषयनिवासनो जनस्यार्तिहरेण राज्ञा भवितव्य मित्येष युष्माकं धर्मः, तेन हीयमावयोः प्रियसखी त्वामुद्दिश्ये दमवस्थान्तरं भगवता मदने नारोपिता। तदर्हस्य-भ्युपपत्या जीवितं तस्या अवलम्बितुम्।" अतएव राजा इस प्रस्ताव को तुरन्त स्वीकार कर लेता है, फिर भी वचन देता है, 'परिग्रहबहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य नः, समुद्र-वसना चोर्वी सखी च युवयोरियम्।

फिर भी श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने दुष्यन्त को, कण्वाश्रम रूपी स्वर्ग में छिपकर जाने वाले पाप-कीट की, जिसने वहाँ के रमणीय दिव्य सुमन-सौन्दर्य को बिशीर्ण एवं नष्ट कर दिया था और परिणामतः फिर उस दिव्य जीवन में लज्जा, संशय, दुःख, प्रतारणा, वियोग, पश्चात्तापादि का प्रवेश हुआ और तब कहीं अन्त में जाकर मारीच के विशुद्धतर स्वर्गलोक क्षमा, प्रीति और शान्ति के दर्शन हुये, उपमायें दी हैं, पर शाकुन्तल के दुष्यन्त पर तो ये उपमायें ठीक प्रतीत नहीं होतीं। यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि दुष्यन्त में स्वाभाविक मानवोचित कमजोरियाँ भी हैं अतएव नाटक के प्रथम भाग में उसका पतन द्वितीय भाग में (४ से ५ तक) उसके उत्थान की चेष्टा, षष्ठ एवं सप्तम में अपूर्व उत्थान दिखलाया गया है तथापि दुष्यन्त मानव ही है देवता

नहीं। कवि के पात्र आदर्शवादी होते हुए भी यथार्थ से दूर नहीं हैं। मानव-चरित्र का महत्त्व उसके पतन और उत्थान में ही है इसीलिये शकुन्तला को प्रथम बार देखकर उसका मानवोचित पतन हुआ। लुक-छिप कर वयस्क तापस कन्याओं की विनोद-क्रीड़ा देखना भेद छिपाने के लिये अपना अस्पष्ट मिथ्या परिचय देना, सकृद्दर्शन मात्र से मुनिकन्या को उपभोग योग्या नारी समझ लेना, माता की आज्ञा पर ध्यान न देना, विदूषक को छल से राजधानी को भेज देना और उसको बेवकूफ बनाना "वयस्य! ऋषिगौरवादाश्रमं गच्छामि। न खलु सत्यमेव तापसकन्यायां ममाभिलाषः" 'क्व वयं क्व परोक्षमन्मथो, मृगशावैः सममेधितो जनः, परिहासविजल्पितं सखे परमार्थेन न गृह्यतां वचः।" बिना कण्व की आज्ञा के सरलस्वभावा शकुन्तला को बहका कर उसके साथ विवाह कर लेना और ऋषि के आने के पूर्व ही वहाँ से खिसक जाना आदि उसकी मानवोचित दुर्बलता के परिचायक और राजधानी मे आकर शकुन्तला को भूल जाना, आने पर भी प्रत्याख्यान करना उसके पतन को चरमसीमा के द्योतक हैं। मानवमात्र में ऐसी दुर्बलतायें होना स्वाभाविक हैं पर कवि ने इन सभी दुर्बलताओं की ओर संकेत करते हुए भी, बड़े कौशल के साथ इन पर परदा डाल दिया है और धीरे-धीरे उसके चरित्र को उठाया है जिससे उसमें राजोचित रसिकता भी अक्षुण्ण बनी रहे पर कवि के लक्ष्य, आदर्श नृपति-चित्रण में भी कमी न हो। 'शाकुन्तल' का प्रतिपाद्य शृङ्गार एवं आदर्श स्वर्गीय प्रेम-चित्रण ही तो है अतएव दुष्यन्त में मानवोचित इतनी रसिकता तो होनी ही चाहिये थी, पर वह, स्वर्गोद्यान में पाप-कीट का नहीं हो सकता, कवि ने पाप-कीट का नहीं अपितु एक सफल राजर्षि का चरित्र-चित्रण किया है। दुष्यन्त की असाधारण धर्मपरायणता पांचवें अंक में देखने को मिलती है जहाँ वह कहता है "अनार्यः खलु परदारव्यवहारः अनिर्वर्णनीयं पर कलत्रम्, कुमुदान्येव शशांकः इत्यादि" क्या ऐसे आदर्श नृपति को मधुकर-वृत्ति वाला या पाप-कीट कहा जा सकता है, हाँ यदि हम महाभारत के दुष्यन्त को समक्ष रखकर देखें तो उसके लिये ये उपमायें भले ही दी जा सकती हैं। यहाँ तो दुर्वासा के शाप और अंगुलीयक ने कहानी के कलेवर को ही बदल दिया है, यहाँ वह पाप-कीट नहीं, राजर्षि हैं। पश्चात्तापविदग्ध हृदय भी वह न्याय और धर्म से प्रजापालन करता है, यहाँ वह भवभूति के राम सदृश ही अपने वियोग को दबाकर प्रजापालन में तत्पर है 'इदं विश्वं सततमभियुक्तेन मनसा, इत्यादि, "भवभूति" और घोषणा कराता है 'येन येन वियुज्यन्ते" इत्यादि उदाहरण उसकी धर्मनिष्ठा के परिचायक हैं और उसके आन्तरिक शोक तथा धर्मज्ञान के परिचायक हैं। धनमित्र की पुत्रहीनता उसे अपनी पुत्र-हीनता की स्मृति करा देती है, और उसका प्रेम पुत्र-स्नेह में परिवर्तित हो जाता है जोकि प्रेम का चरम लक्ष्य है।

उसका हृदय अत्यन्त विनीत एवं कोमल है, उसका चरित्र लोकोत्तर रमणीय है, प्रिय-वियोग-विदग्ध होकर भी वह असुरों पर विजय प्राप्त करता है, ऋषियों पर

परम आस्था प्रकट करता है। उसके पश्चात्ताप-विदग्ध हृदय को तब तक शान्ति नहीं मिलती जब तक कि शाप-रहस्य का वृतान्त महर्षि मारीच द्वारा प्रकट नहीं कर दिया जाता। वह उसी समय समाधान की श्वास लेता हुआ कहता है "एष वचनीयान्मुक्तोऽस्मि"। पश्चात्ताप से वह इतना क्षीण हो गया है कि शकुन्तला भी पहिले उसे पहचान नहीं पाती फिर भी वह उसके पाँवों पर गिर कर नम्रतापूर्वक उससे क्षमा-याचना करता है। इसी प्रकार मातृ-भक्ति एवं पुत्र-स्नेह तथा विधवाओं एवं आर्तजन (विदूषक आदि) के प्रति उसकी कोमल भावनाओं के अन्य उदाहरण भी यथा-प्रसंग कवि ने दिखलाये हैं।

सारांश यह है कि कवि ने दुष्यन्त के रूप में उसकी तत्कालीन राजोचित रसिकता के अतिरिक्त एक महान् पराक्रमी पर विनयी, प्रेमिस पर कर्तव्यपरायण, प्रजापालक पर आत्तदण्ड शासक, प्रभावशाली पर न्याय-परायण, वैभव-सम्पन्न पर कष्ट-सहिष्णु, वियोगदग्ध पर मातृ-प्रजा-भक्त, ललितकला-प्रेमी, निरभिमानी, आदर्श-प्रणयी राजा का प्रशस्त चित्र प्रस्तुत किया है।

शकुन्तला :—

शकुन्तला के चित्रण में कवि ने अपनी सारी प्रतिभा का उपयोग कर दिया है, प्रकृति-कन्या शकुन्तला के लिये जो कुछ भी लिखा गया है वह भी वास्तव में थोड़ा ही है। उसके सौन्दर्य के चित्रण में कवि ने प्रकृति का सबसे अधिक एवं मनोरम उपयोग किया है। उसका अतुलनीय सौन्दर्य वाह्य दृष्टि से मोहक होते हुये भी सर्वत्र नैसर्गिक ही है और निसर्गप्रेमी ही उसके मूल्य का अंकन कर सकता है। कवि स्पष्ट कहता है "इदं किला व्याजमनोहरं वपुः" उसका जन्म अरण्य की मधुर छाया में, माधवी लता की पुष्पमञ्जरी में, सहकारादि तरुओं एवं लताओं के झुरमुट में, कोकिल के मधुर गान एवं पशुपक्षियों के क्रीडा-विनोद के साथ हुआ और उन्हीं से पल्लवित एवं कुसुमित हुआ है, यहाँ तक कि मुर्झाने के पूर्व फलित भी हुआ है, प्रकृति सुन्दरी में सर्वत्र यदि नैसर्गिकता है तो आश्चर्य ही क्या, उसका आद्योपान्त जीवन प्रकृति की गोद में ही पला है, एक बार जब उसने देखा कि वह प्रकृति की रमणीय गोद से बिछुड़ रही है तो वह व्याकुल हो उठी और पिता से पूँछने लगी "कथमिदानीं मलयतरुन्मूलिता चन्दनलतेव देशान्तरे जीवितं धारयिष्ये" उसको अत्यन्त दुखी देख महर्षि कण्व आश्वासन देते हैं "शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन्" वास्तव में जिस प्रकृति मां ने उसे जन्म दिया, उसका पालन किया, उसका शृङ्गार किया, शिक्षित किया और एक पूर्ण नारी का रूप दिया, वह उसे कैसे विलग कर सकती थी और वह भी अपने स्नेह-भाजन लता-वृक्षादि तथा पशु-पक्षियों के सहवास को कैसे छोड़ सकती थी। प्रकृति ने ही तो उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग का निर्माण किया था और उसका अनुपम शृङ्गार किया था। प्रियम्वदा की, उसके सौन्दर्य विषयक उक्तियाँ, परिहास-पूर्ण होते हुये भी तथ्य एवं

स्वाभाविक है जैसा कि दुष्यन्त, प्रियम्वदा के यह कहने पर "हला शकुन्तले ! अत्रैव तावन्मुहूर्तं तिष्ठ, यावत्त्वयोपगतया लतासनाथ इवायं केसरवृक्षकः प्रतिभाति" कहता है "प्रियमपि तथ्यमाह शकुन्तलां प्रियम्वदा। अस्याः खलु—

अधरः किसलयरागः कोमल विपटानुकारिणो बाहु,
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु सन्नद्धम्।

उसके नैसर्गिक सौन्दर्य से चकित सम्राट् दुष्यन्त कहता है—

"शुद्धान्त दुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य
दूरी कृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः।

वल्कलधारिणी भी वह मनोज्ञा है, क्योंकि प्रकृति-कन्या है उसका सर्वस्व प्रकृति ही तो है "सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं, मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति, इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी" क्योंकि नैसर्गिक सौन्दर्य के लिये बाह्य अलंकरणों की आवश्यकता नहीं होती। प्रकृति में क्या कमी है जो कि उसके सौन्दर्य के निखारने में उठा रखे तभी तो उसके अनूपम सौन्दर्य से आकृष्ट दुष्यन्त विदूषक से कहता है "माढव्य ! अनवाप्तचक्षुः फलोऽसि, येन त्वया दर्शनीयं न दृष्टम्, वह तो "अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहैः, अनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्" है। सम्भवतः वह ब्रह्मनिर्मित भी नहीं है, ब्रह्मा में इतना कौशल कहाँ जो कि वह ऐसी सौन्दर्यप्रतिमा का निर्माण कर सके। वह तो कोई अनिर्वचनीय स्त्रीरत्न सृष्टि है, नहीं कहा जा सकता कि उसका निर्माण कैसे हुआ है ? "चित्रे निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगा, रूपोच्चयेन विधिना मनसा कृता नु।" इसीलिये तो राजा ने भी उस प्रकृतिकन्या को अपने चित्र में भी प्रकृति के उपकरणों से ही सजाया हैं, शिरीष कुसुम के समान कोमल सुमन ही तो उसका कर्णबन्ध तथा मृणालतन्तु ही माला बन सकते थे, सानुमती भी उसके अक्लिष्ट बालतरु पल्लव लोभनीय सौन्दर्य और सौकुमार्य के लिये ऐसे ही कोमल प्रकृति-उपकरणों की उपयोगिता समझती है।

जिस प्रकृति ने उसका ऐसा शृङ्गार किया, उसके प्रति उसका सोदर-स्नेह होना स्वाभाविक ही था, पादव-सिंचन में केवल तातनियोग ही कारण नहीं था प्रत्युत उसका उन पर अपना भी सोदर-स्नेह था। इसी स्नेहवश वह प्रियमण्डना होकर भी वृक्षों से पल्लव भी नहीं तोड़ती थी, उनकी प्रथम कुसुम प्रसूति के समय उसे उतना ही आनन्द होता था जितना कि किसी को आत्म-प्रसूति के समय। इसीलिये वह बिना उनमें पानी दिये स्वयं जल भी नहीं पीती थी। "पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलम् इत्यादि।" इसीलिये तो वह आत्मप्रतिरूपिका नवकुसुमयौवना वनज्योत्स्ना तथा स्निग्ध पल्लवतयोपभोगक्षम सहकार एवं केसर वृक्षकों में बड़े प्रेम

से जल देती थी। दुष्यन्त के प्रेम में निमग्न हो यद्यपि अपने को तो भूल गई थी; अतएव दुर्वासा के कोप का भोजन बनी थी पर वह अपनी लता-भगिनी को उस समय भी नहीं भूल सकी थी।

प्रकृति ने उसका शृङ्गार ही नहीं किया था अपितु उसे एक **पूर्ण आदर्श रमणी** बनने की शिक्षा भी दी थी। वन में रहते हुए ही उसने अपनी सखियों के साथ इन प्रकृति के पशु-पक्षियों से ही, गृहस्थ जीवन की सभी उपयोगी बातें सीखी थीं। मृगों से उसने न केवल मुग्धविलोकितोपदेश ही सीखा था अपितु सन्तान-परिचर्या का भी अभ्यास किया था। श्यामाकमुष्टि देकर मृगशावकों का पालन एवं उनके कुशसूचिविद्ध मुख में इंगुदी तेल का व्रण-विरोपण भी सीखा था। मुनि ने भी तो इसीलिए उसे अतिथि-सत्कार का काम सौंपा था जिससे कि वह अपने आदर्श के अनुसार गुरुजनों की सेवा करने वाली, परिजनों पर उदार एवं सपत्नियों पर भी प्रिय सखी वृत्ति रखने वाली बन सके। छोटी अवस्था में ही यदि उसके माता-पिता ने उसका परित्याग कर दिया था तो क्या हुआ, महर्षि कण्व और गौतमी ने तो उसे अपने प्रेम का आश्रय देकर उसकी पूर्णता में किसी बात की कमी तो नहीं पड़ने दी थी। उसके भविष्य की उन्हें बड़ी चिन्ता थी, उसके दुर्दैव के शमन के लिये वे सोमतीर्थ तक गये थे। सुदैव से उसकी प्रियम्वदा जेसी विनोदशीला एवं अनुसूया जैसी हितैषिणी अन्तरंग सखियों का साथ मिला था जिनके सहवास में उसने लेखन, वाचन, काव्य, इतिहासादि के साथ चित्रकला सदृश ललितकला का अभ्यास भी किया था। नवमालिका कुसुमपेलवा भी उसका इन सभी लता-वृक्ष, पशु-पक्षियों पर अकृत्रिम स्नेह था, इसीलिये तो पतिगृह जाते समय भी वह चक्रवाकी द्वारा अपने सहचर के आह्वान से उद्दीप्त विरह-वेदना का अनुभव करती हुई भी, अपनी लता-भगिनी को आलिङ्गन देना नहीं भूली थी। गर्भिणी आश्रम-मृगी की देखभाल के लिये और उसके प्रसव के लिये वह चिन्तित थी इसीलिये चलते-चलते भी वह अपने पिता से उसकी प्रसूति का शुभ समाचार भेजने की प्रार्थना करती है। बाल्यावस्था में अपने ही समान अनाथ मृगशावक का उसने अपने हाथों पालन-पोषण किया था अतएव जब वह जाने लगती है तो वह पीछे से उसका पल्ला पकड़ कर उसे रोकना चाहता था। प्रेम से गदगद हो शकुन्तला उसे समझाती है **"वत्स! अचिरप्रसूतया जनन्या बिना वर्धितएव। इदानीमपि मया विरहितं त्वां तातश्चिन्तयिष्यति, निवर्तस्व तावत्, किं सहवासपरित्यागिनीं मामनुसरसि"**। वनज्योत्स्ना से कहती है **"वनज्योत्स्ने! सहकारसंगतापि मां प्रत्यालिङ्गेतो गताभिःशाखाबाहाभिः. अद्यप्रभृति दूरवर्तिनी ते भविष्यामि"** और फिर स्नेह निर्भर हो वह सखियों से कहती है **"हला! एषा द्वयोर्युवयोर्ननु हस्ते निक्षेपः"**। ऐसी प्रेमिका शकुन्तला से तपोवन वन की चराचर सृष्टि प्रेम करती है और उसको विदा देते समय सभी

परम विषाद का अनुभव करते हैं तथा मूकवाणी में उसके लिये शुभ-कामना करते हैं। महर्षि कण्व उसकी सखियाँ गौतमी आदि तो मानव थे, वनवासी होते हुए भी लोक-व्यवहार के ज्ञाता थे, अतः यदि उसके बिछुड़ने के समय कण्व का गला भर आता है, दर्शन शक्ति नष्ट हो जाती है और वे साधारण मानव की भाँति विकल होने लगते हैं, सखियाँ रोती हुई यदि उससे यह पूछने लगती हैं **"अयं जनः कस्य हस्ते समर्पितः"**। तपोऽनुष्ठान से कृश वृद्ध पिता को देखकर जब शकुन्तला कहती है **"तपश्चरणपीडितं तातशरीर तन्मातिमात्रं मम कृते उत्कण्ठितुम्।** तब दीर्घनिःश्वास के साथ तपस्वी अपने शोकावेग को दबाता हुआ केवल इतना ही कहता है **"शमनेष्यति मम शोकः कथं नु, वत्से त्वया रचितपूर्वम्, उजेजद्वारविरूढं नीवारबलि विलोकयतः"** और फिर वे शकुन्तला-विरहित अतएव शून्य तपोवन को लोट जाते हैं' तो आश्चर्य ही क्या जबकि न केवल पशु-पक्षी ही अपितु लतावृक्ष भी उसके लिये आँसू बहाने लगते हैं **"उग्गीर्ण दर्भकवला मृग्यः" हरित्यक्तनर्तना मयूराः अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चत्य श्रुशीव लताः।"** तपोवन के देवता उसके वनमार्ग को प्रशस्त होने का आशीर्वाद देते हैं। सौभाग्य चिन्ह कौशेय वस्त्र युगल, लाक्षारस आभूषण आदि अर्पित करते हैं, कोकिल विरुत के द्वारा उसे जाने की आज्ञा देते हैं और उसके लिये भावी सती घृहिणी बनने की शुभ कामना करते हैं।

नाटक में शकुन्तला के हमें दो रूप देखने को मिलते हैं, प्रथम अङ्क में वह प्रकृति की गोद में खेलती हुई, लता-वृक्षादिक पर सोहार्द प्रकट करती हुई, उनको विभिन्न नाम देकर उनका विवाह व प्रसूति कराने में आनन्द लेती हुई, सखियों के साथ मनोविनोद करती हुई और अतिथि-सेवा एवं वृक्ष सिंचनादि, आश्रमधर्म-तत्परा एक मुग्धा तरुणी है। यद्यपि वह इस समय कामशास्त्र से सर्वथा अनभिज्ञा थी फिर भी दुष्यन्त की धीर गम्भीर आकृति, चतुर एवं मधुर भाषण तथा उसके असामान्य पराक्रम से उसके मन में अद्यावधि अननुभूत प्रेम-विकार उत्पन्न होता है और वह मन ही मन सोचने लगती है **"किन्तु खलु इमं जनं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनी विकारस्य गमनीयास्मि संवृता।"** और वही अन्तिम अङ्क में एक मलिन-वसना, विरह-कृशा, एक बेणीधरा, व्रतोपवासादिकर्शिता, पतिव्रता, पुत्रवत्सला प्रौढ़ा नायिका के रूप में हमारे सामने आती है। कवि ने धीरे-धीरे क्रमशः उसके वाह्य एवं मानसिक विचारों में परिवर्तन दिखलाते हुए अन्ततोगत्वा एक आदर्श रमणी के रूप में उसे चित्रित किया है। अतः यह कहना अत्युक्ति नहीं कि शकुन्तला के चित्रण में कवि ने अपनी कला का परम उत्कर्ष प्रस्तुत किया है।

यद्यपि इस मुनि-कन्या में दुष्यन्ते पर आसक्त होने के बाद धीरे-धीरे काम कला के सभी प्रौढ़ भाव प्रकट होने लगते हैं, पर फिर भी वह, न तो विवाह के पूर्व और न बाद में, स्त्रीजनोचित स्त्रभाविक लज्जा एवं शिष्टता तथा शालीतता

से दूर नहीं जाती। कामपरवशा होने पर भी वह अपनी स्वाभाविक लज्जावश दुष्यन्त से साक्षात् बातचीत करना तो दूर रहा उसके सामने देखती भी नहीं और सखियों के यह कहने पर " **यद्यत्राद्य तातः संनिहितो भवेत्। इमं जीवितसर्वस्वेना्ऽतिथिविशेषं करिष्यति**" वह कहती है "**युवामपेतं, किमपि हृदये कृत्वा मन्त्रयेथे न युवयोर्वचनं श्रोष्यामि**"। सखीमुख से अपना जीवन वृत्त कहे जाने पर वह अधिक लज्जा का अनुभव करती है तथा अपने विवाह सम्बन्ध की बातचीत सुन कर वह कहती हैं '**अनुसूये! गमिष्याम्यहम्, इमाम सम्बद्धप्रलापिनीं प्रियम्वदा मार्यायै गौतनिवेद यिष्यमि।**" दुष्यन्त के दरबार में भी वह अवगुण्ठनवती होकर ही प्रवेश करती है। इसी प्रकार सप्तम अङ्क में राजा से यह कहने पर "**शकुन्तले! अवलम्बतापां पुत्रः, त्वां पुरस्कृत्य भगवन्त दृष्टु मिच्छामि**" वह अपनी स्वाभाविक शालीनता प्रकट करती हुई कहती है "**जिह्लेम्यार्यपुत्रेण सह गुरुसमीपे गतुम्।**" काम परवशा विरह-संतप्ता होकर भी वह अपने मनोगत भावों को राजा तो क्या अपनी अन्तरंग सखियों पर भी प्रकट नहीं करना चाहती। यहाँ तक कि अपने प्रिय के सन्मुख भी एकान्त प्रदेश में भी वह लज्जा का परित्याग नहीं करती और गुरुजनों पर पूरी आस्था प्रकट करती है "**पौरव रक्षा विनयम्, मदनसंतप्ताऽपि न खल्लवात्मनः प्रभवामि" न माननीयेष्वात्मान मपराधयिष्ये**" और गौतमी के आगमन का संकेत पाकर तुरन्त से विटपान्तरित हो जाने को कहती है (जबकि महाभारत की शकुन्तला स्वयं निर्लज्जतापूर्वक अपना आत्म-वृत्तान्त कहती है और शर्त रखकर कण्व के आने के पूर्व विवाह कर लेती है, कालिदास ने ऐसी ढीठ व्यवहार-कुशल, पर निष्प्रेम निर्लज तरुणी को अपनी प्रतिभा से लज्जाशील प्रेमपरवशा मुग्धा बालिका के रूप में प्रस्तुत किया है।

उसका **स्वभाव** अत्यन्त **सरल, उदार, निष्कपट** एवं **भोला भाला** है। सखियों की अनुमति मिल जाने पर भी वह महर्षि की आज्ञा के विना विवाह को राजी नहीं होती। प्रत्याख्यान के अवसर पर भी जब उसे परिचायक अँगूठी नहीं मिलती, तब वह अपने भोले स्वभाववश राजा को आश्रम में घटित घटना को सुना कर अपना परिचय देने का प्रयत्न करती है। वह एक सम्राट् को भी उतना ही भोला समझती है और विश्वास करती है कि जिस प्रकार उसने उसके कथनानुसार विवाह कर लिया था। उसी प्रकार यह भोला-भाला राजा भी पूर्व घटना को याद कर उसे स्वीकार कर लेगा, आखिर थी तो वह तपोवन-परिवर्धिता अतएव कैतवानभिज्ञा भी। महर्षि कण्व, गौतमी और गुरुशिष्यों पर उसे पूर्ण आस्था है। वे उसके गुरुजन हैं इसीलिये शाङ्गरव के फटकारने पर भी "**किं पुरोभागे। स्वातन्त्र्य मनलम्बसे**" वह डर के मारे काँपने लगती है। क्योंकि गुरुशिष्य

भी तो उसके गुरु-समान ही था। राजा से वार्तालाप करते समय वह सर्वत्र अपनी स्वाभाविक लज्जा एवं शालीनता का ध्यान रखती है।

भवभूति की सीता के समान शकुन्तला भी पतिव्रता है। पति ने बिना कारण ही यद्यपि उसका परित्याग कर दिया है तथापि वह सदैव उसका चिन्तन करती है और विरहिणी स्त्रियों की भाँति ही अपने दिन काटती है। सानुमती द्वारा राजा के पश्चात्ताप का समाचार जान कर तथा अदिति के आश्वासन द्वारा पुनर्मिलन की आशा पर वह अवलम्बित रहती है। उसे अपनी सखी के ये वचन **गुर्वपि विरह दुःखमाशाबन्धः साहयति"** सदा आश्वासन देते रहते हैं। राजा के पुनर्दर्शन पर वह प्रत्याख्यान के लिये उस पर क्रोध नहीं करती प्रत्युत् जब राजा स्वयं पश्चात्ताप करता हुआ अपने को दोषी ठहराने लगता है तथा इसके चरणों पर नत होकर क्षमा याचना करता है तब भी वह केवल इतना ही कहती है **"उत्तिष्ठतु आर्यपुत्रः। नूनं मे सुचरित प्रतिबन्धकं पुराकृतं तेषु दिवसेषु परिणाममुख मासीद्येन सानुक्रोशोऽप्यार्यपुत्रो मयि विरसः सन्वृत्तः" "अथ कथमार्यपुत्रेण स्मृतो दुःखभाग्यं जनः।"** उसके इसी त्याग एवं धर्म से प्रभावित होकर मारीच उसे आशीर्वाद देते हैं **"आशीरन्या न ते योग्या पौलोमीसदृशी भव"** और पति पत्नी को पुत्र के साथ उपस्थित कर भगवान् मारीच कहते हैं—

दिष्ट्या शकुन्तला साध्वी सदपत्यमिदं भवान्।
श्रद्धावितं विधिश्चेति त्रितयं तत्समागतम्ः॥

पर पतिव्रता ऋजुका सदगुणशालिनी और कर्तव्यनिष्ठ होते हुये भी उसे **स्त्री जाति के गौरव** का सदा ध्यान रहा है। उसने स्वाभिमान का कहीं परित्याग नहीं किया है और न गुरुजनों का अपमान ही वह देख सकती है। प्रत्याख्यान के अवसर पर जब उसने देखा कि शार्ङ्गरव के कहने का राजा पर कोई असर नहीं हुआ और न अपने कहने का ही, यहाँ तक कि उसकी माता गौतमी के स्पष्ट एवं न्यायोचित निष्कपट कथन को राजा ने स्त्रियों का अशिक्षितपटुत्व बतला कर कोकिला के द्वयर्थक दृष्टान्त द्वारा स्त्री जाति का घोर अपमान भी किया है, उसका स्वाभिमान जागृत हो उठता है और तब वह आर्यपुत्र इस सम्बोधन को अव्यवहार्य समझ कर केवल पौरव, इस साधारण सम्बोधन से चक्रवर्ती सम्राट् को सम्बोधित कर कहती है **"न युक्तं नाम ते तथा पुराश्रमपदे स्वभावोत्तानहृदयमिमं जनं समयपूर्व प्रतार्येदृशैरक्षरैः प्रत्याख्यातुम्"** पर जब उसे ध्यान आता है कि इसने न केवल मेरा अपितु तापसवृद्धा मेरी माँ का भी अपमान किया है तो उसका क्रोध और भी बढ जाता है और वह राजा से इन शब्दों से कहती है **"अनार्य! आत्मनो हृदयानुमानेन पश्यसि, क इदानीमन्यो धर्मकञ्चुक प्रवेसिनस्तृणच्छन्न कूपोपमस्य तवानुकृति**

प्रतिपत्स्यते।" इस विवरण से स्पष्ट है कि कवि को स्त्री जाति के प्रति कितना गौरव है, दरबारी कवि होते हुये भी उसने अपने स्वाभिमान को नहीं खोया था।

लज्जाशीला होते हुये भी उसमें अन्य सभी **स्त्रियोचित गुण** पाये जाते हैं। तपस्विनी होकर भी वह गृहस्थ है, ऋषिकन्या होकर भी वह प्रेमिका है, मुग्धा होकर भी वह दुष्यन्त के सकृद् दर्शन के बाद युवती है, वनवासिनी होकर भी काम-कला में निपुण है, शान्ति की गोद में पली होकर भी वह चचला है। नारी हृदय की उमगें और उच्छ्वास प्रेम और अभिलाषा, सभी कुछ उसमें हैं। दुष्यन्त के प्रथम दर्शन से उत्पन्न हुये काम-विकार ने मानो उसे कामशास्त्र के सभी प्रसंगों से अभिज्ञ बना दिया है। मनोगत भावा के प्रदर्शन में वह पूर्ण शिक्षिता प्रतीत होती है। विदूषक के पूँछने पर कि तुम्हारे प्रति उसका दृष्टिराग कैसा है, राजा उसके भावप्रदर्शन की कुशलता वर्णन करता हुआ कहता :—

अभिमुखे मयि संहृतमीक्षणं,
　　हसितमन्यनिमित्तकथोद्यम्।
विनय वारितवृत्तिरतस्तया,
　　न विवृतो मदनो न च संवृतः॥

मिथः प्रस्थाने पुनः शालीनतयाऽपि काममाविष्कृतो भावस्तत्रभवत्या।

तथाहि

"दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्ड
　　तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा
आसीद् विवृत्तवदना च विमोचयन्ती
　　शाखासु वल्कलमसक्त मपि द्रुमाणम्।

प्रियन्वदा के यह कहने पर कि जाओ, राजा ने अब तुम्हें अंगुलीयक देकर उऋण कर दिया है, अब तुम खुशी से जा सकती हो, शकुन्तला मन में सोचती है **"गमिष्यामि यद्यात्मनः प्रभविष्यामि"** और उससे कहती है **"का त्वं विसर्जितव्यस्य निरोद्धव्यस्य वा"** राजा भी उसकी तत्कालीन चेष्टाओं को देखकर ठीक ही अनुमान करता है :—

वाचं न मिश्रयति यद्यपि मद्वचोभिः
　　कर्णं ददात्यभिमुखं मयि भाषमाणे
कामं न तिष्ठति मदाननसम्मुखीना
　　भूयिष्ठमन्यविषया न तु दृष्टिरस्याः

सच है यदि मुग्धा मुनिकन्या को राजा के प्रथस दर्शन-जन्य कामविकार ने तुरन्त ही सम्पूर्ण वात्स्यायन कामसूत्र न पढ़ा दिया होता तो कवि को क्षणिक दर्शन मात्र से उसको इस प्रकार विरहपीड़ित दिखाने का कैसे अवसर

...ता। जिसमें कि वह अपनी स्वाभाविक कमनीयता को छोड़कर क्षणमात्र में ही ...णामिष शोषणेन मरुता स्पृष्टा लता माधवी" बन जाती और एक काम-...भिज्ञा नायिका की भाँति कामपत्र लिख डालती।

वास्तव में उसके चरित्र का भी महत्त्व दुष्यन्त की भाँति ही पतन और ...ान में है। उसका प्रथम प्रेम उद्दाम एवं प्रबल था। मुनिकन्या में इतनी शीघ्रता काम-विकार उत्पन्न हुआ कि उसने कामाधीन ही राजा की चिकनी-चुपड़ी बातों ...आत्मसमर्पण कर दिया। इसका ही परिणाम था कि उसे हस्तिनापुर में राज-...बार के सामने एक गहरी चोट लगी और उसे अपनी भूल एवं नारी का सच्चा ...रूप याद आ गया। शार्ङ्गरव के इन शब्दों ने

"अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात् संगत रहः
अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरीभवति सौहृदम्।

उसे उसके स्वरूप का परिचय कराया और फलतः उसने वहीं अपने सच्चे ...रीत्व-प्राप्त स्वरूप को प्रस्तुत किया और अपने उद्दाम प्रेम के लिये प्रायश्चित्त ...रने को प्रस्तुत हुई। सप्तम अङ्क में उसका उज्ज्वल नारी-स्वरूप हमारे सामने ...ाता है। अब तक उसने प्रायश्चित कर सभी विकारों को जला डाला है। अपना ...ह अपने पुत्र में सञ्चित कर दिया है और पुनर्मिलन की आशा लिये विरह के ...न काट रही है। पुत्र के यह पूछने पर कि यह दुष्यन्त कौन है वह कहती है ...त्स! तव भागधेयानि पृच्छ" इन शब्दों में जहाँ एक ओर पुत्र के प्रति स्नेह, ...ि की कठोरता और दैव के अत्याचार के प्रति संकेत है, वहाँ दूसरी ओर पुत्र, ...ि एवं विधाता के प्रति उसका सहज अभिमान प्रकट होता है।

यह है कवि की नाट्यकला का चरम उत्कर्ष जिससे उसने शकुन्तला का ...त्र खींचा है।

...य पात्र :

यद्यपि नायक और नायिका के चित्रण में कवि ने अपनी सब नाट्य-प्रतिभा ...ा दी है फिर भी अन्य पात्रों के स्वभाव के शब्द चित्र खींचने में भी उसने बड़ी ...कता एवं सहृदयता से काम लिया है। पात्रों के पारस्परिक स्वभावोत्कर्ष के लिये ...ने साम्य और विरोध को समक्ष रखकर कुछ पात्रों की जोड़ियाँ बनाली हैं ...—दुर्वासा, कण्व और मारीच तीनों ऋषि हैं। तपोनिष्ठ एवं ज्ञानी हैं पर तीनों ...स्वभाव में अन्तर है। शार्ङ्गरव और शारद्वत दोनों महर्षि कण्व के शिष्य हैं। ...नों शकुन्तला को भेजने हस्तिनापुर जाते हैं अपने गुरु के परमभक्त हैं पर दोनों के ...भाव में महान् अन्तर है इसी प्रकार प्रियम्बदा एवं अनुसूया दोनों शकुन्तला की ...रंग सखियाँ हैं, दोनों का शकुन्तला पर अगाध प्रेम है पर दोनों के स्वभाव ...अन्तर है।

कण्वादि मुनित्रय :

महर्षि कण्व तपोनिष्ठ नैष्ठिक ब्रह्मचारी, अन्तर्ज्ञानी और महाप्रभावशाली है। सम्पूर्ण तपोवन के प्राणी यहाँ तक कि अचेतन पदार्थ भी उनसे प्रभावित हैं। ऋषि अन्तर्ज्ञानी हैं और साथ ही कोमल हृदय और प्रेमशील हैं। नैष्ठिक ब्रह्मचारी भी और वे सदय पिता भी हैं। वनवासी मायामोह से परे रहकर भी वे लोक वृत्तान्तनिष्णात हैं। मनुष्य होते हुये भी वे दिव्यदृष्टि से सम्पन्न हैं। माता-पिता से परित्यक्त शकुन्तला उनको वन में अकस्मात् ही पड़ी मिल जाती है। ऋषि दयार्द्र हो उसे उठा लाते हैं और अपनी औरस सन्तानवत् उसका सम्बर्धन करते और उसे शिक्षित करते हैं। जब उन्हें अन्तर्दृष्टि से यह पता लगता है कि शकुन्तला पर घोर विपत्ति आने वाली है तो वे उसके समय के लिये सोमतीर्थ जाते हैं। उनके शिष्य की यह उक्ति **'सा खलु भगवतः कण्वस्य कुलपतेरुच्छ्वसिताम्''** सर्वथा सत्य है। उनकी अनुपस्थिति में जब शकुन्तला दुष्यन्त से अपना विवाह कर लेती है और सोमतीर्थ से आने पर जब अशरीरिणी छन्दोमयी वाणी उनको शकुन्तला के आपन्नसत्त्वा होने की सूचना देती है, तब भी परमशान्त मुनि उस पर क्रुद्ध नहीं होते प्रत्युत उन्हें इस बात पर आश्चर्य ही होता है कि दुष्यन्त सदृष गुणी एवं प्रतापी वर को वे अब तक शकुन्तला को क्यों नहीं दे सके थे, उन्हें प्रसन्नता है कि शकुन्तला ने अपने पुण्य से ही आत्मानुरूप वर प्राप्त कर लिया है और इस प्रकार उसने उन्हें निश्चिन्त कर दिया है जैसा कि वे स्वयं कहते हैं **"सकल्पितं प्रथममेव मया तवार्थं, भर्तारमात्न सदृशं सुकृतै र्गतत्त्वम्"** अतः मैं अब तुम से निश्चिन्त हूँ। गुरुजनों को ओर चाहिये ही क्या? अनुसूया के शब्दों में **"गुणवते कन्या प्रतिपाद-जीयेत्ययं तावत्प्रथमः संकल्पः। तं यदि दैवमेव सम्पादयति नन्वप्रयासेन कृतार्थो गुरुजनः"** इसी अपनी कृतार्थता मे परमप्रसन्न हो महर्षि कण्व उसका इन शब्दों में अभिनन्दन करते हैं **'दिष्ट्या धूमाकुलितदृष्टे रपि यजमानस्य पावकमुख एवाहुतिः पतिता"** अतः **"दत्से सुशिष्यपरिदत्ता विद्यवा शोचनीया संवृत्ता** और वे उसे आशीर्वाद देते हैं **"ययातेरिव शर्मिष्ठा भतुर्बहुमता भव, सुतं त्वमपि सम्राजं सेव पूरुमवाप्नुहि।**

उनके तप का प्रभाव सम्पूर्ण तपोवन में व्याप्त है, इसीलिये तो शकुन्तला को विदा होते देखकर और उसकी सखियों को यह कह कर **"आभरणोचितं रुपमाश्रमसुलभैः प्रसाधनैर्विप्रकार्य्यते"** खेद प्रकट करते देखकर कोई वृक्ष तो मांगलिक क्षौमयुगल, कोई चरणोपभोग सुलभ लाक्षारस तो कोई आभरण देने लगता है। यह था कवि की तपश्चर्या का प्रभाव। वृक्ष कोकिला विरुत व्याज से उसे पतिगृह जाने की आशा देते हैं और वन-देवता उसके पतिगृह-गमन मार्ग को प्रशंस्त बनाने की कामना करते हैं :—

रम्यान्तरः कमलिनीं हरितैः सरोभिः
छायाद्रुमैर्नियमितार्कमयूखतापः
भूयात् कुशेशय रजो मृदुरेणुरस्याः
शान्तानुकूलपवनश्च शिवश्च पन्थाः।

दैवी सम्पत्ति से सम्पन्न भी जो महर्षि मानव ही हैं उन्हें भी तो पिता का कोमल हृदय मिला है। इसीलिये वे शकुन्तला के विदा होते समय करुणा से आप्लावित हो जाते हैं। शकुन्तला अभी गई नहीं, जायेगी, पर मुनि का हृदय उसके भावी गमन मात्र की चिन्ता से भर जाता है। कण्ठ रुद्ध हो जाता है, दर्शन-शक्ति मन्द पड़ जाती है, वनवासी मुनि विकल हो उठते हैं और सोचने लगते हैं "वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः पीड्यन्ते गृहिणः कथं न तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः।" शकुन्तला जब तपोवन के पशुपक्षी वृक्षलतादिक को अपने वियोग से दुःखी देखकर उनके प्रति अपने स्वाभाविक स्नेह से कातर हो उठती है मुनि उसे आश्वासन देते हैं, और सखियों से यह कह कर रोने लगते पर "अयं जनः कस्य हस्ते समर्पितः" मुनि उन्हें सान्त्वना देते हैं "अलं रुदित्वा। ननु भवतीभ्यामेव स्थिरीकरणीय शकुन्तला" पर शकुन्तला के यह कहने पर "तपश्चरणपीडितं तातशरीरं, तन्मातिमात्रं मम कृत उत्कण्ठितुम्" ऋषि का शोक-प्रवाह फूट पड़ता है। दूसरों को धीरज बँधाने वाले गम्भीर मुनि स्वयं कह उठते हैं "शममेष्यति मम शोकः कथं नु वत्से त्वया रचितपूर्वम्। उटजद्वार विरुढं नीवारबलिं विलोकयतः" और वे दुःखभरी लम्बी सांस लेकर उससे कहते हैं "गच्छ शिवास्ते पन्थानः सन्तु।"

अरण्यवासी लौकिक बन्धनों से परे भी मुनि लोक-वृत्तान्त में पूर्ण निष्णात है। शकुन्तला के वियोग जन्य दुःखावेग को दबाकर वे दुष्यन्त के लिये सामयिक और राजोचित सन्देश देते हैं जो उनके लोकव्यवहार ज्ञान का सुन्दर निदर्शन है। "अस्मान् साधु विचिन्त्य संयमधनान्.........भाग्या यत्तमतः परं न खलु तद्वाच्यं वधूबन्धुभिः।" दुष्यन्त को सन्देश देने के बाद वे अपनी कन्या को भी उपदेश देते हैं क्योंकि वे वनवासी होते हुए भी लौकिक विषयों के भी ज्ञाता हैं। सच है बुद्धिमानों के लिये कोई भी विषय लौकिक या अलौकिक, दृष्ट या अदृष्ट अविषय नहीं होता। वे अपनी दिव्य दृष्टि से सब कुछ देख लेते हैं अतः उनके लिये गार्हस्थ्य-व्यवहार जानना और अपनी अरण्यपालिता कन्या के लिए महारानी के योग्य उचित उपदेश देना क्या दुर्लभ था? वे शकुन्तला को सम्बोधित कर कहते हैं कि जो तुम अब तक आश्रम के उन्मुक्त वातावरण में स्वेच्छानुकूल व्यवहार करती रही थीं वह तुम अब यहाँ से पतिगृह में पहुँचकर गुरुजनों की सेवा करना, सपत्नियों के साथ भी प्रियसखी जैसा व्यवहार करना, ऐश्वर्यशालिनी महारानी बन कर भी परिजनों पर उदार रहना, पति द्वारा तिरस्कृत होकर भी कभी विपरीत आचरण न करना और अपने भाग्य पर कभी गर्व न करना।

देखो जो स्त्रियाँ इस प्रकार व्यवहार करती हैं वही सच्ची गृहिणी कहलाती हैं और विपरीत आचरण करने वाली न केवल पतिकुल के लिये ही वरन् मातृकुल के लिए भी मानसिक पीड़ा का कारण बनती हैं। मुनि का यह उपदेश वास्तव मे शकुन्तला के लिए एक दीक्षान्त भाषण ही है। इसीलिये गौतमी भी उसका अनुमोदन करती और शकुन्तला से उसे मनोनीत करने को कहती है। शकुन्तला के पितृवियोग कातर हो यह पूछने पर कि 'कथमिदानीं तातस्याङ्कात्परिभ्रष्टा मलयतरुन्मूलिता चन्दनलतेव देशान्तरे जीवितं धारयिष्ये'' और कदा नु भूयस्तपोवनं प्रेक्षिष्ये।'' मुनि बड़े शान्त एवं गम्भीर चित्त से उसे विश्वास दिलाते हैं कि पतिकुल में गृहिणीपद प्राप्त कर, यज्ञानुष्ठानों में व्यस्त रह कर तथा लोकपावन पुत्र को उत्पन्न कर तुम मेरे विरह दुःख को भूल जाओगी और अपने अप्रतिरथ पुत्र को राज्य-भार सौंप कर फिर पति-सहित इसी शान्त तपोवन में आओगी। ''शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन्''।

पर जब वह चली जाती है, महर्षि कण्व एक शान्ति की सांस लेते हैं और अपने को परम शान्त एव भारमुक्त पाते हैं। वे जानते हैं कन्या-धन परकीय धन होता है। वह कन्या के पिता के पास एक धरोहर के रूप में रहता है और वह तब तक उस भार से मुक्त नहीं होता जब तक कि वह उसे धनी के पास लौटा नहीं देता। आज महर्षि कण्व भी अपनी पुत्री को उसके परिगृहीता के पास भेजकर विशदान्तरात्मा होकर प्रसन्नता का अनुभव करते हैं ''अर्थो हि कन्या परकीय एव…… ……जातो मायं विशदः प्रकामं, प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा''।

महर्षिकण्व जहाँ दयालु, प्रेमिल-पिता, तपोनिष्ठ, सिद्धिमान्, लौकिक व्यवहारज्ञ और न केवल मानवों पर अपितु पशु-पक्षियों पर भी परम स्नेह रखते हैं, लता वृक्षादिकों के न केवल सम्बर्धन की ही उन्हें चिन्ता है प्रत्युत उनके विवाह के लिये भी वह उसी प्रकार प्रयत्नशील हैं जैसे शकुन्तला और उसकी सखियों के लिये भी और उनके अनुरूप वर प्राप्ति पर आनन्द का अनुभव करते हैं, वहाँ दुर्वासा तपस्वी होकर भी कठोर, मानी और क्रोधी तथा निष्ठुर दीख पड़ते हैं, यद्यपि वह अपनी दिव्य दृष्टि से यह जाने लेते हैं कि शकुन्तला पतिवियोग से शून्य हृदया सी हो गई है और जैसा कि प्रियम्बदा कहती है उटजसंनिहिता भी वह हृदय से असंनिहिता है अतएव वह ऋषि के आह्वान को नहीं सुन सकी है फिर भी ऋषि, इसने मेरा अपमान किया है, यह मुझ जैसे तपोधन का जो स्वयं उपस्थित हुआ है अन्यमनस्का हो अनादर कर रही है, यह समझकर उसे पतिवियोग का दारुणशाप दे देते हैं

''विचिन्तयन्ती यमनन्य मानसा,
तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम्।
स्मरिष्यसि त्वां न स बोधितोऽपि सन्
कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव॥''

कितना छोटा अपराध और मुनि का कितना बड़ा दण्ड। इसीलिये तो प्रियम्वदा कहती है "कोऽन्योहुतवहाद्दग्धुं प्रभवति" यह तो दुर्वासा जैसे क्रोधी का ही काम हो सकता था।

महर्षि मारीच तो सबसे बढ़ कर उस दिव्यलोक के ऋषि हैं जहाँ सभी स्वर्गीय साधनों के रहते हुए भी ऋषि जन उनमे आसक्त न होकर तपश्चर्यालीन रहते हैं, कल्पवृक्ष के रहते हुये भी जहाँ ऋषि जन वायु भक्षण कर जीवन धारण करते हैं, रत्न शिलाओं पर ध्यान करते हैं, अप्सराओं के सान्निध्य में भी संयमी हैं वास्तव में विश्वमित्रादि जैसे ऋषि जिन वस्तुओं के प्राप्ति हेतु तप करते हैं ये ऋषि उन वस्तुओं के बीच रह कर भी तप करते हैं ऐसे दिव्यलोक में पहुँचकर दुष्यन्त स्वयं कहलाता है "स्वर्गादधिकतरं निवृत्ति स्थानम्। अमृतहृदमिवावगाढोऽस्मि" महर्षि मारीच उस समय समाधिनिष्ठ थे उन्हें देखकर वह उनकी कठिन तपस्या के लिये बन्दना करता है (७-११) भगवान् मारीच इन्द्रादि देवताओं के पिता हैं भगवान् विष्णु भी वामनावतार में उनसे ही जन्म ग्रहण करते हैं (७-२७) पूर्ण आप्त काम होकर भी महर्षि मारीच लोकहित कामना से तप करते हैं, इनके आश्रम में पहुँचकर शकुन्तला को परम शान्ति मिली। महर्षि ने उसके पुत्र के सभी जातकर्मादि संस्कार किये और उसे अप्रतिरथ होने का आशीर्वाद दिया, ऐसे लोक-पावन ज्ञाननिष्ठ महात्मा के आशीर्वाद द्वारा नाटक की समाप्ति कर कवि ने परम औचित्य का पालन किया है।

शार्ङ्गरव और शारद्वत :—

दोनों ही महर्षि कण्व के प्रिय शिष्य हैं, गुरु के प्रति उनकी अपार भक्ति एवं श्रद्धा है, तप, अध्ययन और आश्रम की व्यवस्था उनका परम कर्तव्य है। आश्रम का बहुत कुछ कार्य उन पर निर्भर है, और विशेषरूप से उस समय जबकि गुरुदेव आश्रम में नहीं होते हैं। आश्रम की रक्षा, यज्ञानुष्ठनादि कार्यों का उत्तरदायित्व उन्हीं पर है, द्वितीय अंक में हम सर्व प्रथम उनका दर्शन करते हैं। यद्यपि कवि ने वहाँ इनका इन्हीं नामों से निर्देश न कर प्रथमः द्वितीयः एवं और शब्दों से उल्लेख किया है। महर्षि कण्व सोमतीर्थ गये हुये हैं अतः आश्रम के यज्ञों में राक्षस विघ्न डालते हैं। दोनों ही ऋषिकुमार यह जानकर कि राजा आजकल आश्रम के समीप ही है, यज्ञरक्षार्थ उनसे प्रार्थना करते हैं। इस अवसर पर कवि ने दोनों के चरित्रों में साम्य दिखलाया है, दोनों ही राजा के बल, पराक्रम और आर्तजनत्राणात्मक उसके चरित्र की प्रशंसा करते हैं और अत्यन्त तेजस्वी भी उसके शरीर की विश्वसनीयता पर आश्चर्य प्रकट करते हैं। और उसकी ऋषि से तुलना करते हुये उसे ऋषि से भी बढ़कर राजर्षि कहते हैं (२-१४) उनकी दृष्टि में वह उस समय इन्द्र से भी अधिक शक्तिशाली और आसमुद्रक्षिति का एक मात्र रक्षक है (२-१५) दोनों ही राजा की साधुवाद और जय शब्दों से सम्बर्धना करते हैं और कुछ दिनों तक सारथि के साथ आश्रम में रहने की प्रार्थना

करते हैं जिससे उनकी इष्टि में विघ्न न पड़े। इस प्रकरण से दोनों के स्वभाव का कोई व्यक्तिगत परिचय नहीं मिलता। तृतीयाङ्क के विष्कम्भक में इन्हीं में से एक शिष्य का उल्लेख है जो कि राजा की वीरता की प्रशंसा करता है पर यहाँ भी इनके चरित्र पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। चतुर्थ अंक में फिर इन्हीं दोनों शिष्यों का निर्देश किया गया है जबकि महर्षि कण्व इन दोनों को आर्यमिश्राः कह कर शकुन्तला को हस्तिनापुर ले जाने की आज्ञा देते हैं। यहीं से इनके चरित्र की व्यक्तिगत विशेषता परिलक्षित होती है। यद्यपि दोनों तपोनिष्ठ विद्वान् परम भक्त शिष्य हैं तथापि दोनों में शार्ङ्गरव प्रधान है अतएव ऋषि शार्ङ्गरवमिश्राः कहते हैं। शार्ङ्गरव ही प्रत्येक अवसर पर आगे आकर वार्तालाप करता है। ऋषि की दृष्टि में शारद्वत की अपेक्षा वह अधिक व्यवहार कुशल है इसलिये वह ही भगवान काश्यप से कहता है "भगवन्! उदकान्तं स्निग्धो जनोऽनुगन्तव्यः इति श्रूयते, तदिदं सरस्तीरम्। अत्र संदिश्य प्रतिगन्तुमर्हसि।" ऋषि भी राजा से कहने के लिये उसे ही अपना संदेश देते हैं। वास्तव में हस्तिनापुर जाने वाली पार्टी का वही लीडर है। शार्ङ्गरव वाक् चतुर भी है, ऋषि का सन्देश समाप्त होते ही वह कहता है "गृहीतः संदेशः" और मुनि के यह कहने पर "वनौकसोऽपि सन्तो लौकिकज्ञा वयम्" वह तुरन्त समयानुकूल उत्तर देता है 'न खलु धीमतां कश्चिदविषयो नाम"

पर इन दोनों शिष्यों की व्यक्तिगत विशेषतायें वास्तव में पञ्चम अंक में प्रकट होती हैं, शकुन्तला और गौतमी के साथ जब ये दोनों शिष्य दुष्यन्त के दरबार में पहुँचते हैं। राजा के अभिवादन करने पर और यह पूछने पर कि मुनिजनों की तपस्या तो निर्विघ्न चल रही है। दोनों राजा की रक्षणशीलता की प्रशंसा करते हैं। पर भगवान् काश्यप के लिये किये गये कुशल प्रश्न का उत्तर वे बड़ी ही कुशलता से देते हैं जैसा कि परमत्यागी गुरुभक्त शिष्यों के लिये सर्वथा उपयुक्त था 'स्वाधीनकुशलाः सिद्धिमन्तः" सिद्ध पुरुष स्वयं ही कुशली होते हैं। उनकी कुशलता के लिये अन्य किसी की अपेक्षा नहीं रहती, चक्रवर्ती सम्राट भी सिद्ध पुरुषों से ही अपना कुशल-क्षेम चाहते हैं।

इस प्रकार यद्यपि दोनों के स्वभाव एवं चरित्र में कुछ साम्य है पर दोनों की प्रकृति एवं विचारों में महान अन्तर है। शार्ङ्गरव सत्य का प्रतीक है तो शारद्वत साधुता का, एक यदि शास्त्र है (शास्त्रविहित कठोर मर्यादा का अक्षरशः पालन करने वाला) तो दूसरा शील की प्रतिमूर्ति है। एक यदि कोरा सिद्धान्त वादी है तो दूसरा लोक व्यवहार व शिष्टाचार को समक्ष रख कर चलने वाला है। एक यदि वाद-विवाद का स्वरूप है तो दूसरा विनय का रूप, एक में यदि कटुता एवं प्रखरता है तो दूसरा मधुर एवं शीतल है। इनके स्वभाव में इतना अन्तर है फिर भी दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। शारद्वत स्वभाव से ही मितभाषी है उसे अधिक वाद-विवाद नहीं रुचता

इसीलिये बोलने का कार्य शाङ्गरव ने ही लिया है, गुरुदेव भी जानते थे कि शाङ्गरव बड़ा प्रगल्भ एवं वाक्पटु है इसीलिये उन्होंने उसे ही अपना संदेश राजा को सुनाने की आज्ञा दी थी और सबसे पहिले इसीलिये वह महर्षि कण्व का संदेश राजा को देता है "तदिदानीमापन्नसत्त्वा प्रतिगृह्यतां सहधर्मचरणायेति" सत्य और शास्त्र का प्रतीक होने से वह कठोर एवं उग्र भी है, किसी भी अनुचित शास्त्र मर्यादा विरुद्ध बात को वह सहन नहीं कर सकता, वह स्पष्ट वादी एवं निर्भीक है। राजा के यह कहने पर "अये किमिदमुपन्यस्तम्" अरे यह क्या मामला खड़ा कर दिया? वह तुरन्त क्रोधित हो उठता है और कहता है "कथमिदं नाम? भवन्त एव सुतरां लोकवृत्तान्तनिष्णाताः" इसी प्रकार जब राजा शकुन्तला के साथ विवाह करने मे भी संदेह प्रकट करता है तो उसे सम्राट् से भी यह कहने में संकोच नहीं होता "मूर्च्छन्त्यमी विकाराः प्रायेणैश्वर्यमत्तेषु" धन के मद से मत्त लोगों के हृदय में मिथ्या कथन आदि विकार आ ही जाते हैं, और जब राजा फिर भी चुपचाप बैठा सोचने लगता है उसे स्वीकार नहीं करता शाङ्गरव का क्रोध और बढ़ जाता है तथा वह उसे दस्यु भी कहने में देर नहीं करता "मुष्टं प्रतिग्राहयता स्वमर्थं पात्रीकृतो दस्युरिवासि येन" पर शान्त स्वभाव साधुता एवं शील के प्रतीक शारद्वत ने जब यह देखा कि इसका क्रोध बहुत आगे बढ़ गया है अब अनर्थ हुआ ही चाहता है, वह सहसा आगे आ जाता है और कहता है "शाङ्गरव! विरम त्वमिदानीम्" और वह शकुन्तला से कहता है "शकुन्तले! वक्तव्य मुक्तमस्माभिः सोऽयमत्रभवानेवमाह, दीमतायस्मै प्रत्ययवचनम्" इस प्रकार उसने कुछ समय के लिये बात टाल दी और साथ ही शकुन्तला की भी आखें खोल दीं और उसे अपना परिचय देने के लिये आगे बढाया, झगड़ा तो उन दोनों के बीच था उन्हीं को सुलझाना चाहिये था यही उसकी व्यवहार कुशलता थी। पर शकुन्तला के प्रत्यय वचन का भी जब कुछ प्रभाव न पड़ा प्रत्युत तापसवृद्धा पर ही नहीं अपितु समस्त स्त्री जाति पर कोलिका के दृष्टान्त द्वारा जब राजा ने आक्षेप किया और शकुन्तला के प्रत्यय वचन को कैतव पूर्ण बतलाया, शाङ्गरव से न रहा गया, उसने सभासदों को सम्बोधित करते हुये कहा 'श्रुतं भवद्भिरधरोत्तम्" "परातिसन्धानमधीयते यै विद्येति ते सन्तु किलाप्तवाचः" जिसने परातिसन्धान को विद्या की तरह सीखा है वही तो विश्वासपात्र हो सकता है न? और ज्योंहि इसके उत्तर में राजा के मुख से यह निकला "किं पुनरिमामतिसन्धाय लभ्यते" तड़ाक उत्तर मिलता है "विनिपातः" और क्या। शारद्वत ने देखा कि फिर काम बिगड़ा वह तुरन्त सामने आ गया और उससे कहा 'शाङ्गरव! किमुत्तरेण! अनुष्ठितो गुरोः संदेशः प्रतिनिवृत्तामहे वयम् और इस बार शकुन्तला को नहीं दुष्यन्त को चेतावनी दी "तदेषा भवतः कान्ता त्यज वैनां ग्रहाण वा, उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतो मुखी"।

शारद्वत बोलता तो बहुत कम है पर बात को साध लेने की उसमें अपूर्व क्षमता है इसी दृष्टि से शाङ्गरव के साथ शारद्वत के होने की आवश्यकता थी अन्यथा बड़ा ही अनर्थ हो जाता। मर्यादा का पालन तथा विनय का निर्वाह वही करता है और अत्यन्त आवश्यक होने पर ही बोलता है यदि वह न होता तो इस वाक्कलह का परिणाम कुछ और ही होता।

शाङ्गरव न केवल राजा को ही फटकारता है वह शकुन्तला को भी करारी फटकार देता है वह स्वभावतः क्रोधी, उग्र एवं कठोर है उसका किसी पर अन्याय पूर्ण पक्षपात नहीं, वह तो साक्षात् धर्म का प्रतीत है और स्पष्टवादी है। जब शकुन्तला अपने प्रत्ययदान में असफल हो रोने लगती है, और यह कहती हुई 'कथमनेन

कितवेन विप्रलब्धास्मि, यूयमपि मां परित्यजथ'' मुनि के पीछे चल देती है माता का हृदय दयार्द्र हो जाता है पर डरती वह भी है क्योंकि माता होते हुये भी वह धर्मानुरागिणी भी तो है, वह धर्मरूप शार्ङ्गरव से पूछे बिना कैसे उसे अपने पीछे आने की आज्ञा दे देती और इसीलिये वह बड़े कारुणिक शब्दों में कहती है ''वत्स शार्ङ्गरव ! अनुगच्छतीयं नः करुणपरिदेविनी शकुन्तला प्रत्यादेशपरुषे भर्तरि किं वा मे पुत्रिका करोतु'' यद्यपि इन वाक्यों से उसने शकुन्तला की विवशता और निःसहायता का संकेत भी किया उसकी अनुमति भी चाही पर इससे क्या ? तपोधन धर्मस्वरूप शार्ङ्गरव बिचलित हो सकता था ? नहीं ! शकुन्तला को भी तो अपने किये का फल भोगना ही था वह इस बात को जानता था इसीलिये गौतमी के कथन पर तथा शकुन्तला के करुणपरिदेवन पर कुछ ध्यान न देकर वह क्रोध पूर्वक लौट कर कहता है 'किं पुरोभागे स्वातन्त्र्यमवलम्बसे'' हो सकता था यदि कोई विवेकी होता तो इतना कहकर ही शान्त हो जाता पर वह तो साक्षात् सत्य शास्त्र एवं प्रखरता का प्रतिरूप ही था वह शास्त्र की वाण वर्षा किये बिना चुप कैसे रह जाता इसीलिये वह आगे कहता है :—

यदि यथा वदति क्षितिपस्तथा
त्वमसि किं पितुरुत्कुलया त्वया
अथ तु वेत्सि शुचि व्रतमात्मनः
पतिकुले तव दास्यमपि क्षमम् ।

शास्त्र का निर्णय तो सबके लिये समान है उसमें अपने पराये का भेद कहाँ ? उत्कुला के लिये तो पितृकुल में भी आश्रय नहीं और पतिव्रता के लिये पतिगृह में दास्य वृत्ति भी श्रेयस्कर है । शारद्वत भी इस समय शास्त्र मर्यादा के विरुद्ध क्या कह सकता था अतएव बेचारा चुप रह जाता है । शार्ङ्गरव उग्र तपस्वी होते हुए भी लोकानुग्रह के लिये तप करने वाले महर्षि कण्व का ही तो शिष्य है भले ही संयमधन शारद्वत कुछ न कहे पर तपोधन तो चलते चलते उसे अपने कृतकर्मों के लिये संकेत देगा ही । शकुन्तला ने विनय की अवहेलना की थी अतः शारद्वत तो चुप हो गया था पर शार्ङ्गरव उसे फिर एक बार चेतावनी देता है ।

''इत्थमात्मकृतं प्रतिहतं चापलं दहति
अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात्संगतं रहः;
अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरी भवति सौहृदम् ।''

और उसे अपने कृतकर्मों का फल भोगने के लिये वहीं छोड़कर रूक्षता पूर्वक कहता है ''तिष्ठ ! साधयामो वयम्'' ।

इतना होने पर भी उसे सन्तोष नहीं होता अतः वह राजा की इस गर्वोक्ति पर 'वशिनां हि परपरिग्रह-संश्लेषपराङ्मुखी वृत्तिः'' फिर एक वाग्वाण छोड़ता है ''यदा तु पूर्व वृत्तान्तमन्यसङ्गाद् विस्मृतो भवान् तदा कथमधर्मं भीरुः'' पुनः शार्ङ्गरव को उत्तेजित होता देख विनय को फिर आना ही पड़ा और उसने सब झगड़ा ही मिटा दिया । गौतमी से कहा ''गौतमि ! गच्छाग्रतः और चल दिया ।

इस प्रकार हमने देखा कि शार्ङ्गरव में वाक्पटुता, प्रगल्भता, स्पष्टवादिता और कठोरता के साथ-साथ उग्रता भी है पर शारद्वत में इसके विपरीत गम्भीरता, संकोचशीलता, विनम्रता, सौम्यता एवं क्षमाशीलता है। पर अब देखना यह है कि कवि ने किस उद्देश्य से ऐसे विपरीत स्वभाव वाले दो शिष्यों की जोड़ी बनाई है, एक ही गुरु के एक ही आश्रम के लगभग समवयस्क ही दो शिष्यों के स्वभाव में ऐसा पारस्परिक विरोध क्यों ? और इससे नाटक के किस महत्व की ओर कवि का संकेत है ?

वास्तव में कवि इसके पहिले दुर्वासा और कण्व इन दो ऋषिपात्रों का निर्माण कर चुका है और दोनों ही से अपने-अपने क्षेत्र में कथावस्तु को थोड़ी प्रगति मिली है, इनके द्वारा भी कवि अपने सम्विधानक के लक्ष्य की सफलता की ओर औचित्य दिखलाना चाहता है, यदि दोनों में एक भी न होता या दोनों के स्वभाव में वैपरीत्य न होता तो वाक्कलह का दृश्य सफल न हो पाता। वास्तव में शार्ङ्गरव और शारद्वत क्रमशः दुर्वासा और कण्व का छाया या प्रतीक हो तो हैं, शार्ङ्गरव **तपोधन वेत्सि न मामुपस्थितम्**' वाक्य के अनुसार दुर्वासा जैसा कठोर एवं उग्र है और 'अस्मान् साधु विचिन्त्य संयमधनान्' वाक्य के अनुसार शारद्वत संयम धन है बिना इन दोनों के नाटक की सफलता कहाँ ? शार्ङ्गरव यदि न होता तो शकुन्तला की आँखें कैसे खुलतीं और वह आत्मकृत प्रतिहत चापल्य के फलस्वरूप कैसे करुण परिदेवन करती हुई प्रायश्चित के लिये मारीचाश्रम तक पहुँच सकती और यदि शारद्वत न होता तब तो कुछ और ही हो जाता है, एक ओर से राजतेज और दूसरी ओर तप तेज टकराकर विध्वंस ही कर डालते, अभी तो ऐसा था कि प्रत्यभिज्ञान प्राप्ति पर दुष्यन्त का विकार शान्त हो जायेगा और वह अपनी प्रत्याख्यात पत्नी को स्वीकार कर लेगा पर शारद्वत के अभाव में तो स्यात् नाटक की सुखान्तता ही दूराधिरोहिणी बन जाती। दिव्य दृष्टि तात काश्यप यह सब जानते थे इसीलिये तो वे दुर्वासा के साथ स्वयं भी गये थे जिससे कि बात न बिगड़े पर साथ ही दोनों को अपनी अविनयशीलता का फल भी मिल जाय।

धर्म प्राण महर्षि कण्व सर्वत्र आवश्यकता पड़ने पर धर्म को ही तो पुकारते हैं 'क्क ते शार्ङ्गरव मिश्राः' आदेश भी उसी को देते हैं "भगिन्यास्ते मार्ग दर्शय" भगिनी को भी तो अब धर्म का ही सहारा है जिसके बल पर आज वह वहाँ जा रही थी, अब तो वह आपन्नसत्वा पतिव्रता गृहिणी है, रति प्रतिरूपिका प्रियम्बदा से काम न चलेगा, अब तो धर्म ही उसे मार्ग निर्देश करेगा, राजा को बतलायेगा कि वह धर्मानुकूल परिगृहीत भार्या का निर्वाह करे और भगिनी को यह समझायेगा कि यदि आवश्यकता पड़े तो वह पतिगृह में दास्य-कर्म से भी मुख न मोड़े। पर शकुन्तला ने आज जिस धर्म का अनुसरण किया था वह सरल नहीं कठोर और प्रचण्ड है क्यों न ही धर्म मे जहाँ लोच हुई वहीं पर वह टूट जायेगा। धर्म में सदा प्रखरता रहती है प्रसन्नता नहीं, उसमें कठोरता रहती है पर वह है सदा नित्य और शाश्वत। विवादी और कर्कश

होते हुए भी मार्ग निर्देशक वही रहता है शकुन्तला के ही लिये नहीं कण्व के लिये भी, धर्म अपने सिद्धान्तों पर चलता है लोक-व्यवहार की उसे चिन्ता नहीं इसीलिये तो वह कण्व से कह देता है **"भगवन् ! उदकान्तं स्निग्धो जनोऽनुगन्तव्यः इति श्रूयते"** पर शील और विनय भी तो धर्म के भीतर ही रहते हैं उसके ही तो अंग हैं उन्हें भी तो साथ रखना ही है धर्म चाहे जैसा कठोर शास्त्रमर्यादाबद्ध क्यों न हो पर विनयशील उसके भी भीतर अपना रास्ता निकाल ही लेता है महर्षि कण्व भी आगे तो नहीं बढ़े क्योंकि धर्म का अनुशासन था पर क्षीर वृक्ष की छाया में तो पहुँच ही गये पर फिर देर होते धर्म ने पुकारा **"युगान्तमारुढः सविता त्वरता-मत्र भवती"**।

पर यह तो रह ही गया कि कण्व ने गौतमी की क्या आवश्यकता समझी, चलते शकुन्तला ने पूँछा कि क्या यहाँ से ही मेरी सखियाँ लौट जायगीं **"तात इत एव किं प्रियम्वदा मिश्राः सख्यो निर्वातिष्यन्ते**। वह तो रति प्रति रूपिका प्रियम्वदा को साथ ले जाना चाहती थी पर ऋषि ने स्पष्ट कह दिया' **त्वया सह गौतमी यास्यति**' क्यों, गौतमी किसलिये इसीलये कि अब **रति की आवश्यकता नहीं मति की आवश्यकता थी और क्रिया की भी, मतिरूप में तो शार्ङ्गरव** को भेज ही रहे थे, **क्रियारूप में गौतमी का भेजना** भी आवश्यक था जिससे कि वह आवश्यकता पड़ने पर शकुन्तला को सहायता दे अंगुलीयक खो जाने पर वह तुरन्तु उसे याद दिलाती है कि वह सची-तीर्थ पर गिर पड़ी होगी, शकुन्तला के करुण परिदेवन पर यदि तरस न आता तो शकुन्तला की आँखें कैसे खुलतीं और धर्मोपदेश भी कैसे मिलता। कण्व भी तो उसकी अनुमति से काम करते हैं, कन्या को अनुशासित करने के बाद वे स्वयं पूंछते हैं '**कथं वा गौतमी मान्यते**' और उसके यह देने पर ही **एतावानेव वधूजनस्योपदेशः** उन्हें सन्तोष होता है धर्म और तप के साथ क्रिया की भी आवश्यकता थी इसीलिए मुनि ने उसे उनके साथ भेजा था।

यह नहीं कि राजा को देखकर ही उसकी अस्वीकृति जानकर ही शाङ्गरव उत्तेजित हो उठा था वह तो स्वभाव से ही ऐसा था, वास्तव में **अरण्यवासी धर्म, दुष्यन्त के नीतिनगर में प्रविष्ट** होते ही संक्षुब्द-सा हो उठता है उसे वहाँ की भीड़-भाड़ अच्छी नहीं लगती, उस एकान्तसेवी धर्म को जनाकीर्ण प्रदेश अग्निज्वालाओं से घिरा प्रतिभासित होने लगता है **"जनाकीर्ण मन्ये हुतवहपरीतं गृहमिव"** और जब पुरोहित वर्णाश्रम पालक राजा का यशोगान करता है तो वह बड़ी अरुचि पूर्वक कहता है **"भो महा-ब्राह्मण ! काममेतदभिनन्दनीयं तथापि वयमत्र मध्यस्थाः"** सच है दुर्वासा तो अपने को ही तपोधन कह सकते हैं दूसरा उनके सामने धर्मात्मा कैसा ? पर शारद्वत दृष्टि कोण इससे भिन्न है उसके हृदय में करुणा एवं उपेक्षा का भाव है, एकान्तवासी होने से यद्यपि जनाकीर्णता उसे भी रुचिकर नहीं तो भी वह उसे अग्नितुल्य संतापकारी नहीं लगती उसके लिये तो यह एक दयनीय एवं उपेक्षणीय दृश्य है क्योंकि वह तो संयम धन है, तपोधन तो नहीं अतः वह कहता है' यहाँ के सुखीजनों

को मैं उसी प्रकार समझता हूं जैसा कि स्नान व्यक्ति तैलानुलिप्त को, पवित्र अपवित्र को जागृत सुप्त को हौर स्वाधीन पराधीत्र को समझता है।

ऐसे ही अपने परस्पर विरुद्ध स्वभाव को लेकर ये सब राजदरबार में प्रवेश करते हैं और अपने-अपने स्वभावानुसार सभी गुरुनिदेश को पूरा करते हैं।

अनुसूया और प्रियम्वदा :—

कालीदास के नाटक का चरम लक्ष्य आदर्श प्रेम का उचित परिपाक है इसी की सफलता के लिये उसने जहाँ कई सुन्दर नवीन प्रसंगों की उदभावना की है, वहाँ नवीन पात्रों की सृष्टि कर कथानक को अत्यन्त रोचक एवं आकर्षक भी बनाया है तथा प्रेम के औचित्य की रक्षा की है। इस दृष्टि से अनुसूया और प्रियम्वदा जैसी सखियों की कल्पना का नाटक में बड़ा महत्व है। इन दोनों की कल्पना के कारण ही शकुन्तला का उज्ज्वल चरित्र विकसित हो सकता है, इनके ही कुशल चित्रण के कारण कवि अपने शकुन्तला को लज्जाशीला, प्रेमपरायण तथा एक मुग्धा नायिका के रूप में हमारे सामने रख सका है अन्यथा वह महाभारत की स्पष्टवादिनी, निर्लजा, प्रगल्भा, युवती ही होकर रह जाती। महाभारत की शकुन्तला दुष्यन्त का स्वयं स्वागत करती, अपना जीवन वृत स्वयं सुनाती और अपने पुत्र के लिये राजसिंहासन की शर्त रखकर उसके साथ विवाह कर लेती है पर यहाँ कवि ने सखियों के द्वारा ही यह सब काम करा कर नायिका के मुग्धात्वभाव की एवं उसकी लज्जाशीलता की रक्षा की है। इस प्रकार शकुन्तला के चरित्र के उज्ज्वल विकास में तथा कथावस्तु की प्रगति में इन दोनों सखियों का महत्वपूर्ण स्थान है। सखियाँ हा नायिका के भावों की अभिव्यक्ति हैं और नाटक के फलागम की साधिका भी। नाटक-बीज के आरोपण एवं सम्वर्धन में इनका ही विशेष महत्व है। इसीलिये कवि ने इन दो पात्रों की सृष्टि कर अपने अभिमत आदर्श प्रेम का सफलतापूर्वक निर्वाह किया है।

प्रथम अंक में ही हमें इस त्रयी का दर्शन होता है, जहाँ हम दुष्यन्त के साथ ही, वृक्ष सिंचक में तत्पर इनके मधुर हास-परिहास को सुनते हैं। शकुन्तला के प्रति दोनों का अगाध एवं निःस्वार्थ प्रेम है। अपने-प्रमाणानुरुप घटों से बाल-पादपों का सिंचन करतीं हुईं जब वे महसा राजा के दृष्टि में आती है, वह तुरन्त कह उठता है '**अहो मधुरमासां दर्शनम**' चक्रवर्ती सम्राट इन अरण्यवासनी बल्कलावृता मुनि कन्याओं को देख चकित हो जाता है और सहसा उसके मुख से निकल पड़ता है "**शुद्धान्त दुर्लभमिदं वपुराश्रमवासनी यदि जनस्य**" "**दूरी कृता खलु गुणैरुघ नलता वन लताभिः**" और फिर इसीलिये वह उनके मधुरविश्रम्भालास सुनने के लिये वृक्षच्छाया का आश्रय लेता है।

दोनों शकुन्तला के जीवन के साथ पूर्णतया घुल-मिल गईं हैं वे उसका दाहिना और बायाँ हाथ ही नहीं अन्तरंग हृदय भी है, यदि उन्हें अपनी सखी की चिन्ता है

तो सखी को भी उनसे कुछ भेद-भाव नहीं। यदि वह अपनी मनोगत बात उनसे न न कहेगीं तो और किनसे कहेगीं ? "**सखि कस्य वाऽन्यस्य कथयिष्यामि**" यदि वे उसके लिये व्यवसाय है तो वह भी उनकी व्यवस्था के अनुकूल ही करती है "**को नियोगी विकल्पयते** दोनों ही अपनी प्रियसखी की समदुःख सुखभागिनी है तो फिर क्यों न वह अपनी आदि और व्याधि की बात उससे निःसंकोच हो कर कह डाले, मनोविनोद में ही नहीं' गम्भीर स्थिति में भी तो उन्हें उसकी चिन्ता है और उसे भी उन्हीं का पल्ला पकड़ना है इसीलिए तो दुष्यन्त कहता है "**समवयोरुप रमणीयं भवतीनां सौहार्दम** ।"

दोनों नायिका का हित सम्पादन करतीं, उसके लिये समान रूप से व्यवसाय और व्यवस्था करतीं और उसे निर्वृत्त कल्याणा भावी पथ को प्रशस्त करने का उद्योग करती हैं दोनों में मनोवैज्ञानिक कुशलता है वे नायक-नायिका के पारस्परिक को उनकी आकृति- दर्शन मात्र से "**उभयो राकारं विदित्वा**" जान लेती हैं। काम-व्यापार से सर्वथा दूर भोले आश्रम वासी जब शकुन्तला को आतपलंधनदोष से अस्वस्थ-शरीरा समझते हैं और उसका तदनुकूल उपचार करने में प्रवृत्त होते हैं, दोनों उसके रोग का ठीक-ठीक निदान करती हैं और शीघ्र औषधोपचार करती हैं।

सखी स्नेह के साथ-साथ उनमें व्यवहार कुशलता भी है वे दुर्वासा जैसे आशुक्रोधी तपोधन को भी शाप से रूपान्तरण के लिये प्रसन्न कर लेती हैं और बड़ी बुद्धिमत्ता के साथ शाप वृत्तान्त को शकुन्तला के कानों तक नहीं पहुँचने देतीं और इस प्रकार वे अपनी प्रकृतिपेलवा सखी की रक्षा करतीं हैं। शकुन्तला का भी दोनों पर एक-सा ही प्रेम है, विदा होते समय वह इसीलिये तो दोनों से एक साथ मिलती है "**हला ! द्वे अपि मां सममेव परिष्वजेथाम**" वे भी अपनो सहवासिनी अभिन्न हृदया सखी के विच्छेद से व्याकुल हो उठती हैं और महर्षि के '**अलं रुदित्वा**' कहने पर भी सहसा उनके मुख से निकल हो पड़ता है "**तात ! शकुन्तला विरहितं शून्यमिव तपोवनं कथं प्रविशावः**" वास्तव में शकुन्तला के वियोग के समय उनके हृदय पर जो बीती, करुणा का जो सागर उमड़ा वह अपार था, वर्णनातीत था, कवि भी अधिक न कह सका। कण्व की मानसिक वेदना की अभिव्यक्ति तो हुई, यहाँ तक कि पशु और लताओं के भी आँसू मिले, पर इन सखियों की अपार करुणा के लिये "**स्नेह प्रवृत्तिवं दर्शिनी**" ये दो शब्द ही निकले और तो क्या ? "**अयं जनः कस्य हस्ते समर्पितः**" का उत्तर शकुन्तला के पास भी नहीं था।

इस प्रकार यद्यपि दोनों के कार्य व्यापारों से एवं स्वभाव में बहुत कुछ साम्य है, फिर भी दोनों के चरित्र में महान् अन्तर है। दोनों ही शकुन्तला के चरित्र को उभारने में सहायक हैं पर अपने-अपने ढंग से और भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से। अनुसूया भी शकुन्तला की सखी है पर वह प्रियम्वदा जैसी सर्वत्र विनोदशीला नहीं, यथा सम्भव वह हास-परिहास में भी भाग लेती है पर प्रियम्वदा जैसी प्रगल्भा,

मधुरभाषिणी हर समय आनन्दित रहने वाली अल्हड़ नहीं, वह चिन्तनशील, गम्भीर एवं दूरदर्शिनी हैं। अपनी विवेक-शीलता और व्यवहार कुशलता के कारण ही राजा का स्वागत करने में, शकुन्तला का जीवन-वृत कहके में और शकुन्तला से सद्व्यवहार करने के लिये बहु-वल्लभ राजा से वचन लेने में अनुसूया ही प्रमुख भाग लेती है। प्रियम्वदा तो अपने नामानुरूप एवं स्वभावानुरूप अवसर के प्रस्तुत करने मे ही व्यस्त है उसने शकुन्तला के वल्कल को ही इतना कसकर बाँध रखा है कि वह बेचारी नियन्त्रित सी हो गई है और अनूसूया से उसे ढीला करने को कहती है बस प्रियम्वदा तो ऐसे अवसर की खोज में थी ही, झट कह दिया "**अत्र पयोधरविस्तारयितृ आत्मनो यौवनमुपालम्भस्व**" इसी प्रकार जब वह केसर वृक्ष में पानी देने के लिये उसके पास जाती है, प्रियम्वदा को अवसर मिला और उसे लता वधू बना डाला "**अत्रैव अत्रैव तावनमुहूर्तं तिष्ठ यावन्वयोपगतया लता सनाथ इवायं वृक्षकः प्रतिभाति**" शकुन्तला भी इसकी इस उक्ति से हर्षित हो कहती है। "**अतः खलु प्रियम्वदासि त्वम्**" पर जब यह परिहास और अधिक बढ़ जाता है और प्रियम्वदा जब उस पर "**अपि नामैवहमप्यात्मनोऽनुरूपं बरं लभेय**" का भी आरोप करने लगती है तब वह कुछ रुष्ट हो कर कहती है "**एष नूनं तवानुगतो मनोरथः**" पर इससे क्या ? वह रुक सकती थी ? उसे तो मौका मिलना चाहिये. अवसर मिलने पर वह अपने विनोदी स्वभाव के कारण समय असमय का भी और शालीनता का भी ध्यान नहीं रखती, राजा के पूंछने पर "**बैखानसं किमनया व्रत-मा प्रदानात् व्यापार रोधि मदनस्य निषेवितव्यम्**" वह कह बैठती है "**गुरोः पुनरस्या अनुरूप वर प्रदाने संकल्पः**" इस प्रकार अपने लिये अनुरुप वर और प्रदान का स्पष्ट कथन सुन जब शकुन्तला रुष्ट हो वहाँ से जाने लगती है प्रियम्वदा कहती है "**हला ! न ते युक्तं गन्तुम्**" **यतः वृक्ष सेचने द्वे धारयसि मे।** "**एहि तावत् ! आत्मानं मोचयित्वा ततो गमिष्यसि**" रोकने का कितना सुन्दर विनोदपूर्ण ढंग है। वास्तव में प्रियम्वदा अवसर के अनूकूल किसी वस्तु का भव्यरूप खड़ा कर देने में बड़ी निपुण है, दूती कार्य में तथा दूसरों के भावों के अध्ययन में भी वह बड़ी कुशल है। दोनों के भावों को देखकर जब उसने समझ लिया कि इस अतिथि पर शकुन्तला अनुरक्त हो गई है केवल ऊपर से छनक रही है तब उसे चिढ़ाने के लिये एक और जड़ दी "**हला शकुन्तले ! मोचितास्यनुकम्पिनार्येण अथवा महारेजन, गच्छेदानीम्**" **और** शकुन्तला चिढ़ कर कहती है '**का त्वं विसर्जितव्यस्य रोद्धव्यस्य वा**"। पर अनुसूया सर्वथा शिष्ट एवं व्यवहार कुशल है, वह बड़े गौर से शकुन्तला का अध्ययन करती है उसकी एक-एक बात पर विचार करती है, परिहास भी करती है पर मर्यादित, समय असमय सोच कर ही, और उसके भावों को जानने के लिये ही ! प्रियम्वदा सहृदया कुशल विनोद प्रिया है सही पर मनो-वैज्ञानिक विश्लेषण में, व्यवहार कुशलता में, अवसरानवसर पर विचार करने में, अथ च प्रत्येक अवसर पर व्यवसाय एवं व्यवस्था करने में वह प्रियम्वदा से कहीं अधिक गम्भीर,

शिष्ट एवं वाक्पटु हैं। उसका परिचय हमें प्रथम अंक में '**तर्कयामि**' से होता है जहाँ वह एक ओर नवमालिकाकुसुमपेलवा शकुन्तला को देखती है और दूसरी ओर उसके खेद-जनक परिश्रमसाध्य आवाल पूरण को। उस पर तरस खाकर नहीं अपितु उसके भाव को जानने के लिये वह शकुन्तला से कहती है कि सम्भवतः तात काश्यप का ये आश्रम वृक्ष तुझ से भी अधिक प्रिय है नहीं तो वे कुसुम कोमला तुझ को यह कार्य क्यों सौंपते पर शकुन्तला इसके उत्तर में तात नियोग ही नहीं अपना सोदर स्नेह भी बतलाती है पर अनुसूया खूब समझती है कि प्यास सखी की पादपों की प्यास की अपेक्षा कहीं अधिक है किन्तु गम्भीर एवं अधिक शिष्ट होने के कारण वह उपयुक्त अवसर की प्रतिक्षा में चुप हो जाती है। केसर वृक्ष का आह्वान होता है और शकुन्तला उसकी प्यास बुझाने दौड़ पड़ती है अनुसूया एक बार उसे **तत्कृता बनज्योत्स्नेति नामधेया नवमालिका** की याद दिलाती जिसे वह इस आह्वान से आकृष्ट हो भूल गई थी पर फिर भी चुप ही रहती है। इसी प्रसंग को लेकर प्रियम्वदा से उसकी छेड़-छाड़ होती है पर वह एक विवेकशीला की भाँति चुपचाप सुनती रहती है पर जब भ्रमर का अभिवर्तन होता है और धीरे-धीरे जब शकुन्तला के भावों और चेष्टाओं का पूर्ण रहस्य वह हृदयङ्गम कर लेती है तब वह भी प्रियम्वदा के साथ बोल उठती है "**दुष्यन्त माक्रन्द, के आवां परित्रातुम्**" पर जब दुष्यन्त आ ही गया और सब उसे देखकर सम्भ्रान्त हो गईं, तब उसी को समय की सूझी और उसने '**न किमप्यत्याहितम्, इयं प्रियसखी मधुकरेणाभि-भूयमाना कातरीभूता**' और फिर उसे शकुन्तला को दिखला भी दिया। शकुन्तला की ओर अभिमुख हो जब राजा ने पूँछा "**अपि तपो वर्धते** ? अनुसूया ने कितनी कुशलता और समयोचित सतर्कता के साथ उत्तर दिया "**इदानीमतिथि विशेष लाभेन**"। लोक व्यवहार को वह अच्छी तरह जानती है और अपने कर्त्तव्य का ध्यान रखती है, भले ही राजा के दर्शन से सम्भ्रान्ता शकुन्तला जिस प्रकार अतिथिसत्कार का उत्तरदायित्व है, भूल जाय पर अनुसूया नहीं भूल सकती इसीलिए वह कहती है "**हला शकुन्तले। गच्छोटजम् फलिश्रमर्घमुपहर**" पर जब अतिथि सत्कार की बात परिश्रम विनोद में बदल गई तब उसने शकुन्तला से कहा "**हला शकुन्तले ! उचितं नः पर्युपासन-मतिथीनाम्**।

इस प्रकार दोनों स्वभावों में बड़ा अन्तर है, निश्चिय ही कवि ने शार्ङ्गरव और शारद्वत के समान ही इन दो परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले पात्रों का निर्माण किसी विशेष उद्देश्य से ही किया होगा।

दोनों के चरित्र के अध्ययन से स्पष्ट है कि अनुसूया जैसा कि विद्वद्वर श्री चन्द्रवली पाण्डेय ने लिखा है गम्भीर एवं विवेकशील, कठिन स्थिति में उचित परामर्श देने वाली **मति है और** प्रियम्वदा तो सर्वत्र विनोद-शीला हंसमुखी प्रियभाषिणी काम व्यापार में रति रखने वाली **रति** है और इन दोनों **मति और रति** के द्वारा उपास्यमाना

शकुन्तला **श्रद्धा** है जैसा कि महर्षि मारीच भी उसे कहते हैं "**श्रद्धा वित्तं विधिश्चेति** अथवा इन्हें **मनीषा और दृष्टि या श्रेय और प्रेय** भी कह सकते हैं।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न स्वभाव वाली भी ये दोनों एक दूसरे की पूरक हैं, एक ही साथ मिल कर काम करती हैं, दोनों का उद्देश्य भी एक ही है पर कार्य व्यापार का ढंग अपना अलग-अलग है।

अनुसूया समयानुसार सभी को मत देती है, आवश्यकता होने पर किसी उलझन के आने पर न केवल शकुन्तला ही प्रियम्वदा भी उसी की मति के अनुसार काम करती है। महर्षि कण्व उसकी विवेकशीलता को जानते हैं इसलिए प्रियम्वदा के रहते हुए भी वे अनुसूया से ही कहते हैं "**अनुसूये ! अलं रुदित्वा**" और **अनुसूये ! गतवती वां सहधर्मचारिणी, निगृह्य शोक मनुगच्छतं मां प्रस्थितम्**"।

शकुन्तला भी संकट के समय उसी से मत लेती है और प्रियम्वदा द्वारा अतिपिनद्ध वल्कल को शिथिल करने को कहती हैं। प्रियम्वदा के साथ छेड़ छाड़ होने पर जब चिढ़ जाती है तब भी अनुसूया से कहती है "**अनुसूये ! गमिष्याम्यिहम्**"।

प्रियम्वदा भी सन्देहास्पद अवसरों पर इसकी मति लेकर चलती है यद्यपि रास्ता यही सुझाती है तथापि अनुसूया की मति के बिना उस पर चलती नहीं। दुष्यन्त का रंग-ढंग देख अनुसूया से पूंछती है **अनुसूये को नु खल्वेष चतुर गम्भीराकृतिर्मधुरं प्रियमालपन्प्रभाववप्रिल लक्ष्यते** फिर तृतीय अंक में शकुन्तला की दशा देखकर पूंछती है "**अनुसूये ! तस्य राजर्षेः प्रथम दर्शनादारभ्य पर्युत्सुकेव शकुन्तला। किं नु खलु तस्यास्तन्निमित्तोय भातंको भवेत्**"।

इस प्रकार नाटक में अनुसूया के महत्व को देखकर यह न समझना चाहिये कि अनुसूया इन दोनों से अवस्था में बड़ी थी, कवि ने '**समवयोरूप-रमणीयं भवतीनां सौहार्द्रम्**' द्वारा तीनों को समवयस्का कहा है। यदि अनुसूया बड़ी होती तब तो उसी का प्रथम विवाह होना चाहिये पर कण्व तो '**इमे अपि प्रदेये**' कहते हैं, और बड़ी मानने से नायिका की मर्यादा पर भी आघात होता है अतः इनकी प्रकृतिभिन्नता का कारण अवस्था नहीं इनका व्यक्तिगत स्वभाव ही है। अनुसूया का जो नाटक में इतना महत्व है वह केवल यह दिखलाने के लिये कि मानव में मति की प्रधानता है। उसी के अनुसार चरित्र का निर्माण होता है।

मति को व्यवसाय और व्यवस्था का सदा ध्यान रहता है। रति या वासना स्वरूप होने के कारण प्रियम्वदा तो शकुन्तला के लिये ऐसे ही अवसर जुटाने में व्यस्त दिखलाई पड़ती है पर उसके भविष्य सुख के लिये अनूसूया को ही अधिक चिन्ता होती है वह व्यङ्ग हास परिहास में भी शकुन्तला के भविष्य का ध्यान रखती है। चतुर्थ अंक के आरम्भ में हम उसे शकुन्तला के लिये अधिक चिन्तित पाते हैं। **दीर्घ दर्शन की** उसमें अधिक क्षमता है. वह मन ही मन दुष्यन्त की आलोचना करती है कि न

जाने वह अपने नगर में पहुंच कर इस वृत्तान्त को याद करेगा या नहीं, इधर पुष्प-भाजन भी उसके हाथ से स्खलित हो उसके इस संदेह को और भी बढ़ा देता है और कुछ उपाय न देखकर वह शकुन्तला के सौभाग्य देवता की अर्चना करना चाहती है पर इसी बीच 'अयमहम् भोः" की ध्वनि तथा "स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपिसन्" का सहसा वज्रपात तो उसे बिल्कुल चिन्ता सार में डुबो देता है। प्रियम्वदा की सहायता से शाप मुक्ति का उपाय सुनकर कुछ सन्तोष हुआ पर फिर भी शकुन्तला की चिन्ता दूर न हुई, वह शकुन्तला को किसी भी प्रकार दुखी देखना न चाहती थी। अतः प्रियम्बदा से भी कह दिया "प्रियम्वदे! द्वयोरेव नौ मुख एव एष वृत्तान्तस्तिष्ठतु, रक्षितव्या खलु प्रकृति पेलवा प्रिय सखी!" पर इससे उसकी चिन्ता दूर नहीं हुई और सोचते-सोचते वह अधिक व्याकुल हो गई। उसके सामने बड़ी कठिन समस्या थी कुछ समझ में नहीं आ रहा था क्या करे किसे दोष दे अतएव वह कहती है "प्रतिबुद्धापि किं करिष्यामि, न मे उचितेष्वपि निज कार्येषु हस्तपादं प्रसरति' कामः इदानीं सकामो भवतु।" वास्तव में यहाँ काम के सामने मति भी परास्त हो जाती है। इसमें संदेह नहीं कि गान्धर्व विवाह में उसका भी हाथ है, पर इसके लिये वह दोषी नहीं, उसे तो सखी का हित करना था उसे विषय का बोध नहीं, कर्त्तव्य का ध्यान है। प्रियम्बदा की प्रेरणा और राज गौरव का ध्यान कर उसने सखी की इच्छा पूरी की, वह इसके संतोष को नहीं देख सकती थी फिर गान्धर्व विवाह के अतिरिक्त और साधन भी क्या था अतः उसने उसकी व्यवस्था कर दी।

उसे सदा आश्रम के गौरव और मर्यादा का ध्यान रहता है इसीलिये शीघ्रता के प्रस्ताव के साथ-साथ उसने निभृति का भी ध्यान रखा "कः पुन रुपायो भवेद्यना-बिलम्बितं निभृतं च सख्या मनोरथं सम्पादयावः' प्रियम्बदा के उपाय बतलाने पर उसने कह तो दिया "रोचते मे सुकुमारः प्रयोगः" पर शकुन्तला से भी पूछना आवश्यक था "किं वा शकुन्तला भणति"।

पर जब निभृत की बात उजागर ही हो गई तो उसे आपन्नसत्व शकुन्तला की चिन्ता क्यों न हो, इधर शाप भी मिल गया, दुष्यन्त ने भी कोई कोई खबर न ली, अनुसूया के पास अब कोई ऐसा साधन नहीं था जिससे वह अँगूठी भेजकर राजा को शकुन्तला की स्मृति करा दे, दुःखशील तपस्वियों में से तो कोई सहायता करने से रहा, उनका तो जीवन ही ऐसा है। कुछ न बन पड़ा और इस काम व्यापार में पड़कर उसे हताश ही होना पड़ा। अँगूठी ठीक समय पर न पहुँचाई जा सकी।

चिन्ताशील होने के साथ-साथ वह बड़ी सहृदयता और बुद्धिमती भी है शकुन्तला के भविष्य की उसे अधिक चिन्ता है इसीलिये जब उसने देखा कि उसके द्वारा निर्दिष्ट शिलातलैक देश अब सर्व देश हुआ चाहता है और शकुन्तला की दृष्टि अब अन्तःपुर तक जा चुकी है उसने उसके भविष्य का ध्यान कर राजा से कहा,

"बहुवल्लभाः राजानः श्रूयन्ते। यथा नौ प्रिय सखी बन्धुजन-शोचयीया न भवति तथा निर्वाहय"।

इस निर्वाह का ही उसे सदा ध्यान रहता है इसलिये वह सदा उसके लिये चिन्तित रहती है। ज्योंही उसे प्रियम्बदा से शकुन्तला के प्रस्थान कौतुक की सूचना मिलती है। वह प्रफुल्ल हो उठती है और कालान्तरक्षमा केसर माला प्रियम्बदा के हाथ में देकर मँगल सभालम्भन में जुट जाती है। वह शकुन्तला को पतिगृह भेजना चाहती अवश्य है पर सखी स्नेहवश वह प्रियम्बदा से कहती है "सखि प्रियं मे, किन्त्वद्यैव शकुन्तला नीयत इत्युत्कण्ठा साधारणं परितोष मनु भवामि" सखी के लिये कितनी उदार चिन्ता है।

शकुन्तला भी उसके हृदय को जानती है इसीलिए वह चक्रवाकी का प्रसंग इसी से कहती है और वह अपनी मति के अनुसार उसका समाधान भी कर देती है। एषापि प्रियेणा बिना' "गुर्वपि विरह दुःख माशावन्धः साहयति"। पर प्रियम्बदा में इतनी चिन्ताशीलता और गम्भीरता कहाँ ? वह तो सर्वत्र विनोद और परिहास ही देखती है। इसीलिये तो कण्व की भी दृष्टि में प्रियम्बदा की अपेक्षा अनुसूया का ही अधिक महत्व है।

विनोद प्रियता ही नहीं प्रियम्बदा में अनौखी सूझ भी है। अनुसूया के यह पूछने पर "कः पुनरुपायो भवेद्येना ना बिलम्बितं निभृतं च सख्या मनोरथं सम्पाद-यावः।" वह तुरन्त कह देती है "निभृतमिति चिन्तनीयं भवेत्। शीघ्रमिति सुकरम्। ला! मदन लेखोऽस्य क्रियताम्। इमं देवप्रसादस्या-पदेशेन सुमनोगोपितं कृत्वा तस्य स्तं प्रापयिष्यामि" मृग पोतक की सूझ भी प्रियम्बदा ने ही दी थी और अनुसूया ो लेकर लतावलय के बाहर चली गई थीं, इतना ही नहीं "चक्रवाक वधूः! आम-त्रयस्व सहचरम्। उपस्थिता रजनो।" इस संकेत वाक्य के द्वारा शकुन्तला को यह सूझ भी "पौरव! अशंसयं मम शरीरवृत्तान्तोपलम्भायार्या गौतमीत एवागच्छति। विटपान्तरितो भव" प्रियम्बदा ने ही दी थी। इन सभी प्रसंगों पर उसका प्रत्युत्पन्न तित्व देखा जा सकता है। नागर दुष्यन्त को मुनिकन्या की यह सीख आश्चर्य जनक है, इसीलिये तो दुष्यन्त ने कहा था "इदं तत्प्रत्युत्पन्नमति स्त्रैणमिति यदुच्यते" जा को इसका अनुभव तो प्रियम्बदा ने पहिले ही करा दिया था यद्यपि उस समय वाक्य उसने गौतमी के लिए कहा था। वास्तव में भाव विभाव और अनुभावों की तनी परख प्रियम्बदा में है उतनी अनुसूया में नहीं, यह रति यदि रसकोविदा नहीं रस पण्डिता अवश्य है। इसीलिये तो वह तृतीय अंक में शकुन्तला के भावों तथा रीरिक चेष्टाओं को देखकर यह जान लेती है कि यह आतप दोष नहीं अपितु काम है और संशय में पड़ी हुई अनुसूया से कहती है "अनुसूये! तस्य राजर्षेः प्रथम-र्शनादारभ्य पर्युत्सुकेव शकुन्तला। किं न खलु तस्या स्तन्निमित्तोऽयमातङ्को भवेत्" र तब अनुसूया भी कहती है "सखि। ममापीदृश्येवाशंका हृदयस्य" प्रियम्बदा को

भावानुभावों के समझने के लिये अनुसूया की तरह इतिहास निबन्धों के आश्रय की आवश्यकता नहीं, वह तो ऐसे अवसरों पर तुरन्त अपना निर्णय दे देने में सम्भावतः कुशल है, इसलिये वह शकुन्तला से कहती है '**सखि। शकुन्तले सुष्ठवेषा भणति किमात्मन आतङ्क मुपेक्षसे।**" राजा के भावों को समझकर एवं उसके अनुभावों को देखकर वह उसका मदनताप जान लेती है और अनुसूया के '**कथमिव**' प्रश्न के उत्तर में कहती है "**ननु स राजर्षि रेतस्यां स्निग्धदृष्ट्या सूचिताभिलाष एतान् दिवसान् प्रजागर कृशो लक्ष्यते**"।

मनोगत भावों व मर्म की बात समझने में प्रियम्वदा अनुसूया से कहीं अधिक कुशल है। शकुन्तला के जीवन वृत सुनने के बाद राजा के भावों से प्रियम्वदा ने जान लिया कि राजा कुछ और कहना चाहता है और इसीलिये उसने मुस्करा कर शकुन्तला की ओर देखा और राजा से कह दिया "**पुनरपि वक्तकाम एवार्यः**" और राजा ने मान लिया कि हाँ! बात ऐसी ही है "**सभ्यगु पलक्षितं भवत्या**" फलतः राजा के इस प्रश्न के '**वैखानस' किमनया व्रत मा प्रदानाद् व्यापार रोधि मदनस्य निषेवितव्यम्**" उत्तर में उसने तुरन्त कह दिया "**गुरोः पुनरस्या अनुरूपवर प्रदाने संकल्पः**" यह संकल्प पूरा हुआ और इसकी पूर्ति में अनुसूया की अपेक्षा प्रियम्बदा का ही हाथ अधिक रहा, इसीलिये तो प्रियम्बदा शकुन्तला को अनुसूया की अपेक्षा अधिक प्रिया थी और ऐसा कोई प्रसंग आने पर वह प्रियम्बदा से ही अपनी मनोगत बात कहती थी। पतिगृह प्रस्थान के समय वह प्रियम्बदा से कहती है '**हला प्रियम्बदे! आर्यपुत्रदर्शनोत्सुकाया अप्याश्रम पदं परित्यजन्त्या दुःखेन मे चरणौ पुरतः प्रवर्तेते** और प्रियम्बदा ने यह कहकर "**त्वयोपस्थित वियोगस्य तपोवनस्वापि तावत्समवस्था दृश्यते। अपसृत पाण्डुपुत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणि लताः**" उसे लताभगिनी की याद दिला दी। वन से विदा होते समय शकुन्तला को अपनी प्रिया मुँहलगी सखी प्रियम्बदा की ही अधिक चिन्ता है इसीलिये तो वह अपने पहले प्रियम्बदा का ही नाम लेकर तात से पूंछती है "**तात! इत एव किं प्रियम्बदामिश्राः सख्यो निर्वतिष्यन्ते**"?

इस अधिक प्रियता का कारण सम्भवतः यह था कि अनुसूया की अपेक्षा प्रियम्बदा शकुन्तला के भावों को अधिक समझती थी और उसके मन के अनुकूल ही करती थी। इस अनुकूलाचरण एवं भावाभिज्ञता के कारण ही प्रियम्बदा ने उसे आरम्भ से ही ऐसा बाँध रखा था कि वह फिर भी कभी उसकी मुट्ठी से निकल न सकी। पहिले तो उसने उसे वल्कल से ही अति पिनद्ध किया था पर फिर अपने यथा समय प्रिय मधुर भाषणों से और विनोद पूर्ण छेड़-छाड़ द्वारा विविध प्रकार के मनोरंजनों से उसे इतना आकृष्ट कर लिया कि अन्त तक शकुन्तला को उसकी याद न भूली।

अनुसूया की भांति वह कभी विषम परिस्थिति में भी चिन्तित नहीं दीखती अवसर आने पर तुरन्त उपाय खोज निकालती है और अनुसूया को

भी आश्वासन देती है। अनुसूया के यह कहने पर और चिन्ता प्रकट करने पर कि **"अद्य स राजर्षिरिष्टिं समाप्य ऋषिभिर्विसर्जित आत्मनो नगरं प्रविश्यान्तःपुरसमागतः इतोगतं वृत्तान्तं स्मरति न वेति"** वह कहती है **"विश्रब्धा भव। न तादृशा आकृतिविशेषा गुण विरोधिनो भवन्ति।** यदि आकृति अच्छी है तो चरित्र अच्छा ही होगा। अतः दुष्यन्त की ओर से हमें चिन्तित होने की कोई आवश्यकता नहीं पर विचारणीय तो यह है कि **"तात इदानीमिमं वृत्तान्तं श्रुत्वा न जाने किं प्रतिपत्स्यत इति"** और फिर स्वय ही इस शंका का शीघ्र समाधान भी लेकर लौट आती है और कहती है **"सखि! त्वरस्व शकुन्तलायाः प्रस्थान कौतुकं निर्वतयितुम्"**। सच है **प्रियम्वदा न केवल रति है अपितु दृष्टि भी और साथ ही प्रेम भी।** कौन सा ऐसा कार्य है जिसका उसके पास साधन न हो। कौन सा ऐसा प्रश्न है जिसका वह तुरन्त उत्तर न दे सके और कौन सी ऐसीं शंका है जिसका वह समाधान न कर सके। दुर्वासा जैसे आशु क्रोधी तपोधन को भी उसने अपनी वाक्पटुता से झुका ही लिया। अनूसूया भी उसकी पटुता को जानती थी इसीलिये उसने उसे ऋषि के पास भेजा था। शकुन्तला के विदा के समाचार से जब अनुसूया उत्कण्ठा साधारण परितोष का अनुभव करने लगती है तो प्रियम्बदा कहती है **"सखि आवां तावदुत्कण्ठां विनोदयिष्यावः सा तपस्विनी निर्वृत्ता भवतु"** वास्तव में उस तपस्विनी को निर्वृत्ता बनाने में प्रियम्वदा ही का तो अधिक हाथ था तो अब ऐसा क्यों न कहती, उसने ही तो पहिले राजा से कहा था **"तेन हीय मावयोः प्रिय सखी त्वामुद्दिश्येद मवस्थान्तरं भगवता मदनेनारोपिता तदर्हस्यभ्युपत्या जीवित मस्या अविलम्बितुम्।**

वह **निर्भीक और समय पर काम बना लेने की अपूर्व क्षमता रखती है** अनुसूया तो **"अयमहं भोः"** सुनते ही घबड़ा जाती है, पर प्रियम्बदा उसे सचेत करने के लिये साधारण रूप से कह देती है **"ननूटजसंनिहिता शकुन्तला"** पर **दुर्वासा के** शाप की भनक पड़ते ही अनुसूया और अधिक व्याकुल हो उठती है, पर प्रियम्बदा बातों ही बातों में काम बना लेती है कैसा भी विषम अवसर क्यों न हो वह कभी चिन्तित नहीं होती।

अतः स्पष्ट है कि दोनों पात्र अपने-अपने क्षेत्र में अपना-अपना अलग-अलग महत्व रखते हैं, अनुसूया यदि संकट समय में विशेष उपयोगिता रखती है तो प्रियम्वदा प्रेम प्रसंग में। एक यदि अधिक **शिष्ट चिन्ताशील गम्भीर है** तो दूसरी अल्हड़ **विनोदशील एवं वाक्पटु है।**

शिष्ट विनोद :—

यद्यपि कवि जयदेव ने महाकवि भास को कविता कामिनी का हास कहा है पर उनके अद्यावधि प्राप्त सभी नाटकों में हास नहीं देखा जाता, पर

कालिदास के नाटकों में यह मधुर पर शिष्ट हास सर्वत्र मिलता है। अतः जयदेव कवि की उक्ति भास की अपेक्षा कालिदास पर ही अधिक घटती प्रतीत होती है।

विनोद प्रायः असम्बद्ध एवं अनपेक्षित भाषणों से या कृत्रिम मूर्खतापूर्ण बातों या प्रसंगों से उत्पन्न होता है। यह कहीं तो स्वभावगत, कहीं प्रसंगगत और कहीं-कहीं शब्दगत भी होता है। कालिदास के सभी नाटकों में मुख्यतया विनोद का पात्र विदूषक होता है। ये विदूषक ब्राह्मण होते हुए भी प्रायः अपढ़ एवं मूर्ख होते हैं, साथ ही ये नायक के नर्म सचिव भी होते हैं। राजा का मनोरञ्जन करना और उसके प्रेम-प्रसँगों में सहायक होना ही उनका मुख्य व्यवसाय है, ये स्वभावतः **पेटू भीरु मूर्ख एवं सुस्त** होते हैं। पेटू होने के कारण ही इनके **उपमा, दृष्टान्त आदि नित्य व्यवहार योग्य वस्तुओं से** तथा **खादनीय** पदार्थों से सम्बन्धित रहते हैं। ये अपनी बातों एवं क्रियाओं से सामाजिकों का मनोरञ्जन करते रहते हैं, पर साथ ही कथावस्तु की प्रगति में भी ये पूर्णतया सहायक होते हैं। इनके स्वभावों में एक दूसरे से कुछ अन्तर अवश्य रहता है पर कार्य-व्यापार में ये एक दूसरे के समान ही रहते हैं और राजा की छाया के समान सुख-दुःख में उसके साथ रहते हैं।

लक्षण ग्रन्थों में विदूषक का लक्षण इस प्रकार लिखा गया है :-- **"श्रङ्गारेऽस्य सहाया विटचेटविदूषकाद्याः, भक्ता नर्मसु निपुणाः कुपितवधूजन मानभञ्जनाः शुद्धाः। कुसुमवसन्ताभिधाः कर्मवपुर्वेशभाषाद्यैः हास्यकरः कलहरतिविदूषकः स्यात् स्वकर्मज्ञः। विकृताङ्गवयोवेशैः हास्यकारी विदूषकः।** अर्थात् विदूषक का नाम वसन्त, कुसुम आदि से सम्बन्धित रहता है। ये अपने विकृत अंग, वेश, कर्म आदि से विनोद उत्पन्न किया करते हैं। और शृङ्गार में नायक के सहायक होते हैं, राजा के प्रणय-कलह तथा प्रेम प्रसंग में भी कुशलता पूर्वक काम करते हैं। शाकुन्तल एक प्रधान नाटक है इसमें विदूषक का महत्वपूर्ण स्थान है। यहाँ माढव्य नामक विदूषक को विनोदी होने के साथ उदर-परायण तथा भीरु दिखलाया गया है।

शाकुन्तल में यह विदूषक सर्वप्रथम द्वितीय अंक में मिलता है जहाँ वह अपनी अकर्मण्यता एवं भीरुता का परिचय देता हुआ कहता है—"**हा हतोऽस्मि, एतस्य मृगया शीलस्य राज्ञो वयस्यभावेन·······पत्रसंकरकषायाणि कटूनि गिरिनदीजलानि पीयन्ते, अनियतवेलं शूल्य मांसभूयिष्ठ आहारो भुज्यते।**" इस प्रकार वह अपनी अकर्मण्यता एवं भोजन परायणता का परिचय देकर प्रस्तुत कथा का अंग बन जाता है। राजा उससे अपने शकुन्तला विषयक प्रेम प्रसंग में सहायक बनने की इच्छा प्रकट करता है "**विश्रान्तेन भवता ममाप्यनायासे कर्मणि सहायेन भवितव्यम्।**" यह पेटू विदूषक इसके

उत्तर में कहता है 'किं मोदक खादिकायाम्' पर जब राजा आश्रमललाम भूता शकुन्तला की बात कहता है तो विदूषक पहिले तो इस प्रसंग को बढ़ने नहीं देना चाहता 'भवतु भस्यावसर न वास्ये,' पर जब राजा अपने प्रेम का औचित्य बतलाता है तब यह बड़े हास्यपूर्ण ढंग से कहता है "यथा कस्यचित् पिण्डखर्जूरैरुद्वेजितस्य तिन्तिण्यामभिलाषो भवेत् तथा स्त्रीरत्नपरिभाविनो भवत इयमभ्यर्थना" और जब वह शकुन्तला के सौन्दर्य का वर्णन करता है तब वह राजा से सहमत हो जाता है और विनोदपूर्ण ढंग से उसे अपनाने के लिये कहता है— "तेन हि लघु परित्रायता मेनां भवान्। मा कस्यापि तपस्विन इंगुदीतैलमिश्रचिक्कणशीर्षस्य हस्ते पतिष्यति।"

इसके बाद विदूषक राजा के प्रेम प्रसंग को सफल बनाने के लिये उसे परामर्श देता और उद्योग करता है पर इसी बीच माता की आज्ञा मिलने पर राजा उसे अपने स्थान पर राजधानी भेज देता है, और उसके चलते समय यह सोच कर कि कहीं यह वाचाल मेरे प्रेम प्रसंग की बात को अन्तः पुर में प्रकट न कर दे वह उससे अन्त में कह देता है "परिहास विजल्पितं सखे, परमार्थेन न गृह्यतां वचः" और वह मूर्ख उसे सत्य ही मान लेता है।

राजा ने विदूषक से पूछा था कि किस उपाय से कुछ दिन और आश्रम में रहा जा सकता है और इसी समय ऋषियों द्वारा स्वयं यज्ञ-रक्षार्थ राजा से प्रार्थना करने पर विदूषक मुँह फेर कर धीरे से कह देता है "एषेदानी-मनूकूला तेऽभ्यर्थना" राजा के यह पूछने पर "माढव्य! तप्यस्ति शकुन्तला-दर्शने कुतूहलम्" वह भीरु स्वभाव वश उसे उत्तर देता है "प्रथमं सपरीवाहमासीत्। इदानीं राक्षसवृत्तान्तेन बिन्दुरपि नावशेषितः"।

विदूषक अत्यन्त भोला भाला और मन्द बुद्धि होने के कारण काव्य-उक्ति नहीं समझ पाता। वाच्यार्थ को ही परमार्थ समझ कर वह अपने को हास्यास्पद बना लेता है। षष्ठ अंक में जब राजा वसन्त की आम्रमञ्जरी को मदन-वाण कहता है तब माढव्य दण्ड-काष्ठ उठा कर उन मदन वाणों को गिराने दौड़ता है। यह देखते ही विरह संतप्त राजा को भी हँसी आ जाती है। षष्ठ अंक में जब राजा अंगुलीयक को उपालम्भ देता हुआ विदूषक के सामने शकुन्तला के परित्याग पर पश्चात्ताप दग्ध हो रहा था, विदूषक को भूख सता रही थी "कथं बुभुक्षया खादितव्योऽस्मि।" सानुमती भी उसे मूर्ख समझती है "अनभिज्ञः खल्वीदृशस्य रूपस्य मोहदृष्टिरयं जनः।"

विदूषक कुपति वधूजन के मान को भंग करने वाला भी होता है, पंचम अंक में कार्यभार से श्रान्त राजा और विदूषक के कानों में जब मधुर गीति-ध्वनि पड़ती है तो राजा के मनोविनोदार्थ विदूषक कहता है "जाने तत्रभवती हंसपदिका वर्णपरिचय करोति, कलविशुद्धाया गीतेः स्वरसंयोगः श्रूयते। राजा

गीत का तात्पर्यार्थ समझ कर कहता है "**सकृत्प्रणयोऽयं जनः। मद्वचनादुच्यतां हंसपदिका, निपुणमुपालब्धोऽस्मि।**" और यह कह कर वह विदूषक को उसे नागरिक वृत्ति से समझाने के लिये भेज देता है, यह सुनकर विदूषक '**का गतिः**' कह कर चला जाता है। इसी प्रकार मातलि ने भी राजा में वीरभाव की जागृति के लिये विदूषक का उपयोग किया है। इस प्रकार विदूषक न केवल मनोविनोद ही करता है, अपितु वह कथासूत्र की प्रगति में तथा नायक के स्वभाव के उत्थान में भी सहायक होता है। जैसा कि पंचम और द्वितीय अंक में दिखलाया गया है।

विदूषक में शब्दगत विनोद का सुन्दर उदाहरण उस समय मिलता है जब कि राजा उससे अपने प्रेम की अभिव्यंजक बातें कहता है, राजा के मुख से शकुन्तला विषयक अनुराग की बातें सुनकर वह कहता है "**कृतं त्वयोपवनं तपोवन मिति वक्ष्यामि**"—

विदूषक की उक्तियों के अतिरिक्त कुछ अन्य पात्रों के कथन एवं प्रसंगों द्वारा भी कवि ने कुछ विनोदी दृश्य दिखलाये हैं। सेनापति अपने विसंगत बर्ताव से अपना ढोंगीपन व्यक्त करके मनोविनोद करता है, वह स्वयं शिकार से ऊब गया है और विदूषक भी यह चाहता है कि राजा शिकार खेलना बन्द करदे पर वह विदूषक से तो यह कह देता है कि तुम तो अपने आग्रह पर डट रहना पर मैं तो राजा को खुश करने के लिये उसके इस काम की प्रशंसा करके हाँ में हाँ मिलाऊँगा। इसी प्रकार राजा के सिपाही जो अभी कुछ समय पूर्व धीवर को बध करने के लिये पुष्पमाला पहना रहे थे, बध के लिये हाथ खुजला रहे थे, राजदत्त पुरस्कार देखकर मदिरा पीने की आशा से उसके मित्र बन जाते हैं। विनोदशीला प्रियम्वदा की भी कुछ उक्तियाँ बड़ी ही मनोरंजक एवं सामयिक तथा शिष्ट हैं। शकुन्तला मन से तो उसका विनोद पसन्द करती है पर ऊपर से क्रोध भाव दिखलाती है। इन सम वयस्क स्नेहमयी तरुणी अविवाहित बालिकाओं का एकान्त पारस्परिक रम्य वार्तालाप भी बढ़ा मधुर एवं मनोरजक है। इस प्रकार यद्यपि नाटक में कई स्थलों पर विनोद देखने को मिलता है पर वह सर्वत्र शिष्ट एवं गम्भीर है उसमें कहीं भी अश्लीलता नहीं आने पाई है।

इन मुख्य पात्रों के अतिरिक्त शकुन्तला की मातृस्थानीया गौतमी, हितैषिणी कर्त्तव्यपरायण, सखी सानुमती, सिंह के बच्चे को उसकी माता के पास से खींचकर उसके दाँत गिनने वाला निर्भीक एव वीर चक्रवर्ती चिह्नधारी बालक सर्वदमन, गरीब पर स्वजात्यभिमानी धीवर, सिद्ध साधक बन कर अपराधी को दण्ड देने के लिये उद्यत, पर थोड़ी ही देर में मद्य की आशा से अपराधी को मित्र बना लेने वाले राजकर्मचारियों के भी सुन्दर चित्र अंकित किये गये हैं। इससे कवि की मार्मिक निरीक्षण शक्ति का पता चलता है।

कवि का सौन्दर्य एवं प्रेम चित्रण :

प्राय: सभी कवियों में सौन्दर्य एवं प्रेम के सुन्दर चित्र मिलते हैं, सभी ने इन चित्रों को यथाशक्ति अंकित करने का प्रयास किया है, फिर भी कालिदास ने इन दो विषयों के वर्णन में जो अपनी अद्‌भुत काव्य प्रतिभा का परिचय दिया है वह अन्यत्र दुर्लभ है इन विषयों की सुन्दर कल्पनाओं एवं सशक्त वर्णनों ने ही कालिदास को शृङ्गार का सर्वश्रेष्ठ कवि बना दिया है।

कालिदास ने प्राकृतिक सौन्दर्य को ही श्रेष्ठ माना है उनकी दृष्टि में सौन्दर्य के लिये बाह्य प्रसाधनों की आवश्यकता नहीं **"किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्"** सहज सौन्दर्य सभी अवस्थाओं में सुन्दर एवं मनोरम लगता है। **"अहो सर्वास्वस्थासु रमणीयत्वकृति विशेषाणाम्"** रूप की रमणीयता उसके अक्लिष्टकान्तिमत् होने में ही कृत्रिम प्रसाधनों से सहज सौन्दर्य हो जाता है। प्रकृति से बढ़कर मानव सौन्दर्य के लिये क्या साधन हो सकता। क्षण-क्षण में नवता धारण करने वाली प्रकृति में जितना मधुर सौन्दर्य और रमणीयत्व दृष्टिगत होता है, मानव लावण्य उसी का अंग है, कालिदास की सौन्दर्य के विषय में ऐसी ही मान्यता प्रतीत होती है। कालिदास का सौन्दर्य प्रकृति सौन्दर्य है। उनकी दृष्टि में प्रकृति मानव जीवन से पूर्णतया घुली मिली हैं, प्रकृति और मानव में अटूट सम्बन्ध है। मानव का सौन्दर्य प्रकृति का वरदान है। कवि ने स्त्री सौन्दर्य के वर्णन में प्राकृतिक उपमानों का उपयोग किया है। शकुन्तला तो स्वयं प्रकृति-कन्या ही है, सौन्दर्याधिष्ठात्री प्रकृति कन्या होकर उसमें सौन्दर्य की क्या कमी हो सकती थी उसका तो अंग प्रत्यंग लताओं और पुष्पों से ही बना था उसका रक्त अधर और कुछ नहीं वह तो रक्तवर्ण किसलय ही था। उसकी सुकुमार भुजायें कोमल लताशाखायें थीं। इसके अंगों में आकर्षणीय यौवन पुष्पों के समान खिला हुआ है—

अधरः किसलयरागः कोमल विटपानुकारिणौ बाहू,
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु सन्नद्धम्।

स्वभावत: सौन्दर्यशालियों के लिये बाह्य अलंकरण व्यर्थ है, अलंकार स्वाभाविक सौन्दर्य को स्वयं न अलंकृत कर स्वयं उससे अलंकृत होते हैं। कालिदास ने विक्रमोर्वशीय नाटक में इसी तथ्य को यह कह कर बतलाया है—

"आभरणस्याभरणं प्रसाधनविशेषेषु प्रसाधन विशेषः।
उपमानस्यापि सखे प्रत्युपमानं वपुस्तस्याः।

प्रकृति के आभरण कुसुमादि अवश्य उस स्वाभाविक सौन्दर्य की श्रीवृद्धि करते होंगे। अतएव शकुन्तला शिरीष पुष्प धारण करती अपने मण्डन के लिये पल्लवों आदि का उपयोग करती है, दुष्यन्त भी उसके चित्र को इन्हीं प्रकृति प्रसाधनों से सजाना चाहता है :—

कृतं न कर्णार्पितबन्धनं सखे, शिरीष मागण्डविलम्बि केसरम्।
नवा शरच्चन्द्र मरीचिकोमलं, मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे।।

शकुन्तला के सौन्दर्य चित्रण में कवि ने किसी भी सम्भव उपमान को छोड़ा नहीं है, कहीं-कहीं तो उपमान के रूप में भी नहीं, साक्षात् प्रकृति चित्र ही है **"अनाघ्रातं पुष्प किसलयमलूनं कररुहैः"। अक्लिष्टवालतरु-पल्लव लोभनीयम्"** इसीलिये तो इस कुसुम सारभूता शकुन्तला का भ्रमर पुष्प ही समझकर उसके आस-पास घूमता था और रसपान का प्रयत्न करता था **"यत्राकृति स्तत्र गुणा वसन्ति"** के अनुसार कालिदास की दृष्टि में रमणीय आकृति में हृदय की सरसता ही रहती है, विरसता या वक्रता नहीं **"न हि तादृशा आकृति विशेषा गुण विरोधिनो भवन्ति"**।

इस प्रकार यद्यपि कालिदास नारी सौन्दर्य चित्रण में अद्वितीय हैं फिर भी नारी उनकी दृष्टि में केवल उपभोग की वस्तु नहीं, वह तो उनकी मान्यता के अनुसार पहिले **"गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रिय शिष्या ललिते कला विधौ"** इस कथन के अनुसार समस्त कलाभिज्ञा गृहस्वामिनी सचिव और सखी भी है। इसीलिये तो उन्होंने कण्व के मुख से आदर्श गृहिणी का स्वरूप उपस्थित कराया है;—

शुश्रूषस्व गुरुन् कुरु प्रियसखीवृत्ति सपत्नीजने
....
....
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामा कुलस्याधयः।

सौन्दर्य चित्रण की दृष्टि से कालिदास न केवल नारी का ही सुन्दर चित्र खींच सके हैं अपितु उन्होंने लता वृक्षादिकों और पशु पक्षियों का भी सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है, **"ग्रीवाभंगाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः"** इस श्लोक में भयभीत हिरण के भागने का कितना सुन्दर स्वाभाविक चित्र है इसी प्रकार अश्वों का **"मुक्तेषु रश्मिषु निरायतपूर्व-काया निष्कम्पचामरशिखा निभृतोर्ध्वकर्णाः : आत्मोद्धतै रपि रजोभि रलंघनीयाः धावन्त्यमी मृग जवाक्षमयेव रथ्याः।** इसी प्रकार बन्धन से मुक्त हुये गज का वर्णन **"तीव्राघातप्रतिहततरुस्कन्धलग्नैकदन्तः"** इत्यादि।

कालिदास का प्रेम चित्रण उच्चकोटि का है, चन्चल ऐन्द्रिय प्रेम पर उनकी आस्था नहीं थी। शारीरिक सौन्दर्य ही स्त्रियों का परम गौरव और चरम सौन्दर्य नहीं, ऐसी उनकी मान्यता प्रतीत होती है। जब शिवजी ने कामदेव को भस्म कर दिया तब पार्वती ने मन ही मन अपने रूप की निन्दा की और फिर उन्होंने घोर तपस्या द्वारा अपने रूप को सफल बनाने का प्रयत्न किया **"निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती, इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपताम"**। कालिदास की दृष्टि में शारीरिक सौन्दर्य की परिणति सच्चे प्रेम में है **"प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता"** कामदेव यदि कर्त्तव्य से विमुख करने वाला है तो हेय है और कर्त्तव्य की उपेक्षा कर जो व्यक्ति कामवश हो जाता है वह दण्डनीय है। उनकी सभी कृतियाँ इस बात की घोषणा करती हैं कि काम कर्त्तव्य का विरोधी नहीं और यदि वह कहीं ऐसा

है तो अर्थात् मंगल का विरोधी होने से वह भस्म कर दिया जायेगा। शकुन्तला ने अपने कर्त्तव्य (अतिथि सत्कार-गुरु जनों की अनुमति) की उपेक्षा की थी अतएव कालिदास ने दण्ड स्वरूप उसे असहनीय विरहाग्नि से संतप्त किया, जो शकुन्तला दो चार दिन का भी वियोग सहन नहीं कर सकती थी **'दुष्कर महंकरोमि'** उसे वर्षों तक बिरह का दुःसह-दुख सहना पड़ा और जब उसका प्रायश्चित पूरा हो गया तब ही वह दुष्यन्त से मिल सकी। अतः स्पष्ट है कि कालिदास ने काम की अपेक्षा कर्त्तव्य को प्राधान्य दिया है और प्रेम का मूलभूत कारण शारीरिक सौन्दर्य नहीं अपितु पूर्वजन्म का संस्कार माना है। प्रेम का आधार सौन्दर्य नहीं अपितु पूर्वजन्म का संस्कार है, जब यही संस्कार उद्बुद्ध होता है उसी समय मनुष्य प्रेम की ओर बढ़ता है **"मनो जन्मान्तर संज्ञितज्ञम्"** (रघु० ७–१५) मनुष्य सुन्दर वस्तुओं को देखकर या मधुर शब्द सुनकर जो उत्कण्ठित हो जाता है तो इसका यही कारण है कि वह पूर्वजन्म कृत मैत्री का अज्ञात भाव से स्मरण करता है, मन बिना किसी कारण के ही उस ओर चला जाता है और वह उसे पाने के लिये उत्सुक हो उठता है जैसा कि कवि ने स्वयं कहा है :—

"रम्याणि वीक्ष्य मधुरॉंश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकी भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः
तच्चेतसा स्मरति नूनमवोध पूर्वं
भाव स्थिराणि जननान्तरसौहृदानि"।

इस प्रकार के प्रेम की इतिश्री इसी जन्म में ही नहीं होती वह तो दूसरे जन्म में भी उसके साथ हो जाती है। **"सती च योषित् प्रकृतिश्च निश्चला पुमांस मभ्येति भवान्तरेष्वपि भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि" 'त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः"** यह है कवि का प्रेम विषयक उच्च आदर्श, सीता, शकुन्तला, इन्दुमती, पार्वती, यक्षिणी आदि उनकी सभी नायिकायें ऐसे ही प्रेम का अनुवर्तन करती हैं।

कालिदास की दृष्टि में वह प्रेम, प्रेम नहीं जिसमें बन्धन नहीं, कोई नियम नहीं, त्याग नहीं, मर्यादा का पालन नहीं, जो प्रेम अकस्मात नर-नारी को एक दूसरे पर मुग्ध करके संयम रहित बना देता है, वह क्षणिक आसक्ति भले ही हो प्रेम पद-वाच्य नहीं। ऐसा प्रेम कभी स्थायी नहीं होता। यद्यपि 'शाकुन्तल' में ऐसा ही प्रेम प्रथम अंक में दिखलाया गया है, पर उसका दुष्परिणाम दिखलाने के लिये ही कवि ने दुर्वासा के शाप की भी कल्पना की है। यद्यपि उनकी कृतियों में प्रथम दर्शनजन्य प्रेम कई स्थलों पर दिखलाया गया है पर वह सफल उसी समय बन सका है, जब कि दोनों प्रेमियों ने तप और पश्चात्ताप की अग्नि से उसे तपा कर खरा एवं निर्दोष बना लिया है शकुन्तला की यह भूल थी कि उसने अपने उस क्षणिक प्रेम में उन्मत्त हो अपने कर्त्तव्य का ध्यान नहीं रखा, ऋषि पुकारता रहा पर वह अपने प्रेमी के ध्यान में ही डूबी रही इस प्रकार उसने कामवश हो कर्त्तव्य की उपेक्षा कर प्रेम के

मंगल भाव को मिटा दिया था जिसका दुष्परिणाम उसे शाप और प्रत्याख्यान के रूप में भुगतना पड़ा और इस प्रकार दोनों प्रेमियों के बन्धन विहीन अमर्यादित गुह्यमिलन को चिरकाल तक शाप के गहन अन्धकार में भटकना पड़ा।

कालिदास ने प्रेम की परिणति दाम्पत्य प्रेम में मानी है, भ्रमरवृत्ति में नहीं। कालिदास का कोई भी नायक भ्रमरवृत्ति का पक्ष नहीं ग्रहण करता उसके प्रेम की परिणति विवाह और स्थायी दाम्पत्य प्रेम में ही नहीं अपितु सन्तान प्राप्ति में होती है, जैसा कि हम 'शाकुन्तल' में देखते हैं। शकुन्तला के वियोग में दुःखी भी राजा कर्त्तव्य विमुख नहीं, वह प्रतिदिन प्रजा कार्य को देखता और उसकी व्यवस्था करता है, धन मित्र की निःसन्तानता उसे अपने पुत्राभान का ध्यान दिला देती है और वह सन्तान के लिये दुःखी होने लगता है, और कहता है मैंने आसन्न सत्त्वा पत्नी का त्याग किया है जिससे कि मेरे कुल की प्रतिष्ठा थी—

"संरोपितेऽप्यात्मनि धर्मपत्नी, त्यक्ता मया नाम कुलप्रतिष्ठा।
कल्पिष्यमाणा महते फलाय, वसुन्धरा काल इवोप्तबीजा॥"

अब शकुन्तला उसकी दृष्टि में **अनाघ्रातं पुष्पम्** मात्र नहीं जिसके लिये वह शोक करता है अपितु अब तो वह **कुल प्रतिष्ठा ग्रहिणी है**। कालिदास ने प्रेम का यही उच्च आदर्श 'शाकुन्तल' में प्रस्तुत किया है। यदि दुष्यन्त भ्रमर वृत्ति का अनुयायी होता तो क्या वह उस अक्लिष्ट कान्तिमत रूप को देखकर भी यह कहता ?

"कुमुदान्येव शशांकः सविता वोधयति पंकजान्येव"

कालिदास के अनुसार प्रेम की सार्थकता विवाह में और विवाह की सफलता सन्तानोत्पत्ति में है। कालिदास की सभी कृतियों में ऐसा प्रेम दिखलाया गया है, इसीलिये कवि ने 'शाकुन्तल' में प्रथम अंक के प्रेम को व्यर्थ दिखला कर अन्त में भरत जननी के रूप में शकुन्तला को प्रस्तुत कर अपने इसी प्रेम विषयक आदर्श की पुष्टि की है।

कवि ने शृंङ्गार के दोनों पक्षों का चित्रण किया है उनका विरह वर्णन परम्परायुक्त होता हुआ भी नवीनता लिये हुये है, इसमें संदेह नहीं। प्रिय विरह से बढ़ कर संसार में और कोई दुःख नहीं। विरही के लिये हिमगर्भमयूख भी चन्द्र अग्नि बरसाता तथा कुसुमवाण भी वज्रवत् कठोर बन जाता है, कृशता तो शीघ्र आ ही जाती है, निद्रानाश, अश्रुपात, चिन्ता, विषाद, औत्सुक्य, ग्लानि आदि भाव भी अपना स्थान प्राप्त कर लेते हैं। विरही दुष्यन्त की दशा का कवि ने बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है, इधर शकुन्तला की भी विरह में शोचनीय अवस्था हो गई है जिसके लिये उसकी सखियाँ बड़ी चिन्तित हैं यथा शक्ति वे उसके ताप को दूर करने के लिये उशीरानुलेप नलिनी पत्रवात आदि का प्रयोग करती भी हैं पर इन प्रयोगों से कोई लाभ न था वह तो प्रियम्वदा के कथानुसार दिन-दिन क्षीण होती जाती थी। आनन क्षाम-

क्षाम कपोलम् उरःस्थल, कटि आदि भी क्षीण अत्यधिक क्षीण, छवि पीली हो गई थी, केवल लावण्यमयी छाया ही रह गई थी, विरहपीड़िता शकुन्तला के लिये कवि ने एक बड़ी ही सुन्दर कल्पना की है **"पत्राणामिव शोषणेन मरुता स्पृष्टा लता माधवी"** पत्रों को सुखाने वाले वायु से स्पृष्ट हो माधवी लता जैसे कुम्हला जाती है वैसी ही दशा शकुन्तला की हो रही है, इस प्रकार कवि ने विरह दशा का चित्रण भी बड़ा ही स्वाभाविक किया है उसमें रीति काल के हिन्दी कवियों जैसी कृशता की नाप जोख तथा असम्भाव्य, उक्तियाँ नहीं हैं यद्यपि. लक्षण ग्रन्थों में वर्णित कामदशाओं का यथास्थान सुन्दर प्रयोग है।

कालिदास की कृतियों में प्रेम प्रदर्शन का भी ढंग निराला ही है, उन्होंने सम्भवतः इस दृष्टि से, कि स्त्रियों में प्रेम की कोमलता स्वाभाविक रूप में सदा विद्यमान होती है पर पुरुष में वह वासना के वेग के शान्त होने पर ही उत्पन्न होती है, अपने नाटकों में स्त्रियों के प्रथम प्रेम का वर्णन किया है। इस प्रेम की उद्भूति होने पर स्त्रियाँ, स्वभावतः लज्जाशील होने के कारण अपने प्रेमाभिभूत भावों को मुख से नहीं अपितु सुकुमार भावों द्वारा प्रकट करती हैं जैसा कि कवि ने मेघदूत में कहा है **"स्त्रीणामाद्यं प्रणय वचनं विभ्रमो हि प्रियेषु।"** शाकुन्तल में प्रेम परवशा पर स्वभावतः संकोचशीला शकुन्तला किस प्रकार अपने प्रेम की अभिव्यक्ति करती है, इस मधुर दृश्य को कवि ने इस श्लोक द्वारा अंकित किया है :—

"दर्भांकुरेण चरणः क्षत इत्यकान्डे
तन्वी स्थिता कति चिदेव पदानि गत्वा
"आसीद् विवृत्त वदना च विमोचयन्ती
शाखासु वल्कल मसक्त मपि द्रुमाणाम्

अवसर न होने पर भी पैर में कांटा गड़ जाना और इस बहाने से ही कुछ दूर चलकर ठिठक जाना, वृक्ष शाखाओं या झाड़ियों में न उलझे हुये वस्त्र को भी छुड़ाने के बहाने नायक की ओर पीछे मुड़कर देखना इसी प्रकार लतावलय को पुनः परिभोग के लिये आमन्त्रित करना, आदि प्रेमाभिव्यक्ति के अद्भुत प्रकारों का कवि ने उल्लेख किया है। स्वभाव से ही अप्रगल्भा मुनि कन्या में काम शास्त्रीय सभी हाव-भाव विलासों की सफल अभिव्यक्ति दिखा कर कवि ने अपना यह अभिप्राय प्रकट किया है कि स्त्री हृदय में प्रेम की कोमलता स्वभाव से ही विद्यमान रहती है और थोड़ा सा भी अवसर पाकर वह उद्दीप्त हो उठती है। स्त्री जाति में समर्पण की भावना भी पुरुषों की अपेक्षा अधिक होती है, एक बार मुग्ध होने पर वह आत्म समर्पण कर देती है। दुष्यन्त को आत्म समर्पण के बाद शकुन्तला उसके प्रेम में इतनी निमग्न हो जाती है कि वह ऋषि के आह्वान को भी नहीं सुन पाती इसीलिये अनुसूया कहती है **"उटजसन्निहिताऽपि सा हृदयेना सन्निहिता।"** और वह सदा इसी तन्मयता के साथ अपने प्रेम का निर्वाह करती है।

प्रेम चित्रण में कवि ने किसी भी पात्र में ऐसी उच्छृङ्खलता नहीं दिखलाई है जो कि मर्यादा विरुद्ध हो और असंयमित हो, यही कारण है कि उसके नाटकों में प्रेम प्रसंग को लेकर किसी वीभत्स घटना की अवतारण नहीं हुई है, उसका कामनीय काव्य कलेवर कहीं भी आत्यन्तिक आवेश एवं अस्वाभाविक व्यापार से आक्रान्त नहीं हुआ है इसीलिये वह कहीं भी अरुचिपूर्ण एवं उद्वेगकारी नहीं है। उसके प्रेमी पात्र घोर तपश्चरण के द्वारा सभी वाह्य विकारों को शान्त करके आदर्शमय स्थायी प्रेम के पात्र बनते हैं और परिणामतः सुखोपभोग करते हैं, भारतीय नाटक प्रेम प्रसंग पर प्रायः आधृत होते हुये भी सुखान्त हैं क्योंकि उनका प्रेम स्वर्गीय प्रेम है लौकिक नहीं। ऐसे प्रेम की आराधना सुखान्त होनी चाहिये थी। कवि की दृष्टि में सच्चा प्रेम, त्याग, उदारता, तपस्या, कष्टसहिष्णुता से उपलब्ध होता है, वह मार्ग में पड़ी हुई वस्तु नहीं जो कि जब कभी भी जिस किसी को भी प्राप्त हो जाय। उसकी प्राप्ति जितनी ही सुदुर्लभ कष्टसाध्य है उतनी ही सुखोपक्षम एवं फल-दायिनी है। कवि ने ऐसे ही आदर्श प्रेम का चित्रण किया है।

प्रकृति चित्रण :—

अन्य नाट्य कला सम्बन्धी विशेषताओं के साथ ही कालिदास का प्रकृति चित्रण भी अप्रतिम एवं रमणीय है। कालीदास की कला का विकास ही प्रकृति वर्णन से आरम्भ होता है और उसकी यह रुचि उत्तरोत्तर परिवर्धित एवं परिमार्जित होती गई है, कालिदास की सर्वप्रथम रचना "ऋतु संहार" है जिसमें कवि ने विभिन्न ऋतुओं से मानवों पर पड़ने वाले प्रभावों का तथा उनके परिणामों का वर्णन किया है। प्राकृतिक दृश्यों पर चेतनधर्म का आरोप करके उनका आलंकारिक वर्णन किया गया है, कहीं कहीं पर प्रकृति का आलम्बन रूप में भी वर्णन है। पर 'कुमारसम्भव' और 'रघुवंश' में कवि के प्रकृति विषयक दृष्टिकोण में अन्तर है। इन ग्रन्थों में उसने इस तथ्य को प्रस्तुत किया है कि समस्त जड़ चेतन सृष्टि में एक ही तत्त्व भरा है और वह चेतन है अतएव स्त्री पुरुष के समान ही लता-वृक्षादि भी उसी चैतन्य से चेतन हैं, मानव के साथ इनका अटूट सम्बन्ध है। मानव अपने सुख दुःख का रूप प्रकृति में देखता है, प्रकृति भी मानव से संश्लिष्ट है उसके प्रति वह पूर्ण सहानुभूति रखती है, उसके दुःख में दुःखी होती और सुख में आनन्द का अनुभव करती है, कोई भी मानव व्यापार प्रकृति क्षेत्र से बाहर नहीं है। इस प्रकार कवि ने प्रकृति और मानव में घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित किया है। तथा प्रकृति का संश्लिष्ट एवं रूपयोजनात्मक वर्णन किया है। उसके नाटकों और विशेष रूप से "शाकुन्तल" में तो प्रकृति ही सब कुछ है, "मेघदूत" प्रकृति वर्णन का ही काव्य है। इन ग्रन्थों में उसकी सहृदयता की सरसता एवं कल्पना की कमनीयता दर्शनीय है। 'शाकुन्तल' में प्रकृति का सजीव एवं स्वाभाविक चित्रण तथा प्रकृति की मार्मिक अभिव्यञ्जना तो है ही, पर इससे पूर्व के भी उनके ग्रन्थों में प्रकृति का भव्य चित्र प्रस्तुत किया गया है।

"ऋतु संहार" का कवि यद्यपि प्रकृति प्रेमी है पर वहाँ उसका प्रकृति प्रेम प्रायः उद्दीपन का साधन है, प्रधानता है स्त्रियों के विभ्रम विलास और शृङ्गार की, कवि को वहाँ वर्णन तो करना है कामिनियों के उन विचारों व भावों का जो कि प्रकृति के प्रभाव से उनमें अवतरित हुये हैं, इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये उसने प्रकृति की पृष्ठभूमि का आश्रय लिया है, कुछ ही स्थलों में प्रकृति का भव्य स्वरूप दिखलाया गया है, पर उसके अन्य काव्यों में प्राकृतिक एवं दैवी विभूतियों के बीच साम्य स्थापित किया गया है, लता वृक्षादिकों में देवताओं का अस्तित्व माना है। 'शाकुन्तल' में शकुन्तला के विदा होते समय वृक्षों में निवास करने वाले वन देवताओं ने आपर्वभागोत्थित हाथों से आभूषण दिये थे। 'मेघदूत' में यक्ष जब स्वप्न में अपनी पत्नी का दर्शन पाकर, बड़ी उत्सुकता पूर्वक उसके आलिङ्गन के लिये अपनी भुजायें फैलाता है तब उसकी इस विवशता को देख कर वन देवताओं की आँखों से मोतियों के समान स्थूल अश्रु बिन्दु वृक्षों के पत्तों पर गिरने लगते हैं। 'कुमार सम्भव' में भी इसी प्रकार का एक वर्णन है जहाँ चन्द्रमा अपनी किरण रूपी अंगुलियों से रजनी नायिका के अन्धकार रूपी केशपाश को हटाकर उसके अर्धनिमीलित कमल नेत्र वाले मुख का चुम्बन कर रहा है :—

अंगुलीभिरिव केशसंचयं संनिगृह्य तिमिरं मरीचिभिः।
कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी॥

इसमें सन्देह नहीं कि कालिदास ने प्रकृति के मधुर एवं भव्य रूप का ही चित्रोपम वर्णन किया है, उन्होंने प्रकृति के भयावह रूप की ओर नहीं देखा है। वाह्य दृश्यों के रूपयोजनात्मक चित्रण में कालीदास अद्वितीय हैं, उनके विशद एवं सजीव प्रकृति वर्णन को पढ़ कर हमारे सामने उसका स्पष्ट चित्र प्रस्तुत हो जाता है। 'रघुवंश' के त्रयोदश सर्ग में यह प्रकृति वर्णन कितना मधुर एवं हृदयग्राही है।

क्वचित्प्रभालेपिभि रिन्द्रनीलै मुक्तामयी यष्टि रिवानुविद्धा।
अन्यत्र माला सितपंकजानामिन्दीवरै रुत्खचितान्त रेव॥

यमुना की तरंगों में मिलता हुआ गंगा का प्रवाह ऐसा प्रतीत होता है मानो मोतियों की लड़ी में देदीप्यमान नीलम पिरो दिये गये हों, और श्वेत कमल माला में मानो बीच बीच में नीलकमल पिरो दिये गये हों।

मेघदूत का यक्ष प्रकृति को अपनी प्रियतमा के रूप में ही देखता है। प्रियङ्गु-लता ही उसकी प्रियतमा का कोमल एवं सरल विकसित अंग है। चकित हरणियों के दृष्टिपात उसका प्रियतमा के नेत्र कटाक्ष हैं, उसका मुख चन्द्रमा है, मयूरपुच्छ केश पाश तथा नदियों की लोल लहरें भ्रू विलास हैं। इस प्रकार प्रकृति और प्रेम का मधुर सम्बन्ध उनकी रचनाओं में देखने को मिलता है।

कालिदास की दृष्टि में मानवीय सौन्दर्य का मापदण्ड प्रकृति ही है। कुमार

सम्भव में जब पार्वतीजी अरूणोदय कालीन बाल-सूर्य के समान रक्तपरिधान धारण कर पूजा के लिये जाती हैं तो ऐसे प्रतीत होता है कि नवविकसित पल्लवों को धारण करने वाली कोई लता हो। केसर वृक्ष के नीचे खड़ी शकुन्तला के कारण वह भी तो लतासनाथ प्रतीत होता है क्योंकि शकुन्तला की भुजाओं में उस लता की कोमल टहनियाँ हैं, अधरोष्ठ की लालिमा, किसलय की रक्तिमा हैं और अंग प्रत्यङ्ग पर व्याप्त यौवन ही उसकी कुसुम समृद्धि है।

यद्यपि कालीदास ने कई स्थलों पर अपनी यह मान्यता प्रकट की है कि मानव सौन्दर्य से बढ़कर प्रकृति सौन्दर्य है, मानव सौन्दर्य की अभिवृद्धि प्रकृति सौन्दर्य से ही होती है और प्रकृति उसके सौन्दर्य का एक मात्र मापदण्ड है इसीलिये शाकुन्तल के सौन्दर्य वर्णन में कवि ने सर्वत्र प्रकृति उपमानों का ही उपयोग किया है तथापि कई स्थलों पर यह स्पष्ट है कि मानव सौन्दर्य उससे भी बढ़ कर है, मानवी सौन्दर्य के आगे प्रकृति सौन्दर्य दब जाता है, कुमारसम्भव में कवि कहता है कि पार्वती की भुजायें शिरीषकुसुम से भी कहीं अधिक सुन्दर एवं कोमल हैं इसीलिये तो जब कामदेव अपने पुष्पवाणों से शिव को वशीभूत न कर सका तो मानो उसी दिन भुजलताओं को उनके कण्ठ का पाश बना दिया हो—

शिरीषकुसुमादपि सौकुमार्यौ बाहू तदीयाविति मे वितर्कः।
पराजितेनापि कृतौ हरस्य यौ कण्ठपाशौ मकरध्वजेन॥

कालिदास ने प्रकृति को मूक, चेतनाहीन एवं निष्प्राण नहीं माना है अपितु वह उनकी रचनाओं में मानवों के समान ही सचेतन एवं सजीव है तथा दुःख एवं सुख का तथा समवेदना का अनुभव करती है। शकुन्तला के विदा होते समय कण्व तथा उसकी सखियाँ ही नहीं समस्त तपोवन उसके विरह से पीड़ित हो उठता है जैसा कि प्रियम्वदा कहती है "**त्वयोपस्थित वियोगस्य तपोवनस्यापि समवस्था दृश्यते**"। वृक्षों ने केवल आभूषण, कौशेय वस्त्र युगल तथा लाक्षाराग ही नहीं दिया है अपितु उन्होंने कोकिल रव के द्वारा शकुन्तला को जाने की अनुमति भी प्रदान की है। समस्त तपोवन आज उसके विरह से दुखी होकर अपनी मूकवाणी से उसे विदा दे रहा है। ज्ञानी मानव होने के कारण महर्षि कण्व ने तो अपने आंसुओं को रोक लिया था '**स्तम्भित बाष्पवृत्तिः**' पर लताओं के आँसू न रुक सके, मयूर नृत्य छोड़कर, हरिणियाँ अर्धचर्बित कुशग्रास को उद्‌गीर्ण कर उसको देखने लगती हैं। वन ज्योत्स्ना अपनी शाखा बाहुओं को फैलाकर बिदा होती हुई शकुन्तला से भेंट करना चाहती हैं क्योंकि अब वह दूर हो जायगी। उसका कृतक पुत्र मृग शावक उसका पल्ला पकड़ कर उसे जाने से रोकने लगता है "**को नु खल्वेष निवसने मे सज्जते।**" **श्यामाकमुष्टि परिवर्धितको जहाति, सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते**" एवं सीता विरह से कातर राम जब वन भटकते हुये लता, वृक्षादिकों से सीता का पता पूछते हैं तब लतायें अपनी शाखाओं से दक्षिण दिशा की ओर संकेत कर देती हैं।

सहानुभूति प्रदर्शनमात्र ही नहीं प्रकृति दुःखी जनों को सान्त्वना भी देती है। प्रियजन विरह पीड़ित मानव को प्रकृति ही पीड़ा-सहन करने की क्षमता प्रदान करती है, जब शकुन्तला चक्रवाकी की आटरन को सुनकर कहती है 'दुष्कर महं करोमि' तो अनुसूया यह कह कर ही उसे समझाती है कि यह चक्रवाकी भी तो प्रिय के बिना विषाद दीर्घतर रात्रि को बिता देती है, तुझे इस उदाहरण को सामने रखकर विरह वेदना धैर्य के साथ सहन करना चाहिये। विरह पीड़ित दुष्यन्त मनोविनोद के लिये प्रकृति का ही आश्रय लेता है, वह सोचता है कि मालिनी तरंगों से संस्पृष्ट अतएव शीतल वायु अनंगतप्त मेरे अंगों को अवश्य कुछ शीतलता देगी अतएव वहाँ जाता है और शान्ति प्राप्त करता है **"शक्यमरविन्दसुरभिः कणवाही मालिनी तरंगाणाम्। अंङ्ग रनंतप्तैरविरलमालिङ्गितुं पवनः।**

इसी प्रकार उशीरानुलेप, मृणालवलय, नलिनी पत्रवात, नलिनी पत्रशयन, आदि भी प्रकृति के सान्त्वनादायक पदार्थ हैं जिनसे विरहाग्नि कुछ शान्त होती है। पर साथ ही प्रकृति विरही के विरह को उद्दीप्त भी करती है, विरही को प्रकृति सौन्दर्य विपरीत सा दिखलाई पड़ने लगता है, संयोगावस्था की सभी सुखकारी वस्तुयें इसे दहनकर प्रतीत होने लगती हैं। विरही दुष्यन्त कहता है, कामदेव को कुसुम वाण नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसके वाण मुझे वज्रवत् कठोर लगते हैं, चन्द्रमा अमृतवर्षा नहीं वह तो अपनी किरणों से अग्नि बरसा रहा है जिससे मेरा शरीर दग्ध हो रहा है—

"विसृजति हिमगर्भैरग्नि मिन्दुर्मयूखैः
त्वमपि कुसुमवाणान् वज्रसारी करोसि।

इस प्रकार कवि ने मानव व प्रकृति के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध ही नहीं तादात्मय भी उपस्थित किया है, कवि की शकुन्तला साक्षात् प्रकृति कन्या ही है वह उत्पन्न भी प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में हुई है उसकी शिक्षा दीक्षा भी प्रकृति की गोदी में हुई है, और थोड़ी सी भूल के परिणामस्वरूप जब उसे कहीं से आश्रय न मिल सका, पति ने त्याग दिया, बान्धवजनों ने त्याग दिया तब प्रकृति ने ही उसे आश्रय दिया और मारीच के आश्रम में पहुँचकर उसने अपनी भूल के लिये प्रायश्चित किया तथा अन्त में मुनि-निर्देश **"शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन्"** के अनुसार फिर उसका शेष जीवन प्रकृति प्रांगण में ही व्यतीत हुआ।

अभिज्ञान शाकुन्तल तो प्रकृति चित्रण का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। 'शाकुन्तल कवि के उत्कृष्ट प्रकृति-प्रेम का, उसकी प्रकृति-दृष्यों की सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का, तथा उसकी कामनीय कल्पनाओं का निदर्शन है। कवि की प्रकृति विषयक भावनाओं का उसकी एतद्विषयक सर्वोच्च प्रतिभा का, और प्रकृति-सन्देश के मार्मिक उद्घाटन का शाकुन्तल' से बढ़कर अन्यत्र उदाहरण न मिलेगा। 'शाकुन्तल' का आरम्भ ही

ग्रीष्म ऋतु वर्णन से होता है और उसकी समाप्ति भी मारीच के आश्रम से होती है, आद्योपान्त मानवीय भावनाओं का वर्णन करते हुये भी कवि ने सर्वत्र मानव के साथ प्रकृति का मधुर सम्बन्ध स्थापित किया है। तपोवन के अकृत्रिम शान्त वातावरण में जो नगर के वासनामय विलास ने कुछ बाधा उपस्थिति की थी और थोड़े समय के लिये जो इन्द्रियवासना ने अशान्ति उत्पन्न कर दी थी, वह क्षणिक थी ज्योंही वह वासना की लहर शान्त हुई त्योंही हम मारीच के आश्रम में पावन प्रकृति प्राँगण के बीच फिर दो बिछुड़े प्रेमियों को मिलते हुये पाते हैं। यह मिलन केवल दो प्रेमियों का ही मिलन नहीं अपितु अन्तः और वाह्य प्रकृति के चिरन्तन संयोग की पुनः प्रतिष्ठा है।

कवि को ही नहीं उसकी सभी नायिकाओं को पुष्पों से बड़ा प्रेम है, उद्यानों, कुसुम मंजरियों, लता पल्लवादि के बिना तो मानों वे रह ही नहीं सकतीं, इन फूलों के बीच से ही इनके मधुर जीवन का विकास आरम्भ होता है, इनका आरम्भिक अलंकार भी पुष्पों से ही होता है। और उत्तरोत्तर उनका अनुराग इस ओर बढ़ता जाता है।

राज दरबार के कवि होते हुये भी कालिदास ने प्रकृति वर्णन में साम्प्रदायिक रीति का ही अनुसरण नहीं किया है, उनके वर्णन सुने सुनाएँ, परम्परायुक्त मात्र नहीं है अपितु उनमें प्रत्यक्ष निरीक्षण की स्निग्धता, सहृदयता की भावना, रसिकता तथा कल्पना की कमनीयता भी है। इसीलिये इस क्षेत्र में उनका सर्वोत्कृष्ट स्थान है।

अलंकार योजना—

वास्तव में 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' के अनुसार काव्य की आत्मा रस ही है, यह रस सदा ही व्यङ्ग्य ही होता है, मम्मट आदि ध्वनि सम्प्रदाय के अनुयायियों के भी व्यंग्य प्रधान काव्य को ही उत्तम काव्य कहा है पर रस या ध्वनि की सर्वत्र अपेक्षा करना ही इष्ट नहीं होता अतएव भामह दण्डी आदि ने काव्य में कल्पना विलास को महत्व दिया है। फलतः उसने काव्य में अलंकारों की बहुत बड़ी उपयोगिता बताकर उनका सविस्तार वर्गीकरण एवं विवेचन किया है।

अलंकारों में अर्थालंकारों की अपेक्षा शब्दालंकारों की योजना में अधिक कृत्रिमता देख पड़ती है। इसीलिये रससिद्ध कवियों ने शब्दालंकारों का, उन स्थानों के अतिरिक्त जहाँ वे स्वतः रचना के प्रवाह में स्वाभाविक स्फूर्ति से आ गये हैं, प्रयोग बहुत ही कम किया है। यद्यपि 'शाकुन्तल' में अनेकों स्थलों पर अनुप्रास की छटा दीख पड़ती है पर वह लाई नहीं गई है, कवि की भावाभिव्यक्ति में वह स्वतः आ गई है। अन्य शब्दालंकारों में 'यमक' का प्रयोग भी बहुत ही कम हुआ है, इसे तो कवि ने जानबूझकर ही नहीं आने दिया है, क्योंकि 'यमक' के लिये विशिष्ट शब्द

खोजकर जोड़ने पड़ते हैं अतएव रचना में कृत्रिमता आ जाती है, ध्वनिकारों ने तो यह नियम ही बना दिया है कि विप्रलम्भ शृंगार का प्रयोग नहीं होना चाहिये। अतएव शृंगार से भिन्न एक दो स्थलों को छोड़कर कालिदास ने इसका प्रयोग नहीं किया है। इसी प्रकार 'श्लेष' का प्रयोग भी कवि ने बहुत ही कम किया है, क्योंकि द्वयर्थक शब्दों की योजना के लिये विद्वत्ता ही अधिक आवश्यक है रसिकता नहीं, 'श्लेष' प्रयोग में बुद्धि वैभव या बुद्धि का अनुरन्जन ही भले दीख पड़े पर वह हृदय से दूर की वस्तु है। कालिदास के उत्तरकालीन काव्य नाटकों में यह शब्द क्रीड़ा विशेष रूप से दीख पड़ती है, कवियों ने अपनी विद्वता प्रदर्शन करने के लिये श्लेष यमक आदि बुद्धि प्रधान अलंकारों का ही अधिकता से प्रयोग किया है इसीलिये इन काव्यों में कृत्रिमता ही अधिक है। हृदय के स्थान पर बुद्धि का चमत्कार अधिक है अतएव वे कुछ क्लिष्ट एवं दुर्बोध भी हो गये हैं, कालिदास ने बहुत ही कम स्थानों पर जहाँ वह वर्णन में आवश्यक ही दीख पड़ा है—वहाँ ही श्लेष का प्रयोग किया है इस प्रकार उनकी सभी कृतियों में कृत्रिमता साधक शब्दालंकारों का प्रयोग बहुत कम मात्रा में पाया जाता है। शब्दालंकारों के कुछ उदाहरणः—

"भुजे भुजंगेन्द्रसमानसारे भूयः स भूमे धु'रमाससञ्ज" वधाय बध्यस्य शरं शरण्यः "प्रजाः प्रजानाथ पितेव पासि" मनुष्य वाचा मनुवंशकेतुम्" सम्बन्धिनः सद्म समाससाद "प्रजाः प्रजः स्वा इव तन्त्रयित्वा" इत्यादि।

अर्थालंकारों के 'स्वभाववित' और 'वक्रोक्ति' ये दो मुख्य भेद हैं, कवि ने इनका विशेष रूप से प्रयोग किया है। स्वभावोक्ति प्रयोग में कवि ने दृष्ट या कल्पित पदार्थों या व्यक्तियों का यथार्थ और अति रमणीय चित्र खींचा है। 'शाकुन्तल' में पीछे दौड़ते हुए रथ पर स्थित राजा के वाण लगने से भयभीत होकर भागते हुए हिरण का, निष्कम्प चामर शिखाओं वाले, ऊपर को कान उठाये हुए, अपने ही खुरों से उड़ाई हुई धूल से अनुल्लंघनीय, दौड़ते हुये अश्वों का, तथा रथ-वेग का दृश्य भी बड़ा ही सूक्ष्म पर मार्मिक और यथार्थ है। शकुन्तला को विदा करते समय महर्षि कण्व के कथन और उनकी विलासता में कितनी स्वाभाविकता है।

पर कालिदास की कल्पना का रम्य विलास वक्रोक्ति मूलक उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास अप्रस्तुत प्रशंसा आदि अलंकारों को देखा जा सकता है। पृथ्वी से आकाश तक उपलब्ध, साधारणजनों के लिये नीरस उपेक्षणीय भी पदार्थों में सौन्दर्याधान करने वाली कवि की सूक्ष्म दर्शन शक्ति ने इन अलंकारों के प्रयोग में विशेष चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। इन अलंकारों में भी विशेषतया भारतीय आलोचकों ने उपमा के प्रयोग में कालिदास को सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया है। किसी माघ कवि के प्रशंसक कवि ने

"उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थ गौरवम्
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः।"

यह लिखकर उपमा के प्रयोग में कालिदास को श्रेष्ठ स्थान दिया है, यद्यपि कालिदास उपमा के प्रयोग में सिद्धहस्त कवि हैं इसमें सन्देह नहीं पर उपमा का प्रयोग ही कालिदास की श्रेष्ठता का सूचक नहीं हो सकता है। कालिदास की उपमा योजना, सरसता, रम्यता, विविधता एवं मार्मिकता की दृष्टि से बेजोड़ है, पर यही उनकी प्रधान विशेषता नहीं है, उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी है। उनकी सम्विधान कुशलता, रस योजना, भावाभिव्यंजना, ध्वन्यात्मक एवं प्रासादिक शैली भी अद्वितीय ही है। उनकी उपमायें, भावानुकूल, श्लेष की जटिलता से रहित, अनूठी एवं बिषयानुरूप हैं, उनकी उपमायें इतनी स्पष्ट एवं नित्य व्यवहार में देखी जाने वाली होने के साथ ही शास्त्रीय विषयों से अनुप्राणित हैं कि उनसे वस्तु का साक्षात् चित्र आँखों के सामने उपस्थित हो जाता है। कोई भी वस्तु सौन्दर्य उनकी निरीक्षणवृति से बाहर नहीं जा सका है। पर 'उपमा कालिदासस्य' इस सुभाषितोक्ति में उपमा शब्द का प्रयोग उसके प्रचलित व्यापक अर्थ में न होकर सभी सादृश्य मूलक अलंकारों के लिये हुआ प्रतीत होता है अतः उपमा से हमें सभी अन्य सादृश्य, मूलक, उत्प्रेक्षा, रूपक, अतिशयोक्ति, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, आदि अलंकारों को ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि इन अलंकारों के प्रयोग में भी कालिदास की कल्पना उतनी ही कमनीय है जितनी साक्षात् उपमा के प्रयोग में 'शाकुन्तल' में इन सभी अलंकारों का यथास्थान समुचित प्रयोग है और वे उपमालंकार के प्रयोग से कहीं भी किसी अंश में कम रमणीय नहीं हैं। जैसा कि आगे इन अलंकारों के उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया गया है उनका 'मेघदूत' सुन्दर उत्प्रेक्षाओं का भण्डार है। विद्वानों का तो यह भी कथन है कि कालिदास ने उपमालंकार से बढ़कर सुन्दर प्रयोग अर्थान्तिरन्यास का किया है। कुछ भी हो पर यह बात निर्विवाद है कि यद्यपि कालदास की कृतियों में न केवल उपमा अपितु सभी सादृश्य मूलक अलंकारों का प्रयोग अति रमणीय है तथापि कालिदास अलंकारवादी कवि नहीं हैं और न वास्तव में अलंकार काव्य का सर्वस्व है ही। कालिदास रससिद्ध कवि हैं। रस ही जो कि सदा व्यंग ही होता है, उनके काव्य की आत्मा है जैसा कि 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' इस विश्वनाथ आचार्य की उक्ति से सिद्ध है। अतएव यह मानना अनुचित न होगा कि 'उपमा कालिदासस्य' यह उक्ति किसी "माघ" के प्रशंसक अलंकार युगीन पण्डित की उक्ति है। इसीलिये इस उक्ति के आधार पर कालिदास के काव्य वैशिष्ट्य का मूल्य-निर्धारण करना कवि के साथ अन्याय ही होगा।

इसमें सन्देह नहीं कि उनकी रचनाओं में अलंकार-योजना बड़ी ही रमणीय उदाहृणार्थ, वन से लौटते समय दिलीप और सुदक्षिणा के बीच नन्दिनी उसी प्रकार शोभा पा रही थी, जैसे दिन और रात्रि के बीच संध्या शोभा पाती है। उपमा की यह कल्पना कितनी स्वाभाविक और यथार्थ है, रक्ताभवर्णा स्त्रीलिङ्ग नन्दिनी संध्या है, पुल्लिग राजा दिलीप दिन के समान उसके पीछे-पीछे चल रहे हैं और आगे

आकर स्त्रीलिङ्ग क्षपा सुदक्षिणा उनका स्वागत कर रही है, सर्वांशत: पूर्ण उपमा है। "दिन क्षपामध्यगतेव संध्या" यथार्थता के साथ-साथ उनकी उपमायें प्रसंगानुकूल भी हैं, इन्दुमती अपने स्वयम्बर में जिस-जिस राजा को छोड़कर चली जाती थी उसके मुख पर निराशा की कालिमा उसी प्रकार छा जाती थी जैसे राजपथ की अट्टालिकायें जिन्हें रात्रिकाल में आगे बढ़ती हुई दीपशिखा ने पीछे छोड़ दिया है। कालिदास की यह सर्वश्रेष्ठ उपमा है इसीलिये उनका नाम ही दीपशिखा पड़ गया था।

"संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं य व्यतीयाय पतिम्बरा सा।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः।"

कवि की उपमायें वाण, सुबन्धु और श्री हर्ष की भाँति कहीं भी श्लेष मूलक नहीं हैं, जिसे समझने में पाठक को कुछ सोचना पड़े, वे सब सहज साम्य के ऊपर ढली हुई हैं, यथार्थ और स्पष्ट तो वे इतनी अधिक है कि पाठकों के मन में वर्णनीय वस्तुओं की यथार्थ कल्पना उत्पन्न हो जाती है। हस्तिनापुर जाते हुये ऋषि कुमारों के बीच शकुन्तला ऐसी मालुम पड़ती है मानो पीले पत्तों के बीच किसलय उद्भूत हुआ हो **"मध्ये तपोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम्"** वृद्ध एवं सूखी ऋषियों की आकृतियों के बीच पल्लवितलता जैसी युवती शकुन्तला के लिये कितनी यथार्थ उपमा है। इसी प्रकार उसके अधरों की लालिमा किसलयराग के समान है, भुजायें कोमल शाखायें जैसी हैं और प्रत्येक अंग में लताकुसुम सदृश यौवन प्रकट हो रहा है।

"अधर किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोभनीयं यौवन मंगेषु सन्नद्धम्॥

वल्कलावृत शकुन्तला सिवार में लिपटा हुआ कमल है। आपन्न सत्त्वा शकुन्तला के लावण्य को देख भ्रमित हुये दुष्यन्त की वही दशा है जो कि उस भ्रमर की होती है जो कि प्रातः काल तुषार से भरे हुये कुन्द पुष्प का न तो मकरन्द ही पान कर सकता है और न उसे छोड़कर अन्यत्र ही जा सकता है। **"भ्रमर इव विभाते कुन्दमन्त स्तुषारं, न च खलु परिभोक्तु नैव शक्नोमि हातुम्"**। इसी प्रकार 'मेघदूत' में यक्ष स्त्रियों के हृदय की कोमल कुसुम से उपमा देता है, जो कुसुम सुगन्धित एवं रमणीय होते हुये भी अत्यधिक कोमलता वश किञ्चित वातवेग से नीचे गिर पड़ता है स्त्री हृदय भी ऐसा ही निसर्ग मधुर प्रेममय और कोमल होता है जो कि अल्प विरह से ही व्याकुल हो उठता है।

कवि ने अपनी उपमायें सृष्टि के विविध पदार्थों-तला वृक्ष फूल फल, प्राणिवर्ग, आकाश के ग्रह नक्षत्र सूर्य चन्द्र आदि—से ली हैं। महर्षि कण्व को अचानक मिली हुई वाल्यावस्था की शकुन्तला, अर्क वृक्ष पर संयोग वश गिर पड़ने वाला नवमालिका कुसुम है **"अर्कस्योपरि शिथिलं च्युतमिव नवमालिका कुसुमम्।"** "कुमार सम्भव" में मदनदाह से व्याकुल रति, तालाब सूख जाने से जलाभाव वश छटपटाती हुई मछली सदृश है। अथवा वह शुष्क तालाब में अकेली खड़ी शोभाहीन कमलिनी है।

कालिदास शास्त्रपारंगत महाकवि थे। अतएव शास्त्रों के व्यासंग से भी उन्होंने कई सुन्दर उपमाओं की कल्पना की है। ब्रह्म सरोवर से निकलने वाली सरयूनदी सांख्यशास्त्र के अव्यक्त मूल प्रकृति से उत्पन्न होने वाले बुद्धितत्व के समान है। नन्दिनी के पीछे-पीछे चलने वाले दिलीप की पत्नी की, श्रुति के पीछे-पीछे चलने वाली स्मृति से उपमा दी गई है। **"श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत् ।"** इसी प्रकार उन्होंने कई स्थानों पर व्याकरण के प्रयोग पर आधृतपमाओं का प्रयोग किया है—देवताओं को स्थानच्युत करने वाले शत्रु, सामान्य नियमों के बाधक अपवादों के समान, बालि के सिंहासन पर बैठने वाले सुग्रीव, धातु के स्थान में होने वाले आदेश के समान, एकाकी ही आत्मरक्षा समर्थ शत्रुघ्न के पीछे व्यर्थ लगी रहने वाली सेना 'इङ् अध्ययने' धातु के पीछे व्यर्थ में लगे रहने वाले अधि उपसर्ग के समान हैं। हिमालय से उत्पन्न मेना की पुत्री पार्वती राजनीति में उत्साहादिगुणों से प्राप्त सम्पत्ति के समान है। तारकासुर का उपद्रव सान्निपातिक ज्वर के समान है, इत्यादि अनेक शास्त्रों के प्रसंगों से उपमायें ली गई हैं और वहाँ तत्तत् प्रकरणों का भाव सुचारु रूप से अभिव्यक्त किया गया है, सभी उपमायें यथार्थता एवं सुन्दरता के साथ प्रयुक्त हुई हैं।

इसी प्रकार कई स्थानों पर कवि ने अमूर्त कल्पनाओं एवं मनो व्यापारों से भी उपमायें ली हैं। महर्षि कण्व एवं वासिष्ठ द्वारा (रघुवंश में) प्रयुक्त उपमायें प्रायः उनके वातावरण, विद्याभ्यास, एवं ऋषिजनोचित अनुभव तथा व्यवहार से अनुप्राणत हैं, दुष्यन्त को प्राप्त शकुन्तला उसी प्रकार अशोचनीया हो गई है जैसे सुशिष्य को प्राप्त विद्या अशोचनीया होती है **"सुशिष्य परिदत्ते विद्या शोचनीयासि संवृत्ता"**। इसी प्रकार नाटकीय पात्रों के लिये प्रयुक्त कवि के सादृश्य मूलक अलंकार पात्रों के स्वभाव एवं तत्रत्य प्रसंग के अनुकूल है, शकुन्तला पल्लविता अति मुक्तलता है तो दुष्यन्त उपभोग क्षम सहकार है, एक महानदी तो दूसरा सागर, एक कुमुद्वती तो दूसरा शशांक विरह परिम्लान शकुन्तला के अंग आशुक्लान्त विषभंग सुरभि हैं। उसके अपरिक्षत कोमल नवकुसुम के समान अधर के रस पान के लिये भ्रमरवत् दुष्यन्त लालायित है। इसी प्रकार चक्रवाक वधू को अपने सहचर से वियुक्त करने के लिये उपस्थित गौमती रजनी का प्रयोग कितना स्वाभाविक एवं प्रसंगानुकूल है।

सादृश्य मूलक अलंकारों के प्रयोग के सम्बन्ध में कुछ आचार्यों का यह मत है कि उपमान और उपमेय में लिंगसाम्य होना चाहिये, कालिदास ने यदि अपनी पूर्व रचनाओं में पूर्णतया नहीं पर उत्तरकालीन रचनाओं में इस बात का अवश्य ध्यान रखा है फलतः उनकी उपमाओं में भी लिंग साम्य देखा जाता है **"दिन क्षपा मध्य गतेव संध्या"** **"कथमिदानीं तातस्याङ्कात् परिभ्रष्टा मलयतरून्मूलिता चन्दन लतेव देशान्तरे जीवितं धारयिष्ये"** इत्यादि उदाहरण में लिंगसाम्य स्पष्ट है। पर जहाँ लिंगसाम्य नहीं भी है वहाँ भी दोष नहीं समझना चाहिये क्योंकि "काव्यादर्शकार"

की यह मान्यता है कि जहाँ सादृश्य उद्वेगकारी न हों वहां लिंग साम्य न होने पर भी कोई दोष नहीं होता।

उपमा के अतिरिक्त अन्य सादृश्य मूलक अलंकारों के प्रयोग में भी कालिदास सिद्धहस्त हैं **"अनाघ्रातं पुष्पं किसलय मनूनं कररुहैः"** इस दुष्यन्त के कथन में शकुन्तला के अक्लिष्ट कान्तिमत् रूप के वर्णन में रूपक अलंकार का सुन्दर प्रयोग है, शकुन्तला का अनवद्य रूप अनाघ्रात पुष्प है, अंगुलियों से अस्पृष्ट किसलय है, बिना विधा हुआ रत्न और अनुपयुक्त मधु है। यहाँ अनेक रूपकों की एक साथ योजना करके कवि ने शकुन्तला के सौन्दर्य की कोमलता अम्लानता एवं मादकता की ओर संकेत किया है। इसी प्रकार 'रघुवंश' के **"रावमन्मथ शरेण ताडिता"** में साँग रूपक की योजना है। उत्प्रेक्षालंकार के सबसे सुन्दर उदाहरण तो मेघदूत में मिलते हैं पर शाकुन्तल में भी उनकी कमी नहीं है **"गत्वेव पुनः" प्रतिनिवृत्तः" "कृत इव मुग्धविलोकितोपदेशः"** "लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु" मुञ्चन्त्य श्रूणीव लताः" इत्यादि **उत्प्रेक्षा के** सुन्दर उदाहरण हैं। इसी प्रकार कवि ने अर्थान्तरन्यास अलंकार का भी सुन्दर प्रयोग किया है "अकृतार्थेऽपि मनसिजे," "कामी स्वतां पश्यति", अनुकारिणि पूर्वेषां युक्त रूपमिदं त्वयि", लभेत वा प्रार्थयिता नवा श्रियम् "इष्टप्रवास जनिता न्यवलाजनस्य"। इनके अतिरिक्त अल्प साम्य एवं विरोध मूलक अलंकारों का 'शाकुन्तल' में सुन्दर प्रयोग हुआ है, इनके कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

"शुद्धान्त दुर्लभ मिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य" में निदर्शना अप्रस्तुत प्रशंसा, वस्तुध्वनि। इदं किलाव्याज मनोहरं वपु में निदर्शना, उत्प्रेक्षा, सरिसज मनुविद्धं शैवलेनापि रम्यम्" प्रतिवस्तूपमा, अर्थान्तरन्यास। असंशयं क्षत्र परिग्रहक्षमा" अप्रस्तुत प्रशंसा, काव्यलिंग, अर्थान्तरन्यास। चलापांगं दृष्टि स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीम्" समासोक्ति, व्यतिरेक, उत्प्रेक्षा, भ्रान्तमान्। "मानुषीसु कथं वा स्यादस्य रूपस्य सम्भवः" अप्रस्तुत प्रशंसा, प्रतिवस्तूपमा। "वैखानसं किमनया व्रतमा प्रदानात्" परिकर "स्रस्तां सावति मात्र लोहित तलौ" कारक दीपक, काव्यलिंग। "चीनां शुक मिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य" उपमा, अतिशयोक्ति उत्प्रेक्षा। "स्निग्धं वीक्षित मन्यतोऽपि नयने" विलास नामक हाव, अर्थान्तरन्यास, उत्प्रेक्षा "अर्कस्यौपरि शिथिलं च्युतमिव नवमालिका कुसुमम्" उपमा। चित्रे निवेश्य परिकल्पित सत्त्वयोगा" सन्देह, उत्प्रेक्षा। "अभिमुखे मयि संहृत मीक्षणम्" हेला मोट्टायित भाव। "दर्भांग रेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे" व्याजोक्ति "अस्याधिज्ये धनुषि विजयं पौर हूते च वज्रे" दीपक "स्तनन्यस्तोशीरं शिथिलितमृणालैकवलयम्" विभावना, विशेषोक्ति। "शोच्या च प्रियदर्शना" विरोधाभास, "पत्राणामिव शोषणेन मरुता स्पृष्टा लता माधवी" उत्कृष्ट उपमा। "पृष्टा जनेन समदुःख सुखेन वाला" विभावना विशेषोक्ति। "तपति तनुगात्रि! मदनस्त्वामनिशं मां पुनर्दहत्येव" औत्सुक्य भाव, व्यञ्जना, दृष्टान्त, समासोक्ति, विरोधाभास, पुनरुक्तवदाभास,

काव्यलिंग, दीपक तुल्ययोगिता। "कोऽन्यो हुतवहाद्दग्धुं प्रभवति, को नामोष्णोदकेन नव मालिकां सिञ्चति, सागर मुज्झित्वा कुत्र वा महानद्यवतरति" इत्यादि दृष्टान्त के सुन्दर उदाहरण हैं। "यात्येकतोऽस्तशिखरं पति रोषधीनाम्" समासोक्ति, तुल्ययोगिता, उत्प्रेक्षा। "अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती मे" लक्षणा, समासोक्ति, अर्थान्तरन्यास, काव्यलिंग। "अवेहि तनयां ब्रह्मन्-अग्निगर्भां शमीमिव" उपमा 'यास्यत्यद्य शकुन्तलेति प्रधान करुण रस अंगभूत अद्भुत, "रम्यान्तरः कमलिनि हरितैः सरोभिः परिकर, उपमा, तुल्ययोगिता। "यस्य त्वया व्रणविरोपण मिङ्गुदीनाम्" अर्थान्तर संक्रमित वाच्यध्वनि, लक्षणा का सुन्दर उदाहरण। शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखी वृत्ति सपत्नीजने" निदर्शना, अर्थान्तरन्यास रूपक।

इस प्रकार यदि देखा जाय तो "शाकुन्तल" में सुन्दर से सुन्दर अनेकों अलंकारों के उदाहरण मिलेंगे, पर कवि ने अलंकारों की योजना के लिये इनका प्रयोग नहीं किया है, ये तो अनायास ही कवि की भावाभिव्यंजना में स्वतः आ गये हैं, अलंकार कवि के साध्य नहीं, साधन मात्र हो सकते हैं। कालिदास तो सर्वतोमुखी प्रतिभासम्पन्न भावुक कवि थे। उनकी रचना में अन्तर एवं वाह्य जगत का अपूर्व मिश्रण है, वे मानवीय भावनाओं के सच्चे पारखी हैं। अलंकारों का भी उनकी अन्य काव्य विशेषताओं के बीच एक स्थान हो सकता है।

अन्य नाटकीय विशेषतायें—

काव्य से सभी सहृदयों को आन्दानुभूति होती है, पर यह काव्य क्या है और इससे होने वाली आनन्दानुभूति का भी क्या स्वरूप है, इस सम्बन्ध में अद्यावधि मतैक्य नहीं देखा जा सका है, इसको, जिसने जितना जिस रूप में समझा है उसने उस प्रकार बतलाने का प्रयास किया है अतः उस एक के द्वारा निर्धारित सिद्धान्त सर्वसम्मत नहीं हो सका है। वस्तुतः काव्य की आनन्दानुभूति वाणी का विषय हो भी नहीं सकती। काव्य के विषय में आज ही नहीं प्राचीन काल से लोगों के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण रहे हैं, यद्यपि साहित्यवेत्ताओं ने काव्य की व्याख्या की है उसको कुछ शब्दों की परिधि में बाँधने का प्रयास भी किया है पर वह सर्वमान्य नहीं हो सका है।

काव्य की आत्मा क्या है, जिस पर आनन्दानुभूति आधृत है, इस विषय को लेकर भारत वर्ष में मुख्यतया पाँच सम्प्रदाय प्रचलित रहे हैं। आनन्द वर्धनाचार्य ने काव्यात्मा को ध्वनि या व्यंगाचार्य बतलाया है जब कि आचार्य विश्वनाथ के अनुसार रसात्मक वाक्य ही काव्य है। कहीं रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द ही काव्य हैं, तो कहीं विशिष्ट पद-रचना ही काव्य की आत्मा है, इसी प्रकार भामह दण्डी आदि आचार्य यदि अलंकार को ही काव्य का सर्वस्व मानते हैं तो वक्रोक्ति जीवितकार वक्रोति को ही काव्य की आत्मा मानने के पक्ष में हैं।

इस प्रकार सभी आचार्य अपने मत की पुष्टि में अनेकों प्रमाण प्रस्तुत कर काव्य का स्वरूप निर्धारित करते हैं। पर आज जो मत सर्वमान्य प्रतीत होता है जिसने कि अपनी काव्य परिभाषा में सभी अन्य मतों को यथोचित स्थान दिया है वह है आचार्य मम्मट का काव्य लक्षण सम्बन्धी मत। मम्मट के अनुसार दोषरहित पर सगुण शब्दार्थ ही काव्य है जिसमें अलंकार यदि स्फुट न भी हो तब भी काव्यत्व रह सकता है। पर उत्तम काव्य वही होगा जो व्यङ्ग्यार्थ प्रधान हो रस और भाव व्यंग्य ही होते हैं अतएव मम्मट के अनुसार ध्वनि प्रधान काव्य ही उत्तम काव्य है।

इस प्रकार यद्यपि मम्मट ने काव्य में ध्वनि को प्राधान्य दिया है फिर भी उन्होंने रस अलंकार और रीति को भी काव्य में महत्वपूर्ण तत्व माना है। अतः इस दृष्टि से "शाकुन्तल" एक उत्तम कोटि का नाटक है क्योंकि इसमें यथा स्थान ध्वनि रस रीति और अलंकारों का समुचित प्रयोग किया गया है।

ध्वनि—

उत्तम काव्य में शब्दों द्वारा कथित वाच्यार्थ एवं वाक्यार्थ संगति के ठीक न बैठने पर प्रयुक्त लक्ष्यार्थ से भी विलक्षण ध्वनि या व्यंग्यार्थ विवक्षित रहता है जो सहृदयों को परमाह्लादक होता है। कालिदास का नाट्य नैपुण्य, किसी बात को स्पष्ट शब्दों में कहने की अपेक्षा उसे सूचित या प्रतीतिगम्य, ध्वनित करने में ही अधिक देखा जाता है, उन्होंने अनेकों भावों की इसी रूप में व्यञ्जना की है। 'कुमार सम्भव' के श्लोकों में—

"एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधो मुखी,
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती।"

पार्वती के मनोगत प्रेम एवं आनन्द के छिपाने के प्रयत्न की तथा उनके कन्याजनोचित लज्जाभाव की कितनी सुन्दर व्यंजना की गई है, प्रस्तुत श्लोक में न कोई अलंकार है और न विशिष्ट पद रचना ही पर यह व्यंग्य प्रधान उत्तम काव्य है। पार्वती द्वारा कमलपत्र गणना से कवि ने उनके मनोगत भावों की कैसी सुन्दर अभिव्यक्ति की है। उसी प्रकार प्रकार 'शाकुन्तल' में ध्वनि के कई सुन्दर उदाहरण हैं जिनमें से कुछ नीचे दिये उदाहरणों में देखे जा सकते हैं :—

"भव हृदय साभिलाषम्" औत्सुक्य भाव ध्वनि। "शुद्धान्त दुर्लभमिदं" 'शकुन्तला की कमनीयता अद्वितीय है' **यह वस्तु अप्रस्तुत प्रशंसा एवं निदर्शनालंकार की संसृष्टि द्वारा, ध्वनित होती है। "किं नु खल्विमं जनं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्य गमनीयास्मि संवृत्ता"** इससे शकुन्तला गत **'भाव'** नामक **अंगज विकार** ध्वनित होता है। **"हृदय! मोत्ताम्य। एषा त्वया चिन्तितान्यनुसूया मन्त्रयते"** इससे **'हाव'** नामक **अंगज अलंकार** को ध्वनित किया गया है। **"स्निग्धं वीक्षित मन्यतोऽपि नयने" विलास नामक हाव का निर्देश किया गया है। "कृत इव मुग्धविलोकितोपदेशः**

यहाँ मृग वत् शकुन्तला के नेत्र सुन्दर हैं, **यहाँ उपमालंकार ध्वनित किया गया है।** "**अनाघ्रातं पुष्पम्**" इत्यादि श्लोक में रूपम् के समस्त विशेषणों द्वारा शकुन्तला का **कन्यात्व अतएव दुष्यन्त द्वारा परिग्रहयोग्यत्व ध्वनित** किया गया है। पुष्पादि उपमानों से क्रमशः उसमें **परिभोग योग्यता, कान्तिमत्ता, मुग्धता, हृद्यता, उत्तमजनाभिलषणोयता** सूचित की गई है तथा पञ्चेन्द्रियों **का संतर्पण भी ध्वनित किया गया है।** सम्पूर्ण पद्य द्वारा नायकगत **परिभोगाभिलाषा सूचित** होती है। **वस्तु से वस्तु ध्वनि है।** "**अभिमुखे मयि संहृतमीक्षणम्**" इससे शृंगार लज्जा ध्वनित होती है, **नायिकागत मुग्धात्व, हेला मोट्टायित भाव** आदि सूचित होते हैं। "**दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे**" इत्यादि से नायिकागत **उत्कण्ठातिशय, लज्जा तथा नायक गत विस्मय को सूचित किया गया है।** चतुर्थ अंक में "**प्रतिबुद्धापि किं करिष्ये**" से लेकर '**इत्थं गतेऽस्माभिः किं करणीयम्** तक अनुसूया के कथन में **तद्गत विषाद, निर्वेद, दैन्य, आलस्य, चिन्ता** आदि भावों की **स्फुट व्यञ्जना है।** इसी प्रकार के अन्य अनेक उदाहरण 'शाकुन्तल' में उपलब्ध होते हैं।

रस—

विषय भेद में यद्यपि ध्वनि के रस, वस्तु, अलंकार ध्वनि ये तीन भेद हैं और इन सब का प्रयोग 'शाकुन्तल' में देखा जाता है फिर भी रस एवं भाव ध्वनि का प्रयोग विशेष आकर्षक है। 'शाकुन्तल' में यद्यपि शृंगार 'संयोग एवं विप्रलम्भ' की ही प्रधानता है तथापि करुण का भी इसमें अच्छा परिपाक हुआ है। शृंगार रस के तो कालिदास प्रधानतया कवि ही हैं उनकी रचनाओं में इसी रसराज को विशेष स्थान दिया गया है और इसीलिये कालिदास को कविता कामिनी का विलास भी कहा गया है। तथापि अन्य रस भी अंग रूप में पाये जाते हैं। **चलापांगा दृष्टिम, अभिमुखे मयि संहृत मीक्षणम् दर्भांकुरेण चरणः क्षत इत्यकांडे**" इत्यादि श्लोकों में शृंगार रस तो है ही, संयोग पक्ष के लिये एवं विप्रलम्भ के लिये भी अनेकों उदाहरण हैं पर इसके अतिरिक्त **चतुर्थ अंक में करुण रस का "यास्यत्यद्य शकुन्तलेत्यादि"** में अच्छा परिपाक हुआ है, यद्यपि चतुर्थ अंक में विशेष रूप से करुण की व्यञ्जना है पर इससे यह न समझना चाहिये कि करुण यहाँ मुख्य रस है, वह तो नायिकागत रति के उद्बोधन के प्रदर्शन द्वारा शृंगार रस का ही अंग बन गया है। इसी प्रकार अन्य **भयानक, अद्भुत, हास्य,** आदि रस भी अंग रूप में ही प्रयुक्त हुए हैं। "**ग्रीवाभंगाभिरामम्**" इत्यादि श्लोक **भयानक रस का सुन्दर उदाहरण** हैं। यहाँ मृगगत भय स्थायी भाव, दुष्यन्ताधिरूढ़ रथ का देखना आलम्बन विभाव, उसका अनुपतन, शरपतन, आदि उद्दीपन, ग्रीवा भंग, कुशस्खलन शरीर संकोच, विकृतमुख, आदि अनुभाव तथा त्रास, शंका, आवेग आदि व्यभचारी आदि भाव एवं कम्पादि सात्विक भाव हैं। "**आलक्ष्यदन्तमुकुलान्**' इत्यादि श्लोक **वात्सल्य का सुन्दर** उदाहरण हैं।

रीति—

आचार्य वामन ने रीति 'विशिष्ट पद रचना' को ही काव्य की आत्मा माना है पर ध्वनि सिद्धान्त के आगे यह मत स्थिर न हो सका फिर भी काव्य में रीति का महत्व कम नहीं हुआ है। वामन ने वैदर्भी, पांचाली और गौड़ी ये तीन रीतियाँ मानी हैं। इनमें सर्वश्रेष्ठ रीति वैदर्भी है। इन्हीं रीतियों के आधार पर प्रसाद, माधुर्य और ओज ये तीन गुण माने गये हैं। कालिदास ने अपनी सभी रचाओं में वैदर्भी रीति को अपनाया है। इस रीति में माधुर्य व्यंजक कोमल वर्णों का प्रयोग होता है और दीर्घ समासों का तथा विशेष श्लिष्ट पदावली का प्रयोग नहीं रहता। कालिदास की रचनाओं में शृंगार और करुण प्रधान रस हैं। इन रसों के लिये वैदर्भी रीति सर्वथा उपयुक्त है क्योंकि इन रसों की व्यंजना के लिए दीर्घ समास युक्त टवर्गीयपुरुष वर्णों का प्रयोग नहीं होना चाहिये। कालिदास का ललित योजना पर विशेष मोह रहा है अतएव उनकी रचना में श्रुति मधुरता, नाद मधुरता, प्रासादिकता स्पष्टता, सुबोधिता आदि गुण देखे जाते हैं, दीर्घ समास योजना नाटकों में तो और भी अधिक हानिकारक होतीं है। अतएव कालिदास ने जानबूझ कर लम्बे समास नहीं आने दिये हैं। इसी लिये कालिदास द्वारा प्रयुक्त 'शाकुन्तल' के सम्वाद बहुत ही मधुर एवं आकर्षक हैं। कालिदास की शैली मुख्यतः ध्वन्यात्मक है जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, अतएव उनके कथोपकथन छोटे पर सारगर्भित हैं, एक बहुत बड़े भाव को व्यक्त करने के लिये कालिदास **"अये लब्धं नेत्रनिर्वाणम्" श्रुतं श्रोतव्यम्"** जैसे वाक्यों का प्रयोग करते हैं जिनमें भाव गाम्भीर्य के साथ ही साथ माधुर्य भी रहता है। विशिष्ट पद-रचना के लिये 'शाकुन्तल' का प्रत्येक वाक्य उदाहरण है।

Choicest description to illustrate poetic excellence :—

भारतीय साहित्य के प्रतिनिधि कवि कालिदास की रचनाओं में उच्चकोटि की रचनाओं में नैतिकता तथा भारतीय आदर्श के दर्शन होते हैं। भावुक कवि ने मानव-हृदय के मार्मिक स्थलों की मर्मस्पर्शी व्यञ्जना की है।

उनका प्रेम और सौन्दर्य वर्णन उच्चकोटि का है, प्रेमी प्रेमिका के मधुर मिलन का उन्होंने सुन्दर चित्रण किया है। प्रेमविह्वल भी शकुन्तला संकोच-वश चल देती है पर वह अपने प्रेम की किस प्रकार अभिव्यञ्जना करती है। यह दृश्य कितना मोहक एवं यथार्थ है :—

"दर्भाकुरेण चरणः क्षत इत्याकाण्डे, तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा"

प्रेमानूभूति को स्त्रियाँ शब्दों द्वारा नहीं अपितु हाव-भाव द्वारा प्रकट करती हैं

"स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु"

कालीदास के प्रेम चित्रण में कहीं उच्छृङ्खलता नहीं, वह सर्वत्र आदर्शमय एवं

मर्यादित है। **"कुमुदान्येव शशांक सविता बोधयति पंकजान्येव"** संयमी पुरुषों का मन परस्त्री प्रेम से सदा विमुख रहता है। इस प्रकार उनका विरह वर्णन भी स्वाभाविक एवं मर्यादित है **"तव कुसुम शरत्वं शीत-रश्मित्वमिन्दोः"**।

सौन्दर्य चित्रण में कवि कृत्रिम सौन्दर्य की अपेक्षा अकृत्रिम एवं प्राकृत सौन्दर्य को ही अधिक महत्व देता है, वास्तविक सौन्दर्य सभी अवस्थाओं में रमणीय होता है। उससे सभी वस्तुयें रमणीय हो जाती हैं। **"किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्"**।

उसने मानवीय सौन्दर्य को व्यापक प्रकृति सौन्दर्य का ही एक अंग माना है। जब शकुन्तला केसर वृक्ष के पास खड़ी होती है वह **"लतासनाथ इव प्रतिभाति"** शकुन्तला प्रकृति की ही प्रतिमा है **"अधरः किसलयरागः"**।

इस मानव-सौन्दर्य से भी बढ़ कर उनका प्रकृति सौन्दर्य है अतएव उन्होंने उसका चित्रोपम वर्णन प्रस्तुत किया है। और प्रकृति के साथ मानव का मधुर सम्बन्ध स्थापित किया है। चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर कुमुदिनी नेत्रों को आनन्द प्रदान नहीं करती। निश्चय ही प्रियतम के प्रवास के कारण अबला की मनोवेदना असह्य हो जाती है **"अन्तर्हिते शशिनि"**।

इसी प्रकार शकुन्तला की विदा के समय तपोवन के न केवल पशुपक्षियों को ही अपितु लतावृक्षादि की भी दयनीय दशा है **"उद्गीर्ण दर्भ कबला"**।

कालीदास के सभी वर्णन अनूठे हैं। उसके दृश्य एक से एक बढ़कर हैं। काली दास की कविता कामिनी के वैभव को देखकर ही उनको कविकुल-**"गुरुः कालीदासो विलासः"** कविता का विलास कहा गया है।

Art of Kalidas

कालीदास की काव्यकला संस्कृत साहित्य का गौरव है और वह पूर्णतया मौलिक है। वे भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि कवि हैं। उनके पात्रों में भारतीय आदर्श मूर्तिमान हो उठा है। भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का सफल चित्रण है। कालीदास को सूक्ष्म भावों का गहरा अनुभव है। उन्होंने अपने भावुक हृदय से संसार में जो अनुभूति प्राप्त की उसको अपनी कविता में अभिव्यक्त किया है। कोमल एवं सुकुमार भावनाओं की अभिव्यञ्जना में वे अद्वितीय हैं। शृंगार, करुण, वीर आदि सभी रसों की सफल अभिव्यक्ति है। अतएव वे कविता कामिनी के विलास कहे जाते हैं।

प्रतिभा सर्वतोमुखी है अतएव उन्होंने महाकाव्य गीतिकाव्य और नाटक सभी में अपनी लोकप्रिय प्रतिभा का परिचय दिया है। उनकी कविता में माधुर्य एवं प्रसाद का सन्निवेश, कोमलकान्त पदावली अर्थ सौष्ठव तथा अलंकारों का सुन्दर समन्वय है। है। वैदर्भी रीति ने तो स्वर्ण में सौरभ उत्पन्न कर दिया है **"वैदर्भी रीति सन्दर्भे**

कालीदासो विशिष्यते" उनकी भाषा शैली परिष्कृत ध्वन्यात्मक, प्रासादिक, आलंकारिक तथापि सरल सुबोध एवं प्रवाहमयी है।

व्यञ्जनात्मक शैली तो कालीदास की निजी विशेषता है। वे अत्यल्प शब्दों में ही व्यञ्जना वृत्ति द्वारा विशद भाव एवं अर्थ अभिव्यक्ति कर देते हैं। 'अये लब्धं नेत्र निर्वाणम्" "श्रुतं श्रोतव्यम्" इत्यादि अत्यल्प वाक्यों द्वारा उन्होंने आन्तरिक प्रेम तथा हृदयगत आनन्द की मार्मिक अभिव्यञ्जना की है।

उनका प्रकृति चित्रण स्वाभाविक एवं सजीव है। रूप वर्णन तथा चरित्र-चित्रण में भी उनका अद्भुत कौशल प्रकट होता है। उनके सभी पात्रों में कोई न कोई आदर्श झाँकता है।

अलंकारों का सुन्दर समन्वय है। रीति एवं प्रसादादि गुण तथा नाट्कीय सम्विधान सभी उच्चकोटि के हैं।

Philosophy of life

यद्यपि प्रेम व श्रृंङ्गार के कवि हैं पर उनका प्रेम मर्यादित है। प्रेम कर्तव्य और मर्यादा की सीमा के बाहर नहीं जा सका है। प्रेम मानव की स्वाभाविक वृत्ति है। कर्तव्य उसे उन्नत करता और मर्यादा उसे उच्छ्ङ्खल होने से रोकती है।

कला और आदर्श का सुन्दर समन्वय किया है। इसमें उदात्त नैतिकता एवं भारतीय मर्यादा का सर्वत्र ध्यान रखा गया है। उनका आदर्श कभी न विकृत होने वाला आदर्श है। दुष्यन्त प्रेम में भी मर्यादा का ध्यान रखता "अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम्""अनार्यः परदारव्यवहारः" इसीलिये वह अलौकिक नारी का परित्याग कर देता है और ऋषि कोप से भी नहीं डरता। इसी प्रकार कर्त्तव्य पालन का भी आदर्श सर्वत्र दृष्टिगत होता है। कालीदास के विचार से महान पुरुष सदैव कर्त्तव्य परायण होते हैं "स्वसुख निरभिलाषः खिद्यसे लोक हेतोः" अथवा ते वृत्तिरेवं विधैव" । सत्पुरुष सम्पत्ति पाकर विनम्र हो जाते हैं "भवन्ति नम्रास्तरवो फलागमैः" इस नाटक में एक ओर दुष्यन्त कर्त्तव्य परायण हैं तो दूसकी ओर कर्त्तव्य परायण पिता कण्व हैं जो अपनी पालिता पुत्री के दुर्दैव शमनार्थ सोमतीर्थ जाते हैं।

कवि ने वर्णाश्रम व्यवस्था को भी एक जीवन का अँग माना है। वर्णाश्रम् की रक्षा राजा का कर्त्तब्य है। अतएव "वर्णाश्रम रक्षिता" कहा गया है इसी हेतु उसने स्थान-स्थान पर तपोवन की पवित्रता का वर्णन किया है और वार्धक्य में तपोवन में निवास करने का संकेत दिया है।

प्रेम का सर्वांगीण चित्रण है। नाटक यह संदेश देता है कि आकस्मिक प्रेम, सच्चा प्रेम नहीं "अतः परीक्ष्य कर्त्तव्यं विशेषात् संगतं रहः" जिस प्रेम में कोई बन्धन नहीं, नियम नहीं, उसका परिणाम सुखकर नहीं होता। उन्होंने दाम्पत्य प्रेम को ही महत्व दिया है और उसकी पूर्णता सन्तानोत्पत्ति में ही मानी है। मतवाला

बना देने वाला प्रेम कर्त्तव्य विमूढ़ कर देता है अतः विवेक पूर्ण प्रेम ही श्रेयस्कर होता है। विवेकाभाव के कारण ही शकुन्तला और दुष्यन्त का प्रेम कष्टकर हुआ। उन्होंने प्रेम को जन्मजन्मान्तर का सम्बन्ध स्वीकार किया है। प्रेम का आदर्श उच्च माना है। विवाह कर्त्तव्य पालन में एक सहायक कार्य है। जो काम शिव या कल्याण का विरोधी है वह यथार्थ नहीं उसे भस्म होना पड़ता है। उसकी कृति में कहीं भी वासनात्मक प्रेम को स्थान नहीं मिला है। इसी प्रकार कृत्रिम सौन्दर्य भी कोई महत्व नहीं रखता। "**कुमुदान्येव शशाङ्कः**" प्रेम का आदर्श है।

इस प्रकार इनके जीवन दर्शन में संयम, कर्त्तव्य, मर्यादा का महत्व पूर्ण स्थान है जो कि भारतीय संस्कृति में सर्वथा अनुकूल है। नैतिक जीवन ही उनके जीवन का लक्ष्य है।

Causes of Popularity

समालोचकों की सम्मति में '**काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्यम् शकुन्तला**' "**कालीदासस्य सर्वस्वमभिज्ञान शाकुन्तलाम्**" ये उक्तियां उसकी सर्व प्रियता का प्रमाण हैं। शृंगार प्रधानता होते हुये भी सभी रसों की मार्मिक व्यञ्जना है। रस नाटक का मूल्य तत्व है जिसका परिपाक उच्चकोटि का है। कोमल भावों की अभिव्यक्ति, मर्यादित एवं संयत प्रेम चित्रण, उनके विचार में वाह्य प्रेम एक आत्मिक अलौकिक प्रेम का ही वाह्य रूप है। विवेक पूर्ण प्रेम का ही महत्व है। "**परीक्ष्य कर्त्तव्यं विशेषात्संगत रहः**" यही प्रेम का मार्ग है।

उपयुक्त सम्बिधानक है, शुष्क कथा को भी कल्पनाओं का पुट देकर रोचक एवं हृदयग्राह्य बनाया है। विभिन्न प्रसंगों के मेल इस कौशल से कराये गये हैं कि प्रेक्षकों की उत्सुकता अन्त तक बनी रहे। विविधि घटनाओं का उत्तरोत्तर स्वाभाविक विकास, प्रत्येक दृश्य और प्रसंग सहेतुक, एक शब्द भी अनावश्यक एवं अनुपयुक्त नहीं।

नायक, पात्र एवं चरित्र चित्रण की दृष्टि में भी उच्चकोटि का नाटक है। नायक प्रख्यात कीर्ति धीरोदात्त है। चतुर गम्भीराकृतिः। भारतीय आदर्श मर्यादा पालक भी। पात्र सभी मानव लोक के प्राणी हैं। आदर्शोन्मुख होते हुये भी उनका चित्रण स्वाभाविक एवं सजीव है। वे अपनी मानवीय दुर्बलताओं तथा भारतीय आदर्शों को लेकर प्रस्तुत होते हैं। नायक नायिका कवि लेखनी का स्पर्श पाकर अमर हो गये हैं। आदर्श मर्यादा की रक्षा के लिये अनेक प्रसंगों की उद्भावना की है। यदि आधुनिक शब्दों और वादों की दृष्टि से देखें तो शाकुन्तल में यथार्थ एवं आदर्श का सुन्दर समन्वय है। पात्रों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण। शकुन्तला के लिये दुष्यन्त के मन में विचारों का घात-प्रतिघात "**सतां हि सन्देह पदेषु**" सुन्दरता से तथा युक्ति पूर्ण ढंग से दिखलाया गया है।

कथोपकथन अति सुन्दर हैं । सरल संक्षिप्त स्वाभाविक हैं । उनके कथनों में संस्कृत भाषा का माधुर्य एवं व्यवहारोपयुक्तता ध्वन्यात्मकता एवं प्रासादिकता देख पड़ती है । पात्रानुकूल विषयानुकूल वातावरण के अनुकूल भाषा है **"धूमाकुलित" "परिवत्त व विद्या"** राजा के वचनों में कहीं धर्म भीरुता, कहीं अधिकार भावना, कहीं प्रेम, कहीं विरह की अभिव्यक्ति, सखियों के संवाद सौजन्य एवं प्रेम पूर्ण हैं । वे कथा विकास में सहायक हैं । पात्रों के परिचय के साथ-साथ उनके चरित्र पर भी प्रकाश पड़ता है, उनके अधिकाँश संवाद सं० सा० की सूक्तियों में उच्च स्थान प्राप्त करते हैं **"भवितव्यानां उत्सर्पिणी, सर्वः सगन्धेषु, अविश्रमोऽयं लोक तन्त्राधिकारः"**

शैली परिष्कृत एवं परिमार्जित है, वैदर्भी का उत्तम प्रयोग, सूक्तियों और मुहावरों के प्रयोग कोमल एवं मधुर **"को नामोष्णोदकेन, क इदानीं सहकारमन्तरेण"** कवि वाण ने कहा है **"निर्गतासु न वा कस्य कालीदासस्य सूक्तिषु प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते** । मधुर शब्द योजना, सुन्दर वाक्य विन्यास, व्यञ्जना वृत्ति, अलंकार योजना, उपमा वैशिष्टय आदि । नाटय प्रतिभा, कल्पना प्राचुर्य, भाषा, लालित्य, रस पाक, मानव मनोविकारों का मार्मिक विश्लेषण, अभिनय की सफलता आदि ।

षष्ठाँक :—

कथावस्तु सुगठित, संघटना औचित्य और वैचित्र्य, घटनाओं का कुशल मेल, उत्तरोत्तर रुचिपूर्ण विकास, प्रत्येक दृश्य प्रयोजनीय, प्रत्येक अंक का नाटकीय महत्व, कथा विकास का सहायक, पात्र-चरित्र विकास परिपोषक है । षष्ठाङ्क भी प्रयोजनीय नाटकीय महत्व रखता है । कथावस्तु की दृष्टि से पांचवे अंक की कथावस्तु का ही परिणाम है । प्रत्याख्यता शकुन्तला की एक दिव्य ज्योति ले जाती है, अँगूठी की प्राप्ति शकुन्तला की स्मृति का उद्भव करती है । ध्यान कर दुष्यन्त को मानसिक ताप फिर पाने के लिये लालायित, प्राप्ति मिलने की आशा का अंकुर, विरह वर्णन संयोग की पुष्टि में कारण है । **न बिना बिप्र लम्भेन संयोगः पुष्टि मश्नुते ।**

षष्ठ अंक की कथा प्राप्त्याशा नामक कथावस्तु की प्रकृति के अन्तर्गत, यह अग्रिम कथा के विकास में सहायक होता है । धनमित्र की मृत्यु-घटना तथा उसकी सम्पत्ति का प्रश्न, राजा को अपनी पुत्र हीनता के अभिशाप का ध्यान कराता है जिससे उसे सगर्भापत्री परित्याग का अति खेद होता है जो फल प्राप्ति में सहायक है, वह मिलन रूप फल को उत्सुक हो जाता है । सारथि के कहने से विरह से हट कर प्रयत्न पर हो जाता है सारथि के साथ जाना, नियताप्ति व फलाप्ति में सहायक है । सप्तम की कथा की पृष्ठभूमि बनती है । पंचम के प्रत्याख्यान द्वारा अवरोह की चरम सीमा को पहुँचे हुये तथा व्यापार को प्राप्त्याशा के लिये उन्मुख करता, अग्रिम के लिये उत्सुकता देता है ।

चरित्र चित्रण की दृष्टि से दुष्यन्त के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है। प्रतीहारी एवं सानुमती के वचन प्रमाण हैं। बसन्तोत्सव वन्द कर देता है पर विरही भी कर्त्तव्यपालक है। न्याय और धर्मानुसार राज्य की घोषणा करता है, **येन येन वियुज्यन्ते**" ।

सामाजिक, राजनैतिक दशा का चित्रण, रक्षा पुरुष, अपराधी को दण्ड देने को उद्यत, प्राणदण्ड विहित घूँसखोरी प्रचलित थी, न्याय निष्पक्ष किन्तु कठोर नहीं, राजा प्रजावत्सल, धनमित्र की विधवा की सम्पत्तिदान, पुत्राभाव दुर्भाग्य सूचक, बहुविवाह, धीवर जैसे दरिद्र पीड़ित भी समाज में थे। सबसे अधिक विप्रलम्भ शृङ्गार में पुष्टि नाटकीय महत्त्व है।

इन सब उक्त विशेषताओं के देखने से स्पष्ट है कि षष्ठांक उतना ही उपयोगी है जितने कि अन्य अंकागतः षष्ठांक को अनुपयोगी बतलाना भ्रान्ति मात्र है।



महाकवि कालिदास
प्रणीत

अभिज्ञान शाकुन्तलम्

डॉ. बाबूराम त्रिपाठी

रतन प्रकाशन मन्दिर

